उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास

द्वितीय संस्करण

लेखक
डॉ० सुशील माधव पाठक, एम० ए० (काशी वि० वि०)
पी-एच० डी० (हवाई वि० वि०, यू० एस० ए०)
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, इतिहास विभाग
राँची विश्वविद्यालय, राँची

सम्पादक
डॉ० फणीन्द्र नाथ ओझा, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर, इतिहास-विभाग,
राँची विश्वविद्यालय, राँची

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, कदमकुआँ, पटना-३

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास

द्वितीय संस्करण

लेखक

डॉ० सुशील माधव पाठक, एम० ए० (काशी वि० वि०)
पी-एच० डी० (हव्राई वि० वि०, यू० एस० ए०)
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, इतिहास विभाग
राँची विश्वविद्यालथ, राँची

सम्पादक

डॉ० फणीन्द्र नाथ ओझा, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर, इतिहास-विभाग,
राँची विश्वविद्यालय, राँची

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, कदमकुआँ, पटना-३

© बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, १९७९

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत-सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ-अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशित ग्रंथ-संख्या : २०३

द्वितीय संस्करण : मई, १९७९
२०००

मूल्य : रु० २४.०० (चौबीस रुपए)

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन-भवन, कदमकुआँ,
पटना-८००००३

मुद्रक
रामनरेश सिंह
बाल्मीकि प्रेस
पटना-४

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ कराने के उद्देश्य से भारत-सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अँगरेजी तथा अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है और मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत-सरकार विभिन्न राज्य-सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य-सरकारों द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ, डॉ० सुशील माधव पाठक-रचित **विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास** का द्वितीय संस्करण है जो भारत-सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित किया गया है। इसका पुनरीक्षण राँची विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डॉ० फणींद्र नाथ ओझा ने किया है। यह ग्रंथ विश्वविद्यालय-स्तर के छात्रों के लिए महत्त्वपूर्ण होगा। इस ग्रंथ का द्वितीय संस्करण होना ही इसकी लोकप्रियता में वृद्धि का प्रमाण है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

देवेन्द्रनाथ शर्मा

पटना,
मई १९७२

अध्यक्ष,
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्रकाशकीय

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास, डॉ० सुशील माधव पाठक, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, राँची विश्वविद्यालय, की मौलिक कृति है। इस ग्रंथ का दूसरा संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण ने भारत के विश्वविद्यालयों में सराहनीय लोकप्रियता पाई है।

इस ग्रंथ के दूसरे संस्करण का प्रकाशन हम नये कलेवर में कर रहे हैं। हिन्दी-भाषी क्षेत्र के विश्वविद्यालयों द्वारा निर्धारित स्नातक तथा स्नातकोत्तर पाठ्य-क्रम के अनुरूप सभी आवश्यक सामग्रियों का समावेश इस ग्रंथ में किया गया है। हम आशा करते हैं कि इस ग्रंथ के दूसरे संस्करण का पहले से भी अधिक स्वागत होगा।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से जिनका योगदान प्राप्त हुआ है, अकादमी उन सबों का आभार मानती है।

पटना,
मई, १९७९

—दामोदर ठाकुर
निदेशक

दो शब्द

पटना
दिनांक १९ मई, १९७२

मुझे प्रसन्नता है कि बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में इतिहास विषय पर एम० ए० कक्षा के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर डॉ० सुशील माधव पाठक ने "विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास" नामक ग्रंथ का प्रणयन किया है जो अब प्रकाशित हो रहा है। मुझे विश्वास है, एक अधिकारी विद्वान द्वारा लिखे गये इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ से सभी विश्वविद्यालयों के छात्र एवं अध्यापक अवश्य लाभान्वित होंगे। चूँकि यह सभ्यताओं का इतिहास है, अतएव यह प्रकाशन सामान्य पाठकों के लिए भी उपादेय सिद्ध होगा। हिंदी भाषा में उच्च कक्षाओं के लिए ऐसे ग्रंथ के प्रणयन का मैं स्वागत करता हूँ।

—केदार पाण्डेय
मुख्यमंत्री,
बिहार सरकार, पटना

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

इस ग्रंथ में विश्व की प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास का सर्वेक्षण प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है। स्नातकोत्तर कक्षाओं में पिछले उन्नीस वर्षों से इस विषय को पढ़ाने के अनुभव के आधार पर यह ग्रंथ लिखा गया है। हिंदी भाषा के माध्यम से एम० ए० कक्षाओं में इतिहास को पढ़ने की अभिरुचि विद्यार्थियों में बढ़ती जा रही है, पर पाठ्य-ग्रंथों का सर्वथा अभाव है। अतः बिहार के विश्वविद्यालयों के एम० ए०—इतिहास के प्रथम-पत्र की विषय-वस्तु को ध्यान में रखकर इस ग्रंथ का प्रणयन प्रारंभ किया गया। यह हर्ष का विषय है कि ग्रंथ अब प्रकाशित होकर विद्यार्थियों, विद्वान शिक्षकों तथा सामान्य पाठकों के हाथों में जा रही है।

अत्यन्त विनम्रता के साथ यह निवेदन करना अनुचित नहीं होगा कि यह ग्रंथ किसी विशेषज्ञ अथवा शोधकर्त्ता की कृति नहीं, वरन् एक हिंदीप्रेमी इतिहास के शिक्षक के द्वारा हिंदी वाङ्मय के मंदिर में अर्पित उसके प्रयत्नों का प्रसून है। पुनः, यह ग्रंथ विशेषज्ञों के लिए नहीं, वरन् विशेषतः एम० ए० कक्षा के विद्यार्थियों के लिए लिखा गया है। उनकी अभिरुचि एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर यथासंभव सरल भाषा में विषयवस्तु को उपयुक्त, बोधगम्य एवं रोचक बनाने की कोशिश की गई हैं। संभव है, कुछेक स्थलों पर विशेषज्ञों को सामग्री अपर्याप्त प्रतीत हो। चूँकि इस प्रकार के सर्वेक्षण में सामग्री के चयन एवं प्रस्तुतीकरण में एकरूपता सदैव संभव नहीं है, अतः ऐसी त्रुटियों के लिए क्षमा-याचना आवश्यक है। समय-समय पर विद्वान पाठकों के सुझावों को ध्यान में रखकर त्रुटियों को दूर करने की कोशिश की जायगी। यदि इस पुस्तक से स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थियों को इस विषय को पढ़ने एवं समझने में सहायता मिल सकी, तो परिश्रम बहुत दूर तक सफल माना जाएगा। साथ ही, यदि इसके द्वारा अन्य जिज्ञासुओं एवं विद्वान् पाठकों की भी कुछ सेवा हो सकी, तो यह परम संतोष का विषय होगा।

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना में अनेक ग्रंथों एवं लेखों से सहायता ली गई है। अतः उन सभी पूर्ववर्ती लेखकों के प्रति, जिनकी रचनाओं से इस ग्रंथ के प्रणयन में सहायता मिली है; हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की जा रही है। अपने विभाग के अध्यक्ष एवं मित्र डॉ० पी० एन० ओझा के प्रति लेखक अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता है जिन्होंने अपनी व्यस्तता के बावजूद इस ग्रंथ के संपादन का भार स्वीकार किया और पूरी पांडुलिपि को पढ़कर समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव दिए।

बिहार राज्य के मुख्यमंत्री, माननीय श्री केदार पाण्डेय जी ने अपनी घोर व्यस्तता के बावजूद इस ग्रंथ के लिए दो शब्द लिखने के लिए अपना बहुमूल्य समय दिया। इस कृपा के लिए लेखक उनका चिरकृतज्ञ रहेगा तथा उनके ये दो शब्द सदैव अपूर्व प्रेरणा एवं प्रोत्साहन के स्रोत बने रहेंगे।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में अभिरुचि लेने के लिए बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के अध्यक्ष डॉ० लक्ष्मी नारायण सुधांशु के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त किया जा रहा है। अकादमी के निदेशक डॉ० शिवनंदन प्रसाद का लेखक विशेष रूप से आभारी है जिनके संवेदनशील व्यक्तित्व एवं प्रोत्साहन-भरे शब्दों से इस ग्रंथ के प्रणयन में बल मिला और जिनके सक्रिय सहयोग के कारण यह ग्रंथ निश्चित समय पर प्रकाशित हो रहा है। प्रकाशन में तत्परता के लिए अकादमी के प्रकाशन अधिकारी श्री बैजनाथ सिंह विनोद भी धन्यवाद के पात्र हैं।

राँची,
वैशाख-पूर्णिमा, १९७२

—सुशील माधव पाठक

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

बड़े हर्ष का विषय है कि **विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास** का दूसरा संस्करण बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी से प्रकाशित हो रहा है। प्रथम संस्करण भी अकादमी के द्वारा ही सन् १९७३ के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित हुआ था। लेखक को प्रसन्नता है कि इस ग्रंथ को परमात्मा की असीम अनुकंपा से, आशातीत सफलता मिली तथा पाँच वर्षों के अन्दर ही द्वितीय संस्करण की आवश्यकता महसूस की गई। विद्यार्थियों, प्राचीन इतिहास के प्राध्यापकों तथा जिज्ञासु पाठकों में ग्रंथ को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई है, वह लेखक के लिए परम संतोष का विषय है।

हिंदीभाषी क्षेत्र के कई विश्वविद्यालयों ने अपने स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में पुस्तक को रखकर लेखक का उत्साहवर्द्धन किया है। खासकर बिहार-राज्य के विश्वविद्यालयों के एम०ए०, इतिहास एवं प्राचीन इतिहास के, सभ्यताओं के इतिहास के पत्र के पठन-पाठन में ग्रंथ को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई, यह लेखक के लिए हर्ष का विषय है।

लेखक उत्तर-प्रदेश-प्रशासन के प्रति विशेष रूप से अपना आभार व्यक्त करना चाहता है जिन्होंने इस ग्रंथ पर लेखक को सन् १९७४ में अपने राज्य-साहित्यिक पुरस्कार से सम्मानित कर प्रोत्साहित किया।

लेखक बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के सभी भूतपूर्व एवं वर्त्तमान पदाधिकारियों को हार्दिक धन्यवाद देना चाहता है जिन्होंने ग्रंथ को अपना विशिष्ट प्रकाशन मानकर इसके प्रचार-अभियान में कोई कोर-कसर नहीं रहने दी। इन्हीं लोगों के प्रयत्नों के फलस्वरूप इस ग्रंथ को प्रस्तुत विषय पर एक संदर्भ-ग्रंथ का स्थान मिल चुका है।

प्रथम संस्करण की छपाई की गलतियों को दूसरे संस्करण में सुधार दिया गया है, पर विषयवस्तु में कोई खास परिवर्त्तन या परिवर्द्धन नहीं किया गया है। लेखक उन सभी विद्वान पाठकों का आभारी है जिन्होंने पत्र लिखकर या वार्त्तालाप के द्वारा इस ग्रंथ के विषय में लेखक का उत्साहवर्द्धन किया है। उन अगणित

विद्यार्थियों को भी लेखक धन्यवाद देना चाहता है जिन्होंने इस ग्रंथ से लाभान्वित होकर समय-समय पर लेखक के प्रति सद्‌भाव व्यक्त किया है।

द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के लिए लेखक अकादमी के वर्त्तमान अध्यक्ष, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा और वर्त्तमान निदेशक, प्रोफेसर दामोदर ठाकुर का कृतज्ञ है जिन्होंने व्यक्तिगत अभिरुचि लेकर इस संस्करण को शीघ्र प्रकाशित कराया है। अकादमी के विक्रय-पदाधिकारी, ठाकुर यदुवंशनारायण सिंह विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने न केवल प्रथम संस्करण के प्रचार एवं विक्रय में अपनी कर्मठता एवं कार्यकुशलता का परिचय दिया है, वरन् द्वितीय संस्करण के अविलंब प्रकाशन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

—सुशील माधव पाठक

सुशील-सदन
आर्यपूरी, राँची।
ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत २०३६, तदनुसार १० जून, १९७९।

विषय-सूची

पृष्ठ

१. विषय-प्रवेश १

२. आदि मानव का इतिहास ४

३. प्राचीन मिस्र की सभ्यता ९

४. प्राचीन बैबिलोनिया की सभ्यता ७७

५. प्राचीन असीरिया की सभ्यता १५६

६. प्राचीन यूनान की सभ्यता १८६

७. प्राचीन रोम की सभ्यता ३३०

८. ईसाई धर्म का उदय एवं प्रसार ३६७

९. प्राचीन चीन की सभ्यता ३७६

१०. प्राचीन भारत की सभ्यता के कुछ पहलू ४७५

११. संदर्भ ग्रंथ-की सूची ५४३

१२. पारिभाषिक शब्द-संग्रह ५७७

●

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास

१ : विषय-प्रवेश

इतिहास घटनाओं की निरंतर बहने वाली धारा का अध्ययन है। इतिहास पिछली पीढ़ियों द्वारा अर्जित संपत्ति, ज्ञान और बुद्धिमत्ता को हमें देता है तथा हमारा उत्तरदान अगली पीढ़ियों तक ले जाता है। भूत के अध्ययन के बिना वर्त्तमान को समझना कठिन है। घटनाओं के क्रम में और विचारधाराओं में परिवर्त्तन अचानक नहीं, धीरे-धीरे होते हैं। इसलिए भूतकाल की घटनाओं एव प्रवृत्तियों का अध्ययन हमें वर्त्तमान और भविष्य को समझने में मदद करता है।

इतिहास मानव के प्रत्येक विकास का मूल्यांकन करता है चाहे वह विकास विज्ञान या कला के क्षेत्र में हो अथवा दर्शन, साहित्य, राजनीति और धर्म के क्षेत्र में। मनुष्य पर जितनी वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है, उन समग्र वस्तुओं का अध्ययन इतिहास है। दुर्भाग्यवश काफी समय तक इतिहास में राजनैतिक घटनाओं तथा व्यक्तियों पर अधिक जोर दिया जाता था तथा मानव की सभ्यता और संस्कृति के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता था। इसी कारण, इतिहास के विषय में बहुत-सी भ्रांत धारणाएँ फैल गई थीं। कुछ लोग इतिहास को केवल राजाओं और लड़ाइयों की कहानी मानते थे। पर, इतिहास वास्तव में न तो केवल प्रमुख व्यक्तियों का इतिहास है और न राजनैतिक उत्थान-पतन का। राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास के सामंजस्य से ही सच्चे इतिहास का ज्ञान संभव है।

इतिहास के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य है—सत्य का निरूपण। जो इतिहास असत्य का प्रचार करता है, वह इतिहास नहीं, झूठा प्रचार है। पर, दुर्भाग्यवश भूतकाल में तथा वर्त्तमान युग में भी ऐतिहासिक अध्ययन का दुरुपयोग किया गया है। राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन की पेचीदगी के कारण किसी खास विचारधारा की अच्छाई और प्रधानता का प्रचार करने के लिए अथवा देशभक्ति के प्रभाव में आ कर, ऐतिहासिक लेखों में सत्य को तिलांजलि दे दी जाती है या ऐतिहासिक घटनाओं की गलत व्याख्या की जाती है। यह मानव जाति का दुर्भाग्य है। इतिहास का एकमात्र उद्देश्य अतीत के विषय में सत्य का पता लगाना तथा उसकी निर्भीक व्याख्या होना चाहिए।

ऐतिहासिक अध्ययन में मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के अध्ययन पर जोर देना वर्त्तमान इतिहास की विशेषता है। यह एक शुभ लक्षण है कि पाठ्यक्रमों में सांस्कृतिक अध्ययन को उतना ही महत्त्व दिया जाता है, जितना राजनैतिक घटनाओं के अध्ययन को। शोध-कार्यों में भी यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

सभ्यता हमारे उच्च गुणों की उपज है। इसका प्रारंभ महान व्यक्तियों से होता है तथा अंत में उसे सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है। सभ्यता के द्वारा मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व का विकास होता है। दूसरे शब्दों में, विकास का ही दूसरा नाम सभ्यता है। प्रकृति का ज्ञान, कला का विकास, सामाजिक सुव्यवस्था, नैतिक नियम, भौतिक उन्नति, शासन-व्यवस्था तथा धार्मिक विश्वास किसी भी सभ्यता के अंग होते हैं। इनका न होना असभ्यता का सूचक है।

इतिहास के प्रत्येक विद्यार्थी को यह जानना अत्यावश्यक है कि मानवीय गुणों एवं संस्कृतियों का विकास किसी एक देश की धरोहर नहीं, बल्कि इसमें समस्त मानव जाति का योगदान है। विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में मनुष्य ने सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न अंगों का विकास किया तथा अपने अनुभवों से मानव जाति के इतिहास को समृद्ध किया। इस समृद्ध अनुभव का अध्ययन ही विश्व-इतिहास का अध्ययन है।

वर्त्तमान युग में विश्व-इतिहास का अध्ययन और भी आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण हो गया है। वास्तव में समस्त देशों का इतिहास एक है। केवल सुविधा के लिए हमने इतिहास को देश और काल में विभाजित किया है, अन्यथा समग्र इतिहास मानव के विकास की कहानी है। बिना विश्व-इतिहास के अध्ययन के इस कहानी की समग्रता को समझना कठिन है। इस समग्रता को समझे बिना मनुष्य अपने को या अपने देश या समाज को पृथ्वी का केंद्र मान सकता है। विश्व-इतिहास का विद्यार्थ किसी भी देश या समाज को मानव-सभ्यता के विकास में उतनी ही प्रतिष्ठा देगा, जितनी उसे मिलनी चाहिए। अति राष्ट्रीयता के प्रभाव में आकर वह अपने ही दे को अथवा समाज को उच्चतम नहीं समझ लेगा, वरन् सहानुभूतिपूर्वक अन्य देशों के योगदान का भी महत्त्व समझेगा।

विश्व-इतिहास के अध्ययन से उदार एवं उदात्त दृष्टिकोण का जन्म होता है। आज के विश्व में जब मानव मानव से दूर होता जा रहा है, यह आवश्यक है कि हम मानव जाति के विकास में प्रत्येक जाति और देश के योगदान को परखें तथा वि अंतर्राष्ट्रीयता के विकास का प्रयास करें। वास्तव में यह विश्व मानव जाति का एक बड़ा परिवार है, जिसके विकास में भिन्न देशों का समान योगदान रहा है। विश्व-इतिहास के अध्ययन से इस महापरिवार का रंग-रूप समझा जा सकता है। किसी भी

व्यक्ति को सफल एवं सुसंस्कृत नागरिक होने के लिए विश्व-इतिहास का अध्ययन आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक को पूर्व तथा पश्चिम एवं प्राचीन और अर्वाचीन सभ्यताओं का समुचित ज्ञान अपेक्षित है। वैज्ञानिक विकास के कारण समय तथा दूरी का व्यवधान कम हो गया है। पर, वास्तव में विभिन्न सभ्यताओं का इतिहास पढ़े बिना यह दूरी ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। दूसरे शब्दों में विश्व-बंधुत्व का आदर्श तभी सार्थक होगा, जब विश्व का नागरिक 'विश्व-सभ्यता' के इतिहास से परिचित हो। मानव जाति का वास्तविक रूप समझने के लिए मानव-सभ्यता के विकास का अध्ययन आवश्यक है।

२ : आदि मानव का इतिहास

मानव-सभ्यता के इतिहास की कहानी मनुष्य की असभ्यावस्था से शुरू होती है, जब वह पशुओं की तरह ही जीवन व्यतीत करता था, पर उसमें स्वाभाविक सूझ-बूझ पशुओं से अधिक थी। इस युग को प्रागैतिहासिक काल कहते हैं; क्योंकि मनुष्य का इतिहास वास्तव में उसकी सभ्यावस्था का इतिहास है। वस्तुतः इस काल की कहानी विशुद्ध इतिहास का विषय नहीं, वरन् नृतत्व-विज्ञान का विषय है। पर, विश्व-इतिहास की भूमिका के तौर पर इस युग की कहानी का ज्ञान भी आवश्यक है।

आदि मानव के विकास की कहानी बड़ी मनोरंजक है। आदि मानव की उत्पत्ति कैसे हुई, यह विषय विवादग्रस्त है। इस विषय पर दो प्रमुख मत हैं—एक धार्मिक तथा दूसरा वैज्ञानिक। संसार के विभिन्न धर्मों के अनुसार इस पृथ्वी को ईश्वर ने बनाया तथा उसी की इच्छा से मनुष्य की भी सृष्टि हुई तथा मनुष्य ने उसकी कृपा से क्रमशः विकास किया। पर, वैज्ञानिक मतानुसार मनुष्य की उत्पत्ति चिंपाजी या लंगूरों से हुई। इस मत के जन्मदाता हैं प्रसिद्ध यूरोपीय वैज्ञानिक—चार्ल्स डारविन, जिन्होंने अपने विकासवाद के सिद्धांत द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में इस मत का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार क्रमिक विकास के पश्चात् ही पशुओं से मनुष्य का विकास हुआ। प्रागैतिहासिक काल के विशेषज्ञों ने संसार के विभिन्न भागों से उन हथियारों को खोज निकाला है, जिन्हें संभवतः मनुष्य के पूर्वजों ने व्यवहार किया होगा। कुछ स्थानों में मानव के पूर्वजों के शरीर के शेषांश भी मिले हैं। जैसे मध्य एशिया, जर्मनी तथा जावा में कुछ ऐसी खोपड़ियाँ, दाँत तथा हड्डियाँ मिली हैं, जो आदि मानव के पूर्वजों की प्रतीत होती हैं। विद्वानों का विचार है कि मनुष्य के ये पूर्वज हिम युग में, आज से लगभग पाँच लाख साल पहले, पृथ्वी पर रहते थे।

आदि मानव का जीवन बहुत-कुछ पशुओं से मिलता-जुलता था, हालाँकि उसकी सूझ-बूझ पशुओं से अधिक थी। विद्वानों का अनुमान है कि अपनी असभ्यावस्था में मनुष्य गुफाओं में रहता था, कंद, मूल, फल तथा कच्चा मांस खाता था तथा जानवरों की खाल ओढ़ता था। प्रकृति के साथ संघर्ष तथा जीवन-यापन के संघर्ष के कारण आदि मानव की सूझ-बूझ बढ़ती गई तथा उसने धीरे-धीरे सभ्यता के

मार्ग पर अपना कदम बढ़ाया। इस असभ्यावस्था के इतिहास को सुविधा के लिए तीन भागों में बाँटा गया है।

पूर्व-पाषाण युग

जिस काल में मनुष्य ने अपने जीवन-यापन की आवश्यकताओं की प्राप्ति के लिए पत्थरों का व्यवहार करना सीखा, उस युग को 'पूर्व-पाषाण युग' की संज्ञा दी गई है। पत्थरों को घिस कर वह अपने हथियार बनाता था। इन हथियारों को फेंक कर वह जंगली जानवरों से अपनी रक्षा करता था। इन्हीं हथियारों के द्वारा शिकार से वह अपना भोजन भी जुटाता था।

इस युग का मनुष्य बर्बर और जंगली था। उसका सामाजिक तथा धार्मिक जीवन विश्रृंखल था। वह जानवरों की तरह कच्चा मांस खाता तथा गुफाओं में रहता था। उसका मुख्य भोजन फल-मूल तथा कच्चा मांस था। शुरू में वह अपना शरीर नहीं ढँकता था, पर धीरे-धीरे उसमें लज्जा का भाव उत्पन्न हुआ और उसने ढँकने की आवश्यकता महसूस की। उसने पेड़ों की छाल, पत्तों या जानवरों की खाल पहनना और ओढ़ना प्रारंभ किया।

पत्थरों के साथ घनिष्ठ संपर्क ने मनुष्य को आग पैदा करना सिखाया। इसी युग में पत्थरों को घिस कर आग पैदा करने का ज्ञान मनुष्य ने प्राप्त किया। यह इस युग की सबसे बड़ी उपलब्धि थी जिसने मनुष्य को क्रमशः सभ्यता के मार्ग की ओर अग्रसर किया।

आग पैदा करने के ज्ञान ने मनुष्य के जीवन में बड़ा परिवर्तन ला दिया। अब वह कच्चे मांस की जगह मांस को भून कर खाने लगा। शीतकाल में आग जला कर उसने ठंढक का मुकाबला करना शुरू किया। अतः, आग का ज्ञान इस युग के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

इस युग के मनुष्य में उस विवेक का जन्म नहीं हुआ था, जो सामाजिक व्यवस्था तथा धार्मिक चिंतन का जनक है। सामाजिक जीवन विश्रृंखल था। विवाह अथवा पारिवारिक संबंध की कल्पना भी नहीं थी। धार्मिक विश्वासों का जन्म नहीं हुआ था। वस्तुतः इस युग के मानव को अपने जीवन-यापन के संघर्ष से ही फुरसत नहीं थी। इसलिए इन क्षेत्रों में उसकी प्रगति शून्य थी।

मृतक-संस्कार के भी कोई सुनिश्चित नियम नहीं थे। सुविधानुसार वह अपने मृतकों को कभी जलाता था तथा कभी यों ही फेंक देता था, जिसे पशुपक्षी खा जाया करते थे। कभी-कभी मृतक दफनाए भी जाते थे।

पूर्व-पाषाण युग की सभ्यता का समय निश्चित करना कठिन है। पर,

विद्वानों का अनुमान है कि यह युग ४० हजार ई०-पू० से १५ हजार ई०-पू० तक रहा होगा।

नव-पाषाण युग

नव-पाषाण युग में मनुष्य निश्चित रूप से सभ्यता के पथ पर आगे बढ़ा। यदि यह कहा जाय कि इस युग में मानव-सभ्यता की नींव रखी गई, जिसका विकसित रूप हम आज भी पाते हैं, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। मानव-जीवन की जितनी मौलिक आवश्यकताएँ हैं, उन सबों की पूर्ति के साधनों की ओर मानव इस काल में अग्रसर हुआ। उसका जो कुछ भी विकास इस युग में हुआ, वह उसके अनुभवों के आधार पर हुआ। अनुभव के साथ-साथ परंपरा और स्मरण-शक्ति से लाभान्वित होकर मनुष्य ने अपने दैनिक जीवन में कुशल विविधता और सौंदर्य की ओर अभिरुचि दिखलायी।

मनुष्य का कृषि-कार्य से परिचय इस युग का सबसे क्रांतिकारी परिवर्त्तन था। अपने दैनिक जीवन के कार्य-पालन में मनुष्य ने बीज अंकुरित होते देखा तथा इससे उसकी खेती में अभिरुचि हुई। कृषि का ज्ञान मनुष्य को संभवतः कंद-मूल, फल इकट्ठा करने तथा उन्हें सँजोने के सिलसिले में ही हुआ। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य ने अपने आसपास की भूमि में खेती करना शुरू किया। खेती के प्रारंभ से मनुष्य के जीवन में अधिक स्थिरता तथा व्यवस्था आ गई।

इसी प्रकार मनुष्य ने अनुभव किया कि केवल पशु-पक्षियों के शिकार से उसके भोजन की समस्या हल नहीं होती; क्योंकि शिकार से प्राप्त मांस उसकी आवश्यकता के लिए अपर्याप्त होता था। इसलिए उसे पशुपालन अधिक लाभकर प्रतीत हुआ और उसने इस व्यवसाय में अभिरुचि दिखलायी।

इसी काल में अग्नि का प्रयोग अधिक होने लगा। मनुष्य ने कच्चे मांस और फल-मूल की जगह भोजन पकाना शुरू किया। इस क्षेत्र में स्त्रियों का योगदान अधिक था। अतः, इस काल के खाद्य पदार्थों में फल, फल, मूल, अन्न और मांस आदि थे। पेय पदार्थों में दूध, ताड़ी तथा कई पौधों के रस सम्मिलित थे।

इसी काल में गृह-निर्माण की कला का भी विकास हुआ। खोहों और कंदराओं को त्याग कर मनुष्य ने झोपड़ियों का निर्माण किया। सबसे पहले उसने पशु-चर्म के तंबुओं में रहना सीखा। बाद में उसने पेड़ों की टहनियों, नरकुल, घास-फूस तथा मिट्टी से झोपड़ियाँ बनाना आरंभ किया।

कृषि के विकास से मनुष्य में सँजोने और संग्रह की प्रवृत्ति का उदय हुआ। अनाज को रखने के लिए उसे पात्रों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसलिए उसने चाक का आविष्कार किया तथा मिट्टी के बड़े-बड़े बर्त्तन बनाए जाने लगे।

संभवत: इसी युग में कपास की भी खेती होने लगी तथा मनुष्य ने वस्त्र-निर्माण करना भी सीख लिया। उसने पौधों के रेशों और पशुओं के बालों से भी एक प्रकार का वस्त्र तैयार करना शुरू किया। वनस्पति से तैयार किये गये रंगों से कपड़े लाल, पीले, हरे और नीले रंगों में रँगे जाने लगे।

क्रमश: शरीर के शृंगार में भी मनुष्य की अभिरुचि हुई। बाल सँवारने की प्रथा शुरू हुई तथा पत्थर, कौड़ी, सीप और हड्डियों के आभूषण भी पहने जाने लगे।

इस युग के औजारों तथा हथियारों में आश्चर्यजनक विकास हुआ। मनुष्य ने पत्थरों को रगड़-रगड़ कर चिकना और चमकदार बनाना प्रारंभ किया। इन हथियारों के जो नमूने पाए गए हैं, वे इनकी सुंदरता के प्रमाण हैं। वस्तुत: इस युग के औजार अधिक सुडौल, सुव्यवस्थित तथा विविध प्रकार के हैं। मनुष्य ने पत्थरों के साथ-साथ हड्डियों और लकड़ी से भी औजार बनाने शुरू किए।

इन क्षेत्रों में विकास के कारण मनुष्य के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में भी परिवर्तन हुए। कृषि, पशु-पालन तथा गृह-निर्माण ने मनुष्य में सहयोग तथा सहकारिता की भावना को जन्म दिया, जिससे समाज का जन्म हुआ। मनुष्य का जीवन सामूहिक हो गया। सामूहिक आवास से गाँवों का जन्म हुआ तथा गाँवों में कार्य-विभाजन की सुविधा के लिए विभिन्न पेशों का उदय हुआ। क्रमशः विवाह एवं परिवार की संस्थाएँ भी विकसित हुईं।

सामाजिक जीवन के विकास के साथ ही धार्मिक चिंतन का भी प्रादुर्भाव हुआ। जीवन के दु:ख-सुख ने मनुष्य को दैवी और दानवी शक्तियों के विषय में सोचने को बाध्य किया। मनुष्य भौतिक पदार्थों में एक प्रकार की जीवन-शक्ति का अनुभव करने लगा। इस युग के धर्म को 'भूतवाद' की संज्ञा दी जा सकती है। इसी युग में पत्थरों और वृक्षों की पूजा प्रारंभ हुई। लिंग-पूजा का विकास भी इसी समय हुआ। जीवन-मरण के विषय में मनुष्य के विचार स्थिर हो चुके थे। वह शव को अधिकतर दफनाता था तथा कभी-कभी जलाता भी था। कभी-कभी मृतकों के अस्थि-पात्रों के ऊपर समाधि भी बनायी जाती थी।

सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ भाषा का भी क्रमश: विकास होने लगा तथा मनुष्य की कलात्मक अभिरुचि की भी अभिव्यक्ति होने लगी। मिट्टी के बने बर्तनों में इस प्रवृत्ति की प्रथम अभिव्यक्ति हुई। धीरे-धीरे मनुष्य शिलाओं और कंदराओं में रेखाचित्र भी बनाने लगा, जो मानव जाति के कलात्मक प्रयत्न के सबसे पुराने नमूने हैं।

इस युग के आविष्कारों और परिवर्तनों ने मानव-सभ्यता के विकास को अपूर्व बल प्रदान किया। इन अनुभवों के कारण मनुष्य में आत्मविश्वास का जन्म हुआ, जो उसे दिनोंदिन विकास की ओर बढ़ाता गया। पूर्वपाषाण काल का प्रकृतिजीवी मनुष्य उद्योगजीवी तथा विकासोन्मुख हो गया। इस युग में वर्तमान मानव-सभ्यता के अनेक अंग बीज रूप में विद्यमान थे। केवल लेखन-कला, धातुओं का प्रयोग तथा राज्य का प्रादुर्भाव होना ही शेष था। इस युग का प्रसार लगभग १५ हजार ई०-पू० से तीन हजार ई०-पू० तक था।

धातु युग

पाषाण युग के अंतिम दिनों में धातुओं का सीमित प्रयोग शुरू हो गया था। संभवतः भट्ठी बनाने के काम में लाए हुए धातुमिश्रित पत्थरों से भोजन पकाते समय पिघली हुई अवस्था में जो धातु निकल पड़ता होगा, इसी से मनुष्य को धातुओं से परिचय हुआ होगा। धातुओं से परिचित होकर मनुष्य ने अधिकाधिक धातुओं का प्रयोग प्रथमतः औजार और हथियार बनाने में किया। इस युग के इतिहास को तीन भागों में बाँटा गया है :—

१. ताँबे के प्रयोग का काल,
२. काँसे के प्रयोग का काल, और
३. लोहे के प्रयोग का काल।

सबसे पहले ताँबे के औजार और हथियार बनाए जाने लगे। पत्थर के औजारों और हथियारों की तुलना में ताँबे के औजार अधिक सुन्दर और मजबूत होते थे। ताँबा टूटने पर जुड़ सकता था तथा इसकी छोटी-बड़ी चादरें बनायी जा सकती थीं। इन गुणों से ताँबा शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया।

कालांतर में मनुष्य ने अनुभव किया कि कठोर कामों के लिए ताँबा उपयुक्त नहीं है और मनुष्य ने इस कारण ताँबे और टीन मिला कर काँसे का प्रयोग शुरू किया। काँसे के हथियार काफी कड़े और तीक्ष्ण होते थे। अंत में मनुष्य ने लोहे को ढूँढ़ निकाला। विद्वानों का मत है कि सबसे पहले हिट्टाइट जाति ने १३०० ई०-पू० में लोहे का ज्ञान प्राप्त किया। यहीं से एशियाई तथा भूमध्य-सागरीय देशों ने इसका प्रयोग सीखा। लोहे के ज्ञान ने मनुष्य को अत्यन्त तीव्र गति से सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर किया। हम आज भी लौह युग में ही हैं। इसके बिना हमारी सभ्यता अधूरी ही रहती।

इन धातुओं के ज्ञान ने मनुष्य के जीवन को विविधता, सौंदर्य तथा कुशलता प्रदान की। मनुष्य की योग्यता, शक्ति तथा आत्मविश्वास में अभूतपूर्व प्रगति हुई। पूर्व-पाषाण काल का बर्बर मनुष्य अब सभ्य मानव में परिवर्तित हो चुका था तथा उसने पृथ्वी के विभिन्न भागों में ऐतिहासिक सभ्यताओं की सृष्टि की।

●

३ : प्राचीन मिस्र की सभ्यता

मिस्र : नील नदी की देन

मिस्र को 'नील नदी की देन' कहा गया है। इसका कारण यह है कि युगानुयुगों से मिस्र के सुख और समृद्धि का कारण नील नदी ही रही है।

प्राचीन काल में नील नदी में कभी-कभी बाढ़ आती थी। इससे लोगों को कुछ दिनों तक कष्ट और विपत्ति का सामना करना पड़ता था, पर साथ-साथ इससे भूमि की उर्वरता में वृद्धि हो जाती थी। फलतः मिस्र के आर्थिक जीवन में इस नदी का इतना महत्त्व हो गया कि इसे मिस्र की जीवन-रेखा की संज्ञा दे दी गई। प्राचीन मिस्रवासियों के हृदय में इस नदी के प्रति असीम श्रद्धा की भावना थी तथा वे एक देवता की भाँति इसकी पूजा किया करते थे।

मिस्र की सभ्यता अत्यंत प्राचीन है। इस सभ्यता का प्रारंभ कब हुआ, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार मिस्र की सभ्यता कम-से-कम ईसा से दस हजार वर्ष पुरानी है। किन्तु, इस विषय पर संतोषजनक प्रमाण प्राप्त नहीं है।

अत्यंत प्राचीन काल में मिस्र छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था, जो आपस में लड़ते रहते थे। कालांतर में वहाँ बड़े और अधिक शक्तिशाली राज्यों का विकास हुआ। इन बड़े राज्यों ने सभी छोटे राज्यों को समाप्त कर अपनी शक्ति का विस्तार किया। यह क्रम तब तक चलता रहा, जब तक केवल दो बड़े राज्य ही मिस्र में बच गए। ये दो बड़े राज्य उत्तर मिस्र तथा दक्षिण मिस्र अथवा नील नदी की ऊपरी तथा निचली घाटी में स्थापित हुए। अंत में, ये दोनों राज्य भी मिल कर एक राज्य में परिवर्तित हो गए। इन दोनों राज्यों को मिलाने वाला नेता मेना या मिनिस (Menes) था, जिस एक सफल विजेता और सेनानायक भी कहा गया है। इन दोनों राज्यों के मिलाने की घटना लगभग ईसा-पूर्व ३४०० में हुई तथा इस तिथि का प्राचीन मिस्र के इतिहास में बहुत महत्त्व है। इस तिथि से ही मिस्र की राजनैतिक एकता का सूत्रपात होता है। इसी तिथि से मिस्र के क्रमबद्ध इतिहास का भी प्रारंभ होता है और वहाँ के इतिहास का कई कालों में क्रमबद्ध बँटवारा किया जा सकता है।

मिस्र पर एक-एक करके कई राजवंशों ने राज्य किया। इन राजवंशों के अनुसार प्राचीन मिस्र के इतिहास को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :—

प्रथम दो राजवंश—३४०० ई०-पू० से २९८० ई०-पू० तीसरे राजवंश से छठे राजवंश तक (मिस्र के प्राचीन राज्य का युग) (Old Kingdom)—

पिरामिडों का युग

मध्य राज्य (Middle Kingdom) का युग अथवा ग्यारहवें तथा बारहवें राजवंश का युग—

२१६०-ई०-पू० से १७८८ ई०-पू० तक।

सामंतवादी युग—अराजकता तथा विदेशी हिक्सस आक्रमण और शासन का युग—

१७८८ ई०-पू० से १५८० ई०-पू० तक।

साम्राज्यवादी युग – प्रथम साम्राज्य का युग

१८ वें राजवंश का युग—१५८० ई०-पू० से १३५० ई०-पू० तक।

द्वितीय साम्राज्य का युग—१९वें राजवंश तथा बीसवें राजवंश का कुछ भाग—१३५० ई०-पू० से ११५० ई०-पू० तक।

पतन का युग—बीसवें राजवश के अंतिम भाग से ले कर इक्कीसवें राजवंश तक—

११५० ई०-पू० से ९४५ ई०-पू० तक।

लीबियन युग—बाईसवें, तेईसवें तथा चौबीसवें राजवंश का युग—

९४५ ई०-पू० से ७१२ ई०-पू० तक।

ईथियोपियन युग— २५वें राजवंश का युग —

७१२ ई०-पू० से ६६३ ई०-पू० तक,

अथवा असीरियन विजय का युग—

७१२ ई०-पू० से ६६२ ई०-पू० तक।

२६वें राजवंश अथवा पुनर्स्थापन का युग—

६६२ ई०-पू० से ५२५ ई०-पू० तक।

फारस द्वारा मिस्र की विजय—५२५ ई०-पू०

मेना : मिस्री एकता का जनक

मेना को मिस्र की राजनैतिक एकता का जनक माना जाता है। इसी ने मिस्र के प्रथम राजवंश की स्थापना की। प्राचीन मिस्र के लिखित इतिहास में इसके विषय में पक्की जानकारी नहीं हासिल होती है। इसके पूर्वजों अथवा उत्तराधिकारियों के बारे में हमें निश्चित एवं पर्याप्त ज्ञान नहीं है। प्रथम राजवंश के

शासकों के बारे में भी हमारा ज्ञान निश्चित नहीं है। प्रथम दो राजवंशों के शासन काल में उत्तरी मिस्र का शासन एक कठिन समस्या बना रहा। यद्यपि मेना ने उत्तरी तथा दक्षिणी मिस्र के राज्यों को मिला दिया था, पर यह एकता पूर्ण नहीं थी। दोनों राज्यों ने अपनी व्यक्तिगत सत्ता को कायम रखा तथा पूर्ण एकीकरण नहीं हो सका। दोनों की एकता संघात्मक ढंग की थी। इसके अलावे यह एकता राजाओं के व्यक्तित्व पर निर्भर करती थी। प्रशासन तथा भू-भाग की दृष्टि से दोनों भाग पृथक्-पृथक् ही थे। इसलिए शुरू में यह एकता अधिक कारगर नहीं हो सकी। उत्तरी मिस्र दक्षिणी मिस्र के विरुद्ध विद्रोह करता रहा।

प्रथम दो राजवंशों ने प्राय: ४०० वर्षों तक शासन किया। यह युग प्रारंभिक निर्माण का युग था। इस युग में मिस्र की राजनैतिक तथा सामाजिक परंपराओं का क्रमिक तथा सुदृढ़ विकास होता रहा।

प्राचीन राज्य की संस्कृति

शासन-प्रबंध

मिस्र के राजा को 'फराओ' कहा जाता था। इस पद का अत्यंत प्राचीन काल से क्रमिक विकास हुआ। प्राचीन राज्य के प्रारंभ के समय से ही यह पद अत्यंत शक्तिशाली तथा प्रतिष्ठित हो गया था। मिस्र की जनता 'फराओ' को अत्यंत श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। प्राचीन मिस्र के लोग यह विश्वास करते थे कि 'फराओ' एक देवता है। वे उसको पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। वह सूर्य देवता 'रा' का पुत्र माना जाता था। इसके साथ ही 'फराओ' सभी देवताओं का प्रधान पुरोहित भी माना जाता था। प्रधान पुरोहित की हैसियत से उसे कई धार्मिक कृत्य भी करने पड़ते थे। राज्य के अध्यक्ष के नाते उसे राज्य में शांति और सुव्यवस्था कायम रखनी पड़ती थी तथा बाहरी आक्रमणों से भी राज्य की रक्षा करनी पड़ती थी। 'फराओ' प्रशासनिक तंत्र के शीर्ष-स्थान में प्रतिष्ठित था। वह औपचारिक ढंग से भी देवता माना जाता था तथा वह अक्सर 'अच्छा देवता' की उपाधि धारण करता था। अपनी मृत्यु के उपरांत वह देवमंडल में शामिल कर लिया जाता तथा मिस्री जनता के लिए सदा पूज्य बन जाता था। उसके शरीर को 'पिरामिड' नामक मंदिर में सुरक्षित कर दिया जाता था।

वास्तव में, मिस्र का 'फराओ' एक मनुष्य होता था, जिसका एक परिवार और हरम होता था। प्रशासनिक कार्यों में उसका प्रमुख सहायक वजीर या प्रधान मंत्री होता था। जहाँ 'फराओ' देवता माना जाता था, वहाँ वजीर एक मनुष्य माना जाता था। वजीर राज्य का प्रमुख न्यायाधीश, प्रमुख निर्माता तथा प्रमुख

अभियंता का कार्य भी करता था। 'फराओ' प्रशासन के प्रत्येक विभाग का या तो स्वयं निरीक्षण करता था या अपने वफादार अफसरों से निरीक्षण कराता था।

क्रमशः 'फराओं' के दरबार में दरबारी शिष्टाचार तथा नियमों का विकास हुआ। फराओ के दरबार तथा महल में बहुत-से प्रबन्धक अथवा चेम्बरलेन (Chamberlain) तथा मार्शल (Marshal) भी उपस्थित रहते थे, जिनसे दरबार की तड़क-भड़क और शान में वृद्धि होती थी। इस तरह प्राचीन मिस्र के फराओ के दरबार की शान-शौकत कुछ दिनों में इस प्रकार बढ़ गई, जैसी एशिया के राजाओं के दरबार में हाल तक पायी जाती थी अर्थात् फराओ के दरवार में अनेक गुलाम, अंगरक्षक अफसर और सेवक सदैव उपस्थित रहते थे। इसके अलावे अनेक सामंत भी रहते थे, जो 'फराओ' को सदैव घेरे रहते थे। इन सामंतों की कई श्रेणियाँ होती थीं तथा वे ही 'फराओ' की हर सुख-सुविधा का प्रबंध करते थे।

दरबार में सरकारी वैद्य, नर्तक और कलाकार भी होते थे। राजा की प्रमुख रानी 'राजमहिषी' मानी जाती थी तथा उसका पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी भी होता था। प्रत्येक फराओ का एक बड़ा हरम होता था, जिसमें उनकी पत्नियाँ और बच्चे रहते थे। राजकुमारों के रहने का प्रवन्ध अलग-अलग होता था तथा बचपन से ही उन्हें प्रशासन और युद्ध की अच्छी शिक्षा व्यावहारिक रूप से दी जाती थी।

सामंतों और कुलीनों के परिवारों के साथ फराओ का घनिष्ठ संबंध रहता था। फराओ शक्तिशाली सामंतों से मैत्री का संबंध रखता था तथा बहुतों के साथ वैवाहिक संबंध भी स्थापित करता था। राज्याध्यक्ष होने के कारण फराओ की शक्ति तथा विशेषाधिकार असीम थे। वह सार्वभौम था तथा उसकी शक्ति पर अंकुश रखने वाला कोई नहीं था। यद्यपि सभी फराओ ऐश-आराम का जीवन बिताते थे, तथापि यह कहना गलत होगा कि वे प्रशासन पर ध्यान नहीं देते थे। प्राचीन राज्य के सभी फराओ विलासी तथा मनमाने शासक नहीं थे, उनमें से कई उदारचेता शासक थे, जो जनहित और जनकल्याण को अपने शासन का सर्वोच्च उद्देश्य मानते थे। चौथे राजवंश के अधिकतर शासक सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत थे।

इस युग का फराओ एक अत्यंत व्यस्त व्यक्ति होता था, जिसे स्वयं यथासंभव प्रशासन के सभी विभागों को देखना पड़ता था। राजा का महल भी एक विचित्र संस्था के रूप में विकसित हो गया था। एक खास ढंग पर इसका निर्माण हुआ था। इसमें दो प्रमुख द्वार होते थे, जो मिस्र के दो राज्यों का प्रतिनिधित्व करते थे। चूँकि मिस्र के दो राज्यों ने मिलकर एक राज्य बनाया था, इसलिए दोनों राज्यों की जनता की भावनाओं का सम्मान करने के लिए मिस्र के राजा के महलों में सदैव दो अग्रभाग होते थे।

राजमहल में बहुत-से बड़े-बड़े हॉल तथा कमरे होते थे, जो किसी क्रमबद्ध या आनुपातिक ढंग से नहीं वरन् टेढ़े-मेढ़े तथा बेतरतीब ढंग से बने होते थे, ताकि चोरों का प्रवेश असंभव हो सके। राजमहल में राजा तो रहता था, साथ ही बड़े-बड़े कर्मचारी भी रहते थे। इस प्रकार यह राजा के निवासस्थान के साथ-साथ प्रमुख कार्यालय भी होता था।

प्राचीन राज्य में स्थानीय शासन

स्थानीय शासन की सुविधा के लिए ऊपरी मिस्र को वीस जिलों में बाँट दिया गया था, तथा निचला मिस्र भी कई जिलों में विभक्त था। इन जिलों को 'नोम' (Nome) कहा जाता था। चौथे और पाँचवें राजवंश में प्रत्येक नोम के शासन के अध्यक्ष के रूप में एक अफसर बहाल किया जाता था, जिसे 'प्रथम पदाधिकारी' कहा जाता था। यह पदाधिकारी उस जिले का शासक एवं प्रमुख न्यायाधीश भी होता था। ऊपरी मिस्र में इन शासकों की शक्ति असीमित थी। इनमें से कुछ शक्तिशाली गवर्नरों ने एक दल भी कायम कर लिया था तथा ये लोग शासन के क्षेत्र में प्रमुख स्थान रखते थे। निचले मिस्र में भी कुछ ऐसा ही प्रबंध किया गया था। निचले मिस्र में इन स्थानीय गवर्नरों की संख्या ऊपरी मिस्र से कम थी, तथापि वे स्थानीय शासन के प्रत्येक भाग पर नियंत्रण और अपने हाथों में असीम शक्ति रखते थे। इन अनेक नोमों को एक सूत्र में बाँधते का काम केन्द्रीय कोष के द्वारा होता था। इसी प्रकार भूमि-पंजीयन का कार्यालय, सिंचाई विभाग का दफ्तर तथा न्याय विभाग के कार्यालय आदि राजमहल में केन्द्रित होते थे। इन सभी विभागों का शासन केन्द्र से होता था।

पर, केंद्रीय शासन तथा प्रांतीय शासन की प्रधान कड़ी केन्द्रीय कोष ही था। केन्द्रीय कोष का प्रमुख कोषाध्यक्ष राजमहल में रहता था और संपूर्ण वित्त तथा राजस्व विभाग का नियंत्रण करता था।

प्राचीन राज्य की न्याय-व्यवस्था

प्राचीन राज्य में पेशेवर न्यायाधीश नहीं होते थे, इसलिए स्थानीय गवर्नर अथवा उनके प्रतिनिधि ही अपने क्षेत्रों में न्यायाधीश का काम किया करते थे। कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के बीच आधुनिक विभाजन जैसी कोई व्यवस्था प्राचीन मिस्र में नहीं थी। कार्यपालिका के अफसर ही साधारणतया न्यायाधीशों का काम करते थे। इन अफसरों से यह आशा की जाती थी कि वे न्याय तथा विधि के मामलों की पूरी जानकारी रखें। राजा की ओर से एक प्रमुख न्यायाधीश नियुक्त किया जाता था, जो प्रांतीय न्यायाधीशों तथा प्रांतीय कचहरियों के काम का निरीक्षण किया करता था।

इस समय एक विस्तृत न्याय-विधान था, पर दुर्भाग्यवश कालक्रम से वह नष्ट हो चुका है। न्यायाधीश निष्पक्ष रूप से न्याय किया करते थे। महत्त्वपूर्ण मुकदमों की सुनवाई प्रधान न्यायाधीश स्वयं किया करते थे। राजद्रोह के ऐसे मुकदमें, जिनमें रानी आदि पर अभियोग हो, दो न्यायाधीशों की एक विशेष अदालत में सुनवायी के लिए भेजे जाते थे। इस विशेष अदालत में प्रधान न्यायाधीश नहीं सम्मिलित किया जाता था। पुराने राज्य के राजा अपनी निष्पक्षता तथा न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध थे। इससे न्याय-व्यवस्था के विकसित एवं सुसंचालित होने का पता चलता है।

वजीर अथवा प्रधान मंत्री

राजा के बाद वजीर अथवा प्रधान मंत्री सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था तथा वही राज्य का प्रधान न्यायाधीश भी होता था। वास्तव में प्रधान मंत्री प्रशासन का अध्यक्ष था। चौथे राजवंश के शासन-काल में इस गौरवशाली पद पर साधारणतः युवराज ही नियुक्त किए जाते थे, क्योंकि फराओ का उन पर पूर्ण विश्वास एवं नियंत्रण रहता था। प्रधान मंत्री प्रशासन-संबंधी सभी महत्त्वपूर्ण कागजात और अभिलेख की भी रक्षा करता था। राज्य के प्रमुख अभिलेख को 'राजा का लेख' कहा जाता था। ऐसा पता चलता है कि प्राचीन राज्य में प्रशासन-तंत्र काफी विस्तृत हो चुका था, जिसमें कई बड़े-बड़े पद थे। फिर भी शासन की सफलता बहुत हद तक राजा के व्यक्तित्व पर ही निर्भर थी। यदि राजा प्रतिभाशाली तथा शक्तिशाली होता था, तो उसके स्थानीय अधिकारी भी उसके प्रति वफादार रहते थे। यदि वह निकम्मा और कमजोर होता था, तो स्वाभाविक रूप से प्रांतीय गवर्नर स्वतंत्र होने की कोशिश करते थे, जिससे राज्य में अशांति फैलती थी तथा राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता था। प्राचीन मिस्र के प्रशासन-तंत्र में संपूर्ण राज्य का नोम में विभाजन, शासन-व्यवस्था की एक बहुत बड़ी कमजोरी थी, जिससे दुर्बल राजाओं के शासनकाल में प्रांतीय गवर्नर अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए लाभ उठा सकते थे।

धीरे-धीरे ये नोम स्वतंत्र राज्यों के रूप में विकसित होते गए तथा महत्त्वाकांक्षी गवर्नरों के शासन-काल में इनसे राज्य की एकता को एक बड़ा खतरा बना रहता था। शक्तिशाली प्रांतीय गवर्नर राजा के लिए अशांति का कारण बन जाते थे। इसलिए दूरदर्शी एवं बुद्धिमान फराओ इन शक्तिशाली गवर्नरों को सदैव पूर्ण नियंत्रण में रखने का प्रयत्न करते थे, ताकि वे स्वतंत्र न हो सकें।

प्राचीन राज्य का सामाजिक जीवन

परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई था। समाज में एक-विवाह की ही प्रथा प्रचलित थी, परंतु धनीमानी एवं श्रेष्ठगण बहु-विवाह भी करते थे। फल-

स्वरूप फराओ की भाँति वे लोग भी अपना हरम रखते थे। मुख्य पत्नी को छोड़ कर अन्य पत्नियों को प्राचीन मिस्र की प्रथा के अनुसार पति की संपत्ति पर कोई कानूनी अधिकार नहीं था। सामाजिक दृष्टिकोण से हरम की प्रथा अनैतिक नहीं मानी जाती थी, वरन् उसे उचित मान कर समाज में प्रश्रय दिया जाता था। संतान माता-पिता के प्रति साधारणतया आदर का भाव रखती थी।

स्त्रियों का स्थान समाज में ऊँचा था। स्त्री को पुरुष के बरावर माना जाता था तथा समाज में उसका बड़ा आदर किया जाता था। वे सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक कामों में समान रूप से भाग लेती थीं। संभवतः समाज में एक ढीले बंधन के रूप में एक प्रकार का विवाह प्रचलित था, पर पति अथवा पत्नी की अनैतिकता की कटु आलोचना की जाती थी, तथापि तत्कालीन समाज में कुछ हद तक अनैतिकता भी प्रचलित थी।

धनी और कुलीन वर्ग के लोग सुन्दर महलों में रहते थे, जो लकड़ी तथा धूप में सुखी हुई ईंटों के बने होते थे। उनकी बनावट हल्की होती थी। इन महलों में काफी खिड़कियाँ भी होती थीं। साधारण लोगों के मकान मिट्टी और ईंटों से बनाए जाते थे, जिनकी छतें फूस की होती थीं। धनी लोगों के मकान तरह-तरह के साज-सज्जों से सुसज्जित होते थे। इसके विपरीत साधारण लोगों के मकान में साज-सजावट का लेशमात्र भी समावेश नहीं था। इनके घरों में आवश्यक एवं सीधे-सादे फर्नीचर होते थे। इसी प्रकार धनी और साधारण वर्ग के लोगों के भोजन में भी अंतर होता था। धनी लोग भोजन में अण्डे, मांस, शराब, रोटी, फल और मिठाइयों का उपभोग करते थे, जबकि साधारण लोग रोटी, मांस और फल पर ही रहते थे। आर्थिक अवस्था के अनुसार पोशाक भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती थी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मिस्र के लोगों की अभिरुचि साधारण थी। वे लोग प्राकृतिक दृश्यों के बहुत बड़े प्रेमी थे तथा घर से बाहर रहना अधिक पसंद करते थे। सभी समृद्ध व्यक्तियों के घर में एक उपवन होता था, जिसे वे अपना स्वर्ग समझते थे। अपने अवकाश के क्षणों में प्रत्येक संपन्न व्यक्ति इन उपवनों में अपने परिवार तथा मित्रों के साथ खेल-कूद, तमाशे तथा नृत्य देखा करता था। प्रत्येक धनीमानी एवं संपन्न परिवार में सेवा-टहल के लिए एक बहुत बड़ी संख्या में नौकर-चाकर और गुलाम सदैव तत्पर रहते थे।

लोगों का मुख्य पेशा कृषि था। कृषि ही पुराने राज्य की आर्थिक समृद्धि की आधारशिला थी। मिस्र को 'नील नदी की देन' कहा गया है; क्योंकि यहाँ की भूमि की उर्बरता नील नदी के ही कारण थी। पुराने राज्य के राजाओं ने हर संभव प्रयत्न से कृषि की उन्नति की। सिंचाई की सुविधा को बढ़ाने के लिए उन लोगों ने नई नहरें खुदवाई तथा पुरानी नहरों का उद्धार करवाया। नील नदी की

उपजाऊ घाटी में जौ एवं गेहूँ की खेती विशेष रूप से होती थी। इसके अलावे फल और सब्जियाँ भी उगायी जाती थीं। भेड़, बकरी तथा अन्य पशु भी काफी संख्या में पाले जाते थे। मुर्गियाँ भी काफी संख्या में पाली जाती थीं।

साधारण लोग खेतों तथा चरागाहों में काम करते एवं मवेशियों का पालन-पोषण भी करते थे। इसके अलावे ताँबे और लोहे की खानों से भी राज्य की समृद्धि बढ़ती थी। ग्रेनाइट पत्थर को काटने का भी काम किया जाता था। प्राचीन मिस्र में विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों का भी विकास हुआ था। पानी के जहाज बनाने के उद्योग का काफी विकास हुआ था तथा यह समृद्धि का बहुत बड़ा कारण था। यात्रियों के लिए तथा माल ढोने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के जहाज बनाये जाते थे।

इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि समुद्र में चलने वाले जहाज का सर्वप्रथम निर्माण मिस्र में ही किया गया, तदुपरान्त अन्य देशों ने अनुकरण किया। इसके अतिरिक्त पत्थर की कारीगरी भी अत्यधिक विकसित थी। पत्थर के सुन्दर वर्त्तन, सुराहियाँ और कटोरे इत्यादि बनाये जाते थे। मिट्टी के भी सुन्दर वर्त्तन बनाये जाते थे तथा चमड़े का काम भी उच्चकोटि का होता था।

इस युग में शिक्षा, मूर्तिकला तथा स्थापत्यकला का पर्याप्त विकास हुआ था। सरकारी नौकरियों के लिए शिक्षा आवश्यक थी। शिक्षा के लिए बहुत से विद्यालय तथा शिक्षा-केंद्र थे, जहाँ लिपिक (Scribe) बनने की कला की शिक्षा दी जाती थी। सरकारी नौकरी शिक्षित युवकों के लिए एक महत्त्वपूर्ण जीविका मानी जाती थी। इन विद्यालयों में विद्यार्थियों को सुंदर अक्षर लिखने की कला सिखलायी जाती थी। उस काल की लिपि एक प्रकार की चित्रलिपि थी। सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए सुंदर अक्षरों को लिखना आवश्यक माना जाता था। शिक्षा पूर्णरूपेण व्यावहारिक थी और इसका उद्देश्य नवयुवकों को सरकारी नौकरी के लिए तैयार करना था। ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिक्षा नहीं दी जाती थी। व्यावहारिक कार्य-कुशलता पर बहुत जोर दिया जाता था। इसी प्रकार कला और स्थापत्य कला में भी उपयोगिता एवं व्यावहारिकता पर बहुत अधिक जोर दिया जाता था। कलात्मक वस्तुओं को सुन्दर इसलिए बनाया जाता था, जिससे उनकी उपयोगिता बढ़े। कलाकृतियों का निर्माण विशुद्ध कला के दृष्टिकोण से नहीं, वरन् उपयोगिता की दृष्टि से किया जाता था।

इसलिए यह समझना गलत होगा कि प्राचीन राज्य में विशाल पिरामिडों का निर्माण सौंदर्य तथा शान के लिए किया गया, बल्कि उनका निर्माण मुख्यतः मृत राजाओं की क़ब्र के रूप में किया गया। प्राचीन राज्य की मूर्ति-कला स्वाभाविक

तथा उच्चकोटि की कारीगरी का परिचायक है। तत्कालीन मूर्तिकला आधुनिक मूर्तिकला से कई दृष्टियों से समकक्ष थी। मिस्री कलाकार पत्थरों में मानव-मूर्ति को सजीव कर देते थे। प्राचीन राज्य की मूर्तिकला के संबंध में चार्ल्स पैरी ने लिखा है— "यह मानना होगा कि मिस्री कलाकारों ने ऐसी कृतियाँ दी हैं, जिनकी तुलना आधुनिक यूरोप की कलाकृतियों से की जा सकती है।"

स्थापत्य कला

दुर्भाग्यवश पिरामिडों के अलावा तत्कालीन महलों और भवनों के अवशेष नहीं रहे। केवल पत्थर के बने हुए पिरामिड अभी भी पाए जाते हैं। इन पिरामिडों के कारण इस युग को 'पिरामिड युग' भी कहा जाता है। इन पिरामिडों को बनाने का श्रेय इमहोटेप (Imhotep) को है, जो तीसरे राजवंश के फराओ जोसर (*Zoser*) का बहुमुखी प्रतिभासंपन्न वजीर था। मिस्री इतिहासकार मानिथो लिखता है कि फराओ जोसर के राज्य-काल से ही पत्थरों के विशाल भवन बनवाए जाने लगे। उसके राज्य के पहले, राजाओं की कब्रें धूप में सुखाई हुई ईंटों की बनती थीं तथा उनमें पत्थरों का प्रयोग बहुत कम होता था। फराओ जोसर के समय से ही पिरामिडों का निर्माण पत्थरों से होने लगा। इन विशाल और सुंदर पिरामिडों का निर्माण तीसरे राजवंश के राजाओं की समृद्धि और शक्ति का प्रमाण है। इनको देखकर दर्शक इनकी विशालता और सुंदरता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इनका निर्माण शांति और सुव्यवस्था का भी द्योतक है। वास्तव में तीसरे राजवंश के अंतिम काल में स्नेफू नामक एक योग्य तथा दूरदर्शी शासक के समय मिस्री जनता सुख और समृद्धि का जीवन-यापन कर रही थी। स्नेफू अपनी शक्ति और समृद्धि के कारण दोनों राज्यों का स्वामी माना जाता था तथा उसी ने इन बड़े पिरामिडों का निर्माण करवाया। दशूर में बनवाया गया उसका पिरामिड उस समय तक बनवाए गए पिरामिडों में सबसे बड़ा था। स्नेफू के शासनकाल में मिस्री कला तथा समृद्धि अपनी पराकष्ठा को पहुँच गई थी। इसी कारण बाद के युग में भी समृद्धि और ऐश्वर्य की परंपरा कायम रही।

चौथे राजवंश का संस्थापक खुफू एक महान् निर्माता था। उसके द्वारा काहिरा के पास गिजे नामक स्थान में बनवाया गया पिरामिड उसका महानता का सूचक है। इस विशाल पिरामिड का निर्माण इस बात का सूचक है कि उसका शासन सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित था; क्योंकि उसके राज्य में जो समृद्धि थी, उसी के कारण ऐसे विशाल पिरामिड का निर्माण संभव हो सका। ऐसे विशाल पिरामिड के निर्माण में काफी समय, श्रम तथा संपत्ति का व्यय हुआ होगा। बहुत बड़ी संख्या में श्रमिकों को जुटाने का काम अत्यत कठिन रहा होगा। इसके निर्माण में धन का

भी वहुत व्यय हुआ होगा तथा अंततोगत्वा वह धन जनता से ही वसूल किया गया होगा।

विश्व के प्रथम इतिहासकार यूनान के हेरोडोट्स ने उसके समय में प्रचलित एक जनश्रुति का हवाला देते हुए लिखा है कि गिजे के पिरामिड के निर्माण में एक हजार आदमियों ने लगातार बीस वर्षों तक काम किया। इनकी स्थापत्य कला भव्य है। पूरी इमारत चूना पत्थर से बनी हुई है। इस इमारत के ऊपरी भाग का निर्माण संभवतः कुछ जल्दीबाजी में किया गया। जान पड़ता है, जिसके कारण निचले भाग की अपेक्षा उस ऊपरी भाग में कलात्मकता का कुछ अभाव-सा खटकता है। खुफू के पिरामिड के पास ही उसके परिवार के अन्य सदस्यों के लिए तीन छोटे-छोटे पिरामिड पूरब की ओर स्थित हैं।

चौथे राजवंश का डेढ़ सौ साल का शासनकाल नील घाटी के इतिहास में अभूतपूर्व वैभव एवं समृद्धि का युग था। इस युग में बनी इमारतों की भव्यता बाद के युग की इमारतों में नहीं मिलती। खुफू के शासनकाल में इस राजवंश का गौरव अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। गिजे में स्थित नौ पिरामिड अभी भी इस युग के गौरव के शाश्वत् साक्षी हैं। ऐसा लगता है कि पाँचवें राजवंश के फराओ न तो उतने शक्तिशाली रहे और न उनके पास चौथे राजवंश की समृद्धि और ऐश्वर्य ही रहे, जिसके कारण गिजे के दक्षिण में पाँचवें राजवंश के वनाये चूना पत्थर के पिरामिड आकार में बहुत छोटे तथा प्रभावहीन हैं।

प्राचीन राज्य का पतन एवं मध्यवर्ती राज्य का उत्कर्ष

पाँचवें राजवंश के शासन के अन्तिम दिनों में करीब २६२५ ई०-पूर्व से प्राचीन राज्य के पतन की प्रक्रिया स्पष्ट हो गई तथा यह प्रक्रिया छठे राजवंश के समय भी जारी रही। एक के वाद एक ऐसे दुर्बल एवं अयोग्य फराओ गद्दी पर आये, जिनके कारण राज-पद की शक्ति तथा प्रतिष्ठा में बहुत कमी हो गई। केन्द्रीय शक्ति की कमजोरी एवं निरन्तर शिथिलता ने प्रांतीय गवर्नरों को महत्त्वाकांक्षी वना दिया। फलस्वरूप वे स्वतंत्र होने लगे तथा धीरे-धीरे उनलोगों ने अपने-अपने प्रदेशों को स्वतन्त्र राज्य में परिणत कर लिया। इस प्रकार कुछ ही दिनों में प्रांतीय गवर्नर केंद्रीय सरकार के प्रतिनिधि नहीं रहे बल्कि स्वतंत्र शासक बन गए। विघटन की यह प्रक्रिया विश्व-इतिहास का पहला उदाहरण है, जब स्थानीय अधिकारियों की राज्यविवर्धन की प्रवृति के कारण एक अतिशय केंद्रित राज्य कई टुकड़ों में बँट गया हो। केंद्रीय शक्ति के अत्यंत दुर्बल होने के कारण चारो ओर अव्यवस्था और अराजकता फैल गई।

मिस्री राष्ट्र पूर्णरूपेण विघटित हो गया और इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय स्तर पर अव्यवस्था तथा विप्लव के युग का आरम्भ हुआ। इस युग की अवनति इसी बात से दृष्टिगोचर होती है कि इस युग में एक भी कलात्मक स्मारक का निर्माण नहीं हो सका। अवनति की यह अवस्था कितने दिनों तक रही, यह निश्चित रुप से कहना कठिन है। इतिहासकार मानिथो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुछ दिनों तक शासन कुलीनतंत्रात्मक था, अर्थात् कुछ दिनों तक राज्य के कुलीनों ने व्यावहारिक रूप में अपना शासन स्थापित कर लिया। अभिजात वर्ग का यह शासन संभवतः सातवें तथा आठवें राजवंश के समय तक कायम रहा। अभिजात-वर्ग का यह शासनकाल प्राचीन मिस्र के इतिहास में 'अंधकार युग' के नाम से विख्यात है। इसके बाद फिर ९वें तथा १०वें राजवंश का शासन प्रारम्भ हुआ। इसके शासनकाल में शासन-तंत्र में कुछ व्यवस्था आई, परंतु ये लोग भी पूर्ण रूप से शक्तिशाली शासक नहीं कहे जा सकते। इनकी दुर्बलता का पता इसी बात से चलता है कि इन लोगों ने भी किसी स्मारक का निर्माण नहीं किया।

इस युग के बाद दक्षिण में स्थित थीब्स नामक नगर का क्रमिक उत्थान प्रारंभ होता है। इस नगर के उत्कर्ष का कारण दक्षिण के कुछ अभिजात कुलों का उत्कर्ष था। दक्षिण में इसी समय कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों का जन्म हुआ, जिन लोगों ने राजकीय उपाधियाँ धारण कीं तथा अपनी शक्ति एवं प्रभावक्षेत्र का विस्तार उत्तर में भी किया।

लगभग २२वीं सदी ई०-पू० के मध्य में राजनैतिक शक्ति का गुरुत्वकेंद्र उत्तरी मिस्र से दक्षिणी मिस्र में खिसक गया तथा इसके बाद कुछ दिनों के लिए थीब्स संयुक्त मिस्र का प्रधान नगर और केंद्र बन गया। प्राचीन राज्य के पतन के बाद तीन सौ वर्षों तक जिस अव्यवस्था और अराजकता का बोलबाला रहा, वह समाप्त हुआ तथा पुनः मिस्र शक्तिशाली और तेजस्वी शासकों के नेतृत्व में संगठित हुआ। इन शासकों ने स्थानीय सरदारों की शक्ति को कुचल दिया तथा राज्य पद की शक्ति और प्रतिष्ठा को पुनः प्रतिष्ठित किया। इस राजवंश के पारिवारिक संबंधों के विषय में कोई निश्चित जानकारी नहीं है। संभवतः ये शासक ग्यारहवें राजवंश के थे।

पर, पूरे मिस्र पर थीब्स का निर्विरोध प्रभुत्व १२वें राजवंश के शासन में स्थापित हुआ। १२वाँ राजवंश मिस्र के इतिहास में 'मध्य राज्य' के नाम से प्रसिद्ध है। १६० वर्षों तक शासन करने के बाद ११वें राजवंश का नाश लगभग २००० ई०-पू० में अमनेमहैट नामक योद्धा ने किया। इसी ने १२वें राजवंश की स्थापना की, जो मध्य राज्य (Middle Kingdom) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अमनेमहैट को अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ा। इन संघर्षों के बाद वह अपना निर्विरोध आधिपत्य स्थापित करने में सफल हो सका।

गद्दी पर बैठते ही उसके सामने कठिन समस्याएँ आईं। इनमें सबसे कठिन समस्या थी, स्थानीय सरदारों की शक्ति का दमन करना। इसने जिस राज्य की स्थापना की उससे मिस्र को स्थिर शासन-व्यवस्था प्राप्त हुई, जिसके फलस्वरूप प्रायः २००० ई०-पू० में मिस्र के इतिहास का दूसरा गौरवपूर्ण तथा सृजनात्मक युग आरम्भ होता है।

१२वें राजवंश ने लगभग २१३ वर्षों तक राज्य किया। इस राजवंश के शासन को तत्कालीन युग के लोगों ने मिस्र की शक्ति तथा गौरव के पुनरुत्थान का युग माना है। इस युग के शिलालेख मध्य राज्य की स्थापना के पूर्व मिस्र में फैली हुई अव्यवस्था और अराजकता के उल्लेखों से भरे पड़े हैं। ये शिलालेख इस बात के अकाट्य प्रमाण हैं कि १२वें राज्य के शासनकाल में पूर्ववर्ती काल से अवस्था में बहुत सुधार हो गया था।

वास्तव में, मध्य राज्य का युग वैभव और समृद्धि का युग था। मिस्रियों का जीवन अपने विभिन्न पहलुओं में इस युग में अत्यधिक विकसित हुआ। यदि ११वें राजवंश के राजाओं को उत्तर और दक्षिण को मिलाकर शांति-स्थापना का श्रेय है, तो मध्य राज्य के राजाओं ने भी पुनर्जागरण के एक नये युग का प्रारम्भ किया तथा अंधकार और निराशा की उस स्थिति का अंत किया, जो गृहयुद्ध से संपूर्ण साम्राज्य में उत्पन्न हो गई थी।

मध्यवर्ती राज्य के राजाओं ने राज-काज तथा प्रजा की भलाई के कामों में पूर्ण ध्यान दिया। इस राजवंश के द्वारा बनाई गई आलीशान इमारतें इस वंश की बढ़ती हुई शक्ति के प्रमाण हैं। समग्रतः हम यह कह सकते हैं कि मध्य राज्य का युग मिस्र के इतिहास में एक अद्वितीय युग था। इस युग में मिस्रियों का जीवन विभिन्न दिशाओं में समृद्ध हुआ। बाद के युग में मिस्री साम्राज्य की शान-शौकत और गरिमा की आधारशिला इसी युग में रखी गई। १२वें राजवंश के राजाओं ने राज्य में शांति और सुव्यवस्था स्थापित की तथा सैन्य-पद्धति का पुनर्गठन कर राज्यों को सुदृढ़ किया। इनके इन कामों से प्रथम साम्राज्य के शासकों का पथ प्रशस्त हो गया।

मध्य राज्य में प्रशासन की स्थिति

इस युग में मिस्र राष्ट्र छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था। इन छोटे राज्यों के शासक औपचारिक रूप में फराओ के प्रति निष्ठा रखते थे। दूसरे शब्दों में केंद्रीय शक्ति के प्रति भी ये राजा निष्ठा रखते थे। इन छोटे-छोटे राज्यों के शासक फराओ के नौकर नहीं थे, बल्कि स्वतन्त्र शासक थे और फराओ के प्रति उनकी वफादारी नाममात्र की थी। फराओ और इन शासकों के संबंध फराओ के व्यक्तित्व पर

निर्भर करते थे। यदि फराओ शक्तिशाली और योग्य होता था, तो वह इन शासकों पर नियन्त्रण रखता था। यदि फराओ कमजोर होता था, तो कहना न होगा कि ये शासक भी स्वतन्त्र हो जाते थे।

मध्य राज्य के राजाओं के शासनकाल में शासन-तन्त्र सामंतवादी था। ऐसा राज्य शक्तिशाली फराओ के व्यक्तित्व से ही जीवित था। सैद्धान्तिक रूप से फराओ सार्वभौम शासक था, जो अपने कर्मचारियों से राजस्व वसूल करता था एवं राष्ट्र का प्रधान पुरोहित तथा सेनाध्यक्ष भी था। अपने-अपने क्षेत्रों में स्थानीय शासक भी अत्यन्त प्रभावशाली और शक्तिसम्पन्न थे। इन स्थानीय शासकों का जीवन भी फराओ की शान-शौकत का लघु रूप था। इनका भी अपना दरबार, कचहरी, हरम तथा सेना होती थी। इनके पास भी शान-शौकत और तड़क-भड़क के सभी उपकरण होते थे। अपने प्रांत के प्रधान नगरों में ये शासक भी सार्वजनिक हित के लिए मंदिरों और इमारतों का निर्माण करते थे। इन स्थानीय शासकों की विकेंद्रीकरण की प्रवृति के बावजूद, मध्य राज्य के फराओ प्रांतों पर अपना आधिपत्य यथासंभव बनाये रहे। इन प्रांतीय शासकों ने फराओ की प्रभुसत्ता को किस हद तक अंगीकार किया, यह कहना कठिन है। हर प्रांत में एक राजकीय प्रतिनिधि तैनात किया जाता था, जो इन प्रांतों में केंद्रीय हितों की देखरेख करता था। इन लोगों को राजकीय संपति का निरीक्षक (Overseer) कहा जाता था। राजा ही वह माध्यम था, जिसके द्वारा विभिन्न प्रांतों से आया हुआ राजस्व राजकोष में जाता था। राजधानी में स्थित राजकोष केंद्रीय सरकार का एक प्रधान अंग था तथा केंद्र और प्रांतों को एक सूत्र में आबद्ध करने के लिए एक मुख्य साधन था।

मध्य राज्य के राजाओं के हाथ में पूरे राज्य के आर्थिक साधन नहीं थे। दूसरे शब्दों में प्राचीन राज्य के फराओ मनमाने ढंग से खर्च नहीं कर सकते थे। सैद्धांतिक तौर पर सभी भूमि फराओ की थी, पर व्यावहारिक रूप में जमीन का बहुत बड़ा भाग सामंतों तथा अन्य धनवान व्यक्तियों के हाथ में था। राजस्व का अधिकांश भूमि से ही प्राप्त होता था और कृषक राजस्व नकद या माल के रूप में दे सकते थे। अधीनस्थ शासकों से जो कर प्राप्त होता था, वह फराओ की आय का एक जरिया था। नूबिया तथा लाल सागर के किनारे स्थित खानों से भी फराओ को नियमित आय होती थी। सिनाई प्रायद्वीपों में स्थित खानें और खदानें (Quarries) भी राजकीय आय का महत्त्वपूर्ण साधन थीं। नूबिया की विजय, सीरिया पर लूटने के उद्देश्य से आक्रमण और लाल सागर के दक्षिणी बंदरगाहों में लिए हुए शुल्क भी राजकीय आय के महत्त्वपूर्ण साधन थे। राजकीय कोष का केंद्रीय 'दफ्तर उस राजमहल में स्थित था, जिसे 'उजला घर' (White house) कहते थे। कोष का

अध्यक्ष मुख्य कोषाध्यक्ष हुआ करता था, जिसकी सहायता के लिए बहुत से कर्मचारी थे। पुराने राज्य की अपेक्षा मध्य राज्य में राजकीय कोष का महत्त्व बढ़ गया था तथा इसका विकास शासन के एक सुव्यवस्थित अंग के रूप में हो चुका था। मध्य राज्य वास्तव में एक सैनिक-कुलीनतंत्र था। इस युग में सामन्तों और पुरोहितों ने अपना पद बनाए रखा और वास्तविक शक्ति फराओ के हाथों से खिसकती गई।

वे सामंत, जो फराओ के प्रियपात्र थे, शासन में उच्च पदों पर नियुक्त होते थे। मध्य राज्य में शासन अधिक विस्तृत तथा संगठित हो गया, जिससे कर्मचारियों और अफसरों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। फराओ विभिन्न पदों पर लोगों की नियुक्ति करता था। नियुक्तियाँ योग्यता तथा फराओ के व्यक्तिगत विश्वास के आधार पर होती थीं। कालक्रम से राज कर्मचारी वर्ग, सामंतों और साधारण जनता के बीच मध्य वर्ग के रूप में परिवर्तित हो गया।

केंद्रीय शासन का अध्यक्ष वजीर या प्रधान मंत्री होता था। उसका मुख्य काम राज्य के विभिन्न अंगों का निरीक्षण तथा विभिन्न प्रशासकीय समस्याओं का समाधान करना था। वह न्यायपालिका का भी अध्यक्ष होता था। वजीर फराओ से आदेश प्राप्त करता था तथा उन आदेशों को राजधानी तथा प्रांत में स्थित अधीनस्थ कर्मचारियों को प्रेषित करता था। प्राचीन राज्य की तरह प्रशासकीय कर्मचारी न्यायपालिका का भी काम करते थे। वजीर ही राज्य का प्रधान न्यायाधीश हुआ करता था तथा अपनी अदालत में न्याय किया करता था।

इसके अलावे ३० न्यायाधीशों की एक अलग कचहरी हुआ करती थी, जिसका अध्यक्ष भी वजीर ही हुआ करता था। दंडाधिकारी, जो न्यायधीशों का काम करते थे, अधिकतर पढ़े-लिखे तथा मध्यम वर्ग के सदस्य होते थे। मध्य राज्य के अन्तर्गत न्यायपालिका का काफी विकास हो गया। सम्पत्ति का अधिकार भी सुस्पष्ट विधियों के द्वारा नियमित कर दिया गया। भूमि-संबंधी अधिकार भी सुस्पष्ट तथा सुव्यवस्थित कर दिए गए। भूमि बेचने, किराए पर देने तथा उत्तराधिकार में आने वाली पीढ़ियों को देने के अधिकार कानूनों द्वारा सुस्पष्ट कर दिए गए। फौजदारी कानून बहुत कड़े थे। इनके अनुसार बिना जाँच पड़ताल किए किसी को भी मनमाने ढंग से सजा नहीं दी जा सकती थी। अंग-भंग कर देना, जिन्दा जला देना या सिर उड़ा देना, साधारण सजाएँ मानी जाती थीं। प्रमाण एकत्र करने के लिए शारीरिक यंत्रणा का भी प्रयोग किया जाता था। हालांकि मुकदमों की सुनवाई दण्डाधिकारी करता था, फिर भी कचहरियों में पुरोहित भी काफी महत्त्वपूर्ण काम किया करते थे। तत्कालीन कानूनों के अनुसार एक व्यक्ति के अधिकार तथा एक

राज कर्मचारी के अधिकार सुस्पष्ट थे और राज कर्मचारियों के व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा की जाती थी ।

मध्य राज्य में भूमि और सिंचाई के बारे में हमारा ज्ञान अभी अधूरा है। सार्वजनिक हित के कार्यों, कर उगाहने तथा जनगणना के उद्देश्य से, उत्तर तथा दक्षिण में राज्य कई प्रशासकीय इकाइयों में बँटा था ।

भूमि के निबन्धन (Registration) की सुस्पष्ट व्यवस्था का भी प्रचलन हो चुका था । प्रत्येक परिवार के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों के नाम एक रजिस्टर में दर्ज रहते थे, जिसके आधार पर आसानी से सरकारी कर उगाहे जाते थे ।

वजीर का कार्यालय पुराने राज्य की भाँति केंद्रीय अभिलेखागार (Archives) का भी काम करता था जहाँ भूमि-प्रशासन, जनगणना तथा कर-सम्बन्धी सभी कागजात रखे जाते थे । समय-समय पर वजीर मुख्य कोषापाल का भी काम करता था । पर, एक शक्तिशाली वजीर फराओ एक बड़ा खतरा भी बन सकता था । इसलिए यह आवश्यक समझा जाता था कि प्रशासन-तंत्र ऐसे लोगों के हाथ में हों, जो फराओ के प्रति वफादार हों ।

धीरे-धीरे मिस्र में, फराओ के सैनिक परिचारकों का एक ऐसा वर्ग उदित हो गया, जो पेशेवर सैनिक वर्ग कहा जा सकता है । कालक्रम से इसी वर्ग ने एक स्थायी सेना का रूप धारण कर लिया । फराओ के ये सैनिक परिचारक, राज्य के सभी भागों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे । नूबिया में ये लोग विशेष रूप से क्रियाशील थे । फराओ की सेना के अधिकांश सैनिक मध्यम वर्ग के स्वतंत्र नागरिक थे, जो राज्य की स्थायी नागरिक सेना का काम करते थे । युद्ध तथा संकटकालीन परिस्थितियों में स्थायी सेना का विवर्धन सामंतों और सरदारों द्वारा भेजी सेना से होता था । सभी स्वतंत्र नागरिक, भले ही वे पुरोहित भी हों, सैनिक हो सकते थे । उन दिनों युद्ध की रूपरेखा आजकल से भिन्न थी । लूटपाट करने के उद्देश्य से किए गए हमलों को ही युद्ध माना जाता था । आजकल की तरह जम कर घमासान लड़ाइयाँ नहीं हुआ करती थीं ।

मध्यम वर्ग की प्रधानता प्राचीन मिस्र की सामाजिक व्यवस्था की एक विशेषता थी । पुराना कुलीन वर्ग अपनी महत्ता खोने लगा था । सरकारी नौकरियों के माध्यम से एक नए प्रभावशाली मध्यम वर्ग का उदय हो गया था । सरकारी नौकरियों में निहित शक्ति और प्रभुता इस वर्ग की बढ़ती हुई शक्ति का कारण थी । सरकारी नौकरियों की शान-शौकत पढ़े-लिखे मध्यमवर्गीय नवयुवकों को इस ओर आकृष्ट करती थी । पढ़े-लिखे होने के कारण यह वर्ग साधारणतया सभी वर्गों से विशेषकर अशिक्षित जनता से अपने को भिन्न समझता था । उस समय लिपिक के

पेशे की काफी प्रतिष्ठा थी, जिसके कारण यह पेशा काफी लोकप्रिय हो गया था। अपनी शिक्षा के कारण मध्यम वर्ग अन्य वर्गों को हेय दृष्टि से देखने लगा था।

इस समय से समाज में लिपिक की महत्ता और प्रतिष्ठा बढ़ती गई तथा इस पेशे को महान माना जाने लगा। इस प्रकार मध्य राज्य में, एक समृद्ध एवं उन्नतिशील मध्यम वर्ग का उदय हुआ। इस वर्ग के अधिकांश सदस्य सरकारी कर्मचारी थे। मध्य राज्य के शासक भी इस वर्ग के प्रति सहानुभूति रखते थे, जिसके कारण मध्यम वर्ग को राज्य की ओर से बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त थीं।

धार्मिक क्षेत्र में भी मध्य राज्य में बहुत से परिवर्तन हुए। सूर्य देवता 'रा' (Ra) की प्रधानता पहले की भाँति कायम रही। पर, साथ-साथ थीब्स के स्थानीय देवताओं की महत्ता बढ़ गई। इस युग में जो मंदिर बनाए गए थे, पहले के मंदिरों की अपेक्षा आकार में बड़े थे। फिर भी राजकीय धर्म जो पहले था, वही रहा। इस समय तक पुरोहितों की शक्ति और महत्ता का उतना विकास नहीं हुआ था, जो बाद में हुआ।

इस प्रकार हम पाते हैं कि मध्य राज्य के संस्थापक अमनेमहैट प्रथम ने एक ऐसे वंश की स्थापना की, जिसमें अनेक सुयोग्य और शक्तिशाली राजा हुए, जिन लोगों ने मिस्र पर करीब दो सौ वर्षों तक राज्य किया। मध्य राज्य में मिस्र की जनता बहुत बड़े पैमाने पर सुखी और खुशहाल थी। राज्य में चारो ओर समृद्धि थी। इस बात की पुष्टि अमनेमहैट के शिलालेख से होती है, जिसमें वह कहता है—

"मैंने बहुत बड़े पैमाने पर खेती की तथा उपज के देवता को प्यार किया। हर घाटी में नील नदी ने मेरा स्वागत किया। मेरे राज्य में न तो कोई भूखा था, न प्यासा। सभी लोग शांति का जीवन बिताते थे।"

अमनेमहैट के राज्य में उसकी हत्या के कई प्रयत्न किए गए। १९८० ई०-पू० में उसकी हत्या का सबसे खतरनाक प्रयत्न उस समय किया गया, जब वह एक रात अपने शयनागार में सो रहा था। इस घटना के तुरंत बाद ही उसने अपने पुत्र सेसोट्रीज को अपने साथ शासन में हाथ बँटाने के लिए सहशासक नियुक्त किया। सेसोट्रीज के सहशासक होने के बाद, शासन-तंत्र में नई जान आ गई। नए उत्साह और शक्ति के साथ उसने सुदूर दक्षिणी भाग में राजकीय सत्ता को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। सुदूर दक्षिण में कुछ सामंत अपनी शक्ति का प्रसार कर रहे थे तथा केंद्रीय शक्ति की अवहेलना पर उतारू थे। सेसोट्रीज ने अपनी आक्रामक नीति के द्वारा उत्तर तथा दक्षिण दोनों ही भागों में केंद्रीय सत्ता को सुदृढ किया। उसके प्रयत्नों से राजकीय सीमाएँ सुदृढ़ तथा सुरक्षित हो गईं। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मिस्र का प्रभाव बढ़ाने के उद्देश्य से सेसोट्रीज प्रथम ने विदेशी राज्यों से मैत्री संबंध कायम

किए। तीस वर्षों तक राज्य करने के बाद अमनेमहैट प्रथम का १९७० ई०-पू० में देहांत हुआ। उसकी मृत्यु के समय उसका पुत्र तथा सहशासक सेसोट्रीज प्रथम लीबिया के अभियान में राज्य की पश्चिमी सीमा पर था। ज्योंही उसे पिता की मृत्यु का समाचार मिला, त्योंही वह राजधानी की ओर चल पड़ा तथा वहाँ आकर उसने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। यह नया फराओ शासन-कार्य में काफी अनुभव प्राप्त कर चुका था, जिसके आधार पर इसने अपने वंश की मर्यादा को अक्षुण्ण रखा।

इसके राज्यकाल में, नूबिया पर विजय प्राप्त की गई तथा देश का अधिकांश भाग अधिकार-क्षेत्र मे लाया गया। प्रतिद्वंद्वियों को पराजित कर शक्ति का प्रसार किया गया। इसके अंदर एक दृढ़ और शक्तिशाली वैदेशिक नीति को अपनाया गया। अपने पिता के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए इसने भी अपने पुत्र को विजय तथा शासनकार्य में अनुभव प्राप्त करने का पूरा अवसर प्रदान किया। सेसोट्रीज प्रथम का देहांत १९३५ ई०-पू० में हुआ। ३५ वर्षों के शासन के बाद उसकी मृत्यु हुई, जिसके बाद अमनेमहैट द्वितीय गद्दी पर बैठा।

इसने भी अपने जीवनकाल में ही अपने पुत्र को शासन-कार्य में प्रशिक्षित किया। इसका पुत्र सेसोट्रीज द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा। अमनेमहैट द्वितीय तथा सेसोट्रीज द्वितीय ने मिल कर पचास वर्षों तक राज्य किया। इन पचास वर्षों का इतिहास गौरव और समृद्धि का इतिहास है। १९०७ ई०-पू० में सेसोट्रीज द्वितीय की मृत्यु हुई, जिसके बाद उसका पुत्र सेसोट्रीज़ तृतीय के नाम से गद्दी पर बैठा। यह भी एक सुयोग्य शासक तथा सफल विजेता था। इसी के राज्यकाल में पहले-पहल मिस्र ने सीरिया पर आक्रमण किया।

इन बातों से यह पता चलता है कि मिस्र के शासक एशिया की विजय की तैयारी कर रहे थे। सेसोट्रीज तृतीय के नाम के साथ बहुत-सी कहानियाँ जुड़ी हुई हैं। तत्कालीन यूनानी कहानियों में सेसोट्रीज तृतीय को एक महान विजेता तथा एक विलक्षण व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। वास्तव में, सेसोट्रीज तृतीय ने एक विशाल साम्राज्य पर राज्य किया, जो नील घाटी में, हजारों मील तक फैला हुआ था। इसने तीस वर्षों तक राज्य किया। १८४९ ई०-पू० में इसकी मृत्यु के बाद इसका लड़का अमनेमहैट तृतीय गद्दी पर बैठा।

अमनेमहैट तृतीय

राज्य की समृद्धि बढ़ाने के लिए अमनेमहैट तृतीय ने कई शांतिपूर्ण उपाय किया। वह शांतिप्रिय राजा था तथा लड़ाइयों से दूर रहना चाहता था। इसके राज्यकाल में, सिनाई प्रदेश की खानों का सुव्यवस्थित ढंग से प्रबंध किया गया तथा

इनके प्रबंध के लिए सुयोग्य तथा ईमानदार अफसरों की नियुक्ति की गई। यह राजा कृषि की उन्नति में काफी दिलचस्पी लेता था और उसने सिंचाई की सुविधाओं का विकास किया। बहुत-सी बेकार पड़ी जमीनों को कृषि योग्य बनाया गया और इसके राज्यकाल में बहुत-सी आलीशान इमारतों का भी निर्माण हुआ। अमनेमहैट तृतीय लगभग पचास वर्षों तक राज्य किया। इस काल में राज्य में शांति और सुव्यवस्था कायम रही तथा प्रजा की खुशहाली भी बढ़ती गई। व्यापार और वाणिज्य की तरक्की से राष्ट्रीय संपत्ति बढ़ी। इस काल के कलापूर्ण स्मारक सर्वांगीण विकास और शांति की गवाही देते हैं। अमनेमहैट तृतीय ने एल्काब के पास स्थित पुरानी राजधानी के चारों ओर एक ईंट की दीवार बनवायी। इस दीवार के कुछ हिस्से आज भी खड़े हैं। थीब्स नगर की सौंदर्यवृद्धि के लिए बहुत-सी इमारतों और मंदिरों का निर्माण किया गया। इस युग के बनाए गए पिरामिड पहले के बनाए गए पिरामिडों की अपेक्षा अधिक शानदार हैं तथा उनमें से बहुत आज भी पाए जाते हैं। इस वंश के सभी फराओ निर्माता थे तथा उनकी छत्रच्छाया में वास्तुकला और ललितकला का पूर्ण विकास हुआ। धार्मिक कार्य के लिए भी राजाओं ने पैसे खर्च किये।

मूर्तिकला के क्षेत्र में काफी विकास हुआ। अमनेमहैट तृतीय की जो मूर्तियाँ बनायी गईं, वे ४० फीट से ५० फीट तक ऊँची थीं। मूर्ति बनाने वालों को फराओ के निर्देशन में काम करना पड़ता था, जिसके कारण वे लोग स्वतंत्रतापूर्वक अपनी प्रतिभा का उपयोग नहीं कर सकते थे। इस युग के कलाकारों को फराओ की ओर से राजकीय प्रश्रय प्राप्त था। आभूषण बनाने की कला का भी चरम विकास हुआ। साहित्य-सृजन को भी प्रोत्साहित किया गया। इस काल का साहित्य तत्कालीन समाज का चित्रण करता है। विशेष कर अमनेमहैट तृतीय ने साहित्य-निर्माण को बहुत प्रश्रय दिया। साहित्य-निर्माण का एक उद्देश्य मनोरंजन था, जिसके लिए साहसिक कार्यों तथा राजाओं और सामंतों के जीवन से संबद्ध बहुत-सी कहानियाँ एवं गाथाएँ लिखी गईं।

इस काल की पायी गई सभी रचनाएँ पद्यबद्ध हैं। साधारण लोग भी पद्य ही लिखा करते थे। इस काल का साहित्य अलंकार-योजना तथा विकसित शैली का प्रमाण है। विशेष रूप से अमनेमहैट तृतीय का राज्य तो प्राचीन मिस्र के साहित्य के इतिहास में सर्वप्रतिष्ठित युग (Classical age) माना जाता है। इस युग का प्रारंभ १२वें राजवंश के उदय से हुआ था।

इसमें संदेह नहीं कि अमनेमहैट तृतीय के राजकाल में मिस्र का सर्वांगीण विकास हुआ। पर, १८०१ ई०-पू० में उसकी मृत्यु के बाद इस वंश की शक्ति और

प्रतिष्ठा का ह्रास प्रारंभ हुआ। उसकी मृत्यु के पश्चात् अमनेमहैट चतुर्थ गद्दी पर वठा, पर इसने सिर्फ नौ वर्षों तक राज्य किया। इसके वाद इसकी पुत्री ने चार वर्षों तक राज्य किया। यह इस वंश की अंतिम शासिका थी। इसके संक्षिप्त शासन के पश्चात् मध्य राज्य का २१३ वर्षों के शासन के बाद विनाश हो गया।

मध्य राज्य का पतन तथा हिक्सस ग्राक्रमण

बिना किसी मौलिक क्रांति के शक्ति वारहवें से तेरहवें राजवंश के हाथ में चली गई। इस युग के फराओ शक्तिहीन और कमजोर हो चले थे, जिसके कारण राज्य के विभिन्न भागों पर उनका आधिपत्य ढीला हो चला था। इससे पतन तेजी से होने लगा तथा प्रांतीय शासकों की शक्ति पुनः बढ़ने लगी। कुछ प्रांतीय शासक सम्राट वनने का स्वप्न भी देखने लगे। शाही गद्दी के कई दावेदार निकल आए तथा वे लोग आपस में लड़ने लगे। इस राजनैतिक अव्यवस्था के कारण मिस्र की आर्थिक स्थिति भी गिरने लगी तथा देश विदेशी आक्रमण का शिकार हो गया।

हिक्सस कौन थे ?

तेरहवें राजवंश की समाप्ति के पहले. करीब १६७५ ई०-पू० में एशिया के नील के डेल्टा प्रदेश पर एक सेमिटिक जाति का आक्रमण हुआ। मिस्र के प्रागैतिहासिक काल में भी एक ऐसा ही आक्रमण हुआ था, जिसकी अमिट छाप मिस्री भाषा पर पड़ गई थी। चूँकि इन आक्रमणकारियों को जोसेफस (Josephus) नाम के इतिहासकार ने हिक्सस (Hyksos) कहा था, उन्हें आज भी इसी नाम से पुकारा जाता है। जोसेफस ने मानिथो नामक इतिहासकार के आधार पर उन्हें 'हिक्सस' कहा था। हिक्सस लोगों ने मिस्र में अपना कोई स्मारक नहीं, छोड़ा जिस कारण उनकी राष्ट्रीयता भी अभी तक विवादग्रस्त है। साथ ही यह भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि इन लोगों ने कितने समय तक मिस्र पर शासन किया। इनके शासन काल के इतिहास की सामग्री अत्यंत अपर्याप्त है। इन आक्रमणकारियों द्वारा विध्वंसात्मक कार्य की चर्चा बाद के साहित्य तथा इतिहास में जहाँ-तहाँ मिलती है। उदाहरण के लिए हिक्सस आक्रमण के दो पीढ़ियों बाद मिस्र की महारानी हाशेपसुट ने बड़े गर्व के साथ लिखवाया कि उसने इन एशियाई वर्बर आक्रमणकारियों द्वारा किए गए विध्वंस-कार्य से नष्ट-भ्रष्ट नगरों तथा मंदिरों का पुनर्निर्माण कराया। इसी प्रकार एक सैनिक ने जिसने इन लोगों को भगाने के अभियान में भाग लिया था, लिखा है कि उत्तरी डेल्टा में स्थित अवेरिस (Avaris) नगर पर इन आक्रमणकारियों को खदेड़ने के हेतु घेरा डालना पड़ा था। इस सैनिक के वर्णन से ही यह भी पता चलता है कि इन लोगों को मिस्री लोगों ने दक्षिणी फिलस्तीन (Palestine) तथा फीनिशिया (Phoenicia) तक मार भगाया था।

हिक्सस आक्रमण के चार सौ वर्ष बाद मिस्री लोगों में एक जनश्रुति प्रचलित थी, जिसके अनुसार मिस्र के उत्तरी भाग पर इन लोगों के आधिपत्य की सूचना मिलती है। इस जनश्रुति से यह भी पता चलता है कि इन लोगों ने अवेरिस से पूरे देश पर शासन किया तथा सुटेख (Sutekh) नामक देवता की पूजा की। इन प्रारंभिक सूत्रों से यह ज्ञात होता है कि हिक्सस लोग मूलतः एशियाई थे तथा इन लोगों ने नील के डेल्टा में स्थित अवेरिस नगर से शासन किया।

बाद में जोसेफस ने मानिथो के आधार पर जो वर्णन किया है, वह भी इन्हीं वातों की पुष्टि करता है। जोसेफस लिखता है कि तिमाइयोस (Timaios) नामक राजा के शासनकाल में यह घटना घटी, जब ईश्वर की अकृपा के कारण हमारे देश पर पूरब से नीच लोगों का आक्रमण हुआ। इन लोगों ने आसानी से बिना किसी लड़ाई के ही हमारे देश पर विजय प्राप्त कर ली। इस देश के शासकों पर विजय पाने के पश्चात इन लोगों ने बर्वरता के साथ हमारे नगरों को जलाया तथा मंदिरों को तोड़ डाला। इस देश के निवासियों पर इन लोगों ने तरह-तरह के अत्याचार किए। इन लोगों ने अनेक निवासियों को मार डाला तथा बहुत से बच्चों और स्त्रियों को गुलाम बना डाला। कुछ दिनों के बाद इन लोगों में सलातीस (Salatis) नामक राजा हुआ, जिसने उत्तरी और दक्षिणी मिस्र से कर वसूल किया। इसने मेम्फिस (Memphis) नगर से शासन किया तथा जगह-जगह अपनी सेना की टुकड़ी रख छोड़ी। इस राजा ने मिस्र देश के पूर्वी भाग की सुरक्षा का पूरा प्रबंध किया; क्योंकि इसी भाग को असीरियाई आक्रमणकारियों से खतरा था। इसने अवेरिस नगर को अपने शासन का केंद्र चुना तथा इस नगर के चारों ओर दीवारें बनवा कर उसे मजबूत किया और इसकी सुरक्षा के लिए दो लाख चालीस हजार की एक बड़ी सेना रखी। इस नगर में सलातीस प्रत्येक ग्रीष्मकाल में जाया करता था, जहाँ वह अपनी सेना को वेतन देता तथा सैनिकों को युद्धकला में प्रशिक्षित कराता था।

उपरोक्त वर्णन दो-एक वातों को छोड़ कर अधिकांश सत्य जान पड़ता है। संभवतः सलातीस इतनी बड़ी सेना रखने में असमर्थ रहा होगा तथा असीरियाई आक्रमण का डर भी असंभाव्य प्रतीत होता है। पर, अन्य बातें ठीक मालूम होती हैं। इस लेख में हिक्सस लोगों का जो विस्तृत हवाला हमें मिलता है, उससे यह पूर्णतया सिद्ध होता है कि हिक्सस-आक्रमण के वहुत दिनों बाद तक मिस्री लोग हिक्सस लोगों की राष्ट्रीयता के बारे में निश्चित रूप से मत व्यक्त करने में असमर्थ थे। जोसेफस ने मानिथो के आधार पर ही लिखा है कि इन आक्रमणकारियों को 'हिक्सस' कहा जाता था, जिसका अर्थ होता है 'गड़ेरिया राजा'। तत्कालीन धार्मिक भाषा में हिक (Hyk) शब्द का अर्थ होता था 'राजा' तथा सोस (Sos) का अर्थ

होता था 'गड़ेरिया'। इन दोनों शब्दों को मिलाकर 'हिक्सस' बनता था जिसका अर्थ 'गड़ेरिया-राजा' होता था। जोसेफस यह भी कहता है कि कुछ लोगों के अनुसार ये लोग अरब के निवासी थे। मानिथो के लेखों को संक्षिप्त करने वालों ने इन लोगों को फीनिशिया का निवासी बतलाया है। मिस्र के मध्य राज्य तथा हिक्सस लोगों के स्मारकों में उन्हें 'गड़ेरिया राजा' नहीं कहा गया है तथा मानिथो भी कहता है कि 'सोस' शब्द का 'गड़ेरिया' अर्थ केवल गँवारू भाषा में ही होता है। इसमें संदेह नहीं की मिस्री भाषा में 'हिक' शब्द का अर्थ 'शासक' होता है। मानिथो यह भी लिखता है कि खियाँ (Khian) नाम के हिक्सस राजा ने अपने नाम के आगे 'हिक' शब्द जोड़ा था तथा बाद में 'देश' शब्द जोड़ा था। दूसरे शब्दों में खियाँ अपने-आप को 'देशों का शासक' कहता था। 'देश' शब्द के लिए मिस्री भाषा में जिस शब्द का प्रयोग होता था, वह बोलने में आसानी से 'सोस' कहा जाता था। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि मिस्री भाषा का 'देशों का शासक' ग्रीक भाषा में हिक्सस हो गया।

इन लोगों ने जो अपने थोड़े-बहुत स्मारक छोड़े, उन स्मारकों के अध्ययन से इस जाति की विशेषताओं का पता चलता है। जनश्रुतियों के अनुसार ये लोग अरब या फीनिशिया के रहने वाले थे तथा 'एशियाई बर्बर' तथा 'देशों के शासक' थे। इन लोगों के एक राजा एपोफिस (Apophis) ने सूटेख देवता के सम्मान में एक मंदिर बनवाया। खियाँ हिक्सस जाति का सबसे प्रसिद्ध राजा था, जिसके बनवाए मंदिर और स्मारक विशिष्ट हैं। इसके बनवाए स्मारक मिस्र में दक्षिण में गबेलेन (Gebelen) से ऊपरी डेल्टा प्रदेश तक तो पाए ही जाते हैं, बल्कि क्रीट तथा बगदाद तक पायी हुई वस्तुओं पर भी उसका नाम अंकित मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि खियाँ का साम्राज्य बहुत बड़ा था, जिसकी राजधानी मिस्र के डेल्टा प्रदेश के 'अवेरिस' नगर में स्थित थी। डेल्टा प्रदेश में स्थित होने के कारण अवेरिस नगर के भग्नावशेष बिल्कुल नहीं मिलते हैं। यह भी प्रतीत होता है कि हिक्सस लोगों को भगाने के बाद मिस्री लोगों ने इन घृणित विदेशियों के शासन के सभी अवशेषों को जानबूझकर सदा के लिए नष्ट कर दिया। इन लोगों ने अपनी राजधानी अवेरिस में इस कारण भी रखी थी कि वे यहाँ आसानी से अपने एशियाई प्रदेशों पर भी शासन कर सकें। अवेरिस पूर्वी डेल्टा प्रदेश में स्थित था तथा उनका राज्य फुरात नदी तक फैला हुआ था। चूँकि उनका राज्य पेलेस्टाइन और सीरिया पर भी फैला हुआ था, अतः वे मिस्र में पराजित होने पर आसानी से इन प्रदेशों में भाग जाते थे। एक बार हिक्सस लोगों ने मिस्रवासियों के आक्रमण का दक्षिणी पेलेस्टाइन से छह सालों तक मुकाबला किया।

इनकी राष्ट्रीयता के बारे में मानिथो का कथन है कि ये लोग अरब या फीनिशिया के रहने वाले थे, सही मालूम होता है। जाति के अनुसार ये लोग सेमि–

टिक थे। इस जाति के राजाओं ने मिस्र के डेल्टा प्रदेश पर १६७५ ई०-पू० से १५६७ ई०-पू० तक राज्य किया। इस वंश के राजाओं को १५वें राजवंश का राजा माना जाता है। ये लोग मिस्र पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में इसलिए सफल हुए कि इनकी युद्धकला अधिक विकसित थी। ये लोग युद्ध में काँसे की तलवारों, घोड़ों तथा रथों का प्रयोग करते थे। साथ ही मिस्र की कमजोर आंतरिक स्थिति ने भी इनकी सफलता में योगदान किया। १२वें राजवंश के बाद केंद्रीय शासन अत्यंत कमजोर हों चुका था। इस आंतरिक दुर्बलता का फायदा उठा कर इन लोगों ने मिस्र पर शासन स्थापित किया था।

मिस्र के इतिहास में उनका स्थान

परंपराओं के अनुसार एक सौ से अधिक हिक्सस राजाओं ने मिस्र पर शासन किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके शासनकाल में ऊपरी मिस्र कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। ये सभी छोटे-छोटे राज्य हिक्सस शासकों को कर देते थे। इनके शासनकाल में न तो शासनसत्ता सुदृढ़ थी और न जनता ही खुशहाल थी।

इनके शासनकाल में ही दक्षिण में थीब्स के तेरहवें राजवंश का शासन एक छोटे प्रदेश पर चलता रहा। १६७५ ई०-पू० में थीब्स में १६वें राजवंश तथा तीस वर्ष बाद १७वें राजवंश का शासन स्थापित हुआ। धीरे-धीरे थीब्स के शासकों ने हिक्सस आक्रमणकारियों को भगाने का बीड़ा उठाया। मिस्र के अन्य नगरों के निवासियों ने भी हिक्सस प्रणाली से युद्ध करना सीख लिया। प्रारंभिक प्रयत्नों में थीब्स के शासक आक्रमणकारियों को भगाने में असफल रहे। पर, १५७० ई०-पू० में अहमोज प्रथम (Ahmose I) ने अवेरिस नगर पर तीन वर्षों के घेरे के बाद अधिकार किया तथा हिक्सस शासकों को पूर्णरूपेण मार भगाया।

हिक्सस लोगों ने मिस्र पर शासन करने के प्रयत्न में अपने-आप को मिस्री संस्कृति से काफी प्रभावित कर लिया। इन लोगों ने मिस्री फराओ की तरह उपाधियाँ धारणा कीं। मिस्री फराओ की जो मूर्तियाँ डेल्टा प्रदेश में थीं, इन लोगों ने उनकी रक्षा की। इनके समय में लिखी हुई एक गणित की पुस्तक ब्रिटिश म्यूजियम में आज भी सुरक्षित है। इनमें से एक राजा ने अवेरिस में मंदिर भी बनवाया।

मिस्र पर हिक्सस-शासन का प्रभाव

मिस्र, सीरिया तथा पैलेस्टाइन पर हिक्सस-शासन के परिणाम युगांतरकारी सिद्ध हुए। इनके जाने के बाद मिस्री समाज में जिस आमूल परिवर्तन की प्रक्रिया आगे बढ़ी, उसका प्रारंभ इन्हीं के समय में हुआ। इन लोगों के साथ नील नदी की घाटी में घोड़ों का आगमन हुआ तथा युद्धकला में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। यद्यपि

हिक्सस-शासनकाल में मिस्त्रियों को बहुत कष्ट झेलने पड़े, तथापि इस विदेशी शासन से मिस्त्रियों ने बहुत कुछ सीखा भी।

वास्तव में १८वें राजवंश के समय से साम्राज्यवाद तथा सैन्यवाद का जो प्रादुर्भाव हुआ, उसकी नीवें इसी समय पड़ीं। मिस्री साम्राज्य की आधारशिला इसी समय रखी गई। हिक्सस-आक्रमण के बाद मिस्त्रियों के दृष्टिकोण तथा मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ, जिसके कारण इन लोगों ने राजनैतिक प्रसार और विस्तार के बारे में सोचना आरंभ किया।

हिक्सस-आक्रमण से मिस्रवासियों को कई लाभ भी हुए। इन लोगों ने वाणिज्य और व्यापार को भी प्रोत्साहित किया तथा कला के विकास में भी अभिरुचि दिखायी। यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से हिक्सस-आक्रमण ठीक नहीं था, तथापि कई क्षेत्रों में इस विदेशी आक्रमण से मिस्त्रियों ने बहुत कुछ सीखा।

बाद में, हिक्सस-शासन काफी अप्रिय हो गया तथा विशेष रूप से दक्षिणी मिस्र में इस शासन के विरुद्ध असंतोष काफी बढ़ गया। दक्षिणी मिस्र में (थीब्स में) हिक्सस विरोधी कार्रवाई बढ़ने लगी। इस आंदोलन का नेता, जैसा हम देख चुके हैं, अहमोज प्रथम था। मानिथो के अनुसार अठारहवें राजवंश का यह प्रथम राजा था, जो थीब्स की गद्दी पर १५८० ई०-पू० में बैठा तथा इसी ने मिस्र को विदेशी आक्रमण से मुक्त किया। अहमोज प्रथम तथा हिक्सस संघर्ष के विवरण विस्तृत रूप से प्राप्त नहीं हैं, पर इतना निश्चित है कि अहमोज प्रथम को हिक्सस को पराजित करने में मिस्र के बहुत से राजाओं और सरदारों की सहायता प्राप्त हुई, जिससे वह मिस्र को हिक्सस-शासन से स्वतंत्र कराने में सफल हुआ। जिन सरदारों तथा राजाओं ने इस संघर्ष में इसका साथ दिया, उन लोगों को इसने पुरस्कृत किया। इस प्रकार दक्षिणी मिस्त्रियों के प्रयत्न से ही हिक्सस भगाए जा सके।

१८वाँ राजवंश

अहमोज के नेतृत्व में मिस्र का पुनः एकीकरण हुआ तथा १८वें राजवंश की स्थापना हुई, जिसे 'प्रथम साम्राज्य' के नाम से पुकारा जाता है। हिक्सस के निष्कासन तथा प्रथम साम्राज्य की स्थापना से मिस्री इतिहास के एक युग का अंत तथा एक नये गौरवपूर्ण युग का प्रारंभ हुआ। अतः इस नये युग का इतिहास काफी रोचक और महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसके साथ मिस्त्रियों में एक नई शक्ति और उत्साह का संचार हुआ, जिसके कारण राज्य की समृद्धि और खुशहाली उत्तरोत्तर बढ़ती गई। फिर इस नये युग के इतिहास के साधन भी हमें अधिक मिलते हैं, जिनके आधार पर हमें अधिक विश्वसनीय जानकारी मिलती है। इस प्रथम साम्राज्य के निर्माता अहमोज प्रथम को मध्य राज्य के संस्थापक अमनेमहैट प्रथम से बिल्कुल भिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ा। अहमोज प्रथम को बड़ी ही कठिन परिस्थिति में साम्राज्य का

निर्माण करना पड़ा। चारों ओर फैली हुई अव्यवस्था को दूर कर शांति और सुव्यवस्था कायम करनी पड़ी। टूटे हुए शासनतन्त्र को फिर से नए सिरे से सुदृढ़ करना पड़ा। इस साहसी शासक ने इस बहुत बड़ी चुनौती का कुशलतापूर्वक सामना किया। हिक्सस के साथ लंबे संघर्ष से वह लाभान्वित हुआ। उसे कई नई बातों की जानकारी हुई। अब फराओ एक सैनिक राज्य तथा सैन्यतंत्र का अध्यक्ष वन गया। अहमोज प्रथम के पास एक सुसंगठित तथा अनुभवप्राप्त सेना थी। वह स्वयं एक सफल सेनापति था। इन कारणों से मिस्र के इतिहास में वह महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस विशाल सेना को एशिया में कई सालों तक बहुत-सी सफल लड़ाइयाँ लड़ने का अनुभव प्राप्त था। इस अनुभवी सेना तथा एशिया-विजय के स्वप्नों से अनुप्राणित होकर पूरा मिस्र अब विजय-अभियान की अभिलाषा से आंदोलित हो उठा। यह विजयलिप्सा तब तक पूरी नहीं हुई, जब तक मिस्र एक विशाल साम्राज्य का केंद्र नहीं बन गया। अहमोज प्रथम के शासन से करीब सौ-डेढ़-सौ सालों तक मिस्र का इतिहास नग्न सैनिकवाद तथा साम्राज्यवाद का इतिहास है। इस युग में मिस्री सेना ने अनेक विजय प्राप्त की तथा मिस्र का इतिहास इन विजयों का ही इतिहास है। यह सैन्यवाद मिस्री जीवन के प्रत्येक अंग पर छा-सा गया।

प्रथम साम्राज्य के युग में शासनतंत्र, समाज तथा धर्म

हम देख चुके हैं कि हिक्सस के साथ लंबे संघर्ष के कारण मिस्री सेना की कुशलता तथा प्रधानता बढ़ गई थी तथा मिस्री राज्य एक सैनिक राज्य बन गया था। अहमोज प्रथम ने एक चिरस्थायी सेना का गठन कर उसे वैज्ञानिक ढंग से संगठित किया। सेना अव दो भागों में विभक्त हो गई। एक डेल्टा प्रदेश के लिए तथा दूसरी ऊपरी मिस्र के लिए। इसी प्रकार युद्ध के नए तरीके भी मिस्रियों ने सीख लिए। उदाहरणार्थ, आमने-सामने लड़ने के अलावा उन लोगों ने बगल से आक्रमण करना भी सीख लिया। अव विकसित और अच्छे हथियारों का उपयोग होने लगा तथा धनुष-वाण का प्रयोग बहुत अच्छे ढंग से होने लगा, जिसके कारण मिस्री धनुर्विद् काफी प्रसिद्ध हो गये थे। घुड़सवार और रथ सेना भी मिस्री सेना का एक प्रसिद्ध अंग बन गई। रथ वनाने की कला में मिस्र के कारीगर काफी होशियार हो गए थे तथा फराओ के अस्तबल में कई देशों के अच्छी नस्ल के घोड़े पाए जाते थे। इस विशाल सेना की सहायता से १८वें राजवंश के शासकों ने एक बड़े साम्राज्य पर निरंकुश ढंग से युगों तक शासन किया। इस युग में फराओ की शक्ति असीम थी। जिस प्रकार रूस का जार रूसी क्रांति के पहले निरंकुश था, वैसा ही फराओ का भी स्थान था। सेना तथा वैदेशिक नीति पर उसका पूर्ण अधिकार था। वह एक साथ ही

सेनाध्यक्ष, विदेश मंत्री, उपनिवेशों का शासक तथा शासनाध्यक्ष था। इस प्रकार तत्कालीन मिस्र में एक विशिष्ट प्रकार के सैनिकतंत्र का उदय हुआ जिसकी सफलता अथवा विफलता फराओ के व्यक्तित्व पर निर्भर थी। उसका पद सारे शासन का केन्द्र-विंदु था। इस स्थल पर यह ध्यातव्य है कि प्रथम साम्राज्य के निर्माण के प्रारंभिक दिनों से ही फराओ के प्रभुत्व की सीमा-विस्तार के साथ-साथ १८वें राजवंश के फराओ का शासन-संबंधी काम भी इतना बढ़ गया कि एक वजीर के द्वारा शासन के सभी भागों पर निगरानी करना असंभव-सा हो गया। इसलिए अब एक की जगह दो वजीर नियुक्त किए जाने लगे। एक दक्षिणी मिस्र के शासन के लिए थीव्स (Thebes) में रहता था तथा दूसरा उत्तरी मिस्र में हेलियोपोलिस (Heliopolis) में नियुक्त था। थीव्स ही अब संपूर्ण मिस्र की राजधानी बन गया। साम्राज्यवादी युग का सबसे प्रमुख व्यक्ति फराओ ही था। नाम मात्र का देवत्व उसे अभी भी प्राप्त था। पर प्राचीन तथा मध्य राजवंश के फराओ के देवत्व में काफी अंतर था। पुराने राजवंशों के फराओ मिस्र के लोगों के द्वारा तो देवता माने ही जाते थे, विदेशियों ने भी उन्हें इसी दृष्टिकोण से देखा था।

परंतु, इस राजवंश के फराओ का देवत्व अब संकुचित होकर मिस्र के लोगों तक ही सीमित रह गया। दूसरे देशों में देवत्व की भावना के ह्रास से अंततोगत्वा मिस्र में भी इस भावना का ह्रास होने लगा। दूसरे देशों के शासक अब फराओ को अपना भाई कहने लगे तथा अपनी बराबरी का मानने लगे। मिस्र के लोग भी फराओ के प्रति अपनी श्रद्धा एक नेता, राजा तथा सेनाध्यक्ष के नाते व्यक्त करने लगे, न कि एक देवता के रूप में। प्रजा के रक्षक, सेना के अध्यक्ष तथा शांति-व्यवस्थापक के रूप में फराओ का पद आधुनिक निरंकुश शासकों की की तरह हो गया।

शासन की सुविधा के लिए देश कई छोटे-बड़े जिलों में विभक्त था। कुछ जिले तो पुराने जागीरदारी शहरों के आसपास के गाँवों को ही मिला कर बने थे। ऐसे जिलों की संख्या ५४ तक थी। जिलों के शासकों को कार्यपालिका तथा न्यायपालिका दोनों ही प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। शासन का प्रधान उद्देश्य देश की आर्थिक दशा को सुधार कर मजबूत बनाना था। सैद्धांतिक रूप से संपूर्ण राज्य की भूमि का स्वामी फराओ था तथा उसका इंतजाम राजकीय अधिकारी करते थे या भूमि कृषिकार्य के लिए किसी सामंत को दे दी जाती थी। मंदिरों की भूमि को छोड़ कर शेष भूमि पर कर लगाया जाता था, अर्थात् सारी जमीन कर-संबंधी खाते में दर्ज रहती थी। इन खातों में रखी हुई सूचना के आधार पर ही कर लगाए तथा वसूल किये जाते थे। कर वसूलने का कार्य

मुख्य कोषपाल के मातहत नियुक्त कर्मचारी किया करते थे। मुख्य कोषपाल, वज़ीर के अधीन काम किया करता था। सभी कर्मचारियों को दक्षिणी भाग के वजीर के यहाँ अपने क्षेत्र के आय-व्यय का ब्योरा हर महीने भेजना पड़ता था। वजीर इस ब्योरे को राजकीय कोष में भेज देता था। दक्षिणी भाग का वजीर ही राजकीय आय-व्यय का हिसाब रखता था तथा आय-व्यय-पत्र (Budget) भी तैयार करता था। न्याय के क्षेत्र में भी दक्षिणी भाग का वजीर मुख्य भूमिका अदा करता था। इस क्षेत्र में वह वास्तव में सर्वोपरि था। न्यायपालिका तथा कार्यपालिका का विभाजन पुराने और मध्य राज्य की भाँति अब भी नहीं हुआ था। कार्यपालिका के कर्मचारी ही न्याय और कानून का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर न्याय-विभाग भी संभालते थे।

वजीर न्याय-विभाग का अध्यक्ष था। वह प्रतिदिन प्रातःकाल अपनी कचहरी में बैठा करता था। वजीर की कचहरी के बाद हर जिले में न्यायालय होते थे, जिन्हें काफी अधिकार प्राप्त रहते थे। इस प्रकार के बहुत-से न्यायालयों में दो सबसे महत्त्वपूर्ण न्यायालय थीब्स तथा मेम्फिस में थे। इन न्यायालयों में पुरोहित भी रहते थे। न्याया-संबंधी मामलों में यथासंभव निष्पक्षता बरती जाती थी। वजीर अपनी निष्पक्षता तथा न्याय-बुद्धि के लिए प्रसिद्ध था। हमें तत्कालीन कानून का ज्ञान नहीं है, पर इतना जानते हैं कि पूरी सुनवायी के बाद ही अभियुक्तों को सजा दी जाती थी। मिस्र की न्याय-प्रणाली संभवतः विस्तृत कानूनों पर आधारित थी, जिनका ज्ञान हमें नहीं है। सामाजिक तथा आर्थिक जीवन फराओ की इच्छा पर नहीं, वरन् सुस्पष्ट कानूनों से नियमित था।

दक्षिणी भाग का वजीर पूरे शासनतंत्र की धुरी था। शासक के प्रत्येक पहलू की देखभाल करना उसका कर्त्तव्य था। वह शासन-संबंधी प्रत्येक बात की सूचना प्रातःकाल फराओ को दिया करता था तथा उसे प्रधान कोषपाल से सूचना मिला करती थी। प्रांतों में स्थित अधिकारी वजीर को साल में तीन बार प्रतिवेदन भेजा करते थे। वजीर का सारा समय शासन-संबंधी कामों में ही बीतता था तथा उसे न्याय-संबंधी, सेना-संबंधी, कर-संबंधी और वैदेशिक नीति-संबंधी सारे मामले देखने पड़ते थे। युद्ध और संधि उसी के हाथ में थी और वह धर्म-संबंधी मामलों का भी अध्यक्ष था। संक्षेप में राज्य का कोई भी अंग वजीर से अछूता नहीं था। उसकी नियुक्ति फराओ स्वयं करता था। प्रजा, वजीर को उसकी परिश्रम तथा कर्त्तव्य-निष्ठा के कारण श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी।

शासनार्थ वजीर की सहायता के लिए कर्मचारियों का श्रेणीबद्ध संगठन था। निम्न श्रेणी के कर्मचारी मध्य वर्ग के सदस्य होते थे तथा ऊँचे वर्ग के कर्मचारी

कुलीन वर्ग के होते थे। उच्च कोटि के अफसर कुछ ही दिनों में कुलीन वर्ग के हो जाते थे तथा नष्ट होते हुए अभिजात वर्ग का स्थान धारण कर लेते थे। इस राजकीय नौकरशाही के नीचे साधारण जनता का वर्ग था, जो खेतों में दिन-रात अपनी जीविका के लिए अधिक श्रम करता था।

प्रथम साम्राज्य की यह भी विशेषता थी कि इसी काल से समाज और शासन में सैनिक वर्ग की प्रधानता आरंभ होती है। इस युग से सैनिक वर्ग एक सामाजिक वर्ग का रूप धारण कर लेता है। इसके पश्चात् मिस्र में प्रत्येक राजत्वकाल में सैनिकों की महत्ता बढ़ती गई; क्योंकि प्रत्येक फराओ अपने नागरिक शासनतंत्र या दीवानी हुक्म के कार्यान्वयन के लिए सैनिकों की सहायता लेता था।

दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन इस युग में पुरोहित वर्ग की स्थिति में हुआ। हिक्सस-निष्कासन के पश्चात् मिस्र के इतिहास में एक नए अध्याय का श्रीगणेश हुआ, जिसमें सफलता के कारण देश में पुनः अमन-चैन स्थापित हुआ और लोग धर्म-कर्म के मामलों में दिलचस्पी लेने लगे। इससे दो बातें विशेष रूप से परिलक्षित होती हैं। पहले तो मंदिरों की समृद्धि बढ़ी और दूसरा परिवर्त्तन यह हुआ कि पुरोहितों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी। अब बढ़ते हुए धन एवं पुरोहितों की मर्यादा के कारण अनेक कर्मचारी मंदिरों के विविध कार्य संपन्न करने के हेतु बहाल किए जाने लगे। इससे समाज में पुरोहितों का काम एक मुख्य व्यवसाय बन गया।

सैनिक वर्ग के साथ-साथ पुरोहित वर्ग की भी महत्ता बढ़ने लगी। पुरोहितों की संख्या बढ़ने से उनकी राजनैतिक शक्ति भी बढ़ने लगी। मंदिरों की संपत्ति बढ़ने से मंदिरों में अनेक कर्मचारी बहाल किए जाने लगे। ये सभी कर्चचारी पुरोहित वर्ग के होते थे। इस बढ़ते हुए पुरोहित वर्ग का मुखिया थीब्स में स्थित एमन (Amon) देवता के मंदिर का पुजारी होता था। इस पुजारी के अधिकार और शक्ति हेलियोपोलिस तथा मेम्फिस के पुरोहितों की अपेक्षा कहीं अधिक थी। यह पुरोहित वर्ग समाज का एक नया वर्ग बन गया। इस प्रकार पुरोहित, सैनिक तथा राज-कर्मचारी समाज के तीन प्रमुख वर्ग बन गए, जिनके सामाजिक स्वार्थ एक तरह के थे। इन तीनों वर्गों के नेता नए कुलीन वर्ग के सदस्य थे, जो पुराने अभिजात वर्ग का स्थान क्रमशः ग्रहण कर रहे थे। पर, इन तीनों वर्गों के निचले तबके के लोग स्वतंत्र मध्यम वर्ग से मिलते-जुलते थे। स्वतंत्र मध्यम वर्ग में मुख्यतः व्यापारी और कारीगर थे। समाज का सबसे निचला वर्ग खेतिहर दासों (Peasant serf) का था, जो खेतों में काम किया करता था।

धर्म

नए साम्राज्य के युग में बढ़ती हुई समृद्धि ने मिस्री धर्म में भी काफी परिवर्त्तन ला दिया। धार्मिक प्रक्रिया पहले से जटिल और विस्तृत हो गई। विदेशी आक्रमणों से आई हुई सभ्यता का उपयोग मिस्री फराओ ने मंदिरों की सजावट में किया। मंदिरों ने अब विशाल और भड़कीले महल का रूप धारण किया, जिनमें काफी संख्या में पुजारी वर्ग रहता था। इन लोगों का मुखिया प्रधान पुजारी एक छोटे-मोटे राजा की तरह जीवन-यापन करता था। मिस्र के फराओ की ओर से उसे भी राजनैतिक अधिकार प्राप्त थे।

थीब्स के राजवंश की प्रधानता से मिस्री धर्म में एमन देवता की प्रधानता आ गई। वह अब राज्य का सर्वश्रेष्ठ देवता हो गया तथा उसे अभूतपूर्व महिमा और भव्यता प्राप्त हो गई। वह जनता की असीम श्रद्धा और विश्वास का पात्र बन गया। लोग उसे 'गरीबों का वजीर' कहने लगे। साधारण जनता अपना दुःख-दर्द उसे सुनाती थी तथा उसकी कृपा से अपनी भावी समृद्धि की आशा करती थी। एमन की प्रधानता के बावजूद सूर्य देवता (Sun God) अभी भी सार्वभौम था।

इस युग में मृतक संस्कार में जादू-टोने का प्रभाव बढ़ने लगा। जादू-टोने के मंत्रों और सिद्धांतों की संख्या बढ़ने लगी, जिनके सहारे मरणोपरांत, मृत व्यक्ति शांति पा सकता था। इन मंत्रों को पेपिरस पत्रों पर लिख कर कब्र में रख दिया जाता था। इन पेपिरस पत्रों पर लिखे हुए साहित्य को ही 'मृतकों की पुस्तक' (Book of the Dead) की संज्ञा दी गई है। सारा मृतक संस्कार जादू-टोने से भरा हुआ था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि जादू-टोने के सहारे मृत व्यक्ति, जो चाहे प्राप्त कर सकता है। इस जादू-टोने के बढ़ते प्रभाव ने पुरोहितों का प्रभाव भी बढ़ा दिया तथा मरणोपरांत पापों से मुक्ति के लिए पुरोहित वर्ग दस्तावेज या मुक्तिपत्र भी बेचने लगे। मध्यकालीन यूरोप में जिस प्रकार पुरोहित वर्ग स्वर्ग के टिकट बेचता था, ठीक वही दशा इस समय मिस्र के पुरोहित वर्ग की भी थी।

इस युग में पहाड़ों को काट कर बनायी जाने वाली कब्रों में मरणोपरांत जीवन के काल्पनिक दृश्य, तंत्र-मंत्र तथा मृत व्यक्ति के जीवन की प्रमुख घटनाओं के चित्र अंकित होते थे। थीब्स के पास की कई पहाड़ियों में ऐसी कब्रें हैं, जिनमें प्रमुख व्यक्तियों के जीवन का इतिहास अंकित है। साधारण लोगों की कब्रें मिट्टी की होती थीं, जो अपने आकार-प्रकार में भी साधारण होती थीं।

प्रथम साम्राज्य का राजनैतिक इतिहास

१८वें राजवंश तथा प्रथम साम्राज्य के संस्थापक अहमोज प्रथम का देहांत १५५७ ई०-पू० में हुआ। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र अमेनहोटेप प्रथम

(Amenhotep I) गद्दी पर बैठा। अमेनहोटेप प्रथम को गद्दी पर बठते ही साम्राज्य-विस्तार तथा साम्राज्य-निर्माण की समस्याओं का सामना करना पड़ा। पर, वह केवल दस वर्ष ही राज्य कर सका। उसके पश्चात् थुटमोज प्रथम (Thutmose I) गद्दी पर बैठा। थुटमोज एक ऐसी स्त्री का पुत्र था, जिसका परिवार तथा जन्म विवादास्पद है। उसकी माँ निस्संदेह राजकुल की नहीं थी। थुटमोज प्रथम ने पुराने राजवंश की एक राजकुमारी से विवाह किया, जिसका नाम अहमोज (Ahmose) था। इस विवाह के आधार पर ही उसने राजगद्दी पर अपना अधिकार स्थापित किया। गद्दी पर अपना अधिकार स्थापित करने के बाद उसने १५४० ई०-पू० या १५३५ ई०-पू० की जनवरी में यह घोषणा निकाली कि उसका विधिवत् राज्याभिषेक हुआ है। बहुत-से विद्वानों का यह मत है कि वह अमेनहोटेप प्रथम का पुत्र नहीं था। गद्दी पर उसका अधिकार अहमोज नाम की राजकुमारी के साथ विवाह पर ही आधारित था तथा उसकी पत्नी की मृत्यु के बाद उसे गद्दी छोड़नी पड़ी। उसके राज्यकाल में नूबिया के प्रदेश पर मिस्र का आधिपत्य क्रमशः सुदृढ़ हो गया। वहाँ के वायसराय को कई बार लड़ाकू जातियों के विद्रोहों का सामना करना पड़ा, पर अंत में थुटमोज प्रथम के समय इस प्रदेश पर मिस्र का अधिकार पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। नूबिया पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित होने के बाद थुटमोज प्रथम ने एशिया की विजय पर अपना ध्यान दिया। उसने सीरिया और फिलस्तीन के प्रदेशों पर भी आधिपत्य स्थापित किया। चूँकि इस प्रदेश के निवासियों की सभ्यता और संस्कृति तथा रहन-सहन मिस्र वालों से भिन्न थी, मिस्रवासियों ने इनसे बहुत कुछ सीखा तथा इन जातियों पर भी अपनी संस्कृति की छाप छोड़ी।

थुटमोज प्रथम न केवल एक महान विजेता था, वरन् एक महान कलाप्रेमी तथा निर्माता भी था। उसने कई मंदिरों का निर्माण किया तथा कई पुराने मंदिरों का पुनरुद्धार भी कराया। उसके द्वारा बनवाए गए नए मंदिर तत्कालीन समृद्धि तथा शान-शौकत के प्रमाण हैं। उसने अपने समय के प्रसिद्ध वास्तुकार इनेनी (Ineni) को यह आज्ञा दी कि एमन के प्रधान मंदिर के सामने दो विशाल सिंहद्वार बनवाए जाएँ। इसके अतिरिक्त अन्य देवताओं के लिए भी सुंदर एवं भव्य मंदिरों का निर्माण हुआ।

थुटमोज प्रथम को दो पुत्र तथा दो पुत्रियाँ हुईं। उसके जीनवनकाल में ही उसकी रानी का देहांत हो गया। चार संतानों में सिर्फ एक पुत्री बची रही, जिसका नाम हाशेपसुट (Hatshepsut) था। थुटमोज प्रथम को उसके दरबारियों ने अपनी एकमात्र पुत्री हाशेपसुट को गद्दी का हकदार बनाने के लिए बाध्य किया। हाशेपसुट के अलावा थुटमोज को अपनी दूसरी रानियों से दो पुत्र थे। ये दोनों पुत्र

बाद में थुटमोज द्वितीय (Thutmose II) तथा थुटमोज तृतीय (Thutmose III) के नाम से विख्यात हुए।

थुटमोज प्रथम के राज्य के अंतिम दिनों में उत्तराधिकार का प्रश्न जटिल हो गया। दूसरी रानी से उत्पन्न दो पुत्रों ने भी गद्दी पर अपना उत्तराधिकार जमाया था। थुटमोज प्रथम को अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद गद्दी छोड़नी पड़ी। तब उसका बड़ा लड़का थुटमोज तृतीय गद्दी पर बैठा, जिसने अपनी सौतेली बहन हाशेपसुट से शादी की थी।

थुटमोज तृतीय ने अपनी पत्नी को सह-शासक (Regent) बना कर शासन करना प्रारंभ किया। अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद उसने आजीवन शासन किया। अपनी पत्नी के जीवनकाल में उसे नाममात्र के अधिकार प्राप्त थे। रानी हाशेपसुट एक महत्त्वाकांक्षी तथा प्रभावशाली महिला थी। इसलिए अपने जीवनपर्यन्त वही वास्तविक शासिका थी तथा उसका पति नाममात्र का शासक था। सभी अधिकार उसी के हाथ में केंद्रित थे।

रानी हाशेपसुट के जीवनकाल में थुटमोज तृतीय अपनी विजयलिप्सा को दबाए रहा। उसका गद्दी पर अधिकार अपने पिता की भाँति विवाह पर आधारित था। दोनों ही ने अपनी पत्नियों के कारण शासन करने का अधिकार पाया था। इस कारण दोनों ही अपनी पत्नियों के सम्मुख हीन भावना का अनुभव करते थे। रानी हाशेपसुट के बहुत-से प्रशंसक, समर्थक तथा कृपापात्र थे, जो शासनकार्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे। इस कारण थुटमोज तृतीय शासनकार्य में नगण्य बना रहा। रानी हाशेपसुट इतिहास की प्रथम महान महिला थी, जिसके बारे में हमें पूरी जानकारी प्राप्त है। वह मर्दाना पोशाक पहन कर दरबार किया करती थी। उसके द्वारा बनवायी गई इमारतों में उसे मर्दाना पोशाक पहने दिखाया गया है।

उसके शासनकाल में उसके समर्थक तथा कृपापात्र सभी महत्त्वपूर्ण जगहों पर बिठाए गए। उसका सबसे बड़ा प्रिय पात्र हापुसेनेब (Hapuseneb) था, जो उसका प्रधान मंत्री एवं प्रधान पुरोहित था। वह नए ढंग से संगठित पुरोहित-पद पर प्रतिष्ठित था तथा प्रशासकीय एवं धार्मिक दोनों क्षेत्रों का शक्तिशाली व्यक्ति था। चूँकि समस्त प्रशासकीय ढाँचा रानी हाशेपसुट और उसके प्रिय पात्रों के हाथ में था, इसलिए थुटमोज अपनी पत्नी के सम्मुख मात्र कठपुतला बना रहा। रानी की शक्ति एवं मर्यादा की रक्षा में उसके कृपापात्र पूर्ण रूप से प्रयत्नशील रहते थे; क्योंकि उनकी शक्ति रानी की प्रधानता पर ही निर्भर थी।

रानी हाशेपसुट ने निर्माण-कार्य में बहुत अभिरुचि दिखायी तथा कला को भी काफी प्रोत्साहित किया। उसने बहुत-से इमारत, महल और स्मारक बनवाए।

उसने करनाक के मंदिर को और सँवारा तथा पश्चिमी थीब्स में एक शानदार मंदिर बनवाया, जिसे दर-एल-बहरी (Der-El-Bahri) कहा जाता है। इस मंदिर को राज्य के प्रमुख कारीगरों तथा वास्तुकारों ने बनाया। यह मंदिर एमन देवता तथा उसके पिता की स्मृति को समर्पित किया गया। यह मंदिर उसके राजत्वकाल की शान-शौकत का भी स्मारक था। लाल सागर के किनारे स्थित पुण्ट-प्रदेश (Punt region) के विजय-अभियान के चित्र भी दीवारों पर चित्रित थे। इस पुण्ट-प्रदेश को मिस्री लोग अपने देवताओं का आदि निवासस्थान मानते थे। अपनी निर्माण-शैली की दृष्टि से यह मंदिर अद्वितीय तथा विलक्षण था। इस मंदिर के निर्माण की योजना, इसकी वास्तु कला तथा इसकी तक्षण कला की सुंदरता मिस्री कला के इतिहास में अपना अद्वितीय स्थान रखती है। मध्य राज्य के समय के कलात्मक आदर्शों की तुलना में इस मंदिर की कला उन्नत थी। पुण्ट-प्रदेश की विजय से राज्य में सोना, हाथी के दाँत तथा अन्य बहुमूल्य धातुएँ काफी मात्रा में आईं। जिनसे राज्य की समृद्धि तथा रानी हाशेपसुट की प्रतिष्ठा में अत्यधिक वृद्धि हुई। इसी कारण रानी हाशेपसुट ने इस विजय-यात्रा के चित्र इस मंदिर की दीवारों पर चित्रित करा दिये।

प्रोफेसर नेबिल ने इस मंदिर को खोद निकाला है तथा इसके संबंध में पूर्ण जानकारी भी दी है, जिसके आधार पर इस मंदिर का सही एवं विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। रानी हाशेपसुट का राज्यकाल शांतिपूर्ण निर्माण-कार्यों के लिए ही अधिक प्रसिद्ध है। उसके विकास-कार्यों से साम्राज्य की आर्थिक दशा में काफी सुधार हुआ। आंतरिक आय के अलावा राज्य के अधीनस्थ राजाओं से भी बड़ी संख्या में कर प्राप्त होता था। इस बड़ी आय का सदुपयोग इस उत्साही रानी ने मंदिरों और महलों के निर्माण तथा पुरानी इमारतों के जीर्णोद्धार करने में किया।

थुटमोज तृतीय

रानी हाशेपसुट का देहांत १४७९ ई०-पू० में हुआ। उसकी मृत्यु के बाद थुटमोज तृतीय पूर्ण रूप से फराओ बन गया। उसने १४७९ ई०-पू० से १४४७ ई०-पू० तक मिस्र पर शासन किया। चूँकि उसे अपनी पत्नी के जीवनकाल में काफी दुःख सहना पड़ा था, अतः वह उसकी मृत्यु से प्रसन्न हुआ। अपनी पत्नी के राज्यकाल की स्मृति से उसे इतनी घृणा हो गई थी कि उसकी मृत्यु के बाद तुरंत ही उसने मंदिरों तथा इमारतों से उसका नाम मिटवा दिया। रानी हाशेपसुट के जो प्रिय पात्र थे, वे या तो राज्य छोड़ कर भाग गए या उन्हें बुरी तरह सताया गया। बहुत से मंदिर तथा स्मारक, जिससे रानी का नाम मिटाया हुआ है। आज भी

थुटमोज की प्रतिशोध भावना के साक्षी हैं। रानी हाशेपसुट की मृत्यु के बाद ही थुटमोज तृतीय अपनी प्रतिभा तथा शक्ति का विजय और शासन के क्षेत्र में पूर्ण प्रदर्शन कर सका।

थुटमोज तृतीय को 'प्राचीन मिस्र का नेपोलियन' माना जाता है। प्रचीन मिस्र के इतिहास में उसका स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन विश्व के इतिहास का वह प्रथम सेनानायक, प्रथम विजेता तथा प्रथम साम्राज्य-निर्माता माना जाता है। उसके जीवन का अधिकांश युद्धों और विजय-यात्राओं में ही बीता। करनाक के मंदिर के शिलालेखों में उसकी विजय का पूर्ण इतिहास अंकित मिलता है। यह शिलालेख मिस्र का सबसे प्रसिद्ध तथा सबसे पूर्ण शिलालेख है। उसके राज्यकाल का पहला भाग सीरिया तथा फिलस्तीन की विजय में बीता है। इस विजय-अभियान का मुख्य उद्देश्य सीरिया के उस भाग को जीतना था, जिसे सीरिया की गद्दी (Syrian saddle) कहते हैं तथा जहाँ मिस्र एवं भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों से रास्ते आ कर मिलते हैं। इस स्थान का सामरिक तथा व्यापारिक महत्त्व बहुत अधिक था। सीरिया तथा फिलस्तीन के बहुत से नगर-राज्यों ने कादेश (Kadesh) के राजा के बहकावे में आकर खुला विद्रोह कर दिया। थुटमोज तृतीय ने इस चुनौती को स्वीकार किया तथा इस परिस्थिति का मुकावला करने के लिए उसने पूरी सैनिक तैयारी भी की। एक बड़ी सेना तैयार की गई तथा विजय-अभियान प्रारंभ हुआ। कई लड़ाइयों के बाद कादेश का राजा हरा दिया गया तथा मुख्य नगर मेगिड्डो (Megiddo) पर अधिकार कर लिया गया। विद्रोहियों ने आत्म-समर्पण किया, पर उनका नेता किसी प्रकार भाग निकला।

थुटमोज तृतीय ने युद्धबंदियों के साथ अच्छा व्यवहार किया। कादेश के भागे हुए राजा की पत्नी तथा संतानें बंधक (Hostage) के रूप में मिस्र की राजधानी लायी गईं। इस युद्ध में लूट का माल भी काफी संख्या में मिला।

इस विजय के बाद थुटमोज तृतीय फीनिशिया की ओर बढ़ा तथा संभवतः उसने टायर (Tyre) नामक नगर-राज्य पर कब्जा किया। यहाँ से पूरब की ओर लेबनान (Lebanon) में बढ़ा, जहाँ उसने कई शहरों को लूटा-खसोटा तथा लूट का माल प्रचुर मात्रा में प्राप्त किया। इस विजय के बाद भी फीनिशिया के बहुत-से नगर उपद्रव तथा विद्रोह के केन्द्र बने रहे और उसको इन प्रदेशों में कई बार आक्रमण करना पड़ा। वह सिर्फ विजेता ही नहीं, बल्कि एक सफल प्रबंधक भी था। वह विजय के साथ-साथ संगठन का काम भी करता चलता था। विजय के बाद तुरन्त शासन का पुनर्गठन भी करता जाता था। कादेश का राजा जीवनपर्यन्त थुटमोज तृतीय का प्रधान शत्रु बना रहा तथा समय-समय पर फीनिशिया के नगर-

राज्यों द्वारा विद्रोह करता रहा। लेकिन, उसने हमेशा मजबूती के साथ इन विद्रोहियों का मुकाबला किया तथा उन्हें कुचलता रहा। लाचार होकर अंत में एशिया के नगर-राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार की तथा उसके प्रति अपनी राजभक्ति प्रदर्शित की। कहा जाता है कि इस फराओ ने उन्नीस वर्षों में एशियाई प्रदेशों पर सत्रह बार आक्रमण किया, जिसके कारण एशियाई शासकों ने उसकी अधीनता स्वीकार की। अपनी विजयों के कारण वह एशियाई प्रदेशों में प्रसिद्ध हो गया। एशियाई प्रदेशों पर चिरस्थायी प्रभुत्व स्थापित करने के बाद भी वह चुप नहीं वैठा रहा, बल्कि उसने अपनी दृष्टि नूबिया की ओर डाली।

अपने राज्य के अंतिम दिनों में अपने विशाल साम्राज्य पर अपना आधिपत्य कायम रखने में वह और भी सावधान हो गया। खास कर नूबिया पर उसका विशेष ध्यान था। जब वह बूढ़ा होने लगा, तब उसने अपने लड़के अमेनहोटेप द्वितीय (Amenhotep II) को सह-शासक नियुक्त कर लिया। १७ मार्च, १४४७ ई०-पू० में ५४ वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हुआ।

इतिहास में थुटमोज तृतीय का स्थान

ऐसा माना जाता है कि थुटमोट तृतीय के राजत्वकाल में मिस्र का साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। एखनाटन के बाद उसका व्यक्तित्व अत्यंत आकर्षक है। निःसंदेह वह एक महान् व्यक्ति था, जिसे असीम शक्ति तथा अपार महत्त्वाकांक्षा थी। उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी तथा वह एक साथ कई काम कर सकता था। युद्धक्षेत्र में वह अदम्य उत्साह का प्रदर्शन तथा कठोर कर्मठता के साथ सैन्य संचालन और विजय-अभियान संपन्न करता था। शांति के समय वह प्रशासन का सुधार तथा कला और संस्कृति का विकास करता था। उसके प्रधान मंत्री रेखमीर (Rekhmire) ने निम्नलिखित शब्दों में उसकी प्रशंसा की है "हमारे सम्राट ऐसे थे, जिन्हें सब कुछ मालूम था। जहाँ कहीं कुछ होता था, उसकी खबर उन्हें हो जाती थी। वे ज्ञान के देवता थे। कोई ऐसा काम नहीं था, जिसे वे नहीं कर सकते थे।" थुटमोज तृतीय ने विजित प्रदेशों का शासन बड़ी सावधानी और दिलचस्पी के साथ किया। वह नियमित तथा क्रमवद्ध ढंग से शासन करना पसंद करता था और यथा-संभव प्रशासन के प्रत्येक अंग की देखभाल स्वयं करता था। उसने महत्त्वपूर्ण मार्गों पर किले बनवाए थे तथा सेना की टुकड़ी रख छोड़ी थी, जिसमें शत्रुओं के हमलों को सीमांत पर ही रोका जा सके।

उसके राजत्वकाल में मिस्र की सारी भूमि का नियमित ढंग से सर्वेक्षण किया गया तथा इस सर्वेक्षण के आधार पर राजस्व निश्चित किया गया। विजित प्रदेशों से कर, उपज के रूप में ही लिया जाता था। उदाहरण के लिए, फिलस्तीन से जो कर आता था वह गुलाम, मवेशी, घोड़े, शराब, ऊँट, भेंड़ तथा औद्योगिक सामग्री

के रूप में आता था। इसलिए, सच तो यह है कि बाद के दो सौ वर्षों में, मिस्र, थुटमोज तृतीय के कारण, तत्कालीन सभ्य संसार का सबसे शक्तिशाली तथा समृद्ध देश बना रहा।

क्रीट की मिनोअन (Minoan) सभ्यता के साथ मिस्र का संबंध इस समय से और घनिष्ठ हो गया। इस समय मिस्र ने साइप्रस द्वीप पर भी अधिकार कर लिया। क्रीट की सभ्यता तथा संस्कृति का मिस्र की सभ्यता एवं संस्कृति पर असर पड़ा। इस संपर्क के कारण मिस्र में धातुओं के काम, मिट्टी के बर्त्तन तथा चित्रकारी में सुधार हुआ। मिस्री कला पर मिनोअन कला की छाप पड़ गई। वस्तुतः विशाल साम्राज्य के विकास के कारण मिस्री संस्कृति पर अन्य देशों की संस्कृतियों का भी प्रभाव पड़ा। इसी कारण, थुटमोज तृतीय का राज्यकाल न केवल मिस्र के ही इतिहास का प्रधान युग है, वरन् पूरे पश्चिम एशिया के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण काल भी है। प्राचीन विश्व के इतिहास में इस समय तक किसी भी शासक ने इस प्रकार राष्ट्रीय साधनों का उपयोग इस कुशलता से नहीं किया था, जिस प्रकार थुटमोज तृतीय ने किया। एक निरंकुश शासक होने के नाते उसके हाथ में सारी शक्ति केन्द्रित थी। फिर भी, उसका शासन उदार तथा सुव्यवस्थित था।

एक मामूली पुरोहित के पद से ऊपर उठनेवाला यह व्यक्ति हमें सिकन्दर या नेपोलियन की याद दिलाता है। थुटमोज तृतीय ने दुनिया के इतिहास में पहले-पहल एक वास्तविक साम्राज्य की स्थापना की तथा वह पहला सेनानायक था, जिसके व्यक्तित्व में विश्वजनीन गुणों का समावेश था। मिस्र के इतिहास में उसका नाम अमर है। उसके मरने के सदियों बाद तक मिस्री जनता उसे मिस्र की प्रतिष्ठा तथा गरिमा का प्रतीक मानती थी। उसके अनेक विजय-अभियानों के फलस्वरूप अफ्रीका और एशिया के बीच की दूरी कम हो गई तथा बहुत-से राज्य एवं देश एक सूत्र में आबद्ध हो गये। उसके नेतृत्व के कारण, नील नदी की घाटी आकर्षण का केंद्र बन गई। मिस्र ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नेतृत्व ग्रहण कर लिया तथा अपनी विजयों के कारण कई देशों की निगाह में खटकने भी लगा।

विजित प्रदेशों का शासन

थुटमोज तृतीय के शासनकाल में एशियाई विजित प्रदेशों का शासन किस प्रकार होता था, इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं है। लेकिन, उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर शासन की एक क्षीण रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। एशिया के सारे विजित प्रदेश एक विश्वासप्राप्त गवर्नर तथा एक सुयोग्य सेनापति के अधीन कर दिए गए थे। थुटमोज तृतीय का यह विश्वासप्राप्त सेनानायक थुटी (Thuty) था, जिसे यह गौरवपूर्ण पद पहले-पहल प्राप्त हुआ। सीरिया तथा फिल-

स्तीन में किसी प्रकार की संकटपूर्ण स्थिति अथवा विद्रोह का मुकाबला करने के लिए सभी महत्त्वपूर्ण स्थानों पर सेना की टुकड़ियाँ रख छोड़ी गई थीं, जिनकी अध्यक्षता फराओ के प्रतिनिधि किया करते थे। उदाहरण के लिए, सेना की एक ऐसी टुकड़ी लेबनान के दक्षिणी भाग में तथा दूसरी फीनिशिया के तट पर स्थित थी। विजित प्रदेशों में जो नगर-राज्य थे, उनके शासकों को फराओ की ओर से सीमित स्वायत्त प्राप्त था। वे आंतरिक शासन में स्वतंत्र थे, पर फराओ को उन्हें नियमित रूप से कर देना पड़ता था। जब तक वे नियमित रूप से कर देते थे, तब तक उनके आंतरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। ऐसे शासकों की मृत्यु के बाद उनका लड़का अथवा उनका उत्तराधिकारी, जिसे मिस्र में शासन-कार्य मे प्रशिक्षण मिल चुका था, शासक बना दिया जाता था। इस प्रकार एशिया के विजित प्रदेश मिस्र साम्राज्य के प्रांत नहीं, वरन् करदायी राज्य थे। फराओ तथा इन राज्यों के शासकों के बीच किस प्रकार के संबंध थे, यह कहना मुश्किल है। लेकिन, विभिन्न सूत्रों के द्वारा इतना पता चलता है कि इन शासकों का स्थान कर वसूल करने वाले शासकों की तरह था। ये शासक कर वसूल कर नियमित रूप से एक निश्चित रकम फराओ के कोष में भेजा करते थे। यह उनकी जिम्मेदारी थी कि कर की निश्चित रकम ठीक समय पर पहुँच जाया करे। इन करों से फराओ को कितनी आमदनी थी, कहना मुश्किल है। पर, आमदनी काफी बड़ी थी, जिसके सहारे विशाल प्रशासनिक तंत्र का खर्च सफलतापूर्वक चलता था।

विजित एशियाई प्रदेशों के शासन की दूसरी मुख्य बात यह थी कि फराओ तथा स्थानीय शासकों का संबंध बहुत हद तक फराओ के व्यक्तित्व पर निर्भर करता था। यदि थुटमोज तृतीय के प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रभाव फराओ की गद्दी पर था, तो ये विजित प्रवेश केन्द्रीय शासन के पूरे अधीन रहते थे। अगर फराओ कमजोर होता, तो ये स्वतंत्र होने की कोशिश करते थे।

अमेनहोटेप द्वितीय तथा थुटमोज चतुर्थ

थुटमोज तृतीय के बाद अमेनहोटेप द्वितीय गद्दी पर बैठा। इसको त्रिकेंद्रीकरण की प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ा। एशियाई प्रदेशों में आए दिन जगह-जगह विद्रोह होने के समाचार मिलने लगे, जिसके कारण अमेनहोटेप द्वितीय को सेना लेकर दबाने के लिए सदा तत्पर रहना पड़ता था। एशियाई प्रदेशों पर हमले से जो लूट का माल मिलता था, उससे वह सीमांत-प्रदेश की रक्षा का प्रबंध करता था। वह भी एक सफल निर्माता एवं विजेता था। इस बात की पुष्टि उसके लंबे शासन की अवधि से होती है। इसके शासनकाल में करनाक के प्रसिद्ध मंदिर की मरम्मत की गई तथा उसमें कुछ नए भाग जोड़े भी गए। इसके बारे में जो जान-

कारी हमें मिली है, उससे ऐसा पता चलता है कि यह एक सुयोग्य पिता का सुयोग्य पुत्र था। उसने २६ वर्षों तक राज्य किया। १४२० ई०-पू० में इसकी मृत्यु के बाद इसका लड़का थुटमोज चतुर्थ (Thutmose IV) गद्दी पर बैठा।

थुटमोज चतुर्थ को भी गद्दी पर बैठते ही एशियाई प्रदेश के विद्रोहों का सामना करना पड़ा। इन पर विजय प्राप्त कर उसने एशियाई साम्राज्य की रक्षा की। उसने बेबिलोन के राजा के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम किया तथा मिटानी (Mittani) के राजा से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। नूबिया के एक विद्रोह दबाने के पश्चात् थुटमोज चतुर्थ का देहान्त १४११ ई०-पू० में हो गया। अकाल मृत्यु से यह अपनी योजनाओं को कार्यान्वित नहीं कर सका। इसके बाद इसका पुत्र अमेनहोटेप तृतीय (Amenhotep III) गद्दी पर बैठा।

अमेनहोटेप तृतीय १४११ ई०-पू० से १३७५ ई०-पू०

इस वंश का अंतिम बड़ा राजा अमेनहोटेप तृतीय था। इसके समय से इस वंश का पतन प्रारंभ हो गया। वास्तव में, जिस कठिन परिस्थिति में यह राजा हुआ, उसका सामना करने की क्षमता उसमें नहीं थी। इसलिए, यह पतन की प्रतिक्रिया को रोकने में समर्थ नहीं था। वास्तव में यह शांति-प्रिय शासक था तथा कला और सौंदर्य की ऊँची परख रखता था। अपने राजत्व काल के प्रारंभ में ही उसका विवाह भी टाई (Tiy) नामक एक असाधारण महिला से हुआ था। शादी के बाद रानी टाई का प्रभाव उस पर असाधारण था। इस प्रभाव का अनुमान हम इस बात से लगाते हैं कि सभी राजकीय दस्तावेजों पर राजा के साथ रानी टाई का भी नाम मिलता है। राजकीय मामलों तथा सार्वजनिक उत्सवों में इस रानी ने महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा किया। इसी समय से एक प्रकार से स्त्रियों का प्रभाव राजकीय मामलों में बढ़ने लगा। अमेनहोटेप के उत्तराधिकारियों के काल में भी यह प्रभाव बना रहा। अमेनहोटेप, जिसे 'शानदार राजा' माना जाता है, ऐसे समय राजा बना, जब मिस्र की शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। शक्ति के साथ संपन्नता भी काफी बढ़ गई थी। खेतों में अनाज प्रचुर मात्रा में पैदा होता था तथा कला-कौशल के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व विकास हुआ था। उसके नगरों जैसे—थीब्स, मेम्फिस तथा ऐबिडोस (Abydos) में दुनिया के कोने-कोने से व्यापारी आते थे। फराओ के पास मैत्री का संदेश लेकर देश-विदेश से राजदूत आते थे। इसी कारण अमेनहोटेप तृतीय 'अमेनहोटेप शानदार' माना जाता है।

यदि थुटमोज तृतीय वास्तव में महान था, तो अमेनहोटेप तृतीय वस्तुतः प्रतापी और शानदार फराओ था। यह भी सच है कि अमेनहोटेप तृतीय की सफलता तथा समृद्धि की बुनियाद थुटमोज तृतीय की विजयों के कारण ही पड़ी थी। थुटमोज तृतीय ही वह व्यक्ति था, जिसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की तथा एक

शक्तिशाली सेना का संगठन कर राजकीय कोष को समृद्ध किया था और इस वढ़ी हुई प्रतिष्ठा एवं समृद्धि को विरासत में अपने उत्तराधिकारी के लिए छोड़ गया, जिसके फलस्वरूप अमेनहोटेप तृतीय की सफलता और शान-शौकत में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। अमेनहोटेप के राजत्वकाल में कोई विजय अभियान नहीं हुआ। उसने केवल नूबिया के एक प्रान्त पर आक्रमण किया था, अन्यथा उसका समय अधिकतर शांतिपूर्ण कार्यों में व्यतीत हुआ। वह कला का महान् प्रेमी था, जिसके कारण उसके राज्यकाल में कला-कौशल का पूर्ण विकास हुआ।

'अमेनहोटेप शानदार' को ऐसी अनुकूल परिस्थिति मिली, जिसके कारण वह कला की उन्नति के द्वारा अपने राज्यकाल का गौरव बढ़ा सका। उसके समय में व्यापार-वाणिज्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई। नील नदी की घाटी एक वहुत बड़ा व्यापारिक केंद्र बन गई, जहाँ देश-विदेश से कारवाँ तथा व्यापारिक जहाजी बेड़े आते थे। वहाँ देश-विदेश के स्थलीय व्यापारिक मार्ग जाते थे। भूमध्यसागर से भी कई व्यापारिक मार्ग वहाँ आते थे। इन व्यापारिक मार्गों से मिस्री माल सुदूर देशों में पहुँच जाता था। इस व्यापार के कारण मिस्री सभ्यता की छाप भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों पर जोरों से पड़ती जा रही थी। क्रीट में मिस्री धर्म का भी प्रभाव पड़ रहा था। यूनानी कला मिस्री कला से वहुत दूर तक प्रभावित हुई। अमेनहोटेप तृतीय ने वाणिज्य व्यापार के विकास के लिए समुचित सुरक्षा का प्रबन्ध किया। व्यापार के नियंत्रण तथा उन्नति के लिए उचित नियम बनाये गये। फराओ ने सामुद्रिक पुलिस का प्रबंध किया, जो नील डेल्टा के समुद्र तट का निरीक्षण करती रहती थी। पुलिस चुंगी वसूली का भी काम करती थी। फराओ के उपयोग के लिए जो माल आता था, उसे छोड़ कर सभी सामान पर चुंगी वसूल की जाती थी। चुंगी से फराओ को काफी आमदनी हुआ करती थी। वाणिज्य-व्यापार के विकास से देश की समृद्धि वढ़ी तथा गुलामों की संख्या में भी वृद्धि हुई। इन सब बातों से देश के शासनतंत्र में भी काफी परिवर्तन हुआ।

फराओ अब शान-शौकत तथा विलास का प्रतीक बन गया और उसका दरबार इन सभी वस्तुओं का केंद्र वन गया। राजधानी की शान-शौकत और ऐशो-आराम ने पुराने सांस्कृतिक मूल्यों तथा देहाती आदर्शों का सर्वथा वहिष्कार किया। फलतः नये सांस्कृतिक आदर्श तथा ऐशोआराम की भावना फराओ से लेकर छोटे-छोटे लिपिकों तक के जीवन में परिलक्षित होने लगी। विशाल सम्पत्ति के इकट्ठा होने तथा नूबिया और एशिया से बहुत बड़ी संख्या में गुलामों के आने से राजधानी एवं अन्य महत्त्वपूर्ण नगरों में शानदार और भड़कीली इमारतों का निर्माण प्रारंभ हुआ। थीब्स नगर में जिस नई वास्तुकला का विकास हुआ वह प्राचीन विश्व की वास्तुकला के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। अमेनहोटेप तृतीय ने वास्तुकला

विशारदों के हाथ में पूरी सुविधा तथा धन-सम्पत्ति दे रखी थी, ताकि वे दिल खोल कर अपनी कला का विकास कर सकें। इस युग में मिस्र में कई बड़े-बड़े कलाकार और वास्तुकला विशारद उत्पन्न हुए, जिनकी सूझ-बूझ एवं लगन से कला के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान मिला। इस युग का सबसे बड़ा कलाकार अमेनहोटेप था, जो बाद में मिस्र में देवता की तरह पूजा जाने लगा। अपने जीवन काल में अमेनहोटेप कलाकार ने फराओ अमेनहोटेप को बहुत प्रभावित किया। ऐसा कहा जाता है कि कलाकार अमेनहोटेप की मृत्यु से उस युग के सबसे महान व्यक्तित्व का मिस्र से लोप हो गया, जिसका प्रभाव मिस्र की राजनीति पर भी पड़ा। उसकी मृत्यु के बाद रानी टाई का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया तथा उसकी शक्ति इतनी अधिक बढ़ गई कि एक प्रकार से नारी प्रभुत्व का ही युग प्रारम्भ हो गया। जो कुछ भी हो, अमेनहोटेप-जैसे कलाकारों के निदेशन में जो भवन या मन्दिर बनवाए गए, उनसे उसके राज्यकाल की गरिमा और शान-शौकत का पता चलता है। इस युग में मंदिर बनाने की एक नई शैली का विकास हुआ, जो आज भी अपने परिवर्तित रूप में पायो जाती है। थीब्स नगर इन नए मंदिरों और इमारतों का प्रमुख केंद्र था। करनाक के मंदिर को और अधिक मजबूत तथा सुन्दर वना दिया गया। सुन्दर मंदिरों और इमारतों के कारण थीब्स नगर इस विशाल साम्राज्य की शानदार राजधानी बन गया। शहर के दक्षिणी छोर पर फराओ ने अपना मंदिर वनवाया, जो उस समय का सबसे वड़ा स्मारक माना जाता है। अमेनहोटेप तृतीय के युग में जो मंदिर या स्मारक बनवाए गए, वे मिस्री कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। मिस्री कला इस युग में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। कला के क्षेत्र में इससे अधिक विकास पहले किसी भी युग में नहीं हुआ था। इस युग में वास्तुकला के साथ तक्षण कला का भी विकास हुआ। सुन्दरता और सूक्ष्मता की दृष्टि से इस युग की बनाई गई मूर्तियाँ अत्यंत उत्कृष्ट हैं। इनमें मानवजीवन के विभिन्न पहलुओं तथा मनोदशाओं का सुंदर चित्रण मिलता है। अतः इस युग की कला में कोमलता, सूक्ष्मता एवं विविधता का सुंदर सम्मिश्रण सर्वप्रथम देखने को मिलता है।

अखनाटन १३७५ ई०-पू० से १३५८ ई०-पू० तक

अमेनहोटेप तृतीय का देहांत लगभग १३७५ ई०-पू० में हुआ। उसके बाद उसका लड़का अमेनहोटेप चतुर्थ (Amenhotep IV) गद्दी पर बैठा, जो आगे चलकर अखनाटन (Akhnaton) के नाम से मशहूर हुआ। अटन देवता को मिस्र का सर्वोच्च देवता घोषित कर मिस्री धर्म में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के कारण उसका नाम 'अखनाटन' पड़ा था। अमेनहोटेप तृतीय की मृत्यु के बाद, मिस्र को वाह्य एवं आंतरिक कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। इस कठिन परिस्थिति

का सामना करने के लिए एक शक्तिशाली और व्यावहारिक शासक की आवश्यकता थी। लेकिन मिस्र को एक ऐसा शासक मिला, जो आदर्शवादी था। अखनाटन के ने अपने आदर्शवाद के कारण मिस्र को भयानक खतरों में डाल दिया। जब वह गद्दी पर बैठा, तब उसकी अवस्था बहुत कम थी। ज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में उसने ख्याति प्राप्त कर ली थी, लेकिन राजनीति के क्षेत्र में वह व्यावहारिक नहीं था। वह अपने आदर्शों और स्वप्नों की दुनिया में खोया रहता था, जब कि मिस्र को कठिन परिस्थितियों का सामना करने के लिए एक व्यवहारकुशल शासक की आवश्यकता थी। सच पूछा जाय, तो मिस्र को इस समय एक कुशल सैनिक नेता की आवश्यकता थी जो थुटमोज तृतीय से मिलता-जुलता हो। लेकिन, अखनाटन जो इस समय गद्दी पर आया, वह धार्मिक सुधारों के क्षेत्र में काफी निर्भीक था, परंतु साम्राज्य की दूसरी समस्याओं को समझने में असफल था। दूसरे शब्दों में, अखनाटन केवल सैद्धांतिक समस्याओं को समझता था, लेकिन उसमें व्यावहारिक राजनीतिज्ञता का अभाव था।

वास्तव में अमेनहोटेप चतुर्थ एक कला प्रेमी और विलासी पिता का पुत्र था। उसकी माँ व्यवहारकुशल और चतुर थी। अमेनहोटेप चतुर्थ का बाल्यकाल स्त्रियों के प्रभाव में बीता था। उस पर उसकी माँ टाई का गहरा प्रभाव पड़ा था। युवावस्था में उसकी पत्नी का भी प्रभाव उस पर गहरा पड़ा था। बचपन में उसकी धाय के पति का भी प्रभाव उस पर पड़ा। स्त्रियों के अधिक प्रभाव में आने के कारण उसके व्यक्तित्व में उन अस्वाभाविक गुणों की बहुलता हो गई थी, जिसके कारण उसकी व्यावहारिक बुद्धिमत्ता कुंठित हो गई थी। यों तो वह एक प्रतिभाशाली व्यक्ति तथा मौलिक चिंतक था, लेकिन साम्राज्य की वास्तविक समस्याओं की ओर ध्यान न देकर उसने धार्मिक सुधारों के क्षेत्र में ज्यादा दिलचस्पी दिखलायी। साम्राज्य में शांति और सुव्यवस्था कायम रखने, विद्रोहों को दबाने तथा सीमांत प्रदेश की रक्षा के लिए एक बड़ी सेना की आवश्यकता थी, लेकिन उसने सेना के संगठन में कोई दिलचस्पी न ली। उसने मिस्र के धर्म और दर्शन में मौलिक परिवर्त्तन लाने का प्रयास किया और धीरे-धीरे ऐसे विचारों एवं सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, जिनके कारण उसने मिस्र के शासकों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया। अपने धार्मिक और दार्शनिक विचारों के कारण वह प्राचीन विश्व के इतिहास में 'पहला धार्मिक व्यक्ति' माना जाता है। वास्तव में मानव-इतिहास में वह पहला सिद्धांतवादी शासक था।

अखनाटन के गद्दी पर आने के पहले मिस्र का सर्वप्रधान देवता एमन (Amon) था। एमन के अलावा मिस्र में अनेक देवी-देवताओं की पूजा हुआ करती थी। अखनाटन ने भी गद्दी पर आने के पाँच वर्ष बाद तक मिस्र के पारंपरिक देवताओं को सम्मानित किया। लेकिन अपने राज्य के छठे साल में, जबकि

उसकी अवस्था पन्द्रह वर्ष की थी, उसने खुले आम अपने-आपको विधर्मी घोषित किया और एटन (Aton) देवता को साम्राज्य का सर्वश्रेष्ठ देवता घोषित किया। एटन सूर्य-देवता का एक रूप था और उसकी आराधना से अखनाटन के द्वारा मिस्री धर्म में क्रांति की शुरूआत हुई। इसमें यह ध्यान देने की बात है कि उनके द्वारा संचालित धार्मिक क्रांति पूर्ण रूप से मौलिक नहीं थी। उसके पहले भी उसके माता-पिता एटन देवता की पूजा करते थे, पर साथ ही वे मिस्र के सर्वश्रेष्ठ देवता एमन की भी पूजा करते थे। अखनाटन का पिता अमेनहोटेप तृतीय सहिष्णु विचारों का व्यक्ति था और इसी कारण वह एटन के प्रति अपने हृदय में प्रगाढ़ श्रद्धा रखते हुए भी उसको खुलेआम कह कर एमन देवता के शक्तिशाली पुजारियों को नाखुश नहीं करना चाहता था। लेकिन, उसका लड़का अखनाटन दूसरे विचारों का था, जो अपने धार्मिक सुधारों के जोश में यह नहीं सोच सकता था कि उसके क्रांतिकारी विचारों का मिस्र की जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

अखनाटन ने यह घोषित किया कि मिस्र का सारा धार्मिक संगठन गलत था। एमन देवता की पूजा भी गलत थी। केवल एटन देवता ही वास्तविक देवता था। उसने जनता में यह प्रचार करना शुरू किया कि एटन देवता अपने-आपको सूर्य के चक्र के द्वारा प्रगट करता है, जिसे बराबर देखा जा सकता है। उस समय मिस्र के लोगों में धार्मिक भावना काफी मजबूत थी, लेकिन धार्मिक चिंतन के क्षेत्र में वे पिछड़े हुए थे। संभवतः यही एक कारण था कि वे बहुत-से देवी-देवताओं की पूजा एक साथ किया करते थे। इन देवी-देवताओं में मुख्य थे—एमन, रा, ओसिरिस (Osiris), इसिस (Isis) तथा होरस (Horus) इत्यादि। करीब-करीब सभी जिले, शहर और गाँवों के अपने-अपने देवता होते थे। इन देवताओं को पत्नियाँ और पुत्र भी होते थे। इस प्रकार कुल मिलाकर पूरे मिस्र में लगभग दो हजार से ऊपर देवी-देवता थे। धार्मिक व्यवस्था में समानता नहीं थी। धार्मिक विश्वास विभिन्न प्रकार के थे। इसी कारण अखनाटन ने धार्मिक विश्वासों के क्षेत्र में एकरूपता लाने का प्रयास किया। हजारों देवी-देवताओं के स्थान पर उसने केवल एक देवता 'एटन' की पूजा प्रारंभ की। उसने यह भी आदेश दिया कि उसके संपूर्ण साम्राज्य में, एशिया और अफ्रीका के हिस्सों में भी केवल एटन देवता की पूजा होनी चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि दूसरे देवी-देवताओं के मंदिरों के साथ-साथ एमन देवता के मंदिर भी राजाज्ञा द्वारा बंद कर दिए गए। मंदिरों की दीवारों से इन देवी-देवताओं के नाम मिटा दिए गए। मिस्र की राजधानी थीब्स से हटा कर अखटाटन (Akhetaton) ले जायी गई। यह एक नया शहर था, जिसको अखनाटन ने बसाया। इसे एटन देवता का पवित्र नगर घोषित किया गया। अखटाटन का शाब्दिक अर्थ होता है—'एटन का क्षितिज'। इस शहर को आधुनिक युग में

टेल-एल-अमरना (Tell-El-Amarna) कहते हैं। एटन देवता के प्रति उसका अनुराग इतना था और 'एमन' शब्द से उसे इतनी घृणा थी कि उसने अपना नाम भी बदल दिया। अमेनहोटेप चतुर्थ के बदले उसने अपने-आपको अखनाटन (Akhnaton) कहना शुरू किया। अखनाटन का शाब्दिक अर्थ होता है—'जो एटन को प्रिय हो'। दार्शनिक दृष्टिकोण से अखनाटन का नया धर्म बहुत ऊँची श्रेणी का एकेश्वरवाद था। वह सूर्य के दृश्य-चक्र की पूजा एटन के प्रतीक रूप में करता था। वह ऐसा विश्वास करता था कि एटन देवता सभी प्राणियों पर प्रकाश और गर्मी बिखेरता है तथा सूर्य एटन की उष्णता और रोशनी को पृथ्वी के निवासियों तक पहुँचाने का माध्यम मात्र है। दूसरे शब्दों में सूर्य का दृष्टिगोचर चक्र उस स्वर्गीय देवता की खिड़की मात्र था, जिसके द्वारा एटन देवता अपनी कांति को संसार पर बिखेरता था। इस प्रकार अखनाटन ने एक बहुत ही वैज्ञानिक धार्मिक सिद्धांत का प्रतिपादन करने का विश्व में पहला प्रयत्न किया। इस कथन में लेशमात्र अतिशयोक्ति नहीं है कि धार्मिक पैगंबरों के आने के पहले धर्म और धार्मिक चिंतन के क्षेत्र में उसका प्रयास सबसे ऊँचा था।

यह सच है कि एटन की पूजा मिस्र में अखनाटन के पहले भी होती थी, लेकिन उसने एटन देवता की जो कल्पना की, वह वास्तव में मौलिक थी। उसके पहले भी सूर्य देवता की पूजा होती थी। लेकिन, उसने उसके स्थान पर एक अधिक दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा परिष्कृत पूजा का प्रारम्भ किया। उसके अनुसार एटन देवता सभी प्राणियों का दयालु पिता था, जिसकी कृपादृष्टि पशु-पक्षियों पर भी थी। एटन देवता की पूजा का समय सूर्योदय और सूर्यास्त का समय निश्चित किया गया, क्योंकि इन दोनों समयों में सूर्य की किरणें अत्यंत कोमल और हितकारी होती हैं। सूर्योदय और सूर्यास्त के समय उसकी पूजा कराने का उद्देश्य सूर्य देवता के कोमल और दयालु पक्ष को अधिक महत्त्व देना था, जिसमें सूर्य को भयंकर देवता न मान लिया जाए। वास्तव में उसके पहले सूर्य को आतंक और भय की दृष्टि से देखा जाता था। उसने धार्मिक पूजा और कर्मकांड में सूर्य के कोमल पक्ष को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया। उसके धर्म की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमें धार्मिक पूजा की रीति सरल और पुरोहितों की आवश्यकता बहुत कम थी। पूजा की विधि साधारण थी। कंद, मूल एवं फल इत्यादि अर्पण करने मात्र तथा कुछ मंत्रों और प्रार्थनाओं के उच्चारण से ही पूजा संपन्न हो जाती थी। उसने इस बात की घोषणा की कि एटन देवता धार्मिक विधि-विधानों से उतना प्रसन्न नहीं होता, जितना कि सच्ची भक्ति तथा सभी जीवों के प्रति दया प्रदर्शित करने से होता है। उसने यह भी बताया कि एटन सभी प्राणियों का माता-पिता है। उसने सत्य पर भी अत्यधिक

बल दिया तथा अपने दैनिक जीवन में सत्य पर चलने की कोशिश की। उसने एटन देवता को निराकार घोषित किया और उसे दैवी गुणों का समूह बतलाया। उसने यह भी बतलाया कि यह देवता अपने निराकार रूप में दैवी तत्त्व के रूप में समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त है। वह मूर्तिपूजा का कट्टर विरोधी था और उसने यह घोषित किया कि एटन देवता की पूजा किसी मूर्ति के माध्यम से नहीं होनी चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि उसके धार्मिक विचार धार्मिक चिंतन के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं; क्योंकि उसके विचार उच्च, उदार और वैज्ञानिक थे। शायद इस समय तक दुनिया के किसी विचारक ने यह नहीं सोचा था कि सूर्य की किरणें जीवन, सौंदर्य और शक्ति का अद्भुत स्रोत हैं। इसीलिए प्रोफेसर पेट्री ने कहा है कि अखनाटन के विचार उसके मरने के तीन हजार वर्ष बाद तक अपनी वैज्ञानिक यथार्थता के कारण अक्षुण्ण रहे। इस प्रकार एटन देवता मिस्री साम्राज्य का राजकीय देवता बन गया और साम्राज्य का सारा शासनतंत्र इस देवता की पूजा के प्रचार में लगा दिया गया। इस साम्राज्य के सभी कर्मचारी इस देवता के पुजारी बन गए। इस प्रकार अखनाटन के राज्य-काल में उसका व्यक्तिगत धर्म सारी प्रजा का धर्म बन गया। प्रजा को इस धर्म को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी मानना पड़ा।

अखनाटन से पूर्वकाल के सर्वश्रेष्ठ देवता एमन को सर्वोच्च स्थान से हटा कर एटन को प्रतिष्ठित किया गया। एमन देवता के मंदिरों से संबंधित सारी संपत्ति को एटन के मंदिरों को दे दिया गया। एमन के पुजारियों को यह हुक्म दिया गया कि या तो वे एटन को अपना देवता मान लें अथवा साम्राज्य छोड़कर चले जायँ। इस प्रकार के कामों से साम्राज्य में धार्मिक असंतोष फैलने लगा। एमन देवता के शक्तिशाली पुजारी नए धर्म एवं नए शासन से ईर्ष्या करने लगे और अखनाटन के नए धर्म के प्रतिरोध का प्रारंभ हो गया। इस प्रतिक्रिया में एमन के शक्तिशाली पुजारियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। दरअसल एमन के पुजारी मिस्री समाज के धनाढ्य एवं शक्तिशाली वर्ग के थे और तत्कालीन राजनीति में वे अपना काफी प्रभाव रखते थे। लेकिन, अखनाटन अपने धार्मिक विचारों से इतना उन्मत्त था कि वह विरोध की परवाह न करते हुए अपने धर्म का प्रचार कर रहा था।

अखनाटन द्वारा प्रतिपादित नए धर्म की झलक हमें एटन देवता के प्रति रचित प्रार्थनाओं में मिलती है। इन प्रार्थनाओं की रचना राजा की व्यक्तिगत पूजा के लिए अथवा मंदिरों में एटन की पूजा के लिए की गई। इन सुन्दर प्रार्थनाओं की रचना अखनाटन ने स्वयं की थी। इन रचनाओं को उसकी कब्र की दीवार पर अंकित कर दिया गया था। उसने जितने भी स्मारक बनवाए, इन सभी में उसकी धार्मिक प्रार्थनाएँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं, साथ-ही-साथ इन प्रार्थनाओं में उसके सिद्धांतों की झलक मिलती है। कुछ प्रार्थनाओं के अंश नीचे दिए जाते हैं—

"हे एटन देवता ! जब तुम पश्चिमी क्षितिज में डूब जाते हो, तब सारा विश्व, मृतवत् अंधकार में विलीन हो जाता है। तुम ही अंधकार के निर्माता हो, जो रात्रि के रूप में प्रगट होता है और इस रात्रिकाल में जंगली जानवर बाहर निकलते हैं। इसका कारण यह है कि विश्व का निर्माता ही जब क्षितिज में आराम करने चला जाता है, तब सारा संसार भी शांत हो जाता है।"

"हे एटन देवता ! तुम्हीं ने स्त्रियों से मनुष्य को पैदा किया है। तुम ही बच्चों की माँ के शरीर में जीवन-दान करते हो। तुम ही माँ के गर्भ में बच्चे को सांत्वना देते हो। इस प्रकार तुम गर्भ में भी धाय का काम करते हो।"

इसमें संदेह नहीं कि अखनाटन की प्रार्थनाएँ उच्च धार्मिक चिंतन और विश्व-बंधुत्व का आदर्श उपस्थित करती हैं। इन प्रार्थनाओं के द्वारा मिस्र के पारंपरिक धर्म के अस्थि-पंजर में नई जान आ गई। जो कोई भी इन प्रार्थनाओं को पहली बार पढ़ता है, वह इस युवक शासक की उच्च कल्पना और उदारता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। वह विश्वास करता था कि एटन देवता सभी प्राणियों का माता-पिता है तथा वह सभी प्राणियों पर जाति और देश का ध्यान दिए बिना पितृवत् प्रेम प्रदर्शित करता है। इस प्रकार, वह विश्वबन्धुत्व के सिद्धांत का प्रथम प्रचारक था। इस दृष्टिकोण से अखनाटन को मानव-इतिहास का पहला पैगंबर माना जा सकता है। उसका धार्मिक आंदोलन, वास्तव में प्रकृति की शक्तियों से मानव को परिचित कराना था। नैसर्गिक दृश्यों में निहित सुन्दरता और उदारता ही उसकी धार्मिक भावना का स्रोत थी। उसके उपदेशों में सत्य और बंधुत्व के सिद्धांत का बार-बार उल्लेख मिलता है। उसका व्यक्तिगत जीवन भी आदर्श था। उसके जीवन की कोई भी बात गुप्त न थी। इस प्रकार उसने अपने आदर्शों को अपने जीवन में कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया तथा अपने समस्त जीवन को अपने नए धर्म के प्रचार में लगा दिया। उसने राज्य की अन्य समस्याओं की ओर विशिष्ट ध्यान नहीं दिया। धीरे-धीरे मिस्र देश की कठिनाइयाँ उसके शत्रुओं के कारण बढ़ती गईं। खास कर एशिया महादेश में हिट्टाइट (Hittite) के उदय से ये समस्याएँ बढ़ती गईं।

अखनाटन युद्ध और विजय से घृणा करता था, क्योंकि वह यह विश्वास करता था कि एटन देवता रक्तपात नहीं पसंद करता। इसी कारण उसने अपने शत्रुओं की आक्रामक नीतियों के बावजूद युद्ध नहीं किया। लेकिन, यह उसकी बहुत बड़ी भूल थी। इतने बड़े साम्राज्य का शासक होते हुए उसका इतनी शांतिपूर्ण नीति को अपनाना साम्राज्य की रक्षा के लिए अनुचित था। उसकी शांतिपूर्ण नीति का यह असर हुआ कि आगे चल कर उसके राज्यकाल में व्यापक रूप से अरा-

जकता फैलने लगी तथा जिस विशाल साम्राज्य की उसके पूर्वजों ने स्थापना की थी, वह टुकड़ों में विभक्त होना प्रारंभ हुआ। इसलिए उसका सारा जीवन और सभी धार्मिक सिद्धांत, शासक के रूप में उसकी असफलता के कारण सिद्ध हुए। साम्राज्य का एशियाई भाग तो खतरे में पड़ ही गया, साथ-साथ मिस्र में भी उसका आधिपत्य खतरे में था। इन राजनैतिक कठिनाइयों के बावजूद वह अपने धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार में व्यस्त रहा। वह पुरानी रूढ़ियों और परम्पराओं से लड़ने के लिए कटिबद्ध था तथा उसके जीवन से यह सिद्ध होता है कि इस दिशा में उसका निश्चय दृढ़ था।

उसे एक साथ ही भीतरी और बाहरी शत्रुओं का सामना करना पड़ा। मिस्र के अंदर उसके सबसे बड़े विरोधी एमन देवता के शक्तिशाली पुजारी थे। ऐसा लगता है कि उसके राज्य के अंतिम कुछ वर्षों में थीब्स नगर ने खुलेआम विद्रोह कर दिया था। थीब्स नगर के विद्रोह का नेतृत्व एमन देवता के शक्तिशाली पुजारी कर रहे थे। इस विद्रोह के कारण दक्षिणी मिस्र में पूर्ण अराजकता फैल गई। दक्षिणी मिस्र की तुलना में उत्तरी मिस्र में शांति बनी रही; क्योंकि उत्तरी मिस्र का गवर्नर अधिक योग्य शासक था। उत्तरी मिस्र का गवर्नर हरमहाब (Harmhab) स्वयं एटन देव का पुजारी था। अपने राज्य के अंतिम दिनों में अखनाटन निराश और हतोत्साह हो गया; क्योंकि अपने प्रयत्नों के बावजूद वह एमन देवता के पुजारियों को दबा न सका तथा एमन देवता की पूजा पूर्ण रूप से समाप्त न कर सका। इसलिए अपने राज्य के अंतिम दिनों में उसने शासनकार्य को बिलकुल भूल कर अपने परिवार के लोगों के साथ अपना समय एटन देवता की पूजा में बिताया।

अखनाटन की सबसे बड़ी गलती यह थी कि वह अपने धार्मिक सुधारों को बहुत शीघ्र और बहुत दूर तक ले जाना चाहता था। धार्मिक चिंतन के क्षेत्र में वह अपने समय से बहुत आगे था और उसकी प्रजा उसके सिद्धांतों को समझने में असमर्थ थी। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने जिस नए धर्म की स्थापना की, वह बहुत दिनों तक टिक नहीं सका और उसकी मृत्यु के कुछ ही दिनों के बाद लुप्त हो गया।

उसके मरने के बाद सदियों पुराना धर्म पुनः प्रचलित हुआ। अखनाटन द्वारा स्थापित नया शहर अखटाटन वीरान हो गया और थीब्स नगर की महत्ता पहले की भाँति प्रतिष्ठित की गई। एमन देवता की पूजा को पुरोहितों ने फिर से समाज में विशिष्ट स्थान प्रदान किया। एमन देवता सर्वश्रेष्ठ देवता बन गया तथा थीब्स नगर को राजधानी घोषित किया गया। अखनाटन को आने वाली पीढ़ियों ने एक दुष्ट तथा विधर्मी शासक मान लिया। उसकी धार्मिक क्रांति के कारण मिस्र देश में अरा-

जकता और अशांति बनी रही। मिस्र की जनता अखनाटन के धार्मिक विचारों को मानने में असमर्थ रही और एटन देवता की पूजा थोड़े लोगों तक सीमित रही। अखनाटन के समय में भी मिस्र की जनता, हृदय से एटन की पूजा नहीं करती थी। एटन देवता साम्राज्य के संपूर्ण व्यक्तियों द्वारा श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। अतः वह जनसाधारण का प्रिय देवता, स्वयं सम्राट के जीवनकाल में भी नहीं था, बल्कि एटन की पूजा केवल अखनाटन के मित्रों और दरबारियों तक ही सीमित थी। इसलिए, वास्तव में मिस्र की जनता और एमन देवता के शक्तिशाली पुजारी—दोनों ही अखनाटन की धार्मिक क्रांति से असंतुष्ट थे और इसीलिए इन सबों ने मिल कर अखनाटन-जैसे विधर्मी शासक को हटाने का प्रयत्न किया। अखनाटन को पुत्र नहीं था। बुढ़ापे के कारण वह शासन-कार्य में दिलचस्पी नहीं ले सकता था। इसलिए उसने अपने दामाद साक्र (Sakere) को अपने साथ सह-शासक के रूप में नियुक्त किया। उसकी मृत्यु १३५८ ई०-पू० के लगभग हुई।

विश्व के इतिहास में अखनाटन एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसमें संदेह नहीं कि अपने धार्मिक सिद्धांतों और आदर्शों के कारण उसको बहुत ही साहसी विचारक और शासक माना जा सकता है। भयानक परिस्थितियों और कठिनाइयों के बावजूद वह अपने सिद्धांतों पर डटा रहा। परंपरागत धर्म को तिलांजलि देकर उसने जिस नए धर्म का प्रतिपादन किया, वह सैद्धांतिक दृष्टि से आदर्श धर्म था। इस क्रांतिकारी धर्म के कारण ही वह मिस्र के अन्य शासकों से ऊँचा स्थान प्राप्त कर सका। विश्व का वह पहला धर्म-प्रचारक था, जिसने मानव जाति की उस अवस्था में इतने ऊँचे धार्मिक आदर्शों की कल्पना की, जबकि विश्व के अधिकांश क्षेत्र के निवासी बर्बर तथा असभ्य थे। उसकी असफलता का कारण यह था कि वह अपने समय से बहुत आगे था। यदि उसका जन्म कुछ शताब्दियों बाद हुआ होता, तो शायद उसका स्थान दुनिया के बड़े पैगंबरों में अग्रिम रहता। इसी कारण उसका जीवन चारों ओर से निराशाओं और असफलताओं से भरा रहा। फिर भी, अपने आदर्शों के कारण वह संसार का पहला आदर्शवादी शासक माना जाता है। कुछ इतिहासकारों ने उसे अत्याचारी और धार्मिक दृष्टि से असहिष्णु भी बतलाया है। लेकिन, ऐसा दृष्टिकोण तर्क-संगत नहीं मालूम होता। वास्तव में उस पर और अधिक शोध एवं अध्ययन की आवश्यकता है। आधुनिक युग के इस आदर्शवादी शासक के बारे में अधिक जानकारी की आवश्यकता है; क्योंकि वह एक ऐसा शासक था, जिसने शांति और विश्वबंधुत्व के सिद्धांत का विश्व में पहले-पहले प्रचार किया और असफल इसलिए रहा कि उसकी प्रजा उतनी ऊँचाई तक नहीं उठ सकी।

अखनाटन युग के बाद का इतिहास

अखनाटन के बाद उसका दामाद साक्रेन गद्दी पर बैठा। वह इस पद के सर्वथा अयोग्य व्यक्ति था, इसलिए कुछ ही दिनों के बाद उसे गद्दी से हटना पड़ा और

अखनाटन का दूसरा दामाद टुटेनखाटन (Tutenkhaton) गद्दी पर बैठा। इस समय तक एमन देवता के पुरोहितों की शक्ति काफी बढ़ चुकी थी, इसलिए कुछ ही दिनों तक टुटेनखाटन को अखटाटन शहर से शासन करने के पश्चात् उसे मजबूर होकर पुनः अपनी राजधानी थीब्स बदलनी पड़ी। थीब्स जाने के वाद भी इस शासक ने एटन देवता की पूजा जारी रखी; क्योंकि वह हृदय से एटन का अनन्य भक्त था। लेकिन, एमन देवता के पुरोहितों को खुश करने के लिए इसे एमन की भी पूजा करनी पड़ती थी। राजधानी बदलने के कारण अखटाटन शहर बिल्कुल बीरान-सा हो गया। कहना न होगा कि कुछ ही दिनों के अंदर इस शहर में एक भी व्यक्ति न रहा, जो अखनाटन द्वारा स्थापित इस शहर की शान-शौकत की कहानी सुना सके।

शीघ्र ही अन्य शहर भी, जो एटन देवता की पूजा के केंद्र थे, धीरे-धीरे वीरान हो गए। टुटेनखाटन को मजबूर होकर पुरोहितों के दवाव के कारण अपना नाम भी बदलना पड़ा। टुटेनखाटन के स्थान पर वह अपने को 'टुटेनखामन' कहने लगा।

टुटेनखामन का साम्राज्य अभी भी काफी वड़ा था। यह नील डेल्टा से चौथे जलप्रपात तक फैला हुआ था। नूबिया का प्रांत पूर्णरूपेण मिस्री संस्कृति का अंग हो गया था। टुटेनखामन को सीरिया से भी कर मिलता था। फिलस्तीन पर भी उसका अधिकार पूर्ववत् था।

टुटेनखामन का शासन मिस्र में बहुत कम समय तक रहा। उसके बाद आई (Eye) नाम का शासक गद्दी पर बैठा। आई ने अखनाटन की धाय टी (Tiy) से शादी की। आई अखनाटन के सिद्धांतों से वहुत हद तक अनुप्राणित था। इसलिए उसने कुछ दिनों तक एमन देवता के पुजारियों का विरोध किया और थीब्स में एटन देवता के मंदिर को बनवाया। लेकिन, कुछ ही दिनों के बाद इस शासक का देहांत हो गया तथा साम्राज्य में पुनः अराजकता फैलती गई। थीब्स शहर अराजकता और अव्यवस्था का केंद्र बन गया। लुटेरे राजाओं की कब्रों पर आक्रमण करने लगे और उनके बहुमूल्य पदार्थों को लूटने लगे। इस प्रकार थीब्स के राजवंश की प्रतिष्ठा जो ढाई सौ वर्षों से कायम थी, शीघ्रातिशीघ्र विनाश की ओर बढ़ चली। थीब्स का राजवंश, जिसने दो सौ तीस वर्ष पहले हिक्सस आक्रमणकारियों को मार भगाया था और मिस्र के सबसे वड़े साम्राज्य की स्थापना की थी, उसका पतन हो गया। इस प्रकार १३५० ई०-पू० में मिस्र के अठारहवें राज्य का पूर्णरूपेण विनाश हो गया और इसके बाद मानिथो के अनुसार हरमहाव नाम का शासक गद्दी पर बैठा। हरमहाव, जो अठारहवें राजवंश के अंत में गद्दी पर बैठा, राजकुल का व्यक्ति नहीं था। वह अठारहवें राजवंश से किसी प्रकार संबद्ध नहीं था। उसके समय में एमन देवता की पूजा फिर से प्रारंभ हुई। पुरानी व्यवस्थाओं का पुनः उद्धार किया गया, जिसके फलस्वरूप एक नए युग की शुरुआत हुई।

१९वें राजवंश का उदय

हरमहाब को बहुत से इतिहासकार अठारहवें राजवंश का अंतिम शासक मानते हैं। मानिथो और हॉल के यही विचार हैं। लेकिन, प्रो० ब्रेस्टेड का विचार है कि वह उन्नीसवें राजवंश का पहला शासक था, न कि अठारहवें राजवंश का अंतिम शासक। प्रो० ब्रेस्टेड का कहना है कि हरमहाब किसी भी रूप में अठारहवें राजवंश से संबद्ध नहीं था। इसलिए उसे उन्नीसवें राजवंश का संस्थापक मानना ही अधिक उपयुक्त एवं न्यायसंगत है।

१३५० ई०-पू० तक हरमहाव राजमहल के प्रशासक (Mayor) के रूप में काफी शक्ति हासिल कर चुका था। वह शीघ्र ही फराओ बन गया। शक्ति हासिल करने में उसे पुरोहित वर्ग और सेना की सहायता मिली थी। इस नए फराओ ने अखनाटन की पत्नी की बहन से शादी करके राजगद्दी पर अपना कानूनी हक भी स्थापित कर लिया। इसकी पत्नी एमन देवता की पुजारिन तथा एक राजकुमारी थी।

हरमहाब ने मिस्र में सुव्यवस्थित शासन को प्रारंभ किया। एमन देवता की पूजा पूर्ण रूप से प्रारंभ हो गई तथा एमन देवता के जो मंदिर राजाज्ञा द्वारा बंद कर दिए गए थे, वे पुनः आराधना के लिए खोल दिए गए। उसने शासन-व्यवस्था को पुनर्गठित करने तथा शांति एवं सुव्यवस्था कायम करने में काफी रुचि दिखायी। शासनतंत्र को फिर से गठित किया गया। उसने भ्रष्ट और अयोग्य कर्मचारियों को दंड देने के लिए हुक्म दिया। शासन के क्षेत्र से भ्रष्टाचार को खतम करने के लिए सभी प्रयत्न किये गये। न्याय-व्यवस्था का भी पुनर्गठन किया गया तथा उसे अधिक सुव्यवस्थित बनाया गया।

हरमहाब के बाद रैमसेस प्रथम (Ramses I) गद्दी पर बैठा। रैमसेस प्रथम ने १३१५ ई०-पू० से १३१३ ई०-पू० तक शासन किया। उसके बाद उसका लड़का सेटी प्रथम (Seti I) गद्दी पर बैठा। उसने १३१३ ई०-पू० से १२९२ ई०-पू० तक शासन किया। सेटी प्रथम एक बहुत बड़ा विजेता था। उसने शांति के समय कला को भी प्रोत्साहन दिया और कई मंदिरों का निर्माण कराया। उसके बाद उसका लड़का रैमसेस द्वितीय (Ramses II) गद्दी पर बैठा। इसने १२९२ ई०-पू० से १२२५ ई०-पू० तक शासन किया। इसका शासनकाल एक बहुत ही लंबा शासनकाल था। वह प्रारंभ से ही बड़ा ही उत्साही शासक था। शुरू से ही उसे आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस कठिनाई का सामना करने के लिए उसने खानों से सोना निकलवाने के प्रयत्न किया। यह बड़ा ही महत्त्वकांक्षी शासक था। इसने साम्राज्य के खोए हुए हिस्सों को फिर से जीतने की योजना बनाया। वह आक्रामक

नीति में विश्वास करता था और चाहता था कि थुटमोज तृतीय के साम्राज्य के सभी भाग फिर से विजित कर लिए जायँ। इसलिए उसे सीरिया में बहुत कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा; क्योंकि वहाँ हिट्टाइट लोगों का शासन स्थापित हो गया था। हिट्टाइटों का राजा मेटला (Metella) बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी था, जिसने अपनी शक्ति का प्रसार हर दिशा में कर लिया था। इसलिए रैमसेस द्वितीय को जो प्रयत्न करने पड़े, वे थुटमोज तृतीय की योजनाओं से मिलते-जुलते हैं।

१२८८ ई०-पू० में वर्षा ऋतु के वाद रैमसेस द्वितीय ने सीरिया-विजय के लिए अभियान किया। एक वहुत वड़ी सेना के साथ वह कादेश के नगर राज्य में जा पहुँचा, जहाँ उसे हिट्टाइट राजा का मुकावला करना था। इस लड़ाई में उसे निर्णयात्मक विजय मिली; क्योंकि दोनों ही दल अपने को विजयी वताते हैं। पर, साथ ही इसमें संदेह नहीं कि हिट्टाइट राजा को इसमें काफी नुकसान उठाना पड़ा। रैमसेस द्वितीय ने हिट्टाइटों के खिलाफ संघर्ष जारी रखा। १२७२ ई०-पू० में हिट्टाइट लोगों का एक संदेशवाहक संधि का प्रस्ताव लेकर आया। रैमसेस द्वितीय ने संधि कर ली। यह संधि केवल शांति के लिए ही संधि नहीं थी, वल्कि यह मैत्रीपूर्ण संधि थी। इस संधि की दस्तावेज प्राचीन विश्व के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है, जो तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विषय में पूर्ण जानकारी प्रदान करती है। इस संधि-पत्न में अठारह अनुच्छेद हैं। हालांकि उस जमाने में इस तरह की अनेक संधियाँ होती थीं, लेकिन इस संधि का अपना एक अलग महत्त्व है। बहुत अंशों में यह संधि आधुनिक युग की अंतर्राष्ट्रीय संधियों से मिलती-जुलती है। अत, राजनयिक दस्तावेज के दृष्टिकोण से यह प्राचीन विश्व के इतिहास की एक बहुमूल्य दस्तावेज है। इस संधि में राजनैतिक भगोड़ों और प्रवासियों के विषय में भी शर्तें हैं। इसी कारण इस संधि का अधिक महत्त्व है। इस संधि को उस युग की एक महत्त्वपूर्ण घटना माना गया, जिसके फलस्वरूप दोनों ही देशों के आपसी संबंध सुधर गए। हिट्टाइटों के राजा ने मिस्र आकर फराओ से भेंट की और उसकी लड़की से शादी की।

रैमसेस द्वितीय को वहुत से आधुनिक इतिहासकार वहुत वड़ा सैनिक विजेता मानते हैं; क्योंकि वह अपने राज्यकाल में सोलह वर्षों तक विजय-अभियान में व्यस्त रहा। उसके राज्य के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि यद्यपि उसे असाधारण साहस प्राप्त था, तथापि वह चतुर सेनापति नहीं था। उसके राज्यकाल में थीब्स नगर राज्य का केवल धार्मिक केंद्र रहा; क्योंकि अपने विजय-अभियानों के कारण इसने अपनी राजधानी उत्तरी मिस्र में वना ली थी।

वह एक प्रसिद्ध निर्माता भी था। उसने बहुत से मंदिर, इमारतें और सड़कें बनवायीं। उसके राज्यकाल में विदेशी प्रभाव भी मिस्र पर पड़ा। मिस्री धर्म, समाज,

साहित्य और कला विदेशी प्रभावों से आक्रांत हुए। मिस्र में बहुत बड़ी संख्या में गुलाम लाए गए। उस एमय बहुत से विदेशी व्यापारी भी मिस्र में थे। इन विदेशियों ने अपने देश की संस्कृति और कला से मिस्री जीवन को प्रभावित किया, जिससे मिस्री संस्कृति अधिक सुंदर और समृद्ध बन गई। कला की समुचित उन्नति हुई, हालाँकि कला का विकास इस युग से अधिक पिछले युगों में हुआ था। रैमसेस द्वितीय के राज्यकाल में ऐसे-ऐसे कलाकार और वास्तुकार थे, जिन्होंने मूर्त्तियों एवं पत्थर के अन्य उपकरणों द्वारा अपनी कला का प्रदर्शन किया। इस युग में जिस काव्य और साहित्य की रचना हुई, वह अधिक सजीव और यथार्थवादी था। इस युग की वीर रस की कविताएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। इस काल में जो कहानियाँ लिखी गईं, वे बहुत ही सजीव और प्राकृतिक हैं। इन कहानियों में धनी वर्ग का जीवन चित्रित है। इस समय धार्मिक कविताएँ भी काफी संख्या में लिखी गईं। इनमें से कुछ धार्मिक कविताएँ साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि की प्रतीत होती हैं। इन कविताओं से यह पता चलता है कि उस समय की राजनीति में धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। शासन और राजनीति दोनों ही धर्म पर आधारित थे। इस युग में एमन के शक्तिशाली पुरोहितों की संपत्ति और प्रतिष्ठा में दिनोंदिन वृद्धि होती गई। थीब्स में स्थित एमन देवता का सबसे बड़ा पुरोहित मिस्र के सारे पुरोहितों का नेता था और तत्कालीन राजनीति में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। इस प्रकार हम यह पाते हैं कि रैमसेस द्वितीय के शासनकाल में एमन के शक्तिशाली पुरोहितों का प्रभाव समाज एवं राजनीति में व्यापक रूप से प्रारम्भ हुआ, जिसके कारण डेढ़ सौ साल बाद फराओ को ही स्वयं एमन का प्रधान पुरोहित बनना पड़ा। अपने जीवन के अंतिम दिनों में रैमसेस द्वितीय को अपना नाम और यश स्थापित करने का बहुत शौक हो गया। उसको करीब सौ से अधिक लड़के थे तथा करीब पचास लड़कियाँ थीं। उसे इतने बड़े परिवार का पिता होने का गर्व था और वह अपने पारिवारिक जीवन पर नाज करता था। उसने अपने युग के चित्रकारों और वास्तुकारों को अपने पारिवारिक जीवन के दृश्य चित्रित करने का आदेश दिया।

इस प्रकार तड़क-भड़क और शान-शौकत में वह अमेनहोटेप तृतीय से किसी मानी में कम नहीं था। वह महान मिस्री शासकों की परंपरा में अंतिम शासक था। शायद ही कोई फराओ उसके पहले या बाद अपने युग पर अपने व्यक्तित्व की ऐसी गहरी छाप छोड़ सका। उसकी महानता एवं प्रतिष्ठा, इस बात से भी जानी जा सकती है कि उसके मरणोपरांत मिस्र के अन्य शासक अपने-आपको रैमसेस तृतीय और रैमसेस चतुर्थ आदि के नाम से सम्बोधित करने में गौरव का अनुभव प्राप्त करते थे। निस्संदेह, यह रैमसेस द्वितीय की महानता का परिचायक है। इस महान

मिस्री शासक का देहांत १२२५ ई०-पू० में सड़सठ वर्षों के लंबे तथा गौरवशाली शासन के पश्चात् हुआ।

रैमसेस द्वितीय के बाद के युग का इतिहास

रैमसेस द्वितीय के बाद के युग में मिस्र अधिकतर रक्षात्मक नीति पर चलता रहा। दरअसल उसके शासन के अंतिम दिनों में ही मिस्री शासन में आक्रमण और प्रसार की नीति की कमी होने लगी थी। दूसरे शब्दों में आंतरिक दृष्टि से मिस्र कमजोर होने के साथ-साथ, बाहरी खतरों से घिरता जा रहा था; क्योंकि प्रसार और आक्रमण की नीति; जो थुटमोज तृतीय के जमाने से चली आ रही थी, उसका अंत हो गया। रैमसेस द्वितीय के बाद करीब छह सौ सालों तक मिस्र के किसी भी राजा ने अपने राज्य की सीमा बढ़ाने के लिए कोई भी विजय-अभियान नहीं किया। रैमसेस द्वितीय की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों को अपनी रक्षा के प्रयत्नों में ही अधिकतर व्यस्त रहना पड़ा। उसके बाद उसका तेरहवाँ लड़का गद्दी पर बैठा, जिसने १२२४ ई०-पू० से १२१३ ई०-पू० तक शासन किया। यह फराओ अधिक उम्र का व्यक्ति था, इसलिए इसे राज्य की समस्याओं को सुलझाने की शक्ति कम थी। फिर भी वह अपने शासनकाल में हुए कई एशियाई विद्रोहों को दवाने में सफल रहा। राज्य के पश्चिमी हिस्सों में भी जो उपद्रव हुए, उनको भी उसने सफलतापूर्वक दबाया तथा शांति और सुव्यवस्था स्थापित की। उसकी मृत्यु १२१३ ई०-पू० में हुई। इसके बाद एक अत्यंत ही कमजोर शासक मिस्र की गद्दी पर बैठा, जिसके विषय में पूर्ण जानकारी उपलब्ध नहीं है।

रैमसेस तृतीय

११९८ ई०-पू० में रैमसेस तृतीय (Ramses III) नाम का एक प्रतापी राजा मिस्र की गद्दी पर बैठा। मानिथो, रैमसेस तृतीय के गद्दी पर वैठने से एक नये राजवंश की शुरुआत मानता है। इस शासक के शासनकाल से मिस्र के इतिहास में एक नये राजवंश का उदय होता है, जिसे २०वें राजवंश के नाम से पुकारा जाता है। रैमसेस तृतीय के पितृकुल के संवंध में कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, जिससे ऐसा पता चलता है कि वह सेटी प्रथम तथा रैमसेस द्वितीय के वंश का ही था।

रैमसेस तृतीय ने जो पहला कदम उठाया, वह सेना का संगठन था। उसने तनख्वाह और भाड़े के सैनिकों की एक वहुत बड़ी स्थायी सेना का संगठन किया। इसके बाद उसने बाहरी खतरों की ओर ध्यान दिया। उसके राज्य के उत्तरी हिस्सों में कुछ लड़ाकू जातियाँ रहती थीं, जो दक्षिणी भागों में आकर अक्सर उत्पात मचाया करती थीं। ये जातियाँ, भूमध्यसागर के दक्षिणी तटों पर बसी थीं। इन जातियों में हिब्रू (Hebrew) जाति बहुत ही लड़ाकू थी। हिब्रू जाति मिस्री जाति से भिन्न

थी। कुछ दिनों के बाद इन लोगों ने नील घाटी के समृद्ध और उपजाऊ इलाके में लूटपाट मचाना शुरू किया। अंत में रैमसेस तृतीय को इनके उपद्रवों को शांत करने का निश्चय करना पड़ा। फलतः उनके जहाज, जिनके द्वारा वे आसानी से मिस्री प्रदेशों पर आया-जाया करते थे, नष्ट कर दिए गए और उनकी सेना को काफी नुकसान के साथ भगा दिया गया। बहुत से आक्रमणकारी मार डाले गए तथा वहुतों को बंदी वना लिया गया। फराओ रैमसेस तृतीय को इन उपद्रवियों को शांत करने का बहुत गर्व था। उसने लीबिया के लोगों के आक्रमण से मिस्र की रक्षा करने के लिए पश्चिमी सीमा पर एक नगर बसाया, जिसका नामकरण उसने अपने नाम पर किया। उसने सीरिया के साथ भी अपनी सीमा को सुरक्षित करने के लिए प्रयत्न किया। भूमध्यसागर के प्रदेशों में अपने देश की रक्षा के लिए उसने एक शक्तिशाली जहाजी बेड़े का निर्माण किया। अपनी साहसपूर्ण नीति के द्वारा उसने एशिया में फैले हुए मिस्री साम्राज्य की रक्षा की एवं उसे नष्ट होने से बचाया। रैमसेस तृतीय ने अपने विजित प्रदेशों में उत्तरी सीरिया के सभी प्रमुख नगरों का उल्लेख किया है, जो किसी जमाने में मिस्री साम्राज्य के अंग थे। लेकिन, उसकी विजय की सूची कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम होती है। ऐसा लगता है कि वह अपने-आपको रैमसेस द्वितीय की तरह एक महान विजेता सिद्ध करना चाहता था।

रैमसेस तृतीय ने एशियाई प्रदेशों को फिर से संगठित किया तथा सीरिया और पैलेस्टाइन में नई सीमाओं को निश्चित किया। उसने सीरिया में एमन देवता का एक मंदिर बनवाया और सीरिया तथा मिस्र में यातायात की सुविधा में सुधार किया। सीरिया में मिस्री शासन और व्यापार के प्रभाव इतने बढ़ गए कि वहाँ अब लिखने के काम में मिट्टी की तख्तियों के स्थान पर पेपिरस (Papyrus) का प्रयोग होने लगा। पेपिरस के प्रयोग से सीरिया के लोगों को अपनी ऐतिहासिक घटनाओं को क्रमबद्ध करने में सहायता मिली। पेपिरस के साथ-साथ मिस्र की वर्णमाला और लिपि का भी प्रचार फीनिशिया में हुआ। इस प्रकार उसके शासनकाल में मिस्री लिपि यूनान तक पहुँच गई, जिसके फलस्वरूप कालांतर में इसका प्रचार यूरोप में भी हुआ।

एशियाई प्रदेशों पर इस युग में मिस्र का शासन एक प्रकार का निरंकुश शासन था। शासन का मुख्य कार्य कर वसूलना तथा शांति और सुव्यवस्था कायम रखना था। रैमसेस तृतीय ने विदेशों से व्यापार और वाणिज्य बढ़ाने में काफी दिलचस्पी दिखलायी। मिस्र के प्रमुख देवताओं के मंदिरों को व्यापार के उद्देश्य से भूमध्यसागर तथा लाल सागर में अपने जहाजी बेड़े थे, जो व्यापार किया करते थे। इस व्यापार के कारण धीरे-धीरे इन मंदिरों की संपत्ति भी बढ़ने लगी। रैमसेस तृतीय के काल में मिस्र स्थित तांबे की खानों से ताँबा निकालने का काम भी लिया गया। इन

कारणों से देश की संपत्ति में काफी वृद्धि हुई। इस बढ़ी हुई संपत्ति का उपयोग उसने निर्माण-कार्य तथा अपनी राजधानी को सुंदर बनाने में किया।

अपने राज्य के हर भाग में और खास कर अपनी राजधानी में फराओ रैमसेस तृतीय ने यात्रियों की सुविधा के लिए सड़कों के दोनों ओर छायादार वृक्षों को लगवाया। उसने नए मंदिर बनवाए और पुराने मंदिरों की मरम्मत करवायी। थीब्स नगर के पश्चिमी मैदान में उसने एमन देवता का एक सुंदर एवं भव्य मंदिर बनवाया। इस मंदिर के आगे एक झील बनवायी गई तथा एक बगीचा भी लगवाया गया। यह मंदिर वास्तव में फराओ रैमसेस तृतीय के निर्माण के कार्य और उसकी कलात्मक अभिरुचि का सुंदर प्रमाण है। वस्तुतः उसके शासनकाल में मिस्री कला अपनी पराकष्ठा पर पहुँच गई। इस दृष्टि से भी वह मिस्र का अंतिम महान शासक था। उसने करनाक (Karnak) के मंदिर की मरम्मत और उसका परिवर्धन कराया। लेकिन, इतना होते हुए भी उसके जमाने की कला, पतनोन्मुख कला का ही उदाहरण है। उसकी यह महत्त्वकांक्षा थी कि वह रैमसेस द्वितीय के शासन काल की तड़क-भड़क और मर्यादा को पुनः मिस्र में उपस्थित करे। वह इस दिशा में बहुत हद तक सफल भी रहा, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि उसका शासनकाल मिस्र के इतिहास के पतन का काल है; क्योंकि वह अपने सारे प्रयत्नों के बावजूद, मिस्र की आंतरिक कमजोरियों के कारण पतन की प्रक्रिया को रोकने में असमर्थ रहा।

इस युग की दूसरी विशेषता थी—पुरोहित-वर्ग की शक्ति में वृद्धि, जो आगे चल कर मिस्री फराओ के लिए खतरनाक साबित हुई। चूँकि रैमसेस तृतीय के पिता ने गद्दी पुरोहितों की मदद से ही पायी थी, इसलिए रैमसेस तृतीय ने इन पुरोहितों का विरोध करना उचित नहीं समझा। अतः, मिस्री राजनीति में इन पुरोहितों की शक्ति और प्रतिष्ठा पूर्ववत् कायम ही न रही, बल्कि बढ़ती भी गई। इसका नतीजा यह हुआ कि मंदिर और पुरोहित वर्ग इस जमाने में काफी समृद्ध और शक्तिशाली हो गए तथा मिस्री समाज पर काफी प्रभाव डालने लगे। ये मंदिर राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से मिस्री जीवन के प्रमुख केंद्र बन गये। रैमसेस तृतीय ने दान के द्वारा इन मंदिरों की संपत्ति और बढ़ा दी। इसने उदारतापूर्वक इन मंदिरों को धन और जमीन दी। उसके शासनकाल में थीब्स में स्थित एमन का मंदिर सबसे शक्तिशाली हो गया और उसके पुरोहित इतने शक्तिशाली हो गये कि मिस्र का कोई भी शासक उनकी मर्जी के खिलाफ कोई भी कदम उठा नहीं सकता था। अठारहवें और उन्नीसवें राजवंश के समय से ही थीब्स का पुरोहित सर्वप्रधान पुरोहित था, जो मिस्रस्थित सभी मंदिरों की कार्यवाही का निरीक्षण करता था।

कुछ ही समय में थीब्सस्थित एमन देवता के प्रधान पुरोहित की शक्ति इतनी बढ़ गई कि राजकीय सत्ता पुरोहितों के हाथ में आ गई। पुरोहित वर्ग की शक्ति इस

प्रकार बढ़ने में रैमसेस तृतीय को पूर्णतया दोषी ठहराना गलत होगा। लेकिन, इतना सच है कि उसके द्वारा दी गई संपत्ति पुरोहितों की शक्ति के विकास का कारण सिद्ध हुई। परन्तु साथ ही याद रखना होगा कि पुरोहितों की शक्ति की बुनियाद अठारहवें राजवंश के समय से ही पड़ चुकी थी। थुटमोज तृतीय ने सीरिया के तीन नगरों की आमदनी एमन देवता के मंदिर के खर्च के लिए दान कर दी थी। इस दान से उसने एक ऐसी नीति का प्रारंभ किया, जो क्रमशः मंदिरों की राजनैतिक शक्ति बढ़ाती गई और रैमसेस तृतीय के जमाने में उनकी ताकत इतनी बढ़ गइ थी कि उनके विरुद्ध जाना असंभव था। रैमसेस तृतीय अपने अनुदानों द्वारा पारंपरिक नीति का अनुसरण मात्र कर रहा था।

पुरोहित वर्ग की बढ़ती हुई शक्ति के खिलाफ अगर कोई वर्ग विरोध कर सकता था, तो वह विदेशी गुलामों और सैनिकों का वर्ग था। वहुत से विदेशी सैनिक के रूप में तनख्वाह देकर भरती किए गए थे। ये सैनिक किराए के सैनिक थे और इनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती गई थी। फराओ के व्यक्तिगत अनुचर भी विदेशी ही थे जो सीरिया, लीबिया और एशिया माइनर से लाए गए थे। इनमें से कुछ काफी प्रतिभाशाली और योग्य व्यक्ति थे, जिन्हें प्रशासन में ऊँचे पदों पर वहाल किया गया था। इन सुयोग्य विदेशियों की सहायता से ऊपरी तौर पर फराओ अपनी शान-शौकत कायम रखने में समर्थ रहा और मिस्र में शांति वनी रही। लेकिन, भीतर-ही-भीतर मिस्र की कमजोरी बढ़ती जा रही थी और विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी थी।

रैमसेस तृतीय को मुख्य रूप से तीन समस्याओं का सामना करना पड़ा। पहली समस्या थी, पुरोहित वर्ग की बढ़ती हुई शक्ति। दूसरी समस्या थीं, विदेशियों से भरी हुई सेना, जो पैसे देने पर किसी भी मालिक के प्रति वफादार हो सकती थी और तीसरी समस्या थी वे विदेशी अनुचर, जो राज्य के हित की अपेक्षा अपने स्वार्थों पर अधिक दृष्टि रखते थे। इसके अलावा उसे अपने उन संबंधियों और रिश्तेदारों का भी सामना करना पड़ा, जो अपने स्वार्थ में लीन थे। इसलिए उसका दरबार षड्यंत्रों का अखाड़ा वन गया और उसकी जान लेने के कई बार षड्यंत्र भी किए गए। इन षड्यंत्रों में उसकी कुछ अपनी पत्नियाँ और विदेशी अनुचर भी शामिल थे। उसके राज्य के अंतिम दिनों में एक खतरनाक षड्यंत्र का पता चला, लेकिन अभियुक्तों को सजा देने के पहले ही उसकी मृत्यु इकतीस वर्ष तक शासन करने के बाद ११६७ ई०-पू० में ही हो गई। उसकी मृत्यु से एक युग का अंत हो जाता है।

उसकी मृत्यु के पश्चात बारी-बारी से अत्यंत कमजोर शासक मिस्र की गद्दी

पर बैठे, जिनकी संख्या नौ थी। ये सभी शासक अपने को रैमसेस के नाम से ही पुकारते थे। इन लोगों के शासनकाल में मिस्री फराओ की शक्ति और संपन्नता, अव्यवस्था एवं अराजकता के कारण लुप्त-सी हो गई। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि रैमसेस तृतीय की मृत्यु के समय से ही मिस्र में पतन और विघटन की प्रक्रिया जोरों से प्रारंभ हो गई। इस प्रक्रिया को रोकने के लिए मिस्र में कोई भी प्रतिभा-संपन्न योग्य शासक न था। रैमसेस तृतीय के उत्ताराधिकारी पुरोहितों के हाथ के खिलौने बन गए और एमन देवता का प्रधान पुजारी फराओ से भी अधिक शक्तिशाली बन गया। ११०० ई०-पू० में एमन देवता के प्रधान पुरोहित ने एक सेना का संगठन किया, जिसकी सहायता से उसने अपने-आपको फराओ घोषित किया। रैमसेस तृतीय के वंश का आखिरी शासक रैमसेस बारहवाँ था, जो एमन देवता के प्रधान पुरोहित के हाथों का कठपुतला था। अंत में, १०९० ई०-पू० में एमन देवता के प्रधान पुरोहित हृहर (Hirhor) ने एक नए राजवंश की स्थापना की। इस राजवंश को 'इक्कीसवाँ राजवंश' कहते हैं। इक्कीसवें राजवंश के शासनकाल में धार्मिक और भौतिक दोनों ही शक्तियाँ फराओ के हाथों निहित थीं।

मिस्री सभ्यता के विभिन्न अंग : सिंहावलोकन एवं मूल्यांकन

प्राचीन विश्व के इतिहास में प्राचीन मिस्र सभ्यता के विभिन्न क्षेत्रों में, अपनी प्रगति के लिए मशहूर है। राजनीति, धर्म, साहित्य तथा कला-कौशल के क्षेत्र में भी इसकी प्रगति आश्चर्यजनक थी, जिसका ज्ञान आवश्यक है।

राजनैतिक अवस्था

मिस्र का राजा फराओ कहा जाता था। इसका शाब्दिक अर्थ है—'बड़ा घर'। सिद्धांततः फराओ की शक्ति असीम थी। वह पूर्णतया निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासक था। दुनिया के इतिहास में मिस्र में ही पहले-पहल राजा को देवता माना जाता था। मिस्रवासी फराओ को ईश्वर ही मानते थे तथा उसके कर्मचारियों को ईश्वर का नौकर। फराओ जनसाधारण की पहुँच के बाहर सामंतों और मंत्रियों के बीच रहता था, जिससे जनता उसे आतंक और श्रद्धा से देखती थी। वह मिस्र की सारी भूमि का स्वामी था। वह सरदारों, पुरोहितों और सिपाहियों को भूमि देता था और वापस ले सकता था। बड़े-से-बड़े सरदार उसकी कृपा के भिखारी थे। बड़े-बड़े लोग पेट के बल लेट कर उसको प्रणाम करते थे तथा उसकी कदमवोसी के लिए तरसते थे।

देवत्व की भावना के प्राधान्य के कारण राजवंश के लोग अपने कुल में ही शादी-विवाह करते थे। संपत्ति का उत्तराधिकार स्त्रियों के द्वारा मिलता था।

इसलिए यदि एक राजकुमार अपनी बहन से शादी करता, तो उसका हक अधिक दृढ़ हो जाता था।

पर, हिक्सस जाति के आक्रमण से फराओ की देवत्व की भावना पर गहरा आघात पहुँचा। इनके द्वारा पराजित होते देख जनता के हृदय से यह विश्वास जाता रहा कि राजा देवता है और अजेय है। फिर इस आक्रमण से देश की रक्षा करने में फराओ को जनता के निकट आना पड़ा, जिससे राजा-प्रजा के बीच की दीवार जाती रही और देवत्व की भावना धीरे-धीरे लुप्त होने लगी।

वजीर

फराओ के बाद शासन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पद वजीर का था, जो शासनकार्य में राजा की सहायता करता था। वजीर को देवता का पद प्राप्त नहीं था। उसके जिम्मे लगान वसूली और न्याय-शासन का विभाग था। जमीन का खाता और लेखा-जोखा उसी के दफ्तर में रहता था।

फराओ के बाद न्यायार्थ दरबार वजीर के यहाँ लगता था। वह सभी झगड़ों का फैसला करता था। पहले एक वजीर रहता था, पर बाद में काम बढ़ने पर उत्तरी मिस्र तथा दक्षिणी मिस्र के लिए अलग-अलग एक-एक वजीर की नियुक्ति होने लगी। वास्तव में, न्याय विभाग अलग नहीं था। सभी बड़े-बड़े अधिकारी मुकदमों का फैसला करते थे। राजा के नीचे वजीर ही सर्वोच्च न्यायाधीश था।

राजा की आमदनी

कृषिप्रधान सभ्यता होने से राजा की आमदनी का सबसे बड़ा साधन भूमिकर था। किसान अपनी उपज का दसवें से लेकर बीसवें हिस्से तक मालगुजारी देते थे। सार्वजनिक निर्माण के कामों में बेगारी भी ली जाती थी। सूडान की खानों से भरपूर मात्रा में सोना आता था। राजा लोग स्वयं व्यापार भी करते थे। एशियाई प्रांतों से अन्न और पशुधन तथा लूट का माल भी आता था।

सेना का संठगन

प्रारंभ में, मिस्र में सेना सामंतवादी ढंग प्रर संगठित थी। आवश्यकता पड़ने पर सरदार अपने सैनिकों से फराओ की मदद करते थे। बाद में सरदारों का प्रभाव नष्ट करने के लिए राजाओं को स्थायी सेना का प्रबंध करना पड़ा। १२वें राजवंश के बाद स्थायी सेना की प्रथा चली।

हिक्सस के आक्रमण का एक शुभ परिणाम यह हुआ कि मिस्र वालों ने घोड़े और रथ का प्रयोग सीखा, जिसमें उनकी सेना की कार्य-कुशलता और निपुणता में वृद्धि हुई। साम्राज्यवादी युग में सैनिकों का महत्त्व बहुत बढ़ गया।

साम्राज्य के अंतिम दिनों में यूनान और लीविया से भाड़े के सिपाहियों को भरती किया गया तथा विशेष सुविधाएँ दी गईं। देशप्रेम की भावना न होने के कारण, इन भाड़े के सिपाहियों ने मिस्र साम्राज्य के विनाश में योगदान किया।

धार्मिक जीवन

मिस्रवासियों का समस्त जीवन राजनैतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक धर्म से प्रभावित था। संसार में कभी किसी जाति को मरणोत्तर जीवन में इतना विश्वास नहीं था, जितना इन लोगों को था। राजाओं ने मरणोत्तर जीवन का सुख भोगने के लिए अपने मृत शरीर को जीवित रखने के लिए ऊँचे-ऊँचे मकबरे बनाए, जिन्हें 'पिरामिड' कहते हैं पिरामिड के निचले कमरे में मृतक के उपयोग के लिए सैकड़ों वस्तुएँ रखी जाती थीं, बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ तथा सोना-चाँदी मिली हैं।

अपने धार्मिक विश्वासों के कारण ही उन लोगों ने शव को सुरक्षित रखने के प्रयास किए। उनका विश्वास था कि मरणोत्तर जीवन के उपभोग के लिए मरने के बाद इस शरीर को वनाए रखना आवश्यक है। अतः, कुछ रासायनिक द्रव्यों के प्रयोग से उन लोगों ने एक प्रकार के उबटन या लेप का आविष्कार किया, जिसके प्रयोग से मृतक शरीर गलता या बिगड़ता नहीं था। आज भी,प्राचीन मिस्र के अनेक मृतक शरीर जिन्हें 'ममी' कहते हैं, हजारों साल से सुरक्षित हैं।

सूर्य तथा नील नदी का देवता

मिस्र का सबसे बड़ा देवता सूर्य था। इनके कई नाम थे—रा, अमन तथा होरस। बाद में एमन नाम ही ज्यादा प्रचलित हुआ। सूर्य के बाद नील नदी के देवता का प्राधान्य था। इसका नाम ओसिरिस था। मिस्रवासियों का विश्वास था कि ओसिरिस ने अपनी बहन इसिस से विवाह किया है। ओसिरिस तथा इसिस का दांपत्य जीवन प्राचीन मिस्रवासियों के लिए आदर्श एवं प्रेरणा का स्रोत था। शायद इसी कारण राजकुलों में भाई-बहन का विवाह प्रचचित था। होरस, ओसिरिस तथा इसिस का पुत्र था, जो एक आदर्श पुत्र माना जाता था। इसिस की पूजा पृथ्वी के प्रतिनिधि के रूप में भी होती थी।

मरणोत्तर जीवन में ओसिरिस का बहुत अधिक महत्त्व माना जाता था। मरने के बाद आत्मा को ओसिरिस के सामने अपने पाप-पुण्य का हिसाब देना पड़ता था और पापी सिद्ध होने पर नरक तथा पुण्यात्मा सिद्ध होने पर स्वर्ग प्राप्त होता था। ओसिरिस के दरबार में निर्दोष सिद्ध करने के लिए पुरोहित लोग तंत्र, मंत्र, जादू-टोना और ताबीज बेचा करते थे।

भारतवासियों की तरह ही, प्राचीन मिस्र के निवासी आत्मा के अमरत्व में विश्वास करते थे। यह संसार उनकी दृष्टि में दुष्टता का खजाना था, जिसमें पाप और धोखा भरा हुआ है। इसलिए मृत्यु के द्वारा इस पापमय जीवन से मुक्ति मिलती है तथा सूर्य की किरणों में विलीन होने का अवसर मिलता है। जिस प्रकार युद्ध तथा युद्धबंदी होने के बाद घर आना सुखद होता है, वैसे ही इस दुःखद जीवन के पश्चात् मृत्यु का आगमन सुखद है। मृत्यु के पश्चात् मरे हुए व्यक्ति शाश्वत् जीवन का आनंद उठाते हैं, ऐसा उनका विश्वास था। इसलिए लोगों से प्रार्थना की जाती थी कि वे मकबरों को नष्ट न करें; क्योंकि वे मृत व्यक्तियों के अंतिम विश्रामागार हैं।

उनलोगों ने स्वर्ग और नरक की भी कल्पना की थी। उनके अनुसार स्वर्ग में अनाज के बड़े-बड़े पौधे होते हैं तथा सदैव शीतल-मंद-सुगंध वायु चलती रहती है। नरक में बड़े-बड़े भयानक जंतु मनुष्य को खाने को तैयार रहते हैं।

एकेश्वरवाद का उदय

इसमें संदेह नहीं कि मिस्र का धर्म बहुदेववादी था। अनेक देवी-देवताओं की पूजा होती थी। वहाँ मनुष्यों, देवताओं और जानवरों की भी पूजा होती थी। कभी-कभी तो इतने देवता नजर आते थे कि घबराहट-सी हो जाए। प्रत्येक जिले, नगर, दिन और घंटे के लिए देवता थे। प्रारंभ में इस प्रकार कुल मिला कर तीन हजार देवता थे।

लेकिन, धीरे-धीरे इन अवस्थाओं को पार करता हुआ मिस्र का धर्म एकेश्वरवाद के निकट पहुँचा। केंद्रीय राजनैतिक शक्ति के विकास के साथ धार्मिक परिवर्त्तन भी हुए। एक शक्तिशाली फ़राओ अपनी इच्छा के अनुसार धार्मिक विश्वासों का सृजन करता था। इसी कारण बारी-बारी से रा, एमन और फिर एटन की प्रधानता हुई।

अमेनहोटेप चतुर्थ अथवा अखनाटन ने एटन देवता की उपासना के माध्यम से दुनिया के इतिहास में पहले-पहल एकेश्वरवाद को जन्म दिया। उसने एटन देवता को संसार का स्रष्टा, शासक और नियंता बतलाया। यह निराकार देवता था, जिसकी मूर्तिपूजा नहीं होती थी। यह देवता सूर्य की किरणों की जीवनदायिनी शक्ति का प्रतीक था। यह पिता की तरह दयालु तथा शांति का प्रतिनिधि था। अखनाटन ने इस देवता की उपासना के साधारण तरीके बतलाए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति बिना पुरोहितों की सहायता के पूजा कर सके। इस देवता की उपासना का समय सूर्योदय एवं सूर्यास्त का समय था, जब सूर्य की किरणें कोमल एवं जीवन–शक्ति से ओतप्रोत होती हैं।

अखनाटन के एकेश्वरवादी आंदोलन की यह विशेषता थी कि इसने हजारों देवताओं के स्थान पर निराकार, दयालु एवं शांति के देवता की पूजा प्रारंभ की। इसने पुरोहितों की शक्ति का विरोध किया तथा दुनिया के इतिहास में सर्वप्रथम ईश्वर की एक भव्य एवं उदात्त कल्पना प्रस्तुत की।

धर्म में राजा का स्थान

धार्मिक क्षेत्र में फराओ सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति था, जो धर्म पर अनुशासन तथा नियंत्रण रखता था। वह स्वयं देवता माना जाता था। वह एमन तथा रा का पुत्र था और शासन करने के लिए उसे दैवी अधिकार प्राप्त था। वह देश का सबसे बड़ा पुरोहित भी था, जो धार्मिक उत्सवों की अध्यक्षता करता था। पुरोहित लोग उसकी सहायता भर करते थे। पुरोहितों का काम था—जादू-टोना और तंत्र-मंत्र को लोगों को समझाना।

पुरोहित

शीघ्र ही पुरोहितों ने मिस्र के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। देवताओं पर जो फल-फूल, पेय तथा खाद्य-पदार्थ चढ़ाए जाते थे उनका आस्वादन पुरोहित लोग ही करते थे। मंदिरों के अहातों में बने विशाल भवनों में पुरोहित निवास करते थे। उनको कई राजनैतिक सुविधाएँ भी प्राप्त थीं जैसे वे बेगार, सैनिक सेवा तथा साधारण करों से मुक्त थे। मिस्र के धार्मिक जीवन में भ्रष्टता लाने का उत्तरदायित्व इन पर ही था।

सामाजिक जीवन

मिस्र का समाज तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त था—उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग। उच्च वर्ग में सामंत और पुरोहित लोग थे, जो समृद्धि और विलासिता का जीवन बिताते थे। इनका जीवन अधिकतर ऐशोआराम में ही बीतता था। ये भड़कीले वस्त्र पहनते और सोने-चाँदी के बर्तनों में खाना खाते थे। बहुत-से सामंत तो एशियाई प्रांतों के राज्यपाल बना कर भी भेजे गए थे।

धर्मप्रधान देश होने के कारण पुरोहितों का प्राचीन मिस्र में बड़ा सम्मान था। ये देवताओं के पास पहुँचने के माध्यम माने जाते थे। ये लोगों को जादू-टोना, तंत्र-मंत्र तथा ताबीजें बेच कर काफी संपत्ति इकट्ठा करते थे। अपार संपत्ति के कारण ये लोग भी अधिकतर भोग-विलास का ही जीवन व्यतीत करते थे। बीसवें राजवंश के समय इनकी शक्ति इतनी बढ़ गई कि इन लोगों ने इक्कीसवें राजवंश की स्थापना कर ली। राजाओं द्वारा मंदिरों में अपार धन दान दिया जाता था, जो पुरोहितों के हाथ में आता था।

मध्यम वर्ग में कारीगर, व्यापारी, भूमि को जोतने वाले तथा लिपिक आदि शामिल थे। इस वर्ग की अवस्था में कई बार परिवर्तन हुए। कुछ आर्थिक छूट दिए जाने के कारण इस वर्ग की दशा में सुधार हुए। वस्तुतः राजाओं ने सामंतों की बढ़ती ताकत रोकने के लिए इस वर्ग को प्रोत्साहन दिया। पढ़े-लिखे लोगों को उनकी विद्या तथा लिखने-पढ़ने की कुशलता के कारण राज्य-संचालन में हिस्सा मिला। मिस्र की कठिन लिपि को सीख कर लिखने वाले लिपिक कहलाते थे। इन्हें समाज में बहुत आदर दिया जाता था। सरकारी नौकरियाँ ऐसे ही लोगों को मिलती थीं। अपने सम्मान के कारण यह वर्ग अपने को मजदूरों, कारीगरों और सिपाहियों से उच्च समझता था।

निम्न वर्ग में कृषक, मजदूर तथा गुलाम वर्ग शामिल था। इनकी दशा अच्छी नहीं थी। कृषक वर्ग सबसे अधिक संख्या में था, तो भी उसे मजदूर ही समझा जाता था। इस वर्ग को सामंतों की जमीन तथा मंदिरों में काम करना पड़ता था। इन्हीं से मजदूरों का भी काम लिया जाता था। कभी-कभी इनसे बड़ी बेरहमी से बेगार का काम कराया जाता था।

प्रारंभ में मिस्र में गुलामी की प्रथा नहीं थी। पर, साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ युद्धबंदियों की संख्या बढ़ी, जो गुलाम बना लिए गए। संभवतः मिस्र-वासियों को गुलाम बनाने की प्रथा नहीं थी। गुलाम विदेशी ही हुआ करते थे। बहुत-से गुलाम अपने मालिकों के प्रिय पात्र बन कर ऊँचे पदों पर बहाल हो जाते थे। प्राचीन विश्व के अन्य देशों से मिस्र के गुलामों की दशा अच्छी थी।

स्त्रियों की दशा

मिस्री सभ्यता में जो स्थान स्त्रियों को प्राप्त था, वह किसी भी प्राचीन सभ्यता में नहीं प्राप्त था तथा आधुनिक युग में भी बहुत दिनों तक उतनी स्वतंत्रता नहीं दी गई। इसी कारण प्राचीन यूनान के निवासियों को उनकी स्वतंत्रता देख कर अत्यंत आश्चर्य हुआ था और उन लोगों ने लिखा कि मिस्र में स्त्रियाँ पुरुषों पर शासन करती हैं।

स्त्रियों को संपत्ति में बराबर अधिकार प्राप्त था। राजघरानों में गद्दी का उत्तराधिकार लड़की को प्राप्त था, जिसके कारण राजकुमार अपनी बहनों से शादी करते थे। विवाह के संबंध में स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। प्राचीन मिस्र पर हाशेपसुट तथा क्लियोपेट्रा-जैसी प्रतिभासंपन्न रानियों ने राज्य किया। पर, हिक्सस-आक्रमण के बाद नारियों की अवस्था में परिवर्तन हुआ। देश में बहु-विवाह की प्रथा चल पड़ी, जिससे स्त्रियों का जीवन दुखमय होने लगा।

सामाजिक जीवन के अन्य पहलू

मिस्रवासी शुष्क और नीरस जीवन नहीं बिताते थे। वे सौंदर्य तथा शृंगार की सामग्रियों और प्रसाधनों से परिचित थे एवं उनका खुल कर उपयोग करते थे। वे दर्पण, अस्तूरा, चम्मच, कंघी, शृंगार दान तथा तश्तरियों आदि का प्रयोग जानते थे। वे भड़कीले वस्त्र पहनते तथा कई प्रकार के आभूषणों का प्रयोग करते थे। अंगूठी और कर्णफूल आदि गहने स्त्री-पुरुष दोनों ही पहनते थे। ओठ और नाखून रंगने की भी प्रथा थी। काजल और उबटन का प्रयोग होता था। बालों में तेल लगाया जाता था तथा स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के केश-विन्यास करती थीं। वे चंदन और आलता का प्रयोग भी करते थे।

मिस्रवासी वाद्यों तथा नृत्य से अपना मनोरंजन करते थे। उनके मनबहलाव के साधनों में कुश्ती, घूँसेबाजी, जुआ, शिकार तथा साँढ़ों और चिड़ियों को लड़ाना शामिल था। वे मदिरापान भी करते थे।

वे सोना-चाँदी और हाथी-दाँत के सामानों का व्यवहार करते थे। घरों में मेज-कुर्सी का भी प्रयोग होता था। अतः उनका सामाजिक जीवन समृद्ध और रंगीन था।

आर्थिक जीवन

प्राचीन मिस्र के निवासियों का आर्थिक जीवन विकसित था। वे कई प्रकार के पेशों और उद्योग-धंधों में दक्ष थे। वे खेती, पशुपालन, कारीगरी तथा व्यापार-वाणिज्य के क्षेत्र में निपुण थे, जिसके कारण उनका जीवन हर क्षेत्र में समृद्ध हो सका।

कृषि उनका प्रधान पेशा थी। इस क्षेत्र में मिस्रवासियों ने काफी प्रगति की थी। वे गेहूँ, जौ, अंगूर, कपास, सन और खजूर की खेती बड़े पैमाने पर करते और मछली भी मारते थे।

मिस्र के राजा खेती पर विशेष ध्यान देते थे। सरकारी कर्मचारी खेती के कई मामलों में कृषकों की सहायता करते थे। वे सिंचाई का समुचित प्रबंध करते थे। सिंचाई के लिए नहरों का निर्माण करते तथा फसल बोने और काटने का समय निश्चित करते थे। जमीन की पैमाइश के तरीके भी वही निश्चित करते थे। इसी प्रकार, सरकारी कर भी ये ही कर्मचारी वसूलते थे। प्रारंभ में खेती के औजार मोटे और भद्दे थे, पर धीरे-धीरे उनमें सुधार होता गया।

कृषि और पशुपालन में चोली और दामन का संबंध है। जहाँ कृषि का विकास होता है, वहाँ पशुपालन भी लोकप्रिय हो जाता है। कृषि के साथ प्राचीन मिस्र में भी पशुपालन एक लोकप्रिय पेशा था। बड़े-बड़े सरकारी कर्मचारी भी पशुपालन करते थे। सामान ढोने के लिए बैल और गधे प्रमुख पशु थे। भेड़ें,

बकरियाँ, गाय, बैल, खच्चर, घोड़े, मुर्गी आदि जानवर काफी संख्या में पाये जाते थे। यह अश्चर्य की बात है कि प्राचीन मिस्र के भग्नावशेषों में ऊँट का चित्र नहीं मिलता है, जिससे अनुमान किया जाता है कि वे ऊँटों से परिचित नहीं थे।

मिस्रवासी अनेक प्रकार के उद्योग-धंधों में भी प्रवीण थे। पत्थर काटने, गहने एवं बर्तन बनाने तथा ताँबे और काँसे के हथियार बनाने में कुशल थे। काफी लोग नावों और जहाजों का भी निर्माण करते थे। उद्योग-धन्धों से जीविका-निर्वाह करने वालों की संख्या बड़ी थी। ईंटें बनाना, राजगीर का काम करना, धातुओं का काम करना तथा लकड़ी के सामान तैयार करना काफी लोकप्रिय उद्योग थे। वाद की शताब्दियों में जहाज बनाना, मिट्टी के बर्तन तैयार करना तथा कपड़े बुनना काफी महत्त्वपूर्ण उद्योग बन गए।

मिस्र के कारीगरों को अपने काम में काफी दक्षता प्राप्त थी। उनकी शिल्पकला के नमूने मिस्र की कब्रों में मिलते हैं। इन कब्रों में चमकते हुए मिट्टी के बर्त्तन, शीशे के सामान, सुंदर गहने, चाँदी-सोने के बर्त्तन तथा सुंदर आरामकुर्सियाँ मिली हैं। विशेषतया टुटुनखामन की कब्र में एक आरामकुर्सी मिली है जिस पर सोने, शीशे और चमकते पत्थरों का काम हुआ है। इस कुर्सी की पीठ पर राजा और रानी का चित्र भी है। इसी कब्र में कुछ संदूकें मिली हैं, जिनमें आबनूस और हाथी-दाँत का काम किया गया है तथा राजकीय वस्त्र पाए गए हैं, जिन पर सोने का काम है। इन नमूनों को देखने से पता चलता है कि प्राचीन मिस्र के कारीगरों को अपने काम में कमाल हासिल था तथा वे सौंदर्य को परखने और उसकी सृष्टि करने में समर्थ थे।

प्राचीन मिस्र के निवासियों ने वाणिज्य और व्यापार में भी काफी प्रगति की, पर इस क्षेत्र में वे मेसोपोटामिया के निवासियों से पीछे थे। वस्तुतः मिस्रवासी कृषि की उन्नति से ही इतने खुशहाल थे कि व्यापार में उन्हें इतनी दिलचस्पी नहीं हो सकी। फिर भी, वहाँ बड़े पैमाने पर विदेशों से भी व्यापार होता था। वहाँ से अनाज तथा पेपिरस (जिस पर लिखा जाता था—अतः भोजपत्र) बाहर भेजा जाता था और विदेशों से—खासकर अरब और भारत से मसाले, रंग, तेल, पाउडर और चंदन मँगाए जाते ये। सिक्कों का प्रचलन नहीं होने से चाँदी और सोने की अँगूठियों के द्वारा विनिमय होता था। सूडान से सोना, हाथी-दाँत और गुलाम मँगाए जाते थे। आंतरिक व्यापार नील नदी में नावों द्वारा होता था। खेती के बाद व्यापार से ही राजाओं को कर मिलता था। अमेनहोटेप तृतीय नामक राजा ने स्वयं व्यापार किया था, जिससे उसे काफी आमदनी थी।

साहित्य और विज्ञान का विकास

दुनिया के इतिहास में लेखन-कला का विकास करने का श्रेय मिस्रवासियों को ही प्राप्त है। विश्व की इस प्राचीनतम लिपि का ज्ञान मानव जाति को १७९९ में नेपोलियन की मिस्र-विजय के अभियान के समय हुआ। इसी समय पत्थरों पर लिखे हुए लेख को फ्रांसीसी विद्वान शेंपाइयों ने पढ़ा। इस लिपि को 'चित्रलिपि' की संज्ञा दी गई है। दूसरे शब्दों में चित्रों के सहारे भावों और विचारों को व्यक्त किया जाता था। उदाहरणार्थ एक पानी से भरे हुए घड़े का चित्र शीतलता का द्योतक था या स्त्री-पुरुष का चित्र मानव जाति का बोध कराता था। क्रमशः इसी लिपि में उत्तरोत्तर विकास होता गया तथा मिस्र की लिपि सीधी और सुगम हो गई।

प्राचीन मिस्र के लोग भोजपत्र से मिलते-जुलते पेपिरस पर लिखते थे। स्याही राख और गोंद से बनायी जाति थी, जो इतनी पक्की होती थी कि आजतक वर्त्तमान है। कलम सरकंडे की बनायी जाती थी।

उनके जीवन के अन्य पहलुओं की तरह उनका साहित्य भी धर्म से अनुप्राणित था। उनके साहित्य में या तो देवताओं या राजाओं की प्रार्थना होती थी या दिवंगत आत्माओं के लिए पथ-प्रदर्शन किया जाता था। दो प्रकार का धार्मिक साहित्य, जिसे 'मृतकों का साहित्य' तथा 'शव रखे जाने वाली संदूकों का साहित्य' कहा गया है, कब्रों में प्राप्त हुआ है। यह साहित्य पूर्णतया धार्मिक तथा मरणोत्तर जीवन से संवद्ध है अथवा मृत राजाओं के कार्य-कलापों का आख्यान है।

क्रमशः धर्मनिरपेक्ष साहित्य का विकास हुआ। यह गद्य और पद्य दोनों में लिखा गया। जो कुछ थोड़े नमूने हमें प्राप्त हुए हैं, वे सिद्ध करते हैं कि मिस्रवासियों ने एक सुंदर साहित्य का भी निर्माण किया था। इस साहित्य में धार्मिक प्रार्थनाओं, प्रणय-गीतों, कहानियों, सुभाषितों और शिक्षाओं का वाहुल्य था। उनकी कुछ प्रमुख रचनाओं में अखनाटन द्वारा रचित सूर्य की प्रार्थना, एक अभागे राजकुमार की कहानी तथा टाहटाटेप की शिक्षाएँ उल्लेखनीय हैं।

अधिकांश साहित्यिक कृतियाँ बारहवें राजवंश के समय की हैं। इन लोगों ने भारत या यूनान की तरह किसी महाकाव्य की रचना नहीं की और न नाटक ही लिखा। पर, विश्व के इतिहास में साहित्य-निर्माण का प्रथम श्रेय इन्हीं को है।

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति

अंधविश्वास के कारण, ज्ञान-विज्ञान के कुछ क्षेत्रों में मिस्रवासियों की प्रगति शून्य थी, पर कुछ क्षेत्रों में संतोषजनक भी थी। उदाहरण के लिए उनका गणित-ज्योतिष का ज्ञान नहीं के बराबर था। वे नहीं जानते थे कि सूर्य और चंद्रग्रहण

कैसे होते हैं। उनका विश्वास था कि सूर्य नाव पर चढ़ कर आकाश को पार करता है। पर, फलित ज्योतिष का उन्हें अच्छा ज्ञान था। वे मनुष्य का भविष्य वतलाना जानते थे। वे भूगोल से भी अनभिज्ञ थे। आकाश को वे पृथ्वी की छत मानते थे। वे यह भी मानते थे कि पृथ्वी के नीचे समुद्र है। पड़ोसी देशों का ज्ञान भी उन्हें नहीं के बराबर था।

गणित का उन्हें कामचलाऊ ज्ञान था। वे जोड़-घटाव जानते थे। पर, वे गुणा-भाग केवल दो से ही कर सकते थे। उनका भिन्न का ज्ञान भी सीमित था। यदि उन्हें ३/७ लिखना होता, तो वे तीन-बार १/७, १/७, १/७ लिखते। दशमलव का बोध कराने के लिए उन लोगों ने चित्रों का निर्माण किया। उदाहरण के लिए यदि उन्हें एक हजार लिखना होता, तो वे एक कमल का फूल वना देते थे।

जमीन की पैमाइश, नहरों तथा पिरामिडों के निर्माण के सिलसिले में उन लोगों ने रेखागणित का विकास किया और इस क्षेत्र में उन्हें सफलता भी मिली।

संसार के इतिहास में पहला पंचांग बनाने का श्रेय भी मिस्रवासियों को ही है। संभवतः ४२६६ ई०-पू० में ही इन लोगों ने एक पंचांग वना लिया था। इन लोगों का वर्ष ३६५ दिनों का था। ३० दिनों के बारह महीने होते थे तथा वर्ष के अंत में ५ दिन समारोह के होते थे। वस्तुतः वाद में रोमन लोगों ने इसी पंचांग को अपनाया, जो बाद में यूरोप का कैलेंडर हुआ तथा आज सर्वाधिक लोकप्रिय है।

प्राचीन मिस्र की कला

मिस्री सभ्यता के अन्य पहलुओं की तरह मिस्र की कला भी मुख्य रूप से धर्म पर आधारित एवं प्रभावित थी। सभ्यता के विभिन्न क्षेत्रों की भाँति कला के क्षेत्र में भी मिस्री सभ्यता ने मानव-कला के इतिहास को गौरवान्वित किया। वास्तव में प्राचीन मिस्र में भवन-निर्माण तथा अन्य कलाओं का उपयोग मुख्य रूप से देवताओं एवं राजाओं के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए ही किया गया। भव्य मंदिरों का निर्माण देवताओं के लिए तथा अति विशाल कब्रों एवं पिरामिडों का निर्माण मृत राजाओं को शांति एवं सुख प्रदान करने के उद्देश्य से किया गया। मिस्र के भवन-निर्माताओं को अति विशाल तथा भारी पत्थरों के टुकड़ों को काटने-छाँटने और जोड़ने में कमाल हासिल था। वे हजार टन के ग्रेनाइट पत्थर के टुकड़े को काट-छाँट कर सुंदर मूर्तियों में परिणत कर देते थे। वे बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़ों को एक जगह से दूसरी जगह ले जाकर मंदिर तथा इमारतें बनाते थे। मूर्तिकला तथा चित्रकला में भी विविधता न होते हुए भी मानव-मूर्तियाँ अत्यंत सजीव प्रतीत होती हैं। उनके मंदिरों की दीवारों पर सुंदर चित्र तथा अभिलेख हुआ करते थे, जो आज भी विद्यमान हैं। वास्तव में महाकाय भवनों के निर्माण करने, पत्थरों की मूर्तियाँ बनाने

तथा चित्रकला के क्षेत्र में मिस्री कलाकार मानव-जाति के पथप्रदर्शक थे। उनकी कला ने समस्त पश्चिमी एशिया की इन कलाओं को अनुप्राणित तथा प्रभावित किया।

विशालकाय पिरामिड, जो अभी विद्यमान हैं, प्राचीन मिस्र की स्थापत्य कला की सफलता के नमूने हैं। वर्गाकार-भवन-समूह (Square block masonry) का निर्माण मिस्री स्थापत्य कला की सबसे प्रमुख उपलब्धि एवं देन है। इस शैली का दूसरा नाम पिरामिड (Pyramid) शैली भी है। इसी शैली के कारण विश्व की स्थापत्य कला के इतिहास में मिस्र को अद्वितीय स्थान प्राप्त है। इस शैली का विकास प्राचीन कब्रों की निर्माण-कला के आधार पर हुआ, जिन्हें मस्तबा (Mastaba) कहा जाता था। मस्तबा आयताकार होते थे, जिनके किनारे ढालू होते थे। इन कब्रों का निर्माण फराओ लोगों के लिए होता था। मस्तबा-जैसे भवनों को एक के ऊपर एक बना कर विशालकाय पिरामिडों का निर्माण होने लगा। इन विशालकाय पिरामिडों का निर्माण मरणोपरांत जीवन में फराओ की आत्मा को सुख-सुविधा प्रदान करने के लिए होता था। पिरामिडों के अंदर मेहराबों के निर्माण के द्वारा आने-जाने के रास्ते बनाए जाते थे। भीतरी कमरों के निर्माण में भी मेहराबों का सहारा लिया जाता था। पिरामिड शैली मिस्री स्थापत्य कला की सबसे बड़ी देन है। इस शैली में सादगी एवं विशालता का टिकाऊपन तथा भव्यता के साथ अपूर्व सामंजस्य स्थापित किया गया। वास्तव में अपनी भव्यता एवं विशालता की दृष्टि से विश्व के इतिहास में ये पिरामिड बेजोड़ सिद्ध हुए हैं तथा दुनिया के महान आश्चर्यों में इनको स्थान प्राप्त है। खुफू का पिरामिड ४५० फीट ऊँचा तथा अपने निचले धरातल में ७४६ फीट वर्गाकार है। इसके निर्माण में २३ लाख पत्थर के टुकड़ों को लगाया गया है। इनमें सभी टुकड़े लगभग ढाई टन के हैं। इन पत्थरों को इस प्रकार जोड़ा गया है कि कहीं कोई सुराख या छेद देखने तक को नहीं मिलता। इनके निर्माण में ठीक नाप-जोख से लंबाई-चौड़ाई निश्चित की गई है। इनका निर्माण मिस्री लोगों के गणित एवं रेखागणित के ज्ञान का भी परिचायक है।

मंदिरों का निर्माण मिस्री स्थापत्य कला की दूसरी सफलता है। करनाक के मंदिर में विशाल स्तंभों के आधार पर एक हॉल या पूजा-भवन का निर्माण किया गया था। इनमें कुछ स्तंभ ६९ फीट ऊँचे हैं। यह मंदिर उपवनों तथा झीलों के बीच में स्थित था, जिससे यह अत्यंत रमणीक प्रतीत होता था। इन उपवनों में घने वृक्षों तथा फलों से दृश्यावली और सुंदर बन जाती थी। विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि यूनान की डोरिक (Doric) शैली से स्तंभों का निर्माण मिस्री स्थापत्य कला के स्तंभों से ही प्रभावित हुआ। इसके मंदिर में एक अधिवातायन

(Clerestory) का भी निर्माण हुआ था, जिसका प्रयोग बाद में ईसाई गिरजाघरों के निर्माण में बहुत बड़े पैमाने पर किया गया । इस मंदिर में ग्रेनाइट पत्थर के टुकडे से एक १०० फीट ऊँचे सूच्याकार स्तंभ (Obelisk) का भी निर्माण हुआ था। अतः, यह मंदिर पिरामिडों की तरह मिस्री कला की चरम उपलब्धि है।

मूर्तिकला

वास्तुकला के बाद मूर्तिकला के क्षेत्र में प्राचीन मिस्र के कलाकारों को अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित करने में सफलता प्राप्त हुई। मूर्तिकला के क्षेत्र में मिस्री कलाकारों ने यथार्थता तथा स्थायित्व के सिद्धांतों से अनुप्राणित होकर मूर्तियों का निर्माण किया। ऐसा लगता है कि वास्तुकारों तथा मूर्तिकारों ने मिलकर काम किया हो। भवनों, मंदिरों तथा पिरामिडों की सौंदर्य वृद्धि में मूर्तिकला का योगदान महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश मंदिरों तथा भवनों में तत्कालीन फराओ की अस्सी या नब्वे फीट ऊँची विशालकाय मूर्ति प्रतिष्ठित रहती थी। अधिकतर मूर्तियाँ पत्थर के एक ही विशाल टुकड़े को काट-छाँट कर बनायी जाती थीं। इन मूर्तियों से गतिशीलता का आभास नहीं होता है, अतः वे स्थिर जान पड़ती हैं। शरीर के अन्य अवयवों की अपेक्षा चेहरे की बनावट पर अधिक ध्यान दिया जाता था। इनकी मुखाकृतियाँ संतुलन, भाव-भंगिमा तथा मुद्राओं की दृष्टि से काफी सफलतापूर्वक बनायी गई हैं। उदाहरणार्थ खफ्रे का चेहरा और सिर, जिसके ऊपर होरस नामक देवता बाज के रूप में अपने पंख खोल कर बैठा है, मिस्री मूर्तिकला की सफलता का प्रमाण है। कुछ मूर्तियों में मानव तथा पशुओं की आकृतियों का सुंदर संमिश्रण भी देखने को मिलता है। इस प्रकार की मूर्तियों में सबसे विख्यात नारसिंही मूर्ति या (स्फिक्स) है, जो नर तथा सिंह की मिली-जुली मूर्ति है। इस विशालकाय मूर्ति का शरीर सिंह का तथा सिर मानव का है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति निःसंदेह प्राचीन मिस्री मूर्तिकला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में है। यह विशाल मूर्ति गिजा के पिरामिड के पास रेगिस्तान में स्थित है। अपनी रहस्यमयता के कारण स्फिक्स रहस्यमयता का पर्यायवाची शब्द बन गया है।

प्राचीन मिस्र में कुछ मूर्तियाँ काठ की भी बनायी जाती थीं तथा उन्हें यथार्थवादी दृष्टिकोण से रंगा भी जाता था। पाँचवें राजवंश के शासन-काल में बनायी गई एक लिपिक की पत्थर की मूर्ति में मानसिक सतर्कता का चित्रण सुन्दर ढंग से किया गया है। अतः, मूर्तिकला के क्षेत्र में भी मिस्र के कलाकारों ने काफी दक्षता प्रदर्शित की है।

चित्रकला

प्राचीन मिस्र में वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला के क्षेत्र में गहरा

सामंजस्य स्थापित था । घटिया ढंग की मूर्तियों को बहुधा रंगा भी जाता था, ताकि उसकी बनावट के दोष छिपाए जा सकें । दीवारों को सुन्दर चित्रों से सजाना मिस्री स्थापत्य कला का आवश्यक अंग था । चित्रलिपि द्वारा दीवारों पर अभिलेख प्राचीन मिस्र के भवनों, मंदिरों तथा कब्रों में बहुधा पाए जाते हैं । इसके अतिरिक्त इन दीवारों पर तत्कालीन जीवन से संबंधित चित्र जैसे नाव की यात्रा, खेती तथा शिकार के सुन्दर चित्र भी बनाए जाते थे । जानवरों, पक्षियों तथा मछलियों के आकर्षक चित्र भी पाए जाते थे । पारिवारिक जीवन के कुछ चित्र भी पाए गए हैं । रानी हाशेपसुट के राजत्वकाल में निर्मित एक मंदिर की दीवार पर तीन बड़ी नावों का बड़ा ही सजीव चित्र बनाया गया, जिनमें नावों के पाल तथा नाविकों को डाँड़ चलाते हुए चित्रित किया गया है । इस चित्र के साथ-साथ चित्रलिपि में अभिलेख भी खुदे हुए हैं ।

प्राचीन मिस्र की गौण कलाएँ

इन प्रमुख कलाओं के अतिरिक्त प्राचीन मिस्र के कलाकारों ने छोटी-छोटी घरेलू वस्तुओं के निर्माण में भी अपनी दक्षता प्रदर्शित की । उसके बनाए मिट्टी के बर्त्तन, कुर्सी तथा अन्य उपस्कर (Furniture), आभूषण, तावीज तथा घरेलू बर्त्तन उनकी निपुणता की कहानी कहते हैं । तरह-तरह की कला-वस्तुओं से उनके घर सजाए जाते थे । बहुमूल्य पत्थरों से विभिन्न प्रकार के गहने बनाए जाते थे । कुर्सियों में सोने-चाँदी का काम किया जाता था तथा मुलायम चमड़े की गद्दियों से सजाया जाता था । उनके बनाए मिट्टी के बर्त्तनों की तुलना केवल ईजियन प्रदेश (Aegean Sea-belt) के कलाकारों के बनाए मिट्टी के बर्त्तन से की जा सकती है ।

बहुमूल्य पत्थरों, हाथीदाँत, मूल्यवान धातुओं तथा भासाचूर्ण (Alabaster) के प्रयोग से सुंदर आभूषणों के बनाने में उन्हें कमाल हासिल था । संपन्न परिवारों तथा राजकुल में बहुत बड़े पैमाने पर आभूषणों का प्रयोग होता था । विदेशों में इनका निर्यात भी किया जाता था । राजनैतिक शक्ति एवं आर्थिक संपन्नता की वृद्धि से इन सुख-साधन की वस्तुओं की माँग बढ़ती गई तथा मरणोत्तर जीवन के प्रति दृढ़ विश्वास ने इस माँग को और बढ़ा दिया । ताबीजों का प्रयोग बहुत बड़े पैमाने पर होने लगा; क्योंकि इन ताबीजों के द्वारा मरणोपरांत जीवन में सुख प्राप्त करने की आशाएँ की जाती थीं । इन ताबीजों को अत्यंत आकर्षक ढंग से बनाया जाता था । इनके साथ अँगूठियाँ, हार तथा बाजूबंद आदि गहने भी सोने और बहुमूल्य पत्थरों के बनाए जाते थे । शवों को रखने के लिए लकड़ी के ताबूत बनाए जाते थे । कब्रों में रखने के लिए जो उपस्कर बनाए जाते थे, उनमें लकड़ी और धातुओं का प्रयोग बड़ी ही कुशलता से किया जाता था । इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन मिस्र

के धार्मिक विश्वासों के कारण इन गौण कलाओं को प्रचुर प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। प्राचीन मिस्र की ये गौण कलाएँ सुन्दरता, सूक्ष्मता तथा कारीगरी की दृष्टि से बेजोड़ सिद्ध हुई हैं।

प्राचीन विश्व के इतिहास में मिस्री सभ्यता का स्थान

मिस्री सभ्भता की उपलब्धियों के आधार पर प्राचीन मिस्र के निवासियों को हम निर्विवाद रूप से मानव-सभ्यता का अग्रदूत मान सकते हैं। आधुनिक मानदंड से मूल्यांकन करने में भले ही उनकी सभ्यता दोषपूर्ण प्रतीत हो, पर सभ्यता के कई क्षेत्रों में मानव-जाति का नेतृत्व करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। मानव-जाति के इतिहास में इन लोगों ने सर्वप्रथम शासनतंत्र और कानून, कृषि, कला, धर्म एवं साहित्य का सुव्यवस्थित ढंग से निर्माण किया। लेखन-कला के विकास तथा पहला पंचांग बनाने का श्रेय भी इन्हीं लोगों को प्राप्त है। भूमध्यसागर की निकटवर्त्ती सभ्यताओं पर मिस्री सभ्यताओं की अमिट छाप पड़ गई। यूनानी, हीब्रू तथा फीनिशिया की सभ्यताएँ मिस्री सभ्यता के कई अंगों से निर्णायक ढंग से प्रभावित हुईं।

सूर्य देवता के द्वारा नियमित तथा संचालित नैतिक व्यवस्था के आधार पर यह ब्रह्मांड स्थिर है, यह प्राचीन मिस्र निवासियों का विश्वास था। वस्तुतः उनका यह विश्वास ऋग्वैदिक काल के आर्यों की 'ऋत्' की कल्पना से मिलता-जुलता है। भारत के आर्य यह मानते थे कि वरुण देवता 'ऋत्' के नैतिक नियमों के आधार पर संसार का संचालन करता है। अतः, मिस्री सभ्यता भी ऋग्वैदिक सभ्यता की तरह नैतिक आदर्शों से अनुप्राणित थी। इसी कारण प्राचीन मिस्र में संपत्ति के प्रति श्रद्धा, बड़ों के प्रति सम्मान, अतिथि-सत्कार, दयालुता, शांतिप्रियता, मिष्टभाषण तथा स्वच्छता को महान सद्गुण माना जाता था तथा झूठ बोलना, पाखंड, धोखा, लंपटता और मद्यपान को दुर्गुण माना जाता था। स्पष्ट व्यवहार तथा अहिंसा को परम सद्गुण माना जाता था, जिनके आधार पर मरणोत्तर जीवन में आत्मा को दंड अथवा पुरस्कार मिलता था। एक सदाचारी व्यक्ति को समाज के कमजोर तथा दुःखी लोगों की सेवा करनी चाहिए, मिस्री सभ्यता इस आदर्श से अनुप्राणित थी। राजकीय कर्मचारियों को न्याय करना चाहिए, इस बात की उन्हें बार-बार चेतावनी दी जाती थी। ईश्वर द्वारा नियमित विश्व-जनीन नैतिकता के अंतर्गत व्यक्तिगत नैतिकता की प्रतिष्ठा मिस्री सभ्यता का सामाजिक आदर्श था। अतः, नैतिकता की प्रतिष्ठा एवं उसके आधार पर समाज का संचालन करने की दिशा में भी मिस्री लोगों ने मानव-इतिहास में पहला प्रयास किया। पर, इसके साथ-साथ समाज में अमीरों और गरीबों का होना भी ईश्वरीय विधान का ही एक आवश्यक

अंग माना जाता था। अतः, आर्थिक सुधारों के द्वारा निर्धन वर्ग की दशा में उन्नति लाने के प्रयास नहीं किए गए।

बढ़ते हुए साम्राज्य के अनुरूप राजनैतिक व्यवस्था तथा शासनतंत्र को क्रमशः परिवर्त्तित करने की विफलता मिस्री साम्राज्य एवं सभ्यता के पतन का मुख्य कारण सिद्ध हुई। समाज के निम्न वर्ग का शोषण होता रहा तथा धार्मिक क्षेत्र में भी असहिष्णुता की नीति का अवलंबन किया गया। पुरोहित वर्ग के विकास के कारण पतन की प्रक्रिया तीव्रतर हो गई। इस वर्ग ने जनता की संपत्ति का शोषण किया तथा स्वतंत्र विचार का गला घोंट दिया। इससे शासन एवं साम्राज्य के प्रति साधारण जनता उदासीन होती गई। फलतः अपने शत्रुओं की उन्नत युद्धकला के समक्ष मिस्र को घुटने टेकना पड़ा। अपने सैन्यबल तथा युद्ध-कौशल के सहारे असीरिया, फारस, मेसीडोनिया तथा रोम ने बारी-बारी से मिस्र पर विजय प्राप्त कर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इन राजनैतिक पराजयों के बावजूद मिस्र की सभ्यता एवं संस्कृति जीवित रही। राजनैतिक पराभव के सदियों बाद तक मिस्र के कई नगर सांस्कृतिक विकास के केंद्र बने रहे। मिस्र पर विजय प्राप्त करने के बाद सिकंदर महान ने अलेक्जेंड्रिया नामक नगर बसाया, जो आज भी वर्त्तमान है। यह नगर व्यापारिक केंद्र के अतिरिक्त प्राचीन तथा मध्यकालीन युग में सदियों तक विद्या एवं संस्कृति का केंद्र वना रहा। इस्लाम के उदय के वाद ही पूर्ण रूप से प्राचीन मिस्र की धर्म एवं संस्कृति का लोप हुआ। अतः, इसमें संदेह नहीं कि मानव-सभ्यता के विकास में मिस्री सभ्यता की देन अत्यंत महत्वपूर्ण है।

●

४. प्राचीन बैबिलोनिया की सभ्यता

मिस्री सभ्यता के समकक्ष तथा समकालीन जो दूसरी विशिष्ट सभ्यता विकसित हुई, वह मेसोपोटामिया (Mesopotamia) के दक्षिणी भाग में स्थित थी। मेसोपोटामिया का दक्षिणी भाग एक नागरिक सभ्यता के लिए पूर्णरूपेण उपयुक्त था; क्योंकि यह दजला और फरात (Tigris & Euphrate)—जैसी दो नदियों से सिंचित होकर उर्वर हो गया था। ये नदियाँ हर साल काफी मात्रा में उपजाऊ मिट्टी इस प्रदेश में जमा करती थीं, जिसके कारणउपज भरपूर होती थी। इसके अलावा बहुत-सी नहरें भी बनायी गई थीं, जिनके द्वारा दूर-दूर के भागों में सिंचाई होती थी। ये दोनों नदियाँ यातायात की सुविधा प्रदान करती थीं। इनमें नावें चला करती थीं। और इनके किनारे-किनारे कारवाँ भी, चला करते थे। इसलिए उस प्रारंभिक युग में एक सबल सभ्यता के विकास के लिए यह प्रदेश अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ था। उस युग में मनुष्य की जो आवश्यकताएँ थीं, वे सभी यहाँ सुलभ थीं। इसी कारण उसके दक्षिणी भाग में भी एक शहरी सभ्यता का विकास हुआ।

बैबिलोनिया की सभ्यता की विशेषताएँ

इस प्रारंभिक युग में ही बैबिलोनिया में एक विशेष प्रकार के पूँजीवाद का विकास हुआ, जिसका तत्कालीन धर्म से घनिष्ठ संबंध था। वहाँ के लोगों का यह विश्वास था कि संपत्ति या पूँजी देवताओं की होती है। व्यावहारिक दृष्टि से इसका अर्थ होता था—देवताओं का नियंत्रण पुरोहित वर्ग के हाथ में हो। इसलिए संपत्ति, जो सैद्धांतिक दृष्टि से देवताओं की थी, व्यावहारिक दृष्टि से वह पुरोहितों की थी। इसका नतीजा यह हुआ कि वहाँ का पुरोहित वर्ग काफी समृद्ध हो गया और अपनी आर्थिक संपन्नता के कारण राष्ट्र के आर्थिक जीवन का नियंत्रण करने लगा। शायद इतिहास में कभी भी पुरोहित वर्ग के हाथ में इतनी आर्थिक शक्ति केंद्रित नहीं थी, जितनी वहाँ के पुरोहितों के पास थी।

धीरे-धीरे पुरोहित वर्ग ने एक क्रमबद्ध योजना के आधार पर इस प्रकार की धार्मिक व्यवस्था की सृष्टि की, जिसमें उनकी प्रधानता और महानता सुनिश्चित

थी। पुरोहित वर्ग के पास काफी अवकाश था। उन लोगों ने अवकाश के क्षणों का सदुपयोग धार्मिक कथाओं तथा आख्यानों की रचनाओं में किया। इन आख्यानों में पुरोहित वर्ग ने अपना घनिष्ठ संबंध देवताओं के साथ बतलाया तथा यह भी प्रचारित किया कि किसी भी प्रकार की भौतिक समृद्धि, बिना उनकी मध्यस्थता के देवताओं से प्राप्त नहीं की जा सकती है। उदाहरण के लिए यह माना जाने लगा कि अच्छी फसलें देवताओं की कृपा से ही प्राप्त होती हैं और यह कृपा पुरोहितों के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है। यह माना जाता था कि यज्ञों के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना चाहिए और फसल कटने के बाद देवताओं के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के रूप में पूजा करनी चाहिए। इस तरह का विश्वास करीब-करीब सभी कृषिप्रधान सभ्यताओं में पाया जाता था। भारतवर्ष में भी ऋग्वैदिक काल में यज्ञों की प्रधानता का कारण कृषि के लिए देवताओं को प्रसन्न करना ही था। वहाँ भी यज्ञों के समय जो वस्तुएँ देवताओं को चढ़ायी जाती थीं, उनका कुछ अंश उस समय ही पुरोहित लोग खा जाते थे। कुछ अंश को भविष्य के लिए सुरक्षित रखते थे तथा कुछ अंश देवताओं की संपत्ति के रूप में पुरोहितों के पास धरोहर की तरह रह जाता था। इसी क्रम से पुरोहित वर्ग धनी हो गया। उनके पास बड़ी संख्या में मवेशी और प्रचुर मात्रा में अनाज जमा हो गया। इसके अलावा बहुमूल्य पत्थर तथा दूसरे चढ़ावे, जो देवताओं को दिए जाते थे, उनके पास जमा होने लगे।

इस प्रकार की अर्जित संपत्ति से पुरोहित वर्ग व्यापार करने लगा। वे लोग मवेशियों को भाड़े पर किसानों को देने लगे और मवेशियों, तथा मवेशियों की संतानों पर अपना अधिकार सुरक्षित रखने लगे। पुरोहित लोग सूद भी कमाते थे। वे बीज के रूप में किसानों को अनाज देते थे और फसल कटने के बाद सूद के साथ वसूल करते थे। कभी-कभी ये लोग सिंचाई के लिए नालियाँ या खाइयाँ खुदवा देते थे, जिसके कारण नई जमीन खेती के लायक बनायी जा सके। इन नई जमीनों को ये लोग देवताओं की संपत्ति घोषित करते थे। इसके अलावा नई संपत्ति भी उनके पास कर्ज लेने वालों के लौटाए हुए धन के रूप में आती थी। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि वहाँ के कृषि के सभी पहलुओं का नियंत्रण पुरोहितों के ही हाथों में था। वे लोग अपनी उच्च शिक्षा और अनुभव के आधार पर बड़ी कुशलता से किसानों का नेतृत्व करते थे।

मंदिरों के निर्माण से भी पुरोहितों की संपत्ति बढ़ती गई। बेबिलोनिया में जो भव्य मंदिर बनाए गए, वे कुछ ही दिनों में सामाजिक जीवन के प्रधान केंद्र बन गए, व्यापारी वर्ग इन मंदिरों के आसपास अच्छा व्यापार कर लेता था। इस व्यापार की सफलता में उन्हें पुरोहितों से सहायता मिलती थी। किसी प्रकार का

इकरारनामा देवताओं के सम्मुख शपथ लेकर होता था। इस तरह के इकरारनामों में भी पुरोहित वर्ग पैसे कमाता था। बहुत लोग बहुमूल्य वस्तुओं को मंदिर-कोष में जमा कर देते थे। लिखने-पढ़ने का ज्ञान होने के कारण पुरोहित वर्ग व्यापारिक कार्रवाइयों का लिखित विवरण रख सकता था। व्यापारियों को भी पुरोहित वर्ग कभी-कभी सूद पर ऋण दिया करता था। इस तरह देवताओं के नाम पर या स्वयं ही पुरोहित वर्ग व्यापार किया करते थे। देवताओं की संपत्ति की निगरानी के लिए मंदिरों में बहुत बड़ी संख्या में कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। इन कर्मचारियों का सबसे बड़ा अफसर पटेसी (Patesi) कहा जाता था। पटेसी केवल देवताओं की ही संपत्ति की निगरानी नहीं करता था, बल्कि नगर पर भी शासन करता था। इसलिए यदि यह कहा जाए कि वहाँ एक प्रकार का धर्मतंत्र था, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। दूसरे शब्दों में देवताओं के नाम पर वहाँ का शासन पुरोहित किया करते थे।

राजनैतिक अव्यवस्था

ईसा से ३००० वर्ष पहले बैबिलोनिया कई छोटे-छोटे स्वशासित नगर-राज्यों में विभक्त था। इन नगरों के चारों ओर कई मीलों तक खेत होते थे, जहाँ से नागरिकों को भोजन की सामग्री उपलब्ध होती थी। किसान गाँवों में रहा करते थे। इन नगर-राज्यों के राजनैतिक जीवन का मुख्य केंद्र नगर होता था। प्रत्येक नगर देवताओं के मंदिरों के इर्द-गिर्द बसा होता था। इन नगरों में बाजार और कारखाने आदि हुआ करते थे। पुरोहित वर्ग, जो शासक भी होता था, भड़कीले मकानों में रहता था। इसके अलावा व्यापारी वर्ग और कर्मचारी लोग भी अच्छे मकानों में रहा करते थे। नगर के चारों ओर धूप में सुखायी हुई ईंटों की चहारदीवारी होती थी। इस चहारदीवारी के बाहर गरीबों की झोपड़ियाँ हुआ करती थीं। देहातों में रहने वाले किसानों को कोई अधिकार नहीं था। वे देवताओं के खेतों में मजदूरों की तरह खटते थे, जिसके लिए उन्हें मजदूरी मिला करती थी। कभी-कभी वे लोग बटाई पर भी खेती किया करते थे। इन नगरों में कई हजार निवासी होते थे और ये सभी किसी-न-किसी रूप में देवताओं की नौकरी किया करते थे। दूसरे शब्दों में इन नगर-राज्यों का समस्त राजनैतिक और आर्थिक जीवन पुरोहितों द्वारा नियंत्रित था। कुछ पुरोहित राजनैतिक जीवन की देखभाल किया करते थे और कुछ आर्थिक जीवन की। इसके अलावा पुरोहित वर्ग धार्मिक, दार्शनिक, बौद्धिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में भी नेतृत्व करता था। तात्पर्य यह है कि जीवन का समस्त क्षेत्र पुरोहितों के नेतृत्व से अनुप्राणित था। पुरोहितों के नियंत्रण में ये नगर-राज्य बहुत दिनों तक बैबिलोनिया के सांस्कृतिक जीवन के केंद्र रहे।

कभी-कभी इन नगर-राज्यों में लड़ाइयाँ भी होती थीं। कोई शक्तिशाली शासक पड़ोसी नगर-राज्यों को पराजित कर उन पर अपना अधिकार स्थापित करता था। कई नगर-राज्यों को मिला कर जो राज्य बनते थे, उन पर शासन करने वालों को लूगल (Lugal) कहते थे, जिसका अर्थ 'राजा' होता था। ऐसे राज्यों में भी स्थानीय शासन पटेसी के ही हाथों में रहता था, लेकिन शासनतंत्र का रूप बदल जाता था। ये राजा लोग सैनिक शक्ति पर अधिक भरोसा रखते थे और सैनिक वर्ग के कुलीनों को अधिक अधिकार देते थे। यह भी घोषणा किया करते थे कि वे देवताओं की इच्छा के अनुसार शासन करते रहे हैं। इस तरह के नगर-राज्यों में पुरोहित वर्ग के प्रतिद्वंद्वी के रूप में सैनिक वर्ग आ गया और कई नगरों में राजाओं ने शासन का काम पुरोहितों के हाथ से लेकर धर्मनिरपेक्ष अफसरों के हाथ में दे दिया। बहुत दिनों तक कई राजा बैबिलोनिया के विभिन्न प्रदेशों में छोटे-छोटे राज्यों पर शासन करते रहे। बहुत दिनों के बाद ईसा से ढाई हजार वर्ष पूर्व एक राजा वहाँ के बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर सका।

सुमेर और अक्कड़ नगर

दजला और फरात की घाटी का दक्षिणी भाग, जिसे हम बैबिलोनिया कहते हैं, उन दिनों सुमेर और अक्कड़ का प्रदेश कहा जाता था। इस प्रदेश के उत्तर में असीरिया (Assyria) का प्रदेश स्थित था। बैबिलोनिया के मैदान का दक्षिणी भाग 'सुमेर' और उत्तरी भाग 'अक्कड़' कहा जाता था। सुमेर और अक्कड़ केवल भौगोलिक दृष्टि से दो विभिन्न प्रदेश थे। दोनों भागों में दो विभिन्न जातियों के लोगों को प्रधानता प्राप्त थी। अक्कड़ में सेमाइट (Semite) जाति के लोग थे, जो सीरिया और अरब से वहाँ आए हुए थे। सुमेर में दूसरी जाति के लोग प्रमुख थे। किंतु, अभी तक उनकी जाति का पता नहीं लग सका है। करीब तीन हजार ई०-पू० से सुमेर के लोगों ने बैबिलोनिया की संस्कृति में अपनी प्रधानता स्थापित की। कुछ विद्वानों का कथन है कि सुमेर के लोगों ने करीब तीन हजार तीन सौ ई०-पू० में बैबिलोनिया पर आक्रमण किया। इधर हाल के कुछ विद्वानों का मत है कि सुमेर के लोग दरअसल बैबिलोनिया के आदि निवासी थे, जो फारस की खाड़ी के उत्तरी भागों में रहते थे। वास्तव में उनकी उत्पत्ति और उनके उद्भव के बारे में हमें निश्चित ज्ञान नहीं है। मूलतः वे अल्पाईन (Alpine) जाति के थे। उनका सर चौड़ा होता था तथा कद छोटा और भारी होता था। उनकी भाषा किस भाषा-परिवार की थी, यह कहना कठिन है, लेकिन वह एशिया के भाषाओं से ही संबद्ध थी। उनकी उत्पत्ति जो भी रही हो, सुमेरियन लोग बहुत ही प्रतिभाशाली थे। उन लोगों ने ऐतिहासिक युग में भी कई सदियों तक मेसोपोटामिया के राजनैतिक

जीवन को प्रभावित किया और बाद में सेमेटिक जाति के लोगों से पराजित होने पर भी सांस्कृतिक दृष्टि से वे इस प्रदेश पर अपना प्रभाव डालते रहे। सुमेर की संस्कृति को ऐतिहासिक दृष्टि से हम चार भागों में बांट सकते हैं। ये भाग निम्न लिखित हैं—

(१) ऊर का पहला राजवंश (लगभग २५०० ई०-पू०)।

(२) अगेट के सारगन के अंदर सेमेटिक शासन (करीव २३००ई०-पू०)।

(३) ऊर के तीसरे राजवंश के अंतर्गत सुमेर की संस्कृति का पुनरुत्थान (करीव २१०० ई०-पू०)।

(४) बैबिलोनिया के शासक हम्मूराबी के अंदर दूसरा सेमेटिक शासन (२१२४ ई०-पू० से २०८१ ई०-पू० तक)।

ऊर के राजवंश का इतिहास लगभग २५०० ई०-पू० से शुरू होता है। इस राजवंश का पहला राजा मेस-अन्ने-पद (Mes-anne-pada) था। बाइविल में भी इस शहर का नाम आया है। बाइबिल के अनुसार इस शहर में अब्राहम का जन्म हुआ था। ऊर के प्रथम राजवंश ने १७७ वर्षों तक शासन किया। यहाँ के राजाओं की कब्रों का पता १९२० ई० में चला। ये कब्रें बहुत ही कलात्मक ढंग से बनायी गई थीं और इनमें काफी सोना और जवाहरात पाए गए। इनमें पायी गई चित्रकारी और मूर्तियों के द्वारा तत्कालीन जीवन की झाँकी प्राप्त होती है।

इसमें संदेह नहीं कि ये कब्रें प्रथम राजवंश के समय से ही पायी जाती हैं। पहले राजा मेस-अन्ने-पद की पत्नी की एक मोहर इन कब्रों में मिली है और उसके द्वारा वनवाए गए एक मंदिर का शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। एक शिलालेख में वह अपने-आपको कीश (Kish) का राजा बताता है। ऐसा लगता है कि प्रथम राजवंश ने बैबिलोनिया के बहुत बड़े भाग पर राज्य किया।

प्रथम राजवंश के बाद का इतिहास

बहुत दिनों तक यहाँ के राजवंशों और नगर-राज्यों में लड़ाइयाँ चलती रहीं। इन लड़ाइयों का मुख्य कारण एक राजवंश का नेतृत्व स्थापित करना था। करीब २२८६ ई०-पू० के आसपास उम्मा के पटेसी तथा ऊरुक के राजा ने वैबिलोनिया के बहुत बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इस राजा का नाम लुगल-जगीसी (Lugal-Zaggisi) था। इसने बहुत-से शहरों पर अधिकार किया और लगाश (Lagash) शहर को पूर्ण रूप से ध्वस्त कर दिया। एक तख्ती पर एक शिलालेख मिला है, जिसमें इस राजा को लगाश को नष्ट करने के कारण अभिशाप दिया गया है। दूसरे लेखों में इस राजा को कई नगरों का बहुत बड़ा मित्र बतलाया

गया है। इसने ऊर (Ur), ऊरुक (Uruk) और निपुर (Nippur) नामक नगरों की सौंदर्य-वृद्धि की। इसको अन्य शिलालेखों में एक बहुत बड़े भाग का शासक भी बतलाया गया है, जिसने दजला और फरात से लेकर भूमध्यसागर तक राज्य किया। लेकिन, इसका यह दावा कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम होता है। यह हो सकता है कि इस राजा ने भूमध्यसागर के इलाकों तक हमले किए हों। इसमें भी संदेह नहीं कि इस जमाने में सुमेर की संस्कृति का प्रसार सुमेर और अक्कड़ की सीमाओं के बाहर दूर-दूर के प्रदेशों में हो रहा था। सुमेर के व्यापारी सीरिया और एशिया-माइनर तक जाया करते थे और अपने विजय-अभियानों का संचालन यह राजा इन परिचित मार्गों से ही करता होगा। लेकिन, इन विजय-अभियानों का क्या उद्देश्य था, इस पर हम निश्चित रूप से कुछ कह नहीं सकते। अपने लेखों में वह अपने-आप को अनलिल (Enlil) देवता का सेवक बतलाता है। संभवतः उसके विजय-अभियानों का उद्देश्य मात्र सैनिक प्रसिद्धि प्राप्त करना या व्यापार के नए मार्गों की तलाश अथवा व्यापार के पुराने भागों की रक्षा करना था।

करीब २२६४ ई०-पू० में अगेट के राजा सारगन ने, जो सेमिटिक वंश का था, लुसग-जगीसी को हरा कर कैद कर लिया। क्रमशः बैबिलोनिया में सेमेटिक जाति के लोग क्रमशः थोड़ी-थोड़ी संख्या में आकर बसने लगे थे। उन लोगों ने सुमेरियन संस्कृति अपना ली थी। इसलिए सारगन को लुगल-जगीसी के सैन्यवाद के विरुद्ध जातियों की सहानुभूति प्राप्त करने में देर न लगी।

सारगन एक प्रतिभाशाली और शक्तिशाली शासक था। इसलिए उसके जीवनकाल में ही उसके विषय में तरह-तरह की कहानियों और आख्यानों का प्रचार हो गया। उसके बारे में जो प्रमुख जनश्रुति प्रचलित थी, वह यह थी कि उसके माता-पिता कुलीन नहीं थे। उसकी माता साधारण घराने की थी और पिता अज्ञात था तथा उसकी माँ ने पैदा होने के बाद एक सरकंडे की टोकरी में उसे नदी में बहा दिया था। एक माली ने उसे नदी से निकाल कर उसका पालन-पोषण किया। बाद में वह कीश के राजा के यहाँ नौकरी करने लगा। उसका वंश और कुल जो भी रहा हो, वह २२७७ ई०-पू० में राजा बना और अगेड (Agade) नामक शहर में शासन करने लगा। इस नगर की स्थापना उसने स्वयं की और अपने राजवंश की स्थापना की। पूरे अक्कड़ प्रदेश का नाम अगेड के नाम पर ही पड़ा। सारगन ने अपने जीवन का आरंभ देवताओं के समर्थक तथा लुगल-जगीसी के अत्याचारों के विरोधी के रूप में किया। लेकिन, शीघ्र ही वह आक्रमण के क्षेत्र में लुगल-जगीसी से भी आगे बढ़ गया। अपने ५६ वर्षों के शासन-काल में उसने दूर-दूर तक विजय-अभियान किया। उसने पूरे मेसोपोटामिया पर अधिकार किया। उसने पूर्व में एलन

तक चढ़ाई की और पश्चिम में सीरिया तथा साइप्रस तक आक्रमण किए । अपने जीवन के अंतिम दिनों में उसे अपने राज्य में विद्रोहों का सामना करना पड़ा और ऐसा लगता है कि अंत में अपने ही सैनिकों द्वारा उसकी हत्या कर दी गई ।

नरम-सीन

सारगन के बाद उसके दो पुत्र बारी-बारी से गद्दी पर बैठे और अंत में उसका पोता नरम-सीन (Naram-Sin) लगभग २१६७ ई०-पू० में गद्दी पर बैठा । इसने कुछ दिनों के लिए बैबिलोनिया को सारगन के समान ही राजनैतिक एकता और गरिमा प्रदान की । वास्तव में इसकी विजय का क्षेत्र इसके दादा से अधिक बड़ा था और इसलिए उसने बड़ी शान के साथ अपने-आपको 'पृथ्वी के चारों खंडों का शासक' बतलाया । अंत में, इसे भी गद्दी छोड़नी पड़ी और इसके गद्दी से हटने के बाद वैबिलोनिया में घोर अराजकता का साम्राज्य स्थापित हो गया । एक प्राचीन इतिहासकार के अनुसार यह कहना मुश्किल हो गया कि वहाँ का शासक कौन है ? आंतरिक युद्धों से बैबिलोनिया इतना कमजोर पड़ गया कि गुटियन (Gutian) जाति के विदेशी आक्रमणकारियों ने उत्तर-पूर्व से भीषण हमला किया । ६० वर्षों तक इन विदेशी आक्रमणकारियों के कुशासन और अत्याचारों से वैबिलोनिया की जनता त्राहि-त्राहि करती रही और अंत में करीब २०६० ई०-पू० में ऊरुक नामक एक राजा ने इन लोगों को मार भगाया । लेकिन, ऊरुक के राजवंश का शासन भी बहुत थोड़े समय तक चला और अंत में उसे पराजित कर ऊर के तीसरे राजवंश ने अपना शासन स्थापित किया ।

ऊर का तीसरा राजवंश और बैबिलोनिया के हम्मूराबी का शासन

वैबिलोनिया पर ऊर के तीसरे राजवंश का शासन लगभग २०५३ ई०-पू० में स्थापित हुआ । इस राजवंश की स्थापना से सुमेर की संस्कृति का जो पुनरुत्थान हुआ, उससे इस संस्कृति का विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया । वैबिलोनिया पर करीब सौ वर्षों तक तीसरे राजवंश का शासन स्थापित रहा । इसके बाद इस भाग पर दो राजवंशों का शासन स्थापित हुआ । ये दोनों राजवंश आपस में ही लड़ते रहते थे । इन दोनों राजवंशों को हरा कर एक सेमेटिक राजवंश ने अपना शासन स्थापित किया । इस सेमेटिक राजवंश का ही छठा शासक था, हम्मूराबी, जो विश्व-इतिहास में प्रसिद्ध है । उसने २१२४ ई०-पू० से २०८१ ई०-पू० तक शासन किया । यह एक महान शासक और महान व्यक्ति था और सौभाग्यवश इसकी जानकारी के बारे में हमारे पास पर्याप्त साधन हैं । इसके जमाने में संपूर्ण वैबिलोनिया

एक राजा के अंदर था और राजा की शक्ति सारगन और नरम-सीन द्वारा विजित प्रदेशों से भी दूर-दूर तक फैली हुई थी। पूरा सीरिया बैबिलोनिया के अंदर था। हम्मूराबी ने सीरिया में बैबिलोनिया की राजनैतिक और सांस्कृतिक प्रधानता स्थापित की। सीरिया के निवासी, जो सेमेटिक जाति के थे, बैबिलोनिया की संस्कृति, पौराणिक कथाएँ, कानून तथा लिपि को अपनाने लगे। यह सांस्कृतिक प्रभाव कई शताब्दियों तक बैबिलोनिया की राजनैतिक शक्ति के ह्रास के बाद भी सीरिया में कायम रहा।

बैबिलोनिया की संस्कृति हम्मूराबी के जमाने में पराकाष्ठा पर पहुँच गई। लेकिन, हम्मूराबी के बाद ही बैबिलोनिया का पतन प्रारंभ हो गया। उसके बाद उसके उत्तराधिकारियों ने डेढ़ सौ साल तक राज्य किया। १७६१ ई०-पू० में बैबिलोनिया पर कस्साइट (Kassite) लोगों ने आक्रमण किया। ये लोग पूर्व प्रदेश में स्थित एक लड़ाकू और पहाड़ी जाति थे। इन लोगों के आक्रमण ने तीन वर्षों के अंदर ही हम्मूराबी के साम्राज्य को सदा के लिए कई भागों में बाँट दिया। इन्होंने पूर्वी भाग ले लिया। बैबिलोनिया के राजाओं ने पश्चिमी और मध्य भाग ले लिया और दक्षिणी भाग बैबिलोनिया में स्थापित एक नए राजवंश को मिला, जिसे 'बैबिलोनिया का दूसरा राजवंश' कहते हैं। इन तीनों राजवंशों ने करीब डेढ़ सौ वर्षों तक राज्य किया। १५६५ ई०-पू० में हिट्टाइट (Hittite) लोगों ने एशिया माइनर से आक्रमण किया। आक्रमण के बाद इस शहर को बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट करने के बाद ये लोग वापस चले गए। लेकिन, बैबिलोनिया इतना कमजोर हो गया कि उस पर कुछ ही दिनों के बाद कस्साइट लोगों का आक्रमण हुआ और उन्होंने यहाँ पर चार सौ साल तक शासन किया। उनका राज्यकाल बैबिलोनिया के इतिहास में एक अंधकारमय युग माना जाता है।

बैबिलोनिया की प्रारंभिक संस्कृति अथवा सुमेर की संस्कृति

सुमेरियन लोगों ने एक लिपि का आविष्कार किया, जिसे कीलाकार लिपि (Cuneiform Writing) कहते हैं। प्रारंभ में, यह लिपि चित्रात्मक थी। ये लोग चित्रों द्वारा विचारों को व्यक्त करते थे। कभी-कभी ये चित्र लकड़ी या पत्थर पर बनाए जाते थे, लेकिन सुमेरियन लोग इन चित्रों को मुलायम मिट्टी पर बनाते थे, जिनको बाद में सुखा या पका दिया जाता था। कुछ ही दिनों में इन लोगों ने सरकंडे की शलाका से इस चित्रों को बनाना शुरू किया। इस नुकीले सरकंडों से लिखने के कारण ही इस लिपि का नाम 'कीलाकार लिपि' पड़ा। प्रत्येक चित्र एक शब्द के बराबर था। इस लिपि के द्वारा ठोस और निश्चित वस्तुओं की अभिव्यक्ति

हो सकती थी, लेकिन इस चित्रलिपि के द्वारा नाम अथवा भाववाचक संज्ञाओं की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। लिपि के इतिहास में दूसरा क्रम तब प्रारंभ हुआ, जब कि लोगों ने आवाज के आधार पर विचारों को व्यक्त करना शुरू किया। इसलिए धीरे-धीरे प्राचीन चित्रलिपि व्यर्थ सिद्ध होने लगी। सुमेरियन भाषा में भी उस समय शब्दों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार कई शब्दों को मिला कर लिखने की परंपरा का प्रारंभ हुआ। कुछ दिनों के बाद सेमाइट लोगों ने अपनी अक्कड़ की भाषा को भी सुमेर की लिपि में लिखना शुरू किया। इन लोगों ने वर्णमाला के अक्षरों को और कम कर दिया। फिर भी, कुछ प्राचीन प्रतीक अभी भी लिपि में कायम रहे। अंत में, इस लिपि का विकास होता गया और छठी शताब्दी ई०-पू० में फारस के लोगों ने अपनी इंडो-यूरोपियन कुल की भाषा को इस कीलाकार लिपि के इकतालीस अक्षरों में लिखना शुरू किया।

जिन मिट्टी के तख्तों पर ये लोग लिखा करते थे, वे आयताकार होते थे, लेकिन उनका आकार छोटा-बड़ा होता था। वे पंक्तियों में बाएँ से दाएँ लिखते थे। इन मिट्टी की तख्तियों पर कानूनी दस्तावेज और इकरारनामे लिखे जाते थे और इन दस्तावेजों के नीचे एक मुहर भी लगा दी जाती थी। ये मुहरें पत्थर की बनायी रहती थीं, जिनकी लंबाई एक इंच होती थी और व्यास आधा ईंच होता था। जब तक मिट्टी गीली रहती थी, तभी तक लिखने का काम होता था।

छोटी-छोटी दस्तावेजों के लिए ये मिट्टी के तख्ते काफी संतोषजनक थे। उदाहरण के लिए इन पर इकरारनामे, राजशासन, रसीद, संक्षिप्त विवरण, मंत्र और शाप लिखे जा सकते थे। लेकिन, बड़ी चीजों के लिए ये असंतोषजनक थे। बड़ी दस्तावेजों के लिए त्रिकोणाकार मिट्टी के तख्ते इस्तेमाल किए जाते थे। इनकी ऊँचाई एक फीट होती थी और व्यास दस इंच होता था। इसलिए इन पर कुछ अधिक लिखा जा सकता था, लेकिन ये अधिक महँगे होते थे और टूट भी सकते थे। फिर भी, आजकल की किताबों में जितना पाँच-छह पन्नों में लिखा जा सकता है, उतना इन पर लिखा जाता था।

सुमेरियन संख्या और नाप-तौल

सुमेरियन लोगों ने जिन संख्याओं का आविष्कार किया, उसका प्रभाव प्राचीनकाल में तो था ही, आज भी पाया जाता है। चूँकि उन लोगों ने सभी प्रारंभिक जातियों की तरह अपनी उँगलियों पर गिनना शुरू किया, इसलिए दस का अंक उनकी गणना का आधार हो गया। लेकिन, उन लोगों ने इस दाशमिक प्रणाली को आगे नहीं बढ़ाया। तात्पर्य यह है कि उन लोगों ने १०० तथा १००० को दूसरी या तीसरी इकाई नहीं माना। इसके बदले उन लोगों ने १० में ६ का गुणा

किया और ६० को दूसरी इकाई माना। उसी तरह ६०० उनकी तीसरी इकाई बना। ६०० में ६ का गुणा करने के बाद ३६०० को चौथी इकाई माना। इस प्रकार १० और ६ के गुणा से वे अपनी इकाइयाँ बढ़ाते गए।

हालाँकि सुमेरियन लोगों की अंक लिखने की प्रणाली पेचीदी थी, फिर भी उनके जोड़-घटाव में कोई कठिनाई नहीं होती थी। छोटी-छोटी संख्याओं के लिए पहाड़ा आसानी से याद किया जा सकता था। बड़ी संख्याओं का गुणा-भाग वे लिख कर किया करते थे। वे भिन्न से भी परिचित थे। उन लोगों ने बीजगणित के क्षेत्र में भी कुछ प्रारंभिक आविष्कार किए थे। लेकिन, रेखागणित में उनलोगों ने बहुत कम प्रगति की। सेमाइट लोगों ने गणना के लिए दाशमिक प्रणाली का प्रयोग किया था। लेकिन, जब उन लोगों ने सुमेर की लिपि को अपनाया, तब सुमेर की संख्या और ६ से गुणा करने की प्रणाली को भी अपना लिया। इसलिए आज भी जो हम ६० मिनट और ६० सेकेंड का प्रयोग करते हैं वह इन्हीं लोगों के प्रभाव का प्रमाण है।

सुमेरियन लोगों ने चंद्र पंचांग (Lunar Calendar) का प्रयोग किया। उन लोगों का महीना नवचंद्र से शुरू होता था। उनके कोई-कोई महीने तो तीस दिनों के होते थे, लेकिन चांद्र गणना के अनुसार बारह महीने केवल तीन सौ चौवन दिनों के होते थे। परंतु सौर पंचांग के अनुसार ३६५ दिनों का वर्ष बनाने के लिए हर तीसरे-चौथे साल उन्हें एक महीना जोड़ना पड़ता था। वे एक महीने का विभाजन चार सप्ताहों में किया करते थे। सभी दिनों के नाम ग्रहों के आधार पर थे। चूँकि हफ्तों का नियमन चंद्रमा की गति के आधार पर होता था, अतः उनके हफ्ते आठ दिनों के हुआ करते थे। दिन और रात का विभाजन छह प्रहरों में होता था और प्रत्येक प्रहर दो घंटे का हुआ करता था। इसी प्रकार उन लोगों ने नाप-तौल के लिए भी मानदंड स्थापित किए थे। उन लोगों का एक मीना (Mina) साठ शेकेल (Shekel) का होता था। एक मीना एक पाउंड से थोड़ा अधिक होता था।

सुमेर की धार्मिक व्यवस्था

सुमेर की संस्कृति में धर्म और मंदिरों को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। मंदिरों को देवताओं का निवासस्थान माना जाता था। मंदिर देवताओं की मूर्तियों और चित्रों से सुसज्जित होते थे। सुमेरियन लोग अपने मंदिरों को ऊँचे स्थान पर बनाया करते थे; क्योंकि बैबिलोनिया आने से पहले वे लोग किसी पहाड़ी इलाके में रहते थे; जहाँ मंदिर पहाड़ों की चोटियों पर बनाए जाते थे। मंदिर धार्मिक उद्देश्यों के अलावा सामाजिक जीवन के भी केंद्र थे। हमलोग देख चुके हैं कि

सुमेर के जीवन में पुरोहित वर्ग आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में काफी प्रभाव रखता था। पर्वों और त्योहारों के दिन मंदिरों में ऐसे उत्सव हुआ करते थे, जो धार्मिक भावना के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना भी जागृत करते थे। इन उत्सवों का ज्ञान हमें सुमेर में प्राप्त मिट्टी की तख्तियों पर लिखे लेखों से मिलता है। इन उत्सवों में संगीत का काफी महत्त्व था। संगीतज्ञ और वादक बहुत बड़ी संख्या में रखे जाते थे। ये उत्सव मुख्यतः धार्मिक होते थे, लेकिन साथ-साथ देशभक्ति की भावना भी जागृत करने के प्रयास किए जाते थे।

इन मंदिरों में जिन देवताओं की पूजा होती थी, वे पहले स्थानीय देवता थे। प्रत्येक नगर के अपने-अपने देवता होते थे, कभी-कभी दो नगरों में एक ही नाम के देवता की पूजा होती थी, पर उनकी पूजन-प्रणाली, उनकी शक्तियाँ और उनके गुण अलग-अलग थे। जब दो नगर बहुत निकट आ जाते थे, तब दो देवताओं में दूसरे प्रकार के संबंधों की कल्पना की जाती थी। सुमेर के निवासियों का देवमंडल काफी विस्तृत था और देवताओं के विषय में लंबे उपाख्यानों की भी कल्पना की गई थी। उदाहरण के लिए ऊरुक में पूजित अनु (Anu) नाम का देवता आकाश का देवता माना जाता था। कुछ ही दिनों में यह सर्वश्रेष्ठ देवता मान लिया गया। अनु के बाद जो दूसरा प्रधान देवता था, वह निपुर में पूजित 'एनलिल' नाम का देवता था, जो तूफानों का देवता था। ये दोनों ही देवता ऋग्वैदिक काल के विष्णु और इन्द्र से मिलते-जुलते हैं। बाद के इतिहास में बैबिलोनिया का देवता मारडुक (Marduk) सर्वोच्च देवता माना गया। प्रधान देवताओं में चौथा स्थान एनकी (Enki) देवता का माना गया, जो अनु देवता का पुत्र और जलदेवता माना जाता था। यह ऋग्वैदिक काल के वरुण से मिलता-जुलता है। इन सभी देवताओं की पत्नियों और संतानों की कल्पना की गई थी। सभी देवताओं के शत्रु और मित्र भी थे। इसके अतिरिक्त इन देवताओं के अनुचर भी होते थे, जिनके द्वारा वे स्वर्ग और पृथ्वी पर शासन करते थे। विभिन्न नगरों के उत्थान-पतन से देवताओं के सम्मान और प्रतिष्ठा में भी फर्क आया करता था।

इन प्रमुख देवताओं के अलावा कुछ अन्य देवताओं की भी कल्पना की गई थी, जो उपासकों के हृदय में अधिक संतोष प्रगट कर सकते थे। इन छोटे देवताओं के रूप में पृथ्वी माता की कई रूपों में पूजा होती थी। ऐसे देवी-देवताओं में सबसे प्रसिद्ध 'इन्नेनी' (Inneni) नाम की देवी थी, जो उर्वरता की देवी मानी जाती थी। अत्यंत प्राचीन काल से ऊरुक नगर में इन्नेनी की पूजा होती थी। बाद में सेमाइट लोगों ने इसकी पूजा इश्तर (Ishtar) देवी के नाम से करनी शुरू की। इश्तर देवी की पूजा शीघ्र ही सीरिया और पैलेस्टाइन में भी होने लगी। इस देवी का नाम बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेंट (Old Testament) में भी आता है और यहूदी

लोग भी इसको एस्थर (Esther) के नाम के पुकारते थे। पूरे बैबिलोनिया में इस देवी का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि वह शीघ्र ही अनु देवता की पत्नी अंतु (Antu) की प्रतिद्वंद्वी बन गई। इसकी प्रधानता इसलिए थी कि वह उर्वरता की देवी के रूप में अपने उपासकों को अन्न, पशु और संतान प्रदान करती थी। अत्यंत प्राचीन काल से ही बैबिलोनिया के लोग इश्तर के दो रूप मानते थे, एक पार्थिव और दूसरा स्वर्गीय। इस देवी का पार्थिव स्वरूप प्रजनन और यौन-क्रिया का नियमन करता था और कभी-कभी इन क्रियाओं के भद्द रूप की भी अभिव्यक्ति इस देवी के मंदिरों में होती थी। उसके कुछ मंदिर वेश्यावृत्ति के अखाड़े भी बन जाते थे। पर, उसका स्वर्गीय रूप अत्यंत उज्ज्वल था। उसका एकीकरण सबसे चमकीले ग्रह शुक्र से किया जाता था तथा उसकी पूजा एक आदर्श माँ के रूप में की जाती थी। उसके चित्र में उसको एक बच्चे को गोद में लिए दर्शाया जाता था और उसे समस्त मानव जाति की माँ माना जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि वह मनुष्य की दुःख-दर्द को सुनती है और उसे कम करने का प्रयास करती है। इश्तर की पूजा इस बात का प्रमाण है कि ईश्वर की कल्पना माँ के रूप में अनेक प्राचीन सभ्यताओं में की गई है। भारतवर्ष में भी सिंधु घाटी की सभ्यता में मातृशक्ति की पूजा की जाती थी और हिंदू धर्म में वही पूजा शक्ति की उपासना के रूप में विकसित हुई, जो अभी तक जीवित है।

इश्तर से बहुत ही निकट सम्बन्ध रखने वाला देवता था—तम्मुज (Tummuz)। इस देवता को कहीं इश्तर के लड़के, कहीं भाई और कहीं उसके प्रेमी के रूप में पूजा जाता था। लेकिन, प्रारंभ में ऐसा पता चलता है कि उसकी पूजा पृथ्वी माता के लड़के के रूप में होती थी। तम्मुज को अनाज, फूल तथा वनस्पतियों का देवता माना जाता था। उसकी प्रार्थनाओं में उसको मनुष्यों और जानवरों का बहुत बड़ा मित्र बतलाया गया है। उसको एक 'आदर्श गड़ेरिया' कहा गया है। बहुत आख्यानों में तम्मुज की मृत्यु का वर्णन है और उसकी मृत्यु के पश्चात् इश्तर की विरह-वेदना और उसकी खोज का विवरण है। अंत में, मानव जाति के कल्याण के लिए इश्तर तम्मुज को पा लेती है। इस क्षेत्र में वनस्पतियों का काफी महत्त्व था। इसलिए तम्मुज की प्रधानता थी। इश्तर द्वारा तम्मुज को पुनः प्राप्त किए जाने की घटना का धार्मिक उत्सवों के द्वारा सुमेरियन लोग खुशी मनाया करते थे। तम्मुज और इश्तर विभिन्न रूपों में पश्चिमी एशिया के कई देशों में पूजित होते थे। प्राचीन मिस्र में ये दोनों 'इसिस' और 'ओसिरिस' के नाम से पूजित थे। प्राचीन यूनान में भी इनसे मिलते-जुलते देवी-देवताओं की पूजा होती थी। उत्तरकालीन यूनानी धर्म भी इश्तर की पूजा 'वीनस' (Venus) के नाम से और तम्मुज की पूजा 'एडोनिस' (Adonis) के नाम से होने लगी।

सुमेर के लोग यह विश्वास करते थे कि तम्मुज पृथ्वी पर वनस्पतियों के लाने के अलावा अपने उपासकों को अमरत्व प्रदान करता है। अत्यंत प्राचीन काल से वैबिलोनिया में अमरत्व में विश्वास प्रचलित था। मरणोपरांत जीवन की खुशी के लिए मृत व्यक्ति के नौकरों, मवेशियों और पत्नियों को भी मारकर दफना दिया जाता था। इश्तर और तम्मुज की पूजा ने अमरत्व के विश्वास को और भी परिष्कृत कर दिया।

वैबिलोनिया के धर्म में ग्रहों की भी पूजा होती थी। इन देवताओं में सिन (Sin) और शमाश (Shamash) मुख्य थे, जो चन्द्रमा और सूर्य के पर्यायवाची शब्द थे। फिर भी, इन ग्रहों की पूजा कभी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं रही। नगरों के देवता और कृषि से संबंधित देवता ही सदैव प्रधान बने रहे। धीरे-धीरे सुमेरियन धर्म में कुछ ऐसा विकास हुआ, जिसके कारण प्रधान देवताओं का एकीकरण ग्रहों के साथ हो गया, जैसे इश्तर और शुक्र को एक मान लिया गया और तम्मुज का 'सिरस' नामक एक चमकीले तारे से एकीकरण कर दिया गया। ग्रहों के प्रति धार्मिक श्रद्धा व्यक्त करने का एक परिणाम यह हुआ कि ग्रहों और नक्षत्रों की गति का सावधानी के साथ निरीक्षण किया गया। मन्दिरों में ग्रहों की गति का अध्ययन करने के लिए वेधशालाएँ स्थापित थीं, जिनके द्वारा ग्रहों और नक्षत्रों की गति का अध्ययन अच्छी तरह से किया जाता था। हम्मूराबी के समय तक मुख्य ग्रहों और मुख्य ताराओं में भिन्नता स्थापित कर दी गई थी। वहुत से ग्रहों तथा ताराओं के नाम भी रख दिए गए थे और कई तारामंडलों का भी अध्ययन हो गया था। उन लोगों द्वारा दिए गए वहुत से नाम आज भी प्रचलित हैं। ताराओं और ग्रहों की पूजा के कारण वैबिलोनिया के लोग दुनिया के इतिहास में गणित एवं ज्योतिष के पहले ज्ञाता सिद्ध हुए।

इन देवी-देवताओं के अतिरिक्त और भी वहुत से छोटे देवी-देवता थे, जिनमें अच्छे और वुरे गुण मिले हुए थे। इनमें से कुछ भूत-प्रेतों से भी मिलते-जुलते थे और कुछ प्राचीन वीरों की आत्माएँ थे। ऐसे देवी-देवताओं की संख्या अनगिनत थी। कभी-कभी इनकी संख्या ३६०० मानी जाती थी। साधारण लोग इन छोटे-छोटे देवी-देवताओं की पूजा अधिक किया करते थे। हरेक व्यक्ति को अपना एक देवता होता था, जो उसके सुख-दुःख की देखभाल करता था। ऐसे देवता इन व्यक्तियों की व्यक्तिगत पूजा के लक्ष्य हुआ करते थे। कभी-कभी ऐसे लोग अपने देवताओं के पास जाकर वातें किया करते और पत्र भी लिखा करते थे। ऐसा माना जाता था कि इस प्रकार की भक्ति के प्रदर्शन से देवता खुश होता था और छोटी-छोटी प्रार्थना स्वीकार करता था। वड़े कामों के लिए ये छोटे-छोटे देवता बड़े देवताओं के पास जाकर अपने उपासकों की सिफारिश किया करते थे। इस प्रकार साधारण लोगों में इन छोटे-छोटे देवी-देवताओं की लोकप्रियता अधिक थी।

जादू-टोना और मंत्रों का महत्त्व

बैबिलोनिया के लोगों का ऐसा विश्वास था कि देवता लोग अपनी इच्छाओं को कुछ शकुन के द्वारा प्रकट करते हैं। अतएव, ये लोग इन शकुनों को जानने और व्याख्या करने के लिए काफी प्रयत्न करते थे। इन देवताओं की इच्छा जानने के लिए बहुत से तरीके अपनाए जाते थे। उदाहरण के लिए किसी शहर के पटेसी को किसी विषय पर देवताओं की इच्छा जाननी होती थी, तब वह मन्दिर में जा कर सो जाता था और वहाँ उसे जो स्वप्न दिखलायी पड़ते थे, उन स्वप्नों की व्याख्या से देवताओं की इच्छा जानी जा सकती थी। इसलिए बैबिलोनिया में स्वप्नों की व्याख्या करने वाले विशेषज्ञ थे, जो इस विषय पर अध्ययन कर पुस्तकें लिखा करते थे।

ग्रहों और ताराओं की गति का अध्ययन करने से बैबिलोनिया के लोग ताराओं की गति से अधिक प्रभावित थे। उन लोगों का यह विश्वास था कि ग्रहों की गति से मानव-जीवन की घटनाएँ प्रभावित होती हैं। मानव-जीवन को प्रभावित करने में चंद्रमा को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। वे लोग ऐसा मानते थे कि चंद्रमा के ग्रहण महत्त्वपूर्ण घटनाओं की पूर्व-सूचना देते हैं तथा चंद्रमा की विभिन्न अवस्थाओं को मनुष्यों के सुख-दुःख के लिए अच्छा और बुरा माना जाता था।

फिर, कुछ ऐसे भी लोग थे, जो देवताओं के प्रभाव में आकर भविष्यवाणी किया करते थे। ऐसे लोग कुछ ऐसे शब्दों का उच्चारण करते थे, जिनकी व्याख्या दूसरे लोग लिया करते थे।

जादू-टोने का प्रयोग भी बैबिलोनिया के सामाजिक और धार्मिक जीवन का प्रमुख अंग था। यहाँ जादू की उत्पत्ति धर्म से सम्बद्ध थी। जादूगर आध्यात्मिक व्यक्तियों पर जादू के जोर पर विजय प्राप्त करना चाहता था। उस समय ऐसा माना जाता था कि बीमारी भूत-प्रेतों के कारण होती है। इसलिए जादू जानने वाले भूत-प्रेतों को जादू से हटाने की कोशिश करते थे। मिट्टी की पट्टियों पर बहुत से मंत्र और जादू की बातें लिखी हुई मिली हैं। बहुत-से अवसरों पर जैसे खेती प्रारंभ करने से पहले या घर बनाने से पहले जादूगरों से सलाह ली जाती थी। जादू-टोने के क्षेत्र में बैबिलोनिया के लोगों ने जो ख्याति प्राप्त की, वह बहुत दिनों तक बनी रही। रोमन साम्राज्य तक यहाँ के लोग अपने जादू के लिए बड़े प्रसिद्ध थे।

सुमेर का साहित्य

मिट्टी की पट्टियों पर सुमेरियनों के साहित्य के कुछ नमूने मिलते हैं। चूँकि लिखने-पढ़ने का काम पुरोहित लोग ही करते थे, इसलिए जो साहित्य लिखा गया,

वह मुख्यतः धार्मिक ही था। पर, साथ ही, ऐसा पता चलता है कि सुमेरियन लोगों ने धर्म निरपेक्ष साहित्य की भी रचना की थी और इस प्रकार के साहित्य में गीत, कहानियाँ और वीर-काव्य भी सम्मिलित थे। मिट्टी की पट्टियों पर लिखने की प्रथा के कारण लंबे साहित्य का लिखना मुश्किल था। इसलिए हमलोगों को छोटी-छोटी रचनाएँ ही मिली हैं। ऐसा लगता है कि वे लोग बड़ी-बड़ी कविताएँ याद कर लिया करते थे। जो साहित्य हमलोगों को प्राप्त हुआ है, वह अधिकतर प्रार्थनाओं और मंत्रों का है। उन लोगों के साहित्य में सृष्टि के बारे में कल्पनाएँ और कहानियाँ भी हैं। गिलगमेश (Gilgamesh) नाम के एक पौराणिक राजा की कृतियों पर आधारित हैं। गिलगमेश ऊरुक का राजा था। उसकी कृतियों को मिट्टी के बड़े बारह तख्तों पर लिखा गया है। ये मिट्टी की तख्तियाँ निनेवे (Nineveh) नामक शहर में पायी गई हैं। इन पर तीन हजार पंक्तियाँ लिखी हुई हैं, जिनमें आधी अभी पढ़ी जा सकती हैं। गिलगमेश को इस कहानी में दो-तिहाई देवता और एक-तिहाई मनुष्य माना गया है। उनका साथी एक जंगली आदमी था, जिसका नाम एंगोड्यु (Engidu) था। बहुत-से साहसिक कार्यों को करने के बाद गिलगमेश की इश्तर देवी से मुलाकात होती है और इश्तर उससे प्रेम करने लगती है। गिलगमेश उसके प्रेम के प्रति उदासीन हो जाता है, जिसके कारण इश्तर देवी उससे रुष्ट हो जाती है। इसके बाद गिलगमेश समुद्र के अन्दर जा कर मरणोपरान्त जीवन का पता लगाता है। इस प्रकार उसकी कहानी बैबिलोनिया के साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण तथा मनोरंजक आख्यान है।

सामुद्रिक देश के राजाओं का शासन

हम्मूराबी के शासनकाल में बैबिलोनिया अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। उसके सुदृढ़ शासन के कारण शक्ति का विकास हुआ था। उसके बाद उसका लड़का शम्सुइलुना (Samsuiluna) गद्दी पर बैठा। इसने भी अपने पिता की ही तरह न्याय और प्रशासन पर कड़ा नियंत्रण रखा। वह राजधानी से दूर के शहरों में नियुक्त अफसरों पर कड़ी निगाह रखता था। इसलिए उसके शासन के पहले आठ वर्ष बड़े शांतिपूर्वक बीते। उसने दो नहरों का निर्माण कराया और बैबिलोनिया एवं सिप्पर के दो मंदिरों को भी सुसज्जित किया। उसके राज्य के नौवें साल में कठिनाइयाँ प्रारंभ हो गईं। बैबिलोनिया की पूर्वी सीमा पर कस्साइट नाम की बर्बर जाति ने आक्रमण करना शुरू किया। हालांकि शम्सुइलुना यह दावा करता है कि उसने उनको पराजित कर दिया। लेकिन, कस्साइट लोगों की शक्ति का क्रमशः विस्तार इस बात का प्रमाण है कि उन लोगों का आक्रमण जारी रहा और बैबिलोनिया के साम्राज्य को कमजोर बनाता रहा।

हम्मूराबी के पुराने प्रतिद्वंद्वी रिमसिन (Rimsin) ने भी कस्साइट जाति की मदद की। रिमसिन ने दक्षिणी बैबिलोनिया में विद्रोह करके दो प्रदेशों में विजय प्राप्त कर ली। शम्सुइलुना ने रिमसिन का मुकाबला करने के लिए एक बड़ी सेना भेजी और बैबिलोनिया पर कस्साइट लोगों के आक्रमण का स्वयं मुकाबला किया। उसने रिमसिन को हराया और एलम के लोगों को मार भगाया। ऐसा माना जाता है कि उसने रिमसिन को कैद करके जिंदा जलवा दिया। रिमसिन के मरने के बाद भी विद्रोह चलता रहा और शम्सुइलुना ने फिर से आक्रमण करके विद्रोह को दवाया। एक ही साथ दो शत्रुओं का मुकाबला करने से साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी।

इसी समय फारस की खाड़ी के उत्तर में स्थित प्रदेश में विद्रोह हुआ। दलदल से भरे हुए इस इलाके को बैबिलोनिया के इतिहास में 'सामुद्रिक देश' (Sea Country) कहते थे। इस सामुद्रिक प्रदेश के एक नेता ने, जिसका नाम इलुमा-इलुम (lluma-ilum) था, एक विद्रोह को दवाने के लिए शम्सु-इलुना ने इलुमा-इलुम पर चढ़ाई की और दोनों में फारस की खाड़ी के किनारे ही मुकाबला हुआ। संभवतः उस लड़ाई में बैबिलोनिया वालों की पराजय हुई। इस प्रकार इस सामुद्रिक प्रदेश का राजा ईलुमा-इलुम ने अपने-आपको उस प्रदेश में स्वतंत्र बना लिया और बैबिलोनिया के दक्षिणी प्रदेश में अपना प्रभाव बनाने लगा। निपुर का शहर भी इलुमा-इलुम के अधिकार में आ गया और वह उत्तर की ओर भी अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाने के प्रयास में लग गया। सुमेर के दक्षिण में लार्स (Larsa) का क्षेत्र भी उसके अधिकार में आ गया। ज्यों-ज्यों बैबिलोनिया के शासकों की शक्ति क्षीण होती गई, सामुद्रिक प्रदेश के राजाओं की शक्ति बढ़ती गई। अपने राज्य के वीसवें वर्ष में शम्सुइलुना ने सामुद्रिक-प्रदेश के राजा इलुमा-इलुम के विरुद्ध दूसरी चढ़ाई की और इस बार उसे विजय प्राप्त हुई।

बैबिबोनिया के इतिहास में फारस की खाड़ी के किनारे स्थित इस दक्षिणी भाग का बहुत महत्त्व था। इस प्रदेश का इलाका उपजाऊ, कछारी और दलदल जमीन से भरा पड़ा था। इस दलदल जमीन के कारण विदेशी आक्रमणकारियों से इस प्रदेश की रक्षा होती थी। इस प्रदेश के रहने वाले नदियों के डेल्टा-प्रदेश की जमीनों में छोटी-छोटी नावों के द्वारा इधर-उधर छिप कर अपने-आपको बचा लिया करते थे। अतः, इस प्रदेश के किसी विद्रोह को दवाना बहुत मुश्किल था। इसलिए शुरू से ही बैबिलोनिया के राजा इस प्रदेश को काफी स्वतंत्रता दिए हुए थे और इस प्रदेश के द्वारा नाम मात्र के लिए भी स्वामित्व माने जाने पर ही संतोष कर लेते थे। इन सब परिस्थितियों का पूरा फायदा उठा कर इलुमा-इलुम ने एक विद्रोह के द्वारा अपने-आपको एक स्वतंत्र शासक घोषित किया।

जाति के आधार पर इस सामुद्रिक प्रदेश में सुमेर के बहुत से शरणार्थी आ कर बस गए थे। इस सामुद्रिक प्रदेश के तीन राजाओं के नाम सेमेटिक जाति के थे। बाद के राजाओं के नामों से पता चलता है कि इस प्रदेश में सुमेरियन लोगों का प्रभाव बढ़ गया। इस प्रदेश के द्वितीय राजवंश के अंदर यहाँ का शासन बैबिलोनिया के शासन से मिलता-जुलता था। इस सामुद्रिक प्रदेश के शासन की राजधानी कुछ दिनों तक निपुर थी। लेकिन, दक्षिण का उपजाऊ प्रदेश बराबर इस राज्य का प्रधान प्रांत बना रहा; क्योंकि इस दक्षिणी प्रदेश में खाद्य-सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती थी। अनाज के अलावा यहाँ खजूर भी काफी मात्रा में पाया जाता था। इन सब बातों के कारण इस प्रदेश के राजाओं को अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने में बड़ी सहायता मिली।

दूसरी लड़ाई के बाद शम्सुइलुना ने दक्षिणी प्रदेश पर फिर विजय प्राप्त करने की कोशिश नहीं की। उसने दूसरे क्षेत्रों में सफलताएँ प्राप्त कीं। जैसे उसने एक विद्रोह को दबा कर शाकनू (Shaknu) और जरखानुम (Zarkhanum) के नगरों की दीवारों को तोड़ दिया और कीश नगर की चहारदीवारी को सुदृढ़ किया। उसने सीरिया को जाने वाले फरात नदी के रास्ते पर भी अपना अधिकार बनाए रखा। इस क्षेत्र में उसने व्यापारिक प्रगति को भी प्रोत्साहन दिया तथा सीरिया और लेबनान से अच्छा संबंध बनाए रखा।

इसके बाद शम्सुइलुना ने कीश और सिप्पर के कुछ मंदिरों का पुनर्निमाण किया। अपने राज्य के अंतिम दिनों में उसका कार्य केवल राज्य के पश्चिमी और उत्तरी भागों तक ही सीमित था। फरात नदी के रास्ते को व्यापार के लिए बराबर खुला रखने के लिए भी वह सदैव प्रयत्नशील रहा। उसके बाद उसका लड़का निसि-अमी-जादुगा (Nisi-Ami-Zaduga) गद्दी पर बैठा। इसके जमाने में बैबिलोनिया की महत्ता बनी रही। उसके बाद उसका लड़का सम्सुदिताना (Samsuditana) गद्दी पर बैठा।

बैबिलोनिया के सेमेटिक वंश को सामुद्रिक प्रदेश के राजाओं ने समाप्त नहीं किया, बल्कि उनका पतन विदेशी राजाओं के कारण ही हुआ। हम्मूराबी के सेमेटिक वंश का अंतिम शासक सम्सुदिताना था। इसके समय में अनातोलिया (Anatolia) के हिट्टाइट लोगों ने फरात नदी के रास्ते से बैबिलोनिया पर उत्तर-पश्चिम से आक्रमण किया। इस आक्रमण में हिट्टाइट लोगों को बैबिलोन शहर को नष्ट-भ्रष्ट करने में सहायता मिली। उन लोगों ने वहाँ के मंदिरों पर आक्रमण किया और बहुत सामान लूट ले गए। इसलिए यह अनुमान किया जाता है कि बैबिलोनिया का पश्चिमी सेमेटिक वंश इस हिट्टाइट आक्रमण के कारण नष्ट हो गया और सम्सुदिताना अपनी राजधानी की रक्षा करते हुए मारा गया। लेकिन, यह मानना

गलत होगा कि हिट्टाइट लोगों ने बैबिलोनिया पर बहुत दिनों तक अधिकार बनाए रखा। शायद उनका उद्देश्य लूट-मार कर काफी संपत्ति के साथ अपने देश लौट जाना था। प्रश्न यह उठता है कि इस आक्रमण का दक्षिण के सामुद्रिक प्रदेश के राजाओं पर क्या प्रभाव पड़ा ? ऐसा लगता है कि हिट्टाइट आक्रमण उत्तरी प्रदेश तक ही सीमित रहा और सामुद्रिक प्रदेश के राजाओं को इससे लाभ ही हुआ। उन लोगों ने बैबिलोनिया पर अधिकार तो नहीं किया, परंतु उत्तर में अपने राज्य की सीमा अवश्य बढ़ा ली।

इसी जमाने में एक दूसरा राजवंश भी एरेक (Erech) नामक शहर में शासन कर रहा था। इस वंश के तीन राजाओं के नाम हमें ज्ञात हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) सिन्-गाशिद (Sin-gashid),
(२) सिन-गामिल (Sin-gamil) और
(३) अनाम (Annam)।

वारका शहर से प्राप्त कुछ अभिलेखों से यह पता चलता है कि इस वंश के पहले राजा ई-आन्ना (E-Anna) ने पुराने मंदिर का पुनरुत्थान कराया और अपने लिए एक महल बनवाया। अन्य राजाओं ने भी मंदिर बनवाए। अनाम के जमाने में प्रत्येक नगर की चहारदीवारी को और सुदृढ़ बनाया गया।

बैबिलोनिया राज्य की कमजोरी के कारण कुछ और भी छोटे-छोटे राज्य इस युग में थे। लेकिन बैबिलोनिया के पतन के कारण सबसे प्रमुख राज्य सामुद्रिक प्रदेश के राजाओं का ही रहा। इस वंश के राजा अनवरत् शासन करते रहे। इस प्रदेश का एक प्रसिद्ध राजा गुल-किशर (Gul-Kishar) था। इसके अतिरिक्त और भी कई राजाओं ने इस प्रदेश पर शासन किया।

इसके बाद बैबिलोनिया पर कस्साइट लोगों का आक्रमण हुआ और इन लोगों ने बहुत दिनों तक बैबिलोनिया पर शासन किया।

बैबिलोनिया

बैबिलोनिया का राजनीतिक इतिहास निम्नलिखित राजवंशों के इतिहास में बाँटा जा सकता है—

(१) पहले राजवंश को अमराइट (Amorite) युग कहते हैं। इसे हम्मूराबी का भी युग कहा जाता है और इसका लगभग २२२५ ई०-पू० से १९२६ ई०-पू० तक था।

(२) दूसरे राजवंश का समय १९२६ ई०-पू० से १७६१ ई०-पू० तक था।

(३) तीसरे राजवंश के युग को कस्साइट (Kassite) युग कहते हैं। इसका शासनकाल १७६० ई०-पू० से ११८५ ई०-पू० तक रहा।

(४) चौथे राजवंश का समय ११८४ ई०-पू० से १०५३ ई०-पू० तक था।

(५) पाँचवें राजवंश का समय १०५२ ई०-पू० से १०३२ ई०-पू० तक माना जाता है।

(६) छठे राजवंश का समय १०३१ ई०-पू० से १०१२ ई०-पू० तक रहा।

(७) सातवें राजवंश के युग को एलमाइट (Elamite) युग कहते हैं। इसका समय १०११ ई०-पू० से १००६ ई०-पू० तक माना जाता है।

(८) आठवें राजवंश का समय १००५ ई०-पू० से ७६२ ई०-पू० तक रहा।

(९) नौवें राजवंश का शासनकाल ७६१ ई०-पू० ७३२ ई०-पू० तक था।

(१०) दसवें राजवंश के शासन का युग असीरियन (Assyrian) शासन का युग है, जिसका समय ७३२ ई०-पू० से ६२५ ई०-पू० तक रहा।

(११) ग्यारहवें राजवंश के शासन को बैबिलोनिया के नए साम्राज्य का युग कहते हैं। इसकी अवधि ६२५ ई०-पू० से ५३६ ई०-पू० तक मानी जाती है।

बैबिलोनिया की सभ्यता दजला और फरात नदियों की घाटी से संभवत: मिस्री सभ्यता के पहले ही प्रारंभ हो चुकी थी। दजला और फरात की घाटी को 'मेसोपोटामिया' कहते हैं। इन नदियों की उर्वर घाटी सभ्यता के उदय के लिए उपयुक्त केंद्र थी। यहाँ खाद्य सामग्री और घर बनाने के सामान काफी मात्रा में पाए जाते थे। मेसोपोटामिया में जिन लोगों ने नहरों का पहले-पहल निर्माण किया, वे लोग सुमेरियन कहे जाते हैं। इन लोगों की जाति और वंश का निश्चित रूप से पता नहीं। ये लोग न तो असीरियन थे, न सेमेटिक। इन लोगों का रंग संभवत: साँवला होता था। सुमेरियन लोगों ने जिस सभ्यता का निर्माण किया, उसी सभ्यता के आधार पर बैबिलोनिया और असीरिया की सभ्यता का विकास हुआ। इनकी सभ्यता का प्रमुख केंद्र दक्षिणी बैबिलोनिया था, जिसे उस जमाने में 'सुमेर' कहा जाता था और जिसका प्रमुख नगर निपुर था। खुदाइयों से ऐसा पता चला है कि सुमेरियन लोगों के आने के पहले भी मेसोपोटामिया में किसी दूसरी जाति के लोग रहते थे, जो शायद सेमेटिक वंश के थे। ये लोग मेसोपोटामिया में विजेताओं के रूप में आए थे। सुमेरियन लोगों ने इन लोगों को भी हरा कर अपना आधिपत्य स्थापित किया। हम देख चुके हैं सुमेरियन लोग बहुत ही सभ्य और सुसंस्कृत थे। ये लोग विभिन्न धातुओं का प्रयोग जानते थे, बड़े-बड़े शहरों में रहते थे, लिखने की कला से परिचित थे तथा इनकी राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था विकसित थी। इन लोगों ने अपनी उच्च संस्कृति को बैबिलोनिया में रहने वालों को सिखलाया तथा

उन लोगों की बहुत-सी सांस्कृतिक बातों को खत्म कर दिया। इन लोगों की प्रधानता का युग लगभग २७५० ई०-पू० में समाप्त हो गया।

कुछ दिनों के बाद बैबिलोनिया का नेतृत्व सेमेटिक जाति के लोगों के अधिकार में चला गया। इस जाति के ये लोग 'अक्कड़' नाम के शहर में रहते थे। मेसोपोटामिया पर राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने वाले सेमेटिक वंश के लोगों में ये लोग प्रथम थे। इन लोगों का प्रमुख नेता सारगन प्रथम (Sargon I) था। इसको 'अक्कड़' का राजा कहा जाता था। इसने सुमेर के बहुत से नगरों को पराजित किया और उन नगरों को कर देने के लिए बाध्य किया। इसने एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की, जो फारस की खाड़ी से लेकर भूमध्य सागर तक फैला हुआ था। यह साम्राज्य करीब दो शताब्दियों तक जीवित रहा। अक्कड़ के लोग सुमेर की विकसित संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। इन लोगों ने सुमेरियन भाषा सीखी और सुमेरियन लिपि को अपनाया। इन लोगों ने सुमेरियन पंचांग (Calendar) और सुमेरियन माप-तौल को भी अपनाया। कला के क्षेत्र में भी इन लोगों ने सुमेरियन लोगों से बहुत कुछ सीखा। शीघ्र ही ये लोग सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में सुमेरियन लोगों से भी आगे बढ़ गए।

कुछ ही दिनों में सुमेर और अक्कड़ की मिली-जुली संस्कृति नष्टप्राय हो गई और मेसोपोटामिया में सेमेटिक शाखा की दूसरी जातियाँ आकर बसने लगीं। इनमें प्रमुख दो जातियाँ थीं—अमराइट तथा एलमाइट। एलमाइट लोगों ने बैबिलोनिया के दक्षिणी नगरों पर अधिकार किया और अलमाइट लोग बैबिलोनिया के उत्तरी भाग में बस गए। अमराइट लोग करीब २२०० ई०-पू० में सीरिया से आकर उत्तरी बैबिलोनिया में बसे। इन अमराइट लोगों ने ही बैबिलोन के उस छोटे से गाँव को बसाया, जो बाद में प्राचीन विश्व का प्रधान नगर बन गया और एक बड़े साम्राज्य की राजधानी भी बना। अमराइट लोग नए क्षेत्रों को विजित करके अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ाते गए। अंत में एलमाइट लोगों को भी पराजित करने में समर्थ हुए और संपूर्ण बैबिलोनिया पर अपना अधिकार स्थापित किया। इस प्रकार से अमराइट लोगों के पहले राजवंश की स्थापना हुई और इस वंश का छठा राजा हम्मूराबी था।

हम्मूराबी का युग

हम्मूराबी का युग बैबिलेनिया के इतिहास में एक संक्रांति काल था। सौभाग्यवश, इस युग के इतिहास के लिए हमें भरपूर सामग्री प्राप्त है, जिससे हम इस युग का मूल्यांकन कर सकते हैं। विशेषतः यह युग हम्मूराबी की विधि-संहिता के लिए प्रसिद्ध है, जिसके कारण अपनी मृत्यु के हजारों साल बाद तक वह न्याय का अवतार माना जाता रहा।

हम्मूराबी करीब २१२४ ई०-पू० में गद्दी पर बठा। बैबिलोनिया पर उसने अपना अधिकार लगभग २१०० ई०-पू० में स्थापित किया। उसके राज्यकाल में बैबिलोनिया का नगर एक बहुत बड़े और संपन्न साम्राज्य की राजधानी बन गया। यह बैबिलोनिया के नेता सिनमुब्रालित (Sinmuballit) का लड़का था। प्राचीन बैबिलोनिया का यह सबसे प्रतापी और प्रसिद्ध राजा सिद्ध हुआ। वास्तव में, यही बैबिलोनिया की राजनैतिक एकता का निर्माता था। मानव-जाति के इतिहास में इसको पहला संगठन कर्त्ता कहा गया है। इसके युग को सुमेरियन और अमराइट लोगों की संस्कृत के सामजस्य का युग माना जाता है। सौभाग्यवश इसके युग के बारे में हमें पर्याप्त जानकारी प्राप्त है। हमें उस युग की सामाजिक और धार्मिक स्थिति के बारे में भी काफी जानकारी मिली है। हमलोगों के ज्ञान का सबसे बड़ा साधन इसके नेतृत्व में बनवायी हुई कानूनों की संहिता (Code of Law) है, जिसके आधार पर हमें तत्कालीन परिस्थितियों का ज्ञान होता है। यह विधि-संहिता तत्कालीन राजनैतिक, न्याय-सम्बन्धी और सामाजिक जीवन का हमें पूरा ज्ञान प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त हम लोगों को बहुत राजाओं द्वारा लिखित पत्र तथा कुछ व्यापारिक और कानूनी दस्तावेज भी प्राप्त हुए हैं। इन सभी साधनों से पता चलता है कि इसका युग विकास और समृद्धि का युग था। इसकी विधि-संहिता उस युग की आवश्यकताओं के आधार पर बनायी गई थी।

हम्मूराबी के कानून तत्कालीन रीति-रिवाजों के आधार पर बनाए गए थे। उसने पुराने राजाओं के नैयायिक निर्णयों को भी अपनी विधि-संहिता का आधार बनाया था। कानून के प्रमुख सिद्धांतों को चट्टानों पर जगह-जगह खुदवा दिया गया था, जिससे साधारण जनता को भी कानून का ज्ञान हो और उसके अनुसार आचरण कर सकें। चट्टान पर लिखा हुआ इसका एक शिलालेख ईरान में सूसा (Susa) नामक स्थान में मिला है। यह डाएराइट (Diorite) पत्थर की एक बहुत बड़ी चट्टान है, जो २०२५ मीटर ऊँची है और इनकी परिधि जल में १६० मीटर है। सूसा के खंडहरों में यह चट्टान तीन टुकड़ों में टूटी हुई दिसंबर, सन् १९०१, जनवरी, सन् १९०२ में पायी गई। इस पत्थर पर सूर्य देवता शमाश (Shamash) की आकृति खुदी हुई है। शमाश देवता न्याय का देवता माना जाता था और यह हम्मूरावी को न्याय के सिद्धांत प्रदान करता हुआ दिखलाया गया है। यह पत्थर हम्मूरावी के चालीसवें वर्ष से तैंतालीसवें वर्ष के बीच खुदवाया गया। इस पत्थर पर छियालीस स्तंभों में हम २५० नियमों को पढ़ सकते हैं।

इसको हम पूर्णरूपेण कानूनों की संहिता नहीं कह सकते, बल्कि यह विभिन्न विषयों पर राजकीय आदेशों का संग्रह है। वास्तव में मेसोपोटामिया के इतिास में

हम्मूराबी का कानून पहला कानून नहीं था। इससे बहुत पहले ही उरु कागीना (Uru Kagina) नाम के एक राजा ने भी अपनी प्रजा की रक्षा के लिए कुछ कानून को बनाया था। हम्मूराबी ने कोई नया कानून नहीं बनाया, बल्कि उसने उस समय प्रचलित परंपराओं और प्रथाओं को उस युग की आवश्यकता के अनुसार बना कर एक क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार प्राचीन परंपरा और नई परिस्थितियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में उसकी प्रतिभा अद्वितीय थी। उसने कुछ प्राचीन प्रथाओं को अपने संशोधनों के साथ उस युग के अनुकूल बना दिया। इस संहिता की प्रस्तावना वाले भाग से प्रतीत होता है कि ये कानून फारस की खाड़ी से असीरिया तक माने जाते थे। बहुत-सी बातों के बारे में उसकी विधि-संहिता हमें बहुमूल्य जानकारी प्रदान करती है, जो किसी दूसरे साधन से नहीं प्राप्त हो सकती है। उसके कानून बहुत ही न्यायसंगत और समान थे। विशेषतः ऋण, विवाह और तलाक-संबंधी उसके कानून बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं।

विवाह और तलाक-संबंधी हम्मूराबी के कानून इस बात को सिद्ध करते हैं कि उसने सुमेरियन कानूनों में बहुत सुधार किया। सुमेर के पुराने कानूनों में पत्नी को तलाक देने का हक नहीं था। लेकिन, उसने अपने कानूनों में एक विवाहिता पत्नी को बदनामी और भर्त्सना से ऊपर उठाकर एक सम्मानित स्थान दिया। यदि किसी पत्नी का पति बहुत दिनों तक उससे दूर रहता हो या उस पर ध्यान नहीं देता हो, तो पत्नी को यह अधिकार दिया गया कि वह अपने पति से विवाह में दी हुई दहेज लेने के लिए और पति से दूर अपने माता-पिता के पास रहने के लिए न्यायाधीशों के सामने अपील करे। लेकिन, यदि पत्नी का चरित्र भी दोषपूर्ण रहा हो, तो उसे पानी में डुबो देने का विधान था। इस प्रकार उसने अपने कानून से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करने की चेष्टा की। उदाहरण के लिए यदि पति, पत्नी को तलाक देता, तो उसकी पत्नी के पालन-पोषण तथा उसके बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के लिए प्रबंध करना पड़ता था। लेकिन, अगर पति अदालत में इस बात को सिद्ध कर देता कि पत्नी उसके प्रति वफादार नहीं रही है, तब उसे पत्नी को खुराकी देने तथा बच्चों की शिक्षा देने से मुक्ति मिल सकती थी। साथ ही, पत्नी की बेवफाई सिद्ध होने पर पति उसे गुलाम बना सकता था। प्राचीन सुमेर के कानूनों में मिस्र के कानूनों के प्रतिकूल पुरुष का स्त्री से अधिक महत्त्व था। परन्तु, हम्मूराबी के कानूनों ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में स्त्री को एक स्वतंत्र स्थान प्रदान किया और इसीलिए बैबिलोनिया की स्त्रियों की अवस्था मिस्र की स्त्रियों के समकक्ष हो गई। अब कोई भी स्त्री संपत्ति की अधिकारिणी हो सकती थी और किसी भी अदालत में अपने हकों के बारे में बहस कर सकती थी। लेकिन, स्त्री से सतीत्व की अपेक्षा की जाती थी और

सतीत्व भंग होने पर उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। इसी प्रकार पुरुष को स्त्री का उचित पालन-पोषण करना आवश्यक था, जो उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप हो। इस सिद्धांत की भी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा कर दी गई थी। यदि कोई विवाहिता स्त्री पर-पुरुषगमन के अपराध में पकड़ी जाती थी, तो उसे पानी में डुबो कर मार दिया जाता था। एक पुरुष अपनी पत्नी की दंड से रक्षा कर सकता था, यदि वह पत्नी के पक्ष में राजा के पास अपील करे। यदि परपुरुषगमन (Adultery) का दोषारोपण स्त्री पर उसके पति द्वारा ही लाया जाता, तो अदालत उसको इस बात का अधिकार देती थी कि वह ईश्वर के नाम पर शपथ खा कर अपनी पवित्रता सिद्ध करे। लेकिन, यदि वह दोषारोपण अन्य व्यक्तियों के द्वारा होता, तो स्त्री को पानी पर चलने की परीक्षा (जल-परीक्षा) के द्वारा अपने को निर्दोष सिद्ध करना पड़ता था। फिर भी हम्मूराबी के कानूनों ने बैबिलोनिया की स्त्रियों के अधिकारों की बहुत रक्षा की। यदि उसका पति उसको परित्याग कर दे, तब स्त्री को यह भी अधिकार था कि वह दूसरी शादी कर ले।

उसके कानूनों में गोद लेने की प्रथा के बारे में भी विस्तृत नियम बनाए गए थे। इसके साथ-साथ विधवाओं के अधिकार और संपत्ति के उत्तराधिकार के बारे में भी काफी नियम बने हुए थे। घरेलू कामों में भी स्त्री को विस्तृत अधिकार दिए गए थे, यह हम्मूराबी के कानून-संहिता की विशेषता थी।

हम्मूराबी के कानूनों में दासों के अधिकारों के विषय में भी विस्तृत नियम बनाए गए थे। इन नियमों के द्वारा दासों की स्थिति में सुधार हुआ। बैबिलोनिया का दास अपने स्वामी की संपत्ति समझा जाता था। वह या तो दास पैदा होता था या खरीद कर दास बनाया जाता था या युद्धबंदी के रूप में दास बना दिया जाता था। बैबिलोनिया के दासों को यह अधिकार दिया कि वे अपने विक्रय के विरुद्ध, विरोध प्रकट कर सकते थे और इस संबंध में अदालत में जाँच की जाती थी। फिर उनको अपने बारे में उठायी गयी बातों के विषय में, शपथ खाने का भी अधिकार था। एक दास की बिक्री तब पक्की मानी जाती थी, जब खरीदने वाला इस बात की शपथ लेता कि वह खरीद चुका है तथा पैसा देने को राजी हो गया है। माता-पिता दोनों मिलकर अथवा दोनों में से एक अपने बच्चे को बेच सकते थे। एक दास को यदि उसका स्वामी चाहे तो स्वतंत्र कर सकता था। हम्मूराबी के कानूनों के द्वारा दासों पर अमानुषिक अत्याचारों और कठोर दंडों की मनाही कर दी गई।

इस प्रकार हम्मूराबी के कानूनों से पता चलता है कि उसके कानून जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से संबद्ध थे। उसके कुछ कानून तो पुराने रीति-रिवाजों के आधार पर ही बने थे और कुछ नई परिस्थितियों के कारण संशोधनों पर बने थे। ये संशोधन

हम्मूराबी के मस्तिष्क की उपज ही नहीं, वरन् नए और मौलिक थे। अतः, हम उसके कानून को सुमेर के पुराने कानूनों का एक संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण कह सकते हैं। उसके कानूनों का महत्व इस दृष्टि से नहीं है कि वे मौलिक थे, बल्कि इस दृष्टि से है कि उन्होंने समाज की तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति की। हम्मूराबी को इस बात का श्रेय है कि उसने बहुत से धुँधले और अस्पष्ट कानूनों को एक सुव्यवस्थित, सुस्पष्ट और क्रमबद्ध रूप दिया। इसलिए उसे बैबिलोनिया का एक महान विधि-निर्माता माना जा सकता है, जिसने अव्यवस्था में व्यवस्था उत्पन्न की और एक क्रमबद्ध नियमावली प्रस्तुत की। उसके कानूनों में हमें तत्कालीन बैबिलोनिया के समाज की झाँकी भी देखने को मिल जाती है। ये कानून उस समाज के दर्पण प्रतीत होते हैं।

हम्मूराबी एक बहुत बड़ा सैनिक और सफल प्रशासक भी था। जब वह गद्दी पर बैठा, तो उसने देखा कि वह अक्कड़ के एक समृद्ध राज्य का स्वामी है उसके राज्य में दक्षिण में स्थित सुमेर में अभी एलमाइट लोगों के आक्रमण के कारण अराजकता फैली हुई थी। अतः शीघ्र ही, उसने प्रसिद्ध एलमाइट सरदार रिमसिन पर आक्रमण किया और करीब २११८ ई०-पू० में उसने इरेक नामक नगर पर अधिकार कर लिया। इस आक्रमण के बाद उसने करीब तेईस वर्षों तक एलमाइट लोगों के खिलाफ कोई आक्रमण नहीं किया। इन तेईस वर्षों में उसने मेसोपोटामिया के बहुत बड़े भाग पर अधिकार किया। उसने अक्कड़ के उत्तरी भाग पर कब्जा किया और सुदूर उत्तर में दजला नदी के किनारे स्थित प्रदेश अशुर (Ashur) पर भी अधिकार किया। इसी प्रदेश में कालांतर में असीरिया के साम्राज्य का उदय हुआ था। इस विजय के बाद अशुर का राजा बैबिलोनिया के राजा को कर देने लगा। इस प्रकार बैबिलोन नगर को एक विस्तृत साम्राज्य की राजधानी बनाने का श्रेय हम्मूराबी को ही है। अतः जिस प्रकार वह अपनी विधि-संहिता के लिए प्रसिद्ध है, उसी प्रकार साम्राज्य-विस्तार के लिए भी।

प्रशासन के क्षेत्र में भी हम्मूराबी का विशिष्ट स्थान है। शासनतंत्र के संचालन के लिए हम्मूराबी ने बहुत बड़ी संख्या में अफसरों को नियुक्त किया। इन अफसरों में दो प्रमुख वर्ग अर्द्ध-सैनिक वर्ग था, जिसे राजा की ओर से विशेष सम्मान और सुरक्षा प्राप्त होती थी। यह वर्ग सार्वजनिक कामों की देखभाल करता था, कर वसूल करता था और राजा के गुलामों का नियंत्रण करता था। राजकीय 'कर्मचारी अथवा अफसर राजा के व्यक्तिगत नौकरों की तरह थे। ये राजा की इच्छा पर ही नौकरी में रह सकते थे, पदोन्नति प्राप्त कर सकते थे अथवा पदच्युत किए जा सकते थे।

वेतन के रूप में राजकीय अफसरों को जमीन दी जाती थी, जिसमें घर और बगीचा भी होता था। इन लोगों को भेड़ें और अन्य मवेशी भी दिए जाते थे। भत्ते के रूप में थोड़ी नकद रकम भी दी जाती थी। वास्तव में ये राजकीय अफसर राजा के व्यक्तिगत परिचारकों के रूप में थे जिन्हें वह किसी भी समय किसी भी काम पर भेज सकता था। कभी-कभी इनको सैनिक कामों के लिए भेजा जाता था। बहुत दिनों की अनुपस्थित होने पर इन अफसरों के घरेलू कामों के लिए दूसरा व्यक्ति नियुक्त कर दिया जाता था, जो इनके लौटने पर हटा दिया जाता था।

मुकदमों के फैसले के लिए दो तरह की कचहरियाँ होती थीं। पहले प्रकार की कचहरियों में राजा द्वारा नियुक्त न्याय-विभाग के पदधिकारी मुकदमे की सुनवायी किया करते थे। इनके निर्णय के विरुद्ध अपील राजा के दरबार में होती थी जो दूसरे प्रकार का और सबसे ऊँचा न्यायालय था। न्यायालयों और न्याय-विभाग का नियंत्रण राजा अपने प्रतिनिधियों के द्वारा करता था। न्यायाधीशों की नियुक्ति राजा स्वयं करता था, पर न्यायाधीशों के अधिकारों पर नियंत्रण रखने के लिए नगर के वयोवृद्ध लोग न्यायाधीशों के साथ कचहरियों में बैठ कर मुकदमों और साक्षियों की सुनवायी किया करते थे। ये लोग न्यायाधीशों को न्याय करने में सहायता करते थे। जब किसी मुकदमे का निर्णय सुना दिया जाता था और उसे लिख दिया जाता था, तब निर्णय में कोई भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। यदि कोई न्यायाधीश निर्णय में कोई भी हेरफेर करने की चेष्टा करता था, तब उसे भ्रष्टाचार और पक्षपात का दोषी ठहराया जाता था और न्यायालय से निकाल दिया जाता था। इस तरह की व्यवस्था इसलिए की गई थी कि न्याय-विभाग के पदाधिकारी निष्पक्ष रूप से न्याय करें तथा घूस और पैरवी से प्रभावित न हों।

हम्मूराबी के कानूनों से यह सिद्ध होता है कि वह केवल राजधानी में ही न्याय-विभाग का नियंत्रण नहीं करता था, बल्कि विभिन्न प्रांतों में भी उसका न्याय-विभाग सुदृढ़ और सुव्यवस्थित था। उसके लेखों से यह पता चलता है कि उसने न्याय-विभाग से भ्रष्टाचार उठाने का भरसक प्रयत्न किया। अपील के मुकदमों की सुनवायी वह स्वयं किया करता और दूरस्थ प्रांतों और नगरों मे अपने प्रतिनिधियों को भेज कर अपील की सुनवायी कराता था। कभी-कभी आवेदक लोग राजधानी आने के लिए वाध्य किए जाते थे और वे लोग वहाँ आ कर राजा के सामने मुकदमों की बहस स्वयं कर सकते थे। कभी-कभी राजा किसी कर्मचारी को यह अधिकार दे देता था कि वह किसी मुकदमे का फैसला कर दे। राजा के न्यायालय के नीचे दो तरह के न्यायालय थे—एक दीवानी न्यायालय और दूसरा धार्मिक न्यायालय। प्रत्येक मंदिर एक प्रकार से न्यायालय हुआ करता था। इन मंदिरों के पुजारी कुछ मुकदमों की सुनवायी करते थे। मजिस्ट्रेट लोग दीवानी मुकदमों की सुनवायी करते थे। मुकदमों

के निर्णयों का लिखित होना आवश्यक था। अधिकतर न्यायालयों में तीन या चार न्यायाधीश होते थे। कभी-कभी एक न्यायाधीश भी मुकदमे की सुनवायी करता था। मुकदमों के निर्णय में गवाहों का बहुत महत्त्व था। कुछ गवाह तो आजकल के जूरी (Jury) के समकक्ष थे। ये गवाह लोग शपथ लेकर मुकदमों के बारे में अपनी जानकारी बतलाते थे। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि हम्मूराबी के युग में बैबिलोनिया का शासन-तंत्र सुव्यवस्थित था और एक सुयोग्य नौकरशाही इस शासन-तंत्र का संचालन करती थी।

हम्मूराबी के राज्य के अंतिम दिनों में बैबिलोनिया का नगर शक्ति और प्रतिष्ठा के क्षेत्र में अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया। उसकी विधि-संहिता की प्रस्तावना इस बात का उल्लेख करती है कि उसके नेतृत्व में बैबिलोनिया की समृद्धि और शक्ति पराकाष्ठा पर थी। उस प्रस्तावना से यह भी सिद्ध होता है कि हम्मूराबी के व्यक्तिगत नियंत्रण में बैबिलोनिया का प्रशासन सुगठित, सुदृढ़ और सुव्यवस्थित था।

हम्मूराबी के कानूनों से तत्कालीन सामाजिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। उस युग में बैबिलोनिया का समाज तीन भागों में बंटा हुआ था। पहला उच्च वर्ग था, जिसे आमेलू (Amelu) कहते थे। दूसरा मध्य वर्ग था, जिसे मशकीनू (Mushkinu) कहा जाता था। तीसरा वर्ग दासों का था। उच्च वर्ग के लोग धार्मिक, राजनैतिक और सैनिक क्षेत्रों में ऊँचे पदों पर नियुक्त किए जाते थे। इसमें से कुछ के पास काफी जमीन होती थी और इन जमीनों पर वे दासों या मजदूरों से काम कराया करते थे। इस वर्ग के अन्य लोग व्यापार भी किया करते थे। मध्यम वर्ग के लोग दुकानदार, कारीगर और मजदूर हुआ करते थे। दासों की संख्या भी बहुत अधिक थी। इनमें से कुछ लड़ाइयों में विजित होने पर दास बना दिए जाते थे, कुछ दास बेचने वालों से खरीदे जाते और कुछ दास माता-पिता से पैदा ही होते थे। दासों को मालिक की संपत्ति माना जाता था। पर, कानून से उनकी दशा में कुछ सुधार लाया गया था। उदाहरण के लिए वे संपत्ति रख सकते थे, व्यापार कर सकते थे और अपने नाम पर रुपया भी उधार ले सकते थे। हम्मूराबी के कानून के आधार पर दास विशेष परिस्थितियों में बेचे जाने से भी इंकार कर सकते थे। दास किसी स्वतंत्र व्यक्ति से शादी कर सकते थे और उनके बच्चे स्वतंत्र हो सकते थे। अंत में उनको यह भी छूट थी कि वे रुपया दे कर अपने को स्वतंत्र कर सकते थे और इसके लिए पुरोहित लोग रुपया दिया करते थे। इस तरह हम्मूराबी के कानूनों के द्वारा दासों की स्थिति में काफी सुधार लाने की कोशिश की गई। इससे पहले न्याय करने का काम नगरों के पटेसी और मंदिरों के अधिकारियों के हाथ में था। इसके कुछ

ही दिनों पहले न्यायालयों का प्रचलन हो गया था। हम देख चुके हैं इन न्यायालयों में राजा के द्वारा नियुक्त न्यायाधीश न्याय किया करते थे।

हम्मूराबी के कानूनों की यह विशेषता थी कि इनमें बहुत कठोर दंडों की व्यवस्था की गई थी। पूर्ववर्ती कानूनों की अपेक्षा उसके कानून दंड-विधान में अधिक कठोर कानून थे। बहुत-से अपराधों के लिए मृत्युदंड निश्चित किया गया। उदाहरण के लिए किसी की हत्या करने के लिए, डकैती के लिए, मंदिरों से संपत्ति चुराने के लिए, बहुत-से यौन-अपराधों के लिए, कर्त्तव्य से विमुख होने के लिए अथवा किसी बड़े अपराध के लिए और झूठा दोष लगाने के लिए मृत्युदंड निश्चित किया गया था। छोटे अपराधों के लिए उसका कानून प्रतिशोध की भावना पर आधारित था। जैसे यदि कोई एक आँख फोड़ दे, तो उसकी भी आँख फोड़ दो। अगर दाँत तोड़ दे, तो उसका भी दाँत तोड़ दो। अंगभंग और कोड़े से पीटने की प्रथा भी प्रचलित थी। बहुत बार जुर्माने भी हुआ करते थे। उच्च वर्ग के किसी व्यक्ति को चोट पहुँचाने के लिए साधारण वर्ग के व्यक्ति को आघात पहुँचाने की तुलना में कड़ी सजा निश्चित थी। इसी प्रकार यदि उच्च वर्ग का कोई व्यक्ति अपराध करते हुए पाया जाता था, तो उसको एक ही अपराध के लिए साधारण व्यक्ति से अधिक सजा मिलती थी।

हम्मूराबी के कानूनों का अधिक भाग दीवानी कानूनों से भरा हुआ है। इसमें पारिवारिक जीवन के बारे में भी काफी कानून पाए जाते हैं। बैबिलोनिया का प्रत्येक कानूनी विवाह पहले से किए हुए इकरारनामे पर आधारित होता था। साधारणतः होने वाला पति लड़की के पिता को उपहार भेंट करता था। लड़की का पिता भी दहेज में जो कुछ भी देता था, वह उसकी लड़की की संपत्ति होता था। लड़की के मरने पर वह संपत्ति उसकी संतान की हो जाती थी। यदि वह स्त्री संतान के बिना मरती थी, तो वह संपत्ति पुनः उसके पिता के घर में चली जाती थी। यदि कोई स्त्री संतान उत्पन्न करने में असमर्थ होती थी, तो उसे तलाक दी जा सकती थी। पत्नी की इच्छा से उपपत्नी भी रखी जा सकती थी। यदि कोई स्त्री अपनी इच्छा से अपने पति को धोखा देती थी या वैवाहिक संबंध को तोड़ती, तो उसे पानी में डुबो कर मार देने का दंड दिया जाता था। इसके अलावे धन-संपत्ति के लिए भी विस्तृत कानून हम्मूराबी ने बनाए थे। ये कानून जमीन के स्वामित्व, बटाई तथा बंधक रखने के बारे में बनाए गए थे। इन कानूनों में विभिन्न पेशों के लिए मजदूरी भी निश्चित की गई थी। उदाहरण के लिए डाक्टरों की फीस निश्चित थी। सभी महत्त्वपूर्ण व्यापारिक अनुबंधों का लिखित होना आवश्यक था और इसके कानूनों में किसी अनुबंध को तोड़ने तथा व्यापार में धोखाधड़ी करने के लिए कड़ी सजाएँ निश्चित थीं। उसके कानूनों से पता चलता है कि व्यापार विनिमय पर आधारित था

और मजदूरी तथा मालगुजारी अनाज के रूप में दी जाती थी। अनाज विनिमय का सर्वमान्य माध्यम था। बड़े व्यापारिक लेन-देन में बहुमूल्य धातुओं की वजन का प्रयोग होता था ; क्योंकि सिक्कों का प्रचलन अभी तक नहीं हो सका था। इस प्रकार उसके कानून प्राचीन विश्व-इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और इस बात का प्रमाण है कि हम्मूराबी के काल में वैबिलोनिया की सामाजिक अवस्था और संस्कृति काफी विकसित हो चुकी थी।

बैबिलोनिया के प्रथम राजवंश का अंत तथा सामुद्रिक प्रदेश के राजवंशों का शासन

हम्मूराबी ने तैंतालीस वर्षों तक राज्य किया। उसका राज्यकाल लगभग २०२३ ई०-पू० से २०८० ई०-पू० तक था। उसके बाद उसका लड़का शंसू-इलुना गद्दी पर बैठा। उसका राज्यकाल लगभग २०८० ई०-पू० से २०४३ ई०-पू० तक था। उसने अपने पिता द्वारा स्थापित कीर्त्तिमान को बनाए रखने की चेष्टा की। उसके जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनसे पता चलता है कि उसने भी न्याय-विभाग और प्रशासन पर कड़ा नियंत्रण रखा। इन विभागों के अफसरों के कामों की देखभाल वह स्वयं करता था। जो अफसर दूर के शहरों में स्थित थे, उनके कामों की भी निगरानी करता था। उसके राज्य के शुरू के दिन शांतिपूर्ण थे और उसने प्रजा की समृद्धि बढ़ाने की चेष्टा की। लेकिन, उसके राज्य के नौवें साल से कुछ उपद्रव आरंभ हो गए, जिसके कारण वैबिलोनिया के राज्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। इसी समय उसके राज्य की पूर्वी सीमाओं पर कस्साइट नाम की जाति का आक्रमण प्रारंभ हो गया। इस राजा ने यह दावा किया है कि उसने कस्साइट लोगों को हरा दिया था, लेकिन बाद में एलम की पहाड़ियों से उन लोगों का आक्रमण तथा वैबिलोनिया में उनका प्रवेश इस बात का प्रमाण है कि बैबिलोनिया के सामने एक बहुत बड़ा खतरा प्रस्तुत हो रहा था। कस्साइट लोगों की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती गई। शंसू-इलुना के बाद वैबिलोनिया की गद्दी पर कई कमजोर राजे बैठे और उनलोगों के कमजोर शासन में कस्साइट लोगों को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिला। १७६१ ई०-पू० तक उनकी शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि उन लोगों ने अपना राजवंश ही स्थापित कर लिया और कई वर्षों तक वैबिलोनिया पर शासन किया। शंसू-इलुना ने अपने पिता की तरह अपने राजवंश की प्रतिष्ठा कायम रखी। इसलिए उसे इस राजवंश का अंतिम महान राजा कहा जा सकता है। वह सार्वजनिक निर्माण-कार्यों में भी दिलचस्पी लेता था। उसने बहुत से मंदिरों और भवनों का निर्माण कराया। उसने नई नहरों के निर्माण और पुरानी नहरों के पुनरूद्धार के द्वारा कृषि को बढ़ावा देने की चेष्टा की। उसने व्यापार-वाणिज्य और उद्योग-धंधों को भी आगे बढ़ाया। इसलिए उसके राज्यकाल में वैबिलोनिया की संपन्नता और

खुशहाली कायम रही और उसके जमाने में जनता प्रायः सुखी थी।

लेकिन, उसके कमजोर उत्तराधिकारियों के राज्यकाल में बैबिलोनिया की शक्ति का ह्रास होने लगा। विदेशियों के आक्रमण लगातार होने लगे। उसके कमजोर उत्तराधिकारी इन आक्रमण का सामना करने में असमर्थ रहे। इस वंश का अंतिम राजा सम्सुदिताना था। इस शासक के जमाने में अनातोलिया में रहने वाली हिट्टाइट नाम की एक जाति के लोगों ने फरात नदी से होकर बैबिलोनिया के उत्तर-पश्चिमी भाग पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का विशुद्ध विवरण तो हमें प्राप्त नहीं है. पर इतना अवश्य ज्ञात है कि इस आक्रमण से बैबिलोनिया के लोगों की बेहद तबाही हुई। हिट्टाइट लोगों ने काफी लूटपाट मचायी। वे बैबिलोनिया से बहुत देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ भी उठा ले गए। बैबिलोनिया के प्रथम राजवंश का अंत इस हिट्टाइट की आक्रमण के कारण ही हुआ होगा। यह भी संभव है कि प्रथम राजवंश का अंतिम शासक सम्सुदिताना इन आक्रमणकारियों से लड़ते समय मारा गया हो। पर, साथ ही यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन हिट्टाइट लोगों ने बहुत दिनों तक बैबिलोनिया पर अधिकार नहीं जमाए रखा, बल्कि वे शीघ्र ही काफी मात्रा में लूट का माल ले कर अपने देश लौट गए। इस आक्रमण का सबसे प्रमुख परिणाम बहुत दिनों तक अशांति और अव्यवस्था के साम्राज्य का बने रहना था। हिट्टाइट आक्रमण के बाद अराजकता फैल गई। इस अराजकता और अव्यवस्था से कस्साइट लोगों को फायदा हुआ और उन लोगों ने १७६३ ई०-पू० के लगभग बैबिलोनिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। हम यह देख चुके हैं कि कस्साइट लोग धीरे-धीरे बैबिलोनिया के अंदर शम्सू-इलुना के समय से ही प्रवेश करते जा रहे थे। कस्साइट लोगों के आधिपत्य के स्थापित के होने के पहले अराजकता के काल में हम यह पाते हैं कि सामुद्रिक प्रदेश के राजा दक्षिणी बैबिलोनिया पर राज्य कर रहे थे। दक्षिणी बैबिलोनिया के राज्य को स्थापित करने वाला इलुमा-इलुम नाम का सरदार था, जिसने दक्षिणी बैबिलोनिया में फारस की खाड़ी के किनारे अपना राज्य स्थापित किया और यह राज्य कस्साइट लोगों के आधिपत्य की स्थापना तक चलता रहा। दक्षिणी प्रदेश का यह राज्य, जिसे सामुद्रिक प्रदेश का राज्य कहते हैं, लगभग १७१० ई०-पू० तक कायम रहा। तात्पर्य यह है कि कस्साइट लोगों के राज्य की स्थापना के पचास वर्षों तक यह राज्य कायम रहा। सामुद्रिक प्रदेश का यह राज्य प्राचीन सुमेरियन लोगों की राष्ट्रीय भावना का प्रतीक था; क्योंकि इस प्रदेश के रहने वाले प्रधानतः सुमेरियन लोग थे। इस राज्य का अंत इलुमा-इलुम के दसवें उत्तराधिकारी के राज्य में हुआ, जिसका नाम इया-गामिल(Ea-Gamil) था। सामुद्रिक प्रदेश के राज्य का विकास कस्साइट लोगों ने ही किया क्योंकि इस समय तक वे उत्तरी भाग में सर्वशक्तिमान हो

चुके थे। इसलिए समस्त बैबिलोनिया पर अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए दक्षिणी प्रदेश पर भी आधिपत्य स्थापित करना आवश्यक माना गया।

कस्साइट लोगों का राज्य : बैबिलोनिया का तीसरा राजवंश

(१७६० ई० पू० से ११८५ ई० पू० तक)

वैबिलोनिया के अन्य भागों में यद्यपि कस्साइट लोगों को शीघ्र सफलता मिली, लेकिन दक्षिणी प्रदेश में उन लोगों को अपना आधिपत्य स्थापित करने में काफी दिन लगे। जैसा हम कह चुके हैं कि कस्साइट लोगों की राज्य-स्थापना के बाद भी पचास वर्षों तक दक्षिणी प्रदेश में सामुद्रिक प्रदेश के राजाओं का राज्य चलता रहा। बहुत दिनों तक लगातार संघर्ष करने के बाद ही कस्साइट लोग दक्षिणी प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफल हुए। इसके पश्चात् ही पूरा वैबिलोनिया एक शासनसूत्र में आवद्ध हो गया और बैंबिलोन पूरे देश की राजधानी बन सका। इस प्रकार लंबे संघर्ष के बाद वैबिलोनिया कस्साइट लोगों के अंदर एक राजनैतिक सत्ता के अन्दर आ सका।

वैबिलोनिया के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि ये कस्साइट आक्रमणकारी इतनी बड़ी संख्या में नहीं आए कि वे वहाँ के रहने वालों को अपने भार से दबा दें। कस्साइट लोगों और वैबिलोनिया के लोगों में वंशत: विभिन्नता बहुत बड़ी थी। यह बड़ा ही विवादग्रस्त विषय रहा है कि कस्साइट लोग किस जाति के थे। लेकिन, अधिकतर विद्वान यह मानने लगे हैं कि वे लोग आर्य जाति के थे और मिट्टानी के शासकों से मिलते-जुलते थे। कम संख्या में होने के कारण बैंविलोनिया में कस्साइट लोग शासक वर्ग के रूप में रहते थे और एक प्रकार के कुलीन वर्ग के रूप में थे। उनकी संख्या बैबिलोनिया के निवासियों की संख्या की अपेक्षा बहुत कम थी। जातिगत विभिन्नता के अतिरिक्त वैबिलोनिया के निवासियों और कस्साइट लोगों में अन्य विभिन्नताएँ भी थीं। जैसे कस्साइट लोगों की भाषा और धार्मिक-सांस्कृतिक परंपराएँ बैबिलोनिया के निवासियों से भिन्न थीं। इसके अतिरिक्त यह ध्यान देने की बात है कि कस्साइट लोगों का सांस्कृतिक स्तर बैंविलोनिया के निवासियों से नीचा था। धीरे-धीरे दोनों जातियों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और दोनों संस्कृतियों में सामंजस्य स्थापित हुआ। कस्साइट लोगों ने शीघ्र ही वैबिलोनिया की संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को अपना लिया। प्रारंभ में कस्साइट शासक अपने को बैबिलोनिया के निवासियों से भिन्न समझते थे, लेकिन बाद में, वे लोग अपने-आप को बैबिलोनिया की संस्कृति का अंग समझने लगे।

शुरू में कस्साइट लोग एक पूर्णतया असंस्कृत जाति थे। इसलिए उन लोगों

ने वैबिलोनिया के विजित लोगों से बहुत कुछ सीखा। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि राजनैतिक दृष्टि से कस्साइट लोगों ने वैबिलोनिया को पराजित किया, पर सांस्कृतिक दृष्टि से बैबिलोनिया के लोगों ने उन लोगों पर विजय प्राप्त की। सांस्कृतिक आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया करीब दो सौ वर्षों तक चलती रही। इस अवधि में कस्साइट लोगों ने राजकीय उद्देश्यों के लिए वैबिलोनिया का धर्म भी अपना लिया। इसके अलावा उनलोगों ने वहाँ के बहुत से रीति-रिवाजों को भी अपना लिया। उन लोगों ने वैबिलोनिया की लिपि भी अपना ली। इस प्रकार, कस्साइट शासक सांस्कृतिक क्षेत्र में वैबिलोनिया के ऋणी हो गए, लेकिन उन लोगों ने अपनी जातीय विभिन्नता कई शताब्दियों तक वनाए रखी। कालांतर में जव दोनों जातियों में शादी-ब्याह होने लगा, तव जातीय विभिन्नता भी धीरे-धीरे खतम होने लगी।

कस्साइट लोग एक व्यवहारकुशल जाति के थे और स्वभाव से साहसिक कार्यों में अभिरुचि रखते थे। प्रशासन के क्षेत्र में उन्हें अनोखी निपुणता प्राप्त थी। अतः, वैबिलोनिया पर कस्साइट लोगों का अधिकार और उनका शासन प्राचीन वैबिलोनिया के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। विदेशी शासन होते हुए भी वैबिलोनिया पर कस्साइट लोगों का अधिकार पूर्ण रूप से अहितकर नहीं था, वल्कि उनके शासन से बैबिलोनिया को कई लाभ हुए, साथ-साथ कुछ अहित भी हुआ।

कस्साइट लोगों ने अपने शासनकाल में बैबिलोनिया में कुछ अच्छे काम भी किए। इन लोगों के शासन से बैबिलोनिया के लोगों को जो सवसे वड़ा लाभ हुआ, वह था—समय का मानदंड। इन लोगों के आने के पहले एक बड़े ही पेचीदे ढंग से बैबिलोनिया के लोग समय का मानदंड उपस्थित करते थे। प्रत्येक वर्ष का प्रारंभ किसी महान घटना से हुआ करता था। कस्साइट लोगों ने इस पेचीदे ढंग के स्थान पर सरल ढंग से वर्षों की गणना राजाओं के राज्यकाल से प्रारंभ की। इसके अलावा काश्तकारी के क्षेत्र में इन लोगों ने कुछ सुधार किए। फिर इन लोगों ने ही वैबिलोनिया में घोड़ों का प्रयोग प्रारंभ किया। आर्यों की तरह ये लोग घोड़ों पर चढ़ते थे और घोड़ों की तीव्र गति के कारण ही वैबिलोनिया पर विजय प्राप्त करने में ये सफल हो सके थे। इसलिए घोड़ों के प्रयोग से वैबिलोनिया की सैनिक प्रणाली में बहुत परिवर्तन हुआ। कस्साइट लोगों के आने के पहले गधे और दूसरे जानवर माल ढोने के काम में लाए जाते थे। लेकिन, इन लोगों के आने के वाद पूरे पश्चिमी एशिया में घोड़ों का प्रयोग माल ढोने में भी होने लगा। चूँकि घोड़े वैबिलोनिया में इतने कम पाए जाते थे कि इन लोगों के आने के पहले घोड़ों को पहाड़ी गधा कहा जाता था। घोड़ों के प्रयोग का हवाला हमें पहले-पहल हम्मूराबी के

युग में मिलता है। उस युग में भी कस्साइट जाति के कुछ लोग एलम के पश्चिमी हिस्सों में जाकर बस गए थे और वे लोग कभी-कभी फसल काटने के समय मजदूरों के रूप में बैबिलोनिया आया करते थे। इन यात्राओं में वे लोग माल घोड़ों के द्वारा ही ढोया करते थे। जब इन घोड़ों की बिक्री बैबिलोनिया में होती थी, तब इन घोड़ों की देखभाल के लिए कस्साइट लोगों को ही रखा जाता था। लेकिन शुरू में आने वाले ये कस्साइट लोग बहुत ही सीधे-सादे थे। इसलिए इन लोगों ने तत्कालीन राजनैतिक और व्यापारिक क्षेत्र में कोई दिलचस्पी नहीं ली और न कोई महत्त्वपूर्ण काम ही किया। वे लोग अधिकतर नौकरों का काम किया करते थे। केवल अम्मी-दिताना (Ammi-ditana) के राज्यकाल में एक शिलालेख मिलता है, जिसमें एक इकरारनामे में इन लोगों को नौकरों से भिन्न काम करते दिखलाया गया है।

शम्सुइलुना के जमाने में जो कस्साइट आक्रमण हुआ, उसके बाद भी इनके कई आक्रमण हुए। सामुद्रिक प्रदेश के बाद के राजाओं के राज्यकाल में उन लोगों ने पूरे उत्तरी बैबिलोनिया पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इन लोगों का प्रधान देवता सूर्याश (Suryash) था, जो आर्य लोगों के देवता सूर्य से मिलता-जुलता था। यह इस बात का प्रमाण है कि ये लोग आर्य जाति की ही एक शाखा थे और इन लोगों ने ईरान पर अपना उपनिवेश स्थापित कर धीरे-धीरे एशिया-माइनर तक अपना अधिकार स्थापित किया था। बैबिलोनिया के तीसरे राजवंश अथवा कस्साइट लोगों के इतिहास के बारे में हमलोगों की जानकारी संतोषजनक एवं पूर्ण नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इन लोगों का शासन बैबिलोनिया के इतिहास में महत्त्वपूर्ण नहीं था। कुछ विद्वान इस काल को अंधकार युग भी मानते हैं, लेकिन ऐसी धारणा भ्रांतिमूलक सिद्ध होती है। इस जमाने की महत्त्वपूर्ण घटनाओं से हम परिचित नहीं हैं, क्योंकि इस युग के इतिहास के लिए हमारे साधन अपर्याप्त हैं। इसी कारण बहुत से लोग इस युग को अंधकार युग मानते हैं। कस्साइट लोग शुरू में बर्बर थे। इसलिए कुछ दिनों तक उनके आक्रमण से बैबिलोनिया की संस्कृति को धक्का लगा होगा। ऐसा लगता है कि कस्साइट शासकों ने अपने राज्य का इतिहास लिखने में दिलचस्पी नहीं दिखलायी और इसी कारण हमें उसके राज्य के बारे में कम जानकारी प्राप्त हुई है। बहुत दिनों तक उनलोगों ने बैबिलोनिया के देवताओं के प्रति सम्मान नहीं प्रदर्शित किया और अपने ही देवताओं को पूजते रहे। संभवतः शुरू में उन लोगों ने बैबिलोनिया के धर्म, संस्कृति और साहित्य में कोई दिलचस्पी नहीं ली। उन लोगों के जमाने में बहुत कम मंदिर बनवाए गए या बहुत कम मंदिरों का पुनरुद्धार किया गया। फिर भी, इन लोगों ने करीब ६ सौ वर्षों तक बैबिलोनिया पर शासन किया और यह लंबा समय महत्त्वपूर्ण घटनाओं से

बिल्कुल खाली नहीं था, बल्कि कस्साइट लोगों ने बैबिलोनिया के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित किया। बैबिलोनिया के समाज, शासन-तंत्र और सैनिक प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इसलिए इस युग का निष्पक्ष इतिहास इस बात को सिद्ध करेगा कि कस्साइट लोगों का शासन बैबिलोनिया के इतिहास में अंधकार युग नहीं माना जा सकता।

कस्साइट लोगों के राजवंश का संस्थापक उनका अनुभवी नेता गंदाश (Gandash) था। उसके बाद उसका लड़का अगुम (Agum) गद्दी पर बैठा। अगुम ने २२ वर्षों तक राज्य किया। इसका एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। इस शिलालेख में गद्दाश (Gaddash) नाम के राजा का भी नाम आया है। ऐसा लगता है कि गद्दाश गंदाश का ही रूप हो। इस शिलालेख में कस्साइट विजय का भी उल्लेख आया है। इस शिलालेख का जो अंश बचा हुआ है, उससे पता चलता है कि शिलालेख मार्दुक देवता के मंदिर के पुनरुद्धार की घटना के स्मारक के रूप में खुदवाया गया था। लेकिन, बैबिलोनिया के आक्रमण के समय में शिलालेख के कुछ भाग नष्ट हो गए। इससे यह पता चलता है कि बैबिलोन के लोगों ने आक्रमणकारियों का डट कर मुकाबला किया और जब तक वे पूर्ण रूप से पराजित नहीं हुए, तब तक वे लड़ते रहे। ऐसा लगता है कि बैबिलोन नगर के बाद बैबिलोनिया के दूसरे हिस्सों पर आक्रमण हुए और कस्साइट लोगों ने दूसरे हिस्सों पर भी आक्रमण किया। इसलिए उनका नेता गंदाश अपने शिलालेखों में केवल बैबिलोनिया का ही राजा नहीं कहता है, बल्कि अपने-आपको सुमेर, अक्कड़ तथा चारों प्रदेशों का भी राजा कहता हैं। गंदाश के बाद अगुम गद्दी पर बैठा। उसके बाद एक दूसरा कस्साइट सरदार भी गद्दी पर बैठा, जिसका नाम कश्तीलियाश (Kashtiliash) था। यह गंदाश के वंश से प्रतिद्वंद्विता रखता था। यह एक प्रभावशाली कस्साइट कबीले का था; क्योंकि इसके भाई ने ही, जिसका नाम उलामबरियाश (Ulamburiash) था, सामुद्रिक प्रदेश को विजित किया। कश्तीलियाश और उलामबरियाश दोनों ही बरनाबरियाश (Burnaburiash) के पुत्र थे। बरनाबरियाश एलम का कस्साइट सरदार था। जब उसके दोनों पुत्र बैबिलोनिया पर अधिकार कर रहे थे, तब वह एलम में ही था। ऐसा प्रतीत होता है कि उलामबरियाश के द्वारा विजित होने पर भी सामुद्रिक प्रदेश ने विद्रोह किया; क्योंकि इनको फिर से जीतने की आवश्यकता अगुम नाम के कस्साइट सरदार द्वारा पड़ी। यह कश्तीलियाश का सबसे छोटा पुत्र था। बैबिलोनिया की गद्दी पर कश्तीलियाश के बाद उसका बड़ा पुत्र गद्दी पर बैठा और उसका छोटा पुत्र अगुम सामुद्रिक प्रदेश पर राज्य करने लगा। इस प्रकार, बैबिलोनिया दो भागों में बँट गया—एक भाई उत्तरी बैबिलोनिया पर शासन करने

लगा और दूसरा दक्षिणी प्रदेश पर। लेकिन, तत्कालीन सूत्रों से यह नहीं पता चलता है कि अगुम ने पूरे सामुद्रिक प्रदेश पर अधिकार किया था। इसलिए यह भी संभव है कि अगुम ने सामुद्रिक प्रदेश के कुछ हिस्सों पर अधिकार किया हो। कुछ दिनों के बाद बैबिलोनिया की गद्दी पर कश्तीलियाश का दूसरा पुत्र, जिसका नाम अबिरताश (Abirattash) था, बैठा। संभवतः इसी के राज्यकाल में या इसके किसी उत्तराधिकारी के राज्यकाल में पूरे बैबिलोनिया पर इस वंश का अधिकार हो गया।

अबिरताश के बाद उसके लड़के गद्दी पर बैठे। इन लोगों के नाम थे—तश्शीगुरुमाश (Tashshi-gurumash) और अगुमकाकरीम (Agumkakarime)। इन लोगों के बाद कस्साइट वंश के इतिहास के संबंध में हमारी जानकारी अस्पष्ट हो जाती है। सत्रहवीं शताब्दी ई०-पू० से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी ई०-पू० का इतिहास हमें ठीक से ज्ञात नहीं है। इन दो सौ वर्षों की अवधि में करीब तेरह राजाओं ने राज्य किया। इस युग का इतिहास हमें मामूली तौर पर मिस्री सूत्रों से ज्ञात हुआ है। तेलेल-अमरना में जो कुछ शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनसे इस युग में बैबिलोन का मिस्र और दूसरे पश्चिमी एशिया के देशों से क्या संबंध था, हमें ज्ञात होता है। कुछ पत्र भी प्राप्त हुए हैं, जो बैबिलोन की तत्कालीन स्थिति का ज्ञान देते हैं। पांच पत्र तो कस्साइट राजा बर्नाबरियाश द्वारा अपने समकालीन मिस्री शासक अखनाटन को लिखे गए थे। इन पत्रों से तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का पता चलता है और यह भी पता चलता है कि बैबिलोन पश्चिमी एशिया में एक महत्त्वपूर्ण शहर था। इन पत्रों से यह भी पता चलता है कि तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय क्षत्र में बैबिलोन का स्वतंत्र अस्तित्व था और इस युग में बैबिलोन के राजा विजय की अपेक्षा व्यापार-वाणिज्य बढ़ाने में अधिक दिलचस्पी लेते थे।

तेलेल-अमरना में प्राप्त पत्रों से यह भी प्रतीत होता है कि मित्तानी ,असीरिया और बैबिलोन के राजा अपनी लड़कियों की शादी मिस्र के फराओ से करना चाहते थे। इन वैवाहिक संबंधों के द्वारा वे मिस्र के फराओ से मित्रता की संधि करने में सफल होते थे। मिस्र के राजा इस युग में अपनी लड़कियों की शादी इन देशों में करना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझते थे; क्योंकि एक पत्र में कदशमान-एनलिल (Kadashman-Enlil) नाम का राजा मिस्र के फराओ अमेनहोटेप तृतीय से इस बात पर विरोध प्रकट करता है कि अमेनहोटेप ने अपनी लड़की उसे देने से क्यों इन्कार किया और वह यह भी धमकी देता है कि वह अपनी लड़कियों की शादी भी मिस्री फराओ के यहाँ नहीं करेगा। इस प्रकार इन पत्रों से यह पता चलता है कि पश्चिमी

देशों के ये राजा आपस में अपनी लड़कियों की शादी एक दूसरे से करते थे और अपने-अपने देवताओं का भी आदान-प्रदान करते थे ।

बैबिलोन इस जमाने में अपने राज्य की सीमा नहीं बढ़ाना चाहता था । मित्तानी राज्य ने बैबिलोन पर कई आक्रमण किये । मित्तानी के पतन के बाद असीरिया के राज्य की शक्ति बढ़ने लगी । असीरिया की शक्ति बढ़ने से बैबिलोन के राजाओं को चिंता हुई । इसका कारण यह था कि वे बैबिलोन राज्य की रक्षा तो करना ही चाहते थे, साथ-ही-साथ वे यह भी चाहते थे कि फरात नदी से लेकर सीरिया और उत्तरी देशों के साथ व्यापार के रास्ते खुले रहें । हमें एक पत्र के द्वारा यह जानकारी प्राप्त है कि एक बार जब कस्साइट राजा बर्नबरियाश के एक संदेश-वाहक का कारवाँ लूट लिया गया, तब उसने मिस्र के फराओ के पास विरोधपत्र भेजा और हरजाना माँगा । दूसरी बार भी जब बैबिलोनिया के कुछ व्यापारी कन्नान (Cannan) प्रदेश में लूट लिए गए और मार डाले गए; तब उसने अखनाटन के पास पत्र लिख कर क्षतिपूर्ति की माँग की । तत्कालीन सूत्रों से यह भी पता चलता है कि बैबिलोन के कस्साइट राजाओं का हिट्टाइट राजाओं से भी राजनयिक संबंध था और यह संबंध पूर्णरूपेण सफल था ।

कस्साइट लोगों के शासनकाल में बैबिलोन की भाषा और लिपि का पश्चिमी एशिया के देशों में प्रचार हुआ । साथ ही, बैबिलोन के कानून और न्याय-प्रणाली का भी पश्चिमी एशिया में प्रचार हुआ । खास कर हिट्टाइट लोग बैबिलोनिया की संस्कृति से बहुत प्रभावित हुए । धीरे-धीरे बैबिलोन का कस्साइट राज्य और हिटटाइट राज्य एक दूसरे के बहुत नजदीक आ गए । असीरिया के राज्य के उदय और डर के कारण ही वे एक दूसरे के निकट आ गए ।

धीरे-धीरे असीरिया की शक्ति इतनी बढ़ने लगी कि कस्साइट लोगों के लिए अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना कठिन हो गया । अंत में कस्साइट शासक बैबिलोन की बहुत-सी आंतरिक और वैदेशिक समस्याओं को हल करने में सफल नहीं रहे ।

इस युग के इतिहास के बारे में हमारी जानकारी राज्य की सीमाओं पर स्थित शिलालेखों से मिलती है । इन शिलालेखों को कुडुरु (Kudurru) शिलालेख कहते हैं । बड़े-बड़े खेतों की सीमाओं पर भी उस युग में पत्थरों पर लेख लगा दिए जाते थे और इन शिलालेखों से जमीन के स्वामित्व का पता चलता था । इन पत्थर के लेखों का ऐतिहासिक, धार्मिक और कानूनी दृष्टि से भी महत्त्व है । इन शिलालेखों से तत्कालीन राजाओं के नाम और राज्य का पता चलता है । इसलिए हमलोगों को इन शिलालेखों के द्वारा कस्साइट शासन के बाद और नए बैबिलोन के राजाओं के पहले का इतिहास मालूम होता है । इन शिलालेखों से यह पता चलता है

कि बैबिलोन के कानून और रीति-रिवाजों में क्या परिवर्त्तन हुए और किस प्रकार बैबिलोनिया की संस्कृति का क्रम जारी रहा।

कुडुरु शिलालेखों की शुरुआत कस्साइट राजाओं के शासनकाल में ही हुई। शुरू में इस प्रकार के शिलालेख तब लगाए जाते थे, जब राजा किसी भूमि का दान किया करते थे अथवा राजा कोई जमीन अपने प्रमुख अफसर या कर्मचारी को दिया करते थे। ऐसे शिलालेखों का उद्देश्य यह था कि जमीन का स्वामित्व नए व्यक्ति को देवताओं की निगरानी में प्राप्त हो। यदि कोई भी व्यक्ति जमीन के स्वामित्व में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करता था, तो उस पर कई देवताओं का अभिशाप पड़ने की धमकी दी जाती थी। इन देवताओं को प्रतीकों के द्वारा इन शिलाखंडों के रिक्त स्थानों पर दर्शाया जाता था। इस तरह कस्साइट लोगों के समय में संपत्ति को दैवी संरक्षण में रखने की प्रथा चल गई। किंतु, कुछ विद्वान यह मानते हैं कि यह प्रथा पहले से ही बैबिलोनिया में प्रचलित थी। कुडुरु शिलालेखों का महत्त्व यह था कि व्यक्तिगत संपत्ति पर दैवी संरक्षण की प्रार्थना की जाती थी।

हम्मूराबी के जमाने में इस प्रकार की प्रथा का कोई पता नहीं चलता। इस प्रथा की आवश्यकता इसलिए हुई कि कानूनों के द्वारा व्यक्तिगत संपत्ति की रक्षा होना संभव नहीं था, खास कर जब राजा कोई भी भूमि अपने प्रिय अफसरों को ऐसे प्रदेशों में देता था, जहाँ की जनता राजा से खुश नहीं रहती थी, वहाँ उसकी रक्षा कठिन थी। ऐसी हालत में इस दैवी संरक्षण की आवश्यकता महसूस की गई। बैबिलोन के प्रथम राजवंश के पतन के बाद जो अराजकता प्रारंभ हुई, उसके कारण ही संपत्ति के अधिकारों के बारे में लोगों के मन में संदेह उत्पन्न हुआ और व्यक्तिगत-संपत्ति की रक्षा के लिए देवताओं के संरक्षण की आवश्यकता महसूस की गई। इन पत्थर के टुकड़ों पर लेख लिखने की प्रथा कस्साइट लोगों में पहले से ही प्रचलित थी। कस्साइट लोग शुरू में पश्चिमी ईरान के पहाड़ी प्रदेशों में रहते थे, जहाँ उनके खेतों की सीमा पत्थरों के टुकड़ों द्वारा ही निर्धारित की जाती थी। शायद पत्थर के इन टुकड़ों पर छोटे-छोटे लेख भी पाए जाते थे, जिन पर खेत के मालिक का नाम रहता था। दैवी संरक्षण प्राप्त करने के लिए संपत्ति में हस्तक्षेप करने वालों पर देवताओं का अभिशाप प्राप्त करने की प्रथा प्राचीन सुमेर और बैबिलोनिया में प्रचलित थी। लेकिन, पत्थरों पर देवताओं की आकृति बनाने की प्रथा कस्साइट लोगों की थी।

खेतों में लगे हुए इस प्रकार के शिलालेख तत्कालीन भूमि के बारे में हमें काफी जानकारी देते हैं। इनसे यह पता चलता है कि किसी भी जमीन का स्वामी राजा को किसी भी सार्वजनिक हित के लिए बेगार देने के लिए बाध्य किया जा सकता था, यदि उसे राजा की ओर से खास छूट नहीं मिली होती। जमीन के मालिकों को राजा

के मवेशियों के लिए चरागाह भी देना पड़ता था और जमीन, सिंचाई तथा फसल के लिए कई तरह के कर देने पड़ते थे। ये प्रथाएँ प्रथम राजवंश के समय भी प्रचलित थीं और कस्साइट लोगों ने इनमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं किया।

अब हमें देखना है कि कस्साइट वंश के राजाओं का पतन कैसे हुआ। इनके पतन का मुख्य कारण एलम के लोगों का आक्रमण था। प्राचीनकाल में चौथे राजवंश के समय भी बैंबिलोन को एलम की ओर से खतरा सदैव बना रहता था और जब तक बैबिलोनिया के नए राजवंश के राजा नेबुचडरेज्जर (Nebuchadrezzar) गद्दी पर नहीं बैठा, तब तक एलम की ओर से खतरा बराबर बना रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि कस्साइट लोगों के शासनकाल में कोई अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना नहीं घटी, फिर भी इसे महत्त्वहीन काल नहीं माना जा सकता। इस जमाने में बैबिलोन के इतिहास, समाज और संस्कृति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। बैबिलोन की संस्कृति और कस्साइट संस्कृति के संयोग से बैबिलोनिया की संस्कृति समृद्ध हुई। खास कर सैनिक क्षेत्र में कस्साइट लोगों ने बैबिलोनिया के लोगों को नए हथियारों और नई सैनिक प्रणाली से अवगत कराया। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इन्होंने बैबिलोनिया का संबंध, हिट्टाइट, एलम, मिस्र और मित्तानी के राजाओं से किया। व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में बैबिलोन ने इस युग में अभूतपूर्व प्रगति की। इन व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंधों से बैबिलोन के लोगों का दृष्टिकोण विस्तृत हुआ। इसलिए यह कहना है कि कस्साइट लोगों का शासन बैबिलोन के इतिहास के लिए महत्त्वहीन और बेकार था; क्योंकि महान राजनैतिक घटनाओं के न होते हुए भी इस युग में सांस्कृतिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए।

कस्साइट शासन के बाद बैबिलोनिया का इतिहास

कस्साइट लोगों के शासन के अंत में बैबिलोनिया पर एलम के आक्रमण का खतरा बढ़ गया। अंत में कस्साइट लोगों के शासन का अंत भी बहुत हद तक एलम के द्वारा आक्रमण के कारण ही हुआ। इसके बाद बैबिलोन के चतुर्थ राजवंश का शासन प्रारंभ हुआ और संभवतः इस वंश का तीसरा राजा नेबुचडरेज्जर था। नेबूचडरेज्जर ने एलम के विरुद्ध बैबिलोन के संघर्ष को बनाए रखा। ऐसा कहा जाता है कि शुरू में वह एलम के राजा द्वारा पराजित हुआ, लेकिन बाद में उसने विजित प्रदेशों पर फिर से कब्जा कर लिया और कुछ नए प्रदेशों पर भी अधिकार कर लिया। ऐसा माना जाता है कि नेबुचडरेज्जर ने अपने देश की प्रतिष्ठा को फिर से कायम किया और एलम के आक्रमण के खतरे को बहुत कम कर दिया। उसने राज्य की उत्तरी सीमा-सुरक्षा संबंधी कार्रवाई बढ़ा दी। उसके जमाने में बैबिलोन की

सुरक्षा के प्रयत्न इतने सुदृढ़ थे कि जब असीरिया के राजा ने एक बार बैबिलोनिया पर चढ़ाई की, तब उसने उसको न केवल मार भगाया, बल्कि बहुत दूर तक उसका पीछा भी किया। इस तरह नेबुचडरेज्जर के काल में बैबिलोनिया काफी शक्तिशाली हो गया और आक्रमण नीति को अपनाने में भी सफल रहा। १०१० ई०-पू० के आस-पास बैबिलोनिया ने असीरिया के राजा तिगलथ-पिलेसर प्रथम (Tiglath-Pileser 1) के विरुद्ध दो लड़ाइयाँ लड़ीं। पहली लड़ाई में बैबिलोनिया की विजय हुई, लेकिन दूसरी लड़ाई में असीरिया के राजा ने बैबिलोनिया को हरा दिया और उसने बैबिलोन नगर और अन्य प्रमुख शहरों पर भी कब्जा कर लिया। लेकिन, उस समय असीरिया का राजा बैबिलोनिया पर स्थायी अधिकार करना नहीं चाहता था। इसलिए तिगलथ पिलेसर की मृत्यु के वाद बैबिलोनिया पुनः स्वतंत्र हो गया और उसका लड़का, जो उसके वाद गद्दी पर बैठा, उसने बैबिलोनिया के राजा के साथ मैत्रीपूर्ण संवंध रखा।

इस प्रकार असीरिया और बैबिलोनिया के संवंधों का पहला अध्याय समाप्त हुआ। करीब तीन शताब्दियों तक इन दोनों प्रदेशों में रुक-रुक कर संघर्ष चलता रहा। लेकिन इस समय करीव पचास वर्षों से दोनों देशों की आंतरिक दशा इतनी दयनीय हो गई थी कि दोनों देशों को मजवूर होकर कुछ दिनों के लिए आक्रामक नीति का त्याग करना पड़ा। बैबिलोनिया की आंतरिक दशा अर्द्ध-सभ्य सेमेटिक जातियों के लगातार आक्रमण से वहुत खराब हो गई थी। फरात नदी के उस पार से आकर ये बर्वर जातियाँ बैबिलोनिया के लोगों को तबाह कर रही थीं। इन लगातार आक्रमणों से अव्यवस्था, अशांति और अराजकता का वोलबाला हो गया था, जिसके कारण बैबिलोनिया में कई राजवंशों का शासन स्थापित हुआ और खत्म हुआ। जनता तबाह हो गई। इन आक्रमणकारियों ने नगरों, गाँवों और मन्दिरों को वुरी तरह लूटा-खसोटा और विनाश की भयंकर लीला उपस्थित कर दी। इन आपत्तियों के अतिरिक्त इसी युग में कई भयंकर अकाल भी पड़े। बैबिलोनिया के छठे राजवंश का शासन केवल वीस वर्ष तक कायम रहा। इस राजवंश की स्थापना १०३१ ई०-पू० में हुई और १०१२ ई०-पू० में इसका अंत हो गया। इसका शासन काल आपत्तियों, दुर्भिक्ष और बाढ़ से भरा हुआ था। छठे राजवंश के बाद बैबिलोनिया पर एलम के एक शासक का शासन स्थापित हुआ, जिसने सातवें राजवंश की स्थापना की और यह सातवाँ राजवंश १००६ ई०-पू० तक कायम रहा।

इसके बाद आठवें राजवंश की स्थापना हुई, जिसने १००५ ई०-पू० से ७६२ ई० पू० तक शासन किया। इस राजवंश के अधीन एक स्थिर शासन की स्थापना हो सकी, हालाँकि इस युग में भी विदेशी आक्रमण जारी रहे। फिर भी, ये विदेशी

आक्रमण उतने खतरनाक नहीं सिद्ध हुए, जितने कि पहले के आक्रमण थे। इसी समय पड़ोसी देश असीरिया की शक्ति बहुत बढ़ गई। असीरिया की शक्ति बढ़ने से वैबिलोन पर खतरा उपस्थित हो गया। कुछ ही दिनों के बाद असीरिया के शासकों ने वैबिलोनिया के शासकों को हरा दिया और वैबिलोनिया ने असीरिया की अधीनता स्वीकार कर ली। करीब ८५६ ई०-पू० से ८२४ ई०-पू० तक वैविलोनिया ने असीरिया की अधीनता स्वीकार कर ली थी। असीरिया ने अपने सैनिक संगठन को पहले से अधिक सुदृढ़ और कारगर बना लिया था। इस सैनिक संगठन के बल पर असीरिया के शासक, अशुर-नासिरपाल (Ashur-Nasirpal) ने आक्रमणों के द्वारा राज्य-विस्तार की नीति को अपनाया। वह त्रिजित प्रदेशों को पूर्णरूपेण अपने राज्य में मिला लेता था। इसके जमाने में असीरिया की सेना इतनी शक्तिशाली और इतनी तेज गति से विजय प्राप्त कर रही थी कि उसके कारण पश्चिमी एशिया के देशों में दहशत मची हुई थी। अशुरनासिर-पाल के उत्तराधिकारी शलमनेसर तृतीय (Shalmaneser III) के समय बैत्रिलोनिया के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के अवसर आए। यह इस कारण हुआ कि बैबिलोनिया में अतिरिक्त एकता का अभाव हो गया।

बहुत दिनों तक बैबिलोनिया असीरिया का अधीनस्थ देश नहीं रह सका, क्योंकि ऐसा लगता है कि कुछ ही दिनों के बाद बैबिलोनिया फिर से स्वतंत्र हो गया। इस बात से पता चलता है कि शलमनेसर के पुत्र और उत्तराधिकारी शंशी-अदाद चतुर्थ (Shamshi-Adad IV) को वैबिलोनिया पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए फिर से आक्रमण करना पड़ा। इस आक्रमण का वैबिलोनिया के लोगों ने डट कर मुकाबला किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। वैबिलोनिया के प्रमुख प्रदेशों पर असीरिया का अधिकार शंशी-अदाद के उत्तराधिकारी के समय तक बना रहा। इसके बाद के पचास वर्षों का इतिहास हमें ठीक से ज्ञात नहीं है। इस कारण आठवें राजवंश के अंतिम राजाओं के नाम हमें ज्ञात नहीं हैं। हम यह भी नहीं जानते कि आठवें राजवंश का अंत कब हुआ और नौवाँ राजवंश कब स्थापित हुआ। इतना हम कह सकते हैं कि करीब साठ वर्षों तक अशांति और अराजकता फैली रही, जिसके कारण वैबिलोनिया का केंद्रीय शासन दुर्बल हो गया। वैबिलोनिया के इतिहास में यह भयंकर पतन और दुर्वलता का युग था। असीरिया वालों का भी ध्यान इस समय वैबिलोनिया से हट कर दूसरी ओर लगा हुआ था। असीरिया के उत्तर में उरारतु (Urartu) नाम के प्रदेश की शक्ति बढ़ रही थी, जिसके कारण असीरिया की उत्तरी सीमा खतरे में पड़ गई थी। असीरिया को मजबूर होकर इस ओर ध्यान देना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि बैबिलोनिया पर असीरिया का नियंत्रण ढीला पड़ गया। असीरिया का ध्यान दूसरी ओर जाने से बैबिलोनिया के नौवें राजवंश को यह मौका मिला कि वह फिर से बैबिलोनिया की पुरानी शक्ति और गौरव

को पुनः स्थापित करने की कोशिश करे। ७४५ ई०-पू० में असीरिया में एक सैनिक विद्रोह हुआ। इस विद्रोह के फलस्वरूप तिगलथ-पिलेसर तृतीय असीरिया की गद्दी पर बैठा। यह राजा आक्रमण और राज्य-विस्तार की नीति में विश्वास करता था। इसकी आक्रामक नीति बैबिलोनिया के लिए घातक सिद्ध हुई और बैबिलोनिया के शासकों का अपनी शक्ति को पुनः स्थापित करने का स्वप्न अधूरा रह गया। इस राजा के गद्दी पर आने से असीरिया के साम्राज्यवाद का अंतिम दौरा शुरू होता है।

तिगलथ-पिलेसर के नेतृत्व में असीरिया ने साम्राज्यवाद की जो नीति अपनायी वह प्राचीन विश्व के इतिहास में प्रसिद्ध है। उसके उत्तराधिकारियों ने उसकी नीति को आगे बढ़ाया। ६०६ ई०-पू० में इस साम्राज्यवाद का अंत हुआ, जिसके कारण तत्कालीन राज्यों को बहुत ही राहत मिली। तिगलथ-पिलेसर तृतीय ने बैबिलोनिया पर आक्रमण किया और बैबिलोनिया के राजा नबोनास्सर (Nabonassar) को हराया। नबोनास्सर को मजबूर होकर असीरिया की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इस आक्रमण के समय गाँवों और प्रदेशों में लूटपाट मचायी गयी और बहुत-से निवासियों को आक्रमणकारियों के साथ जाने को मजबूर किया गया। इस आक्रमण से बैबिलोनिया के लोगों को गहरा आघात पहुँचा। इस आक्रमण के समय ही बैबिलोनिया के नौवें राजवंश का अंत हो गया और दसवें राजवंश की स्थापना हुई।

दसवें राजवंश में उन्नीस राजाओं ने राज्य किया। ये उन्नीस राजा विभिन्न वंशों के थे। ७३२ ई०-पू० से ६२५ ई०-पू० तक इन राजाओं ने एक के बाद एक शासन किया। दूसरे शब्दों में यह बैबिलोनिया के पतन का ही काल था। नौवें राजवंश के पतन से बैबिलोनिया के नए साम्राज्य की स्थापना के समय तक हम यह कह सकते हैं कि बैबिलोनिया असीरिया के अधीनस्थ ही था, क्योंकि दसवें राजवंश के अधिकतर राजा या तो असीरिया के रहने वाले थे या असीरिया के शासकों के प्रतिनिधि थे।

तिगलथ-पिलेसर चतुर्थ ने बैबिलोनिया पर एक दूसरे नाम से शासन किया। उसका यह उपनाम पुलु (Pulu) था। उसके बाद उसके लड़के शल्मानेसर पंचम ने बैबिलोनिया पर शासन किया। इसने भी एक नये नाम से बैबिलोनिया पर शासन किया। उसका यह नाम उलु-लाई (Ululai) था। उसने इस नाम से पाँच वर्षों (७२७ ई०-पू० से ७२२ ई०-पू०) तक शासन किया।

सारगन द्वितीय

इसके बाद असीरिया की गद्दी पर सारगन द्वितीय ७२२ ई०-पू० में बैठा। सारगन के गद्दी पर बैठने से ही सारगन वंश का शासन शुरू होता है। सारगन द्वितीय

के शासनकाल में वैबिलोनिया में कुछ उपद्रव हुए। मेरोडाक-बालादान (Merodack-baladan) नामक चाल्डिया (Chaldea) के एक राजकुमार के नेतृत्व में बैबिलोनिया में विद्रोह हुआ। बैबिलोनिया के लोगों ने उसको अपना नेता मान लिया था। चूँकि वह आठवें राजवंश में पैदा हुआ था, इसलिए उसने बैबिलोन की गद्दी पर अपना हक साबित किया। उसको एलम के राजा से भी सहायता मिली। एलम के शासक ने ७२१ ई०-पू० में मेरोडाक की सहायता के लिए अपनी सेना मेसोपोटामिया में भेजी। इस सेना ने दजला नदी पर स्थित दुरिलू (Durilu) के किले को घेर लिया। सारगन द्वितीय ने स्वयं इस आक्रमण का मुकावला करने के लिए अपनी सेना का नेतृत्व किया। पर, वह एलम की सेना के हाथों पराजित हुआ और असीरिया लौटने के लिए मजबूर किया गया। सारगन द्वितीय की इस पराजय के वाद वैबिलोनिया के लोगों ने मेरोडाक को अपना राजा मान लिया।

वैबिलोनिया के द्वारा असीरिया की यह पराजय तत्कालीन इतिहास में काफी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। असीरिया के साम्राज्य के अन्य प्रांतों में भी विद्रोह होने लगे। उदाहरण के लिए दमिश्क (Damascus), गाजा (Gaza), फिलिस्तीन (Palestine) और हमाथ (Hamath) में भी विद्रोह हुए। ऐसा माना जाता है कि ये विद्रोह मिस्री षड्यंत्र के कारण हुए। सारगन द्वितीय को मजबूर हो कर बैबिलोनिया से हट कर इन विद्रोहों को दबाने में लगना पड़ा। साम्राज्य के दूसरे हिस्सों में भी विद्रोह होने लगे। इन सभी विद्रोहों को दबा कर तथा अपने सभी शत्रुओं को हरा कर सारगन ने वैबिलोनिया को हराने का प्रयत्न किया। उसने मेरोडाक पर आक्रमण किया। इस वार मेरोडाक को एलम के राजा से कोई भी सहायता नहीं मिली, जिसके कारण मेरोडाक को हार कर चाल्डिया भागना पड़ा। सारगन ने इस प्रकार फिर से वैबिलोनिया पर अपना अधिकार स्थापित किया और बैबिलोनिया के लोगों ने उसका एक रक्षक के रूप में स्वागत किया; क्योंकि बैबिलोनिया के लोग मेरोडाक के अत्याचार से तवाह हो गये थे। ७०६ ई०-पू० में सारगन द्वितीय ने अपने-आप को बैबिलोनिया का राजा घोषित किया और इसके बाद अपने राज्य के अंतिम दिनों तक उसने बैबिलोनिया के शासक के रूप में राज्य किया।

सेन्नाचरीब

सारगन द्वितीय के वाद उसका उत्तराधिकारी सेन्नाचरीब (Sennacherib) ने ७०५ ई०-पू० से ६८१ ई०-पू० तक शासन किया। इसके समय में मेरोडाक-बालादान ने फिर उपद्रव प्रारंभ किया। इस बार फिर मेरोडाक को एलम के राजा से सहायता मिली। सेन्नाचरीब ने इस उपद्रव का डट कर मुकाबला किया और मेरोडाक और उसके सहायकों को काफी कठिनाई के वाद हराया। इस विजय के बाद सेन्नाचरीब ने अपने एक प्रतिनिधि को बैबिलोनिया की गद्दी पर बैठाया। इसका नाम बेल-इबनी

(Bel-ibni) था। यह बैबिलोनिया का रहने वाला था, पर इसे असीरिया के दरबार में शिक्षा मिली थी। इसको असीरिया के अधीनस्थ राजा के रूप में बेबिलोनिया की गद्दी प्रदान की गई। इस प्रकार सेन्नाचरीब ने अपने पूर्वजों द्वारा चलायी हुई परंपरा को खत्म कर दिया, जिसके अनुसार तिगलथ-पिलेसर तृतीय और शल्मनेसर ने अपने-आपको बैबिलोनिया का राजा घोषित किया था।

इस नए प्रबंध से भी बैबिलोनिया के आंतरिक विद्रोहों और उपद्रवों की समस्या हल नहीं हुई। दो वर्षों के बाद जब सेन्नाचरीब को अपने साम्राज्य के पश्चिमी हिस्सों में जाना पड़ा, तो बैबिलोनिया में फिर से विद्रोह हो गया। मेरोडाक-बालादान ने सेन्नाचरीब की अनुपस्थिति का फायदा उठा कर बैबिलोनिया पर फिर से आक्रमण कर दिया। लौटने पर सेन्नाचरीब ने मेरोडाक-बालादान को बैबिलोनिया से मार भगाया। बेल-इबनी, जिसे सेन्नाचरीब ने बैबिलोनिया की गद्दी पर बैठाया था, शायद बैबिलोनिया के नेताओं और मेरोडाक की गुप्त रूप से सहायता कर रहा था। इस विश्वासघात के दंड में उसे सेन्नाचरीब ने बैबिलोनिया की गद्दी से हटा दिया और उसकी जगह पर अपने लड़के अशुर-नादिन-शुम (Ashur-Nadin-Shum) को बैबिलोनिया का राजा घोषित किया तथा बेल-इबनी को असीरिया ले जाया गया।

पर, बैबिलोनिया में विद्रोह इसके बाद भी होते रहे। असीरिया के खिलाफ भयानक असंतोष व्याप्त था। बैबिलोनिया के लोग असीरिया की अधीनता सदा के लिए मानने को तैयार नहीं थे। कुछ वर्षों के बाद एक और विद्रोह हुआ, पर सेन्नाचरीब ने इसे कुचल दिया। सेन्नाचरीब को इस बात का भान हो गया कि बैबिलोनिया के विद्रोहों में एलम के राजाओं का बहुत बड़ा हाथ है। इसलिए उसने अपना ध्यान एलम की ओर दिया। उसने एलम पर आक्रमण किया और काफी लूटपाट की, लेकिन जाड़ा आ जाने के कारण उसे लौटना पड़ा। सेन्नाचरीब के बैबिलोनिया से हटने पर पुनः विद्रोह हुए और एलम के राजा ने पुनः सहायता की। ६८६ ई०-पू० में सेन्नाचरीब को एलम और बैबिलोनिया की मिली-जुली सेना का मुकाबला करना पड़ा। इस युद्ध में सेन्नाचरीब की विजय हुई और एलम का राजा मारा गया। बैबिलोन पर असीरिया का शासन पुनः स्थापित हुआ। बैबिलोनिया के लगातार विद्रोहों से सेन्नाचरीब इतना क्रुद्ध हो गया था कि उसने बैबिलोन शहर को मटियामेट कर देने की सोच ली थी। उसने बैबिलोन की सुरक्षात्मक चहारदीवारी को नष्ट कर दिया था। मंदिरों, राजमहलों और घरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था और बैबिलोनिया के निवासियों को निकाल दिया था। वह बैबिलोनिया के प्रमुख देवता मारडुक की प्रतिमा को भी बैबिलोनिया से हटा कर असीरिया ले गया। इस आक्रमण के बाद सेन्नाचरीब ने बैबिलोनिया को खंडहरों में परिवर्तित कर दिया था। बैबिलोनिया की

वह दशा सेन्नाचरीब के शासनकाल में, इस विजय के आठ वर्षों बाद तक कायम रही।

सेन्नाचरीब के बाद उसका सबसे छोटा लड़का एसरहाद्दन (Esarhaddon) गद्दी पर बैठा। इसने ६८१ ई०-पू० से ६६९ ई०-पू० तक राज्य किया। यह मृदुल स्वभाव का व्यक्ति था। इसकी माँ बैबिलोन की रहने वाली थी। इसलिए बैबिलोनिया के लोगों के प्रति इसकी सहानुभूति थी। गद्दी पर बैठने के बाद इसने प्रेम और सद्भाव की नीति को अपनाया। बैबिलोनिया के लोगों के संतोष के लिए उसने बैबिलोन के पुर्नर्निर्माण की योजना बनायी। ६७६ ई०-पू० में इसने बैबिलोन नगर के पुर्नर्निर्माण का कार्य शुरू किया। चहारदीवारियाँ, बुर्ज और फाटक फिर से बनाए गए। चाल्डिया के आक्रमणकारियों को भगा दिया गया तथा नगर के निवासियों को फिर से रहने के लिए आमंत्रित किया गया। बैबिलोन के लोग इस सद्भावना से प्रभावित होकर फिर से आकर रहने लगे और तीन ही वर्षों में बैबिलोन नगर फिर से बस गया। यह राजा बैबिलोन के लोगों का सद्भाव प्राप्त करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ। यह इस बात से पता चलता है कि जब मेरोडाक-बालादान के लड़के ने एक विद्रोह करने का प्रयत्न किया, तो बैबिलोनिया के लोगों ने उसके साथ कोई सहानुभूति नहीं दिखायी और उसको अपने देश एलम भागना पड़ा। बैबिलोन के लोगों की धार्मिक भावनाओं को भी संतुष्ट करने के लिए एसर हद्दन ने मारडुक की मूर्त्ति, जो उसके पिता द्वारा असीरिया ले जायी गई थी, फिर से मँगवायी और उसे देवता के प्राचीन मंदिर में प्रतिष्ठित किया। एसर-हाद्दन के बाद उसका लड़का शमाश-शुम-उकिन (Shamash-shum-ukin) बैबिलोन का शासक हुआ।

अशुर-बनिपाल

एसर हद्दन के बाद अशुर-बनिपाल (Ashur-banipal) असीरिया का राजा हुआ। वह असीरिया के महान् राजाओं में अंतिम था। उसने विजय और प्रसार की परंपरागत नीति को अपनाया। उसके समय में एलम का राज्य फिर से असीरिया के प्रति शत्रुता रखने लगा था। एलम के शासकों ने इसके समय बैबिलोन पर आक्रमण किया। अशुर-बनिपाल ने एलम को पूर्ण रूप से नष्ट करने का निश्चय किया। एलम वालों ने ६६७ ई०-पू० में बैबिलोन पर आक्रमण किया। इस समय अशुर-बनिपाल मिस्र में था। अशुर-बनिपाल ने इस आक्रमण का मुकाबला अच्छी तरह से नहीं किया; क्योंकि वह भविष्यवक्ताओं द्वारा पहले से ही आश्वस्त हो चुका था कि विजय उसी की होगी। इसलिए प्रारंभ में सभी बातें उसके पक्ष में जा रही थीं। अंत में उसी की विजय हुई। लेकिन, इस विजय के लिए उसे महंगा मूल्य देना पड़ा। एलम और अशुर-बनिपाल के बीच संधि हुई। परंतु, एलम के राजा ने संधि की कुछ ऐसी शर्त्तें

रखीं, जिनको न मानने पर लड़ाई फिर से छिड़ सकती थी। उसने यह माँग रखी कि एलम के राजवंश के जितने पुरुष सदस्य असीरिया भाग गए थे, उन्हें लौटा दिया जाए। अशुर-वनिपाल ने इस माँग को ठुकरा दिया। इस माँग को ठुकराए जाने के बाद एलम के राजा ने फिर से असीरिया पर आक्रमण कर दिया। अशुर-वनिपाल ने इस आक्रमण का डट कर मुकावला किया और एलम के राजा को बुरी तरह परास्त किया। इस विजय के पश्चात् अशुर-वनिपाल ने अपने एक प्रतिनिधि को एलम का राजा वनाया।

लेकिन, एलम के लोगों को असीरिया का शासन मंजूर नहीं था। और ये लोग स्वतंत्र होने के मौके की तलाश में थे। यह मौका ६५२ ई०-पू० में आया। अशुर-वनिपाल के भाई शमाश-शुम-उकिन ने, जो वैविलोन का राजा था, असीरिया के शासन के विरुद्ध विद्रोह किया। उसका उद्देश्य यह था कि वह वैविलोन का स्वतंत्र शासक तो हो ही जाए, साथ-ही-साथ असुर-वनिपाल को हटा कर असीरिया का भी राजा वन जाए। वह वैविलोन को राजधानी वना कर दोनों ही देशों पर शासन करना चाहता था।

शमाश-शुम-उकिन को इस उद्देश्य में अशुर वनिपाल के शत्रुओं से सहायता मिली। उसके सहायक एलम के राजा और फीनिशियन नगरों के शासक थे। लेकिन, उसकी योजना सफल न हो सकी; क्योंकि इसकी खबर कुछ असीरिया के अफसरों को हो गई थी, जो वैविलोन के स्थानीय शासन को सँभालते थे। दक्षिण वैविलोनिया में विद्रोह हुआ, लेकिन वह सुसंगठित नहीं था, जिसके कारण यह असफल रहा। ६४८ ई०-पू० में शमाश-शुम-उकिन मार डाला गया। अशुर-वनिपाल विद्रोह को पूरी तरह कुचलने में सफल रहा और शमाश-शुम-उकिन के मरने के वाद उसने वैविलोन की गद्दी पर कंदालानु (Kandalanu) नाम के सरदार को बैठाया। उसने एलम को पूरी तरह वीरान कर दिया। यहाँ तक कि मुर्दों को भी घसीट कर असीरिया ले जाया गया।

इस प्रकार अशुर-वनिपाल वैविलोन पर पूर्ण रूप से अधिकार करने में सफल रहा। फिर इसके वाद उसने असीरिया और वैबिलोनिया दोनों पर जीवन-पर्यंत शासन किया। असीरिया का वैविलोनिया पर यह शासन सैन्य शक्ति के बल पर ही टिका हुआ था। हम देख चुके हैं कि असीरिया की सेना इस युग में काफी शक्तिशाली हो गई थी। लेकिन, वैविलोनिया के लोगों ने असीरिया के शासन को हृदय से स्वीकार नहीं किया। वे असीरिया के शासन को गुलामी समझते थे। वैविलोनिया का व्यापारिक और औद्योगिक जीवन इतना विकसित था कि वहाँ के लोग अपने विकास के लिए असीरिया के शासन से मुक्त होना चाहते थे। अतः, वे लोग

स्वतंत्र होने के लिए अवसर की खोज कर रहे थे। वैबिलोनिया के लोगों को अपनी सांस्कृतिक महत्ता और अपने आर्थिक विकास पर गर्व था। इसके अतिरिक्त वे लोग असीरियाई साम्राज्यवाद की कमजोरियों से भी परिचित थे। इन कारणों से वैबिलोनिया के लोगों में यह विश्वास था कि एक-न-एक दिन वे पुनः स्वतंत्र हो जाएँगे। अशुर-वनिपाल के शासन के उत्तरार्द्ध में असीरिया की सैनिक शक्ति क्षीण होने लगी और असीरियाई साम्राज्यवाद की नींव कमजोर होने लगी। इसका कारण यह था कि अशुर-वनिपाल ने बहुत दिनों तक मिस्र को जीतने के प्रयत्न में अपनी सैनिक शक्ति का अपव्यय किया। इसके अलावा कुछ बर्बर जातियों का आक्रमण भी असीरिया पर होने लगा। इन वर्बर जातियों में सीथियन (Seythian) लोग मुख्य थे। सीथियन लोगों के बाद मीड्स (Medes) और बाद में परशियन लोगों का आक्रमण भी असीरिया पर हुआ। इन आक्रमणों ने असीरिया के साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और असीरिया का पतन प्रारंभ हुआ। असीरिया की इस पतनोन्मुख अवस्था से वैबिलोनिया के लोगों को लाभ हुआ। सौभाग्यवश इसी जमाने में वैबिलोनिया के लोगों में एक नया जोश और उत्साह आ गया था। वे लोग अपने पुराने गौरव और स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए व्यग्र हो रहे थे। इसी समय नबोपोलासर (Nabopolassar) नाम के वैबिलोनिया के एक नेता ने एक नए राजवंश की स्थापना की, जिसे ग्यारहवाँ राजवंश कहते हैं, लेकिन जो इतिहास में वैबिलोनिया के नए राजवंश के नाम से अधिक विख्यात है। इतिहास में इस नए राजवंश का महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि इस राजवंश ने असीरियाई साम्राज्यवाद का विनाश करके वैबिलोनिया की स्वतंत्रता और गरिमा को फिर से स्थापित किया। वैबिलोनिया के इस नए राजवंश ने कुछ ही दिनों में एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की, जो असीरिया के पतन के बाद सत्तर वर्षों तक कायम रहा।

बैबिलोनिया का नया राजवंश

(६२५ ई०-पू० से ५३९ ई०-पू० तक)

हम देख चुके हैं कि अशुर-बनिपाल के शासन के उत्तरार्द्ध में असीरिया की सैनिक शक्ति का ह्रास होने लगा था और असीरियाई साम्राज्यवाद की जड़ें कमजोर होने लगीं थीं। अशुर-बनिपाल के मिस्री-विजय के अभियानों के कारण असीरिया की सैनिक शक्ति क्षीण होने लगी थी। ६२५ ई०-पू० में कुछ अर्द्ध-सभ्य जातियों का आक्रमण असीरिया पर हुआ। ये जातियाँ थीं—सीथियन, मीड्स और परशियन। इन लोगों के आक्रमणों ने असीरिया के पतनोन्मुख साम्राज्य को बहुत शीघ्र विनाश के गर्त्त में ढकेल दिया।

असीरिया की इन कठिनाइयों से लाभ उठा-कर वैबिलोनिया के नेता नबोपोलासर ने वैबिलोनिया के नए राजवंश की स्थापना की। नबोपोलासर के नेतृत्व में

बैबिलोनिया के जिस नए साम्राज्यवाद का उदय हुआ, उसका प्राचीन बैबिलोनिया के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। असीरिया के शासकों के अत्याचार से मुक्त होकर बैबिलोनिया को अपना सर्वांगीण विकास करने में सहायता मिली। यदि यह कहा जाए कि बैबिलोनिया के जर्जर शरीर में फिर से यौवन आ गया, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस युग में बैबिलोन नगर की भौतिक समृद्धि के अलावा इस नगर की शान-शौकत और तड़क भड़क इतनी बढ़ गई, जितनी पहले कभी नहीं थी। संपूर्ण बैबिलोनिया एक नए उत्साह और स्फूर्ति से स्पंदित होने लगा। ऐसा लगता था, जैसे एक नया जीवन आ गया हो और यह नवजागरण जीवन के कई क्षेत्रों में अभिव्यक्त हुआ। फिर भी, बैबिलोनिया को अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में कुछ समय लगा।

शुरू में नवोपोलासर का प्रभाव बैबिलोन और आसपास के नगरों तक ही सीमित था। बहुत दिनों तक उत्तरी और दक्षिणी बैबिलोनिया के नगर असीरिया के प्रभुत्व को ही मानते रहे। लेकिन, नवोपोलासर एक प्रतिभाशाली शासक था और वह उपयुक्त अवसरों से फायदा उठाना जानता था। उसने असीरियाई साम्राज्यवाद की पतनोन्मुख अवस्था से पूरा फायदा उठाया। अशुर-बनिपाल के जो लड़के गद्दी पर बैठे, वे कमजोर थे। उनका साम्राज्य सिकुड़ गया था और उनके समय में असीरिया की सेना भाड़े के सिपाहियों से भरी पड़ी थी, जिनमें पुराना उत्साह और जोश नहीं था। इसलिए अशुर-बनिपाल के लड़कों के शासन में असीरियाई साम्राज्यवाद की पतन की प्रक्रिया और तेज हो गई और बैबिलोनिया को इस परिस्थिति से पूरा लाभ हुआ। बैबिलोनिया के लोगों ने दुगुने उत्साह के साथ अपनी शक्ति बढ़ायी। असीरिया में धीरे-धीरे बैबिलोनिया का मुकाबला करने की ताकत नहीं रही। असीरियाई साम्राज्यवाद का पूर्ण पतन ६०६ ई०-पू० में हुआ। असीरिया के साम्राज्य की शक्तिशाली राजधानी 'निनेवे' नाम के शहर का पतन ६०६ ई०-पू० में हुआ। इसके बाद निनेवे फिर कभी महत्त्वपूर्ण शहर नहीं बन सका। असीरिया की सैन्य-शक्ति, जिसके कारण पूरे पश्चिमी एशिया में दहशत मची हुई थी, पूर्णरूपेण नष्ट हो गई और इस पतन का प्रमुख कारण प्रसार एवं विजय की असीम आकांक्षा थी, जिससे असीरियाई साम्राज्यवाद अनुप्राणित था।

सेन्नाचरीब के जमाने से सेना में भाड़े के सिपाहियों की संख्या बढ़ गई थी। इन सैनिकों में लगन और उत्साह का अभाव था। इसलिए जब मीड् लोगों का आक्रमण निनेवे नाम के शहर पर हुआ, तब निनेवे को अन्य प्रांतों से सहायता नहीं मिली। मीड् लोगों को इस आक्रमण में सीथियन लोगों से भी सहायता मिली। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस के अनुसार इसके पहले भी मीड् लोगों ने असीरिया पर दो बार आक्रमण किया था। इसलिए बैबिलोनिया का नेता नबोफोलासर उनको अपना मित्र समझता था और इस मैत्रीपूर्ण संबंध को आगे बढ़ाने के लिए ही उसने अपने लड़के

नेबुचडरेज्जर (Nebuchadrezzar) की शादी मीड् लोगों के राजा की लड़की से की। सेन्नाचरीब ने निनेवे में जो मजबूत चहारदीवारी बनायी थी, उसके कारण तीन वर्षों तक आक्रमणकारी निनेवे पर अधिकार नहीं कर सके। अंत में ६०६ ई०-पू० में, निनेवे शहर पर आक्रमणकारियों का अधिकार हुआ।

बैबिलोनिया के नेता नबोपोलासर ने निनेवे नगर के घेरे में सक्रिय भाग नहीं लिया था, लेकिन असीरियाई साम्राज्य के पतन के परिणामों से उसने पूरा फायदा उठाया। असीरियाई साम्राज्य का उत्तरी हिस्सा, जिसमें उत्तरी मेसोपोटामिया भी शामिल था, मीड् लोगों के अधिकार में आ गया और दक्षिणी भाग भी एक तरह से मीड् लोगों के ही अधीन था।

शीघ्र ही, बैबिलोनिया में भी एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया गया और इस सेना को अपनी शक्ति की परीक्षा करने का अवसर शीघ्र ही प्राप्त हो गया। निनेवे नगर के पतन के दो वर्ष पूर्व ही मिस्र वालों ने पैलेस्टाइन और सीरिया पर अधिकार कर लिया था। मिस्री शासक नेको (Necho) बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी था और उसने प्रसार की नीति को अपनाया था। उसके राज्य की सीमा बढ़ते-बढ़ते फरात नदी तक पहुँच गई थी, जिससे बैबिलोनिया पर खतरा उत्पन्न हो गया। मिस्री शक्ति के प्रसार से बैबिलोनिया के शासकों को चिंता हो गई। नबोपोलासर यह नहीं चाहता था कि असीरियाई साम्राज्य का यह भाग मिस्र के हाथों में चला जाए। इसलिए उसने मिस्र से संघर्ष करने का निश्चय किया। उसने अपने लड़के नेबुचडरेज्जर की अध्यक्षता में अपने राज्य की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर नदी के रास्ते से एक बड़ी सेना भेजी। मिस्र और बैबिलोनिया की सेनाओं में ६०४ ई०-पू० में कारकेमिश (Carchemish) नाम के स्थान पर मुकाबला हुआ। यहाँ मिस्र की सेना बुरी तरह परास्त हुई और उसे भागना पड़ा। मिस्री सेना पैलेस्टाइन होते हुए भाग चली। नेबुचडरेज्जर की सेना ने मिस्र की सीमाओं तक पीछा किया, लेकिन अपने पिता की मृत्यु का समाचार पाकर उसे मजबूर होकर बैबिलोन लौटना पड़ा, जिससे वह बैबिलोन पहुँच कर अपने राज्यारोहण- संबंधी रीति-रिवाजों को पूरा कर सके।

शीघ्र ही सीरिया और पैलेस्टाइन का बहुत बड़ा भाग बैबिलोनिया के अधीन हो गया। नबोपोलासर एक बहुत बड़ा निर्माता भी था और उसकी नीति को उसके पुत्र नेबुचडरेज्जर ने अपनाया। ५६६ ई०-पू० में नेबुचडरेज्जर ने जेरुसलम पर अधिकार कर लिया। वह उत्तरी सीरिया में भी आगे बढ़ा, जहाँ से रिबलाह (Riblah) नाम के स्थान पर उसने जेरुसलम पर घेरा डाला था। मिस्र के शासक एप्रिस (Apries) ने जेरुसलम से उसको हटाने का प्रयत्न किया था, पर यह प्रयत्न असफल रहा। ५८६ ई०-पू० में जेरुसलम पर फिर से नेबुचड-

रेज्जर का अधिकार हो गया। इसके बाद उसकी सेना ने फिनीशिया पर अधिकार किया। फिनीशिया के नगर टायर में उसका डट कर मुकावला हुआ, लेकिन अंत में, फीनिशिया के लोगों ने उसकी अधीनता मान ली। कहा जाता है कि टायर नगर पर उसकी विजय तेरह वर्ष के घेरे के बाद हुई।

इस प्रकार नेबुडचरेज्जर ने अपने पिता द्वारा प्रारंभ किए गए राज्य-विस्तार के काम को पूरा किया और उसने बैबिलोनिया के नए साम्राज्य की स्थापना एक सुदृढ़ नींव पर की। उसका अधिकार-क्षेत्र फारस की खाड़ी से लेकर मिस्र देश तक फैला हुआ था। उसके बाद की विजयों के वारे में हमें ठीक जानकारी नहीं है। केवल एक जगह हमें मिस्र के राजा आमासिस (Amasis) के साथ उसके संघर्ष का हवाला मिलता है। यह संघर्ष उसके राज्य के सैंतीसवें वर्ष में हुआ था। वह संघर्ष क्यों हुआ, इसका हमें पूरा पता नहीं है। पर, हम यह मान सकते हैं कि विजय वैविलोनिया की सेना को ही प्राप्त हुई। इस लड़ाई में मिस्री सेना के साथ कुछ यूनानी भाड़े के सिपाही भी लड़ रहे थे। एक परंपरा के अनुसार नेबुचडरेज्जर ने मिस्र को अपने साम्राज्य का एक प्रांत बना दिया था। हालाँकि यह दावा अतिशयोक्तिपूर्ण है, पर यह संभव है कि उसने मिस्र की भूमि पर एक बार सफल विजय-अभियान किया हो।

बैबिलोनिया के नए राजवंशों के राजाओं के बहुत से शिलालेख इधर प्राप्त हुए हैं। लेकिन, इन शिलालेखों में सैनिक अभियानों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इनमें अधिकतर किसी मंदिर के निर्माण या पुनरुद्धार का जिक्र मिलता है। कभी-कभी बैबिलोन के अलावा जो दूसरे नगरों में मंदिर वनवाए गए, उनके स्मारक के रूप में इन शिलालेखों को खुदवाया गया। इसलिए यह आश्चर्य की बात है कि नेबुचडरेज्जर के सैनिक अभियानों का बहुत कम उल्लेख इन शिलालेखों में मिलता है। इसका कारण यह हो सकता है कि नेब्रुचडरेज्जर ने इन सभी सैनिक अभियानों को अपने अधिपति मीडिया के शासक के कहने पर किया। वास्तव में, मीडिया का राजा नेब्रुचडरेज्जर का निकट संबंधी था, इसीलिए नेबुचडरेज्जर ने मीडिया और लीडिया में जो युद्ध हुए, उनमें काफी दिलचस्पी ली। बैबिलोनिया ने मीडिया की तरफ से इन युद्धों में भाग लिया। अपना संबंधी होने के कारण, मीडिया का राजा नेब्रुचडरेज्जर से सहायता की आशा रखता था।

प्राप्त शिलालेखों से यह पता चलता है कि नेबुचडरेज्जर ने बहुत से मंदिरों का निर्माण कराया। उसने अपने निर्माण-कार्य के द्वारा बैबिलोन नगर की सुंदरता को बढ़ा दिया। उसने अपने पिता के राजमहल का फिर से निर्माण कराया और इसे

राजमहल के छज्जे और चबूतरे को शहर से इतना ऊँचा बनवाया, जो आज भी 'हैंगिंग गार्डेन' के नाम से विश्व के सात आश्चर्यों में एक है।

उसने बारसिप्पा (Borsippa) नगर में एजिदा (Ezida) नाम के प्रधान मंदिर का और बैबिलोनिया में एसागिला (Esagila) नाम के मंदिर का पुनर्निर्माण कराया। उसने बैबिलोन नगर में उस सड़क को, जिस पर पवित्र और धार्मिक जुलूस निकला करते थे, प्रशस्त किया। अपने राजमहल और निन्मार मंदिर के बीच एक बहुत बड़ा फाटक बनवाया, जिसका नाम इश्तर देवी के नाम पर 'इश्तर फाटक' रखा गया। इस फाटक पर बैलों और परदार सर्पों की आकृतियाँ बनी हुई थीं। ये आकृतियाँ मीनाकारी के द्वारा बनायी गई थीं। उसने शहर की चहारदीवारी को भी सुदृढ़ किया। शहर की सुरक्षा के लिए उसने दुहरी चहारदीवारी को और मजबूत किया और छोटा किला भी बनवाया। इस प्रकार नेबुचडरेज्जर ने अपने ४२ वर्षों के राज्यकाल को बैबिलोन तथा अन्य नगरों में पुनर्निर्माण कराने में लगाया। उसने इसमें राज्य की संपत्ति का अधिक उपयोग किया। उसके राजमहल के अग्रभाग की सजावट में यूरोपीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। राजमहल के अग्रभाग पर चित्रित तसवीरों में ऐसे बाजारों के चित्र बनाए गए थे, जिन बाजारों में विदेशी कारवाँ माल लेकर आते दिखलाए गए थे। इसमें संदेह नहीं कि नेबुचडरेज्जर के समय में बैबिलोन नगर का संबंध विदेशों से काफी बढ़ गया। नेबुचडरेज्जर ने वैदेशिक व्यापार में भी काफी अभिरुचि दिखलायी। उसने फारस की खाड़ी के रास्ते से सामुद्रिक व्यापार को बढ़ाने की कोशिश की। इसलिए उसने फारस की खाड़ी पर स्थित दलदली जमीन में भी एक बंदरगाह बनाने का प्रयत्न किया। इस बंदरगाह की अरब लोगों के आक्रमण से रक्षा करने के लिए उसने फरात नदी के पश्चिमी तट पर टेरेडन नाम का एक नगर बसाया। यह नगर अरब के रेगिस्तान के पूर्व एक प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र बन गया। इस प्रकार नेबुचडरेज्जर ने सांस्कृतिक और आर्थिक समृद्धि में भी काफी दिलचस्पी ली।

अमेल-मारडुक

नेबुलचडरेज्जर के बाद उसका पुत्र गद्दी पर बैठा। यह अपने पिता की तुलना में एक अयोग्य शासक सिद्ध हुआ। इसने अपने संक्षिप्त राज्यकाल में न तो कानूनों के प्रति आदर प्रदर्शित किया और न अपने जीवन में शालीनता ही दिखलायी। इसलिए यह इतना बदनाम हो गया कि पुरोहित वर्ग ने तीन ही वर्ष में इसकी हत्या कर दी और इसके बहनोई नेरिगलिस्सर (Neriglissar) को गद्दी पर बैठाया। नेरिगलिस्सर बैबिलोनिया के एक साधारण परिवार का था, पर उसने नेबुचडरेज्जर की लड़की से

शादी की थी। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि नेरिगलिस्सर ही वैबिलोनिया का वह प्रसिद्ध सेनापति था, जिसका नाम नरगल-शर-अतसर (Nergal-Shar-Utsar) था। यह प्रसिद्ध सेनापति जेरुसलम के घेरे में भाग ले चुका था। इधर कुछ ऐसे प्रमाण मिले हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि नेरिगलिस्सर नेबुचडरेज्जर के समय भी सैनिक क्षेत्र में काफी सम्मानित व्यक्ति था। इस बात का प्रमाण एक पत्र से मिला है, जो इरेक में मिला था। यह पत्र एक सैनिक अफसर द्वारा लिखा गया था, जो शहर के आसपास ही सेना की एक टुकड़ी की अध्यक्षता कर रहा था। गद्दी पर आने के बाद नेरिगलिस्सर ने बैबिलोनिया की सेना का पुनर्गठन करने की चेष्टा की, लेकिन गद्दी पर बैठने के चार वर्ष बाद ही उसका देहांत हो गया, जिससे काम अधूरा रह गया। इसलिए देश की सुरक्षा और सेना को मजबूत करने का उसका स्वप्न पूरा नहीं हो सका। उसके मरने के बाद उसका पुत्र लेबाशी मारडुक, जो अभी नाबालिग था, गद्दी पर बैठा। लेकिन, नौ महीने के बाद ही वैबिलोनिया के पुरोहित वर्ग ने उसको गद्दी से हटा दिया और उसके स्थान पर अपने वर्ग के एक सदस्य को गद्दी पर वैठाया। इस नए राजा का नाम नबोनिडास (Nabonidus) था, जिसका जन्म पुरोहित वर्ग में हुआ था और जो पुरोहित वर्ग के संस्कारों, आदर्शों और परंपराओं से पूर्णतया अनुप्राणित था।

इस नए राजा ने नेबुचडरेज्जर की तरह ही मंदिरों के पुनर्निर्माण और सजावट का काम उत्साह के साथ शुरू किया। पर, इसमें नेबुचडरेज्जर की सैनिक प्रतिभा का सर्वथा अभाव था। पुरोहितों की तरह उसके मन में सैनिक कार्यों से विरक्ति थी। साथ ही इतिहास और पुरातत्त्व में उसे काफी अभिरुचि थी। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने शासनकार्य में उतनी अभिरुचि नहीं दिखायी, जितनी मन्दिरों के पुनर्निर्माण में। इन पुनर्निमित मंदिरों के इतिहास और पुरातत्त्व में भी उसने काफी समय लगाया। इस दिशा में उसका झुकाव इस वात से सिद्ध होता है कि उसने अपनी लड़की वेल-शल्ति-नन्नार (Bel-Shalti-Nannar) को ऊर स्थित चंद्र देवता के मंदिर के पुजारियों का प्रधान नियुक्त किया। इससे यह सिद्ध होता है कि मंदिर की सजावट, उनके इतिहास की खोज और उनकी उपासना की विधियों में इस राजा को शासनकार्य और सैनिक अभियान की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी थी।

हम यह कह सकते हैं कि नबोनिडास के गद्दी पर आते ही वैबिलोनिया की महानता के इतिहास का अंतिम अध्याय शुरू होता है। लेकिन, साम्राज्य का पतन अभी नहीं हुआ। इस राजा के एक लेख से यह पता चलता है कि उसके राज्यकाल में भी पूरा मेसोपोटामिया, गाजा प्रदेश और मिस्र की सीमाओं तक उसका आधिपत्य

माना जाता था। इस बात की घोषणा उसने बड़े ही गर्व के साथ इस लेख में की है। वास्तव में, बैबिलोनिया के साम्राज्य के पतन के लिए किसी विदेशी हमले की आवश्यकता थी। इस समय बैबिलोनिया के महान शत्रु के रूप में फारस में एक विशाल साम्राज्य का उदय हो रहा था। इस विशाल साम्राज्य का संस्थापक साइरस (Cyrus) नाम का राजा था। साइरस ने बैबिलोनिया पर आक्रमण किया। नबोनिडास की सेना को हराया और एक लंबे तथा भयानक युद्ध के बाद बैबिलोनिया पर अधिकार स्थापित किया।

इस आक्रमण के समय देश की रक्षा का भार नबोनिडास ने अपने लड़के बेलसज्जार (Belshazzar) को सौंपा। इसने बढ़ती हुई फारस की सेना का ओपिस (Opis) नाम के स्थान पर मुकाबला किया। नबोनिडास राजधानी छोड़ कर भाग गया। गुबारु (Gubaru) नाम के फारसी सेनापति ने बैबिलोन पर आक्रमण किया और बैबिलोन को शांतिपूर्ण ढंग से आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किया। दूसरों शब्दों में फारस वालों ने बहुत आसानी से बैबिलोन पर विजय प्राप्त की। ५३९ ई०-पू० के अक्तूबर-नवंबर की तीसरी तारीख को फारस के राजा साइरस ने, शान-शौकत के साथ बैबिलोन में प्रवेश किया। बैबिलोन नगर के सभी वर्गों ने, विशेषतः पुरोहितों और कुलीनों ने एक मुक्तिदाता के रूप में उसका स्वागत किया। साइरस ने अपने सेनापति गुबारु को बैबिलोनिया का गवर्नर नियुक्त किया। गुबारु ने रहे-सहे विरोध और संतोष को भी खतम कर दिया। उसने बेलसज्जार का पीछा किया और उसे मार डाला। बैबिलोन के आत्मसमर्पण के समय ही नबोनिडास को बंदी बनाया जा चुका था।

यह वस्तुतः आश्चर्य की बात है कि पुरोहित वर्ग, जिसका सदस्य नबोनिडार था, साइरस का स्वागत करे। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि गद्दी पर आने के बाद नबोनिडास ने अपने पुरोहित-बंधुओं को नाखुश कर दिया था। संभवतः नबोनिडास यह चाहता था कि सभी देवताओं की पूजा बैबिलोन में ही केंद्रित हो। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने राज्य के कोने-कोने से देवताओं की मूर्तियाँ बैबिलोन में मँगवा ली थीं। दूसरे शब्दों में, सभी देवता अपने प्राचीन मंदिरों से हटा लिए गए थे। उसके इस कार्य से बेबिलोनिया के पुरोहित वर्ग में असंतोष फैल गया था, क्योंकि अन्य नगरों से देवताओं की मूर्ति हटाने से उन नगरों के पुरोहितों की महत्ता और आय में काफी कमी हो गई थी। इसी कारण पुरोहित वर्ग उससे असंतुष्ट था। साइरस ने बैबिलोन पर अधिकार पाते ही जो पहला काम किया, वह था देवताओं की मूर्तियों को उनके प्राचीन मंदिरों में भिजवाना। इस कार्य से वह पुरोहित वर्ग में तुरंत लोकप्रिय हो गया। पुरोहित वर्ग राजनैतिक दृष्टि से भी सबसे शक्तिशाली वर्ग था। इसलिए इस वर्ग की सहानुभूति और सद्भावना को प्राप्त करना साइरस के लिए आवश्यक था। राजनैतिक दृष्टि से उसका यह काम बड़ा ही बुद्धिमत्तापूर्ण

था। इसके कारण उसके खिलाफ कोई विद्रोह नहीं हुआ। बैबिलोन के लोगों ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने की कोई कोशिश नहीं की और बैबिलोनिया के साम्राज्य का सब भाग, जो उस समय बैबिलोन के अधिकार में था, फारस के साम्राज्य का अंग बन गया। साइरस के शासनकाल में बैबिलोनिया में पूर्ण शांति रही। असीरिया के शासनकाल में असंतोष और क्षोभ के कारण जो विद्रोह और षड्यंत्र चलते रहते थे, उनका कहीं नामोनिशान नहीं था। इसका कारण यह था कि अधीनस्थ देशों के प्रति साइरस की नीति असीरियाई साम्राज्यवादियों से भिन्न थी।

बैबिलोन पर फारस के चिरस्थायी अधिकार और शासन से बैबिलोनिया की महानता पर पटाक्षेप हो जाता है। इसलिए इस स्थल पर ही हम बैबिलोनिया के राजनैतिक इतिहास का समापन करते हैं। यद्यपि इनके बाद बैबिलोनिया ने अपनी स्वतंत्रता खो दी और फारसी साम्राज्य का अंग बन गया, पर बैबिलोनिया के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में कोई परिवर्त्तन नहीं आया। जिस प्रकार असीरियाई साम्राज्य के पतन के बाद वहाँ के लोगों के जीवन में आमूल परिवर्त्तन आ गया, वैसा यहाँ कुछ नहीं हुआ। वास्तव में फारस के शासक बड़े ही बुद्धिमान और नीतिकुशल थे। इसलिए वे बैबिलोनिया के लोगों की धार्मिक तथा सांस्कृतिक भावनाओं एवं आकांक्षाओं की कद्र करना जानते थे। इसलिए इन लोगों ने बैबिलोनिया के लोगों को अपने धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज, कानून और सांस्कृतिक परंपराओं को मानने की यथासंभव स्वतंत्रता दी थी। इसी प्रकार बैबिलोनिया की व्यापारिक और आर्थिक समृद्धि में भी राजनैतिक परिवर्त्तन से कोई अंतर नहीं आया। बाद के दो शासकों के समय अर्थात् डेरियस और जरक्सीज के समय फारसी शासन के विरुद्ध कुछ विद्रोह हुए पर वे बुरी तरह दबा दिए गए। अतः, हम कह सकते हैं कि बैबिलोनिया पर डेरियस तथा जरक्सीज के युग में पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया और यह प्रदेश फारसी साम्राज्य का एक अंग बन गया।

प्राचीन बैबिलोनिया का राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन

हम्मूराबी के गद्दी पर आने के पहले बैबिलोनिया का राज्य कई स्वतंत्र नगर-राज्यों में बँटा हुआ था। इन सारे नगर-राज्यों की अपनी परंपराएँ, अपनी संस्कृति थी। मुख्य रूप से, एक नगर एक देवता की उपासना का केंद्र होता था। प्रत्येक नगर को अपना एक इष्ट देवता होता था, जिसकी उपासना के सिद्धांतों का उस नगर में विकास होता था। यह इष्ट देवता ही उस नगर का प्रमुख शासक होता था। उस नगर के निवासी यह विश्वास करते थे कि इष्ट देवता अपनी पत्नी और संतानों के साथ उस नगर में निवास करता है और उसका मंदिर, उसका राजमहल है। पर, यह इष्ट देवता प्रत्यक्ष रूप से नगर का शासन नहीं करता था। उस नगर

का राजा उस देवता के प्रतिनिधि के रूप में शासन किया करता था। इस तरह राजा देवता का प्रतिनिधि या वाइसराय (Viceroy) था और राजा को 'इशाक्कु' (Ishakku) कहा जाता था। राजा को नगर का धार्मिक और नागरिक दोनों ही प्रशासन करना पड़ता था, इसलिए उसे धार्मिक और नागरिक दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। कभी-कभी राजा अपने-आपको देवता भी घोषित करता था। उदाहरण के लिए अगेड नरमसिन (Agade Naramsin) अपने-आपको अगेड का देवता कहता था। उसकी प्रजा भी उसे अगेड का देवता मानती थी। इसी प्रकार हम्मूराबी भी अपने-आपको राजाओं का देवता कहता था। बैबिलोनिया के कुछ कस्साइट शासकों ने भी अपने-आपको देवता कहने में संकोच नहीं किया और अपने-आपको देवत्व से आभूषित किया।

शासनकार्य में रानी को भी बहुत से अधिकार प्राप्त थे और रानियाँ प्रशासन को प्रभावित करती थीं। रानियों के अपने महल होते थे, अपनी संपत्ति होती थी तथा अपना अलग खर्च होता था। उनके महलों में भी काफी संख्या में दास और नौकर हुआ करते थे। इसी प्रकार राजकुमारों के भी अलग महल हुआ करते थे, जिनमें वे अपने शिक्षकों, संगीतज्ञों और नौकरों के साथ रहते थे।

राजा के बाद प्रशासन-कार्य में प्रधान मंत्री का स्थान होता था। इस प्रधान मंत्री की सहायता के लिए बहुत बड़ी संख्या में दूसरे मंत्री और कर्मचारी नियुक्त किए जाते थे। इन राज्य कर्मचारियों में एक प्रमुख वर्ग संदेश-वाहकों का था, जो राजधानी से राजा के आदेश को लेकर साम्राज्य के कोने-कोने में पहुँचाया करते थे। राज्य के कर्मचारी स्वतंत्र और दास दोनों ही वर्ग के हुआ करते थे। बैबिलोनिया के कानूनों के अनुसार समाज के तीन प्रमुख अंग थे—

(१) पहले वर्ग को आमेलू (Amelu) कहते थे, जिसका अर्थ होता था—स्वतंत्र व्यक्ति।

(२) दूसरा वर्ग मश्कीनू (Mushkinu) था, जो एक प्रकार का मध्यम वर्ग था।

(३) तीसरा वर्ग दासों का था।

मश्कीनू मध्यम वर्ग के नागरिक होते थे, जिनकी आर्थिक दशा काफी अच्छी होती थी। मश्कीनू वर्ग को अपना दास रखने और अपनी पत्नी को तलाक देने का अधिकार होता था। अधिकारों की दृष्टि से यह वर्ग आमेलू वर्ग से नीचे और दास वर्ग से ऊपर था।

बैबिलोनिया का दास वर्ग अपने स्वामी की संपत्ति होता था। दास तीन तरह के होते थे जिनका वर्गीकरण निम्नलिखित था—

(१) जो दास के यहाँ पैदा होते थे,

(२) जो खरीद कर दास बनाए गए हों और

(३) जो युद्धबंदी के रूप में दास बनाए गए हों।

वैबिलोनिया के कानूनों में दासों को कुछ अधिकार प्राप्त थे, जैसे वे अपनी विक्री के विरुद्ध विरोध प्रगट कर सकते थे। इस विरोध की सुनवायी कानूनी अदालतों में होती थी। दासों को अपने से संबद्ध विषयों पर शपथ खाने का अधिकार था। एक दास की विक्री तब पक्की हो जाती थी, जब खरीदने वाला शपथ लेकर यह कह दे कि उसने खरीद लिया है। इसके अतिरिक्त दासों की विक्री के समय कुछ गवाहों का उपस्थित होना आवश्यक था। जब खरीदने वाला दास की कीमत वेचने वाले को चुका देता था, तब विक्रय पूर्ण हो जाता था।

माता-पिता दोनों ही मिलकर या उनमें से एक अपने बच्चे को दास के रूप में वेच सकते थे। एक स्वामी को अपने दास को मुक्त करने या स्वतंत्र बनाने का अधिकार था। हम्मूराबी के कानूनों से दासों के अधिकार की रक्षा हुई और उनकी स्थिति में सुधार हुआ। हम्मूराबी ने अपने कानूनों के द्वारा दासों के प्रति कठोर और अमानुषिक बर्ताव की मनाही कर दी। इसी प्रकार हम्मूराबी के कानून ने उपपत्नियों की दशा में भी सुधार किया। यदि किसी व्यक्ति को अपनी उपपत्नी से संतान थी, तो वह अपनी उपपत्नी को वेच नहीं सकता था, लेकिन थोड़े दिनों के लिए उसे किसी ऋण के एवज में किसी को दे सकता था। हम्मूराबी के कानूनों में दासों की कीमत भी उनकी आयु, स्वास्थ्य, कार्यदक्षता और उनके लिंग के अनुसार निश्चित की जाती थी। एक स्त्री दास की कीमत पुरुष दास से बराबर अधिक होती थी। इसी प्रकार एक पढ़े-लिखे और स्वस्थ पुरुष दास की कीमत एक कमजोर या निरक्षर दास से अधिक थी।

एक स्वतंत्र महिला भी दास पुरुष से शादी कर सकती थी और ऐसे विवाह से उत्पन्न बच्चों की स्थिति माता की स्थिति से निश्चित की जाती थी। तात्पर्य यह है कि यदि माता स्वतंत्र होती थी, तो बच्चे स्वतंत्र माने जाते थे। किसी प्रकार यदि कोई स्वतंत्र व्यक्ति किसी दास स्त्री को उपपत्नी के रूप में रखता था, तब उस पुरुष की मृत्यु के बाद ही उसकी उपपत्नी और बच्चे स्वतंत्र मान लिए जाते थे। दूसरे शब्दों में, ऐसी दास उपपत्नी और उसके बच्चों की मुक्ति स्वतः ही हो जाती थी। लेकिन, ऐसी दशा में बच्चों को अपने पिता की संपत्ति का उत्तराधिकार तब तक नहीं मिलता था, जब तक कि पिता ने अपने जीवनकाल में ही एक लिखित दस्तावेज के द्वारा उन बच्चों को इस तरह का अधिकार नहीं दिया हो।

प्राचीन वैबिलोनिया में दासों को पैसे कमाने के बहुत से अवसर मिलते थे। पैसा इकट्ठा करने के वाद दास इन पैसों के बल पर अपनी स्वतंत्रता खरीद सकते थे। कभी-कभी अपनी स्वतंत्रता खरीदने के लिए वे दूसरे लोगों से पैसे उधार भी

लिया करते थे। बैबिलोनिया के प्राचीन मंदिर, खास कर मारडुक का मंदिर, दासों की ऐसी परिस्थितियों में कर्ज के द्वारा सहायता किया करता था। एक बार स्वतंत्रता खरीद लेने के बाद दास का स्वामी उस पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं जता सकता था और किसी भी अदालत में इस विषय पर कोई भी सुनवायी नहीं हो सकती थीं।

बैबिलोनिया के कानून के अनुसार अपने स्वामी के यहाँ से भागे हुए दास को कोई भी व्यक्ति शरण नहीं दे सकता था। भागे हुए दासों को शरण देना बैबिलोनिया के कानून के अनुसार भयानक अपराध माना जाता था, जिसके सिद्ध होने पर मृत्युदंड दिया जा सकता था। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति किसी भागे हुए दास को पकड़कर उसके स्वामी को लौटा देता था, तो तत्कालीन कानूनों के अनुसार उसे पुरस्कार मिल सकता था। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि साधारणतया प्राचीन बैबिलोनिया में दासों की दशा ठीक थी। हम्मूराबी के कानूनों से उनकी दशा में और सुधार हुआ। विशेषतः कर्मठ और सुयोग्य दासों को उनके स्वामी बहुत प्यार किया करते थे।

पारिवारिक दशा

प्राचीन बैबिलोनिया में परिवार का कानूनी आधार एक-विवाह की प्रथा था। पर, तत्कालीन रीति-रिवाजों और कानूनों के अनुसार कोई भी पुरुष एक या एक से अधिक उपपत्नियाँ रख सकता था। यह उस व्यक्ति की इच्छा और आर्थिक दशा पर निर्भर करता था। विवाह के समय एक ऐसी दस्तावेज तैयार की जाती थी, जो एकतरफा होती थी। दूसरे शब्दों में, यह दस्तावेज पति की ओर से तैयार की जाती थी। इस दस्तावेज में पति अपनी पत्नी के अधिकारों और कर्त्तव्यों का उल्लेख करता था, तलाक की दशा में या तलाक होने पर जो पैसा उसे देना होता था, उसका उल्लेख करता था और पत्नी के द्वारा व्यभिचार या बेवफाई की हालत में जो उसे दंड मिलता, उसका भी उल्लेख करता था। ऐसे विवाहों में वर का पिता महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता था। वही लड़की पसंद किया करता था और अन्य शर्तों को लड़की के पिता के साथ तय किया करता था। जब विवाह-संबंधी सभी बातें पक्की हो जाती थीं, तब सगाई होती थी। सगाई के अवसर पर कुछ लकड़ी के सामान, गहने और कुछ दूसरी आवश्यक और शृंगार की वस्तुएँ, लड़के के पिता की ओर से लड़की के घर भेजे जाते थे। इन सामानों के साथ-साथ दोनों पक्षों की आर्थिक अवस्था के अनुरूप कुछ नकद रकम भी भेजी जाती थी। यदि लड़का इसके बाद शादी करने से इन्कार करता, तो उसे सगाई के समय दिए हुए सारे सामान से हाथ धोना पड़ता था। लेकिन, अगर लड़की की ओर से शादी से इन्कार किया जाता था, तो लड़की के पिता को सारा सामान और सारा पैसा लौटाना पड़ता था। शादी के समय लड़की को कुछ

दहेज भी दिया जाता था, जिसका नाम होता था शेरिक्ट् (Sheriqut)। यह दहेज उसको अपने पिता की ओर से मिलता था। यदि लड़की का पिता जीवित नहीं रहता था, तो उसके भाइयों का यह कर्त्तव्य होता था कि पिता के स्थान पर उसे दहेज दें। दहेज में प्राप्त यह धन-संपत्ति आजीवन उस लड़की की संपत्ति मानी जाती थी। उसके मरने के बाद यह संपत्ति उसके बच्चों की हो जाती थी। यदि वह निःसंतान मरती, तो यह संपत्ति पुनः उसके पिता के घर वापस चली जाती थी। विवाह के पहले पति या पत्नी यदि किसी प्रकार का ऋण लिए हुए होते, तो उसको देने की जिम्मेदारी उसी की होती, जिसने ऋण लिया था। लेकिन, विवाह के पश्चात् किसी प्रकार के ऋण के लिए दोनों ही जिम्मेदार होते और उसके संबंध में दोनों पर ही अदालत में मुकदमा चलाया जा सकता था। पति बिना अपनी पत्नी की सम्मति के संयुक्त संपत्ति को बेच नहीं सकता था। इसलिए हम यह पाते हैं कि उस जमाने के सभी कानूनी और आर्थिक इकरारनामों में पति और पत्नी दोनों के ही नाम मिलते हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संपत्ति के विषय में कानूनी दृष्टि से पति और पत्नी दोनों को ही समान अधिकार प्राप्त थे।

हम्मूराबी के कानूनों में संपत्ति और सामाजिक संबंधों के विषय में बड़े ही विस्तृत नियम बनाए गए थे। विवाह, तलाक, गोद लेने की प्रथा, बच्चों का पालन-पोषण, विवाह में प्राप्त संपत्ति का प्रबंध, विधवाओं के अधिकार और उत्तराधिकार के विषय में विस्तृत नियम बनाए गए थे।

प्राचीन बैबिलोनिया में स्त्रियों की दशा

प्राचीन बैबिलोनिया में स्त्रियों की दशा अच्छी थी। उन्हें समाज में स्वतंत्र स्थान प्राप्त था। घरेलू कामों में इनको एक सम्मानित पद प्राप्त था। हम्मूराबी के कानूनों के द्वारा स्त्रियों के अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा की गई। लेकिन, तत्कालीन कानूनों के अनुसार पत्नी से सतीत्व की अपेक्षा की जाती थी और सतीत्व-भंग के कठोर दंड बनाए गए थे। साथ ही, यह पति से भी अपेक्षा की जाती थी कि वह अपनी पत्नी के प्रति वफादार रहे और अपनी सामाजिक अवस्था के अनुसार पत्नी का भरण-पोषण करें।

यदि कोई पति जानबूझ कर अपनी पत्नी को छोड़ देता और शहर छोड़कर दूसरी जगह जा बसता, तो कुछ शर्तों के साथ पत्नी को पुनर्विवाह की स्वतंत्रता थी। अगर पति जानबूझ कर पत्नी का त्याग करता और बिना किसी मजबूरी के शहर छोड़ कर चला जाता, तो पत्नी को पुनर्विवाह की पूरी स्वतंत्रता थी। ऐसी दशा में पति लौटने के बाद पत्नी पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं जता सकता था और न उसे पाने की कोशिश कर सकता था। लेकिन, यदि किसी विवशता के कारण पति को अपनी पत्नी का परित्याग करना पड़ता, तो ऐसी हालत में लौटने पर

वह पत्नी को फिर से प्राप्त कर सकता था। उदाहरण के लिए यदि पति युद्धबंदी बना लिया जाता और उसके पास अपनी अनुपस्थिति में पत्नी के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त संपत्ति हो, तब ऐसी दशा में पत्नी को पति की अनुपस्थिति में पुनर्विवाह की स्वतंत्रता नहीं थी। ऐसी दशा में यदि पत्नी पुनर्विवाह करती, तो उसे पर-पुरुष-गमन माना जाता था और पत्नी को सजा मिलती थी। लेकिन, अगर ऐसी हालत में पति के पास पत्नी के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त संपत्ति न हो, तो पत्नी को यह स्वतंत्रता थी कि वह अपने पति की अनुपस्थिति में किसी से शादी कर ले। लेकिन, ज्योंही पति अपने प्रवास से लौटता, उसे यह हक था कि अपनी पत्नी को प्राप्त करने के लिए कार्रवाई करे। पति की अनुपस्थिति के समय यदि ऐसे विवाहों से पत्नी को बच्चा होता, तो ऐसे बच्चे की जिम्मेदारी पति पर नहीं होती।

प्राचीन बैबिलोनिया में विवाहित स्त्रियों को कुछ न्याय-संबंधी अधिकार भी प्राप्त थे। विवाहित स्त्रियों को अदालतों में गवाही देने का अधिकार था। स्त्रियों के पास कुछ व्यक्तिगत संपत्ति भी होती थी, जिसको वे बिना अपने पति की अनुमति से बेच सकती थी। वह अपनी दासों को भी बेच सकती थी। लेकिन, दासियों के विषय में कुछ पाबंदियाँ भी थी, जैसे किसी पत्नी ने अपने पति को कोई दासी उपपत्नी के रूप में रखने को दिया हो और उससे बच्चा पैदा हो गया हो, तो ऐसी स्थिति में वह इस स्त्री-दास को नहीं बेच सकती थी। यदि सैनिक कार्यों के कारण पति को काफी दिनों के लिए बाहर जाना पड़ता था और पति-पत्नी को कोई बालिग लड़का नहीं होता, तो ऐसी हालत में पति की संपूर्ण संपत्ति की देखभाल स्त्री ही किया करती थी और आमदनी का एक-तिहाई हिस्सा पत्नी को व्यक्तिगत खर्च के लिए मिलता था। हम्मूराबी के कानूनों ने एक पत्नी को एक अच्छी पत्नी बनाने का प्रयत्न किया, ताकि पत्नियों पर किसी प्रकार का कलंक न लग सके। यदि किसी पत्नी को अपने पति के खिलाफ कुछ शिकायत रहती हो, तो उसे यह अधिकार था कि वह वैवाहिक संबंध को तोड़ कर अपने दहेज को वापस लेकर अपने पिता के घर चली जाए। लेकिन, वैवाहिक संबंध को तोड़ने के पहले उसे न्यायालयों में अपील करनी पड़ती थी। परंतु ऐसी हालत में यदि उसका चरित्र निष्कलंक नहीं रहता था, तो उसे पानी में डुबो देने की सजा दी जा सकती थी।

तलाक के कानूनों से भी पत्नी के अधिकारों की रक्षा की गई थी, लेकिन यदि तलाक के मुकदमे की सुनवायी के समय यह सिद्ध हो जाता था कि पत्नी ने पति की संपत्ति को नष्ट किया है और पति के प्रति वह वफादार और कर्त्तव्यपरायण नहीं रही है, तो बिना किसी क्षतिपूर्त्ति के उसे तलाक दिया जा सकता था और कभी-कभी पत्नी को अपने ही घर में दास की तरह रहने की सजा भी दी जाती थी। परंतु, केवल पति का दोष सिद्ध होने पर तलाक की अवस्था में पत्नी को भरण-पोषण

का खर्च पाने का कानूनी अधिकार प्राप्त था। ऐसी पत्नी के बच्चों की शिक्षा-दीक्षा और भरण-पोषण के लिए भी पति को प्रबंध करना पड़ता था। फिर पति की मृत्यु के बाद तलाक दी हुई पत्नी और उसके बच्चों को पति की संपत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार था। साधारण परिस्थितियों में तलाक नहीं दिया जाता था। यदि पत्नी सदा के लिए रोगग्रस्त हो जाती थी, तो भी तलाक नहीं दिया जाता था।

पति को भी पत्नी के ऊपर कुछ कानूनी अधिकार प्राप्त थे। वह अपनी पत्नी को दास बना सकता था और तीन महीनों के लिए उसे गिरवी रख सकता था। लेकिन, तीनों महीनों के बाद उसे पत्नी को स्वतंत्र बनाना पड़ता था। पत्नी की वेवफाई के लिए सजा के रूप में वह उसे बेच भी सकता था। यदि पत्नी से संतान नहीं होती थीं, तो ऐसी दशा में पति के सामने दो विकल्प थे। वह कोई उपपत्नी रख सकता था या अपनी पत्नी को तलाक दे सकता था और तलाक के साथ-साथ वह दहेज लौटाता था तथा उसे एक खास रकम भी चुकानी पड़ती थी। लेकिन, यदि निःसंतान होने पर भी वह अपनी पत्नी से प्यार करता और उसे तलाक नहीं देना चाहता था, साथ ही संतान की भी इच्छा रखता था, तो ऐसी दशा में वह एक उपपत्नी रख सकता था। अनेक बार पत्नियाँ ही अपने पति के लिए उपपत्नी खोज दिया करती थीं। कभी-कभी ऐसी उपपत्नियाँ पत्नी के व्यक्तिगत दासों में ही मिल जातीं और कभी-कभी उन्हें वाहर से लाना पड़ता था। लेकिन, किसी भी हालत में पति की रजामंदी की आश्यकता होती थी। ज्योंही ऐसी उपपत्नियों को बच्चा होता था, उन्हें स्वतंत्र नारियों के अधिकार प्राप्त हो जाते थे। लेकिन, पत्नी को सदैव यह अधिकार प्राप्त था कि उपपत्नी यदि उसकी प्रतिद्वंद्विता करे, तो वह उसे फिर से गुलाम बना दे। ऐसी हालत में पत्नी को उपपत्नी को बेचने का भी अधिकार प्राप्त था। जो पति अपनी पत्नियों से उपपत्नी प्राप्त करते थे और उनसे बच्चे भी होते थे, ऐसे पतियों को भी दूसरी शादी करने का कोई अधिकार नहीं प्राप्त था।

यदि किसी पत्नी को कोई असाध्य राग हो जाता और वह अपना कर्त्तव्यपालन करने में असमर्थ हो जाती, तो ऐसी दशा में भी पति उसे तलाक नहीं दे सकता था। वह केवल उपपत्नी रख सकता था। लेकिन, पहली पत्नी को पति के साथ ससम्मान रहने का बराबर अधिकार था। पहलो पत्नी केवल अपनी इच्छा से अपने पिता के घर जा सकती थी। कोई पत्नी, जो अपने वैवाहिक संबंध को ठीक से नहीं निभा सकती, सुमेर के प्राचीन कानूनों के अनुसार उसे पानी में डुबो दिया जाता था। लेकिन, हम्मूराबी ने इसमें सुधार किया। हम्मूराबी के कानूनों के अनुसार यदि कोई पत्नी अच्छी पत्नी न रहे, तो उसे डुबोया जा सकता था। लेकिन, यदि पत्नी यह सिद्ध कर दे कि उसके पति ने ही उसका परित्याग कर दिया है, तो उसे अपना दहेज वापस लेकर अपने पिता के घर लौटने की आजादी थी। यदि कोई पत्नी सम्मानित ढंग से नहीं रहती थी और खराव पत्नी सिद्ध हो जाती थी या अपने पति का सम्मान नहीं

करती थी, तो पति के सामने दो विकल्प थे—या तो वह पत्नी को अदालत में तलाक दे सकता था या न्यायाधीशों के सामने यह कह सकता था कि वह उसे तलाक नहीं देगा। ऐसी दशा में पत्नी उस घर में ही गुलाम की तरह रहने को मजबूर की जाती थी। इन दोनों ही दशाओं में पति को दूसरी शादी करने की आजादी थी। विवाहित जीवन में एक पति ऐसा बंदोबस्त कर सकता था कि उसके मरने के बाद पत्नी को संपत्ति के अधिकांश भाग का उत्तराधिकार प्राप्त हो सके।

यदि कोई स्वतंत्र व्यक्ति किसी गुलाम स्त्री को अपनी पत्नी या उपपत्नी बना लेता, तो ऐसे विवाह से पहले संतान होने के बाद ऐसी पत्नी को स्वतंत्र स्त्रियों के अधिकार मिल जाते थे। यदि किसी स्वतंत्र व्यक्ति की लड़की किसी दास से शादी कर लेती, तो वह स्वयं दास नहीं बनती थी और उसके पति का स्वामी उस पर या उसके बच्चों पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं रखता था। हम्मूरावी के कानूनों से हमें स्त्रियों की दशा के बारे में पर्याप्त जानकारी मिलती है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि इस कानून के अनुसार बहु-विवाह वर्जित था। दूसरे शब्दों में, एक पति दो स्त्रियों को पत्नी का अधिकार नहीं दे सकता था। वह एक से अधिक स्त्रियाँ नहीं रख सकता था, लेकिन दूसरी स्त्री उसकी उपपत्नी के ही रूप में रह सकती थी। इसी प्रकार, पति के युद्धबंदी बनाए जाने के बाद पत्नी को भी दूसरी शादी का अधिकार प्राप्त था।

प्राचीन बैबिलोनिया में विवाहित स्त्रियों के अतिरिक्त आजीवन कुमारियाँ भी होती थीं। इन आजीवन कुमारियों के विषय में भी तत्कालीन कानूनों में विस्तृत नियम बनाए गए थे। इनमें से बहुत-सी कुमारियाँ देवताओं को समर्पित की जाती थीं। हम्मूरावी के जमाने में ऐसी स्त्रियों को अपनी पैतृक संपत्ति पर अधिकार होता था। पिता ऐसी कुमारी लड़की को अपनी संपत्ति का कोई भाग सदा के लिए दे सकता था। ऐसी संपत्ति पर इन कुमारी लड़कियों को पूर्ण स्वामित्व प्राप्त हो सकता था या केवल संपत्ति के भोग का अधिकार भी मिल सकता था। यदि ऐसी कुमारी लड़की को उस संपत्ति पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त होता, तो उसे अपने भाइयों को कोई लेखा-जोखा नहीं देना पड़ता था और वह ऐसी संपत्ति को बेच भी सकती थी। जिस संपत्ति पर ऐसी लड़कियों को केवल भोगाधिकार प्राप्त होता, ऐसी दशा में उसके पिता की मृत्यु के बाद संपत्ति के प्रबंध का अधिकार उसके भाइयों को मिल जाता था और वे उस संपत्ति की आमदनी को उस लड़की को दिया करते। यदि उसे भाइयों के खिलाफ कोई शिकायत रहती, तो वह कोई दूसरा असामी (Tenant) भी खोज सकती थी। लेकिन संपत्ति को बेचने का अधिकार उसे नहीं था; क्योंकि उस संपत्ति का स्वामित्व उसके भाइयों के ही हाथ में रहता। ऐसी आजीवन कुमारी, जिसके लिए उसके पिता ने संपत्ति का कोई भाग न दिया हो, उसको केवल एक संतान को जितना पैतृक संपत्ति में अधिकार होता है, प्राप्त था।

आजीवन कुमारी बनने के लिए लड़कियों को कुछ शपथ लेनी पड़ती थी। कुछ प्रतिज्ञाओं और व्रतों के द्वारा वह धार्मिक उपासकों के दल में सम्मिलित हो जाती थी और उसे बैबिलोनिया के किसी मंदिर में रख दिया जाता था। इस प्रकार की धार्मिक उपासिकाओं को समाज में काफी सम्मानित और प्रभावशाली पद प्राप्त होता था। समाज में उनका स्वतंत्र अस्तित्व था। उन्हें संपत्ति अर्जित करने तथा व्यापार-वाणिज्य करने का अधिकार था। ऐसी स्त्रियों को जो संपत्ति अपने पिता से प्राप्त होती थी, वह आजीवन उनकी व्यक्तिगत संपत्ति होती थी और जिस मंदिर से वे संवद्ध थीं, उस मंदिर को भी उस संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं था। पिता से प्राप्त संपत्ति केवल उसके भरण-पोषण के लिए थी और पिता की मृत्यु के बाद पिता के उत्तराधिकारियों का यह कर्त्तव्य था कि वे उसके हितों की देख-रेख करें। ऐसी स्त्रियों के मरने के वाद उनकी संपत्ति उनके पितृकुल में वापस चली जाती थी। लेकिन, यदि पिता ने ऐसी स्त्री को यह हक दे दिया हो कि वह अपनी संपत्ति किसी दूसरे को दे सकती है, तो उसकी मृत्यु के बाद यह संपत्ति किसी दूसरे के भी हाथ जा सकती थी। इस तरह की धार्मिक उपासिकाएँ शादी कर सकती थीं, लेकिन शादी के बाद भी आश्चर्य की वात यह थी कि उन्हें पति-पत्नी के शारीरिक संबंधों से दूर रहना पड़ता था। यदि उनका पति संतान का इच्छुक होता, तो ऐसी स्त्रियाँ उसे उपपत्नी दे सकती थीं। लेकिन, ऐसी दशा में भी पत्नी का अधिकार इन उपासिकाओं को ही प्राप्त होता और यदि उपपत्नी अपने-आपको पत्नी के बराबर करने की कोशिश करती, तो पत्नी को यह हक था कि उसे दास बना दे। अविवाहित उपासिकाएँ अपने घरों में रहती थीं और अपनी इच्छा के अनुसार समय और पैसे का उपयोग कर सकती थीं। इन धार्मिक उपासिकाओं के साथ कुछ पाबंदियाँ भी थीं, जैसे वे शराब की दुकान नहीं खोल सकती थीं और यदि खोलतीं, तो उन्हें मौत की सजा दी जा सकती थी। इस विषय में यह ध्यान देने की वात है कि वहुत ऊँचे खानदानों की लड़कियाँ, यहाँ तक कि राजकुलों की लड़कियाँ भी, धार्मिक उपासिकाएँ वन जाती थीं। इसका कारण यह था कि वे समाज में असीम स्वतंत्रता का आनंद लेना चाहती थीं। स्त्रियों को इतनी स्वतंत्रता दिया जाना प्राचीन एशिया की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस स्वतंत्रता को समझने के लिए हमें बैबिलोनिया की संस्कृति की रूपरेखा को ध्यान में रखना होगा। वास्तव में, बैबिलोनिया के लोग मुख्य रूप से शहरों के निवासी थे। उनकी सभ्यता ग्रामीण सभ्यता नहीं थी। फिर वाणिज्य-व्यापार के प्रेमी होने के कारण उनका दूर-दूर के देशों से संवंध था; जिसके कारण उनका दृष्टिकोण उदार तथा विकसित था। शहरी सभ्यता में स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता मिलना स्वाभाविक है। ग्रामीण स्त्रियों का कार्यक्षेत्र खेतों और घरों तक ही सीमित रहता है। लेकिन, शहरी सभ्यता में स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता मिल

जाती है। इसलिए बैबिलोनिया में व्यापार-वाणिज्य की वृद्धि से स्त्रियों की स्वतंत्रता में भी वृद्धि हुई। खास कर ऊँचे वर्ग की स्त्रियों ने सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय भाग लेना शुरू किया।

यदि किसी विधवा को संतान नहीं होती, तो उसे दहेज में पायी हुई संपत्ति मिल जाती थी और इसके अलावा उसके पति ने अपने जीवनकाल में संपत्ति का जो भाग उसे दिया था, वह भी उसे मिल जाता था। यदि उसकी शादी बिना किसी दहेज की हुई होती और उसके पति ने उसके लिए कुछ भी न छोड़ा हो, तो ऐसी दशा में वह न्यायालय में अपील करती थी। न्यायाधीश उसके पति द्वारा छोड़ी हुई संपत्ति का मूल्यांकन करके उसका एक समुचित अंश विधवा को उसके भरण-पोषण के लिए दे देता था।

यदि किसी स्त्री को केवल पुत्री ही होती और पुत्र न होता, तो अपने जीवन-काल में वह अपनी संपत्ति को अपनी पुत्री को दे सकती थी। जैसा हम पहले कह चुके हैं, बैबिलोनिया में बहु-विवाह कानूनी तौर से प्रचलित नहीं था। एक पुरुष दो स्त्रियों को पत्नी के रूप में नहीं रख सकता था। यदि वह दूसरी स्त्री रखता, तो उसे उपपत्नी के रूप में रख सकता था। अपनी आर्थिक अवस्था के अनुसार कोई पुरुष एक से अधिक उपपत्नियाँ रख सकता था। साधारण वर्ग के लोग एक ही पत्नी से संतोष करते थे; क्योंकि उनके पास इतनी संपत्ति नहीं होती कि वे उपपत्नियाँ रखें। इस प्रकार कुल मिला कर, स्त्रियों की दशा संतोषजनक थी।

प्राचीन बैबिलोनिया के कानून

हम्मूराबी की विधि-संहिता प्राचीन बैबिलोनिया के लोगों की कानून-संबंधी प्रतिभा का ज्वलंत उदाहरण है। हम्मूराबी के कानूनों को हम विधि संहिता नहीं कह सकते; क्योंकि विधि-संहिता का अर्थ होता है—कानूनों का एक संग्रह, जो किसी शासक अथवा विधान सभा द्वारा बनाए गए हों। इस दृष्टि से, हम्मूराबी के कानून संहिता नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे राजकीय शासनों और आज्ञाओं के संग्रह हैं, जो विभिन्न रूपों और विभिन्न अध्यायों में संग्रहित किए गये हैं। फिर इस संग्रह में दजला-फरात की घाटी में प्रचलित प्राचीन काल के कानूनों का कोई उल्लेख नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि हम्मूराबी के कानून के बहुत से विधान मौलिक हैं। लेकिन, अधिकाशं विधान ऐसे हैं, जो उसके पहले रीति-रिवाजों या कानूनों के रूप में प्रचलित थे। हम्मूराबी के पहले भी उरुकागीना नाम के राजा ने कुछ कानून बनाए थे, जिनके द्वारा उसने लगाश नामक शहर में प्रचलित बुराइयों को दूर किया था। कानूनों के द्वारा इस राजा ने अपनी प्रजा को लूट, हत्या और बेईमानी आदि बुराइयों से बचाया था। इस प्रकार हम्मूराबी से पहले ही विभिन्न विषयों पर कुछ कानून पाए जाते थे तथा जिन विषयों पर कानून नहीं थे, उन पर रीति-रिवाजों को

ही कानून के रूप में मान लिया जाता था। इसलिए इसमें सदेह नहीं कि हम्मूराबी के आने के पहले ही बैबिलोनिया में एक कानूनी व्यवस्था थी, हालाँकि यह क्रमबद्ध नहीं थी और साम्राज्य के प्रत्येक भाग में एक प्रकार की नहीं थी, इसलिए हम्मूराबी को मुख्यतः इस बात का श्रेय है कि उसने पुराने कानूनों को और पुराने रीति-रिवाजों को क्रमबद्ध ढंग से संगठित कर एक सुव्यवस्थित रूप दिया। उसने पुराने कानूनों में समय के अनुसार परिवर्त्तन एवं सशोधन भी किए।

बैबिलोनिया में प्रथम राजवंश के समय न्याय का काम राजा द्वारा स्थापित अदालतों के द्वारा होता था। इन अदालतों पर राजा का नियंत्रण रहता था। अदालतें दो तरह की थीं, पहली सुनवायी की अदालतें और दूसरी, राजा का दरबार, जहाँ अंतिम अपील होती थी। पहली सुनवायी की कई अदालतें थीं,—जहाँ लोग मुकदमे दायर किया करते थे। अपील राजा के दरबार में होती थी। न्यायाधीशों की बहाली राजा किया करता था। न्यायाधीशों को मनमाने ढंग से न्याय करने से रोकने के लिए शहर के वयोवृद्ध भी न्यायाधीशों के साथ बैठ कर न्याय करने में सहायता किया करते थे।

किसी भी मुकदमे में जब फैसला सुना दिया जाता था और उसे लिखित रूप दे दिया जाता था, तब फैसले को बदला नहीं जा सकता था। यदि कोई भी न्यायाधीश उस फैसले को बदलने की कोशिश करता, तो उसे न्यायाधीश के पद से सदा के लिए हटा दिया जाता था। ऐसा नियम इसलिए बनाया गया था कि न्यायाधीश लोग भ्रष्टाचार से मुक्त रहें। यदि किसी पक्ष को ऐसा लगता कि उसके साथ न्याय नहीं हुआ है, तो उस पक्ष को राजा के पास अपील करने का हक था। राजा का दरबार सर्वोच्च न्यायालय था और उसके निर्णय के विरुद्ध कोई भी अपील नहीं हो सकती थी। समूचे साम्राज्य में राजा का न्याय मान्य था। हम्मूराबी के पत्रों और शिलालेखों से यह पता चलता है कि वह बहुत ही निष्पक्ष और ईमानदारी से न्याय किया करता था तथा न्यायालयों पर स्वयं कड़ा नियंत्रण रखा करता था। दूर के शहरों में भी जो न्यायालय स्थित थे, उन पर भी वह स्वयं या अपने प्रतिनिधियों के द्वारा कड़ा नियंत्रण रखता था। यह भी पता चलता है कि हम्मूराबी ने न्याय-विभाग से भ्रष्टाचार दूर करने के लिए भरसक प्रयत्न किया। यथासंभव सारे अपील के मुकदमों की सुनवायी वह स्वयं करता था, लेकिन दूर के शहरों में अपील सुनने का काम वह स्थानीय अफसरों को दे दिया करता था। कभी-कभी आवेदकों को यह कहा जाता था कि वे स्वयं आकर राजधानी में राजा के सामने अपील करें।

न्यायालय भी दो प्रकार के हुआ करते थे—एक दीवानी न्यायालय और दूसरे धार्मिक। प्रत्येक मंदिर एक प्रकार से न्यायालय भी हुआ करता था और उनके पुजारी न्यायाधीशों का काम करते थे। इन मंदिरों में छोटे-छोटे मुकदमों का फैसला

होता था । दीवानी मुकदमों का सुनवायो के लिए दडाधिकारी नियुक्त किए जाते थे । सैद्धांतिक रूप में यह माना जाता था कि सभी न्याय-संबंधी फैसलों को लिखित होना चाहिए । एक न्यायालय में कभी-कभी एक जज भी न्याय करता था । नगर के सम्मानित तथा वयोवृद्ध सदस्य न्याय के काम में जुरी के रूप में न्यायाधीशों की सहायता किया करते थे । इन वयोवृद्ध सज्जनों का चुनाव राजा की इच्छा से होता था । गवाह भी दो प्रकार के हुआ करते थे । एक प्रकार के गवाह तो एक तरह के जुरी ही होते थे, जिनको दोनों पक्ष मान लेते थे । इन लोगों के सामने ही किसी भी अपराध के लिए दंड दिया जाता था । दूसरे प्रकार के गवाह वे होते थे, जो अदालतों में जाकर केवल यह वतलाया करते थे कि उन्होंने क्या देखा है या मुकदमे के वारे में वे क्या जानते हैं ।

गवाह लोग ईश्वर के नाम पर शपथ ले कर अपना बयान दिया करते थे । भारी मुकदमों में, जिनमें मौत की सजा तक दी जा सकती थी, गवाहों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे ईमानदारी के साथ सच्ची बात कह दें । गवाहों को अदालत में लाने का काम मुकदमा लड़ने वाले पक्षों का था । ईश्वर के नाम पर शपथ लेना या गद्दी पर बैठे हुए राजा के नाम पर शपथ लेना, उस जमाने में ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता था । खास कर ऐसे मुकदमों में, जिनमें किसी भी पक्ष का दोष सिद्ध करने के लिए कोई लिखित सबूत नहीं था, शपथ का बहुत बड़ा महत्त्व था । साधारणतः शपथ मंदिरों में ली जाती थी । दीवानी मुकदमों में भी शपथ ली जाती थी । फैसले के बाद भी शपथ का महत्त्व था । मुकदमे के फैसले के बाद दोनों ही पक्ष मंदिरों में यह शपथ लेते थे कि वे न्यायालय के फैसले को मानेंगे ।

हम्मूराबी के कानूनों ने कुछ अपराधों के लिए दंड निश्चित कर दिया था । मौत की सजा निम्नलिखित अवस्थाओं में दी जा सकती थी—

(१) यदि कोई व्यक्ति किसी फौजदारी मुकदमे में झूठी गवाही देते हुए पकड़ा जाता था, तो उसे प्राणदंड मिलता था ।

(२) यदि कोई व्यक्ति किसी मंदिर के खजाने को लूटता और उसका यह अपराध सिद्ध हो जाता, तो उसे मौत की सजा दी जाती थी ।

(३) यदि कोई व्यक्ति राजमहल में डाका डालता और उसका अपराध सिद्ध हो जाता, तो उसे मृत्युदंड दिया जाता था ।

(४) यदि कोई चोरी का माल पचाता हुआ पाया जाता, तो उसे मौत की सजा मिलती थी ।

(५) यदि किसी व्यक्ति पर किसी भी चल संपत्ति को चुराने का अपराध किसी न्यायालय में सिद्ध हो जाता और वह चोरी का माल लौटाने या उसका हरजाना देने से इनकार करता, तो उसे प्राणदंड मिलता था ।

इसके अलावे कुछ दूसरे प्रकार के अपराधों के लिए भी प्राणदंड निश्चित था। यदि कोई व्यक्ति चोरी का माल अपना कह कर बेचे और यह सिद्ध हो जाए कि वह माल चोरी का है तो उस व्यक्ति को प्राणदंड मिलता था। यदि कोई व्यक्ति किसी दास को भगाने में सहायता देता या भागे हुए दास को सहायता देता, तो उसे चोरी का अपराधी माना जाता और इसके लिए उसे मौत की सजा दी जा सकती थी। डाका डालने के अपराध के लिए भी मौत की सजा थी। जो व्यक्ति सैनिक कामों से भाग जाते थे, उनको भी मौत की सजा मिलती थी। सैनिक सेवा से भागने वाला व्यक्ति यदि अपनी जगह पर कोई दूसरे व्यक्ति को देता, तब भी वह प्राणदंड का भागी था। वह सैनिक अफसर, जो एक व्यक्ति के स्थान पर दूसरे व्यक्ति की सैनिक सेवा को मंजूर करता, अपने-आप को प्राणदंड का भागी बना लेता था। फिर ऐसे गवर्नर या राजकर्मचारी, जो दूसरे अफसरों या राजकर्मचारी के विशेषाधिकारों में हस्तक्षेप करते, उनको भी प्राणदंड मिलता था। जो व्यक्ति अपने धर्म या धार्मिक विश्वासों की निंदा करता, उसे भी प्राणदंड दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसी लड़की का शील-भंग करने की चेष्टा करता, जिसके साथ वह शादी करने में असफल रहा हो,तो उसे प्राणदंड मिलता था। मौत की सजा विभिन्न रूपों में दी जाती थी। खास कर पानी में डुबो कर मारने की प्रथा काफी प्रचलित थी। पानी में डुबो कर मारने का दंड निम्नलिखित अवस्थाओं में दिया जाता था—यदि किसी शराब की दूकान का मालिक निश्चित मूल्य से अधिक में शराब बेचता, तो उसे मौत की सजा दी जाती थी। यदि कोई पत्नी अपने पति के युद्धबंदी बनाए जाने पर काफी संपत्ति होते हुए भी दूसरे पुरुष के साथ रहती थी, तो उसे पानी में डुबो कर मारने की सजा दी जा सकती थी। फिर यदि कोई पत्नी, जिसकी पवित्रता और वफादारी पर संदेह हो तथा जो अपनी पति की संपत्ति का दुरुपयोग करती हो और उसे छोड़ना चाहती हो उसे भी अपराध सिद्ध होने पर पानी में डुबो कर मार दिया जाता था।

आग में जला कर मारने की भी प्रथा थी। इस प्रकार का प्राणदंड उन धार्मिक उपासकों या उपासिकाओं को दिया जाता था, जो शराब की दुकान खोला करते थे। फिर, चोरों को भी इसी प्रकार की सजा दी जाती थी। यदि कोई घर अच्छी तरह से नहीं बनाया गया हो और उसके गिर जाने से उसके अंदर बैठे हुए व्यक्तियों की मृत्यु हो जाए, तो वैसी दशा में घर बनाने वाले को मौत की सजा दी जाती थी। यदि कोई पुत्र अपने पिता को मारता, तो उसका हाथ काट लिया जाता था। यदि कोई दास अपने स्वामी के आदेश को नहीं मानता, तो उसका कान काट लिया जाता था।

हम्मूराबी के कानूनों में संपत्ति की हानि के लिए क्षतिपूर्ति की व्यवस्था की गई थी। किसी संपत्ति को कितना नुकसान पहुँचा है, इसका निर्णय न्यायालय के

द्वारा होता था। क्षतिपूर्त्ति या हर्जाने की रकम नुकसान के तिगुने मूल्य तक निश्चित की जा सकती थी। यदि किसी मंदिर या राजप्रासाद की संपत्ति को नुकसान पहुँचाया जाता, तो क्षतिपूर्ति की रकम सबसे अधिक होती थी। इन कानूनों से यह सिद्ध हो जाता है कि समाज के नियमन के लिए प्राचीन बैबिलोनिया में कानून बनाने के क्षेत्र में काफी विकास हुआ। रीति-रिवाजों तथा राजाज्ञा पर आधारित ये कानून जीवन के विभिन्न अंगों का नियंत्रण करते थे।

प्राचीन बैबिलोनिया की धार्मिक अवस्था

बहुत से विद्वानों ने यह प्रयत्न किया है कि वे सुमेर और सेमेटिक धर्मों की विभिन्नता स्थापित करें, पर इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं मिली है। सुमेर और अक्कड़ के धर्मों का प्रारंभ किस प्रकार हुआ, इसका हमें निश्चित ज्ञान नहीं है। लेकिन, इतना हम जानते हैं कि सुमेर और अक्कड़ में सभ्यता की शुरुआत होते ही धर्म के मुख्य सिद्धांतों और विधियों की रूपरेखा निश्चित हो चुकी थी। धार्मिक उपासना के क्षेत्र में सुमेरियन भाषा का प्रयोग सुमेरियन साम्राज्य के पतन के बाद भी होता रहा। इसी प्रकार सुमेर के देवी-देवताओं की पूजा बैबिलोनिया के लोगों द्वारा बहुत बाद तक होती रही। किसी भी धर्म की आधारशिला ईश्वर या देवताओं की कल्पना होती है। मनुष्य ईश्वर तथा अन्य देवी-देवताओं की कल्पना करता है और उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों को निश्चित करता है। सुमेर और अक्कड़ के प्राचीन धर्म में एक ईश्वर नहीं, बल्कि बहुत से देवी-देवताओं की कल्पना थी। ये सभी देवी-देवता स्वर्गीय माने जाते थे। इनमें सर्वश्रेष्ठ देवता अनु (Anu) था। यह अनु देवता एक तारा के द्वारा प्रतिबिंबित होता था और यह आकाश का देवता था। सुमेर और अक्कड़ के निवासी यह भी मानते थे कि मनुष्यों की तरह देवी-देवताओं में भी गुण और विकार पाए जाते हैं और देवताओं का जीवन भी मनुष्यों के जीवन से ही मिलता-जुलता है। मनुष्यों और देवताओं में मुख्य अंतर यह था कि मनुष्य मरणशील प्राणी है और देवताओं को अमरत्व प्राप्त है। फिर यह भी माना जाता था कि देवता प्रत्येक परिस्थिति में दयालु होते हैं और किसी की भी बुराई नहीं करते। इनके अनुसार देवताओं से नीचे भूत-प्रेत बुराई किया करते थे, जो स्वभावतया दुष्ट होते हैं।

सुमेर और अक्कड़ के तीन प्रमुख देवता थे—(१) अनु (Anu), (२) एनलिल (Enlil) और (३) इया (Ea)। उनलोगों का ऐसा विश्वास था कि ये तीनों देवता संपूर्ण विश्व को शासन के लिए आपस में बाँट लिए हुए हैं। बैबिलोनिया के देवमंडल की यह सर्वश्रेष्ठ त्रिमूर्ति थे। अनु आकाश का देवता था, एनलिल अंतरिक्ष तथा पृथ्वी का देवता और इया जल का देवता था। अनु अत्यन्त प्राचीन काल में ही सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाता था। वह सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि का प्रतिरूप भी माना जाता था। लेकिन, जब बाद के इतिहास में बैबिलोन नगर की प्रधानता बढ़

गई, तो अनु देवता की महत्ता धीरे-धीरे कम हो गई। अनु के स्थान पर बैबिलोनिया के देवता की महत्ता बढ़ गई। अमराइट लोगों के अंदर जब बैबिलोन के प्रथम राजवंश की स्थापना हुई, जिसका हम्मूराबी सबसे प्रसिद्ध शासक था, तब बैबिलोनिया का सर्वश्रेष्ठ देवता मारडुक हो गया। मारडुक के अतिरिक्त और भी कई देवी-देवता थे।

उस जमाने में बैत्रिलोनिया में प्रत्येक परिवार के अपने-अपने इष्ट देवता होते थे। उस काल के देवताओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—पहले कुल या परिवार के देवता; दूसरे नगर के देवता और तीसरे राष्ट्र के देवता। प्रत्येक परिवार में कुलदेवता की मिट्टी की मूर्त्ति बना कर पूजा की जाती थी। परिवार का प्रधान सदस्य कुलदेवता का पुजारी होता था। इसी प्रकार प्रत्येक नगर का अपने इष्ट देवता होते थे और उस नगर का शासक मुख्य पुजारी होता था। इन देवताओं के लिए मंदिर बनाए जाते थे और इसी कारण बैबिलोनिया में बहुत बड़ी संख्या में मंदिर पाए जाते थे। यह विश्वास प्रचलित था कि देवता मंदिरों में अपनी पत्नी, बच्चों और नौकरों के साथ रहते हैं। इन देवताओं को जो बलिदान चढ़ाए जाते थे वे मंदिरों से बाहर चढ़ाए जाते थे। राजकुल के लोगों और पुजारियों को छोड़ कर साधारण लोग पूजा दूर से ही किया करते थे। इसी प्रकार जो राष्ट्र का देवता होता था, उसका मुख्य पुजारी राजा हुआ करता था और राजधानी में उस देवता का मंदिर हुआ करता था।

ऐसा विश्वास था कि देवता समय-समय पर अपनी इच्छाओं को प्रमुख पुजारी पर प्रगट कर दिया करते हैं। दूसरे शब्दों में प्रमुख पुजारी को देवता से समय-समय पर आदेश मिला करता था। मंदिरों के निर्माण और उनकी सुरक्षा का काम प्रमुख पुजारी के हाथ में रहता था। ऐसा माना जाता था कि स्वप्नों के द्वारा देवता अपनी इच्छा व्यक्त किया करते हैं। इन स्वप्नों के आधार पर छोटे-छोटे पुजारियों की नियुक्ति होती थी।

प्राचीन बैबिलोनिया में धीरे-धीरे पुरोहित वर्ग का महत्त्व बहुत बढ़ गया और उनके हाथ में शासन का भी कार्य आ गया। सैद्धान्तिक रूप में यह माना जाता था कि देवता ही नगर का शासक होता है और प्रधान पुजारी देवता के प्रतिनिधि के रूप में शासन करता है। इसलिए प्रधान मंदिरों के प्रधान पुजारी काफी शक्तिशाली और प्रभावशाली व्यक्ति होते थे। इनकी नियुक्ति कुछ शकुन के आधार पर होती थी और उनकी नियुक्ति के दिन से वर्षों की गणना प्रारम्भ होती थी। किसी-किसी मंदिर में पुजारियों की काफी बड़ी संख्या होती थी।

प्राचीन बैबिलोनिया का पुरोहित वर्ग तीन भागों में बाँटा जा सकता है—पहला वर्ग उन पुरोहितों का था, जो जादू के द्वारा दानवों को भगा कर देवताओं

को प्रसन्न किया करते थे। दूसरा वर्ग उन पुरोहितों का था, जो भविष्यवाणी किया करते थे और तीसरा वर्ग उन पुरोहितों का था, जो संगीत के माध्यम से मंदिरों में देवताओं को प्रार्थनाएँ और मंत्र अर्पित किया करते थे।

इन पुजारियों को कई तरह के नाम दिए जाते थे। जैसे पहले प्रकार के पुजारी, जो जादू के द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया करते थे, माश-माश (Mash-mash) कहलाते थे। इन पुरोहितों में भी दो वर्ग था। जादू जानने वाले वे पुरोहित, जो क्रुद्ध देवताओं को प्रसन्न करते थे, कालू (Kalu) कहे जाते थे। एक सप्ताह में कुछ निश्चित दिन थे। उन निश्चित दिनों को मंदिर में जाकर ये पुरोहित किसी खास देवता को प्रसन्न करने के लिए पूजा चढ़ाया करते थे। ऐसे पुरोहितों में जो प्रधान कालू होता था, उसे बड़ा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माना जाता था और उसका पद वंशानुगत होता था। जब कोई व्यक्ति यह अनुभव करता था कि कोई दुष्ट प्रेतात्मा उसके विरुद्ध है, तो वह कालू के यहाँ जा कर परामर्श कर सहायता लेता था। इसी प्रकार किसी मदिर के निर्माण के पहले कालू की पूजा करनी पड़ती थी। भविष्यवक्ताओं के अनुसार किसी शुभ दिन पर मंदिर निर्माण शुरू किया जाता था। उस शुभ दिन की रात्रि को कालू पाँच बलिदान देता था, जो पाँच देवताओं के लिए होते थे और एक शोकपूर्ण मंत्र का भी उच्चारण करता था। तब वह तीन बलिदान उस मंदिर के देवता को देता था। ये बलिदान उस मंदिर के देवता की पत्नी और भूत-प्रेतों के लिए होते थे। इसके बाद ब्राह्म-बेला में तीन बलिदान तीन महान देवताओं के लिए दिए जाते थे। ये देवता थे—अनु, एनलिल और इया। इस पूजा के बाद नए मंदिर की नींव रखी जाती थी। जब-तक निर्माण-कार्य चलता रहता था, तब तक कालू प्रतिदिन पूजा और शोकपूर्ण मंत्र का पाठ करता रहता। जब किसी विपत्ति की सूचना मिलती, तब कालू को पूजा करनी पड़ती थी। जैसे किसी भूकम्प के आने का शकुन मिलता था या किसी शत्रु द्वारा आक्रमण की पूर्व सूचना मिलती थी, तब कालू राजा को पवित्र करता था और रात को देवी-देवताओं के लिए पूजा और बलिदान चढ़ाता था।

जादू जानने वाले एक दूसरे प्रकार के भी पुरोहित होते थे, जो अपने जादू के द्वारा बीमार व्यक्तियों के स्वास्थ्य-लाभ की प्रार्थना करते थे और जादू-टोने के द्वारा पापियों की पवित्रता की प्रार्थना करते थे। बैबिलोनिया के लोगों का यह विश्वास था कि इस प्रकार के पुरोहित 'इया' नाम के देवता की कृपा से यह सब किया करते हैं। बाद में यह भी माना जाने लगा कि बैबिलोनिया का प्रमुख देवता मारडुक भी इन पुरोहितों पर कृपा रखता है।

दूसरे प्रकार के पुरोहित भविष्यवक्ता हुआ करते थे। ये लोग भी कई भागों में विभक्त थे। इन लोगों का यह दावा था कि इन्हें देवताओं से सीधे आदेश प्राप्त

हुआ करते हैं और ये लोग उन आदेशों को सर्वसाधारण तक पहुँचाया करते थे। इसलिए किसी भी काम को शुरू करने के पहले राजा या साधारण लोग पहले इन भविष्यवक्ताओं से सलाह लिया करते थे, जिसमें वे जान सकें कि वह काम शांतिपूर्वक संपन्न हो जाएगा या विघ्नबाधाएँ उपस्थित होंगी। उस विषय में ये भविष्यवक्ता देवताओं की इच्छा की व्याख्या किया करते थे। इन लोगों का पेशा भी वंशानुगत था।

पुरोहितों से स्वस्थ होने की अपेक्षा की जाती थी। यह भी विश्वास किया जाता था कि पुरोहितों को सदाचारी होना चाहिए; क्योंकि देवता अपनी इच्छा सदाचारी व्यक्तियों को ही सपनों द्वारा बतलाया करते हैं। इसलिए जब कभी कोई गंभीर समस्या किसी राजा या किसी साधारण व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित हो जाती थी, तो ये मंदिरों में जाकर प्रार्थना या बलिदान देने के बाद वहीं सो जाया करते थे। कभी-कभी राजाओं को किसी देश पर चढ़ाई करने या किसी राजा के साथ संधि करने का आदेश भी देवताओं से प्राप्त होता था। कभी-कभी नए मंदिर बनाने का आदेश भी प्राप्त होता था और राजाओं को इन आदेशों का पालन करना पड़ता था। कभी देवताओं की इच्छा की अभिव्यक्ति आकाश के ग्रहों और सितारों की गति से भी होती थी। सितारों की गति का अध्ययन ज्योतिषी लोग किया करते थे। जब कभी तूफान, भयंकर वर्षा, बिजली गिरने या बाढ़ की घटनाएँ होती थीं, तो यह माना जाता था कि अंतरिक्ष का देवता अदाद (Adad) अप्रसन्न होकर यह सब कर रहा है।

प्राचीन सुमेर और अक्कड़ के धर्म में पुरोहिती और पूजा का काम केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं था। स्त्रियाँ भी पुजारिन होती थीं और विधिवत् पुरोहितों का स्थान ग्रहण करती थीं। एक परंपरा के अनुसार अगेड के राजा सारगन की माँ एक पुजारिन थी। वे स्त्रियाँ, जो विधिवत् पुरोहितों का काम लेती थीं, वे ऊँचे खानदानों से आती थीं और उनसे उच्च नैतिक आचरण एवं व्यवहार की अपेक्षा की जाती थी। जिस तरह से बड़े-बड़े पुरोहितों की नियुक्ति शकुन के द्वारा देवताओं की इच्छा के अनुसार होती थी, उसी प्रकार इन स्त्री-पुरोहितों की भी नियुक्ति शकुनों के आधार पर होती थी। जिस प्रकार मंदिरों में काफी संख्या में पुरोहित रहते थे, वैसे ही काफी संख्या में स्त्रियाँ भी पुरोहितों के रूप में रहती थीं। ऊँचे खानदानों की लड़कियाँ मंदिरों के बड़े पुरोहितों की अधीनता में रहने में किसी प्रकार की हेठी नहीं अनुभव करती थीं। इन स्त्री-पुरोहितों से पवित्र नैतिक जीवन की अपेक्षा की जाती थी।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना एक इष्ट देवता होता था, जिसके संरक्षण में वह व्यक्ति अपना जीवन बिताता था। वह व्यक्ति अपने-आपको उस देवता का

पुत्र कहा जाता था ऐसा विश्वास किया जाता था कि इष्ट देवता अपने संरक्षित व्यक्ति के हितों की रक्षा करता है और दूसरे देवताओं से उसके हित के लिए सहायता लेता है।

उस जमाने में देवताओं से डरना व्यक्ति का प्रमुख कर्त्तव्य माना जाता था। कहा जाता है कि हम्मूराबी-जैसा शक्तिशाली राजा भी देवताओं से बहुत भयभीत रहता था। एक व्यक्ति का दूसरा कर्त्तव्य माना जाता था कि वह देवताओं को प्रसन्न करने के लिए देवताओं को बलिदान और पूजा चढ़ाया करे। बलिदान में देवता को भोजन चढ़ाया जाता था और उस समय प्रार्थनाएँ एवं मंत्रोच्चारण किए जाते थे। देवताओं के सम्मुख पशुओं का भी बलिदान किया जाता था। खास कर भेड़ों का बलिदान चढ़ाया जाता था। बकरों का भी बलिदान चढ़ाया जाता था। यदि कोई व्यक्ति किसी देवता के क्रोध के कारण बीमार पड़ जाता था, तो उस देवता को प्रसन्न करने के लिए सूअर का बलिदान चढ़ाया जाता था। बलिदान के साथ-साथ कई तरह की पूजाएँ होती थीं, जिनके नियमन के लिए विस्तृत कर्मकांड था। किसी व्यक्ति की सामाजिक अवस्था के अनुसार ही उसके बलिदान का रूप भिन्न-भिन्न होता। प्रत्येक मंदिर की आर्थिक अवस्था के अनुरूप सार्वजनिक पूजा और बलिदान होते थे। प्रत्येक व्यक्ति को देवताओं की कृपा प्राप्त करना आवश्यक था। देवता की कृपा को खोना विपत्तियों का प्रारंभ समझा जाता था।

ऐसा माना जाता था कि यदि देवता किसी व्यक्ति पर प्रसन्न हैं तो कितनी भी गलतियाँ करने के बाद कोई भी मनुष्य उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। लोग अपने कुलदेवता की पूजा इसलिए करते थे कि वह उनकी हर हालत में रक्षा करे। ऐसा माना जाता था कि कुलदेवता दूसरे देवताओं के प्रति किसी प्रकार की गलती किए जाने के बाद भी रक्षा कर सकता था। यह भी माना जाता था कि हरेक पाप का फल मनुष्य को इसी दुनिया में भुगतना पड़ता है। इसी प्रकार पुण्य के लिए पुरस्कार भी इसी जीवन में मिल जाता है। ऐसा माना जाता था कि पापियों को दुःख मिलता है और पुण्यात्माओं को सुख मिलता है। ऐसी धारणा थी कि ईश्वर ने मनुष्य को केवल एक जीवन दिया है। इस जीवन की समाप्ति के बाद मनुष्य को परलोक जाना पड़ता है, जहाँ से इस दुनिया में पुनरागमन नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन बैबिलोनिया के लोग पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते थे। बैबिलोनिया के लोगों में मृत्यु से बहुत डर था और लंबे जीवन की बलवती आकांक्षा थी। उनका ऐसा विश्वास था कि दीर्घ जीवन देवताओं की कृपा से प्राप्त होता है; इसलिए वे पूजा और बलिदानों के द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया करते थे। मृत्यु का डर और लंबे जीवन की आकांक्षा बैबिलोनिया के धार्मिक विश्वासों के मूल में थी।

इसी प्रकार धार्मिक पूजा-पाठ तथा विश्वासों के क्षेत्र में भी बैबिलोनिया की सभ्यता का समुचित विकास हुआ था।

प्राचीन बैबिलोनिया का आर्थिक जीवन

बैबिलोनिया के इतिहास के प्रारंभिक काल से ही भूमिगत संपत्ति का स्वामित्व व्यक्तियों, सामाजिक दलों अथवा संस्थाओं में निहित था। यह उस युग के बिक्री के इकरारनामों से पता चलता है। ऐसे भी प्रमाण मिले हैं कि व्यक्तिगत संपत्ति के साथ-साथ सामूहिक संपत्ति भी होती थी। हम्मूराबी के कानूनों में इन दोनों प्रकार की संपत्तियों का उल्लेख मिलता है। व्यक्तिगत संपत्ति के अलावा हमें ऐसा पता चलता है कि राजा कभी-कभी सार्वजनिक सेवा के लिए पुरस्कार के रूप में किसी संपत्ति का दान कर दिया करता था। ऐसी संपत्ति को इल्कु (Ilku) कहते थे। इस संपत्ति को न तो बेचा जा सकता था, न जब्त किया जा सकता था, न बंधक रखा जा सकता था और न हस्तांतरित ही किया जा सकता था। ऐसी संपत्ति केवल पुरुष उत्तराधिकारी को ही हस्तांतरित की जा सकती थी। उस जमाने में बैबिलोनिया में व्यक्तिगत संपत्ति लगभग चिरस्थायी तौर पर ही किसी व्यक्ति के पास रहती थी। केवल ऋण चुकाने के लिए इस संपत्ति को बेचा जा सकता था। एक विवाहिता स्त्री के पास जो संपत्ति होती, वह उसकी व्यक्तिगत संपत्ति होती थी और मरने के बाद वह संपत्ति उसके बच्चों को मिल जाती थी। यदि वह स्त्री निःसंतान मरती, तो वह संपत्ति उसके पितृकुल में चली जाती थी। एक स्त्री-पुरोहित या देवदासी को भी संपत्ति का अधिकार उस दशा में प्राप्त होता था, जब उसका पिता इसका अधिकार दे गया हो। प्राचीन बैबिलोनिया में कृषि राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत थी। कृषि-कार्य मुख्यतः गुलामों के द्वारा कराया जाता था। ऊँचे वर्ग के लोग गुलामों से खेती कराया करते थे, अधिकतर भूमि राजा की मानी जाती थी। मंदिरों के पास भी काफी भूमिगत संपत्ति होती थी। कुलीन लोगों के पास भी भू-संपत्ति होती थी और व्यापारी लोगों के पास भी-भूसंपत्ति होती थी। लेकिन, ये लोग अधिकतर कृषि से अधिक मालगुजारी में दिलचस्पी रखते थे। खेतों को जोतने, बोने और काटने का काम गुलाम किया करते थे। जमीन के मालिक लोग जमीन की मालगुजारी पर रैयतों को दिया करते थे। मालगुजारी पर जमीन देने की प्रथा उस जमाने में काफी प्रचलित थी। रैयत मालगुजारी के रूप में एक निश्चित रकम मालिक को दिया करते थे या उपज का आधा या एक-तिहाई हिस्सा अनाज भी मालगुजारी के रूप में दिया करते थे। तत्कालीन प्रथा के अनुसार बीज भी रैयत को देना पड़ता था। रैयत को यह इकरारनामा करना पड़ता था कि वह खेत जोतेगा, फसल पैदा करेगा और उपज का एक निश्चित भाग मालिक को दिया करेगा। अगर अपनी असावधानी से रैयत कर्त्तव्यपालन से च्युत हो जाता, तो उसे मालिक को हरजाना देना पड़ता था।

उस जमाने में रैयत और मालिक के संबंधों के नियमन के लिए बहुत से नियम बनाए गए थे। हम्मूराबी के कानूनों में इन संबंधों को स्पष्ट रूप से लिखा गया था। ये नियम मालिक और रैयत के बीच झगड़ों को कम करने के लिए बनाए गए थे; क्योंकि ऐसे झगड़े प्रायः हुआ करते थे। किसी भी जमीन की मालगुजारी फसल कटने के वक्त निश्चित की जाती थी और प्रत्येक ऋतु की फसलों के आधार पर मालगुजारी की रकम तय की जाती थी। जब कभी बाढ़ या तूफान या सूखे से फसल को नुकसान पहुँचता, तो उस नुकसान के अनुरूप ही मालगुजारी भी कम कर दी जाती थी और मालिक एवं रैयत बराबर-बराबर नुकसान को बाँट लिया करते थे। फिर भी, उस जमाने में मालिकों और रैयतों में भी झगड़े प्रायः हुआ करते थे। इसी प्रकार कृषकों और गड़ेरियों में भी झगड़े हुआ करते थे। ये गड़ेरिए जो एक से दूसरी जगह भेड़ों के साथ घूमा करते, वे कभी-कभी खड़ी फसल को भेड़ों के द्वारा नुकसान पहुँचा दिया करते थे। इसी कारण गड़ेरियों और कृषकों में झगड़ा हो जाया करता था। इसी प्रकार के नुकसान की क्षतिपूर्त्ति के लिए हम्मूराबी के कानूनों में एक खास रकम निश्चित कर दी गई थी।

जो जमीन खेती के लायक नहीं थी, पर किसानों के मेहनत से खेती के लायक बनायी जाती थी, ऐसी जमीनों का स्वामित्व उन व्यक्तियों को ही दिया जाता था, जिन लोगों ने अपनी मेहनत से इन जमीनों को खेती के लायक बनाया हो। भू-संपत्ति तीन प्रकार की होती थी। पहली कृषि योग्य भूमि, दूसरी हरी-भरी घाटियाँ और चरागाह तथा तीसरे बाग-बगीचे एवं फुलवारियाँ। बाग-बगीचों में तरह-तरह की सब्जियाँ और फल उपजाए जाते थे। दजला और फरात नदी की घाटियों की उर्वरता का पूरा फायदा प्राचीन बैबिलोनिया के लोगों ने उठाया। उस जमाने में सिंचाई का भी समुचित प्रबंध था। वहाँ बहुत-सी नहरें भी बनायी गई थीं। प्राचीन बैबिलोनिया के प्रायः सभी राजा कृषि के विकास में काफी दिलचस्पी लेते थे; क्योंकि वे जानते थे कि राज्य की समृद्धि खेती पर ही निर्भर है। इसी कारण इन्होंने भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए सिंचाई की सुविधाओं को दिनों-दिन बढ़ाया। नहरें काफी संख्या में बनायी गईं। नियमित रूप से नहरों की देखभाल और सफाई होती थी। बैबिलोनिया के प्रथम राजवंश के करीब-करीब सभी राजाओं ने नई नहरें खुदवायीं और पुरानी नहरों की मरम्मत करवायी। इन नहरों के द्वारा यातायात की भी सुविधा बढ़ गई। खास कर नावों से सेना एक जगह से दूसरी जगह ले जायी जा सकती थी। नहरों की देखभाल करना गवर्नरों का काम था। गवर्नर को यह अधिकार प्राप्त था कि वह आसपास के गाँववालों को नहरों की मरम्मत करने के लिए बाध्य करे। ऐसी सेवाओं के बदले नहरों के किनारे स्थित गाँवों को कुछ खास सुविधाएँ प्राप्त थीं। उदाहरण के लिए इन गाँवों के लोग नहरों में बिना कोई टैक्स दिए मछली मार सकते थे। बड़ी-बड़ी नहरें दजला और फरात जैसी बड़ी नदियों से

निकाली गई थीं। फरात नदी नहरों के निर्माण के लिए अधिक उपयुक्त थीं; क्योंकि इसका तट काफी नीचा था। नहरों का निर्माण इस बात का सबूत है कि प्राचीन बैबिलोनिया के लोग अभियांत्रिकी अथवा इंजीनियरिंग की कुछ प्रमुख बातें जैसे सर्वेक्षण, जमीन को बराबर करना और नक्शे बनाने आदि की कला से परिचित थे। हम्मूराबी ने स्वयं कई बड़ी नहरों को बनवाया था, जिनमें सबसे प्रसिद्ध नहर का नाम नहर-हम्मूराबी था। नहर-हम्मूराबी को सुमेर और अक्कड़ की संपत्ति माना जाता था। ये नहरें मुख्यतया सिंचाई के लिए बनायी गईं, पर इनसे यातायात की सुविधा बढ़ी और वाणिज्य-व्यापार का भी विकास हुआ।

खेतों की जुताई हलों और बैलों से होती थी। हम्मूराबी के कानून में हलों और बैलों को किराए पर ले जाने की दर भी निश्चित थी। इस कानून में छोटे-छोटे खेतिहरों के अधिकारों की रक्षा की गई थी। फसल काटने और दाँवने का काम जानवरों की सहायता से किया जाता था। खेती में काम करने वाले मजदूरों की मजदूरी भी प्रत्येक ऋतु के अनुसार हम्मूराबी के कानून में नियत कर दी गई थी। इस प्रकार खेती पर पूरा ध्यान दिया जाता था और उसे राष्ट्रीय समृद्धि की आधार-शिला माना जाता था।

बैबिलोनिया के कुछ शहर विकसित उद्योग-धंधों के केंद्र थे। इन उद्योग-धंधों में जिन औजारों का प्रयोग किया जाता था, वे पुरानी किस्म के और भद्दे थे, पर धीरे-धीरे उनमें विकास होने लगा। प्रारंभ में ये औजार हड्डियों और पत्थरों के बने होते थे, बाद में, ताँबे का प्रयोग भी इन औजारों के बनाने में होने लगा। २५०० ई०-पू० से काँसे का प्रयोग भी औजारों के निर्माण में होने लगा। इस युग में बैबिलोनिया के लोग कुम्हार के चक्के से बर्तन बनाना जानते थे। बैबिलोनिया के इतिहास में पत्थरों के प्रयोग से धातुओं तक के प्रयोग का संक्रमण काल आकस्मिक नहीं था, बल्कि धीरे-धीरे उन लोगों ने पत्थरों के प्रयोग से धातुओं के प्रयोग की ओर कदम बढ़ाया। बैबिलोनिया का सबसे बड़ा उद्योग गृहों और नहरों आदि का निर्माण था। बैबिलोनिया में सबसे पहले घर सरकंडे और मिट्टी के बने होते थे। बाद में आयताकार ईंटों का प्रयोग मंदिरों के निर्माण में होने लगा। ये ईंटें मिट्टी की बनायी जाती थीं। दीवारों पर चूने और मिट्टी की पलस्तर की जाती थी। चूँकि ईंधन का अभाव था, इसलिए पकायी हुई ईंटें महंगी पड़ती थीं। लकड़ी और पत्थरों का प्रयोग इमारतें बनाने में बहुत कम होता था; क्योंकि ये दोनों चीजें प्रचुर मात्रा में बैबिलोनिया में नहीं पायी जाती थीं। वास्तव में, पत्थर और लकड़ी को दूसरे देशों से मँगाया जाता था।

हम्मूराबी के कानूनों में मजदूरों और कारीगरों की दैनिक मजदूरी नियत कर दी गई थी। बैबिलोनिया के लोग नावों के निर्माण में भी काफी कुशल थे।

वे विभिन्न प्रकार की नावों का प्रयोग करते थे। नावों का प्रयोग मुसाफिरों और माल के यातायात में किया जाता था। व्यापार की प्रमुख वस्तुएँ थीं—अनाज, ऊन, खजूर, लकड़ी और बेशकीमती पत्थर आदि। मल्लाहों और नाविकों का वर्ग बैबिलोनिया के समाज का प्रमुख वर्ग था।

व्यापार और वाणिज्य

प्राचीन बैबिलोनिया के लोगों की व्यापार-वाणिज्य में काफी दिलचस्पी थी। खासकर बैबिलोनिया के प्रथम राजवंश से ही व्यापार-वाणिज्य की तरक्की होने लगी। नहरों का विकास बहुत अंश में व्यापार-वाणिज्य की उन्नति के कारण ही हुआ। चूँकि बैबिलोनिया में लकड़ी और पत्थर नहीं मिलते थे, इसलिए बाहर से आयात के हेतु व्यापार में यहाँ के लोगों की स्वाभाविक अभिरुचि हुई। अत्यन्त प्राचीन काल से बैबिलोनिया और एलम में व्यापारिक सम्बन्ध थे। हम्मूराबी की विजय से व्यापारिक सम्बन्ध के नए रास्ते खुल गए। बैबिलोनिया में मिट्टी के वर्तन बहुत ही सुन्दर बनाए जाते थे। इन सुन्दर मिट्टी के बर्तनों की माँग पश्चिमी एशिया के पड़ोसी देशों में बहुत अधिक थी। इन मिट्टी के बर्तनों की माँग ने भी बैबिलोनिया के वाणिज्य को आगे बढ़ाया। इसके अलावे बहुत-सी वस्तुओं का आयात किया जाता था। जिन वस्तुओं का आयात किया जाता था, वे निम्नलिखित हैं—आर्मीनिया से ताँबा, सीरिया और ईरान से टिन, एलम से चाँदी, अनातोलिया, सीरिया और एलम से सोना, फरात नदी की ऊपरी घाटी से चूने का पत्थर, सीरिया, अरब और ईरान से ऊन, मिस्र और अरब से सूती कपड़े, सीरिया से तेल और शराब तथा भारतवर्ष से कई प्रकार के रंग एवं मसाले। इन वस्तुओं की सूची से पता चलता है कि प्राचीन बैबिलोनिया का विदेशों से गहरा सम्बन्ध था। बैबिलोनिया से जो सामान निर्यात किए जाते थे, उनकी सूची इस प्रकार है—मिट्टी के सुन्दर वर्त्तन, विभिन्न प्रकार के हथियार, सूती कपड़े, औजार, सुगन्धित द्रव्य; गहने और बहुमूल्य जवाहरात तथा चमड़े के सामान। बैबिलोनिया के समाज में व्यापारी वर्ग का बड़ा महत्त्व था। इन लोगों का अपना संगठन था, जिसे हम श्रेणी (Guild) कह सकते हैं। व्यापारी लोग समाज के ऊँचे वर्ग में माने जाते थे और काफी प्रभावशाली थे। एक बड़ा व्यापारी स्वयं व्यापार नहीं करता था। वह अपने प्रतिनिधियों को नियुक्त करता था, जो उसकी ओर से व्यापार किया करते थे। इस व्यापार को चलाने के लिए व्यापारी और उनके प्रतिनिधियों में लिखित इकरारनामे होते थे। इस इकरारनामे में सभी शर्तें साफ-साफ लिखी रहती थीं। सामानों का विनिमय भी लिखित इकरारनामों के आधार पर होता था। युद्ध के सामानों की अदला-बदली भी लिखित इकरारनामे के द्वारा होती थी। सामानों की अदला-बदली में किसी पक्ष को नुकसान न हो, इसके लिए नियम बना दिए गए थे।

प्राचीन बैबिलोनिया में सामानों को किराए पर चलाए जाने की प्रथा प्रचलित थी। हम्मूराबी के कानूनों में किराए पर चलायी जाने वाली वस्तुओं की दर निश्चित कर दी गई थी। निश्चित रकम देने पर नावें, जानवर, घर, गुलाम, मजदूर इत्यादि भाड़े पर चलाए जा सकते थे। यदि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के दास को भाड़े पर ले आता, तो उस दास की रक्षा और उसकी निगरानी की जिम्मेदारी उसी व्यक्ति पर होती। यदि उस समय वह दास भाग जाता या बीमार पड़ जाता या थोड़े दिनों के लिए भी शरीर से अशक्त हो जाता, तो इन सभी परिस्थितियों में जिम्मेदारी उसी व्यक्ति की होती और किसी प्रकार के नुकसान के लिए उस व्यक्ति को हरजाना देना पड़ता था। यह हरजाना उस दास के वास्तविक स्वामी को दिया जाता था।

ऋण के बारे में भी प्राचीन बैबिलोनिया में सुनिश्चित कानून बनाए गए थे। मूलधन पर सूद ली जाती थी। प्राचीन बैबिलोनिया में सूद को (Sibtu) कहते थे। हम्मूराबी के कानूनों के अनुसार किसी ऋण पर सूद लेने के लिए लिखित इकरारनामे का होना आवश्यक था और इस प्रकार का इकरारनामा किसी राजकीय अफसर के सामने लिखा जाना चाहिए। ऐसे महाजनों को, जो रुपए की लेन-देन में बेईमानी करते थे, दंडित करने के लिए भी नियम बनाए गए थे। पर, दुर्भाग्यवश ऐसे कानूनों का पूरा ब्यौरा हमें नहीं मिलता। पर, इतना हम कह सकते हैं कि महाजनों के अत्याचार के विरुद्ध कर्ज लेने वालों की रक्षा की गई थी। कानून के द्वारा ऋण देने वालों के अधिकारों की रक्षा की गई थी। इसी प्रकार संपत्ति को बन्धक रखने के लिए भी नियम बनाए गए थे। किसी भी प्रकार की संपत्ति बन्धक रखी जा सकती थी, जैसे भू-संपत्ति, घर, घरेलू बर्तन, बाग-बगीचे, दास वगैरह। यहाँ तक कि बच्चे और पत्नी को भी बंधक रखा जा सकता था। कर्ज लेने वाला व्यक्ति यदि निश्चित समय के अन्दर कर्ज नहीं चुका पाता, तो उसे दास बना दिया जाता था। इस विषय में यह ध्यान रखने की बात है कि प्राचीन बैबिलोनिया में फारस के आक्रमण के समय तक सिक्कों का प्रचलन नहीं था। प्राचीन काल में जौ ही विनिमय का माध्यम था। ३००० ई०-पू० से ताँबे और चाँदी के छोटे-छोटे टुकड़ों का विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग होने लगा। पर, जौ का प्रयोग विनिमय में चलता रहा। बाद में भी चाँदी और जौ दोनों ही कारोंबार में विनिमय के मुख्य माध्यम बने रहे। समय-समय पर इन दोनों की प्रधानता में कमीवेशी होती रही। हम्मूराबी के जमाने में राजकीय अफसरों की तनख्वाह जौ के रूप में ही दी जाती थी और कारीगरों की मजदूरी चाँदी के टुकड़ों के माध्यम से दी जाती थी। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि जौ चाँदी से अधिक महत्त्वपूर्ण था। बाद में, सोने का प्रयोग भी होने लगा, लेकिन सोना, चाँदी की

तुलना में कम महत्त्वपूर्ण माना जाता था और जौ सोने तथा चाँदी दोनों से अधिक मूल्यवान समझा जाता था।

प्राचीन बैबिलोनिया के शहरों का जीवन

प्राचीन बैबिलोनिया के शहरों का जीवन ऊँचे स्तर का और शालीन था। शहरों की सड़कें काफी साफ-सुथरी रखी जाती थीं। तत्कालीन शासन-व्यवस्था इस बात का ध्यान रखती थी कि शहरों के मकान मजबूती से बनाए जाएँ और उनकी मरम्मत नियमित ढंग से होती रहे। मकानों की नींव में पकायी हुई ईंटों का प्रयोग होता था। हम देख चुके हैं कि ईंधन के अभाव में पकायी हुई ईंटें काफी महँगी पड़ती थीं। इसलिए नींव के अलावा मकानों के अन्य भाग में धूप में सुखायी हुई ईंटों का प्रयोग होता था। अधिकतर मकान एक मंजिल के होते थे। मकानों की छत मिट्टी की बनायी जाती थी। ऐसा पता चला है कि हम्मूराबी के पहले मकान मजबूत नहीं बनाए जाते थे। इसलिए हम्मूराबी ने मकानों को बनाने के लिए निश्चित कानून बना दिए। उसके कानून में ऐसे मकान वालों पर, जो मकान दो-चार साल में ढह जाते थे, कठोर दंड निश्चित किए गए। हम यह कह सकते हैं कि हम्मूराबी के समय से ही नगरों को योजनाबद्ध ढंग से बसाने और बनाने का काम शुरू हुआ। नगर-निर्माण की सुन्दर योजनाएँ बनायी जाने लगीं, जिसमें सड़कें एक दूसरे को समकोण पर काटने लगीं। घर वर्गाकार रूप में बनाए जाने लगे। अधिकतर घर एक मंजिल के थे। इन घरों में आँगन भी होता था, जिसके चारों ओर कमरे बने होते थे। कमरों में पलंग-कुर्सियाँ आदि रखी रहती थीं। साधारण लोगों के मकान अधिकतर मिट्टी और सरकंडे के बने होते थे। धनी लोगों के मकान में तहखाने भी होते थे, जहाँ ग्रीष्मऋतु की भयानक गर्मियों में वे आराम करते थे। बहुत लोग गर्मियों की रातों में छतों पर सोया करते थे। मकानों की खिड़कियों में लकड़ियों के कपाट लगे रहते थे। रोशनी के लिए तेल के चिराग जलाए जाते थे। शहर की बड़ी-बड़ी सड़कों पर भी रोशनी का प्रबन्ध था। यह रोशनी तेल के मशालों से की जाती थी। पानी के निकास के लिए नालियों का भी प्रबंध था। पीने का पानी नदियों और कुँओं से प्राप्त होता था। पीने के पहले लोग पानी छान लिया करते थे।

जलावन के लिए गोबर के उपले और सरकंडे का प्रयोग होता था। घरेलू वर्तन बहुत-ही कम और सीधे-सादे थे। कुछ खाना बनाने का सामान, प्याले, तश्तरियों और चमचों से उनका काम चल जाता था। उनकी वेश-भूषा भी सीधी-सादी थी और बहुत कपड़ों का प्रयोग वे नहीं करते थे। प्राचीन स्मारकों में जो मूर्तियों हमें मिली हैं, उनसे पता चलता है कि उनके देवताओं की मूर्तियों में शिरस्त्राण का प्रयोग होता था। इनके देवताओं की मूर्तियों में एक टोपी पहनायी गई है, जिसमें आगे जानवरों के सींग लगे हैं। प्राचीन सुमेर और अक्कड़ के निवासी अधिकतर कमर

में एक शाल लपेट लिया करते थे; जो एक घाँघरे की तरह पैरों के पंजों तक लटकता रहता था। सबसे प्रचलित पोशाक थी, एक घाँघरेनुमा निचला वस्त्र और कुरते से मिलता-जुलता ऊपरी वस्त्र। निचले वस्त्र को कमर में चमड़े की पट्टी या किसी कपड़े के टुकड़े से बाँधा जाता था। धनी लोग नीचे कशीदा काढ़ा हुआ घांघरेनुमा वस्त्र और ऊपर एक लंबा कुरतेनुमा पोशाक पहनते थे। धनी वर्ग की प्रायः सभी स्त्रियाँ घूँघट और गहनों का प्रयोग करती थीं। वे अपने नाखूनों और कभी-कभी अपने बालों को भी रँगा करती थीं। वे सुगंधित द्रव्यों, कई प्रकार के उबटनों और तेलों का प्रयोग करती थीं। उनकी बाँहों में बहुत भारी कंगन पहनाए जाते थे। अत्यंत प्राचीनकाल में स्त्री-पुरुष दोनों ही बिना जूते के बाहर घूमा करते थे, लेकिन बाद में धनी-वर्ग के लोग चप्पलों का प्रयोग करने लगे।

उनके आमोद-प्रमोद और मनोरंजन के साधन भी कई प्रकार के थे। प्राचीन बैबिलोनिया के मंदिर केवल धार्मिक उपासना के केन्द्र ही नहीं थे, बल्कि वे लोगों के मनोरंजन के भी केन्द्र थे। इन मंदिरों में स्थानीय गायकों को अपनी कला से लोगों का मनोरंजन करने का अवसर प्राप्त होता था। इन मंदिरों में समूह-गान और लोक-नृत्य भी हुआ करते थे। यहाँ नगाड़े और अन्य संगीत के वाद्य-यंत्र बजाए जाते थे। कई प्रकार के कहानी कहने वाले प्रेम और साहस-भरी कहानियों से लोगों का दिलबहलाव करते थे। मेलों के अवसर पर लोग काफी संख्या में उपस्थित हो कर एक-दूसरे से मिलते-जुलते और विभिन्न साधनों से अपना मनोरंजन करते थे।

प्राचीन बैबिलोनिया में लेखन-कला का विकास

सुमेर में अत्यंत प्राचीनकाल में ही लेखन-कला का विकास हो गया था। हम यह कह सकते हैं कि लगभग ३५०० ई०-पू० में ही अक्कड़ नगर के उदय के साथ-साथ लेखन-कला का विकास हो गया था। करीब २७०० ई०-पू० में ही इस लेखन-कला को एक सुनिश्चत रूप प्राप्त हो चुका था। इस लेखन-कला के विषय में हमारा ज्ञान मिट्टी की तख्तियों पर पाए हुए लेखों से मिलता है और इस लिपि को कीलाकार लिपि कहते हैं। प्रारंभ में यह लिपि एक तरह की चित्रलिपि थी, जिसमें विभिन्न संकेतों और प्रतीकों से शब्दों और अक्षरों का ज्ञान कराया जाता था। कभी-कभी दो संकेतों अथवा दो प्रतीकों को मिलाकर एक शब्द बनाया जाता था। प्राचीन बैबिलोनिया के जीवन में लिखित इकरारनामों का बहुत महत्त्व था, इसलिए लिपि का विकास वहाँ द्रुत गति से हुआ। हम देख चुके हैं कि प्राचीन बैबिलोनिया में जब तक कोई भी इकरारनामा लिखित नहीं होता, उसका कोई भी कानूनी महत्त्व नहीं होता था, इसलिए लिखित दस्तावेजों की महत्ता बहुत बढ़ गई। इसी कारण लिखने की कला का भी महत्त्व बढ़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि लिखने का काम एक सुनिश्चित पेशे के रूप में विकसित हो गया। कुछ लोग नियमित रूप से पेशेवर लिपिकों या कातिबों का काम करने लगे। इनमें से कुछ लोगों को समाज और

प्रशासन में काफी सम्मान प्राप्त था। असीरिया के राजा अशुर-बनिपाल ने बड़े गर्व से अपने-आप को एक सफल लिपिक घोषित किया था।

बैबिलोनिया के मंदिरों के द्वारा भी लेखन-कला का विकास हुआ। पुरोहित वर्ग ने भी इस विकास में काफी योगदान किया। लेखन-कला के अध्ययन और अभ्यास के लिए बहुत-से मंदिरों में पाठशालाएँ थीं। पाठशालाओं में पढ़ने और मिट्टी पर लिपि को लिखने का अभ्यास कराया जाता था। विद्यार्थियों को सर्वप्रथम संकेतों और प्रतीकों की नकल करना सिखाया जाता था। धीरे-धीरे वे कठिन शब्दों को लिखने में समर्थ हो जाते थे। किसी लिपिक की दक्षता और निपुणता की सफलता तब मानी जाती थी, जब वह द्रुत गति से और शुद्ध रूप से श्रुतलेखन कर सकता था। लिपिक वर्ग अपने पेशे में गर्व अनुभव करता था। चूँकि लिपिक का काम बहुत कम लोग कर सकते थे, इसलिए तत्कालीन समाज में इस वर्ग को काफी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। जो व्यक्ति पढ़ना-लिखना जानता था, उसकी प्रतिष्ठा एक न्यायाधीश अथवा एक मंदिर के प्रधान पुरोहित के अनुरूप थी। यदि कोई व्यक्ति पढ़ना-लिखना जानता, तो वह अपने संबंधी लेखों में इस बात की चर्चा अवश्य करता और यह बात तत्कालीन मिट्टी की गोल मुहरों पर खोद कर लिख दी जाती थी।

लिपिकों की संख्या काफी थी। इसलिए उन लोगों ने अपना एक वर्ग बना लिया था। अधिकतर ये लिपिक मंदिरों से संबद्ध होते थे। बैबिलोनिया के युवक लिपिक होने की महत्त्वाकांक्षा रखते थे; क्योंकि वह पद काफी सम्मानित था। इस विषय में यह भी ध्यान देने की बात है कि यहाँ की लिपि का कोई स्थिर और निश्चित रूप नहीं था। इसमें क्रमशः विकास होता रहता था और परिवर्तन भी होते रहते थे। यहाँ तक कि एक युग में विभिन्न स्थानों पर इस लिपि के विभिन्न रूप प्रचलित थे।

बैबिलोनिया के लिपिकों ने साहित्य के विकास में भी काफी योगदान किया। ये लिपिक केवल इकरारनामे, दस्तावेज या चिट्ठियाँ ही नहीं लिखा करते थे, बल्कि ये समय-समय पर महत्त्वपूर्ण कहानियाँ और आख्यान भी शब्दबद्ध करते थे। ये लोग पौराणिक कथाओं, धार्मिक उपासना के नियमों, मंत्रों और प्रार्थनाओं की भी नकल किया करते थे। इस दृष्टि से भी इन लोगों ने प्राचीन बैबिलोनिया के विकास और रक्षा में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। हमें ऐसे प्रमाण मिले हैं कि बहुत-से लिपिक, बहुत उच्च कोटि के कवि, लेखक और न्यायशास्त्री भी हुए। इस प्रकार यहाँ के बौद्धिक जीवन के विकास में लिपिक वर्ग का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा।

विश्व-सभ्यता के इतिहास में बैबिलोनिया की सभ्यता का स्थान

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में प्राचीन बैबिलोनिया की सभ्यता का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह सभ्यता कई सौ वर्षों तक जीवित रही और इसने बाद की

सभ्यताओं को बहुत कारगर ढंग से प्रभावित किया। यदि यह कहा जाय कि फारस और यूनान की सभ्यताओं पर बैबिलोनिया की सभ्यता ने अपनी अमिट छाप छोड़ी, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। बैबिलोनिया के लोगों ने जो आविष्कार और अनुसंधान किए, वे आज तक जीवित हैं। उन लोगों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मानव जाति का मार्ग-दर्शन किया। उनके विभिन्न आविष्कारों से मानव जाति को बहुत सहायता मिली। कृषि, वाणिज्य, घर बनाने की कला तथा धार्मिक क्षेत्र में उनके अनुसंधान और विचार मौलिक रहे। धार्मिक जीवन में पुरोहित वर्ग का जो महत्त्व उनके यहाँ था, उसने बाद में हिब्रू जाति को प्रभावित किया और परोक्ष रूप से यूरोप के इतिहास को भी प्रभावित किया। इन लोगों की पौराणिक कथाओं को बाद में यहूदियों और ईसाइयों ने अपना लिया। इन लोगों ने जिस कानून की व्यवस्था को विकसित किया, उसका मानव जाति के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी पराजय और राजनैतिक पराधीनता के काल में भी यहाँ की सभ्यता जीवंत और प्रभावशाली बनी रही। इस सभ्यता ने अपने विजेताओं को भी प्रभावित किया और उन पर अपना गहरा रंग चढ़ा दिया। हम देख चुके हैं कि वर्बर कस्साइट जाति के काल में भी बैबिलोनिया की सभ्यता और संस्कृति ने न केवल कस्साइट जाति को प्रभावित किया, बल्कि पूरे दक्षिणी-पश्चिमी एशिया पर अपना प्रभाव डाला। यहाँ से इस सभ्यता और संस्कृति का प्रसार सीरिया तथा एशिया माइनर में हुआ। पैलेस्टाइन में इसने अपना प्रभाव डाला और इसका प्रभावक्षेत्र मिस्र तक बढ़ गया। विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि सिंधु घाटी की सभ्यता पर भी बैबिलोनिया की सभ्यता का प्रभाव था। प्राचीन यूनान की सभ्यता को समझने के लिए भी प्राचीन सुमेर और बैबिलोनिया की सभ्यता के प्रभाव को जानना आवश्यक है, बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बाद में यूरोप में जिस सभ्यता का विकास हुआ, उस पर भी बैबिलोनिया की सभ्यता का अमिट प्रभाव है।

अपनी समकालीन सभ्यताओं पर बैबिलोनिया की सभ्यता का गहरा प्रभाव था। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बैबिलोनिया के लोगों ने कई विदेशी जातियों को बहुत कुछ सिखलाया। उदाहरण के लिए गणित-ज्योतिष का विकास बैबिलोनिया में हुआ। छह संख्या में दस का गुणा करके उन लोगों ने जो समय का विभाजन किया, उसी के आधार पर हमारी घड़ियाँ आज तक बनायी जाती हैं। बैबिलोनिया के नए राजवंश के समय यहूदी जाति का सीधा सम्पर्क बैबिलोनिया की सभ्यता से हुआ और इस संपर्क से यहूदी जाति का धार्मिक साहित्य समृद्ध हुआ। विद्वान् यह भी मानते हैं कि अपने इतिहास के प्रारंभिक काल में ही यहाँ की सभ्यता का प्रसार भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों में हो गया था। इस संपर्क से यहूदियों के धर्म और यूनानी पौराणिक आख्यानों का विकास हुआ। दूसरे शब्दों में यहूदी

धर्म तथा यूनानी पौराणिक आख्यानों को समझने के लिए प्राचीन बैबिलोनिया के प्रभाव को समझना आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि बैबिलोनिया की पौराणिक कथाओं के तंमुज और इश्तर के आधार पर ही यूनान में एडोनिस और अफोडाइट की कथाओं का विकास हुआ। इसी प्रकार दूसरी कथाओं में भी बैबिलोनिया का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

प्राचीन बैबिलोनिया के लोग यह मानते थे कि यह ब्रह्मांड तीन भागों में विभक्त है। पहला स्वर्ग, दूसरा पृथ्वी और तीसरा भाग पृथ्वी के नीचे का जल है। इस कल्पना को उन्होंने आगे बढ़ाया और इन तीनों भागों को पुनः तीन भागों में विभक्त किया। दूसरे शब्दों में आकाश, पृथ्वी, और जल के भी तीन भाग हुए। बैबिलोनिया की सभ्यता के उत्तरकाल में बड़े देवताओं का ग्रह से एकीकरण कर दिया गया और छोटे देवताओं को सितारों के साथ। ऐसा माना जाता था कि प्रत्येक देवता का निवास पृथ्वी के मंदिर में तो है ही, साथ ही स्वर्ग में भी उसका निवासस्थान है। उन लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि सितारों की गति से पृथ्वी की घटनाएँ प्रभावित होती हैं। इसलिए बैबिलोनिया निस्संदेह फलित-ज्योतिष के विकास का भी केंद्र था। वास्तव में प्राचीन बैबिलोनिया का धर्म बहुत अंशों में ग्रहों और सितारों की पूजा पर आधारित था। उनके साहित्य में भी ग्रहों और सितारों का बहुत महत्त्व था। उनके जो धार्मिक केंद्र थे, वे सूर्य-पूजा या चंद्र-पूजा के केंद्र थे और उनके धर्म में प्रकृति के अन्य रूपों की भी पूजा होती थी। इन ग्रहों और सितारों की पूजा का प्रभाव कई प्राचीन सभ्यताओं पर पड़ा। उन लोगों ने जो विश्व की कल्पना की, उसका सबसे अधिक प्रभाव यहूदियों पर पड़ा। उनका प्रभाव सीरिया के धर्म और ईसाई धर्म पर भी पड़ा। इस प्रकार इसमें संदेह नहीं कि बैबिलोनिया के धार्मिक विश्वास और उनके वैज्ञानिक अनुसंधान, व्यापारिक कार्यों के द्वारा यूनान तक पहुँचे और यूनान के द्वारा यूरोप की संस्कृति को भी प्रभावित किया।

यूनानी भाषा के विकास में भी बहुत से विद्वानों ने सुमेर और अक्कड़ की भाषा का प्रभाव दिखलाया है। इसी प्रकार यूनानी वास्तुकला पर भी बैबिलोनिया का प्रभाव दीख पड़ता है। इसी प्रकार साहित्य, साहित्यक शैलियाँ और लोक-कथाएँ, जो यूनान और भू-मध्यसागर के अन्य देशों में प्रचलित हुईं, उन पर भी बैबिलोनिया के साहित्य का प्रभाव दीख पड़ता है। इसलिए इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन बैबिलोनिया की सभ्यता एक जीवंत सभ्यता थी, जिसने बाद में यूनान और रोम के द्वारा यूरोपीय सभ्यता को प्रभावित किया तथा अरबों के माध्यम से मुस्लिम सभ्यता पर भी अपनी अमिट छाप छोड़ी। अतः, इन्हीं विशेषताओं के कारण प्राचीन विश्व की सभ्यताओं में बैबिलोनिया की सभ्यता को प्रमुख स्थान प्राप्त है।

*

५. प्राचीन असीरिया की सभ्यता

प्राचीनकाल में दजला नदी की ऊपरी घाटी के प्रदेश को 'असीरिया' कहा जाता था। आजकल यह प्रदेश ईराक देश का हिस्सा है। यह पहाड़ियों से घिरा हुआ एक उपजाऊ प्रदेश था। इसके पूरब के जेग्रोस के पहाड़ और मिड् लोगों का राज्य, उत्तर में आमीनिया का प्रदेश और कृष्णसागर, दक्षिण में बैबिलोनिया तथा पच्छिम में हिट्टाइट लोगों का राज्य एवं फरात नदी थी। चूँकि इस प्रदेश से होकर व्यापारिक मार्ग बैबिलोनिया के उत्तर की ओर आमीनिया की ओर जाते थे, इसलिए इस प्रदेश पर अधिकार करने के लिए सदैव युद्ध होते रहते थे। इन युद्धों ने यहाँ के निवासियों को युद्धप्रेमी तथा क्रूर बना दिया था। यहाँ के लोगों का मुख्य पेशा भेंडे पालना, खेती करना तथा युद्ध करना ही था।

हम्मूरावी के काल तक असीरिया वैबिलोनिया का एक सांस्कृतिक उपनिवेश था। असीरिया की संस्कृति वैबिलोनिया की संस्कृति का ही एक प्रसार एवं पुनर्ग्रहण थी। असीरिया का भाषा अक्कड़ की भाषा की ही तरह थी तथा उसी लिपि में लिखी भी जाती थी। असीरिया के लोग वैबिलोन का साहित्य पढ़ते, जादू का प्रयोग करते तथा वहाँ के देवी-देवताओं की पूजा भी करते थे। वाद में असीरिया के लोगों ने सुमेर एवं बैबिलोन की सभ्यता को अपनी प्रतिभा से समृद्ध भी किया, पर उनका योगदान विशेषत: सैनिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा।

प्राचीनकाल में असीरिया का स्वतंत्र विकास पच्छिम में मित्तानी और हिट्टाइट तथा दक्षिण में बैबिलोन एवं एलम के राज्यों के प्रसार के कारण रुका रहा। बैबिलोन में कस्साइट वंश के पतन तथा मिस्री एवं हिट्टाइट साम्राज्यों के पराभव के पश्चात् असीरिया को स्वतंत्र रूप से विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। धीरे-धीरे असीरिया का साम्राज्य प्राचीन विश्व के शक्तिशाली तथा विशाल साम्राज्यों की श्रेणी में आ गया। यह साम्राज्य पूरब में मीडिया से पच्छिम में एशिया माइनर के हेलिस नदी तक तथा उत्तर में आर्मेनिया से दक्षिण में अरब के रेगिस्तानों और दक्षिण-पश्चिम में मिस्र तक फैल गया।

यह विजय सैनिकतंत्र की दक्षता तथा कुशलता एवं राष्ट्रीय भावना, एकता और कुशल सेनापतियों के नेतृत्व के कारण संभव हुई। विजित प्रदेशों में आतंक

उत्पन्न करने के लिए असीरिया के विजेताओं ने अपने विजित शत्रुओं के साथ अत्यंत क्रूरता तथा निर्दयता के साथ अमानुषिक व्यवहार किया, जिसके कारण वे प्राचीन विश्व के इतिहास में अपनी क्रूरता के लिए कुख्यात हो गए। इस कुख्याति के दो कारण थे। एक तो वे लोग नियमित रूप से लड़ाई के बाद पराजित शत्रुओं पर अमानुषिक अत्याचार करते थे, ताकि उनके भावी शत्रु बिना युद्ध किए ही आत्मसमर्पण कर दें। दूसरा कारण यह था कि वे इन क्रूर अत्याचारों को शिलालेखों में खुदवा कर भावी शत्रुओं को आतंकित करने के लिए स्वयं अपनी निर्दयता का ढिंढोरा पीटते थे। इसी स तत्कालीन इतिहास में अपने क्रूर अत्याचारों के लिए वे बदनाम हो गए। अपने साम्राज्य के विनष्ट होने के बाद भी अपने अमानुषिक अत्याचारों के लिए ये लोग आसपास के देशों में कुख्यात बने रहे।

असीरिया का संक्षिप्त राजनैतिक इतिहास

असीरिया के निवासी मुख्यतः सेमेटिक जाति के थे, जो रेगिस्तानों से आकर दजला नदी के पच्छिमी किनारे पर बस गए थे। यहीं इन लोगों ने पहला प्रसिद्ध नगर अशुर बसाया। बाद में, यहाँ हुर्रियन (Hurrian) तथा अरामियन (Aramean) जाति के लोग भी आकर बस गए और अंतर्जातीय विवाहों के कारण सभी मिल गए, तथापि असीरिया के निवासियों में सेमेटिक रक्त की प्रधानता बनी रही।

प्रारंभिक काल में असीरिया का प्रदेश सुमेर तथा बैबिलोन की सभ्यता का प्रभावक्षेत्र था। बैबिलोन पर कस्साइट आक्रमणों के काल में असीरिया के लोग सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली होने लगे। चौदहवीं शताब्दी ई०-पू० में यहाँ के सैनिकों ने मित्तानी राज्य के विनाश में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की तथा इस विनष्ट राज्य के अधिकांश भाग पर अधिकार स्थापित कर लिया। तेरहवीं शताब्दी में इन लोगों ने आसपास के राज्यों की गड़बड़ी से लाभ उठाकर उत्तर में हुर्री (Hurri) देश के बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर लिया तथा पच्छिम एवं दक्षिण में हिट्टाइट और कस्साइट लोगों पर आक्रमण कर उन्हें पराजित कर दिया। हिट्टाइट तथा मिस्री सेनाओं को दजला नदी के पच्छिम से हटाने के बाद इनकी सेना पच्छिमी एशिया की सबसे शक्तिशाली सेना बन गई। बारहवीं शताब्दी के अंत में इनका प्रथम शक्तिशाली राजा तिगलथ-पिलेसर प्रथम (Tiglath Pileser I) हुआ, जिसका समय ११०५ ई०-पूर्व माना जाता है। इस राजा के नेतृत्व में असीरिया के इतिहास में विजय एवं प्रसार के अभियान का श्रीगणेश हुआ। इसके राज्यकाल में असीरिया का राज्य दजला और फरात नदियों के मध्य में स्थित विस्तृत उत्तरी प्रदेश पर फैला हुआ था। इसने सीरिया पर भी आक्रमण किया था तथा मिस्र से राजनयिक

संबंध स्थापित किया था। इस योद्धा ने अपने पराक्रम से बैबिलोन, आमीनिया तथा हिट्टाइट लोगों को परास्त कर मिस्र तक अपनी शूरता एवं प्रभाव का सिक्का जमा दिया था। पर, इस प्रतापी राजा की मृत्यु से असीरिया के प्रसार की गति धीमी पड़ गई तथा दो सौ वर्षों तक यहाँ के इतिहास में अंधकार-युग बना रहा।

तिगलथ-पिलेसर के उत्तराधिकारियों ने विजित प्रदेशों से हाथ धो दिया। अरामियन जाति ने दमिश्क और अलेप्पो (Aleppo) पर अधिकार करके दजला नदी के उत्तरी भाग से भूमध्यसागर जाने वाले व्यापारिक मार्ग को बंद कर दिया। उत्तर में वान (Van) झील के प्रदेश में बसने वाली जातियों ने वान राज्य (Van Kingdom) स्थापित कर लिया। इस राज्य का पूरे आमीनिया पर अधिकार हो गया।

दसवीं शताब्दी से पुनः असीरिया ने अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाना शुरू किया। लोहे के हथियारों के आविष्कार से असीरिया में सैनिक शक्ति बढ़ाने में सहायता मिली। नौवीं शताब्दी के राजा अशुर-नसीरपाल (Ashur-nasirpal) के राज्यकाल से असीरिया की सैनिक विजयों के इतिहास का दूसरा युग प्रारंभ होता है। इस राजा ने ८८४ ई०-पू० से ८५९ ई०-पू० तक राज्य किया। इसने उत्तर में वान प्रदेश तथा पश्चिम में भूमध्यसागर तक विजय पताका फहरायी। यह अपनी क्रूरता से विजित प्रदेशों में आतंक फैला देता था। लूट-खसोट से इसे काफी संपत्ति और बहुत बड़ी संख्या में युद्धबंदी मिले।

इस राजा का उत्तराधिकारी शल्मानेसर तृतीय (Shalmaneser III) नामक राजा हुआ, जिसने ८५९ ई०-पूर्व से ८२४ ई० पूर्व तक राज्य किया। यह एक महान विजेता था तथा इसने अपना पूरा राज्यकाल सैनिक अभियानों में ही व्यतीत किया। इसने वान पर कई बार आक्रमण किए तथा बैबिलोन को पराजित करके उसे अपने अधीनस्थ राज्य बना दिया। इसने विजित प्रदेशों में वहीं के राजाओं को शासन चलाने का भार दिया तथा वह उससे सालाना कर वसूल करने लगा। यह दमिश्क पर अधिकार नहीं कर सका, पर टौरस (Taurus) तथा सिलिसिया (Cilicia) प्रदेश पर अधिकार करने में समर्थ रहा और इन दो प्रदेशों की खनिज संपत्ति से लाभ उठाकर इसने अपनी राजधानी अशुर नगर की श्रीवृद्धि करके तत्कालीन नगरों में एक गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया।

तिगलथ-पिलेसर तृतीय के राज्यकाल से असिरिया के प्रसार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण युग प्रारंभ होता है। इस राजा ने ७४५ ई०-पू० से ७२७ ई०-पू० तक राज्य किया। इसने पूर्ण रूप से एक अनुशासित सेना का निर्माण किया। इसकी सेना दो भागों में विभक्त थी। पहला भाग ऐसे निष्ठावान सैनिकों का था, जिन्होंने सैनिक सेवा को ही अपनी जीविका बना लिया था। दूसरा भाग नागरिक सेना

(National Militia) का था। घुड़सवार सेना के अतिरिक्त रथ सेना और भारी हथियारों से लैस पैदल सेना बनायी गई, जिसके पास लोहे के बनाए हथियार थे। हल्के हथियारों से भी लैस सेना तैयार की गयी जो तीर, धनुष और दूर से फेंके जानेवाले हथियारों का प्रयोग करती थी। सेना के कुछ भाग शत्रु की दीवारों तथा रक्षा-पंक्ति को तोड़ने में प्रशिक्षित थे। ये भारी हथियारों से दीवारों और फाटकों आदि को चकनाचूर कर डालते थे। कुछ सैनिक गाड़ियों पर पटरी बिछाकर आगे बढ़ते थे तथा आक्रमणकारियों का मुकाबला करते थे। सैनिकों को छोटी-छोटी टुकड़ियों में लड़ने के लिए संगठित किया गया था। मजबूत चहारदीवारी से घिरे शिविरों से शत्रु पर आक्रमण किया जाता था। तत्कालीन सैन्यप्रणाली का गहन अध्ययन करके सैनिक संगठन किया गया था।

बैबिलोनिया पर आक्रमण करके उसपर विजय प्राप्त की गयी तथा वान की सेना को निर्णायक ढंग से पराजित किया गया। ७३२ ई०-पू० में दमिश्क पर असीरिया का झंडा फहराया गया। दमिश्क के पतन के पश्चात् जुदा (Judah) के राजा अहाज (Ahaz) तथा इसरायल (Israel) के राजा होशिया (Hoshea) ने आत्मसमर्पण किया। इन दोनों राजाओं को अधीनस्थ शासक मानकर उनसे सालाना कर लिया जाने लगा। बाद में, इन राजाओं को प्रांतीय गवर्नर बना दिया गया तथा इनके अंतर्गत अन्य पदाधिकारियों को नियुक्त कर दिया गया, जिन्हें कर बसूलने और न्याय करने का भार दिया गया। इस साम्राज्यवादी शासन-प्रणाली को बाद में पारसी लोगों ने और विकसित किया। पर, इस शासन-प्रणाली को जन्म देने का श्रेय असीरिया को ही है।

तिगलथ-पिलेसर तृतीय की मृत्यु के कुछ दिनों बाद राजा सारगन द्वितीय (Sargon II) ने असीरिया में सारगोनी वंश की स्थापना की। सारगन द्वितीय ने ७२२ ई०-पू० से ७०५ ई०-पू० तक राज्य किया। इसके राज्य के प्रथम वर्ष में ही इसरायल की राजधानी पर अधिकार हो गया तथा यहाँ के तीस हजार निवासियों को विस्थापित करके साम्राज्य के भीतरी भागों में बसा दिया गया। इसरायल के साम्राज्य को एक प्रान्त बना दिया गया। ७२० ई०-पू० से सारगन द्वितीय का दक्षिणी पैलेस्टाइन में मिस्र के राजा की सेना से राफिया (Raphia) नामक स्थान पर मुकाबला हुआ। इन युद्ध में मिस्र की करारी हार हुई। मिस्र की सेना ने सारगन द्वितीय को कई उपहार भेंट किए, जिसे सारगन ने अधीनता स्वीकार करने का प्रमाण माना। इसके पश्चात् उसने अरब प्रायद्वीप के दक्षिण में स्थित यीमेन (Yemen) तक अपनी शक्ति को प्रदर्शित किया।

मिस्र को नीचा दिखाने के बाद सारगन द्वितीय ने बैबिलोनिया की विजय पर ध्यान दिया। यहाँ चाल्डियन वंश के राजा ने एलम के साथ संधि करके,

सारगन के आक्रमण का कुछ दिनों तक जमकर मुकाबला किया, पर सारगन द्वितीय ने बैबिलोन को चारों ओर से घेर कर उस पर अधिकार कर लिया तथा एलम को भी निर्णायक ढंग से पराजित कर दिया।

सारगन द्वितीय ने ही साम्राज्य की नई राजधानो निनेवे नामक नगर में बनायी, जो दर-शरुकिन अथवा खोरसाबाद के पास स्थित था। उसने इस नगर के निर्माण तथा सजावट पर काफी पैसे खर्च किए। राजमहल तथा पुस्तकालय का निर्माण बहुत शौक से किया गया। उसके संस्थापक के सम्मान में नगर का नाम दर-शरुकिन (Dur-Sharrukin) अर्थात् सारगन या 'शरुकिन का नगर' रखा गया। पर, उसके उत्तराधिकारियों ने इस नगर को राजधानी के रूप में व्यवहार करना छोड़ दिया।

इस नगर से ही सुनियोजित अभियानों के द्वारा उसने देश के उत्तर में बसने वाली बर्बर जातियों को पराजित किया। वान प्रदेश में रहनेवाली जातियों से असीरिया की पुरानी शत्रुता थी। इन्हें पराजित करने के बाद सारगन ने एक नई बर्बर जाति सिमेरियन (Cimmerian) को पराजित किया। असीरिया के उत्तर में बसनेवाली इस जाति ने पश्चिमी एशिया में अपनी लूटमार से आतंक फैला रखा था। इन लोगों ने एशिया माइनर में बसनेवाले यूनानियों को तबाह कर रखा था। इस जाति को पराजित कर सारगन ने इनकी रीढ़ तोड़ दी। इन बर्बर जातियों की लूट-खसोट से अपने राज्य की उत्तरी सीमाओं को सुरक्षित करना सारगन की बहुत बड़ी सफलता थी। उसकी मृत्यु इन उत्तरी प्रान्तों की रक्षा में ही हुई। पर, मृत्यु के साथ-साथ वह अपने उद्देश्य में सफल हो चुका था।

सारगन द्वितीय निस्सन्देह असीरिया का एक महान विजेता और शासक था। अवसर एवं आवश्यकता के अनुसार उसकी नीतियों में क्रूरता और उदारता का अनोखा सम्मिश्रण था। रोमन सम्राट की तरह उसके विजय-अभियान राज्य की सुरक्षा के लिए ही संपन्न किये गए।

सेन्नाचरीब (७०५ ई०-पू०-६८१ ई०-पू०)

सारगन द्वितीय के बाद उसका पुत्र सेन्नाचरीब गद्दी पर बैठा। अपने पिता के नेतृत्व में उसे शासन एवं युद्धों का बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हो चुका था। सारगन द्वितीय ने राज्य को बाहरी आक्रमणों के खतरों से इस प्रकार मुक्त कर दिया था कि सेन्नाचरीब ने अपने राज्य के प्रारंभिक वर्षों को राजधानी निनेवे की सौंदर्य-वृद्धि एवं सजावट में ही बिताया। इसने निनेवे के पुस्तकालय को और समृद्ध बनाया।

अपने आसपास के देशों से मुख्यतः शांति और मैत्री की नीति का ही अनुसरण किया। बैबिलोन की शत्रुता से तंग आकर इसने इस नगर पर आक्रमण करके इस पर अधिकार किया तथा यहाँ के निवासियों को उजार कर राज्य के दूसरे भागों में बसा दिया।

भूमध्यसागर के पूर्वी किनारों पर स्थित असीरिया के प्रांतों में मिस्र के राजा ने विद्रोह भड़काने का प्रयत्न किया। जब इन प्रांतों में विद्रोह हुआ, तब सेन्नाचरीब ने स्वयं इन प्रांतों पर आक्रमण किया तथा इन नगरों के विद्रोहियों को आत्मसमर्पण करने के लिए मजबूर किया। टायर, सिडान तथा जुदा नगरों ने आत्मसमर्पण किया। प्लेग के कारण सेन्नाचरीब को स्वदेश लौटना, अन्यथा संभव था कि उसकी सेनाएँ मिस्र तक पहुँच जातीं। इस प्रकार उसने भी अपने पिता की गौरवपूर्ण परंपरा को कायम रखा।

एसारहद्दन (६८१ ई०-पू० से ६६९ ई०-पू० तक)

सेन्नाचरीब की हत्या उसके पुत्र ने ही कर डाली। पर, यह पितृघाती पुत्र राज्य नहीं कर सका। इस हत्या के बाद सेन्नाचरीब के पुत्रों में गृहयुद्ध आरंभ हो गया, जिनमें पितृघाती पुत्र के छोटे भाई एसारहद्दन ने उससे गद्दी छीन ली। एसारहद्दन ने बारह वर्षों तक राज्य किया। यह बड़ा ही पराक्रमी एवं नीतिकुशल राजा था। इसने अपने पिता द्वारा ध्वस्त बैबिलोन नगर का पुनर्निर्माण कराया तथा वहाँ के निवासियों को वहाँ पुनः बसा दिया। वहाँ के टूटे देवालयों का पुर्नानर्माण करके उसने देवताओं को उसमें पुनः प्रतिष्ठित कराया। इस उदारतापूर्ण नीति से वहाँ के निवासी उसके प्रति सम्मान एवं कृतज्ञता का भाव रखने लगे। दुर्भिक्ष से पीड़ित प्रजा में वह अनाज का भी वितरण कराता था। अत्यंत आवश्यक होने पर ही वह शक्ति का प्रयोग करता था। वास्तव में, अपनी उदार नीति से वह प्रजा को संतुष्ट एवं राजभक्त बनाना चाहता था।

प्रांतों के शासन के लिए उसने सुयोग्य गवर्नरों की नियुक्ति की। उसके राज्यकाल में पूर्व में मीडिया तथा उत्तर में सिमेरियन जाति का खतरा पुनः उपस्थित हो गया था। इन खतरों के बावजूद उसने मिस्र पर आक्रमण किया तथा मिस्र को पराजित करने में वह सफल रहा। वास्तव में सीरिया एवं पैलेस्टाइन, जो उसके साम्राज्य के पच्छिमी प्रांत थे, वहाँ मिस्र के राजाओं के षड्यंत्र से सदैव विद्रोह की संभावना रहती थी। अतः इस षड्यंत्र के मूल कारण को वह समाप्त करना चाहता था। ६७१ ई०-पू० में उसने मिस्र पर अपना आधिपत्य स्थापित किया तथा नील की पश्चिमी घाटी में स्थित साई (Sai) राज्य के अधीनस्थ राजा नेको (Necko) को मिस्र का गवर्नर नियुक्त कर दिया। पर मिस्र पर, उसकी यह विजय अस्थिर सिद्ध हुई। उसके लौटते ही मिस्र में विद्रोह हो गया। इस विद्रोह के दमन के लिए

वह लौटा, पर मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गई।

एसारहद्दन असीरिया के राजाओं में सबसे चतुर एवं प्रजावत्सल सम्राट था। पश्चिम में असीरियाई साम्राज्य की सीमा को नील नदी के डेल्टा तक पहुँचाने का श्रेय इसी को है।

अशुर-बनिपाल (६६९ ई०पू०-६२६ ई०-पू०)

एसरहद्दन का उत्तराधिकारी अशुर-बनिपाल असीरिया का अंतिम राजा था, पर सबसे प्रतापी एवं प्रसिद्ध शासक था। इसके राज्यकाल तक असीरिया की शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी तथा असीरिया की सभ्यता एवं संस्कृति भी पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थीं। पर, दुर्भाग्यवश इसके राज्यकाल में ही असीरियाई साम्राज्य की अंतर्निहित दुर्बलताएँ स्पष्ट एवं मुखर होने लगीं तथा साम्राज्य के पतन एवं विघटन के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। निम्नलिखित कारणों से असीरियाई साम्राज्य के समक्ष विघटन का खतरा उपस्थित हुआ—एकाध शासकों को छोड़कर असीरिया के अधिकांश राजाओं ने विजित प्रांतों में कठोरता एवं क्रूर दमन की नीति को अपनाया था। इसलिए असीरिया के विजित प्रांतों की प्रजा अपने शासकों को घृणा की दृष्टि से देखती थी तथा राष्ट्रीय विद्रोहों के द्वारा अपने कंधों से उनके क्रूर शासन के जुए को फेंकने के अवसर की ताक में रहती थी। अतः, अधिक दिनों तक इस साम्राज्य का बने रहना असंभव था। दूसरा कारण था, असीरिया में क्रमशः सैनिकों की संख्या का कम होना। सैकड़ों वर्षों के लगातार युद्धों ने धीरे-धीरे सैनिकों की संख्या क्षीण कर दी थी। परिणाम यह हुआ कि अब असीरिया को अपने सैनिक दबदबे को कायम रखने के लिए भाड़े के सैनिकों पर निर्भर होना पड़ा। भाड़े के इन सैनिकों में देशभक्ति एवं राष्ट्रीय भावना के अभाव से साम्राज्य के प्रति वफ़ादारी की भावना विश्वसनीय नहीं थी। अतः, इन दुर्बलताओं के उजगार होने पर आंतरिक एवं बाह्य शत्रुओं का साम्राज्य पर हावी होना स्वाभाविक था।

इन कमज़ोरियों के बावजूद अशुर-बनिपाल का राज्यकाल अपनी शान-शौकत और समृद्धि की दृष्टि से असीरिया के इतिहास में अपना सानी नहीं रखता। उसके काल में उसकी राजधानी सौंदर्य तथा सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से चरम सीमा पर पहुँच गई। सारे साम्राज्य के क़ारीगरों को एकत्र करके उसने निनेवे में भव्य प्रासादों और मंदिरों का निर्माण कराया। उसने बहुत से लेखकों को नियुक्त करके सुमेर तथा बैबिलोनिया के प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियाँ तैयार करायीं तथा उन्हें राजधानी के पुस्तकालय में प्रतिष्ठित किया। साहित्य, गणित एवं ज्योतिष की पुस्तकों से पुस्तकालय समृद्ध हो गया। नए राजमहलों और देवालयों के निर्माण से राजधानी की सुंदरता निखर गई तथा इन सांस्कृतिक उपलब्धियों से निनेवे निवासी अपने-आपको गौरवान्वित अनुभव करने लगे।

इन सांस्कृतिक उपलब्धियों के बावजूद अशुर-बनिपाल को राजनैतिक क्षेत्र में आजीवन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अपने राज्यकाल के प्रारंभ से ही उसे पूरब में मीड जाति से तथा उत्तर में बर्बर सिमेरियन जाति से आक्रमण के खतरे का सामना करना पड़ा। सिलिसिया प्रदेश पर सिमेरियन जाति के आक्रमण से चिंतित होने के कारण उसने दक्षिण में बैबिलोनिया की गद्दी पर अपने भाई को बैठाया, जिसमें दक्षिण से आक्रमण का कोई खतरा उपस्थित न हो। पर, इस प्रबंध से बैबिलोनिया में कुछ ही दिनों तक शांति बनी रही। एलम प्रदेश के शत्रुओं से मिलकर उसके भाई ने भी उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। परिणामस्वरूप इस विद्रोह को दवाने के लिए उसे अपने भाई से कई वर्षों तक युद्ध करना पड़ा। अंत में उसने बैबिलोन पर ६४८ ई०-पू० में पुन: अधिकार कर लिया तथा एलम की राजधानी सुसा को ६३६ ई०-पू० में मटियामेट कर दिया। उसने विजित सुसा के राजा, सेनापति और सैनिकों के साथ अत्यंत क्रूरता का व्यवहार किया। निर्मम ढंग से उनकी हत्या करने के बाद लोगों को आतंकित करने के लिए उनके मृत शरीर को टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया। मृत राजा के कटे हुए सर को खंभे पर लटका दिया गया। इस प्रकार राज्य के दक्षिणी भाग पर उसने आधिपत्य वनाए रखा।

दूरस्थ मिस्र प्रांत की रक्षा के लिए उसने अधिक सैनिकों को भेजा। पर, तो भी मिस्र में असीरियाई शासन के विरुद्ध भयंकर विद्रोह हुआ। इस विद्रोह में मिस्र के विद्रोहियों को लीडिया तथा एशिया माइनर के आयोनियन ग्रीकों से सहायता मिली। स्थिति की वास्तविकता को समझ कर अशुर-बनिपाल ने मिस्र प्रांत को स्वतंत्र होने दिया तथा स्वाधीनता प्राप्ति के बाद उसने मिस्र के स्वाधीन शासक सामेटिकस(Psammetichus) के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किया। ६६३ ई०-पू० में सामेटिकस ने असीरियाई साम्राज्य से अपनी स्वाधीनता घोषित की तथा अपने-आपको मिस्र के छब्बीसवें राजवंश का संस्थापक घोषित किया।

अशुर-बनिपाल के जीवन के अंतिम वर्ष बड़े चिंताजनक तथा दुःखमय सिद्ध हुए। शारीरिक अस्वस्थता के साथ-साथ उसे उत्तर दिशा से खानाबदोश और बर्बर सीथियन अथवा शक जाति के लगातार आक्रमणों का सामना करना पड़ा। इसी दुःखद परिस्थिति में ६२६ ई०-पू० में उसकी मृत्यु हुई। वह अपनी मृत्यु के समय तक असीरियाई साम्राज्य के अधिकतर भाग पर अपना आधिपत्य बनाए रखने में सफल रहा। केवल मिस्र ही उसके हाथ से निकल गया था। लीडिया के राजा को उसने अपना अधीनस्थ मित्र बना लिया तथा सिमेरियन जाति को वह पराजित कर चुका था। युद्धों में उसकी सेनाएँ जीत रही थीं तथा उसकी राजधानी तत्कालीन जगत की एक विशाल और सर्वाधिक सुंदर राजधानी मानी जाती थी। अत:, उसके

जीवन-काल तक असीरिया साम्राज्य की तड़क-भड़क और शान-शौकत में कोई कमी नहीं आने पायी। पर, जैसा हम देख चुके हैं कि इस साम्राज्य की अंतर्निहित दुर्बलताएँ अब स्पष्ट एवं मुखर होने लगी थीं। इसलिए इसकी मृत्यु के शीघ्र बाद ही इस साम्राज्य के शत्रु चारों ओर से इस पर टूट पड़े और इसकी मृत्यु के पंद्रह वर्षों के भीतर ही न केवल असीरियाई साम्राज्य विनष्ट हो गया, वरन् असीरियाई जाति का नामोनिशान तक मिट गया।

इस दुःखद अंत की कहानी अशुर-बनिपाल की मृत्यु से ही प्रारंभ होती है। उसकी मृत्यु के शीघ्र वाद बैबिलोन में विद्रोह हुआ। चाल्डिया के राजा नबोपोलासर ने आक्रमण कर दिया। पूरब से मीड प्रदेश की जातियों के नेता सायाजरेस (Cyaxares) ने भी धावा बोल दिया। इन लोगों को सीथियन यानी शक तथा दक्षिण ईरान की इंडो-यूरोपियन तथा पर्शियन जातियों से सहायता मिली। पर्शियन जातियों ने एलम पर चढ़ाई कर दी। ६१२ ई०-पू० में नबोपोलासर, सायाजरेस तथा सीथियनों की सम्मिलित सेना ने राजधानी निनेवे पर अधिकार कर लिया। यह सुंदर और शानदार राजधानी पूर्णरूपेण मिट्टी में मिला दी गई। निवासियों के साथ-साथ महलों, मंदिरों, उपवनों, पुस्तकालयों और बगीचों को इस प्रकार नष्ट किया गया कि उनका नामोनिशान तक नहीं रहा। इस प्रकार के सुनियोजित विनाश के उदाहरण इतिहास में कम पाए जाते हैं। असीरियाई सभ्यता और जाति को नेस्तनाबूद कर दिया गया। असीरियाई साम्राज्य के साथ-साथ असीरियाई जाति का भी नामोनिशान मिट-सा गया।

निनेवे के विनाश के पहले कुछ असीरियाई सैनिक यहाँ से भाग निकले थे। इन लोगों ने सीरिया प्रदेश के नगर हार्रान (Harran) के किले में शरण ली। इस किले से ही असीरियाई शासक सीरिया पर अपना प्रभुत्व जमाए रखने में समर्थ हुए थे। इस स्थान से बचे-खुचे असीरियाई सैनिकों ने असीरियाई साम्राज्य को यहीं स्थापित करने की कोशिश की। ६१० ई०-पू० में इस किले पर भी असीरिया के शत्रुओं का आक्रमण हुआ। यद्यपि यहाँ असीरियाई सैनिकों की सहायता के लिए मिस्र के शासक नेको द्वितीय की सेना आ पहुँची, तथापि नबोपोलासर के वीर पुत्र नेबुचडरेज्जर के नेतृत्व में ६०५ ई०-पू० में मिस्र तथा असीरिया की सम्मिलित सेना को निर्णायक ढंग से पराजित किया गया। इस पराजय के पश्चात् असीरियाई जाति के बचे-खुचे लोग सीरिया में बस गए तथा क्रमशः सीरिया की जातियों में विलीन हो गए।

असीरियाई साम्राज्य के विनाश के साथ-साथ असीरियाई जाति का विनाश एवं लोप भी प्राचीन विश्व के इतिहास की एक विचित्र घटना है। पर, हुआ ऐसा

ही। असीरियाई जाति के कुछ दरिद्र लोग जहाँ-तहाँ इस्लाम के उदय तक पाए जाते थे, परंतु ऐसे लोगों के रहने से असीरियाई जाति का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से ६०५ ई०-पू० में ही इस जाति का अस्तित्व समाप्त हो गया।

इस संपूर्ण विनाश का कारण हम उनके साम्राज्य की अंतर्निहित दुर्बलताओं में पा सकते हैं। हम देख चुके हैं कि कई पीढ़ियों के लगातार युद्धों से क्रमशः उनके यहाँ सैनिकों की संख्या तथा जनशक्ति कम होती गई। अतः, अंत में उनके अपने साम्राज्य के शत्रुओं के मुकावले में ये भाड़े के सिपाही कव तक टिक सकते थे ? विजित प्रदेशों की जनता के प्रति उनका क्रूर एवं अमानुषिक व्यवहार उनके विनाश का प्रधान कारण वन गया। उनके साम्राज्य की प्रजा उन्हें अत्यंत घृणा की दृष्टि से देखती एवं मौका मिलते ही विद्रोह करने तथा प्रतिशोध के लिए तैयार रहती थी। उनका देश चारों ओर से भयानक शत्रुओं से घिरा हुआ था। उत्तर और पूरब में वसने वाली सीथियन, सिमेरियन, चाल्डियन तथा मीड जातियाँ असीरियन साम्राज्य की समृद्धि से जलती थीं और उस पर टूट पड़ने के लिए अवसर ढूँढ़ रही थीं। अतः, अशुर-वनिपाल की मृत्यु के वाद ही असीरिया साम्राज्य को कमजोर पाकर इन लोगों ने इसका विनाश कर दिया। पर, जिस सुनियोजित ढंग से राजधानी निनेवे के निवासियों का संहार तथा नगर का ध्वंस किया गया, वह इस बात का प्रमाण है कि असीरियाई जाति के शत्रुओं में उनके प्रति अपार घृणा थी। अतः, वे उनको नेस्तनावूद कर उनसे सदियों की बर्वरता का बदला चुकाना चाहते थे। अपनी सदियों की क्रूरता, दुराचार और विजित जाति की स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार के द्वारा असीरियाई जाति ने अपने शत्रुओं के मन में उनके संपूर्ण विनाश का संकल्प दृढ़ कर दिया था, अन्यथा इतने वड़े पैमाने पर नरसंहार और ध्वंस संभव नहीं होता। जिस पैमाने पर असीरियाई सम्राटों ने वैबिलोन और सुसा का विध्वंस किया था, ठीक उसी पैमाने पर उनसे वदला लिया गया।

इस विनाश के पश्चात् परोक्ष रूप से असीरियाई सभ्यता का प्रभाव पड़ोसी देशों की सभ्यता में हम पाते हैं। ईरान की सभ्यता तथा जरथुष्ट्र के धर्म में असीरियाई सभ्यता एवं धर्म के प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। ईरानी साम्राज्य की तड़क-भड़क एवं शान-शौकत पर असीरियाई साम्राज्य का प्रभाव स्पष्ट है। इस दृष्टि से असीरियाई साम्राज्यवाद एशियाई राजतंत्र का जनक माना जाता है। इसी प्रकार सीरिया की सभ्यता पर असीरियाई सभ्यता की छाप और भी गहरी तथा सुस्पष्ट है। सीरिया के हार्रान नगर में तो असीरियाई धर्म का मिलता-जुलता रूप अब्बासीद खलीफाओं के शासन काल तक जीवित रहा। अपने विनाश के बावजूद असीरियाई साम्राज्य ने प्राचीन विश्व की सभ्यता में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। बैबिलोन के

राजनैतिक और सांस्कृतिक ह्रास के पश्चात् भी बैंबिलोनिया की सभ्यता को सुरक्षित रखने का श्रेय असीरियाई सैनिक-तंत्र को ही देना होगा। निनेवे के विनाश के पश्चात् उसके विजेताओं ने निनेवे तथा बैंबिलोन की सभ्यता को सुरक्षित रखा। असीरियाई साम्राज्य के पतन के पश्चात् चाल्डिया के शासकों ने इस सभ्यता की रक्षा कर इस क्रम को जारी रखा। अब हम असीरिया की सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेंगे।

असीरिया का धर्म

असीरिया के धार्मिक विश्वासों पर भी बैबिलोनिया के धर्म का अमिट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में असीरिया का धर्म अपने मूल रूप में बैंबिलोनिया के धर्म से भिन्न नहीं था। बैबिलोनिया के धार्मिक विश्वासों में असीरिया की सैनिक सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन किया गया था। सैनिक आदर्शों से अनुप्राणित इस सभ्यता में धर्म को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था। पर, अदृश्य शक्तियों के द्वारा अनिष्ट के भय के कारण पुरोहितों से भूत-प्रेतों तथा दानवों को प्रसन्न करने में सहायता ली जाती थी। अतः, असीरिया का धर्म भय की आधारशिला पर ही टिका हुआ था। प्रत्येक व्यक्ति अपने देवताओं से भयभीत रहता था। उनको प्रसन्न रखने के लिए उनके समक्ष अपने पापों को स्वीकार करता था। इन पापों को स्वीकार करने के पीछे यह भावना काम करती थी कि देवता स्वभावतः दयालु तथा लोक हितैषी होते हैं, अतः वे क्षमा प्रदान कर देंगे।

असीरिया का सर्वश्रेष्ठ तथा सार्वशक्तिशाली देवता अशुर था। अशुर शब्द का अर्थ 'हितैषी' अथवा 'शुभचिंतक' होता था। इस देवता के नाम पर असीरिया की पहली राजधानी का नामकरण भी हुआ था। बैबिलोनिया के धर्म में जो स्थान मारडुक नामक देवता को प्राप्त था, वही स्थान असीरियाई धर्म में अशुर को प्राप्त था। वह समस्त विश्व एवं ब्रह्मांड का स्रष्टा माना जाता था। बैबिलोनिया की सृष्टि-संबंधी कविता के अनुसार वह अनु देवता से भी पुराना देवता था। इसी ने अनु देवता के स्वर्ग तथा नरक की रचना की थी। वह युद्ध का भी देवता था और सभी मनुष्य उसके शासन के अंतर्गत थे। उसका प्रतीक एक धनुष था, जिससे वाण छूटता हुआ दिखाया जाता था। यह वाण एक परदार चक्र (winged disc) को लक्ष्य बनाकर चलाया जाता था। यह प्रतीक हिट्टाइट धर्म के प्रतीकों से लिया गया था। इश्तर नामक देवी इसकी पत्नी मानी जाती थी। इश्तर को 'वेलित' (Belit) के नाम से भी पुकारा जाता था।

अशुर के बाद इश्तर को असीरियाई देवमंडल में सबसे प्रमुख स्थान प्राप्त था। युद्ध के अभियानों में उसे विशिष्ट स्थान प्राप्त था; क्योंकि अपने पति अशुर की

तरह वह भी युद्ध की देवी के रूप में पूजित होती थी। धार्मिक विश्वासों के अनुसार वह अशुर देवता के शत्रुओं का संहार निश्चित रूप से करती थी। इश्तर देवी के प्रसिद्ध मंदिर काला, निनेवे और आरवेला नगरों में स्थित थे।

अशुर तथा इश्तर देवी के अतिरिक्त जिन अन्य देवताओं की भी पूजा होती थी, उनके नाम हैं—सिनु, शमाश, वेल-मारडुक (Bel-Marduk), नावू (Nabu), इनूर्टा (Inurta), नर्गल (Nergal), तथा नुस्कू (Nusku)। इन देवताओं के नाम भी तत्कालीन ऐतिहासिक साहित्य में बार-बार आते हैं।

अशुर देवता का प्रतीक असीरियाई झंडों पर प्रतिष्ठित रहता था। युद्ध में सेनाएँ इन झंडों को लेकर चलती थीं। विजित प्रदेशों के निवासी तथा शत्रु अशुर देवता के क्रोध एवं प्रतिरोध की आशंका से भयभीत रहते थे। अतः अशुर देवता का व्यक्तित्व असीरियाई सभ्यता की सैनिक कठोरता से पूरा मेल खाता था।

असीरिया में मंदिरों की निर्माण-शैली सुमेर एवं अक्कड़ के मंदिरों की निर्माण-शैली से भिन्न नहीं थी। पुरोहित वर्ग भी बैबिलोनिया के पुरोहित वर्ग से मिलता-जुलता था। यह वर्ग तीन श्रेणियों में विभक्त था। पहली श्रेणी उन पुरोहितों की थी, जो मनुष्य तथा निर्जीव पदार्थों को मंत्रों एवं जादू-टोने के माध्यम से पवित्र किया करते थे। दूसरी श्रेणी उन पुरोहितों की थी, जो प्राकृतिक दृश्यों में देवताओं की इच्छाओं का अध्ययन किया करते थे। तीसरी श्रेणी के पुरोहित मंदिरों में गायक एवं सेवक का काम किया करते थे। असीरियाई धार्मिक जीवन में स्त्री पुजारियों या पुरोहितों की संख्या बैबिलोनिया की तुलना में कम थी। तत्कालीन साहित्य में इनका उल्लेख कम मिलता है।

असीरिया के धार्मिक जीवन में राजा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उसे धार्मिक क्षेत्र में मुख्य भूमिका अदा करनी पड़ती थी। तत्कालीन विश्वासों के अनुसार राजा को देवताओं का प्रतिनिधि माना जाता था, जो देवताओं की इच्छा के अनुसार शासन करता था। न्याय करना तथा प्रजा के दुर्बल वर्ग की शक्तिशाली वर्ग से रक्षा करना उसका पुनीत कर्त्तव्य माना जाता था। जिन देशों के लोग अशुर देवता के प्रति आस्था नहीं रखते थे अथवा एक बार आस्था व्यक्त कर उसका पालन नहीं करते थे, उन्हें विजित कर दंडित करना भी राजा का कर्त्तव्य माना जाता था। इसके अतिरिक्त राष्ट्र के पुरोहित के रूप में देवताओं की पूजा-अर्चना करना भी राजा का कर्त्तव्य था। राजमहलों में जो नक्क़ाशी मिली हैं, उनमें राजाओं को इश्तर देवी को अर्घ्य देते हुए दिखलाया गया है।

धार्मिक जीवन में शकुन का विचार करने वाले पुरोहितों का बहुत महत्त्व था। व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय जीवन में किसी महत्त्वपूर्ण काम को प्रारंभ करने के

पहले इन लोगों से राय ली जाती थी। ये पुरोहित ग्रहों की गति का अध्ययन करके किसी कार्य अथवा अभियान की सफलता या विफलता की पूर्व-सूचना दिया करते थे। इन पुरोहितों को देवता स्वप्न के द्वारा भी किसी कार्य अथवा अभियान के प्रति अपने आशीर्वाद अथवा क्रोध की सूचना दे दिया करते थे। इन साधनों के द्वारा ये पुरोहित शुभ अथवा अशुभ लक्षणों की सूचना लोगों को दिया करते थे।

बैंबिलोनिया की भाँति ही असीरिया के धर्म में भी धार्मिक प्रार्थना तथा पूजा व्यक्तिगत एवं सामूहिक तौर पर की जाती थी। पूजा-पाठ के अतिरिक्त चढ़ावे तथा बलिदानों के द्वारा भी श्रद्धा-भक्ति की अभिव्यक्ति की जाती थी। प्रत्येक देवता की पूजा का मुख्य समारोह एक जुलूस के रूप में संपन्न होता था। यह जुलूस नगर के भीतर मंदिर से देवता की प्रतिमा के साथ प्रस्थान करके नगर के वाहर स्थित मंदिर तक ले जाया जाता था। नगर के वाहर स्थित मंदिर को अकीतू (Akitu) कहा जाता था। यह समारोह पुरी की रथयात्रा से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। ये समारोह धूमधाम तथा बाजे-गाजे के साथ संपन्न होते थे।

अनेक राजकीय शिलालेखों में प्रार्थनाएँ अंकित हैं, जो राजाओं की आकांक्षाओं तथा योजनाओं की रूपरेखा प्रस्तुत करती हैं। इन प्रार्थनाओं में कृषि की उन्नति, प्रजा की खुशहाली, युद्ध में विजय तथा शत्रुओं के विनाश के लिए देवताओं की सहायता माँगी गई है।

विभिन्न प्रकार की वहुमूल्य वस्तुएँ, दास तथा कभी-कभी बच्चे भी देवताओं को चढ़ावे में अर्पित किए जाते थे। प्रत्येक विजय-अभियान की सफलता के पश्चात् राजा लूट के माल का एक भाग देवताओं की पूजा तथा मंदिरों की सुरक्षा एवं सजावट के लिए अलग निकाल देता था। कभी-कभी विजित दास भी मंदिरों को समर्पित कर दिए जाते थे। साधारण व्यक्ति भी भूमि, दास अथवा वच्चों का समर्पण देवताओं की सेवा में किया करते थे। कभी-कभी किसी शपथ-ग्रहण के वाद भी लोग देवताओं को बलिदान चढ़ाया करते थे।

बैंबिलोनिया की भाँति असीरिया में भी धार्मिक कृत्यों तथा जादू-टोने में वहुत कम अंतर था। अतः, बलिदान और चढ़ावे के साथ जादू-टोने का भी प्रयोग किया जाता था। धार्मिक नियम तथा अनुशासन का उल्लंघन करने वालों को राजा कठोर दंड दिया करता था। राजा अशुर-बनिपाल अशुर देवता के विरुद्ध विद्रोह करने वालों को कठोर दंड दिया करता था। धर्म का पालन करने वालों को, तत्कालीन विश्वासों के अनुसार, देवताओं की कृपा से दीर्घ जीवन प्राप्त होता था। मिस्र की भाँति, बैंबिलोनिया के धर्म में मरणोपरांत जीवन में कोई विश्वास नहीं था। अतः, प्रार्थनाओं में दीर्घ एवं सुखी जीवन की ही प्रार्थना की जाती थी। ऐसा विश्वास

किया जाता था कि देवता प्रसन्न होकर दीर्घ आयु, हृदय की प्रसन्नता तथा सुख प्रदान कर सकते हैं।

असीरियाई साम्राज्य तथा सभ्यता के पतन के पश्चात् असीरियाई धर्म का प्रभाव परोक्ष रूप से जरथुष्ट्र के धर्म पर पड़ा, जिसका विकास ईरान में हुआ। अशुर देवता का प्रतीक पंखयुक्त चक्र, जरथुष्ट्र के देवता अहुरमज्दा का भी प्रतीक मान लिया गया। साथ ही, कुछ धार्मिक विधियाँ तथा पूजा पाठ के नियम भी जरथुष्ट्र के धर्म में अपना लिए गए।

बैंविलोनिया की तुलना में असीरियाई धर्म को मानने वालों का दृष्टिकोण अधिक विवादपूर्ण, कठोर तथा धर्मोन्माद से भरा था। इस धर्मांधता के कारण ही उन लोगों ने अत्यंत क्रूरता के साथ अपने शत्रुओं का दमन किया तथा निस्संकोच भाव से इन क्रूरता का अपने अभिलेखों में वर्णन भी किया।

असीरियाई शासन-पद्धति

असीरिया की शासन-प्रणाली भी, सभ्यता के अन्य पहलुओं की तरह, बैंविलोनिया की शासन-पद्धति से मिलती-जुलती थी। अशुर देवता राज्य की समस्त भूमि का स्वामी था तथा राजधानी का नामकरण उसी के नाम पर हुआ था। सैद्धांतिक दृष्टि से, असीरिया का राजा उस देवता का प्रतिनिधि मात्र था। इसी कारण, राजा प्रत्येक अभियान के पहले उस देवता की अनुमति लेता था तथा आने पर एक विशद् प्रतिवेदन उस देवता को समर्पित करता था। विजित प्रदेश उस देवता का राज्य माना जाता था तथा असीरिया के शत्रु उस देव के शत्रु माने जाते थे। विजित प्रदेशों से मिलने वाला कर उस देवता का कर समझा जाता था। अतः, असीरिया के राजा उस देवता की छत्रच्छाया में ही शासन करते थे।

अशुर देव के प्रतिनिधि के रूप में राजा को शासन-प्रणाली में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। असीरियाई राज्य की एकता का मुख्य कारण असीरिया वालों की राष्ट्रीयता की भावना थी। अत्यंत प्राचीन काल से ही यहाँ के निवासी अपने-आपको एक राष्ट्र मानते थे। वे यूनान की तरह अनेक नगर-राज्यों अथवा वंशगत या जातीय शासन की इकाइयों में विभाजित नहीं थे। अशुर देव की भूमि पर एक ही राजा देवता के प्रतिनिधि के रूप में शासन कर सकता था। जिलों के शासक उस देवता के नौकर और पदाधिकारी थे। वे अपने आपको स्वतंत्र घोषित नहीं कर सकते थे। लिम्मू (Limmu) नाम की संस्था के कारण असीरिया को अपनी राजनैतिक एकता बनाए रखने में बड़ी सहायता मिली। लिम्मू एक वर्ष का आधार-नामी पदाधिकारी होता था, जिसके नाम पर उस वर्ष का नामकरण होता था। उस वर्षविशेष के निसान-पर्व के धार्मिक कृत्यों का संपादन वही किया करता था। असीरिया का राजा अपने राज्याभिषेक के द्वितीय वर्ष में निसान पर्व (Nisan Festival) के धार्मिक

कृत्यों को संपन्न करता था। तत्पश्चात् जिलों के गवर्नर अपने महत्त्व के क्रमानुसार धार्मिक कृत्यों का संपादन करते थे। अतः इस पद्धति से राष्ट्रीय एकता की रक्षा में बहुत सहायता मिलती थी। राजा के पश्चात् लिम्मू पदाधिकारी सेनाध्यक्ष होता था, जिसे टुर्टानू (Turtanu) कहा जाता था। यह सेनाध्यक्ष के अतिरिक्त हार्रान जिले का गवर्नर हुआ करता था। यह राजा द्वारा मनोनीत एवं विश्वासपात्र पदाधिकारी होता था। असीरिया के इतिहास में उस देश के सभी गण्यमान्य व्यक्ति राजा के व्यक्तिगत सहकर्मी एवं साथी होते थे, जो सदैव उनके साथ रहते थे। दूसरे शब्दों में, राज्य के सभी उच्च पदाधिकारी राजा के प्रति व्यक्तिगत रूप से वफादार होते थे, जिससे राष्ट्र की एकता अक्षुण्ण रही। ये लोग अपनी जान हथेली पर रख कर राजा के आदेशों का पालन करने को तत्पर रहते थे। अतः, राजा के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति की भावना से समस्त राष्ट्र एक सूत्र में आबद्ध रहा। यह एकता की भावना ही असीरिया को पड़ोसी राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ बना सकी।

साम्राज्य के विस्तार के कारण शासन-प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की गई। अतः नई राजनैतिक शब्दावली का विकास हुआ। विजित प्रदेशों की प्रजा तीन भाग में विभक्त थी। प्रजा का एक भाग केवल वार्षिक कर दिया करता था। दूसरे प्रकार की प्रजा उन प्रदेशों में पायी जाती थी, जहाँ के लोग कर देने के अतिरिक्त असीरिया के राजा के एक प्रतिनिधि को अपने देश की राजधानी में रखते थे। यह प्रतिनिधि कर वसूलता तथा बेगार भी लिया करता था। तीसरे प्रकार की प्रजा उन विजित प्रदेशों में निवास करती थी, जहाँ का शासन असीरिया के सम्राट द्वारा मनोनीत गवर्नर करता था, जिसे शाक्नू (Shaknu) या उरासू (Urasu) कहते थे। इस प्रदेश में इस गवर्नर की इच्छा ही कानून मानी जाती थी। ये गवर्नर जिलों के गवर्नरों के अधीन होते थे।

कालांतर में प्रशासकीय आवश्यकताओं के कारण जिलों को और छोटी इकाइयों में बाँट दिया गया। इन छोटे जिलों को पखटी (Pakhati) की संज्ञा दी गई। इस नए प्रबंध के अनुसार वह जिला, जिसमें अशुरदेव का मंदिर स्थित था, दो जिलों में बाँट दिया गया—अशुर तथा एकाल्लेट (Ekallate)। इन नए जिलों के शासकों को बेल-पखटी (Bel-Pakhati) अथवा शाक्नू कहा जाता था। इन शासकों की सहायता के लिए कई छोटे अन्य पदाधिकारी भी नियुक्त किए जाते थे। शक्नू के नीचे का पदाधिकारी आमेलू-शक्नू (Amelu-Shaknu) तथा नगरों के शासक अथवा नगरपति को खजानू (Khazanu) कहा जाता था। इनके अतिरिक्त जिलों के शासन के लिए अनेक नागरिक तथा सैनिक पदाधिकारी नियुक्त किए जाते थे। वास्तव में, इन प्रांतों अथवा जिलों का शासन केंद्रीय शासन की ही प्रतिकृति था। केंद्रीय शासन के ही ढाँचे पर इन सुदूर जिलों का शासन

सुगठित किया गया था। छोटी-छोटी इकाइयों में बाँट कर प्रांतीय शासन पर केंद्रीय शासन का नियंत्रण और सुदृढ़ किया गया था। इस नई योजना को लागू करने का श्रेय तिगलथ-पिलेसर तृतीय को है। इसके बाद असीरिया के पतन काल तक यह प्रणाली संपूर्ण असीरिया को एक सूत्र में आबद्ध किए रही। सदियों बाद रोमन शासनकाल में असीरिया आदि प्रदेशों पर प्रांतीय शासन-प्रणाली तिगलथ-पिलेसर के प्रांतीय शासन के ही ढाँचे पर ही गठित थी।

असीरियाई शासन-पद्धति में राजा की शक्ति असीम थी। उत्साही, व्यवहारकुशल तथा शक्तिशाली राजाओं के नेतृत्व में असीरियाई साम्राज्य की एकता बनी रही। देवताओं के नेतृत्व में राजा को शासन करने का सिद्धांत सर्वमान्य था। देवताओं की इच्छा जानने के लिए पुरोहितों तथा आप्तपुरुषों (Oracles) से परामर्श लिया जाता था। अतः, इन आप्तपुरुषों का प्रभाव तथा देवताओं के क्रोध का भय असीरिया के शासकों पर एक मात्र अंकुश माना जा सकता है।

शासन-प्रणाली में रानी तथा युवराज को भी काफी सम्मानित पद प्राप्त था। इन दोनों को अपना महल होता था तथा इनकी सेवा के लिए अनेक पदाधिकारी नियुक्त होते थे। उदाहरण के लिए लिपिक, संदेशवाहक, वैद्य तथा पुरोहित आदि इनकी सेवा में उपस्थित रहते थे। इसी प्रकार राजा के महल में भी सेवकों, प्रबंधकों तथा कर्मचारियों का एक समूह उपस्थित रहता था।

सैन्य-प्रणाली

युद्धों में असीरियाई सेना की अनवरत् सफलता सैन्य-संगठन की कुशलता एवं दक्षता पर आधारित थी। विजय तथा पराजय से अनासक्त होकर इस सैन्य-प्रणाली को सदैव कुशल एवं कारगर रखने का प्रयास किया जाता था। कुशल सेनापतियों के नेतृत्व में सेना की दक्षता को कायम रखा जाता था। सेनापति को 'टुर्टानू' कहा जाता था। असीरियाई सेना में दो प्रकार के सैनिक भरती किए जाते थे। पहले प्रकार के सैनिक, सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने पर सैनिक बनाए जाते थे। दूसरे प्रकार के सैनिक राष्ट्रीय नागरिक-सेना के सदस्य होते थे। सैद्धांतिक रूप से सभी नागरिकों को सैनिक सेवा करना अनिवार्य था, पर व्यावहारिक रूप में, वे ही नागरिक जो सैनिक सेवा से छूट पाने के लिए पैसा अथवा अपने बदले कोई दास नहीं दे सकते थे, सैनिक सेवा के लिए बाध्य किए जाते थे। ऐसे लोगों को निरंतर सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करते रहना पड़ता था।

प्रांतीय शासकों के पास भी सेनाएँ रहती थीं। आवश्यकता पड़ने पर राजा के यहाँ से भी सेना भेजी जाती थी। वास्तव में, इन सैनिकों के बल पर ही असीरियाई साम्राज्य की एकता निर्भर करती थी। यह सेना कई भागों में विभक्त

थी। रथ सेना, घुड़सवार सेना, भारी हथियारों से लैस स्थल सेना तथा हल्के हथियारों से लैस पैदल सेना इस सेना के मुख्य विभाग थे। सुरंग बनाने वाले इंजीनियर भी इस सेना की सहायता करते थे। अनुशासन बनाए रखने के लिए सेना को छोटी-छोटी टुकड़ियों में बाँट दिया गया था।

युद्धकला को निरंतर विकसित करने के प्रयत्न किये जाते थे। वास्तव में, असीरियाई सभ्यता अपनी सैन्य-प्रणाली के लिए ही प्राचीन विश्व के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। असीरियाई सैन्य-विशेषज्ञ युद्ध-योजना तथा लड़ाइयों के दाव-पेंच को बहुत अच्छी तरह समझते थे। विद्वानों का विचार है कि सिकंदर के पहले, दुनिया का कोई देश युद्धनीति की कुशलता में असीरियाई सभ्यता का मुकाबला नहीं कर सकता था। युद्धों के अभियान चारों ओर से सुरक्षित शिविरों से प्रारंभ किए जाते थे। इस प्रकार के शिविर कालांतर में रोमनों द्वारा भी बनाए गए। आक्रमण किए जाने वाले प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन करके सेना की संख्या अथवा विभाग को भेजने का निश्चय किया जाता था। नगरों तथा दुर्गों पर घेरा डालने की कला में असीरियाई सेनाध्यक्षों को कमाल हासिल था। सुरंगें बिछा कर तथा ऐसी गाड़ियों से तीर चला कर, जिन पर तिरंदाज सुरक्षित रहते थे, नगरों और दुर्गों पर आक्रमण किया जाता था। भित्तिपातक यंत्रों से ऊँची दीवारें तोड़ दी जाती थीं। अत्यंत चतुराई से सुरक्षित नगर ही असीरियाई आक्रमण का सामना कर पाते थे। विजय के पश्चात् सैनिकों में लूट के माल का बँटवारा भी किया जाता था। पराजित शत्रुओं तथा विजित प्रदेशों पर अमानुषिक अत्याचार किए जाते थे। हम देख भी चुके हैं कि इन क्रूर अत्याचारों से असीरियाई विजेता अपने भावी शत्रुओं को आतंकित करना चाहते थे।

सेना की सफलता के लिए बहुत बड़े पैमाने पर गुप्तचरों द्वारा शत्रु-पक्ष के विषय में हर प्रकार की सूचना एकत्र की जाती थी। प्रांतीय शासक एवं पदाधिकारी यह सूचना एकत्र करने में व्यस्त रहते थे। इसी प्रकार राजधानी तथा निकटवर्ती प्रदेशों की सुरक्षा के लिए भी कारगर उपाय किए गए थे। युद्ध के समय सेना को पर्याप्त मात्रा में रसद भेज कर खाने-पीने का उचित प्रबंध किया जाता था।

अपनी युद्धनीति की सफलता तथा अपनी क्रूरता के द्वारा असीरियाई शासकों ने आसपास के प्रदेशों और विजित देशों में आतंक फैला रखा था। युद्धकला के क्षेत्र में इस सभ्यता ने अपनी प्रतिभा का अभूतपूर्व प्रदर्शन किया। संभवतः इस सभ्यता के उत्थान एवं पतन के मूल कारणों में इस जाति की सैनिक प्रतिभा को ही उत्तरदायी मानना होगा।

समाज एवं कानून

दास वर्ग के अतिरिक्त असीरिया के नागरिक तीन सामाजिक वर्गों में विभक्त थे। यह सामाजिक वर्गीकरण बैबिलोनिया के सामाजिक विभाजन से मिलता-जुलता था। इन तीन सामाजिक वर्गों को मुख्यतः अभिजात वर्ग, शिल्पी वर्ग तथा श्रमिक वर्ग कहा जा सकता है। असीरियाई भाषा में इन वर्गों के नाम निम्नलिखित थे :— मारबनूती (Marbanuti) अर्थात् अभिजात वर्ग; उन्माने (Unmane) अर्थात् श्रमिक या सर्वहारा वर्ग। मारबनूती वर्ग के लोग गवर्नर, प्रधान पुरोहित तथा सेनापति-जैसे उच्च पदों पर नियुक्त किए जाते थे। इनकी संख्या कम थी, तथापि राजा उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखता तथा इस वर्ग के विशेषाधिकारों की रक्षा करता था। कभी-कभी इस वर्ग की महिलाओं को भी गवर्नर-जैसे उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता था। असीरियाई शासन-प्रणाली इतनी सुव्यवस्थित थी कि ये महिलाएँ भी शासन को अच्छी तरह चला लेती थीं। प्राचीन विश्व की सभ्यताओं में इतने ऊँचे पदों पर महिलाओं को नियुक्त करने का श्रेय असीरिया को ही है। वस्तुतः संतानोत्पत्ति के क्षेत्र में असीरिया के लोग बहुत सफल नहीं थे। उनके निम्न वर्गों के लोगों में भी संतान कम उत्पन्न होती थी। चूँकि मारबनूती वर्ग के लोगों में संतानोत्पत्ति की दर और भी कम थी, इसलिए राजा इस वर्ग की महिलाओं को भी बहुधा गवर्नर नियुक्त कर दिया करते थे। समाज का दूसरा वर्ग शिल्पियों का था, जिनकी संख्या बहुत बड़ी थी। किसी प्रकार की कारीगरी या किसी भी खास पेशे के मानने वाले इस वर्ग के ही सदस्य माने जाते थे। उदाहरण के लिए लिपिक, कुम्हार, बढ़ई तथा साहूकार इसी वर्ग के सदस्य माने जाते थे। साहूकारों को टमकारु (Tamkaru), लिपिक को तुपशारु (Tupsharru), कुम्हार को पखारु (Pakharu) तथा बढ़ई को नग्गारु (Naggaru) कहा जाता था। प्राचीन भारत की तरह प्रत्येक शिल्प अथवा पेशे का अपना संघ या निकाय (Guild) होता था। राजधानी में प्रत्येक पेशेवालों के लिए अलग-अलग मुहल्ले थे, जहाँ एक पेशे के लोग ही रहते थे। यह व्यवस्था प्राचीन भारत के नगरों में भी पायी जाती थी।

शिल्पीवर्ग कई रूपों में राजकीय कर अदा करता था। वह पैसे, सामान, सैनिक सेवा अथवा बेगार के द्वारा राजा की सेवा करता था। धनी शिल्पकार तथा साहूकार अपने बदले में अपने दास को सैनिक सेवा अथवा बेगार के लिए भेज दिया करते थे। अपने बदले दासों को भेजने वालों को व्यक्तिगत सैनिक-सेवा से मुक्ति मिल जाया करती थी।

असीरिया के नगरों में कई राष्ट्रों के लोग निवास करते थे। अतः, इन

नगरों की आबादी सर्वदेशीय थी। उदाहरण के लिए निनेवे नगर में मीड् तथा एलम के निवासी बड़ी संख्या में पाए जाते थे। यहाँ तक कि दस्तावेजों में भी कई भाषाओं के शब्द लिखे जाते थे। वस्तुतः असीरियाई साम्राज्य की नीति में एक जाति के लोगों को एक स्थान से उजाड़ कर दूसरी जगह बसाना प्रमुख स्थान रखता था। मिली-जुली जनसंख्या से निनेवे-जैसे नगरों का सामाजिक जीवन काफी रंगीन और मनोरंजक हुआ करता था।

असीरियाई सम्राट व्यापार-वाणिज्य की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते थे, क्योंकि व्यापार के द्वारा राज्य की समृद्धि में सहायता मिलती थी। पच्छिमी देशों से पूरब की ओर आने-जाने वाले कारवाँ असीरिया होकर ही गुजरते थे। इनकी सुरक्षा का उचित प्रबंध किया जाता था। साहूकारों की सहायता से असीरिया के व्यापारी भी अपने कारवाँ देश के अंदर तथा विदेशों को ले जाया करते थे। कारवाँ द्वारा घूम-घूम कर व्यापार करने वालों को सुखारू (Sukharu) कहा जाता था। ये साहूकारों से पूँजी उधार लेकर व्यापार किया करते थे तथा २५ प्रतिशत सूद के साथ मूलधन लौटाया करते थे। सूद की इतनी ऊँची दर इस बात का प्रमाण है कि व्यापारियों को अपने रोजगार में बहुत मुनाफा होता था। विनिमय के साधन सोना, चाँदी तथा ताँबे के टुकड़े थे। चाँदी के टुकड़ों से अधिकतर विनिमय होता था। युद्धों के विजय होने के पश्चात् दास, घोड़ों तथा ऊँटों के मूल्य में भारी कमी हो जाया करती थी। वास्तव में असीरिया का आर्थिक जीवन बहुत अंशों में युद्धों तथा साम्राज्यवाद पर ही आधारित था।

प्राचीन भारत की भाँति ही आर्थिक जीवन तथा शिल्प शिल्पी-संघों (Guild) पर आधारित थे। मध्यकालीन यूरोप के शिल्पी-संघों से भी इन शिल्पी-संघों की समानता थी। कारीगरी सीखने का प्रथम विद्यालय परिवार था, जहाँ एक लड़का अपने पिता अथवा बड़े भाई या चाचा से पारिवारिक पेशे का प्रशिक्षण प्राप्त करता था। कभी-कभी प्रशिक्षण के लिए लड़कों को किसी कुशल शिल्पी के पास भी भेजा जाता था। खेती के क्षेत्र में काम करनेवाले श्रमिकों के विषय में हमारा ज्ञान पर्याप्त नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि खेती के द्वारा सुखपूर्वक जीविकोपार्जन करने वालों की संख्या काफी बड़ी थी। पर, भूमि पर इसका स्वामित्व था या अभिजात वर्ग का, इस विषय में निर्णायक ढंग से कुछ कहना संभव नहीं। जो भी हो, असीरिया की भूमि की उर्वरता तथा वहाँ की सस्ती मजदूरी के कारण किसानों की दशा उन्नत एवं समृद्ध थी।

असीरिया के सामाजिक जीवन की यह विशेषता थी कि सर्वहारा वर्ग की दशा सदैव संतोषजनक थी। साम्राज्य की उन्नति एवं समृद्धि के दिनों में श्रमजीवी

वर्ग थोड़ा अधिक खुशहाल हो जाता था। हम देख चुके हैं कि समाज के निम्न वर्ग को खुब्शी कहा जाता था। चूँकि असीरियाई सेना का अधिकांश इसी वर्ग से भरती होता था तथा प्रांतों में बसाया जाता था, इसलिए इस वर्ग का संतुष्ट रहना राज्य की सफलता तथा संपन्नता के लिए अनिवार्य था। असीरियाई राज्य तथा सैन्य-संगठन की सफलता इस वर्ग के मानसिक संतोष का प्रमाण है। दुःख तथा आपत्ति के समय इस वर्ग की सुरक्षा के उद्देश्य से कुछ कानूनी अधिकार दे दिए गए थे, जिससे इस वर्ग के दारिद्र्य-दंश को कम कर दिया गया था। यही कारण था कि यह वर्ग जी-जान लगाकर राज्य की सेवा करता था। वास्तव में संकटकाल में गरीबों का भरण-पोषण राजा का ही दायित्व माना जाता था और स्थानीय न्यायाधीश तथा मजिस्ट्रेट इस कर्त्तव्य का पालन किया करते थे।

कानून

तत्कालीन कानूनों के अध्ययन से सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की अच्छी झाँकी मिलती है। असीरियाई विधि-संहिता का विकास स्वतंत्र रूप से असीरिया में हुआ तथा इस पर बैबिलोनिया के कानूनों अथवा हम्मूराबी की विधि-संहिता का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। असीरिया के कानूनों की सैद्धांतिक आधारशिला तथा शब्दावली बैबिलोनिया के कानूनों से सर्वथा भिन्न है। विभिन्न अपराधों के लिए दंड-व्यवस्था भी भिन्न है। हम्मूराबी की विधि-संहिता का प्रयोग किसी भी काल में असीरिया में नहीं हुआ, यद्यपि इसका अध्ययन तेरहवीं शताब्दी में किया जाता था। वास्तव में, हम्मूराबी की विधि-संहिता पर आधारित दंड-विधान इस देश की आवश्यकताओं के अनुसार नरम होने के कारण अनुपयुक्त था। अतः, इस देश की आवश्यकताओं के अनुसार स्वतंत्र रूप से विधि-संहिता का विकास हुआ।

स्त्रियों की दशा से संवद्ध कानूनों का अध्ययन काफी मनोरंजक है। इन कानूनों का निर्माण नारी-जीवन के प्रत्येक पहलू को ध्यान में रख कर किया गया था। स्त्री-धन, तलाक तथा परित्यक्ता पत्नियों के भरण-पोषण से संवद्ध कानून न्यायसंगत प्रतीत होते हैं। हम्मूराबी की विधि-संहिता की तुलना में असीरियाई कानूनों में दंड-विधान कठोर हैं। नाक-कान काटना, कोड़ों से पीटना, कड़ा जुर्माना, वेगार तथा वधिया करना दंड-विधान में सम्मिलित थे। कुछ अपराधों के लिए दंड-देने की छूट अपराध से पीड़ित व्यक्तियों को ही दे दी गई थी। उदाहरण के लिए कोई पुरुष यदि अपनी स्त्री के साथ संभोग में लिप्त किसी पुरुष की हत्या कर डाले, तो उसे हत्या का अपराधी नहीं माना जाता था। इस विधि-संहिता में गैरकानूनी यौन-संबंधों के विषय में विशद् कानून बनाए गए हैं। इससे यह अनुमान भी लगाया जाता है कि असीरियाई समाज, बैबिलोनिया की तुलना में अधिक अनैतिक एवं भ्रष्ट

था, पर यह धारणा सही नहीं है, बल्कि कुछ कानूनों से यह प्रमाणित होता है कि समाज के नैतिकता के आदर्श काफी ऊँचे थे। उदाहरण के लिए, यहाँ की विधि संहिता में, जानबूझ कर गर्भपात करने वाली स्त्री को कठोर दंड दिया जाता था; क्योंकि साभिप्राय गर्भपात को राज्य तथा नैतिकता के विरुद्ध घोर अपराध माना जाता था। इसी प्रकार असीरियाई कानूनों में स्त्रियों के मुख पर घूँघट डालने के विशेष नियम बने थे, जिनका उल्लंघन दंडनीय था। विवाहिता स्त्रियों को घूँघट लगाकर सड़कों पर चलना अनिवार्य था, पर कुमारी पुजारिनों, वेश्याओं तथा दासियों को घूँघट लगा कर सड़कों पर चलना वर्जित था। यदि कोई पुरुष दासियों तथा वेश्याओं को घूघँट डाल कर सड़कों पर ले जाता, तो उसे कठोर दंड दिया जाता था। इस अपराध के लिए एक महीने का बेगार, पचास कोड़े की मार या कान छेदे जाने तक की सजा दी जा सकती थी। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी की पत्नी पर झूठा अपराध लगाकर उसे बदनाम करे, तो उसे पानी में डुबो कर मार डाला जाता था। यदि कोई व्यक्ति किसी की पत्नी से उसके पति की जानकारी के बिना व्यापारिक लेन-देन करता, तो उसे भी पानी में डुबोए जाने की सजा का भागी होना पड़ता था। इस तरह के अपराध के लिए अपराधी को बेड़ियों से जकड़ कर पानी में नहीं फेंका जाता था, बल्कि बिना बेड़ियों के ही फेंक दिया जाता था। यदि वह तैर कर या किसी प्रकार बच निकलता, तो भी उसे अन्य दंडों का भागी होना पड़ता। हम्मूराबी के कानूनों में भी पानी में डुबो कर मारने का विधान था, पर असीरियाई विधि-संहिता में इस दंड का प्रयोग बहुत बड़े पैमाने पर किया जाता था।

दासों के क्रय-विक्रय-संबंधी कानून बैबिलोनिया से मिलते-जुलते थे। एक दास के विक्रय से उसका पूरा परिवार ही बिक जाता था। कभी-कभी दासियों अथवा दासों की पत्नी को स्वामी उपपत्नी के रूप में भी रखते थे। इस प्रकार की दासियों का चयन उनकी सुंदरता के आधार पर स्वामी स्वयं किया करते थे। दास अपने पुत्र तथा अपनी पुत्रियों के नाम में अपना नाम नहीं जोड़ सकते थे। अतः उनके नाम के साथ उनके पिता का नाम नहीं लिखा जाता था। बैबिलोनिया की भाँति ही, असीरिया में भी दास भूमि अथवा अन्य व्यक्तिगत संपत्ति के स्वामी हो सकते थे। उनके पास अपना घर, बगीचा, खेत तथा गुलाम भी हो सकते थे। वे अपनी संपत्ति क्रय-विक्रय भी कर सकते थे तथा किसी मुकदमे में गवाही भी दे सकते थे। उनके द्वारा संपत्ति की खरीद-बिक्री के प्रमाण तत्कालीन दस्तावेजों से पाए जाते हैं। बहुत से इकरारनामों में दासों को साक्षी के रूप में उल्लिखित किया गया है। एक प्रकार के गुलाम सदैव भूमि के साथ ही संबद्ध रहते थे। उस भूमि के हस्तांतरण से इन दासों का भी हस्तांतरण हो जाया करता था। कभी-कभी कुछ दास क्रमशः उन्नति करके

उच्च राजकीय कर्मचारियों के पद भी नियुक्त हो जाया करते थे। ६८३ ई०-पू० में एक रानी का दास नगरों का निरीक्षक नियुक्त किया गया था।

स्वतंत्र नागरिकों में एकपत्नीवाद ही प्रचलित था, यद्यपि सुंदर दासियों को उपपत्नी के रूप में रखने की भी प्रथा थी। एक लड़की अपनी युवावस्था में अपने पिता अथवा बड़े भाई के संरक्षण में रहती थी तथा पिता बिना उसकी अनुमति से उसका विवाह किसी भी पुरुष से कर सकता था। उसका पिता किसी ऋण के बदले उसे जमानत भी रख सकता था। इस जमानत से मुक्ति दिलाना पिता का ही कर्त्तव्य था। यदि बिना मुक्ति दिलाए ही पिता की मृत्यु हो जाए तो उसके भाइयों का कर्त्तव्य था कि वे अपनी' बहन को उस जमानत की स्थिति से मुक्त करा कर उसके विवाह के लिए दहेज का प्रबंध करें। यदि एक निश्चित समय के अंदर उसके भाई उसे जमानत से मुक्त न करा पाते तब ऋण देने वाले व्यक्ति का उस लड़की पर अधिकार हो जाता था तथा वह उससे विवाह कर सकता था। पिता को अपनी पुत्री पर इतना अधिकार होता था कि यदि वह चाहे तो उसकी शादी, उसके साथ बलात्कार करने वाले व्यक्ति से भी कर सकता था।

सारगोनी वंश के शासनकाल में विवाह कभी-कभी लड़कियों को खरीद कर भी किया जाता था। कुछ अवस्थाओं में विवाहिता स्त्रियाँ अपने पिता के घर ही रहती थीं तथा कुछ अवस्थाओं में वे अपने पति के साथ रहती थीं। पिता के घर रहनेवाली विवाहिता स्त्रियों को भी पति उनके मासिक खर्च के लिए धनराशि नियमित रूप से दिया करता था। इस धनराशि को 'डुमाकी' (Dumaki) कहा जाता था। जैसा हम देख चुके हैं, स्वतंत्र परिवारों में जन्मी विवाहिता स्त्रियों को सड़कों पर बिना घूँघट डाले चलना वर्जित था। पर किसी भी उपपत्नी, दासी या गणिका के लिए घूँघट लगाना सर्वथा वर्जित था। विवाहिता पत्नी को व्यभिचार के लिए कठोर दंड निश्चित थे। व्यभिचार की विभिन्न परिस्थितियों तथा ब्यौरे के अनुसार दंड में भी कमी-बेसी की गई थी। तलाक देने की भी स्वतंत्रता पुरुष एवं स्त्री दोनों को ही दी गई थी। यदि पति पत्नी के भरण-पोषण का प्रबंध किए बिना पांच वर्षों तक लापता रहे तो पत्नी को यह स्वतंत्रता थी कि वह अपने को विधवा घोषित करे तथा अपनी इच्छा के अनुसार पति ढूँढ़ ले।

परिवार में पिता अथवा वरिष्ठ सदस्य को परिवार के सदस्यों पर पूरा अधिकार था। कभी-कभी पिता अपने बच्चों को बेच भी सकता था। पिता की मृत्यु के पश्चात् पारिवारिक संपत्ति का बँटवारा होता था, पर इस विभाजन में उपपत्नियों की संतानों को कोई हक नहीं था। दहेज में मिली हुई संपत्ति स्त्री-धन मानी जाती थी तथा उस पर उसके पुत्रों का ही अधिकार होता था। किसी भी हालत में उस संपत्ति पर उसके देवरों का अधिकार नहीं होता था।

असीरिया के न्यायालयों में अधिकतर एक ही न्यायाधीश मुकदमों का फैसला करता था, जब कि बैबिलोनिया की अदालतों में कई न्यायाधीश निर्णय लेते थे। कभी-कभी अपराध से आहत व्यक्ति स्वयं अपराधी को दंड दे सकता था। न्यायालयों में प्रत्येक अपराध को प्रमाणित करना पड़ता था।

बैबिलोनिया की ही भाँति भू-संपत्ति तीन प्रकार की होती थी—१. खेत या कृषि योग्य भूमि, २. बगीचे तथा उपवन एवं ३. गृह-निर्माण-योग्य भूमि। खेतों का मूल्य उसके क्षेत्रफल के अनुसार नहीं, वरन उनमें पैदा होने वाले अनाज की मात्रा पर निश्चित किया जाता था। कभी-कभी भूमि का स्वामित्व एक साथ कई व्यक्तियों में निहित रहता था। भू-संपत्ति का विभाजन उत्तराधिकारियों में समान रूप से नहीं होता था, वरन् ज्येष्ठ पुत्र को कभी-कभी दो-तिहाई भाग भी दे दिया जाता था। अनुचित ढंग से अपने खेतों या भू-संपत्ति की सीमा बढ़ाने वालों को कठोर दंड दिया जाता था। सिंचाई के हेतु पानी के बँटवारे के लिए भी निश्चित तथा न्यायसंगत कानून बनाए गए थे। इकरारनामे के कागजात दोनों पक्षों की मुहरों से पक्के बनाए जाते थे। खरीद-बिक्री में चाँदी, जस्ते तथा काँसे के सिक्कोंका प्रयोग होता था। विनिमय को भी विक्रय का स्थान प्राप्त था।

असीरिया में ऋण वाला व्यक्ति ऋण लेने वाले से कोई चीज जमानत में लेकर ही ऋण दिया करता था। हम देख चुके हैं कि कभी-कभी पिता अपनी पुत्री को भी जमानत के रूप में दे देता था। ऋणकर्त्ता अपनी पत्नी तथा पुत्रों को भी जमानत के रूप में दे देता था। जमानत के रूप में दिए गए व्यक्ति को बेचना कानूनी दृष्टि से अपराध माना जाता था तथा अपराधी को दंड दिया जाता था।

असीरियाई कानूनों के अध्ययन से यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू को ध्यान में रख कर विधिसंहिता का निर्माण हुआ था। अतः, ये कानून तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के दर्पण प्रतीत होते हैं। इन कानूनों को असीरियाई साम्राज्य के प्रांतों में भी दृढ़तापूर्वक लागू किया जाता था। इन कानूनों को मेसोपोटामिया, सीरिया तथा पेलेस्टाइन में मान्यता प्राप्त थी तथा इनसे व्यापारी और समाज के निर्धन वर्ग भी लाभान्वित होते थे।

भवन-निर्माण कला

असीरिया के राजाओं ने राजप्रासाद तथा महलों के निर्माण में बहुत अभिरुचि प्रदर्शित की। सिंहासनारूढ़ होने के शीघ्र बाद प्रत्येक शासक पुराने महल का त्याग कर नूतन राजप्रासाद में रहने के लिए व्याकुल हो जाता था। इसका कारण यह था कि प्रत्येक शासक अपने मनोनुकूल राजभवन का निर्माण कर उसकी दीवारों पर चित्रों एवं अभिलेखों के द्वारा अपनी कृतियों का चिरस्थायी कीर्त्तिमान् उपस्थित

करने का इच्छुक रहता था। इसीलिए पुराने महल, जिनमें पूर्ववर्त्ती शासक की कीर्त्ति गाथा दीवारों पर अंकित होती थी, नए शासक को भी उसी प्रकार अपने बनवाए महल में अपनी यश-गाथा का विवरण प्रस्तुत करने को प्रेरित करती थी। इस प्रवृत्ति ने असीरियाई शासकों को स्थापत्य-कला के क्षेत्र में अपना कीर्त्तिमान् स्थापित करने में सहायता दी।

असीरियाई राजप्रासादों की रूपरेखा एक प्रकार की ही है। भीतरी निर्माण-शैली में थोड़ी-बहुत विविधता दृष्टिगोचर होती है। असीरियाई राजाओं के बनाए राजप्रासादों में आठवीं शताब्दी ई०पू० में बना दर-शारुंकिन नामक नगर में स्थित महल अत्यंत प्रसिद्ध हैं। दर-शारुंकिन के नगर एवं राजप्रासाद का निर्माण एक साथ ही हुआ था तथा दोनों का अस्तित्व थोड़े समय के लिए ही रहा। निनेवे के दस मील उत्तर-पूरब में सारगन ने इस नगर को बसाया था। इस नगर की सुरक्षा के लिए उसने एक आयताकार चहारदीवारी भी बनवायी थी। उसने एक ऊँचे स्थान पर अपना महल बनवाया था। यह महल लगभग २५ एकड़ ऊँची भूमि के क्षेत्रफल में फैला हुआ था तथा इसमें दो सौ कमरे थे। इस महल के कमरे एवं प्रकोष्ठ तीन प्रमुख भागों में विभक्त थे। इन तीनों भागों में आवास-गृह, स्वागत-कक्ष एवं मंदिर अलग-अलग स्थित थे। महल के जिस भाग से नगर की ओर जाने का मार्ग था, वहाँ एक ऊँचा गोपुर था, जिसमें तीन सिंहद्वार तथा बुर्ज बने हुए थे। केंद्र में स्थित सिंहद्वार पर तीन जोड़े पंखपुक्त बैलों तथा गिलगमेश देवता की मूर्त्ति थी, जिसमें इस देवता को एक सिंह का गला घोंटते हुए प्रदर्शित किया गया था। शेष दो सिंहद्वारों पर एक जोड़ा पंखयुक्त बैलों को संरक्षक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। इन मूर्तियों तथा सिंहद्वारों से राजप्रासाद की भव्यता में चार चाँद लग गए थे। इसी प्रकार निनेवे तथा अशुर में भव्य प्रासादों, मंदिरों तथा पुस्तकालयों का निर्माण हुआ था। इन भवनों के निर्माण में विजित दासों से काम लिया जाता था। इन महलों के सिंहद्वारों से रथ सुविधापूर्वक आ-जा सकते थे। महलों के अंदर ही परिचारकों, दासों तथा दासियों के निवास स्थान एवं कई प्रकार के भंडारगृह भी स्थित थे। इन भंडारगृहों में बर्तन, धातु तथा युद्ध के पश्चात् लूटे हुए सामान रखे रहते थे। पास में ही भंडारगृह के संरक्षक का भी आवास होता था।

इन विशाल राजप्रासादों के निर्माण में ईंटों का प्रयोग होता था, पर बैबिलोनिया में भवन-निर्माण में पत्थरों का प्रयोग अधिक किया जाता था। चूँकि भवनों के निर्माण में युद्धबंदियों से काम लिया जाता था, इसलिए शीघ्रता से राजप्रासादों के निर्माण में ईंटों का प्रयोग अधिक सुविधाजनक माना जाता था। बैबिलोनिया की ही भाँति इन राजप्रासादों का निर्माण ऊँचे चबूतरों पर होता था। इससे राज-

प्रासादों की भव्यता में वृद्धि हो जाती थी। दीवारों में धूप में सुखाई हुई ईंटों का प्रयोग होता था, अतः गारे या मसाले के प्रयोग के बिना ही दीवारों का निर्माण हो जाता था। नगरों की चहारदीवारियाँ में भी पत्थर का प्रयोग बहुत कम होता था। अतः, ये चहारदीवारियाँ ईंटों से बनायी जाती थीं। राजप्रासादों में भी अत्यन्त सीमित रूप में पत्थरों का प्रयोग होता था। उदाहरणार्थ स्तंभों का शीर्ष-भाग, दीवारों का ऊपरी भाग, नींव तथा ध्वज-दंड पत्थरों से बनाए जाते थे।

मूर्तिकला

अशुर-बनिपाल के शासनकाल में वास्तुकला एवं मूर्तिकला का विकास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। असीरिया की प्रारम्भिक एवं मूर्तिकला पर मुख्य रूप से कस्साइटयुगीन बैबिलोनिया की मूर्तिकला तथा हिट्टाइट कला का प्रभाव पड़ा था। पशुओं के चित्रण में असीरियाई मूर्तिकारों को कमाल हासिल था। मानव-शरीर के चित्रण में असीरियाई कलाकारों ने मनुष्य के अंग-विन्यास के चित्रण की अपेक्षा वस्त्र एवं आभूषण के चित्रण पर अधिक ध्यान दिया। जहाँ बैबिलोनिया की मूर्ति एवं चित्रकला में धार्मिक दृश्यों के चित्रण पर अधिक ध्यान दिया गया, वहाँ असीरियाई चित्रकला तथा मूर्तिकला के माध्यम से युद्ध तथा शिकार के दृश्यों को अधिकतर प्रदर्शित किया गया।

असीरिया की मूर्तिकला के प्राचीनतम नमूने अशुर नगर के भग्नावशेषों से प्राप्त हुए हैं। पत्थर की बनी हुई छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ इस युग की कला का परिचय देती हैं। असीरिया की मूर्तिकला का क्रमशः विकास होता गया। नौवीं शताब्दी ई०-पू० में असीरियाई मूर्तिकला का चरम विकास हुआ। बैबिलोनिया की मूर्तिकला की तुलना में असीरियाई मूर्तिकला अधिक यथार्थवादी एवं सजीव थी। मूर्तिकला की विषयवस्तु अधिकतर जीवन के यथार्थ पक्ष पर आधारित थी। युद्ध एवं शिकार के दृश्य असीरियाई कलाकारों को अधिक प्रिय थे।

राजप्रासादों की दीवारों पर नक्काशी (las relief) के द्वारा भी मनुष्यों एवं पशुओं के अत्यंत सजीव चित्र बनाए गए। इन सजीव चित्रों से राजप्रासादों की दीवारों को सजाया जाता था। इन नक्काशियों में भी पशुओं का चित्रण बड़ी ही कुशलता एवं सफलता से किया गया। मनुष्यों के वस्त्राभूषण तथा प्राकृतिक दृश्यावली को भी सफलतापूर्वक चित्रित किया गया। इन नक्काशियों में अशुर-बनिपाल के राजप्रासाद की दीवार पर अंकित शिकार में वाण से आहत सिंह की मूर्त्ति को असीरियाई कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना माना जाता है। इस नक्काशी में बाण से आहत, मरते हुए सिंह की व्यथा का सजीव चित्रण हुआ है। इसी प्रकार सेन्नाचरीब के महल की दीवारों पर घायल सिंहिनी की प्राण-पीड़ा की सफल

अभिव्यक्ति भी की गई है। असीरियाई कलाकारों ने घोड़े, गधे, कुत्ते, हिरणों तथा पक्षियों का चित्रण भी सफलतापूर्वक किया। सारगन द्वितीय द्वारा बनाये गये खोरसाबाद के महल की दीवारों पर घोड़ों के सजीव चित्रण मिलते हैं। अशुर-बनिपाल के महल की दीवारो पर आराम करती हुई एक सिंहनी का चित्र भी अपनी यथार्थता एवं सफलता के लिए अत्यंत प्रसिद्ध है।

गौण कलाएं

वस्त्र, आभूषण तथा उपस्कर के चित्रण एवं निर्माण में भी असीरियाई कलाकारों ने अपनी दक्षता प्रदर्शित की। राजप्रासादों की दीवारों पर की गई नक्काशी से इस क्षेत्र में असीरियाई कलाकारों की सफलता का आभास मिलती है। राजप्रासादों में बहुमूल्य और राजसी उपस्कर व्यवहृत होते थे। राजसिंहासन, पलंग, कुर्सी, मेज और आरामकुर्सी अत्यंत बहुमूल्य लकड़ी की बनायी जाती थी। उनमें सोने, चाँदी और बेशकीमती पत्थर जड़े रहते थे तथा सुंदर नक्काशी भी की जाती थी। शानदार उपस्कर निर्माण करने में असीरियाई कलाकारों को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त थी।

विभिन्न प्रकार के आभूषणों के निर्माण में भी असीरियाई कलाकार पूर्णरूपेण कुशल थे। सोने, चाँदी तथा सोने का मुलम्मा दिए हुए ताँबे के गहनों का प्रयोग स्त्री तथा पुरुष सभी किया करते थे। अतः, बहुत बड़े पैमाने पर आभूषणों का निर्माण होता था। तरह-तरह के हार, अँगूठी, बाजूबंद तथा कर्णफूल बनाए जाते थे। हारों में बहुमूल्य पत्थरों का भी प्रयोग किया जाता था। देवताओं की आकृतियों के छोटे प्रतीक भी गले से लटका कर हार की तरह पहने जाते थे। इन सभी प्रकार के आभूषणों के निर्माण में असीरियाई कलाकारों को पूर्ण क्षमता प्राप्त थी।

बैबिलोनिया की भाँति असीरिया का अभिजात वर्ग भी प्रतिदिन सुगंधित तेल, उबटन तथा श्रृंगारिक प्रसाधनों का उपयोग करता था। चूँकि इन वस्तुओं की माँग थी, इसलिए भाँति-भाँति के तेल तथा श्रृंगारिक प्रसाधन भी तैयार किए जाते थे। इस क्षेत्र में भी असीरियाई कलाकारों की सफलता प्रशंसनीय थी। इसी प्रकार मिट्टी, पत्थर तथा शीशे के दर्शनीय कलश एवं घड़े भी बनाए जाते थे। इन गौण कलाओं के क्षेत्र में भी असीरियाई कलाकारों ने अपनी निपुणता का परिचय दिया।

साहित्य

बैबिलोनिया के साहित्य को सुरक्षित कर हमलोगों तक पहुँचाने का श्रेय असीरियाई साहित्यकारों को ही है। असीरिया में की गई खुदाई से यह ज्ञात हुआ है कि बैबिलोनिया के महाकाव्यों तथा साहित्य के संकलन-संपादन का कार्य अशुर-बनिपाल के शासनकाल से कम-से-कम छह सौ साल पहले प्रारंभ हुआ था। अशुर तथा निनेवे नगरों में बैबिलोनिया के महाकाव्यों की जो प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, उन्हीं पर बैबिलोनिया के सुप्रसिद्ध आख्यान 'गिल-गमेश-कथानक' के विषय में हमारी सारी जानकारी आधारित हैं। इसी प्रकार विश्व की सृष्टि के विषय में बैबिलोनिया का 'सात तख्तियों का आख्यान' भी हमें असीरिया में ही प्राप्त हुआ है। यदि ये आख्यान असीरिया में सुरक्षित नहीं होते, तो विश्व-सभ्यता को इनका पूर्ण ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता। अतः, अशुर तथा निनेवे नगरों के पुस्तकालयों में इन महाकाव्यों की जो प्रतिलिपियाँ तैयार करायी गईं तथा सुरक्षित रखी गईं, उनके कारण विश्व-सभ्यता का इतिहास समृद्ध हुआ है।

स्वतंत्र रूप में असीरिया में साहित्य की रचना दो प्रकार से हुई। प्रथम देववाणी, भविष्यवाणी तथा शकुन के रूप में एवं द्वितीय ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन अथवा इतिवृत्त के रूप में। देववाणियों के द्वारा देवता राजाओं को युद्ध के अभियानों के पहले आशीर्वाद अथवा चेतावनी देते हुए दीख पड़ते हैं। इन देववाणियों में अलंकृत तथा शब्दाडंबरपूर्ण भाषा का व्यवहार किया गया है।

राजाओं द्वारा शिलालेख उत्कीर्ण कराकर उनके शासनकाल की घटनाओं का ऐतिहासिक एवं क्रमबद्ध वर्णन सुरक्षित कराया गया। इन ऐतिहासिक शिलालेखों से संपूर्ण मेसोपोटामिया के इतिहास के पुनर्निर्माण में बहुत सहायता मिली है। सारगोनी वंश के शासनकाल में जो शिलालेख उत्कीर्ण कराए गए, उनमें प्रत्येक वर्ष की घटनाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है।

सेन्नाचरीब तथा अशुर-बनिपाल के शासनकाल में इन इतिवृत्तात्मक शिलालेखों की एक विशिष्ट शैली का प्रादुर्भाव हुआ, जिन पर बैबिलोनिया की शैली का प्रभाव था, तो भी यह शैली स्वतंत्र रूप से विकसित असीरियाई शैली सिद्ध हुई। संभवतः इस शैली पर हिट्टाइट अभिलेखों का प्रभाव अधिक पड़ा था। जो कुछ भी हो, इन ऐतिहासिक अभिलेखों को प्राचीन असीरियाई साहित्य का एक प्रमुख अंग मानना होगा।

सुमेर और अक्कड़ में प्रयुक्त कीलाकार लिपि का प्रयोग असीरिया में भी होता था। इस लिपि का थोड़ा-बहुत परिष्कार भी असीरिया में हुआ, पर इस लिपि के सभी दोष दूर नहीं किए जा सके।

जादू-टोने संबंधी लेखों, राजकीय पत्रों तथा दस्तावेजों को भी असीरियाई साहित्य का अंग माना जा सकता है। वास्तव में असीरियाई लिपिकों ने वैविलोनिया के प्रमुख आख्यानों तथा महाकाव्यों की प्रतिलिपि सुरक्षित कर विश्व-सभ्यता को महान योगदान किया है। असीरियाई साहित्य में मौलिक रचनाएँ नहीं के वरावर हैं। इतिवृत्तात्मक अभिलेखों से इतिहास-लेखन में अवश्य सहायता मिली है।

ज्ञान-विज्ञान

जिस प्रकार रोमन लोगों ने यूनान के ज्ञान-विज्ञान एवं साहित्य को अपनाया ही नहीं, वरन् उनका संरक्षण एवं प्रसार भी किया, ठीक उसी प्रकार साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में, असीरियाई लोगों ने वैविलोनिया से सीख कर उसकी रक्षा की तथा आने वाली सभ्यताओं को उस ज्ञान की विरासत के रूप में देकर मानव-सभ्यता को समृद्ध किया। साहित्य की ही भाँति ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में भी असीरिया की सभ्यता बैबिलोनिया की सभ्यता की पूर्णरूपेण ऋणी थी। इस क्षेत्र में भी उनकी मौलिक देन नहीं के बराबर थी, पर उन लोगों ने बैविलोनिया से प्राप्त ज्ञान-विज्ञान का संवर्द्धन, प्रचार एवं संरक्षण सफलतापूर्वक किया। अशुर-बनिपाल के समय में बैबिलोनिया के ज्ञान-विज्ञान की छानवीन करके उसकी रक्षा की गई। इसी युग के प्रयत्नों से हम्मूराबी के युग के ज्ञान-विज्ञान को जीवित रखा जा सका।

बैबिलोनिया से प्राप्त ज्ञान-विज्ञान को क्रमबद्ध तथा सुव्यवस्थित करने में असीरिया के विद्वानों ने अपनी दक्षता प्रदर्शित की। ज्योतिष के क्षेत्र में ग्रहों तथा तारों की गति का सूक्ष्म निरीक्षण कर उनका संग्रह किया गया तथा इसके आधार पर फलित ज्योतिष का विकास किया गया। बाद की सभ्यताओं में इस संगृहीत ज्ञान का उपयोग गणित ज्योतिष के विकास में भी किया गया।

चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में असीरियाई लोगों ने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। उनलोगों ने शरीर-विज्ञान तथा रोगों के लक्षणों का विशद् अध्ययन किया। उन्हें औषध-कोश का भी बहुत अच्छा ज्ञान था। वस्तुत: इस क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों तथा योगदान का अच्छा अध्ययन अच्छी तरह नहीं किया गया है।

रसायनशास्त्र के क्षेत्र में उन्हें कुछ सफलता प्राप्त हुई थी। वे कई प्रकार के रंग बनाने तथा मीनाकारी से परिचित थे। उन्हें इंजीनियरी का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त था और अनुभव के आधार पर वे विज्ञान के प्राथमिक तथ्यों का भी ज्ञान रखते थे। अपने व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर ही उनलोगों ने विभिन्न प्रकार के पत्थरों का निरीक्षण कर उनकी सूची तैयार की, पर इस दिशा में उन्होंने

कोई सैद्धान्तिक या तार्किक वर्गीकरण या शोध नहीं किया। पर, उनके द्वारा संगृहीत ज्ञान का उपयोग बाद में किया गया।

असीरिया के लिपिक वर्ग को सुमेर की भाषा तथा अन्य सेमिटिक बोलियों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। तभी वे कीलाकार लिपि में बैबिलोनिया की साहित्यिक कृतियों की प्रतिलिपि तैयार कर सकते थे। लिपिकों के इस प्रयत्नों से असीरिया में भाषा-विज्ञान तथा भाषाशास्त्र का विकास हुआ। कीलाकार लिपि के प्रसार में भी असीरियाई विद्वानों तथा लिपिकों का योगदान महत्त्वपूर्ण था। मीडिया तथा उरातू प्रदेशों में इस लिपि का प्रचार असीरिया के माध्यम से ही हुआ। इस लिपि में संशोधन करके असीरियाई लिपिकों ने अपने कार्य को एक कला का स्थान दे दिया।

भूगोल के क्षेत्र में असीरियाई लोगों ने कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं की, पर अपने विजित प्रदेशों के प्रमुख अंचलों एवं स्थानों के बारे में सूचनाप्रद लेखों का संग्रह अवश्य किया। इन लेखों में विभिन्न नगरों की दूरी, युद्ध-मार्गों का वर्णन तथा कारवाँओं के मार्ग के वर्णन पाए जाते हैं।

इनके नाप-तौल के साधन बैबिलोनिया से लिए गए थे, पर उनमें थोड़ा संशोधन एवं सुधार भी किया गया था। सिक्कों के लिए असीरिया में अधिकतर ताँबा, जस्ता तथा चाँदी का प्रयोग किया जाता था। लेन-देन के लिए सोने का प्रयोग कम होता था।

अतः ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी असीरिया का प्रमुख योगदान बैबिलोनिया के ज्ञान-विज्ञान को सुरक्षित करके परवर्ती सभ्यताओं को समृद्ध बनाना ही था। इस क्षेत्र में भी उनकी मौलिक देन कम ही थी।

मूल्यांकन

चिंतन अथवा विचार के क्षेत्र में असीरियाई लोगों ने मानव-सभ्यता को किसी प्रकार भी समृद्ध नहीं किया। हम देख चुके हैं कि साहित्य अथवा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उनकी देन नगण्य है। उनकी वास्तविक उपलब्धियाँ राजनैतिक तथा सैनिक क्षेत्र तक ही सीमित रहीं। इन लोगों ने एक कठोर तथा भयानक सैन्य-तंत्र की स्थापना की, जिसके सहारे इनका विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ। इस साम्राज्य की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए ही इन लोगों ने राजनैतिक व्यवस्था भी स्थापित की, जो अपने समय में सफल सिद्ध हुई। पर, इनके युद्ध-अभियानों की क्रूरता तथा निर्दयता विश्व-इतिहास में कुख्यात हो गई और इस प्रकार से इनके विशाल साम्राज्य के पराभव एवं विनाश का मूल कारण भी सिद्ध हुई।

सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में इनकी मुख्य देन वैबिलोनिया की सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा तथा प्रसार ही माना जा सकता है। यहाँ के शासकों ने वैबिलोनिया की साहित्यिक कृतियों की प्रतिलिपियों से अपने पुस्तकालयों को भर दिया। इन प्रतिलिपियों के द्वारा ही हमें इस साहित्य का ज्ञान प्राप्त हुआ। अतः इस महान सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित कर हम तक पहुँचाना इनकी सर्वोच्च उपलब्धि है। अतः, मुख्यरूपेण असीरिया के लोग किसी महान् संस्कृति के निर्माता नहीं, वरन् संरक्षक थे।

असीरिया की सभ्यता के पतन के पश्चात् भी पड़ोसी देशों की सभ्यता एवं संस्कृति असीरियाई सभ्यता से प्रभावित हुई। एशियाई राजतंत्र के विकास में असीरियाई साम्राज्यवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। सीरिया तथा ईरान की सभ्यता पर भी असीरियाई संस्कृति की गहरी छाप पड़ी। जरथुष्ट्र के धर्म पर भी असीरियाई धर्म का प्रभाव परोक्ष रूप से पड़ा था। इस प्रकार ईरान तथा सीरिया असीरियाई संस्कृति से बहुत दूर तक प्रभावित हुए।

चारों ओर से बर्बर एवं असभ्य जातियों से घिरे रहने के कारण असीरिया के संरक्षण से ही वैबिलोनिया की संस्कृति जीवित बच सकी। इनके संरक्षण के बिना इस सांस्कृतिक धरोहर का लोप अवश्यंभावी था, क्योंकि वैबिलोनिया के लोग अपने साम्राज्य के पतन के बाद निःशक्त और दुर्बल हो गए थे तथा अपनी सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा में सर्वथा असमर्थ थे। अतः, वैबिलोनिया की सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा एवं प्रसार के कारण मानव-सभ्यता इनकी ऋणी रहेगी।

६. प्राचीन यूनान की सभ्यता

प्राचीन यूनान का ऐतिहासिक महत्त्व

प्राचीन यूनान का इतिहास प्राचीन विश्व के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन विश्व के इतिहास में कला, साहित्य एवं दर्शन के क्षेत्र में प्राचीन यूनान की देन अद्वितीय है। सच तो यह है कि आधुनिक यूरोप जिन राजनैतिक सिद्धांतों तथा साहित्यिक आदर्शों पर गर्व करता है, वे प्रायः सभी आदर्श एवं सिद्धांत प्राचीन यूनान की देन हैं। स्वतंत्रता एवं गणतंत्र, विचार-स्वातंत्र्य तथा बौद्धिक अनुसंधान, वैधानिक शासन एवं अनुशासन, ये सारे आदर्श प्राचीन यूनान के नागरिकों ने प्रारंभ किये तथा उनकी भावी पीढ़ियों को सिखलाया। इसके अतिरिक्त प्राचीन यूनान ने बौद्धिक जगत में संसार को अनुपम तथा अक्षय देन दी। प्राचीन यूनान में बड़े-बड़े दार्शनिक, कवि, नाटककार एवं लेखकों ने जन्म लिया, जिनकी रचनाएँ आज भी आदर्श मानी जाती हैं। इन रचनाओं से विश्व-साहित्य आज भी समृद्ध है। बहुत अंश में आधुनिक यूरोप की सभ्यता एवं संस्कृति, विचारधारा एवं चिंतन-शैली, प्राचीन यूनान की संस्कृति पर आधारित हैं। कला के क्षेत्र में भी प्राचीन यूनान के रहे सहे भग्नावशेष कला-विशेषज्ञों की प्रशंसा के पात्र हैं। इसी कारण आज यूरोपीय इतिहास के विद्वान प्राचीन यूनान को यूरोपीय सभ्यता का जनक मानते हैं। इस समृद्ध एवं उन्नत सभ्यता के इतिहास का वास्तविक मूल्यांकन तभी संभव है, जब हम प्राचीन यूनान की सभ्यता के क्रमिक विकास पर ध्यान दें।

इतिहास पर भौगोलिक स्थिति का प्रभाव

विद्वानों के मतानुसार किसी देश की भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश की ऐतिहासिक प्रगति पर पड़ता है। यह कथन प्राचीन यूनान के इतिहास में अक्षरशः चरितार्थ होता है। यूनान एक प्रायद्वीप है जो यूरोप के पूर्व-दक्षिण में स्थित है। यह तीन ओर से भूमध्य सागर से घिरा हुआ है। इसका समुद्री किनारा कटा हुआ है तथा समुद्र बहुत दूर तक अंदर घुस गया है। अतः, यूनान का कोई भी स्थान समुद्र से सौ मील से अधिक दूरी पर स्थित नहीं है। समुद्र का निकट होना प्राचीन यूनान वालों के लिए वरदान सिद्ध हुआ तथा वे अत्यंत कुशल

नाविक सिद्ध हुए। उनके यहाँ अत्यंत शक्तिशाली नौसेना का विकास हुआ, जिसके बल पर उन लोगों ने अनेक उपनिवेशों की स्थापना की। व्यापार-वाणिज्य की उन्नति भी नाविकों द्वारा हुई। सबसे बड़ी बात इससे यह हुई कि समुद्र के संपर्क से यूनानियों में साहसिक प्रवृत्ति का जन्म हुआ जो उनमें बराबर बनी रही तथा उनकी अनेक विजयों एवं सफलताओं का कारण बनी।

यूनान से पूर्व इजियन समुद्र के स्थित होने से यूनानियों का एशिया से संपर्क हुआ तथा इससे उन लोगों ने एशिया की पुरातन एवं समृद्ध सभ्यता से बहुत कुछ सीखा और यूरोप वालों को सिखलाया। इस तरह वे यूरोप और एशिया को जोड़ने वाली कड़ी सिद्ध हुए।

यूनान का आंतरिक भू-भाग पहाड़ों एवं घाटियों से भरा हुआ है। लंबे-चौड़े मैदान एवं लंबी-चौड़ी नदियाँ वहाँ नहीं के बराबर हैं। इन पहाड़ों एवं घाटियों ने यूनान वालों को मानो आपस में ही विभाजित कर दिया है। इस कारण यहाँ बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना नहीं हो सकी। पहाड़ियों से घिरी हुई इन छोटी-छोटी घाटियों में छोटे-छोटे स्वतंत्र नगर-राज्यों या गणतांत्रिक राज्यों का विकास हुआ, जिसमें आपस में प्रतिद्वंद्विता तथा ईर्ष्या रहती थी। इस कारण प्रत्येक यूनानी के हृदय में अपने-अपने गणतांत्रिक राज्य या नगर के लिए असीम श्रद्धा एवं भक्ति रहती थी पर उनके हृदय में राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं हो सका। राष्ट्र-भक्ति का स्थान नगरभक्ति ने ले लिया। पर इन छोटे-छोटे नगर-राज्यों में बहुत स्वस्थ एवं जागरूक राजनैतिक जीवन का विकास हुआ। प्रत्येक स्वतंत्र यूनानी राजनैतिक संस्थाओं का सदस्य था तथा राजनैतिक कार्यों में सक्रिय भाग लेता था। फलस्वरूप उनकी राजनैतिक चेतना अत्यंत प्रौढ़ थी। इन नगर-राज्यों में गणतंत्र एवं स्वायत्त-शासन के सफल प्रयोग हुए जो आज तक आश्चर्य के विषय हैं।

इसके अतिरिक्त यूनान की जलवायु कठोर है। काफी ठंढक पड़ने से यूनानी अत्यंत परिश्रमी होते थे तथा उनमें स्फूर्ति का बाहुल्य था। फिर यूनान की भूमि उपजाऊ नहीं है। इस कारण यूनानी साहसी एवं परिश्रमी बन गए। कठोर अनुशासन उनके जीवन का ध्येय था, जिसके बल पर उन लोगों ने बहुत-सी सफलताएँ प्राप्त कीं। व्यायाम के द्वारा वे अपने शरीर को भी स्वस्थ एवं शक्तिशाली रखते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि यूनान की जलवायु तथा भौगोलिक स्थिति ने भी यूनानियों की महत्ता में सहयोग दिया।

ईजियन सभ्यता : क्रीट की सभ्यता

ईजियन सागर में स्थित क्रीट की सभ्यता प्राचीन यूनानी सभ्यता की जननी मानी जाती है। ईजियन समुद्र में स्थित कितने ही द्वीपों में एक समृद्ध

सभ्यता का उदय हुआ। यूनान में ग्रीक जाति के आने के पहले ही इस सभ्यता का अभ्युदय हो चुका था। इस सभ्यता को 'ईजियन सभ्यता' भी कहते हैं। क्रीट, मेलोस आदि इस सभ्यता के प्रधान केंद्र थे।

मिनोअन सभ्यता

क्रीट में जिस सभ्यता का विकास हुआ, उसे विद्वान 'मिनोअन सभ्यता' भी कहते हैं। क्रीट में माइनोस नामक राजा हुआ था, जिसके नाम पर इस सभ्यता का नामकरण हुआ था। क्रीट के निवासी, जिन्होंने इस सभ्यता का निर्माण किया, वे ग्रीक या यूनानी नहीं थे। न तो उनकी भाषा यूनानी थी और न वे यूनानियों के वंशज ही थे। उनका रंग उजला, पर कुछ मटमैला था। वे एक विचित्र भाषा बोलते थे।

इस सभ्यता का उदयकाल

काँसे का प्रयोग

लगभग ३००० ई०-पू० में क्रीट के निवासी पाषाण-युग समाप्त कर चुके थे तथा उन्होंने काँसे का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया था। प्रायः २००० ई०-पू० से क्रीट एक ऐसी शक्तिशाली एवं जीवन्त सभ्यता का केन्द्र बन गया जो मिस्र और बैबिलोन की सभ्यताओं के समकक्ष थी। खुदाइयों से ऐसा पता चला है कि क्रीट एक अत्यन्त विकसित कला एवं जीवन का केन्द्र था तथा वहाँ की संस्कृति पूरे भूमध्य सागर तथा उसके बाहर भी फैली हुई थी। पूरे क्रीट द्वीप में एक ही सभ्यता के प्रसार के प्रमाण मिलते है। इस द्वीप में दो नगर इस सभ्यता के प्रधान गढ़ थे। इन नगरों के नाम थे—नौसस (Cnossus) तथा फीस्टस (Phaestus)। ये दोनों नगर दो राजवंशों के गढ़ थे, जहाँ राजप्रासाद बने हुए थे। २००० ई०-पू० में ही नौसस का विशाल राजप्रासाद एक पहाड़ी पर बनाया गया तथा इसी के लगभग फीस्टस में भी राजमहल का निर्माण हुआ। ये राजप्रासाद इतने सुदृढ़ बनाए गए थे कि कई शताब्दियों तक खड़े रहे। इसी समय क्रीट में कला का विकास हुआ। विशेषतः मिट्टी के वर्त्तन बनाने की कला में अत्यन्त उन्नति हुई। मिट्टी के बर्तन कई रंगों से रँगे जाते थे। चित्रकला के जो नमूने प्राप्त हुए हैं, वे भी अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक हैं। राजप्रासादों की दीवारों पर सुन्दर चित्र खचित हैं। जैसे नीले रंग में एक लड़के का चित्र मिला है, जो फूलों को चुनकर एक वर्तन में रख रहा है। यह क्रीट की चित्रकला का एक अत्यन्त उत्कृष्ट नमूना है।

क्रीट की सभ्यता की यह विशेषता थी कि क्रीटवासी लिखना जानते थे। प्रारम्भ में, चित्रलिपि के द्वारा तथा बाद में चिह्नों द्वारा वे लिखने का काम लेते थे। उनकी लिखावट के नमूने शिलालेखों में प्राप्त हुए हैं। पर, उनकी

आज तक पढ़ा नहीं जा सका है। सम्भवतः उनकी भाषा एशिया माइनर की कोई प्राचीन भाषा थी। १००० ई०-पू० के लगभग क्रीट के इतिहास में कुछ विप्लव हुआ, जिसके कारण नौसस तथा फीस्टस के राजप्रासादों का आंशिक विनाश हुआ। यह उथल-पुथल सम्भवतः आन्तरिक विद्रोह के कारण हुई, किसी बाहरी आक्रमण के कारण नहीं। इसके बाद, लगभग १०० वर्षों तक मिस्र और क्रीट में जो पारस्परिक आवागमन तथा आदान-प्रदान चला आ रहा था; वह भी वन्द हो गया। पर, शीघ्र ही एक नए राजवंश ने नौसस की पहाड़ी पर विजय प्राप्त की तथा एक नए और उन्नत युग का श्रीगणेश किया। इस नए वंश ने १६०० ई०-पू० से नौसस पर राज्य करना प्रारम्भ किया तथा राजप्रासाद को और भी बड़े पैमाने पर निर्मित किया एवं सजाया। १५०० ई०-पू० तक नौसस का राजप्रासाद नए ढंग से बन चुका था। यह राजप्रासाद पाँच एकड़ जमीन पर फैला हुआ था। इसके चारों ओर दीवारें नहीं थीं।

लेखन-कला

नए राजवंश का शासन

सामुद्रिक शक्ति

क्रीट के राजाओं की सामुद्रिक शक्ति प्रबल थी। वे सोचते थे कि किसी बाहरी आक्रमण से नौसेना उनकी रक्षा कर सकती है। राजप्रासाद के बीच में दरबार-स्थल था तथा उसके चारों ओर कमरे एवं रास्ते थे। सीढ़ियों के भग्नावशेषों से पता चलता है कि कुछ हिस्सों में राजप्रासाद तीन-चार मंजिलों तक बनाया गया था। प्रधान कमरों में प्रकाश आने के लिए बड़े-बड़े छेद थे। स्नानागार बने थे तथा नालियों का प्रबन्ध अत्यन्त सुन्दर और मजबूत था। पानी के विकास के लिए नले लगे थे, जो आधुनिक नलों की तरह मजबूत थे। इतने विशाल राजप्रासाद इसलिए बनाए गए थे कि केवल राजाओं के आवास के लिए ही नहीं बने थे वरन् वे क्रीट विस्तृत सामुद्रिक साम्राज्य के केन्द्रीय शासन के गढ़ थे।

भवन-निर्माण
राजप्रासाद

शासन तथा अर्थनीति

इस विशाल साम्राज्य का शासन बहुत सर्तकता एवं सावधानी से होता था। आर्थिक मामलों की सूझ तथा परख थी। खुदाई में बहुत-सी तख्तियाँ मिली हैं, जिन पर हिसाब-किताब लिखा हुआ है। इतने बड़े साम्राज्य से जो कर एवं राजस्व आता था, उसका हिसाब-किताब सावधानी से रखा जाता था। शासनतन्त्र सुगठित था तथा राजकर्मचारियों की संख्या काफी थी। इन कर्मचारियों के कार्यालय भी राजप्रासाद में ही स्थित थे तथा कुछ उद्योग-धंधे भी राजप्रासाद के ही अन्दर थे। जैतून का तेल पेरने का कारखाना पाया गया है, जिससे पता चलता है कि तेल इतनी अधिक मात्रा में तैयार होता होगा, जिससे

उद्योग-धन्धे

राजप्रासाद की आवश्यकताएँ पूरी होती होंगी तथा राजा व्यापार भी करता होगा इसके अतिरिक्त मूर्त्ति बनाने वाले और चित्रकार भी राजप्रासाद में रहते थे, जो राजा की सेवा में नियुक्त थे। राजप्रासाद के अन्दर रंग बनाए जाने के भी प्रमाण मिले हैं।

इस विशाल राजप्रासाद में सबसे प्रधान कमरा वह है, जिसमें एक पत्थर का सिंहासन रखा हुआ है। इस सुन्दर सिंहासन पर राजा अपने मन्त्रियों के साथ मंत्रणा के लिए बैठता होगा; क्योंकि सिंहासन के दोनों ओर दीवार के पास बेंच रखी हुई हैं। राजप्रासाद के सभी मुख्य कमरे तथा रास्तों की दीवारों पर सुन्दर चित्रकारी है, जिनमें तत्कालीन जीवन की सुन्दर झाँकी मिलती है।

कला एवं मनोरंजन

नौसस के राजाओं ने राजप्रासाद के उत्तरी फाटक के पास नाट्यशाला (थिएटर) का निर्माण कराया, जिसमें ४०० दर्शक बैठ सकते थे। क्रीट के निवासी बैलों की लड़ाइयाँ भी बड़े चाव से देखते थे। दीवारों की चित्रकारियों में बैलों की लड़ाइयों के चित्र खचित हैं। खुदाई में एक रँगा हुआ घड़ा मिला है, जो क्रीट की बर्तन बनाने की कला का अत्यन्त उत्कृष्ट नमूना है। इससे पता चलता है कि १६वीं शताब्दी ई०-पू० में ही क्रीट में मिट्टी के बर्तन बनाने की कला का चरम विकास हो चुका था।

फीस्टस के राजप्रासाद का भी पुनर्निर्माण १६०० ई०-पू० के ही आस-पास हुआ।

फीस्टस

इस राजप्रासाद का निर्माण भी नौसस के नमूने पर हुआ। यहाँ भी चहार-दीवारी नहीं थी तथा यहाँ भी स्थापत्य की उसी शैली का प्रयोग भी किया गया। पर, यह राजप्रासाद उतना विशाल नहीं था तथा इसकी दीवारें सुन्दर चित्रकारियों से अलंकृत नहीं थीं। चूँकि यह राजप्रासाद एक पहाड़ी की ढाल पर बनाया गया था, अतः यह दूर से देखने में अधिक भव्य प्रतीत होता था।

धर्म

नौसस के राजप्रासाद से थोड़ी ही दूर पर एक उन्नत तथा समृद्ध शहर रहा होगा, ऐसा पता चलता है। खुदाई में कुछ दूसरे शहरों के भी भग्नावशेष मिले हैं, पर मन्दिर या अन्य सार्वजनिक धार्मिक स्थानों के अवशेष नहीं मिले हैं। इससे ऐसा पता चलता है कि क्रीट के निवासी पूजापाठ विशेषतया अपने घरों में ही करते थे। वे प्रधान रूप से री (Rhea) नामक देवी की पूजा करते थे। यह देवी प्रकृति देवी या मातृ-शक्ति का प्रतीक थी। इस देवी की पूजा के चित्र साधारणतया बनाए जाते थे। देवी के साथ सिंहों के चित्र

मिलते हैं जो उसकी रक्षा में खड़े रहते थे। इसके अतिरिक्त इस देवी के साथ एक देवता की भी कल्पना की गई थी जो देवी का पुत्र अथवा पति था, पर वह देवी का अनुचर था। देवी के साथ कबूतरों के भी चित्र मिलते हैं। खुदाई में नौसस के राजप्रासाद में लेखन-कला के नमूने प्राप्त हुए हैं। मिट्टी के छोटे-छोटे आयताकार तख्तों पर हिसाब लिखकर लकड़ी के बक्सों में रखा गया है। इन तख्तों पर लिखी भाषा को तो नहीं पढ़ा जा सका है, पर अंकों को समझा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे दशमलव-प्रणाली का प्रयोग करते थे तथा भिन्न का भी प्रयोग हुआ है। क्रीट में माप-तौल के उनके अपने तरीके थे। उनके यहाँ धातुओं के बने सिक्के प्रचलित थे। सोने, चाँदी तथा काँसे के टुकड़ों का प्रयोग विनिमय के लिए होता होगा।

अंक तथा लेखन शैली

दशमलव-प्रणाली

माप-तौल एवं सिक्के

क्रीट की संस्कृति का प्रचार

नौसस के राजाओं की शक्ति तथा वैभव १५ ई०-पू० में अपनी चरम सीमा को प्राप्त हो चुके थे। ये राजा निस्संदेह पूरे क्रीट में वैभवशाली तथा शक्तिशाली थे। फीस्टस के राजा इस समय तक उनके अधीनस्थ बन चुके थे। उनके जहाजी बेड़े पूरे ईजियन समुद्र का नियंत्रण करते थे। सभी द्वीपों पर उनका प्रभुत्व स्थापित था। इसी समय यूनान में क्रीट की सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार हुआ। इस संस्कृति का प्रसार यूनान तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् व्यापार तथा उपनिवेशों द्वारा दूर-दूर तक इसका विस्तार हुआ। मिस्र के साथ क्रीट का व्यापारिक संपर्क अत्यंत प्राचीनकाल से चला आ रहा था। इस युग में यह संबंध अत्यंत घनिष्ठ और सुदृढ़ हो गया। इसी कारण, तत्कालीन संस्कृति पर मिस्री संस्कृत के प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। तेल तथा मिट्टी के बर्तन विशेष रूप से मिस्र में निर्यात किए जाते थे। इसके अतिरिक्त पश्चिम में स्पेन और सिसिली तक क्रीट में बनी हुई वस्तुएँ निर्यात की जाती थीं। इन वस्तुओं के साथ-साथ इन देशों पर क्रीट का सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़ा।

क्रीट का पतन

लगभग १४०० ई०-पू० में क्रीट के राजवंश का विनाश हुआ। संभवतः यूनान से कोई आक्रमण हुआ, जिसके आगे क्रीट का राजवंश टिक नहीं सका। इस राजवंश के पतन के साथ क्रीट के सांस्कृतिक पतन का भी आरंभ होता है। आक्रमणकारियों ने वहाँ की समृद्ध संस्कृति का विनाश नहीं किया, वरन् वे स्वयं उससे प्रभावित हुए। अतः क्रीट की सभ्यता जीवित रही, पर उसकी शक्ति क्षीण होती गई।

माइसीनियन सभ्यता

क्रीट के सांस्कृतिक पतन के पश्चात् यूनान में एक नई सभ्यता का उदय हुआ, जिसे 'माइसीनियन सभ्यता' कहते हैं। यह सभ्यता निस्संदेह क्रीट-प्रभावित थी। माइसीनियन सभ्यता का केंद्र यूनान की भूमि पर माइसीन (Mycenae) नामक समृद्ध नगर था, जिसके आधार पर इस सभ्यता का नामकरण हुआ है। दूसरा नगर टिरिंस (Tiryns) था। इन नगरों की मजबूत किलेबंदी की गई थी। किलों की चहारदीवारी पत्थरों के बड़े टुकड़ों से बनायी गई थी। अतः, माइसीन की सभ्यता को क्रीट की सभ्यता का प्रसार तथा ईजियन सभ्यता का अंग माना जाता है। इन सभ्यताओं से यूनानी सभ्यता भी प्रभावित हुई। वह सभ्यता १६०० ई०-पू० से १२०० ई०-पू० तक जीवित रही और बहुत अंशों में क्रीट की सभ्यता से मिलती-जुलती थी। अतः, क्रीट की सभ्यता का पूर्णतः विनाश नहीं हुआ। १२०० ई०-पू० से यूनान की सभ्यताओं का उदय हुआ, जिसमें क्रीट की सभ्यता के प्रभाव मिलते हैं। बाद की ये सभ्यताएँ क्रीट की सभ्यता का प्रसार कही जा सकती हैं।

यूनान में ग्रीक जाति का आगमन

ग्रीक जाति का आदि निवासस्थान यूनान से उत्तर-पश्चिमी की ओर बाल्कन प्रायद्वीप में था। यह जाति यहीं से पूरे ईजियन प्रदेशों में फैली तथा ग्रीस या यूनान पर भी इसने आधिपत्य स्थापित किया। यूनान पर ग्रीक जाति का आक्रमण तथा प्रसार कई शताब्दियों तक चलता रहा। इस जाति के आगमन के पहले यूनान में बसने वाली कुछ अनार्य जातियाँ थीं, जिनमें एक को पेलास्गी (Pelasgoi) कहते थे। पेलास्गी के अतिरिक्त अन्य जातियाँ ईजियन प्रदेश में बसने वाली अनार्य जातियों की शाखाएँ थीं। ग्रीक जाति ने यूनान में बसने के बाद भी इन जातियों का पूर्णतया विनाश नहीं किया, वरन् उन्हें अपनी सभ्यता एवं संस्कृति सिखलायी। इन जातियों ने ग्रीक भाषा सीखी तथा विजेताओं ने भी विजित जाति से बहुत कुछ सीखा। ईजियन प्रदेशों में रहने वाली जातियाँ, जिन्हें ग्रीकों ने पराजित किया, एक समृद्ध सभ्यता की उत्तराधिकारिणी थीं। ग्रीक विजेताओं की संस्कृति विजित जातियों से ऊँची नहीं थी। अतः, पारस्परिक विनिमय से इनकी संस्कृति समृद्ध हुई।

होमरकालीन सभ्यता एवं संस्कृति

जिस युग में प्राचीन यूनान के महान् कवि होमर ने अपने दो अमर महाकाव्यों की रचना की, उसे प्राचीन यूनान के इतिहास में होमर-युग की संज्ञा दी गई है। ये दो महाकाव्य हैं—१. ईलियड (Iliad) तथा २. ओडीसी (Odyssey), इन दोनों

महाकाव्यों को यूनानी संस्कृति में वे ही स्थान प्राप्त हुए, जो भारतीय संस्कृति में रामायण तथा महाभारत को प्राप्त हैं। इन दोनों महाकाव्यों में वर्णित वीरों की गाथाएँ जनमानस पर सदा के लिए अंकित हो गईं तथा भावी पीढ़ियों को अपने आदर्शों से अनुप्राणित करती रहीं। यूनान के ऐतिहासिक काल के योद्धा अपने-आप को महाकाव्यों में वर्णित वीरों के आदर्शों में ढालना चाहते थे तथा यूनान के लोग अपने-आप को इन वीरों का वंशज सिद्ध करने में गौरव का अनुभव करते थे। इसी कारण इस युग को वीरों का काल (Heroic Age) भी कहते हैं। तिथिक्रम के अनुसार होमर का युग १२०० ई०-पू० से ८०० ई०-पू० का माना जाता है।

होमर के काव्यों का महत्त्व केवल एक प्रेरणास्रोत या सांस्कृतिक चेतना के आधार के रूप में ही नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक दृष्टि से भी उसके महाकाव्यों का महत्त्व है। इन महाकाव्यों के अध्ययन से हमें तत्कालीन यूनानी संस्कृति एवं सभ्यता का जो परिचय मिलता है, वह हमारे लिए बहुत उपयोगी है। हमारे सामने तत्कालीन समाज, राजनीति एवं धर्म की एक जीती-जागती तसवीर आती है। होमर का युग यूनानी सभ्यता का उषाकाल है। अतएव, इस उषाकाल की स्वर्णिम किरणों की झाँकी हमें उसके काव्य से मिलती है।

होमर ने अपने महाकाव्यों में ट्राय-युद्ध (Trojan War) की कहानी वर्णित की है। इस युद्ध के कारणों तथा परिणामों के अध्ययन से हमें तत्कालीन जीवन की झाँकी मिलती है। संभव है, ट्राय का युद्ध ऐतिहासिक घटना नहीं हो, पर होमर का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। होमर ने अपने पहले महाकाव्य 'ईलियड' में ट्राय के युद्ध का वर्णन किया है। तथा दूसरे महाकाव्य 'ओडीसी' में ग्रीक योद्धा ओडिसीयस (Odysseus) के भ्रमण का वृत्तांत प्रस्तुत किया है। 'ईलियड' में पूरे युद्ध का वर्णन नहीं है, वरन् युद्ध के नौवें वर्ष की कुछ प्रमुख घटनाओं का ही उल्लेख है, पर साथ ही, पूरे युद्ध का सिंहावलोकन भी प्रस्तुत है।

ट्राय-युद्ध की कहानी कुछ हद तक रामायण की कहानी से मिलती-जुलती है, जिसके आधार पर कुछ यूरोपीय विद्वानों ने अटकलबाजी के सहारे यह सिद्ध करना चाहा कि रामायण की कथावस्तु से प्रभावित है तथा वाल्मीकि ने होमर के पश्चात् रामायण की रचना की। पर, यह विचार सर्वथा भ्रांतिमूलक है। वस्तुतः कविवर वाल्मीकि एवं होमर ने स्वतंत्र रूप से तथा अपनी स्वतंत्र प्रतिभा से दो अलग-अलग देशों में इन महाकाव्यों की रचना की। मानव-स्वभाव की मूलभूत एकता का चित्रण कवियों का काम है। इसलिए, विभिन्न देशों एवं परिस्थितियों में मिलती-जुलती भावनाओं वाली रचनाएँ संभव हैं।

संक्षेप में, ट्राय के युद्ध की कहानी इस प्रकार है—हेलेन, जो स्पार्टा के राजा मेनिलौस की पत्नी थी, उस समय की अद्वितीय सुन्दरी थी। उसे ट्राय के राजा प्रायम का पुत्र पेरी अपहरण कर ले गया। इस अपमान का बदला लेने तथा हेलेन को पुनः वापस लाने के लिए यूनान के सभी राजाओं ने मिल कर ट्राय के विरुद्ध युद्ध का अभियान किया। एगमेन्नन के नेतृत्व में एक जहाजी बेड़ा ट्राय की ओर बढ़ा। यूनानियों का सबसे बड़ा योद्धा एकिलीज (Achilies) था। ट्राय का सबसे बड़ा योद्धा हेक्टर (Hector) था। यूनानियों ने दस वर्ष तक ट्राय नगर को घेरे रखा तथा उसकी विशाल चहारदीवारी के बाहर वे लड़ते रहे। 'ईलियड' में दसवें साल के युद्ध का वर्णन है। दसवें साल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना ट्राय के योद्धा हेक्टर की ग्रीक योद्धा एकिलीज द्वारा हत्या थी। 'ईलियड' की कथावस्तु का अंत हेक्टर के अंतिम संस्कार से होता है। हेक्टर की मृत्यु के बाद एक काठ के घोड़े के छद्म के द्वारा ट्राय पर ग्रीक लोगों ने विजय प्राप्त की। हेक्टर की मृत्यु के बाद ग्रीक लोगों ने यह अफवाह फैला दी कि ग्रीक लौट रहे हैं। लौटते हुए उन लोगों ने लकड़ी का एक बहुत बड़ा घोड़ा ट्राय नगर के बाहर छोड़ दिया। इस घोड़े के पेट में दस चुने हुए यूनानी योद्धा छिपे हुए थे। यूनानियों के भागने की खुशी में ट्राय के लोगों ने जश्न मनाना शुरू किया तथा इसी सिलसिले में वे लोग घोड़े को नगर के अंदर ले गए। रात को जब ट्रायवासी थक कर सो गए, तब घोड़े के पेट में छिपे हुए यूनानियों ने ट्राय नगर का सिंहद्वार खोल दिया तथा बहुत बड़ी संख्या में यूनानियों ने ट्राय पर धावा बोल दिया और उस पर कब्जा कर लिया। अंत में, वे लोग हेलेन को वापस लाए तथा ट्राय नगर को जला दिया गया।

होमर के दूसरे महाकाव्य 'ओडीसी' में, इस युद्ध के एक महान वीर ओडिसीयस अथवा युलिसिस के उसके घर इथाका लौटने का भ्रमण-वृत्तांत है।

विद्वान का विचार है कि ट्राय नगर का पतन ११८३ ई०-पू० में हुआ था। ट्राय-युद्ध के पीछे यूनानियों का उद्देश्य आर्थिक भी था। ट्राय नगर एशिया और यूरोप के व्यापारिक मार्ग के संगम-स्थल पर स्थित था तथा व्यापार के कारण काफी समृद्ध भी था। यूनानी इन पर बहुत दिनों से अधिकार करना चाहते थे। वे इस नगर को यूनान के प्रसार में भारी कंटक मानते थे। इस नगर के पतन के पश्चात् यूनानी एशिया माइनर में आकर बसने लगे तथा इन देशों से यूनान का व्यापार होने लगा। एशिया माइनर में कुछ ही दिनों में यूनानी उपनिवेशों की स्थापना का भी क्रम प्रारंभ हो गया।

होमरकालीन सभ्यता एवं संस्कृति

होमर के महाकाव्यों से हमें तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति की झाँकी मिलती

है। उसने अपने महाकाव्यों में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का बड़ा ही सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है।

राजनैतिक जीवन

इस युग में यूनान कई छोटे-छोटे और स्वतंत्र राज्यों में बँटा हुआ था। इन राज्यों का शासक राजा होता था। पर, शासनकार्य में उसे पूरी स्वतंत्रता नहीं प्राप्त थी। वह शासनकार्य में एक परिषद या काउंसिल से परामर्श लेता था। इस काउंसिल के सदस्य उसके राज्य के सम्मानित व्यक्ति होते थे। काउंसिल की सहमति के विना राजा कुछ भी नहीं कर सकता था। इसलिए वह सदा काउंसिल की सहमति तथा परामर्श पर निर्भर करता था। यह काउंसिल तत्कालीन उच्च वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी। इस काउंसिल का नाम ब्यूल (Bule) था। वाद में विकसित होने वाले उच्चकुल-तंत्र का बीज-रूप हमें मिलता है।

राजा एवं काउंसिल के अलावा जो तीसरी राजनैतिक संस्था थी—जन-साधारण की आम सभा—उसे एगोरा (Agora) कहते थे। यह स्वतंत्र नागरिकों की आम सभा थी, जो बाद में जनतंत्रवाद की आधारशिला सिद्ध हुई। इस आम सभा में राज्य या राष्ट्र के सभी स्वतंत्र नागरिक राजा द्वारा बुलाए जाने पर इकट्ठे होते तथा राजा एवं काउंसिल द्वारा प्रस्तावित विषयों पर अपनी सहमति प्रकट करते थे। जनता की इस आम सभा को केवल सुनने तथा सहमति देने का अधिकार था, वह न तो विवाद कर सकती थी और न कोई प्रस्ताव ही पारित कर सकती थी। वास्तव में, यह सभा तत्कालीन सेना से भिन्न नहीं थी। युद्ध में लड़ने वाले सैनिक इस सभा में भी उपस्थित रहते थे। वे युद्ध में राजा का नेतृत्व तो मानते थे, एगोरा में वे उसके प्रस्तावों को सुनकर सहमति भी प्रदान करते थे।

इन दोनों राजनैतिक संस्थाओं की सहायता से राजा शासनकार्य का संचालन करता था। वह अपनी प्रजा का प्रमुख पुरोहित, सर्वोच्च न्यायाधीश एवं प्रधानतम सेनापति भी होता था। धार्मिक समारोहों का वह साधरणतः नियंत्रण करता था, वह न्याय भी करता था तथा युद्धों में सेना का नेतृत्व भी। राजा का कुल किसी देवकुल से संबद्ध होता था। उसे प्रजा से देवतुल्य सम्मान प्राप्त होता था। उसका पद वंशगत होता था, पर कभी-कभी प्रजा किसी अयोग्य राजकुमार को राजा मानने से इनकार भी कर सकती थी। राजा को विशेष सम्मान एवं अधिकार प्राप्त होते थे। सार्वजनिक भोज में उसे मुख्य अतिथि की सम्मानित जगह मिलती थी, युद्ध की लूट की सामग्री में सबसे अच्छी वस्तुएँ उसे प्राप्त होती थीं तथा धार्मिक पूजा एवं उत्सवों में देवताओं को जो खाद्य-सामग्री चढ़ायी जाती थी, वह भी उसे प्राप्त

होती थी। राजकीय क्षेत्र के रूप में प्रत्येक राजा को एक विशेष भू-संपत्ति मिलती थी।

प्रत्येक राजा अपने सहायकों अथवा साथियों से सदैव घिरा रहता था। ये सहायक राजा के साथ उसके महल में ही रहते थे और एक प्रकार से राजा के मित्र होते थे, जो उसकी सेवा में गौरव एवं आनंद का अनुभव करते थे।

सामाजिक अवस्था

सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला पारिवारिक व्यवस्था थी। परिवारों के समूह से ही समाज का निर्माण होता था। तत्कालीन समाज की राजनैतिक शक्ति भी परिवार में ही निहित थी। इस काल में यूनानी गाँवों में रहते थे, जो कई परिवारों के समूह होते थे। परिवार का प्रमुख सदस्य परिवार के सभी सदस्यों को पूर्णरूपेण अपने नियंत्रण में रखता था तथा सभी सदस्य सहर्ष उसकी आज्ञा का पालन करते थे। तत्कालीन भूमि-संबंधी प्रथाओं के अनुसार भूमि का स्वामी कोई व्यक्ति नहीं, वरन् पूरा परिवार ही होता था। किसी नए प्रदेश को विजित करने के पश्चात् राजा भूमि का विभाजन विभिन्न परिवारों के बीच कर देता था। इस प्रकार प्रत्येक परिवार को अपनी भू-संपत्ति होती थी, जिसका प्रबंध परिवार का प्रमुख सदस्य किया करता था। परंतु, इस भू-संपत्ति को बेचने का अधिकार परिवार के नेता को भी नहीं था। भू-संपत्ति के साथ धार्मिक भावना भी जुड़ी हुई थी। पर, परिवार के मृत व्यक्तियों को परिवार की ही भूमि में दफनाया जाता था। तत्कालीन धार्मिक विश्वासों के अनुसार मृत व्यक्तियों को जिस स्थान पर दफनाया जाता था, वह भूमि सदा के लिए उन्हीं की हो जाती थी। इस कारण, उस स्थान की श्रद्धापूर्वक देख-भाल करना मृत व्यक्तियों के वंशजों का परम कर्त्तव्य माना जाता था।

कई परिवारों के समूह को फ्रैट्रा (Phratra) या विरादरी कहा जाता था। एक विरादरी के लोग एक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों को संपन्न करते थे। ये धार्मिक अनुष्ठान उनकी भावनात्मक एकता के प्रतीक थे। कई ग्रामों के समूह को फाइले (Phyle) या ट्राइब (Tribe) कहा जाता था। जिस प्रकार प्राचीन भारत के ऋग्वैदिक काल में कुलों के समूह को 'ग्राम' तथा ग्रामों के समूह को 'विश' और विशों के समूह को 'जन' कहते थे, उसी प्रकार इस काल की ट्राइब को भी 'जन' कहा जा सकता है। जिस प्रकार ऋग्वैदिक राज्य का प्रजा वर्ग जन कहा जाता था, उसी प्रकार होमर-युग की ट्राइब तत्कालीन राज्य की समस्त प्रजा जन ही थी। जिस भू-भाग में ट्राइब निवास करती थी, उस भू-भाग को डीम (Deme) कहा जाता था। दूसरे राजाओं द्वारा विजित होने के पश्चात् भी ट्राइब तथा डीम का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा।

कुलों के आधार पर ग्रामों का निर्माण तथा ग्रामों के समूह से जन का निर्माण वस्तुतः प्रत्येक आर्य सभ्यता की प्रारंभिक सामाजिक अवस्था की विशेषता थी। प्राचीन भारत, प्राचीन रोम एव प्राचीन जर्मनी में भी प्रारंभिक सामाजिक व्यवस्थाएँ इसी प्रकार की थीं। चूँकि होमर-युग के यूनानी भी आर्य थे, अतः उनकी सामाजिक व्यवस्था का अन्य आर्य-संस्कृतियों के समान होने में कोई आश्चर्य नहीं है।

समाज चार वर्गों में विभक्त था। सबसे सम्मानित कुलीन वर्ग था। कुलीन वर्ग के पश्चात् स्वतंत्र खेतिहर थे। तीसरा वर्ग स्वतंत्र श्रमिकों का था; जो अपनी मिहनत के द्वारा अपनी जीविका उपार्जित करते थे। इनको थीट्स (Thetes) कहा जाता था। निम्नतम वर्ग दासों का था, जो या तो युद्धबंदी होते थे अथवा समुद्री लुटेरों से खरीदे जाते थे ।

कुलीन वर्ग के पास बहुत बड़े परिमाण में भू-संपत्ति होती थी तथा इनके पास गुलामों की भी बड़ी संख्या होती थी। युद्ध के समय यह वर्ग नेतृत्व करता था तथा अपनी वीरता एवं शौर्य के लिए प्रसिद्ध था। समाज का दूसरा वर्ग कृषकों का था, जो अपनी सीमित भूमि पर कृषि के द्वारा जीवन-निर्वाह करता था। दासों के साथ भी सद्व्यवहार किया जाता था।

होमर-युग की सभ्यता मुख्यतः एक ग्रामीण सभ्यता थी। इस सभ्यता के अंतिम दिनों में नगरों का विकास प्रारंभ हो गया। ग्रामीण सभ्यता होने के कारण सामाजिक जीवन जटिलताओं से मुक्त एवं सादगी से भरा था। राजा एवं कुलीन लोग भी साधारण व्यक्तियों की तरह शारीरिक श्रम करते थे। उच्च वर्ग की स्त्रियाँ भी शारीरिक श्रम करती थीं । लोगों के भोजन एवं वस्त्र भी सीधे-सादे तथा आवश्यकताओं के अनुरूप थे। मदिरपान की प्रथा थी, पर अत्यधिक मदिरापान निंदनीय माना जाता था । प्रीतिभोजों के अवसर पर संगीत के द्वारा अतिथियों का मनोरंजन किया जाता था।

स्त्रियों का समाज में आदर होता था, पर उनके कारण कभी-कभी लड़ाइयाँ भी हो जाती थीं। ट्राय का युद्ध इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। इस समय किसी बात को लेकर दो जनों या ट्राइब में युद्ध होना स्वाभाविक बात थी । इसी कारण, कुलीन वर्ग के सदस्य एवं सरदार युद्ध के लिए सदैव तैयार रहते थे।

यूनानी सभ्यता की इस प्रारंभिक अवस्था में अभी कानूनों का विकास नहीं हुआ था। वास्तव में, राज्य अभी तक समाज से भिन्न नहीं हो पाया था । समाज का नियंत्रण धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक प्रथाओं के आधार पर ही होता था। तत्कालीन विश्वासों के अनुसार कुछ अपराधों की सजा देवताओं के द्वारा दी जाती

थी । किसी व्यक्ति की हत्या के अपराधी को दंड देना, मृत व्यक्ति के परिवार के सदस्यों का उत्तरदायित्व माना जाता था। राजा का न्याय वास्तव में एक पंच-निर्णय मात्र था ।

समाज में कुछ विलक्षण प्रथाएँ भी प्रचलित थीं, जो तत्कालीन सामाजिक विचारों के अनुसार मान्य थीं । एक अजनबी व्यक्ति किसी नए स्थान में मारा जा सकता था, पर यदि वह उस नए स्थान के किसी व्यक्ति का अतिथि बन जाए, तो उसको कोई मार नहीं सकता था । समुद्री यात्रियों और जहाजों को लूटना भी बुरा नहीं समझा जाता था । बहुत से लोगों की जीविका इस प्रकार की लूट से चलती थी । तत्कालीन विचारधारा के अनुसार ऐसा कार्य निंदनीय नहीं माना जाता था ।

आर्थिक दशा

ग्रामीण सभ्यता होने के कारण लोगों की जीविका के मुख्य साधन कृषि एवं पशु-पालन ही थे । संपत्ति का मूल्यांकन पशुओं की संख्या से होता था । इस दृष्टि से भी यह सभ्यता ऋग्वैदिक काल की सभ्यता से मिलती-जुलती है । ऋग्वैदिक काल में भी आर्यों की संपत्ति का अनुमान गायों की संख्या से होता था तथा किसी वस्तु का मूल्य गायों के द्वारा निर्धारित किया जाता था । इसी प्रकार होमरयुगीन सभ्यता में बैलों के माध्यम से वस्तुओं का मूल्य निर्धारित होता था । सीमित रूप से आदान-प्रदान के द्वारा ही वाणिज्य भी होता था । वास्तव में, प्रत्येक गाँव में सभी आवश्यक सामग्रियाँ पैदा कर ली जाती थीं, जिससे बड़े पैमाने पर व्यापार की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। विभिन्न प्रकार के कुटीर उद्योगों के द्वारा दैनिक जीवन की वस्तुएँ बना ली जाती थीं । गाँवों में तलवार बनाने वाले, सोनार, कुम्हार आदि सम्मानित दृष्टि से देख जाते थे । स्वावलंबन की प्रथा इतनी अधिक थी कि प्रायः प्रत्येक परिवार अपनी खाद्य सामग्री, अपने पहनने के वस्त्र एवं अपने हथियारों और औजारों को बना लेता था । पशुओं में गाय, बैल, भेंड़, बकरी, सुअर तथा घोड़े आदि पाले जाते थे ।

लेखन-कला

होमर के महाकाव्य 'ईलियड' में लेखन-कला का भी उल्लेख मिलता है। बहुत दिनों तक इस विषय में विद्वानों में मतभेद था, पर अब यह बात मान ली गई है कि होमरयुगीन यूनानी लोग लिखना भी जानते थे ।

शव-संस्कार के क्षेत्र में इस युग में जलाने एवं दफनाने की दोनों ही प्रथाएँ प्रचलित थीं । वास्तव में होमर के महाकाव्यों में जलाने की ही प्रथा के अधिकतर वर्णन मिलते हैं । बाद के युग में भी, दोनों प्रथाएँ साथ-साथ चलती रहीं ।

वीरों की गाथाओं पर आधारित चारण-काव्यों का प्रचलन इस युग की विशेषता थी। बहुत से वंदीजन घूम-घूमकर वीरों की गाथाएँ सुनाकर लोगों का मनोरंजन किया करते थे। बारहवीं शताब्दी ई०-पू० में ट्राय-युद्ध के वीरों की प्रशंसा में गीत पूरे यूनान में गाए जाते थे। इन्हीं गीतों से प्रेरित होकर होमर अपने महाकाव्यों की रचना की थी।

धार्मिक विश्वास

तत्कालीन धार्मिक जीवन एवं विश्वासों की जानकारी के लिए होमर के महाकाव्य दर्पण की भाँति हैं। यदि यह कहा जाए कि होमर ने अपनी काव्य-कला के द्वारा तत्कालीन धर्म को सुस्पष्ट एवं परिष्कृत कर दिया, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। होमर के बाद का यूनान अपने धार्मिक विश्वासों के लिए होमर का ऋणी है। उसका साहित्य यूनानी संस्कृति के लिए बाइबिल सिद्ध हुआ। होमर में हमें यूनान के दर्शन एवं चिंतनधारा की पृष्ठभूमि प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में यूनानी धर्म के विकास में उसका अपूर्व योगदान है।

होमर-युग के पहले मिनोअन तथा माइसीनियन सभ्यताओं के काल से यूनान में भूत-प्रेतों तथा मृत पूर्वजों की पूजा होती थी एवं प्रकृति की प्रजनन-शक्ति की आराधना भी प्रचलित थी। इस धर्म में आशावाद एवं प्रसन्नता का अभाव था। विचित्र एवं रहस्यमय शक्तियों के द्वारा प्रतिशोध के भय से मनुष्य का मन संत्रस्त रहता था।

पर, होमरयुगीन धर्म स्वाभाविक प्रसन्नता एवं आशावाद से परिपूर्ण था। आत्मा-परमात्मा अथवा पाप-पुण्य के विश्लेषण पर अधिक जोर नहीं दिया गया, परंतु मानव-जीवन को सुखी एवं प्रसन्न बनाने पर अधिक ध्यान दिया गया। जिन देवी-देवताओं की कल्पना की गई, वे मनुष्य के शत्रु नहीं, वरन् हितैषी एवं मित्र थे। उनका स्वरूप मानव का था तथा वे मानवोचित गुणों से विभूषित थे। वे भूत-प्रेतों की तरह पाताल-निवासी नहीं, वरन् ओलिम्पस पर्वत की स्वर्णिम चोटी पर निवास करते थे। पुराने धर्म के कुछ तत्त्व अभी भी इस नए धर्म में विद्यामान थे। कुछ पुराने अंधविश्वास भी बने रहे। पर, अपनी समग्रता में, अपने स्वरूप में, यह नया धर्म पुराने धर्म से पूर्णतया भिन्न था। प्रकृति की प्रजनन-शक्ति की आराधना होती रही, पर नई कथाओं के द्वारा उसके स्वरूप में परिवर्तन हो गया। देवताओं का स्वरूप एवं चरित्र नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से अत्यंत उदात्त और प्रेरणादायक बना डाला गया।

होमर ने जिन देवी-देवताओं का वर्णन किया है, उनका व्यक्तित्व एवं चरित्र सुस्पष्ट तथा आदर्श है। प्रत्येक देवी-देवता को विशिष्ट गुणों एवं क्षेत्रों का अधिष्ठाता

माना गया है। जियुज (Zeus) देवों और मनुष्यों का सर्वोच्च देवता एवं नियंता है। एथेना (Athena) देवी चिरपवित्र कुमारी है तथा सभी कलाओं की अधिष्ठात्री है। अपोलो (Apollo) देवता सूर्य-देवता हैं तथा स्वास्थ्य के अधिष्ठाता हैं। उनकी कृपा से सभी रोग दूर हो जाते हैं। ये सभी देवता मानव के शुभेच्छु एवं हितैषी हैं। इसके पहले ये देवता बहुत अंश तक स्थानीय थे, पर अब इनका चरित्र और व्यक्तित्व शाश्वत् एवं विश्वजनीन हो गया। इस दिशा में होमर का योगदान अद्वितीय था। जिन देशों एवं भू-भागों में उसके महाकाव्यों का अध्ययन होने लगा, वहाँ इन देवी-देवताओं की आराधना भी होने लगी। इसलिए इन धार्मिक विश्वासों एवं प्रथाओं के प्रसार में उसकी कविता ने बहुत योगदान किया। यूनानी जाति की सांस्कृतिक एकता के विकास में उसका काव्य अत्यंत सहायक सिद्ध हुआ।

इसी समय कुछ ऐसे धार्मिक स्थानों का उदय हुआ, जो ग्रीक जाति की सांस्कतिक एकता को सबल बनाने में सहायक सिद्ध हुए। ओलिम्पिया (Olympia) में जियुज देवता के प्रसिद्ध मंदिर के सामने प्रतिवर्ष बड़ा मेला लगता था, जहाँ एक दूसरे विरोधी राज्यों के नागरिक भी बड़े प्रेम से खेल-कूदों में भाग लेते थे। इसी प्रकार अपोलो देवता का मंदिर डेल्फी (Delphi) में था, जहाँ भविष्य का विचार कराने के लिए यूनान के सभी भागों से नागरिक आते थे। इस मंदिर के पुजारी से उन्हें भविष्य का संकेत मिलता था।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि यूनानी संस्कृति की आधारशिला होमर-युग में प्रतिष्ठित की गई। यह वास्तव में यूनानी सभ्यता का उषाकाल था। बाद में, विकसित होने वाली यूनानी सभ्यता की रूपरेखा इस युग में तैयार हो गई थी।

ग्रीक जाति की शाखाएँ

यूनान पर विजय प्राप्त करने वाली ग्रीक जाति चार प्रधान शाखाओं में विभक्त थी। इन चारों शाखाओं के नाम ये हैं—

(१) डोरियन (Dorian), (२) एयोलियन (Aeolian),
(३) एकियन (Achaean) और (४) आयोनियन (Ionian)।

इन चारों शाखाओं में एकियन लोगों ने सर्वप्रथम ईजियन समुद्र पार कर थेसेली (Thessaly) पर आधिपत्य स्थापित किया। होमर के युग में एकियन लोग ही प्रधान एवं प्रमुख थे। बाद में, जब यूनान में ऐतिहासिक युग प्रारंभ हुआ, तब एकियन लोग पीछे पड़ गए तथा डोरियन एवं आयोनियन शाखा के लोग प्रमुख हो गए। प्राचीन यूनान का इतिहास इन्हीं दोनों शाखाओं के पराक्रम एवं बौद्धिक प्रगति के कारण प्रसिद्ध हुआ।

अयोनियन तथा डोरियन जातियों का प्रसार

होमर का युग लगभग ८०० ई०-पू० में समाप्त होता है। उसके युग में ही ग्रीक जातियाँ यूनान के कई भागों में बस चुकी थीं, जैसे ऐटिका एवं पेलोपोनेसस के बहुत भागों पर उनका अधिकार स्थापित हो चुका था। पर, होमर-युग की समाप्ति के बाद उनके आक्रमण एवं प्रसार का वेग अधिक बढ़ गया। होमरयुग की समाप्ति के साथ-साथ यूनान की प्राचीन संस्कृति का लोप हो गया। ग्रीक जाति का प्रसार पूरे ईजियन प्रदेश पर हो गया तथा यूनान की आंतरिक राजनैतिक स्थिति में महान परिवर्तन हुए।

डोरियन विजय

ग्रीक जाति की प्रधान शाखा डोरियन जाति का यूनान में आगमन एवं प्रसार इस युग की एक महान् घटना है। इस जाति के आक्रमण ने यूनान की काया पलट दी। इनके पहले जो ग्रीक जातियाँ आई थीं, उन्होंने यूनानी संस्कृति का विनाश नहीं किया था, वरन् उसे अपनाया था। पर, इस जाति ने यूनानी संस्कृति को विनष्ट कर एक नए मार्ग का अनुसरण किया। अन्य ग्रीक जातियों की तरह ये घोड़े पर नहीं आए, वरन् ये पैदल ही युद्ध करते थे तथा इनके हथियार लोहे के बने थे।

इस डोरियन जाति ने बड़े वेग के साथ उत्तरी यूनान से दक्षिण की ओर बढ़ना शुरू किया। इनके आक्रमण की कठोरता के कारण मार्ग में बसी हुई ग्रीक जातियाँ अपना घरबार छोड़ कर दूसरे प्रदेशों में बस गईं या समुद्र के रास्ते भाग कर द्वीपों में आ बसीं। अतः, इस जाति के आक्रमण का एक यह परिणाम हुआ कि ग्रीक जातियों ने भाग कर भूमध्यसागर तथा ईजियन सागर में नए उपनिवेश स्थापित किए। एटोलिया, थेसली तथा वोएशिया के निवासियों को वहाँ से दूसरे प्रदेशों में भागना पड़ा। इनकी सर्वप्रमुख विजय कोरिंथ की खाड़ी के दक्षिण पेलोपोनेसस के प्रदेश में हुई। इसी प्रदेश में डोरियन जाति सर्वाधिक संख्या में बसी तथा यूनान के इतिहास में पेलोपोनेसस का प्रदेश डोरियन जाति के निवासस्थान के रूप में प्रसिद्ध हुआ। पेलोपोनेसस के प्रदेश में इन लोगों ने लैकोनिया, आर्गोलिस तथा कोरिंथ प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। यूरोटस नदी की घाटी पर विजय प्राप्त कर इन लोगों ने स्पार्टा राज्य की स्थापना की। इस प्रदेश के निवासियों को इन लोगों ने दास बना दिया तथा अपने रक्त को विशुद्ध रखा। इन्होंने अन्य जातियों से विवाह तथा खानपान का संबंध नहीं स्थापित किया।

आयोनियन जाति का प्रसार

आयोनियन शाखा के ग्रीकों ने कोरिंथ की खाड़ी के उत्तर में अपना निवासस्थान बनाया। यहाँ वे ऐटिका तथा यूबोइया के प्रदेशों में बस गए और समुद्र के

रास्ते जाकर एशिया माइनर के पश्चिमी तट एवं ईजियन सागर के द्वीपों में भी इनका प्रसार हुआ। ऐटिका प्रदेश में एथेंस के प्रसिद्ध नगर-राज्य का विकास हुआ, जो विश्व-इतिहास में अपनी सांस्कृतिक देन के लिए अमर हैं।

स्पार्टा एवं एथेंस

लगभग १००० ई०-पू० तक ग्रीक जातियों का अधिकार संपूर्ण यूनान, एशिया माइनर तथा ईजियन द्वीपों पर हो गया था। इसके पश्चात् २०० वर्षों में यूनान के ऐतिहासिक काल के उन राज्यों का उदय एवं विकास हुआ, जिनके नाम इतिहास में बार-बार आते हैं। डोरियन शाखा के ग्रीकों द्वारा स्थापित राज्यों में थेसली, बोएशिया, एटोलिया, मेगारा, कोरिंथ, आर्गोस तथा स्पार्टा प्रसिद्ध हुए। आयोनियन शाखा के ग्रीकों द्वारा स्थापित राज्यों में यूबोइया तथा एथेंस प्रसिद्ध हुए।

इन सभी राज्यों में स्पार्टा एवं एथेंस अत्यंत प्रसिद्ध हुए। सभी दृष्टियों से ये दोनों राज्य एक दूसरे के विपरीत थे। यदि यह कहा जाए कि ये दोनों दो आदर्श प्रतिनिधि थे, तो अत्युक्ति नहीं होगी। दोनों ग्रीक जाति की दो शाखाओं का नेतृत्व करते थे—एथेंस आयोनियन शाखा का तथा स्पार्टा डोरियन शाखा का। बाद में दोनों ने अपना आधिपत्य आसपास के राज्यों पर स्थापित किया। एक दूसरे के प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के साथ दोनों में वैमनस्य एवं प्रतिद्वंद्विता का जन्म हुआ, जो अंततः एक भयानक युद्ध का कारण हुआ, जिसे 'पेलोपोनेसियन युद्ध' कहते हैं। अब हम बारी-बारी से इन दोनों राज्यों की विशेषताओं तथा उनके विकास-क्रम का अध्ययन करेंगे।

स्पार्टा

सामाजिक अवस्था

लाइकर्गस के सुधार

लाइकर्गस

स्पार्टा की सामाजिक-व्यवस्था तथा विधान निर्माता लाइकर्गस नामक व्यक्ति माना जाता है। ऐसा ९०० ई०-पू० के लगभग उसने स्पार्टा की संस्थाओं का निर्माण किया। पर, यह व्यक्ति वस्तुतः ऐतिहासिक था, इस पर संदेह प्रगट किया जाता है। हेरोडोटस, जो यूनान का इतिहासकार है, उसके विषय में लिखता है कि वह स्पार्टा के प्रारंभिक राजाओं में से किसी एक का अभिभावक था तथा क्रीट देश की संस्थाओं के आधार पर इसने स्पार्टा की सामाजिक व्यवस्था को निर्मित किया। पर अन्य तत्कालीन इतिहासकार उसका नाम बिल्कुल नहीं लेते। इससे ऐसा पता चलता है कि हेरोडोटस ने भी अनुमान के आधार पर ही लिख दिया। जो कुछ भी हो, लाइकर्गस का व्यक्तित्व हिंदू धर्म शास्त्र के निर्माता मनु से मिलता-जुलता है।

स्पार्टा की सामाजिक व्यवस्था कठोर अनुशासन की आधारशिला पर स्थित थी। वहाँ समस्त नागरिक जीवन, जन्म से मृत्यु-पर्यन्त, कठोर अनुशासन से नियंत्रित था। यही लाइकर्गस द्वारा निर्मित संस्थाओं का मूल मंत्र था।

कठोर अनुशासन

इस सामाजिक व्यवस्था का एक ही उद्देश्य था—सफल सैनिकों को संगठित करना। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सभी नागरिकों के जीवन को एक ही दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया जाता था। सैनिक शिक्षा एवं सैनिक जीवन के अतिरिक्त जीवन के किसी अन्य पहलू पर ध्यान नहीं दिया जाता था। स्पार्टा का प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य था—राज्य की सेवा के लिए सदैव प्रस्तुत रहना। राज्य का उद्देश्य था—सैनिक जीवन एवं युद्धकला को प्रोत्साहन देना। इस कारण, समस्त स्पार्टा, एक सैनिक स्कूल की तरह प्रतीत होता था। नागरिकों की शिक्षा, विवाह तथा दैनिक जीवन पर इस तरह नियंत्रण किया जाता था कि वे कुशल सैनिक बन सकें।

उद्देश्य

शिक्षा

स्पार्टा की शिक्षा-पद्धति विश्व के इतिहास में एक अद्वितीय प्रयोग है। स्पार्टा में प्रत्येक नागरिक को सैनिक बनाना था। अतः अनुशासन का श्रीगणेश नागरिक के जन्म से ही हो जाता था। वहाँ जब बच्चे का जन्म होता था, तब उसे कुल (Tribe) के मुखियों के सामने जाँच के लिए पेश किया जाता था। यदि वे बच्चे को दुर्बल तथा अस्वस्थ पाते थे, तो उसको टेजिटस पहाड़ की चोटियों पर फेंक देने का आदेश देते थे जहाँ वह मर जाए। अतः वहाँ की सामाजिक व्यवस्था में दुर्बल तथा अस्वस्थ बच्चों को जीने का अधिकार प्राप्त नहीं था; क्योंकि वे बड़े होकर कुशल सैनिक नहीं बन सकते थे। जब बच्चा सात वर्ष का होता था, तब उसकी शिक्षा प्रारंभ की जाती थी। सात वर्ष की अवस्था होते ही राज्य द्वारा नियुक्त कर्मचारी उसे सैनिक स्कूल में ले जा कर प्रविष्ट करा देता था। वहाँ के प्रत्येक बच्चे को सात वर्ष की अवस्था तक लगातार सैनिक स्कूल में रहना पड़ता था। इन बच्चों को कठोर अनुशासन सिखाया जाता था। उनका पाठ्य-क्रम इस उद्देश्य से निश्चित किया जाता था कि वे बड़ी-से-बड़ी कठिनाई का सामना कर सकें तथा राज्य के लिए प्राणों की आहुति देने को सदैव प्रस्तुत रहें। इसी कारण शारीरिक गठन तथा सैनिक व्यायाम (पैरेड) पर विशेष जोर दिया जाता था। इन लड़कों को शिक्षा देने वाले भी युवक ही होते थे, जिनकी अवस्था बीस वर्ष से ऊपर तथा तीस वर्ष से नीचे होती थी।

विवाह

बीस वर्ष की अवस्था प्राप्त करने पर स्पार्टा का युवक सैनिक सेवा में प्रविष्ट होता था तथा विवाह करने का आदेश प्राप्त करता था। पर, उसे गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने की स्वतंत्रता नहीं थी। उसे अपने साथियों के साथ सैनिक-आवासों में रहना पड़ता था तथा वह कभी-कभी गुप्त रूप से अपनी पत्नी से मिल सकता था। तीस वर्ष की अवस्था प्राप्त करने पर, स्पार्टा के लड़कों की शिक्षा पूर्ण मानी जाती थी तथा उन्हें नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त होते थे।

सार्वजनिक भोजनालय

तीस वर्ष की अवस्था में स्पार्टा के निवासी पूर्ण नागरिक बन जाते थे, पर उन्हें अपने घर भोजन करने की स्वतंत्रता नहीं थी। उन्हें अपने साथियों के साथ मेस में खाना पड़ता था—जिसके लिए उन्हें मासिक चंदा देना पड़ता था। एक मेस के खाने वाले युद्ध में भी एक खेमे तथा एक मेस में रहते थे। इन सार्वजनिक मेसों को फिडिशिया (Phiditia) कहते थे।

स्पार्टा की नारियाँ

लाइकर्गस द्वारा निर्मित व्यवस्था में, नारियाँ भी कठोर अनुशासन से मुक्त नहीं थीं। उन्हें भी सैनिक शिक्षा एवं नियंत्रण का शिकार होना पड़ता था। स्पार्टा में ऐसा विश्वास किया जाता था कि स्वस्थ माताएँ ही स्वस्थ बच्चों को जन्म दे सकती हैं तथा यदि माताओं को स्पार्टा की व्यवस्था से प्रेम न हो, तो बच्चों को भी नहीं होगा। इसलिए लड़कियों को भी इसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी, ताकि उनका हृदय उस शिक्षा से ओतप्रोत हो जाए। उन्हें लड़कों के साथ व्यायाम की शिक्षा लेनी पड़ती थी। उनका अर्द्धनग्न अवस्था में व्यायाम करना बुरा नहीं माना जाता था। जहाँ यूनान के और राज्यों में स्त्रियाँ पर्दे में रहती थीं, वहाँ स्पार्टा की नारियाँ अधिक स्वतंत्रता से जीवन बिताती थीं। अपने सतीत्व के उच्च स्तर के लिए वे प्रसिद्ध थीं तथा राज्य की सेवा एवं भक्ति के लिए सदैव तत्पर रहती थीं। पुरुषों की तरह उनमें भी साहस का अभाव नहीं था।

सैनिक जीवन

तीस वर्ष की अवस्था से साठ वर्ष की अवस्था तक स्पार्टा के प्रत्येक नागरिक को सैनिक जीवन बिताना पड़ता था। साठ वर्ष की अवस्था से वहाँ का नागरिक सैनिक जीवन से मुक्ति पा कर अवकाश का जीवन व्यतीत कर सकता था।

राजा

राजाओं को भी साधारण नागरिकों की भाँति इस कठोर अनुशासन से नियंत्रित होना पड़ता था। राजा होने से सैनिक शिक्षा तथा अनुशासन में उन्हें किसी प्रकार

की छूट नहीं दी गई थी। युवराज की अवस्था में उन्हें भी वही शिक्षा मिलती थी, जो साधारण नागरिकों को मिलती थी। उन्हें भी सैनिक जीवन बिताना पड़ता था। युद्धस्थल में सेनापतित्व करना उनका एक विशेषाधिकार था।

संपत्ति

लाइकर्गस के आदर्शों के अनुसार संपत्ति को हेय दृष्टि से देखा जाता था। ऐसा विश्वास था कि संपत्ति से विलासिता आती है। इसी कारण व्यापार-वाणिज्य करना स्पार्टा के नागरिकों को मना था; क्योंकि व्यापार से संपत्ति एकत्र होती है। स्पार्टा में लोहे के सिक्के प्रचलित थे जिसको ढोना असुविधाजनक था। इन सिक्कों का प्रचलन जानबूझकर किया गया था, ताकि नागरिक संपत्ति एकत्र करने की ओर प्रवृत्त न हों।

हेलौट

भूमि-व्यवस्था

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इस विचित्र सामाजिक व्यवस्था का निर्माण क्यों किया गया, जिसमें मानव-जीवन के स्वाभाविक सौंदर्य का गला घोंट दिया जाता था तथा नागरिकों की समस्त शक्ति को केवल एक दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया जाता था ? इस प्रश्न का उत्तर है—स्पार्टा की आंतरिक अवस्था। डोरियन शाखा के ग्रीकों ने जब पेलोपोनेसस पर आक्रमण किया तथा वहाँ आ बसे, तब उन लोगों ने वहाँ के निवासियों को, जो ग्रीक नहीं थे, दासों की अवस्था में ला दिया तथा उन्हें सदैव पददलित रखा। स्पार्टा में भी वे ही पददलित आदि निवासी काफी संख्या में थे जिन्हें 'हेलौट' कहते थे। इन हेलौट कहे जाने वाले लोगों की हालत असंतोषजनक थी। स्पार्टा में उन्हें नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। नागरिकता का अधिकार केवल उन्हें ही प्राप्त था जो डोरियन शाखा के ग्रीक थे, अतः स्पार्टा के नागरिकों की संख्या से इन पददलित हेलौट लोगों की संख्या पंद्रह गुनी अधिक थी। स्पार्टा के समस्त नागरिक सैनिक जीवन व्यतीत करते थे। अतः उन्हें जीविकोपार्जन की चिंता से मुक्त कर दिया गया था। वहाँ के प्रत्येक नागरिक को जागीर मिली थी जो चिरस्थायी थी। उस जागीर को न तो बेचा जा सकता था और न बाँटा जा सकता था। उस भूमि में खेती करना तथा उपज को नागरिकों को देने का काम हेलौट करते थे। अतः, हेलौट खेतों में काम करके अपने स्वामियों को गृहस्थी की चिंता से मुक्त करते थे तथा उन्हीं खेतों की उपज से अपना भरण-पोषण भी करते थे। इनकी अवस्था दासों से कुछ अच्छी थी। ये व्यक्तिगत सम्पत्ति रख सकते थे तथा इनका क्रय-विक्रय नहीं होता था। पर दूसरे मामलों में इनकी दशा अत्यंत असंतोषजनक थी। इनके साथ स्पार्टा के नागरिक अत्यंत

हेलौट के विद्रोह की संभावना

दुर्व्यवहार करते थे। ये अपने स्वामियों के दुर्व्यवहार से अत्यंत क्षुब्ध रहते थे तथा सदैव विद्रोह करने के लिए प्रस्तुत रहते थे। अतः इनके विद्रोह के खतरे का सामना करने के लिए स्पार्टा के नागरिकों को कठोर सैनिक शिक्षा दी जाती थी। लाइकर्गस ने सोचा था कि यदि स्पार्टा के नागरिकों को कठोर अनुशासन द्वारा नियंत्रित नहीं किया गया तो वे विलासिता के शिकार होकर हेलौट लोगों से पराजित हो जाएँगे। हेलौट लोगों की संख्या नागरिकों से पंद्रह गुनी अधिक थी, इससे यह खतरा स्वाभाविक था। अतः, एक प्रधान कारण था कि स्पार्टा के नागरिकों को इस विचित्र सामाजिक व्यवस्था द्वारा कठोर अनुशासन में रखा गया।

लाइकर्गस के पहले स्पार्टा के नागरिक इस तरह का जीवन नहीं बिताते थे। कुलीन तथा धनी लोग विलासिता से रहते थे। प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन अपनी इच्छा के अनुसार व्यतीत कर सकता था। वे नृत्य, संगीत तथा काव्य-प्रेमी थे। उनकी सौंदर्यानुभूति किसी अन्य ग्रीक जाति से कम नहीं थी। पर, लाइकर्गस को डर था कि वे कहीं विलासिता के गर्त्त में न गिर जाएँ। अतः, उनको केवल सफल सैनिक बनाने के उद्देश्य से संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित कर दिया।

हेलौट के विद्रोह का सामना करने के लिए स्पार्टा के नागरिक हर तरह से तथा हर समय तैयार रहते थे। उसके आकस्मिक बिद्रोह का पता लगाने के लिए खुफिया पुलिस का प्रबंध था। युवक नागरिक स्पार्टा के देहातों में विद्रोही नेताओं को दंड देने तथा पता लगाने के लिए भेजे जाते थे। उन्हें यह अधिकार प्राप्त था कि वे किसी हेलौट की, जिस पर विद्रोही होने का तनिक भी संदेह हो, हत्या कर सकते थे तथा वे बेहिचक ऐसा करते भी थे। फिर भी, हेलौट लोगों के विद्रोह बराबर होते ही रहते थे। अतः, बहुत अंशों में इस आंतरिक परिस्थिति के कारण भी स्पार्टा की विचित्र सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया गया।

लाइकर्गस का कहना था कि उस नगर की सुरक्षा अधिक हो सकती है, जहाँ पत्थर की चहारदीवारी के बदले कुशल सैनिकों की चहारदीवारी रहती है। इस आदर्श के अनुसार स्पार्टा का विकास हुआ। लाइकर्गस की व्यवस्था के अनुसार स्पार्टा एक सैनिक देश बन गया, जहाँ प्रत्येक नागरिक के जीवन का सवच्च उद्देश्य था—नगर की रक्षा के लिए अच्छी तरह युद्ध करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहना। संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का उद्देश्य तथा प्रत्येक कानून का एक ही ध्येय था—सफल सैनिकों को तैयार करना। अतः, एक व्यक्ति का, इस सामाजिक व्यवस्था में अलग कोई स्थान नहीं था। एक व्यक्ति का जीवन राज्य की वेदी पर अर्पित था। व्यक्ति या नागरिक के सामने जीवन निर्वाह का कोई प्रश्न नहीं था। उसका कर्त्तव्य केवल राज्य या

नगर की सेवा करना था। अतः स्पार्टा में सफल सैनिक तो अवश्य पैदा हुए, पर जीवन के अन्य क्षेत्रों में वहाँ का विकास नहीं हुआ। वहाँ कवि, नाटककार, दार्शनिक, विचारक या कलाकार बिल्कुल नहीं हुए; क्योंकि वहाँ सैनिक शिक्षा के अतिरिक्त, किसी अन्य प्रतिभा के विकास की सुविधा बिल्कुल नहीं थी। अतः स्पार्टा की प्रतिभा एकमुखी थी। वहाँ का सर्वांगीण विकास कभी नहीं हुआ। इस विचित्र शिक्षा-पद्धति के कारण वहाँ के नागरिकों की प्रतिभा अन्य क्षेत्रों में पूर्णतया कुंठित हो गई। वहाँ के नागरिकों को युद्ध करने अथवा युद्ध के लिए तैयार रहने के अतिरिक्त किसी अन्य बात को सोचने का अवकाश नहीं था। इसका परिणाम हुआ कि जहाँ यूनान के अन्य नगरों ने कला, साहित्य एवं दर्शन आदि के क्षेत्र में अनुपम देन दी, वहाँ इन क्षेत्रों में स्पार्टा की देन शून्यवत् है।

विशेषतः एथेंस के इतिहास से जब हम स्पार्टा के इतिहास की तुलना करते हैं, तो पाते हैं कि स्पार्टा का इतिहास एथेंस के इएिहास से पूर्णतया विपरीत है। वहाँ कठोर अनुशासन के द्वारा सभी नागरिकों के जीवन को एक दिशा में मोड़ने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। एथेंस के नागरिक स्वतंत्र, उन्मुक्त तथा स्वाभाविक जीवन बिताते थे। सैनिक दृष्टि से भी वहाँ के नागरिक बुरे नहीं थे। उसने अपने सैनिक बल पर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। पर, स्पार्टा वाले बराबर कूपमंडूक की तरह पेलोपोनेसस में ही घिरे रहे। हेलौट के विद्रोह के डर से वे साम्राज्य की भी स्थापना नहीं कर सके। एथेंस ने बराबर ग्रीक जाति का नेतृत्व किया, पर स्पार्टा वाले नेतृत्व करने का अवसर मिलने पर भी नहीं कर सके। स्पार्टा के नागरिक केवल अनुशासन में रहना तथा आज्ञापालन करना जानते थे। उन्हें स्वयं सोचने का अवसर नहीं दिया जाता था। अतः नेतृत्व करने की शिक्षा उन्हें न थी। इसी कारण वहाँ का पूर्ण विकास नहीं हुआ। स्पार्टा ने सदैव संकीर्ण प्रवृत्ति का परिचय दिया।

एथेंस में महान कवि, नाटककार, दार्शनिक एवं वक्ता पैदा हुए, जो आज भी विश्व के इतिहास में अमर हैं। वहाँ की कला के नमूने आज भी संग्रहालयों में मिलते हैं, जो अत्यंत आकर्षक हैं। पर, स्पार्टा की देन इन सभी क्षेत्रों में कुछ नहीं है।

स्पार्टा का संविधान

स्पार्टा की सामाजिक व्यवस्था की तरह वहाँ का शासनतंत्र भी कुछ विचित्र था।। अन्य यूनानी राज्यों से यह भिन्न था। स्पार्टा के संविधान के चार अंग थे—

(१) राजा।

(२) काउंसिल, जिसे जेरुसिया (Gerusia) कहते थे।

(३) एसेंबली या जनसभा, जिसे एपेला (Apella) कहते थे ।
(४) एफोरेट (Ephorate) ।

राजा

स्पार्टा में एक साथ दो राजा राज्य करते थे। यह यहाँ के संविधान की विचित्रता थी । संभवत:, प्रारंभ में, ये दो राजा, दो जातियों के प्रतिनिधि रहे हों या संभवत:, इन दो राजाओं का पद एक दूसरे पर नियंत्रण रखने के लिए भी रखा गया हो । स्पार्टा में राजाओं की शक्ति बिल्कुल कम कर दी गई थी। उन्हें निम्न प्रकार के अधिकार प्राप्त थे—(१) धार्मिक (२) सैनिक तथा (३) न्याय-संबंधी ।

धार्मिक : उन्हें पुरोहित का भी काम करना पड़ता था तथा अपोलो देवता की प्रति मास पूजा करनी पड़ती थी। युद्धों के पहले भी उन्हें सबकी ओर से यज्ञ करना पड़ता था ।

सैनिक : सेना के वे प्रधान सेनापति थे । युद्धस्थल में सैनिकों के ऊपर उन्हें असीमित अधिकार प्राप्त थे । उन्हें किसी देश पर आक्रमण करने या युद्ध छेड़ने का अधिकार प्राप्त था । युद्धस्थल में उनकी शरीर रक्षा के लिए १०० आदमी रहते थे।

न्याय-संबंधी : उनके न्याय-संबंधी अधिकार वहुत कम कर दिये गए थे। गोद लेने के समारोह में वे सभापति का आसन ग्रहण करते थे । सार्वजनिक सड़कों से संवद्ध सभी मामलों की देखभाल उन्हीं के हाथ में थी । यदि किसी ऐसे धनी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती थी, जिसे एक ही पुत्री रहती थी, तो उसकी शादी का प्रश्न उन्हें सुलझाना पड़ता था । वे ही निश्चित करते थे कि कौन उस कन्या से विवाह करे।

स्पार्टा के राजाओं के अधिकार तो अवश्य कम कर दिए गए थे, पर उनको अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। विशेषतः भोजों में, उन्हें सभी पदार्थ दुहरी संख्या में मिलते थे । राजाओं की मृत्यु के बाद उन्हें विशेष सम्मान दिया जाता था । उनकी मृत्यु का समाचार शीघ्र ही घुड़सवारों द्वारा समस्त स्पार्टा राज्य में फैला दिया जाता था तथा प्रत्येक परिवार के दो सदस्य शोक मनाने वाले वस्त्र धारण कर लेते थे । जो परिवार ऐसा नहीं करता था, वह दंड का भागी होता था। दस दिनों तक सभी सार्वजनिक काम वन्द रहते थे । राजा की अंत्येष्टि-क्रिया अत्यंत सम्मान के साथ की जाती थी । राजा का सबसे वड़ा पुत्र राजा बना दिया जाता था।

काउंसिल

स्पार्टा के संविधान में काउंसिल को 'जेरूसिया' की संज्ञा दी गई थी। इसके ३० सदस्य होते थे, जिसमें दो राजा होते थे। अन्य २८ सदस्यों का ६० वर्ष की अवस्था के ऊपर होना आवश्यक था । अतः स्पार्टा के संविधान का यह ऐसा अंग था,

जिसमें वयोवृद्ध लोग ही रहते थे। इसके सदस्य आजीवन सदस्य बने रहते थे और वे केवल उच्च कुल के लोग ही रहते थे। यह एक परामर्शदात्री संस्था थी, जो सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार करती थी। सभी नए कानून इसी संस्था द्वारा बनाए जाते थे। फौजदारी के सभी मुकदमों का निर्णय यही संस्था करती थी। इसका सदस्य होना एक गौरव का विषय माना जाता था।

एसेंबली

स्पार्टा के संविधान में यह जनता की सभा थी इसे 'एपेला' कहते थे। स्पार्टा का प्रत्येक नागरिक, जो ३० वर्ष का हो चुका था, इस सभा का सदस्य था। इस सभा में विवाद नहीं होता था, केवल हाथ उठाकर प्रस्तावों को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत किया जाता था। इसी सभा के द्वारा काउंसिल के सदस्यों, एफरों तथा मजिस्ट्रेटों का निर्वाचन किया जाता था। युद्ध एवं संधि के प्रश्न, वैदेशिक राजनीति तथा राजाओं के उत्तराधिकार, इसी सभा द्वारा निश्चित किए जाते थे। अतः, सैद्धांतिक रूप में, जनता की यह सभा सर्वशक्तिमान थी; क्योंकि सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय यही करती थी। पर व्यावहारिक रूप में, इस सभा के अधिकार बहुत कम थे; क्योंकि इसके निर्णय अंतिम निर्णय नहीं थे। अंतिम निर्णय काउंसिल के सदस्यो तथा मजिस्ट्रेटों के हाथ में रहता था। काउंसिल के सदस्य तथा मजिस्ट्रेट, इस सभा के निर्णयों को अपनी इच्छा के विरुद्ध होने पर रद्द कर दिया करते थे। अतः स्पार्टा के संविधान सैद्धांतिक रूप में गणतंत्रात्मक था, व्यावहारिक रूप में नहीं।

एफोरेट

स्पार्टा के संविधान में पाँच एफरों के पद की व्यवस्था थी। ये पाँच एफर स्पार्टा के संविधान के सबसे महत्त्वपूर्ण अंग थे। ये स्पार्टा के संविधान में, गणतांत्रिक प्रवृत्ति के प्रतिनिधि थे। इस पद पर स्पार्टा का कोई भी नागरिक निर्वाचित किया जा सकता था। इनका निर्वाचन जनता की सभा द्वारा होता था। वे अपने व्यवहार के लिए जनता की सभा के समक्ष उत्तरदायी थे। इन एफरों के अधिकार राजाओं से भी अधिक थे। ये जनता के अधिकारों के रक्षक थे। अतः ये राजाओं के आचार-व्यवहार की देखभाल करते थे। राजाओं के साथ सदैव दो एफर युद्धस्थल में भी रहते थे, ताकि राजा देश के विरुद्ध कुछ नहीं कर सके। वे राजाओं को अपने सामने किसी संदिग्ध व्यवहार के लिए सफाई देने के लिए बुला सकते थे। सभी दीवानी मुकदमों का अंतिम निर्णय इन्हीं के हाथ में था। अतः, स्पार्टा के संविधान में, ये एफर सबसे अधिक शक्तिशाली थे।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इस विचित्र संविधान को किस श्रेणी में रखा जाए? इसे राजतंत्र कहा जाए अथवा गणतंत्र या उच्चकुलतंत्र की संज्ञा दी

जाए ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह मिश्रित संविधान था, जिसमें राजतंत्र, गणतंत्र तथा उच्चकुलतंत्र, तीनों के ही तत्त्व समाविष्ट थे। वहाँ राजा थे ही। एफर गणतंत्रात्मक प्रवृत्ति के प्रतिनिधि थे तथा काउंसिल उच्चकुल का प्रतिनिधित्व करती थी। अतः, स्पार्टा को एक उच्चकुलतंत्र कहा जा सकता है, जिसमें गणतंत्र के महत्त्वपूर्ण तत्त्व मिले हुए थे।

यूनानी उपनिवेशों की स्थापना तथा विदेशों में यूनानी जाति का प्रसार

आठवीं शताब्दी ई०-पू० से छठी शताब्दी ई०-पू० तक ग्रीक जाति का प्रसार दूर-दूर के देशों में हुआ। साहसी एवं उत्साही ग्रीक नेताओं ने दूर-दूर के देशों में जाकर अपने कदम ही नहीं जमाए, वरन् वहाँ ग्रीक नगरों की स्थापना भी की, जिन्हें प्राचीन यूनान का उपनिवेश कहा जा सकता है। ग्रीक जाति प्रारंभ से ही उद्यमशील एवं साहसी थी। यूनान की सीमाओं में इस जाति का सिकुड़ा रहना संभव नहीं था। ट्राय के युद्ध के समय से ही यह साहसी जाति भूमध्य सागर के द्वीपों और एशिया माइनर में बसने लगी थी, परंतु आठवीं शताब्दी ई०-पू० से छठी शताब्दी ई०-पू० तक विदेशों में जाकर उपनिवेश स्थापित करने की यह प्रक्रिया अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। इस युग में ग्रीक जाति काला सागर, थ्रेस, ईजियन समुद्र के द्वीपों, इटली, सिसली, फ्रांस तथा स्पेन तक पहुँच गई,। भूमध्य सागर के अनेक द्वीपों और उत्तरी अफ्रीका में भी ग्रीक जाति का प्रसार हुआ।

पहले इस प्रसार एवं उपनिवेशन के कारणों पर दृष्टिपात करना होगा। वस्तुतः इस प्रक्रिया के मूल में ग्रीक जाति की साहसी प्रवृत्ति थी, जो नए-नए देशों में जाकर अपनी प्रतिभा को फलने-फूलने का अवसर ढूँढ़ती थी। साथ ही, यूनान की आंतरिक सामाजिक व्यवस्था, व्यापार-वाणिज्य की प्रवृत्ति एवं राजनैतिक कारणों ने भी इस प्रसार की प्रक्रिया में योगदान दिया। व्यापार के प्रसार से इस प्रवृत्ति को अवश्य प्रोत्साहन मिला। जब बहुत से व्यापारी सुदूर देशों में व्यापार के उद्देश्य से जाते थे, तब वहाँ की भौगोलिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का अध्ययन करते थे। घर लौटने पर उन देशों की अद्भुत कहानियों से लोगों को वहाँ जाकर बसने के लिए आकृष्ट करते थे। यूनान के नगरों में ऐसे लोगों का अभाव नहीं था, जो विदेशों में जाकर अपने भाग्य की आजमाइश करने के लिए तैयार रहते थे। वास्तव में, इस तरह के लोग कई कारणों से यूनान छोड़ने के लिए तत्पर रहते थे। कुछ तो स्वभाव से ही साहसी और उद्योगी थे, कुछ आंतरिक सामाजिक दशा से असंतुष्ट थे तथा कुछ वास्तव में निर्धन थे, जो विदेशों में जाकर अपनी स्थिति में सुधार लाना

चाहते थे। इस प्रक्रिया को प्राचीन यूनान के भूमि-संबंधी कानूनों ने भी प्रोत्साहित किया। भूमि का स्वामित्व व्यक्ति में नहीं, वरन् परिवार में निहित होता था, जिसके कारण स्वतंत्र एवं साहसी पुरुषों को अपनी प्रतिभा एवं रुचि के अनुसार काम करने का अवसर नहीं मिलता था। बहुत-से लोग भूमिहीन होते जा रहे थे तथा गरीबी भी बढ़ती जा रही थी। आठवीं शताब्दी ई०-पू० से छठी शताब्दी ई०-पू० तक ग्रीस में उच्च कुल के लोगों का शासन स्थापित था। इस शासन में साधारण जनता एवं निर्धन वर्ग का कोई स्थान नहीं था। शासन के क्षेत्र में अभिजात वर्ग के लोगों का ही बोलबाला था। इसलिए साधारण जनता कहीं जाकर स्वतंत्रतापूर्वक रहने के लिए लालायित रहती थी। अभिजात वर्ग में भी बहुत ऐसे लोग थे, जो राजनैतिक स्थिति से असंतुष्ट रहते थे। राजा भी कुछ चुने हुए कुलीन वर्ग के लोगों की राय से ही शासन करता था। दूसरे शब्दों में, एक अत्यंत छोटा गुट ही शासन का कर्त्ता-धर्त्ता होता था। ऐसी दशा में, अभिजात वर्ग के वे सदस्य जिन्हें शासन के सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया था, विदेशों में जाकर नए उपनिवेशों का शासक बनने में अभिरुचि रखते थे। बहुत बार ये लोग जाकर स्वतंत्र शासक भी बन बैठते थे। इन्हीं लोगो की चहलकदमी से विदेश जाने वालों के दल तैयार किए जाते थे। ऐसे नेताओं को विदेश जाकर उपनिवेश स्थापित करने में यूनान का शासक वर्ग प्रोत्साहन देता था; क्योंकि इसके द्वारा यूनानी शासकों को ऐसे प्रतिद्वंद्वियों एवं आलोचकों से मुक्ति मिल जाती थी, जो यूनान में रह कर उनके विरुद्ध षड्यंत्र कर सकते थे। वस्तुतः राजनैतिक असंतोष यूनानी उपनिवेशों की स्थापना का तात्कालिक कारण था। अपने शासन को सुरक्षित एवं निरापद बनाने के लिए शासक वर्ग इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता था।

जनसंख्या की क्रमशः वृद्धि होने के कारण कृषि-योग्य भूमि पर अधिकार के लिए संघर्ष बढ़ता जा रहा था। भूमिहीनों की संख्या में भी वृद्धि होती जा रही थी। अतएव, जनसंख्या की वृद्धि के कारण भी उपनिवेशन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता था।

प्रारंभ में, डोरियन जाति की विजय से भी यूनान की कई जातियाँ विस्थापित हो गईं तथा इन जातियों को समुद्र लाँघ कर विदेशों में जाकर बसना पड़ा।

व्यापार-वाणिज्य की प्रवृति भी बहुत अंश में उपनिवेशन की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने में उत्तरदायी थी। यूनानी जाति की स्वाभाविक साहसी प्रकृति उन्हें सुदूर देशों से व्यापार करने के लिए प्रेरित करती थी।

कुछ विशेष नगर-राज्यों में उपनिवेशन की प्रक्रिया के कुछ विशेष कारण भी था, जिनसे अवगत होना आवश्यक है। एशिया माइनर के दक्षिण भाग में भी आयो-

नियन नगर राज्य थे, उनमें मिलेटस मुख्य था। इस नगर-राज्य ने उपनिवेशन में नेतृत्व लिया। इसका कारण यह था कि यहाँ की जनता पास के प्रदेश केरिया में नहीं बस सकती थी; क्योंकि केरिया प्रदेश के निवासी ग्रीक नहीं थे तथा मिलेटस के लोगों से अधिक शक्तिशाली भी थे। अतएव, विवश होकर मिलेटस को सुदूर देशों में उपनिवेश स्थापित करने पड़े। पर, उत्तरी आयोनिया के नगर-राज्यों को अपने पार्श्ववर्त्ती प्रदेशों-जैसे लीडिया में बसने में कोई बाधा नहीं हुई। इसी प्रकार रोड्स के नगर-राज्य को अपने पार्श्ववर्त्ती लीडिया में फैलने में कठिनाई थी; क्योंकि लीडिया वाले रोड्स प्रसार के विरोधी थे।

पेलोपोनेसस के प्रदेश में स्पार्टा की बढ़ती हुई सामरिक शक्ति तथा उसके नेताओं की प्रसारवादी एवं आतंकपूर्ण नीति से भी स्पार्टा के पार्श्ववर्त्ती नगर-राज्यों में विदेशों में जाकर बसने की प्रवृति को प्रोत्साहन मिला।

इस प्रकार आंतरिक अव्यवस्था के कारण सामाजिक असंतोष की आग सुलगने लगी थी। इस असंतोष ने ही साहसी एवं उद्योगी यूनानी नेताओं को विदेशों में जाकर उपनिवेश स्थापित करने के लिए विवश किया। इस असंतोष के मूल में सामाजिक एवं आर्थिक विषमताएँ थीं, जो परिस्थिति को विस्फोटक बनाती जा रही थीं। उपनिवेशन की इस प्रक्रिया ने आठवीं शताब्दी के यूनान को एक भयंकर सामाजिक एवं राजनैतिक विप्लव से बचा दिया।

यूनानी उपनिवेशों का स्वरूप तथा उनका मातृभूमि से संबंध

यूनानी उपनिवेशों की स्थापना में, लोगों को मातृभूमि से उपनिवेशों में ले जाकर बसाने वाला नेता सदैव महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता था। इस नेता को ओकिस्ट (Oecist) कहा जाता था। वास्तव में, यही नेता प्रस्तावित उपनिवेश के लिए स्थान का चुनाव करता था, मातृभूमि से वहाँ जाकर बसने वालों का चुनाव करता था, उपनिवेश के शासनार्थ नियमों एवं कानूनों का निर्माण करता था तथा लोगों को ले जाकर वहाँ बसाता था। वही उपनिवेश में भूमि का विभाजन, उसके धार्मिक विश्वासों एवं आराधना का नियमन और उन पर शासन करता था। कभी-कभी मरणोपरांत वह एक प्रिय नेता के रूप में पूजित भी होता था। बहुधा यह नेता अभिजात वर्ग का होता था, जो विदेशों में जाकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहता था। पर, कभी-कभी साधारण वर्ग के लोग भी ओकिस्ट होते थे। उदाहरण के लिए वे नाविक या व्यापारिक, जो सुदूर देशों में भ्रमण किया करते थे, घर लौट कर किसी दूर देश में बसने वालों का दल संगठित करते थे तथा उनको वहाँ ले जाकर उनका नेतृत्व भी करते थे।

यद्यपि इन नेताओं को मातृभूमि के शासकों का आशीर्वाद प्राप्त रहता था, परंतु अन्य बातों में ये नेता स्वतंत्र रहते थे। इसलिए यूनानी उपनिवेशों की स्थापना व्यक्तिगत एवं अराजकीय प्रयत्नों का परिणाम थी। इस कारण ये उपनिवेश राजनैतिक दृष्टि से मातृभूमि से पूर्णतया स्वतंत्र होते थे। पर, सांस्कृतिक संबंध इन उपनिवेशों को मातृभूमि से सदैव प्रेम-डोर से बाँधे रहता था। वंशगत समानता, भाषा एवं धर्म की एकता तथा व्यापारिक संपर्क से मातृभूमि एवं उपनिवेशों में मधुर संबंध स्थापित रहता था। विदेशों में बसने के पश्चात् भी ग्रीक जाति अपनी सांस्कृतिक परंपराओं एवं अपने धर्म के प्रति वास्तविक अनुराग रखती थी। इन उपनिवेशों को देखने से ऐसा ज्ञात होता था कि ग्रीस का ही एक टुकड़ा अपने वास्तविक रूप में इन सुदूर देशों में जोड़ दिया गया हो। यदि राजनैतिक असंतोष के कारण भी उपनिवेश की स्थापना हुई हो, तथापि मातृभूमि से सदैव मधुर संबंध बने रहते थे। यह ग्रीक उपनिवेशों की विशेषता थी कि किसी प्रकार का राजनैतिक संबंध न रहने पर भी सांस्कृतिक संबंधों के द्वारा ही ये उपनिवेश मातृभूमि से जुड़े हुए थे।

उपनिवेशों की स्थापना करने के उद्देश्य से जब पहला जत्था अपने अभियान पर प्रस्थान करता था, तब तत्कालीन परिपाटी के अनुसार मातृभूमि में स्थित सार्वजनिक चूल्हे से प्रतीकात्मक ढंग से आग ले जायी जाती थी, जो उपनिवेश में सदा जलती रहती थी। इस आग के जलने से उनके दिलों में मातृभूमि के साथ अटूट संबंध की याद बराबर ताजा रहती थी। इस प्रकार, प्रतिवर्ष मातृभूमि में महान धार्मिक उत्सव मनाए जाते और उनमें उपनिवेशों के नागरिक बड़े उत्साह के साथ भाग लेते थे। जब कभी ये उपनिवेश भी अपने उपनिवेश की स्थापना के लिए ओकिस्ट अथवा नेता का चुनाव करते, तब इस नेता का चुनाव मातृभूमि से ही करते थे। किसी भी महान कार्य के शुभारंभ के पहले, ग्रीस में स्थित डेल्फी के भविष्यवक्ता की सलाह लेते। इसी प्रकार ग्रीक साहित्य के अध्ययन से भी उपनिवेशवासियों का अनुराग ग्रीक संस्कृति के प्रति बढ़ता जाता था। संभवतः दूरी के कारण श्रद्धा एवं अनुराग का यह भाव और घनीभूत हो जाता था। उपनिवेशों में बसे नगरों की सड़कों एवं मंदिरों के नाम मातृभूमि के नगर-राज्यों के नामों पर ही होते थे। ग्रीक संस्कृति की ज्योति उनके हृदयाकाश को सदैव आलोकित रखती तथा विभिन्न क्षेत्रों में उनका पथ-प्रदर्शन करती थी।

परिणाम

वस्तुतः उपनिवेशों की स्थापना से ग्रीक जाति में एकता की भावना दृढ़तर हो गई। सुदूर देशों में, विदेशी जातियों के बीच में बने होने के कारण, उनमें

आपस में प्रेमभाव बढ़ गया। उनकी संख्या का कम होना भी उन्हें अपनी आत्मरक्षा के लिए अपनी विशिष्टता बनाए रखने के लिए विवश करता था। विदेशी जातियों के प्रति उनका संपर्क उन्हें अपनी संस्कृति की विशिष्टताओं के प्रति जागरूक बना देता था; क्योंकि ग्रीक संस्कृति दूसरी संस्कृतियों से किन बातों में भिन्न थी, इस बात को उन्हें स्पष्ट रूप से देखने का अवसर मिलता था। वास्तव में, ये लोग सभी विदेशी जातियों को बर्बर एवं असभ्य समझते थे। इस कारण उन जातियों से रक्त-संबंध स्थापित करना नहीं चाहते थे। प्रारंभ में, कुछ विवाह-संबंध स्थापित हुए थे, पर बाद में, ग्रीकों ने अपने-आपको उनसे अलग रखना ही उचित समझा। उन लोगों ने अपने-आपको उपनिवेशों की भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु से अभ्यस्त कर लिया, पर उनका सांस्कृतिक प्रेम, उनकी राजनैतिक व्यवस्थाएँ, उनका बौद्धिक कौतूहल एवं उनका चरित्र वहाँ की जातियों से सदैव भिन्न रहा। उनके चरित्र में यूनानी चरित्र की विशेषताएँ निहित थीं तथा विदेशी जातियों के बीच भी उन्हें पहचान लेना आसान था। इस प्रकार, परोक्ष रूप से उपनिवेशन की प्रक्रिया ने इन यूनानियों में तादात्म्य स्थापित कर दिया।

मातृभूमि में रहने वाले यूनानियों में भी उपनिवेशन की प्रक्रिया से एकता का भाव बढ़ा। कभी-कभी जब उपनिवेशों में जाकर बसने वालों का जत्था तैयार किया जाता था, तब एक ही नगर-राज्य में जाने वालों की पर्याप्त संख्या नहीं होती थी। फलतः अन्य नगर-राज्यों से लोगों को जाने के लिए तैयार करना पड़ता था। इस प्रकार कई उपनिवेश कई नगर-राज्यों के सम्मिलित प्रयत्न के परिणाम थे, जहाँ कई नगर-राज्यों के नागरिक मिल-जुल कर रहते थे। मातृभूमि में ये नगर राज्य भले ही दूसरे के शत्रु रहे हों, पर उपनिवेशों में ये नागरिक सभी भेद-भाव भूल कर एक साथ रहते थे। इस कारण भी, मातृभूमि से नगर-राज्यों में मैत्री एवं एकता का भाव बढ़ जाता था।

उपनिवेशन की प्रक्रिया से व्यापार-वाणिज्य की उन्नति हुई। साथ-साथ, यूनान की सामुद्रिक शक्ति का भी विकास हुआ। लगभग सभी उपनिवेशों की स्थापना समुद्रों को पार कर द्वीपों एवं सुदूर देशों में हुई। समुद्रों को पार करने के लिए जहाजरानी का विकास हुआ। क्रमशः यूनानी जहाजरानी के क्षेत्र में उस युग में अग्रगण्य हो गए।

जहाजरानी के द्वारा वाणिज्य की उन्नति से यूनान की आंतरिक समृद्धि भी बढ़ी। समाज में उदीयमान व्यापारी-वर्ग संपन्न होने लगा तथा शीघ्र ही भूमिपतियों के समकक्ष हो कर राजनैतिक अधिकारों की माँग करने लगा। अभी तक समाज में भूमिधारी अभिजात वर्ग का ही बोलबाला था। पर, अब संपन्न व्यापारी वर्ग

के उदय से उनकी शक्ति का ह्रास होने लगा। दूसरे शब्दों में संपत्ति पर आधारित एक नए अभिजात वर्ग का उदय हुआ। इस नए धनी वर्ग की राजनैतिक शक्ति की वृद्धि से यूनान की राजनैतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन होने लगा। उच्चकुलतंत्र का ह्रास होने लगा तथा उसके स्थान पर धनीतंत्र अर्थात् नवोदित धनी वर्ग का शासन प्रारंभ हो गया। क्रमशः इस धनी वर्ग के शासन के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया से ही गणतांत्रिक प्रवृत्तियों का उदय हुआ।

इस नवोदित धनी वर्ग का शासन भी साधारण जनता के शोषण पर आधारित था। व्यापार तथा वाणिज्य की उन्नति के कारण विनिमय के पुराने साधनों के स्थान पर सिक्कों का प्रचलन हो गया। इस परिवर्तन से स्वतंत्र, पर गरीब, किसानों की अवस्था और भी दयनीय हो गई। आर्थिक परिवर्तनों के कारण यूनान की साधारण जनता में असंतोष का प्रादुर्भाव हुआ तथा जनसाधारण अपने दुखों का अंत करने के लिए पूर्ण राजनैतिक समता का प्रयत्न करने लगे। सातवीं शताब्दी ई०-पू० के उत्तरार्द्ध में यूनान के अनेक भागों में वर्ग-संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं। शासक वर्ग के बुद्धिमान एवं दूरदर्शी लोग इस बात को महसूस करने लगे कि साधारण जनता के राजनैतिक अधिकारों की वृद्धि होनी चाहिए। नगरों में उद्योग-धंधों के विकास से देहातों में कृषि की अवनति होने लगी। हजारों की संख्या में किसान या तो शहरों में आकर नए उद्योग-धंधों में लग गए या सुदूर देशों में स्थित उपनिवेशों में बस गए। शहरों में जनसंख्या की वृद्धि हो गई। शहरों में बसी जनता अपने राजनैतिक अधिकारों के प्रति जागरूक थी। इसलिए इस राजनैतिक जागरूकता के कारण गणतंत्रवादी आंदोलन को बल मिला।

उपनिवेशन की प्रक्रिया से यूनान में दासों की संख्या में वृद्धि हुई तथा उसका क्रय-विक्रय एक नियमित व्यापार बन गया। उपनिवेशों में रहनेवाले यूनानियों के रहन-सहन का तरीका पूर्णतया यूनानी था। इसलिए उन्हें यूनान से प्राप्त होने वाली उन सभी वस्तुओं की आवश्यकता होती थी, जिनका इस्तेमाल यूनान के दैनिक जीवन में किया जाता था। उदाहरण के लिए यूनान से शराब, जैतून का तेल मिट्टी के बर्तन तथा कपड़े नियमित रूप से उपनिवेशों में आयात किए जाते थे। इन सामानों के बदले, उपनिवेशों से अनाज, ऊन, मछली तथा गुलाम यूनान में आयात किए जाते थे। उद्योग-धंधों तथा व्यापार के विकास से दासों की आवश्यकता भी बढ़ रही थी। अतः एशिया माइनर, थ्रेस तथा काले सागर के तटवर्त्ती प्रदेशों में स्थित उपनिवेशों से दास बहुत बड़ी संख्या में आने लगे। इससे ग्रीक नागरिकों को अधिक अवकाश मिलने लगा तथा उनमें भोग-विलास की प्रवृत्ति का भी उदय हुआ। स्त्री एवं पुरुष दोनों ही दास हुआ करते थे। कालांतर में, इस संगठित

दास-प्रथा का ग्रीस के सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। कुछ हद तक यह प्रथा, यूनान के सामाजिक जीवन में बुराइयों, बीमारियों तथा पतन के लिए भी उत्तरदायी सिद्ध हुई, पर सातवीं शताब्दी ई०-पू० में उद्योग-धंधों और व्यापार के विकास में दासों का बहुत योगदान रहा।

एशिया और यूरोप सुदूर देशों के साथ उपनिवेशन की प्रक्रिया से जो संपर्क स्थापित हुआ, उसका प्रभाव तत्कालीन ग्रीक संस्कृति पर पड़ा। एशियाई संस्कृतियों के साथ संपर्क का प्रभाव उनके बौद्धिक विकास की प्रक्रिया पर भी पड़ा। वस्तुत: ग्रीक वर्णमाला का विकास इसी संपर्क से हुआ। यूनानियों ने ४०० ई०-पू० के लगभग अपनी वर्णमाला का विकास किया। उन लोगों ने इस वर्णमाला का ज्ञान फीनिशिया के व्यापारियों से सीखा, जो ईजियन प्रदेश में व्यापार के सिलसिले में आया-जाया करते थे। धीरे-धीरे ग्रीक लोगों ने अपनी प्रतिभा के अनुसार इस वर्णमाला में परिवर्तन तथा विकास किया।

इसी प्रकार ग्रीक लोगों ने अपनी माप-तौल की प्रणाली भी एशियाई देशों से ही सीखी। बहुत दिनों तक उनकी माप-तौल की शब्दावली भी एशियाई, खास कर सेमेटिक जातियों की माप-तौल की शब्दावली पर आधारित थी।

सिक्कों का निर्माण एवं प्रयोग इन लोगों ने एशिया माइनर में स्थित लीडिया से सीखा। होमर के युग तक संपत्ति की गणना बैलों की संख्या के माध्यम से की जाती थी। पर इस समय तक असीरिया तथा अन्य पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में सोने, चाँदी तथा अन्य वहुमूल्य धातुओं के पिंडों तथा छड़ों का सिक्कों के रूप में प्रयोग होने लगा था। कालांतर में लीडिया के एक राजा ने इन छड़ों पर कुछ खास चिह्नों को मुद्रित किया। ये मुद्रित सोने-चाँदी के टुकड़े सिक्कों के रूप में चलने लगे। ग्रीक लोगों ने लीडिया से ही सिक्के बनाने की कला सीखी।

उद्योग-धंधों एवं व्यापार के विकास से ग्रीस के शहरों की जनसंख्या में वृद्धि होने लगी। विभिन्न प्रकार के कारीगरों, उद्योगपतियों एवं धनिकों के निवास से शहरों की समृद्धि वढ़ी तथा ग्रीस के नगर-राज्यों के उदय एवं विकाम में सहायता मिली।

यूनान के उपनिवेशों का भौगोलिक वितरण

भौगोलिक आधार पर यूनानी उपनिवेशों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहली श्रेणी में वे उपनिवेश आते हैं, जो यूनान के उत्तर स्थित पार्श्ववर्ती देशों में वसाए गए। दूसरी श्रेणी में वे उपनिवेश आते हैं, जो एशिया माइनर, उत्तर ईजियन सागर, प्रपौंटिस तथा काले सागर के तट पर बसाए गए।

तीसरी श्रेणी के उपनिवेश भूमध्यसागर के पश्चिमी भाग, इटली और सिसली में बसाए गए तथा चौथी श्रेणी के उपनिवेश उत्तरी अफ्रीका में बसाए गए थे।

यूनान के प्राचीनतम उपनिवेशों की स्थापना आठवीं शताब्दी ई०-पू० में की गई। ये उपनिवेश उत्तर में स्थित पड़ोसी देशों में बसाए गए। ऐटिका प्रदेश से पूर्व ईजियन समुद्र में यूबोइया नामक द्वीप ग्रीक सभ्यता का प्रधान केंद्र था। इस द्वीप में चाल्सिस तथा इरीट्रिया नामक दो नगर थे। इन दोनों नगरों के निवासियों ने ईजियन समुद्र के उत्तरी-पश्चिमी तट पर स्थित चाल्सिडाइस नामक प्रायद्वीप को अपना उपनिवेश बनाया। वास्तव में चाल्सिस प्रदेश के निवासियों द्वारा उपनिवेशन की प्रक्रिया प्रारंभ किए जाने के कारण इस प्रदेश का नाम चाल्सीडाइस पड़ा। चाल्सिस के नागरिकों ने इस प्रदेश में ६०० ई०-पू० तक बत्तीस उपनिवेश बसाए थे। इस प्रकार मैसिडोनिया तथा थ्रेस के प्रदेश, जो यूनान के उत्तरी भाग में थे, यूनान के उपनिवेशों में परिणत हो गए। मैसिडोनिया के समुद्री तट पर पोटीडिया का उपनिवेश कोरिंथ के निवासियों द्वारा ही बसाया गया। थ्रेस प्रदेश में दो प्रसिद्ध यूनानी उपनिवेश बाईजैंटियम तथा सेलिब्रिया थे, जो मेगारा राज्य के निवासियों द्वारा बसाए गए थे।

इस पार्श्ववर्त्ती प्रदेश के अतिरिक्त यूनानी उपनिवेशों की श्रृंखला एशिया माइनर, ईजियन के द्वीपों, प्रपौंटिस के दोनों किनारों तथा काले सागर के उत्तरी पूर्वी और दक्षिणी किनारों तक बिखरी पड़ी थी। काले सागर के दक्षिणी तट पर आयोनिया में स्थित मिलेटस नगर के दो प्रसिद्ध उपनिवेश थे, जिसका नाम 'सिनोप' तथा 'ट्रौपेजस' था। ट्रौपेजस नगर आज भी 'ट्रैब्रिजौंड' के नाम से विख्यात है। इन दोनों उपनिवेशों की स्थापना ७३० ई०-पू० के लगभग हुई। धीरे-धीरे काले सागर के तटवर्ती प्रदेशों में यूनानी उपनिवेशवासियों की दिलचस्पी बढ़ती गई तथा वे कृष्ण सागर के उत्तर में स्थित क्रीमिया के प्रदेश में भी बसने लगे। यूनानी कृष्ण सागर को यूग्जीन (Euxine) अर्थात् 'विदेशियों का मित्र' कह कर पुकारते थे। इस प्रदेश में उपनिवेशों की स्थापना का नेतृत्व मिलेटस में रहने वाले आयोनियन शाखा के ग्रीकों ने किया। इन प्रदेशों में इन लोगों ने नब्बे उपनिवेशों की स्थापना की। फलस्वरूप आयोनिया का प्रदेश यूनानी जगत का सर्वाधिक प्रगतिशील एवं समृद्ध राज्य बन गया। मिलेटस इस प्रदेश का प्रधानतम नगर था। यह नगर मिएण्डर नदी के मुहाने पर बसा हुआ था, जिससे एशिया माइनर के व्यापार का यह प्रधान केंद्र था। इन उपनिवेशों के कारण इस नगर की समृद्धि एवं प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गए।

भूमध्यसागर के पश्चिमी भागों में यूनानी उपनिवेशों की स्थापना का क्रम आठवीं शताब्दी ई०-पू० में प्रारंभ हुआ। यूनानी मिट्टी के बर्त्तन, जो इटली तथा सिसली के तीस स्थानों से प्राप्त हुए, हैं, सिद्ध करते हैं कि इन प्रदेशों से यूनान का व्यापारिक संबंध आठवीं शताब्दी ई०-पू० के पूर्वार्द्ध में था। इस व्यापारिक संबंध के द्वारा ही आठवीं शताब्दी ई०-पू० के उत्तरार्द्ध में इस प्रदेश में यूनानी उपनिवेशों की स्थापना का पथ-प्रशस्त हुआ।

भूमध्यसागर के पश्चिमी भाग में भी उपनिवेश की प्रक्रिया का श्रीगणेश यूब्रोइया द्वीप में स्थित इरीट्रिया तथा चाल्सिस नामक नगरों के निवासियों ने ही किया। आठवीं शताब्दी ई०-पू० के मध्य में इरीट्रिया के निवासियों ने एड्रियाटिक समुद्र के दक्षिण भाग में स्थित कोर्सिरा के द्वीप में, एपिरस प्रदेश के पश्चिम में स्थित था, अपना उपनिवेश स्थापित किया। यहाँ से इन लोगों ने इटली तथा सिसली की ओर बढ़ना शुरू किया। नेपुल्स की खाड़ी में स्थित क्युमे नामक द्वीप भी ७३० ई० पूर्व में इन लोगों का उपनिवेश बन गया। कुछ ही दिनों में इटली के तटवर्ती प्रदेशों में अनेक उपनिवेश स्थापित हो गए। ६०० ई०-पूर्व में क्यूमे से ६० मील दक्षिण इटली के पश्चिमी-दक्षिणी प्रदेश में पोसिडोनिया नामक ग्रीक उपनिवेश बसाया गया। ५३५ ई०-पू० में पोसिडोनिया से २५ मील दक्षिण 'एली' नामक उपनिवेश बसाया गया। सिसली के पूर्वी तट पर चाल्सिस के नागरिकों ने ७३५ ई०-पू० में नैक्सस नामक नगर बसाया। कालांतर में नैक्सस नगर के निवासियों ने सिसली के उत्तरी तथा पूवी हिस्सों में अपने उपनिवेश स्थापित किये।

इस प्रदेश में इन प्रारंभिक उपनिवेशों के संस्थापक आयोनियन शाखा के ग्रीक थे। पर, शीघ्र ही डोरियन शाखा के ग्रीकों ने भी इस प्रदेश में उपनिवेश स्थापित करना शुरू किया। कोरिंथ के निवासियों ने, जो डोरियन शाखा के थे, कोर्सिरा के द्वीप पर ७३५ ई०-पू० में अधिकार कर लिया। इसके बाद शीघ्र ही इन लोगों ने सिसली द्वीप में सिराक्यूज नगर की स्थापना की। यह नगर कई शताब्दियों तक इस प्रदेश में सबसे प्रसिद्ध यूनानी उपनिवेश एवं नगर बना रहा। सिसली के अन्य प्रदेशों में तथा इटली में भी डोरियन शाखा के ग्रीक लोगों के उपनिवेश बसाए। सातवीं शताब्दी के अंत में फ्रांस के दक्षिणी तट पर भी ग्रीक लोगों ने उपनिवेश बसाए। फ्रांस के दक्षिणी तट पर पहला ग्रीक नगर मैसिलिया था, जो मार्सेल्स नगर के पास है। इस नगर को बसाने वाले आयोनिया में स्थित फोसिस नगर के निवासी थे। फिर मैसिलिया के यूनानियों ने कोर्सिका तथा स्पेन में भी उपनिवेश स्थापित किए।

इस प्रकार उपनिवेश की इस प्रक्रिया के द्वारा ग्रीक जाति इटली, सिसली,

फ्रांस तथा स्पेन तक फैल गई। इटली के दक्षिणी प्रदेशों में प्रसिद्ध ग्रीक नगर साईबेरिस, क्रोटन, लोक्री, रेजियम तथा टैरेंटम थे। इसी प्रकार सिसली में सिराक्यूज तथा एग्रिजेंटम प्रसिद्ध डोरियन उपनिवेश थे। फ्रांस के दक्षिण तट पर मैसिलिया प्रसिद्ध ग्रीक नगर था। यही नगर आधुनिक काल में मार्सेल्स के नाम से पुकारा जाता है। स्पेन में इनका प्रसिद्ध उपनिवेश हेमर्सकोपियम था।

इन लोगों ने कुछ उपनिवेश उत्तरी अफ्रिका में भी स्थापित किए। करीब आठवीं शताब्दी ई०-पू० के पूर्वार्द्ध से ही कुछ ग्रीक क्रीट के दक्षिण में स्थित अफ्रिका के तट पर बसने लगे थे। इसके पश्चात् डोरियन शाखा के यूनानियों ने ६३० ई०-पू० में मिस्र में साइरिन नामक नगर बसाया। साइरिन के अतिरिक्त नौक्रेटिस का नगर यूनानियों का प्रसिद्ध उपनिवेश था।

क्लेरुची तथा उपनिवेश में अंतर

यूनानी उपनिवेश, जिनका हम अभी तक वर्णन करते आए हैं, राजकीय प्रयत्नों के परिणाम नहीं, वरन् साहसी नागरिकों के प्रयत्नों के परिणाम थे। फलतः जैसा हम देख चुके हैं, ये उपनिवेश राजनैतिक दृष्टि से मातृभूमि से स्वतंत्र थे। पर विजित प्रदेशों में भी, युद्ध के पश्चात् कुछ उपनिवेश बसाए जाते थे, जिन्हें 'क्लेरुची' कहा जाता था। ये क्लेरुची उद्देश्य तथा स्वरूप में उपर्युक्त उपनिवेशों से सर्वथा भिन्न थे। इनकी स्थापना युद्ध के पश्चात् राज्य की ओर से विजित प्रदेशों की जनता को नियंत्रण में रखने के लिए की जाती थी। इसलिए इनमें बसने वाले यूनानी नागरिक अपनी मातृभूमि के ही नागरिक माने जाते थे, पर उपनिवेशों में बसने वाले यूनानियों का मातृभूमि से केवल भावात्मक एवं सांस्कृतिक संबंध होता था। इसलिए, हम क्लेरुची को राजकीय प्रयत्नों का परिणाम मान सकते हैं।

अन्य प्राचीन उपनिवेशों से यूनानी उपनिवेशों की तुलना

यूनानी उपनिवेशों से पहले भूमध्य सागर के तटवर्ती प्रदेशों में फीनिशिया के नागरिकों ने उपनिवेश बसाए। फीनिशियानिवासी सुदूर देशों से व्यापार करते थे। इसलिए इनके उपनिवेश इनके व्यापारियों की सुविधा के लिए बसाए गए। एक प्रकार से इनके उपनिवेश व्यापार के केन्द्र थे, जहाँ फीनिशियन बसे हुए थे; जो अपने व्यापारियों की देखभाल करते थे और इनके माल से लदे जहाज ठहराते थे। ये उपनिवेश छोटी-छोटी बस्तियों के रूप में थे जहाँ व्यापारियों को ठहरने का स्थान और भोजन मिल जाता था। इनके उपनिवेशों में केवल कार्थेज एक बड़े नगर के रूप में विकसित हुआ।

यूनानी सभ्यता के पतन के पश्चात् रोमवासियों ने भी अपने उपनिवेश स्थापित किए। ये उपनिवेश विशेष रूप से विजित प्रदेशों की जनता को नियंत्रित करने के लिए ही स्थापित किए गए। वस्तुतः रोमन उपनिवेश सैनिक बस्तियों के रूप में बसाए गए। ये उपनिवेश राजनैतिक दृष्टि से मातृभूमि के अधीन थे और इनमें रहने वाले रोमन रोम के ही नागरिक माने जाते थे। यूनान के उपनिवेशों की तरह इनका स्वतंत्र रूप से विकास नहीं हुआ। इसलिए, रोमन उपनिवेश यूनानी उपनिवेशों में क्लेरुची श्रेणी के उपनिवेशों से मिलते-जुलते थे।

एथेंस गणतंत्र का विकास

हम देख चुके हैं कि पेलोपोनेसस के प्रदेश में स्पार्टा का विकास हुआ। वैसे ही, कोरिंथ खाड़ी के उत्तर ऐटिका प्रदेश में, एथेंस के नगर-राज्य का विकास हुआ। ग्रीक के लिखित इतिहास के युग में हम पाते हैं कि ऐटिका का इतिहास एथेंस का इतिहास है तथा ऐटिका के निवासी एथेंसनिवासी हैं। एथेंस एवं ऐटिका के निवासी आयोनियन शाखा के ग्रीक थे। ऐटिकाप्रदेश को एक सूत्र में बाँधने का श्रेय एथेंस के ही निवासियों को था। एथेंस नगर-राज्य का विकास, स्पार्टा के विपरीत, अन्य दिशा में हुआ। एथेंस ने आगे चल कर एक आदर्श नगर-राज्य का रूप धारण किया। यहाँ कला, साहित्य, दर्शन एवं विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इसने अपूर्व कुशलता के साथ यूनानी जगत का नेतृत्व किया। एथेंसवासी स्वस्थ, सुंदर एवं उन्मुक्त जीवन बिताते थे। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ ६०० ई०-पू० में ही गणतांत्रिक शासन-पद्धति के सफल प्रयोग हुए। एथेंस गणतंत्र के क्रमिक विकास का इतिहास विश्व-इतिहास का अत्यंत रोचक एवं महत्त्वपूर्ण अध्याय है।

एथेंस गणतंत्र का प्रारंभिक इतिहास

अन्य ग्रीक राज्यों की तरह, एथेंस में भी आरंभिक काल में राजा राज्य करते थे। पर, इन राजाओं की शक्ति पर काफी प्रतिबंध थे। क्रमशः ये प्रतिबंध बढ़ते गए तथा शासन के क्षेत्र में उच्चकुल के लोगों की प्रधानता हो गई। अतः ८०० ई०-पू० से एथेंस में उच्चकुलतंत्र की स्थापना हो गई थी तथा इस उच्चकुलतंत्र का शासन अनेक आंतरिक विप्लवों के बावजूद ६०० ई०-पू० तक चलता रहा। इस शासनकाल में जनता का असंतोष निरंतर बढ़ता ही गया। इसी असंतोष से लाभ उठा कर अन्य ग्रीक राज्यों की तरह एथेंस में भी स्वेच्छाचारी शासकों ने राज्य स्थापित किए। उच्चकुलतंत्र के शासन की यह विशेष बात रही कि जनता तथा कुलीनों में, अधिकारों के लिए बराबर संघर्ष चलता रहा। गरीब

जनता की गरीबी बढ़ती जा रही थी। इसी संघर्ष से आगे चल कर गणतांत्रिक शासन का प्रादुर्भाव हुआ। सातवीं शताब्दी ई०-पू० के अंत से बहुत से ग्रीक राज्यों में गणतंत्र की स्थापना के लिए प्रयत्न प्रारंभ हुए। इस गणतंत्र की स्थापना में स्वेच्छाचारी शासकों के शासन ने भी परोक्ष रूप से सहयोग किया।

स्वेच्छाचारी शासकों का प्रभाव

इस स्वेच्छाचारी शासकों को ग्रीक के इतिहास में टाइरेंट (Tyrant) कहते हैं। ये स्वेच्छाचारी शासक छलछद्म तथा बलप्रयोग के द्वारा अपनी सत्ता स्थापित करते थे। उच्चकुलतंत्र के शासन के दोषों के कारण ही इन स्वेच्छाचारी शासकों का उदय हुआ। शासक वर्ग निर्धन जनता का शोषण करता था। अत्याचार के कारण जनता ऐसे लोगों का समर्थन करती थी, जो उसे इस अत्याचार से मुक्ति दिला सकें। शासक वर्ग में आपसी वैमनस्य भी काफी था। जब इस वर्ग का एक कुल अधिक शक्तिशाली हो जाता था, तब उसके प्रतिद्वंद्वी कुल, सामाजिक असंतोष से लाभ उठा कर उसका विनाश करने के लिए तत्पर हो जाते थे। अतः असंतुष्ट सामंतगण, असंतुष्ट जनता का नेतृत्व ग्रहण कर लेते थे। जनता के सहयोग से ये कुलीनतंत्र का शासन समाप्त कर, अपना मनमाना शासन स्थापित करते थे। व्यापार-वाणिज्य के प्रसार से, एक नए व्यापारी-वर्ग का उदय हो गया था। यह एक संपन्न वर्ग था। कुलीन तंत्र में, इस वर्ग का भी शासन में कोई हाथ नहीं था। अतः, इस वर्ग की भी सहानुभूति इन स्वेच्छाचारी शासकों के साथ थी। इन्हीं कारणों से, यूनान के विभिन्न राज्यों में, स्वेच्छाचारी शासकों की सत्ता स्थापित हो सकी।

परिणाम

इन स्वेच्छाचारी शासकों की शक्ति केवल बल प्रयोग पर निर्भर करती थी। इन्हें शासन करने का कोई वैधानिक अधिकार नहीं था तथा इनके उत्तराधिकारी भी नहीं होते थे। इनका शासन अधिनायकवाद या तानाशाही से मिलता-जुलता था। ये स्वेच्छाचारी शासक अत्याचारी तथा प्रजापीड़क ही नहीं थे, बल्कि इनमें से बहुत से उदार एवं प्रजाहितैषी भी थे। चूँकि ये वैधानिक ढंग से शासन नहीं करते थे, इन्हें टाइरेंट की संज्ञा दी गई। कई स्वेच्छाचारी शासकों के शासनकाल में साहित्य एवं कला की उन्नति हुई।

स्वेच्छाचारी शासकों के शासन ने यूनान में गणतंत्र की स्थापना का पथ प्रशस्त कर दिया। यह संक्रांतिकाल था, जब जनता ने स्वेच्छाचारी शासन की बुराइयों को हृदयंगम किया। उच्चकुलतंत्र की बुराइयों से ऊबी हुई जनता यह समझ गई कि ये स्वेच्छाचारी शासक उसके प्रश्नों को चिरस्थायी रूप से नहीं सुलझा सकते।

अतः, जनता को स्वेच्छाचारी शासकों से घृणा हो गई तथा वह पुनः गणतांत्रिक शासन की स्थापना के लिए व्यग्र हो उठी। ग्रीक जाति स्वभावतः स्वतंत्रता प्रेमी थी। अतः मनमाने ढंग के शासकों से उसे स्वाभाविक घृणा थी। फलतः ग्रीक जनता ने, इस स्वेच्छाचारी शासन को समाप्त कर, जगह-जगह पर गणतांत्रिक शासन की स्थापना के प्रयत्न शुरू किए। कुछ राज्यों में यह स्वेच्छाचारी शासन एक शासक के बाद समाप्त हो गया तथा कुछ राज्यों में शताब्दियों तक चलता रहा। अतः इस काल में ग्रीक जनता को स्वेच्छाचारी शासन के अनुभव प्राप्त हुए, जो गणतंत्र की स्थापना में लाभदायक सिद्ध हुए।

एथेंस गणतंत्र की स्थापना

७०० ई०-पू० में एथेंस उच्चकुल के लोगों द्वारा शासित एक राज्य था। कार्यपालिका शक्ति तीन निर्वाचित उच्च कर्मचारियों के हाथ में केंद्रीभूत थी। ये उच्च कर्मचारी थे—(१) आर्कन (Archon), (२) राजा तथा (३) पोलमार्क (Polemarch)। आर्कन सभी दीवानी मुकदमों का अंतिम न्यायाधीश था। वह जब पद ग्रहण करता, तो घोषणा करता था कि सभी नागरिकों की संपत्ति की रक्षा होगी। सभी मजिस्ट्रेटों में वह प्रधानतम मजिस्ट्रेट माना जाता था। पोलमार्क सेना का प्रधान सेनापति होता था और इसके अतिरिक्त इसे न्याय-संबंधी अधिकार भी प्राप्त थे। पोलमार्क विदेशी लोगों के आचरण की निगरानी करता था। राजा का पद विशेषतः सम्मानित पद था। राजधर्म का प्रबंध तथा राजधर्म से संबद्ध मुकदमों का निर्णय करना उसका कर्त्तव्य होता था। वह काउंसिल नाम की संस्था का सभापति होता और इस संस्था की कार्यवाहियों के प्रति बहुत हद तक उत्तरदायी माना जाता था।

इन कर्मचारियों के अतिरिक्त, निम्नलिखित संस्थाएँ एथेंस के शासनतंत्र का प्रधान अंग थीं। ब्यूल (Bule) या काउंसिल नाम की संस्था के द्वारा ही उच्च कुल के लोगों ने क्रमशः राजतंत्र का विनाश किया। यह काउंसिल वयोवृद्धों की संस्था थी। इस काउंसिल को ही 'ऐरियोपैगस की काउंसिल' की संज्ञा प्राप्त हुई। यह काउंसिल हत्या, विष देने तथा आग लगाने के मुकदमों का निर्णय करती थी। यही काउंसिल, एथेंस के शासन की प्रधान संस्था थी। मजिस्ट्रेट इसके सदस्य हुआ करते थे। आर्कन के निर्वाचन में इस काउंसिल का पूरा हाथ रहता था। इसके अतिरिक्त एक्सलेशिया (Eccelesia) नामक संस्था जनता की सभा थी।

लिखित कानूनों का अभाव

इन्हीं संस्थाओं द्वारा उच्च कर्मचारी शासन करते थे। परंतु, उन संस्थाओं के बावजूद जनसाधारण का असंतोष बढ़ता जा रहा था। कुलीनों के पोषण एवं अत्याचार

से निर्धन जनता कराह रही थी। आर्कन आदि उच्च कर्मचारी भी निष्पक्ष न्याय नहीं करते थे। ये भी कुल के सदस्य होते थे तथा न्याय करते समय अपने मित्रों एवं बंधुओं का पक्षपात करते थे। साधारण जनता को उचित न्याय नहीं मिलता था। जनता की यह शिकायत थी कि लिखित कानूनों के अभाव में मजिस्ट्रेट मनमाना शासन करते हैं। ऐसा प्रतीत होता था कि असंतोष की ज्वाला भड़क कर विद्रोह का रूप धारण कर लेगी। असंतुष्ट जनता की माँग को पूरा करने के लिए ड्रेकान नामक आर्कन को कानून बनाने एवं लेखबद्ध करने के लिए असाधारण अधिकार दिया गया। ड्रेकान ने पुराने कानूनों का सुधार किया तथा नए कानून भी बनाए। ड्रेकान द्वारा कानून ६२१ ई०-पू० में लिखे गए। उसने कानूनों का प्रथम लिखित संग्रह निकाला। उसके कानून अपनी कठोरता के लिए प्रसिद्ध हो गए। उसके द्वारा संकलित तथा लिखित पूरे कानून का ज्ञान हमें नहीं है, पर जो थोड़े कानून मिलते हैं, उन्हीं से उनकी कठोरता का भान होता है। उसने चोरी-जैसे अपराधों के लिए भी प्राणदंड की व्यवस्था की। ऋण-संबंधी कानून भी अत्यंत कठोर थे। ऋण नहीं चुकाने पर, ऋण लेने वाले को महाजन की दासता स्वीकार करनी पड़ती थी, अतः ड्रेकान द्वारा संपादित कानूनों से जनता को केवल यही लाभ हुआ कि वह कानूनों से परिचित हो गई, उसकी दयनीय दशा में कोई सुधार नहीं हुआ।

ड्रेकान के कानून

सोलन के सुधार

ऐटिका प्रदेश में किसानों और श्रमिकों की दशा दिनोंदिन बिगड़ती जा रही थी। ड्रेकान द्वारा लिखित कानूनों के बावजूद धनी सामंतों द्वारा जनता का शोषण एवं उत्पीड़न कम नहीं हुआ। जनता की दरिद्रता उसकी समस्त विपत्तियों का कारण थी। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे धनी लोगों से ऋण लेना पड़ता था। सूद की दर इतनी भयावह थी, जो ऋण लेने वालों के विनाश का कारण बन जाती थी। अतः, ऋण लेने के लिए गरीब किसान अपनी भूमि रेहन रखते थे। रेहननामे पत्थरों पर लिख कर खेतों में रख दिए जाते थे। इस तरह जमीन भी धनियों का दास बन चुकी थी।

दीन जनता का धनियों द्वारा शोषण

श्रमिक वर्ग की दशा तो और भी शोचनीय थी। उनके पास भूमि नहीं थी। खेतों की उपज का छठा हिस्सा उन्हें मजदूरी के रूप में मिलता था। इससे उनका निर्वाह होना कठिन था। अतः, उन्हें भी अपने स्वामियों से ऋण लेना पड़ता था। किसी संपत्ति के अभाव में, उन्हें अपना शरीर ही बंधक रखना पड़ता था। सूद की दर तो भयावह थी ही, ऋण नहीं चुका सकने पर उन्हें दासता स्वीकार करनी पड़ती

थी । इस प्रकार ऋण नहीं चुका सकने के कारण गुलाम बन जाने वालों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी । स्वामी इन गुलामों का क्रय-विक्रय मनमाने ढंग से करते थे । यही तत्कालीन कानून था । परिणाम यह हो रहा था कि धनी लोग दिनों-दिन धनी होते जा रहे थे तथा गरीबों की गरीबी बढ़ती जा रही थी । छोटे-छोटे किसान भूमिहीन होते जा रहे थे तथा भूमिहीन श्रमिक गुलाम बनते जा रहे थे। असंतोष की मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई थी कि जनता विद्रोह के लिए पूर्णतया तैयार थी । उसे केवल एक नेता की आवश्यकता थी, जो उसका पथ-प्रदर्शन कर सके । कोई भी साहसी नेता आसानी से स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना कर सकता था; क्योंकि जनता किसी भी तरह इस उत्पीड़न का अंत चाहती थी । एथेंसवासी ज्वालामुखी के मुख पर बैठे हुए थे । किसी भी समय जनता के क्रोध का भयंकर विस्फोट संभव था । इसी दशा का सुधार करने के लिए सोलन (Solon) नामक एक व्यक्ति को नियुक्त किया गया ।

सोलन

सोलन एक व्यापारी तथा समाज में सर्वाधिक संपन्न वर्ग का सदस्य था। बहुत देशाटन करने से उसका मस्तिष्क बहुत जागरूक तथा हृदय विशाल हो गया था । उसने आयोनिया प्रदेश में रह कर वहाँ के साहित्य का गंभीर अध्ययन किया था । वह स्वयं कविता भी करता था । अपनी अपूर्व योग्यता के कारण, वह तत्कालीन बौद्धिक आंदोलन में भाग लेने वाला एक महान ऋषि बन गया । समाज में फैले भयानक असंतोष को कम करने के लिए उसे ५९४ ई०-पू० में आर्कन निर्वाचित किया गया तथा कानूनों के सुधार के लिए असाधारण अधिकार प्रदान किए गए ।

सोलन द्वारा सामाजिक सुधार

ऋण-संबंधी सुधार

सोलन ने आर्कन के पद पर आते ही पहली घोषणा द्वारा उन ऋण लेने वालों को, जिन्होंने अपना शरीर बंधक रख दिया था, मुक्त कर दिया । वे गुलाम, जो ऋण नहीं चुका सकने के कारण इस दशा को प्राप्त हुए थे, स्वतंत्र कर दिए गए । इसके साथ ही सोलन ने कानून में सुधार कर दिया कि कोई भी व्यक्ति ऋण नहीं चुका सकने के कारण गुलाम नहीं बनाया जा सकता । उसके पहले यह परिपाटी थी कि आर्कन अपने पद पर आते ही पहली घोषणा यह करते थे कि वे सभी संपत्ति की रक्षा करेंगे । पर सोलन ने, इस परंपरा के विरुद्ध एथेंस की जनता को एक नूतन संदेश दिया, जिसके द्वारा उसके कष्टों का अंत हो गया । इन घोषणाओं द्वारा उसने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्त्तन ला दिया । इसी कारण उसके ऋण-संबंधी सुधारों को न केवल यूनान की, वरन् प्राचीन विश्व की महान घटना मानते हैं ।

मनुष्य की मर्यादा को समझने की ओर यह पहला प्रयत्न था। इसके पश्चात् सोलन ने भूमि-संबंधी कानूनों में भी सुधार किया। उसने एक सीमा निश्चित कर दी, जिससे किसी के पास अधिक भूमि नहीं रह सकती थी। उसने यह संशोधन इसलिए किया कि एक ही व्यक्ति के पास अत्यधिक भूमि न हो जाए।

भूमि-संबंधी सुधार

उसने ऐटिका में उत्पादित वस्तुओं का निर्यात कानून द्वारा बंद कर दिया। इससे वस्तुएँ सस्ती हो गईं तथा जनता को लाभ हुआ। उसने एथेंस के सिक्कों का भी सुधार किया तथा आयोनिया के सिक्कों के आदर्श पर नए सिक्के प्रचलित किए, जिससे कुछ हद तक व्यापार-वाणिज्य में प्रगति हुई। उसने शिक्षा के क्षेत्र में भी सुधार किया। उसने यह घोषणा की कि वे पिता, जिन्होंने अपने पुत्रों की शिक्षा का उचित प्रबंध नहीं किया, बुढ़ापे में, अपने पुत्रों से सहायता प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं। लड़कों को शारीरिक व्यायाम, संगीत एवं कविता की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए, जिससे उनका समन्वित मानसिक एवं शारीरिक विकास हो सके। इसके अतिरिक्त उसने यह भी कानून बनाया कि वे नागरिक, जो राजनैतिक कार्यों में सक्रिय-भाग नहीं लेते हैं, दंड के भागी हैं।

अन्य सुधार

सोलन का मध्यम मार्ग

सोलन ने इन सामाजिक सुधारों में मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। उसके ऋण-संबंधी सुधारों से धनी वर्ग को हानि हुई तथा यह वर्ग उसका शत्रु बन गया। साथ ही, उसके सुधारों से जनता भी पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं हुई; क्योंकि जनता की सभी माँगों को उसने पूरा नहीं किया। जनता के कई नेता यह चाहते थे कि धनियों की सारी भूमि को जब्त कर उसे फिर से बाँट दिया जाए। पर सोलन ने ऐसा नहीं किया; क्योंकि यह उसके मध्यम मार्ग के आदर्शों के प्रतिकूल था। उसने मजदूर वर्ग को ऋण नहीं चुका सकने के कारण गुलाम होने से तो बचा लिया, पर उनकी मजदूरी की दर में कोई वृद्धि नहीं की। उपज का छठा भाग ही उनकी मजदूरी की दर रह गई, जो उनके निर्वाह के लिए अपर्याप्त थी। उसने सूद की भी कोई ऐसी दर निश्चित नहीं की, जिससे अधिक जनता को नहीं देना पड़े। इस प्रकार, उसने उन कारणों को नहीं दूर किया, जिससे जनता की निर्धनता बढ़ रही थी। केवल निर्धनता के कुपरिणामों की कटुता को कम कर दिया। उसने जानबूझ कर ऐसा किया। उसने कहा कि मैंने जनता को उतना ही अधिकार दिया है, जितना उसके लिए पर्याप्त है।

उसने धनियों तथा गरीबों, दोनों ही के हित को ध्यान में रखा। इस प्रकार उसने प्राचीनता एवं प्रगति का मध्यम मार्ग अपनाया। उसे अतिवाद

से घृणा थी। फिर भी यदि हम ध्यानपूर्वक देखें, तो पाते हैं कि उसके मध्यम मार्ग के वावजूद, उसके सुधार प्रगति से अधिक पुरानी परंपरा की ओर झुके हुए हैं; क्योंकि वह स्वभावतः प्राचीनतावादी तथा परंपराप्रेमी था।

सोलन के वैधानिक सुधार

सोलन विश्व के इतिहास में, अपने सामाजिक सुधारों की अपेक्षा अपने वैधानिक सुधारों के लिए विशेष प्रसिद्ध है। उसने अपने वैधानिक सुधारों द्वारा एथेंस में गणतांत्रिक शासन की नींव डाली। इसीलिए उसे एथेंस गणतंत्र का संस्थापक मानते हैं। उसी ने वह रूपरेखा तैयार की, जिस पर आगे चल कर एथेंस गणतंत्र का भव्य भवन तैयार हो सका।

निम्नतम वर्ग को एसेंवली की सदस्यता

सर्वप्रथम, सोलन ने समाज का वर्गीकरण नए सिरे से किया। संपत्ति के आधार पर समाज का विभाजन पहले ही से चला आ रहा था। उसने उस विभाजन को कायम रखा तथा थीट्स (Thetes), जो निम्नतम वर्ग थे, उन्हें समाज का चौथा वर्ग घोषित किया। ऊपर के तीन वर्ग ही उच्च पद पाने के अधिकारी थे। सोलन ने चौथे वर्ग थीट्स को भी कुछ राजनैतिक अधिकार प्रदान किए। प्रथम वर्ग के लोग ही आर्कन के पद को सुशोभित कर सकते थे। इसके साथ ही राज्य की रक्षा इत्यादि का भार भी उच्च वर्गों पर ही था। युद्ध में घुड़सवार सेना का काम उच्च वर्गों के ही जिम्मे रहता था। थीट्स केवल पैदल सेना में रहते थे। सोलन ने इस निम्नतम वर्ग को जनता की सभा एक्सेलेशिया या एसेंबली में मत प्रदान करने का अधिकार दिया। इस अधिकार से, इस वर्ग का मजिस्ट्रेटों के निर्वाचन में हाथ हो गया। यह सुधार गणतांत्रिक शासन की स्थापना में एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

न्यायालयों का निर्माण

इसके पश्चात् सोलन ने सार्वजनिक कचहरियों या न्यायालयों का निर्माण किया। इन न्यायालयों का निर्माण उसका सर्वाधिक क्रांतिकारी सुधार था, जो एथेंस के गणतांत्रिक शासन की आधारशिला बन गया। इस सार्वजनिक न्यायालय का सदस्य कोई भी नागरिक हो सकता था। कोई भी नागरिक, चाहे वह कितना भी गरीब क्यों न हो, इन न्यायालयों का जज चुना जा सकता था। इन कचहरियों में किसी भी मजिस्ट्रेट पर पदत्याग के बाद मुकदमा चलाया जा सकता था। अतः इस सुधार से जनता के हाथों में शासन का पूरा नियंत्रण आ गया। इन कचहरियों को 'हीलिया' की संज्ञा दी गई। इस संस्था के अधिकार दिनोंदिन बढ़ते गए। मजिस्ट्रेटों के निर्णय के बाद मुकदमों की अपील यहीं होने लगी।

इस प्रकार, मजिस्ट्रेटों का चुनाव जनता द्वारा, एक्सलेशिया या जनता की सभा में होता था तथा उनके आचरण पर नियंत्रण, इन कचहरियों द्वारा होता था। सोलन ने इन सुधारों द्वारा गणतंत्र की नींव मजबूत कर दी। सैद्धांतिक रूप में, राज्य की समस्त प्रभुसत्ता जनता के ही हाथों में केंद्रीभूत हो गई तथा धनी वर्ग के अधिकार क्रमशः कम होते चले गए। विशेषतया, इसी सुधार के कारण सोलन को एथेंस गणतंत्र का संस्थापक मानते हैं।

एरियोपैगस

एरियोपैगस नामक संस्था, उच्चकुलतंत्र की निशानी थी। इसके सभी सदस्य, उच्च कुल के वयोवृद्ध होते थे, जो शासन के सभी मामलों में हस्तक्षेप करते थे। यह अत्यंत प्राचीन संस्था थी, जिसके अधिकार बहुत अधिक थे। इसके सदस्य, अवकाशप्राप्त आर्कन हुआ करते थे। सोलन ने गणतंत्र की स्थापना के लिए इसके अधिकारों को भी कम करना आवश्यक समझा। शासन के सभी विषयों पर विचार करने का अधिकार इस संस्था से छीन लिया गया। अब इसे शासन में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं रह गया। सोलन ने इस संस्था को सैद्धांतिक रूप में, संविधान तथा कानूनों का संरक्षक घोषित किया। उसने इस संस्था के न्याय-संबंधी तथा धर्म-संबंधी परंपरागत अधिकारों को अछूता छोड़ दिया। यह संस्था अब केवल कुलीनों की संस्था नहीं रह गई; क्योंकि अब कोई भी नागरिक आर्कन हो सकता था तथा अवकाशप्राप्त आर्कन इसके सदस्य होते थे।

ब्युल या ४०० सदस्यों की काउंसिल का निर्माण

ऐरियोपैगस के अधिकारों को कम करने के बाद सोलन को एक नई संस्था का निर्माण करना पड़ा, जो एसेंबली में आने वाले विषयों की सूची तैयार कर सके। इस उद्देश्य से उसने एक नई काउंसिल का निर्माण किया, जिसके ४०० सदस्य होते थे। १०० सदस्य ऐटिका में बसने वाली चारों जातियों में से प्रत्येक से लिए जाते थे। इस संस्था के सदस्य प्रत्येक वर्ग के लोग निर्वाचित होते थे। केवल थीट्स इसके सदस्य नहीं हो सकते थे। सोलन के समय में इस संस्था के अधिकार बहुत कम रहे। एसेंबली में आने वाले सार्वजनिक विषयों पर विचार इस सभा में पहले ही हो जाया करता था। इसका नाम 'बौल' भी था।

लौट की प्रथा

सार्वजनिक कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए सोलन ने लौट की प्रथा भी चलायी। ४० निर्वाचित व्यक्तियों में से, कोई नौ सदस्य मनमाने ढंग से, लौट की प्रथा द्वारा

आर्कन चुन लिए जाते थे। उस समय लोग ऐसा समझते थे कि लौट की प्रथा द्वारा जो निर्णय होता है, वह देवताओं का निर्णय होता था। लौट द्वारा निर्वाचन में संयोग से कोई भी चुना जा सकता था। अतः इसमें पक्षपात की गुंजाइश नहीं थी। इसके अतिरिक्त, सोलन ने ड्रेकान के हत्या-संबंधी कानूनों के अतिरिक्त सभी कानूनों को रद्द कर दिया।

सोलन के सुधारों का महत्त्व

वैधानिक सुधारों के क्षेत्र में भी सोलन ने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। उसने उच्चतम पदों पर नियुक्त होने का अधिकार केवल धनी वर्ग को प्रदान किया। उसका ऐसा विश्वास था कि धनी लोग ही उन पदों पर आसीन होने की योग्यता रखते हैं। अतः, इस क्षेत्र में भी उसने अपने को प्राचीनतावादी तथा परंपराप्रेमी सिद्ध किया। फिर भी उसने अपने को अतिवादिता से बचा कर, एथेंस में गणतांत्रिक शासन का शिलान्यास किया। हम उसे प्राचीन यूनान के महान ऋषियों की श्रेणी में पाते हैं। उसने अपनी बुद्धिमत्ता से एथेंस की सामाजिक आवश्यकताओं को पहचाना तथा संविधान एवं समाज में उतने ही सुधार किए, जितने आवश्यक थे। यदि वह चाहता, तो जनता के असंतोष से लाभ उठाकर आसानी से एक स्वेच्छाचारी शासक बन सकता था। पर, वह जनता का सच्चा मित्र तथा राष्ट्रप्रेमी था। अतः उसने जनता तथा धनी वर्ग के अधिकारों को उतना ही बढ़ाया और घटाया, जिससे देश का कल्याण हो सके तथा भयंकर विद्रोह की आशंका न रहे। उसके सुधारों के कारण शासक जनता के प्रति उत्तरदायी बन गए तथा एथेंस का उत्तरोत्तर विकास होता गया।

क्लैस्थिनीज (Cleisthenes) के सुधार

सोलन के बाद क्लैस्थिनीज को एथेंस गणतंत्र का दूसरा संस्थापक मानते हैं। सोलन के शीघ्र ही बाद एथेंस के इतिहास में कुछ ऐसी भयानक प्रवृत्तियों का प्राबल्य हो गया, जिससे गणतांत्रिक शासन का विनाश हो गया। सोलन के सुधारों से किसी वर्ग को पूर्णतया संतोष नहीं हुआ था। विशेषतः धनी कुलीनवर्ग, उच्चकुलतंत्र के शासन को पुनः स्थापित करने के लिए सचेष्ट हो गया; क्योंकि इस वर्ग के अधिकार सोलन द्वारा कम कर दिए गए थे। इस परिस्थिति से लाभ उठा कर 'पिसिस्ट्रेटस' नामक व्यक्ति ने एथेंस में स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना की। पिसिस्ट्रेटस भी एक कुलीन ही था। पर, यह एक उदारचेता स्वेच्छाचारी शासक था। इसने अपने समय में एथेंस का विकास करने की पूरी कोशिश की। बहुत

पिसिस्ट्रेटस का स्वेच्छाचारी शासन

हद तक इसने सोलन की संस्थाओं को भी जीवित रखने का प्रयास किया। इसने एथेंस नगर को सुंदर भवनों से सजाया तथा व्यापार-वाणिज्य की उन्नति की। जनता के मनोरंजन का प्रबंध किया। इनका शासन ५४६ ई०-पू० से ५२७ ई०-पू० तक कायम रहा।

कुलों का प्राबल्य

पिसिस्ट्रेटस के स्वेच्छाचारी शासन के बाद एथेंस गणतंत्र के सुधार का कार्य क्लैस्थिनीज नामक सुधारक के हाथ में आया। सोलन द्वारा निर्मित संस्थाओं के आधार पर इसने एथेंस गणतंत्र को और भी सुदृढ़ किया। सोलन द्वारा निर्मित संस्थाएँ सुचारू रूप से कार्य नहीं कर रही थीं। इसका कारण था कि ऐटिका प्रदेश में बसने वाले कुलों की शक्ति अत्यंत प्रबल हो गई थी। ये कुल आपस में भयानक घृणा एवं वैमनस्य रखते थे। क्लैस्थिनीज ने स्पष्टतः देखा कि इन कुलों का आपसी झगड़ा ही एथेंस गणतंत्र की वास्तविक समस्या है। राज्य को धनियों एवं गरीबों के झगड़े से जितना खतरा नहीं था, उतना इन कुलों के आपसी झगड़े से। लोग राज्य से अधिक भक्ति अपने-अपने कुल से ही रखते थे।

नए दलों का उदय

इसके अतिरिक्त, एथेंस की राजनीति में कुछ नए दलों का उदय हो गया, जिनका संगठन भौगोलिक आधार पर हुआ था। क्लैस्थिनीज ने इन कुलों को भंग करने का प्रयत्न किया तथा नए आधार पर जनता का विभाजन करना चाहा। प्राचीन काल से ४ कुल, जो जन्म के आधार पर चले आ रहे थे, उनको क्लैस्थिनीज़ ने नष्ट कर दिया तथा नए १० कुलों का निर्माण किया, जिनका आधार भौगोलिक था। अतः, अब एक कुल (tribe) के लोग कई नए कुलों में बँट गए तथा ये कुल किसी एक ही भौगोलिक भाग में स्थित नहीं, वरन् ऐटिका प्रदेश में चारों ओर बिखरे थे। अतः कृत्रिम भौगोलिक आधार पर इन नए कुलों का निर्माण हुआ।

नए कुलों का निर्माण

ब्युल का पुनर्गठन

इसके पश्चात् बौल या ४०० की काउंसिल का पुनर्गठन किया गया। इस सुधार के कारण ही क्लैस्थिनीज एथेंस गणतंत्र का द्वितीय संस्थापक माना जाता है। पहले कुलों के आधार पर, इसके सदस्य की संख्या ४०० थी, प्रत्येक कुल से १०० सदस्य लिए जाते थे। अब दस नए कुलों के आधार पर इसकी संख्या क्लैस्थिनीज द्वारा बढ़ाकर ५०० कर दी गई। अब प्रत्येक कुल से ५० सदस्य लिए जाने लगे। अब इस काउंसिल के अधिकार भी विस्तृत कर दिए गए। यह काउंसिल राज्य की सबसे अधिक शक्तिशाली शासन की संस्था बन गई। मजिस्ट्रेटों की सहा-

यता से यह संस्था सार्वजनिक कार्यों का निर्णय करती थी। आर्कन तथा मजिस्ट्रेटों को इस संस्था के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ता था। राज्य के सभी वित्तीय अधिकार इसी काउंसिल के हाथ में थे। वैदेशिक नीति का संचालन भी यही काउंसिल करती थी। इस सभा में नए कानून बनाने का काम भी होता था। इसके अतिरिक्त, इस काउंसिल को कुछ न्याय-संबंधी अधिकार थे। किसी उच्च कर्मचारी पर महाभियोग का मुकदमा इस काउंसिल में भी लाया जाता था। इस सभा के अध्यक्ष का पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

सेना का सुधार

नए कुलों के निर्माण से सैनिक संगठन में भी सुधार की आवश्यकता हुई। प्रत्येक नए कुल को सेना में घुड़सवार तथा पैदल सेना की एक टुकड़ी देनी पड़ती थी। इसके साथ-साथ सेना की अध्यक्षता के लिए, प्रत्येक कुल से, एक-एक सेनापति लिए जाने लगे। ये दसों सेनापति अपने-अपने कुल से निर्वाचित किए जाते थे। प्रधान सेनापति पोलमार्क होता था। इसी की अध्यक्षता में, ये दसों सेनापति काम करते थे। क्लैस्थिनीज के बाद यह पद अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता गया। बाद में पेरिक्लीज नामक एक महान नेता ने, इसी पद को सुशोभित किया। ये दसों सेनापति एथेंस गणतंत्र के उच्चतम पदाधिकारी माने जाने लगे।

क्लैस्थिनीज के सुधारों का महत्त्व

इन सुधारों के कारण क्लैस्थिनीज एथेंस गणतंत्र का दूसरा संस्थापक माना जाता है। वस्तुतः क्लैस्थिनीज के सुधारों के पश्चात् ही एथेंस में गणतांत्रिक संस्थाओं की जड़ जम गई तथा ये संस्थाएँ शताब्दियों तक जीवित रहीं। सोलन के सुधार, उसके जीवनकाल में ही समाप्त हो गए तथा एथेंस में स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना हो गई। पर, क्लैस्थिनीज के सुधार अधिक स्थायी सिद्ध हुए। लेकिन, क्लैस्थिनीज ने जो कुछ भी किया, वह सोलन के बताए मार्ग ही पर चल कर किया। दूसरे शब्दों में, क्लैस्थिनीज ने, सोलन के काम को ही और आगे बढ़ाया। इसके सुधारों के कारण जनता में एकता की भावना आई और वैमनस्य की भावना समाप्त हो गई। उसने गणतांत्रिक संविधान को अधिक सुदृढ़ और विस्तृत कर दिया।

यूनान तथा फारस का संघर्ष

पश्चिमी एशिया में फारस के साम्राज्य का विस्तार

पाँचवीं शताब्दी ई०-पू० के यूनानी इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना फारस के साथ यूनान का संघर्ष है। इस संघर्ष का मूल कारण फारसी साम्राज्य की विस्तार-वादी नीति में ढूँढ़ा जा सकता है। इस युग में फारस में कुछ ऐसे सम्राट् हुए, जिनके

संगठन-बल एवं पराक्रम से फारसी साम्राज्यवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया तथा उनकी नीतियों का असर संपूर्ण पश्चिमी एशिया और दक्षिण-पूर्वी यूरोप पर पड़ा। हम देख आए हैं कि उपनिवेशन की प्रक्रिया के फलस्वरूप, यूनानी जाति का प्रसार एशिया माइनर के पश्चिमी प्रदेशों में हुआ। इसी प्रदेश में ये लोग एशियाई सभ्यता एवं जातियों के संपर्क में आए तथा यहीं फारसी साम्राज्यवाद के साथ इन लोगों के संघर्ष का भी प्रादुर्भाव हुआ।

एशिया माइनर के पश्चिमी प्रदेशों पर प्रथम विजय प्राप्त करने का श्रेय फारस के हखामनी वंश के सम्राट् साइरस महान (Cyrus the Great) को है। वह वड़ा ही पराक्रमी, महत्त्वाकांक्षी, व्यवहारकुशल, उदार एवं प्रियदर्शन सम्राट् था तथा आजीवन अपने राज्य की सीमाओं को वढ़ाने में लगा रहा। साइरस द्वितीय, जिसे 'साइरस महान' कहा जाता है, प्राचीन ईरान का नेपोलियन माना जाता है। उसने मीडिया, असीरिया तथा एशिया माइनर में स्थित लीडिया पर विजय प्राप्त की। लीडिया के प्रदेश में वहुत से यूनानी वसते थे तथा वहाँ का शासक 'क्रोयसस' एक वीर राजा था। यह यूनानी तो नहीं था, पर यूनानी संस्कृति का समर्थक था तथा इसने स्वयं भी यूनानी संस्कृति अपना ली थी। इसने लीडिया पर ५६० ई०-पू० से ५४६ ई०-पू० तक शासन किया। ५४६ ई०-पू० में साइरस महान ने क्रोयसस को पराजित कर लीडिया को फारसी साम्राज्य का अंग वना लिया। किंवदंती है कि अपनी पराजय से दुखी होकर क्रोयसस ने आत्महत्या करने का प्रयास किया, परंतु साइरस ने उसे वचा कर वहुत अधिक सम्मान प्रदान किया।

क्रोयसस के राज्यकाल में एशिया माइनर के पश्चिमी तटवर्ती प्रदेश में यूनानियों के कई उपनिवेश थे। ये उपनिवेश क्रोयसस के अधीन थे, परंतु साइरस के साथ युद्ध में वे उसकी सहायता नहीं कर सके। इन उपनिवेशों ने क्रोयसस की पराजय के वाद साइरस से लोहा लेना चाहा, परंतु पारस्परिक कलह के कारण एक-एक करके उनका पतन हो गया तथा वे सभी फारसी साम्राज्य के अधीन आ गए। इस प्रकार पूरे एशिया माइनर पर साइरस का आधिपत्य स्थापित हो गया।

फारसी शासन ने विजित प्रदेशों के प्रति उदारता की नीति अपनायी। इसलिए उनके शासन के अंतर्गत आयोनिया प्रदेश के नगरों की समृद्धि में कोई वाधा नहीं आई। इस प्रदेश में रहने वाले यूनानियों ने अपने नए शासकों से संधि कर ली तथा उन्हें फारसी साम्राज्य के गवर्नर के अधीन स्वायत्त-शासन का अधिकार दिया गया। फारसी साम्राज्य का गवर्नर, जिसे सत्रप (Satrap) कहते थे, सार्डिस नगर में रहता था। इस व्यवस्था के वाद भी आयोनिया प्रदेश में गणतांत्रिक शासन के लिए असंतोष था, पर साइरस के शासनकाल में, जिसका अंत ५२९ ई०-पू० में हुआ,

फारसी शासन के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं हुआ। साइरस महान की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कंबाइसेज द्वितीय ने ५२२ ई०-पू० तक शासन किया, पर उसके शासन-काल में भी एशिया माइनर के यूनानी प्रदेशों में फारसी शासन के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं हुआ।

कंबाइसेज द्वितीय की मृत्यु ५२२ ई०-पू० में हुई। उसकी मृत्यु के समय फारसी साम्राज्य अपनी चरम सीमा पर था। यह बौस्फोरस के मुहाने से भारतवर्ष की पश्चिमी सीमाओं तक फैला हुआ था। उसकी मृत्यु के पश्चात् तीन वर्षों तक फारसी साम्राज्य गृहयुद्ध से अशांत रहा। इस अशांति के पश्चात् अंत में एक उच्च पदस्थ राजकर्मचारी का पुत्र डेरियस फारस का सम्राट हुआ। इसकी गणना प्राचीन फारस के महानतम सम्राटों में की जाती है। वह ५२१ ई०-पू० में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसका महत्त्व एक महान विजेता की अपेक्षा एक कुशल शासक एवं संगठन-कर्त्ता के रूप में अधिक है। उसका साम्राज्य विस्तृत था। इसलिए उसने उसे २० प्रांतों में बाँट कर प्रत्येक प्रांत में अपना गवर्नर नियुक्त किया। गवर्नरों को 'सत्रप' कहा जाता था। गवर्नरों के कार्य की देखरेख के लिए उसने गुप्तचर नियुक्त किए थे। साधारणतया ये सत्रप राजकुल से संबद्ध या अभिजात वर्ग के होते थे। इनकी नियुक्ति सम्राट करता था तथा ये उसकी इच्छा के अनुसार अपने पद पर कायम रहते थे।

फारसी शासनतंत्र में दीवानी तथा सैनिक विभागों का शासन अलग-अलग था। ये सत्रप दीवानी शासन के अध्यक्ष होते थे, पर संकटकाल में इन्हें सीमित सैनिक अधिकार भी प्राप्त थे। इनका काम कर वसूलना था। प्रत्येक शासित देश के लोगों को शाही सेना में अपनी टुकड़ी देनी पड़ती थी। प्रत्येक प्रांत में स्थित सेनापति सम्राट का सैनिक प्रतिनिधि होता था। वह सत्रप के अधीनस्थ नहीं होता था।

अपने विशाल साम्राज्य पर नियंत्रण रखने के लिए डेरियस ने सड़कों का निर्माण कराया। यह बहुत लंबा राजकीय मार्ग बनवाया गया, जो राजधानी सुसा से १५०० मील दूर लीडिया में सार्डिस (Sardis) तक जाता था। साम्राज्य के अन्य प्रमुख नगर जैसे बैबिलोन, एकबताना पर्सिपोलिस तथा मेमिफस-जैसे नगर भी सड़कों से संबद्ध थे। इन सड़कों द्वारा राजकीय डाक भी (घुड़सवार पत्रवाहक द्वारा) एक डाक चौकी से दूसरी डाक चौकी तक पहुँचायी जाती थी। समय-समय पर, सम्राट् का एक प्रतिनिधि, जो काफी शक्ति एवं सम्मान से विभूषित होता था, साम्राज्य का दौरा करता तथा सम्राट को प्रांतीय शासन की वास्तविक दशा का ब्यौरा देता था। प्रायः ऐसा प्रतिनिधि सम्राट का निकट-संबंधी ही होता था।

डेरियस के शासनकाल में फारसी साम्राज्य का चरम उत्कर्ष हुआ। उसके प्रशासनिक सुधारों के फलस्वरूप उसकी मृत्यु के डेढ़ सौ वर्षों बाद तक भी फारसी

शासनतंत्र यथावत् बना रहा, यद्यपि उसके उत्तराधिकारी साधारण प्रतिभा एवं योग्यता के व्यक्ति थे।

डेरियस ने अपने लंबे तथा महत्त्वपूर्ण शासनकाल में ५२१ ई०-पू०-४८६ ई०-पू० फारसी साम्राज्य की सीमाओं को भी आगे बढ़ाया। पूरब में उसके साम्राज्य की सीमा संभवतः सिंधु नदी की घाटी तक फैली हुई थी। पश्चिम में उसे मजबूर होकर शकों के साम्राज्य पर आक्रमण करना पड़ा। ५१३ ई०-पू० में उसने यूरोपीय शकों पर आक्रमण किया। उसने एक बड़ी सेना के साथ नौकाओं के पुल द्वारा बौस्फोरस के मुहाने को पार किया। थ्रेस प्रदेश होता हुआ, वह डैन्यूब की ओर पहुँचा तथा इस नदी को पुल के सहारे पार कर उस प्रदेश में घुसा, जिसे आजकल 'रूमानिया' कहते हैं। यहाँ शकों के साथ युद्ध में उसे विजय नहीं प्राप्त हुई; क्योंकि शकों ने खुले मैदान में उसका मुकाबला नहीं करके लुक-छिप कर उसे परेशान किया, जिससे उसे लौटना पड़ा। उसने अपनी सेना के कुछ दस्ते थ्रेस प्रदेश में रख छोड़े। उसके सेनापति ने पूरे थ्रेस प्रदेश एवं मेसिडोनिया पर अधिकार कर लिया। यह प्रदेश चाँदी की खानों से भरा हुआ था। इसलिए इस प्रदेश की विजय ने फारसी साम्राज्य की समृद्धि को बढ़ाने में सहायता की।

डेरियस द्वारा यूरोप पर आक्रमण के कई कारण थे। हेरोडोटस के अनुसार शक लोग उसके साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेशों में लगातार लूटपाट मचा रहे थे, जिससे उनको सबक सिखाने के लिए डेरियस ने रूमानिया पर आक्रमण किया। संभवतः वास्तविक कारण यह रहा हो कि डेरियस रूमानिया की सोने की खानों तथा थ्रेस की चाँदी की खानों पर अधिकार करना चाहता हो। कुछ विद्वानों के अनुसार फारस की आंतरिक राजनीति ने डेरियस को यूरोप पर आक्रमण करने के लिए बाध्य किया। उसके सभी पूर्वाधिकारियों ने विजय-अभियान के द्वारा फारसी साम्राज्य की सीमा एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि की थी। साइरस, जो फारसी साम्राज्य का संस्थापक था, एक बहुत बड़ा विजेता था। उसके पुत्र कम्बाइसेज ने मिस्र को अपने साम्राज्य से मिला लिया था। इसलिए, एक ऐसी परंपरा-सी बन गई थी कि प्रत्येक शासक साम्राज्य की सीमा बढ़ावे। डेरियस स्वभावतः शांतिप्रिय होने के कारण युद्धों में नहीं पड़ना चाहता था। पर, वह राजवंश से संबद्ध नहीं था। उसे अपनी वंश-परंपरा से गद्दी नहीं मिली थी। इसलिए, उसके विरोधी एवं शत्रु उसको उसके पूर्वाधिकारियों की तुलना में कमजोर सिद्ध करते थे। इस प्रचार का अंत करने के लिए उसे यूरोपीय अभियान करना पड़ा।

अपने विरोधियों का मुँह बंद करने के लिए उसने इस अभियान का नेतृत्व स्वयं किया। बाद में, यूनानियों के विरुद्ध लड़ाइयों में वह फारस में ही रहा। शकों के विरुद्ध इस अभियान का उद्देश्य यूनानियों से युद्ध करना कतई नहीं था। वास्तव

में, आयोनियानिवासी यूनानियों ने उसकी सहायता की। एक यूनानी अभियंता ने बौस्फोरस पर पुल का निर्माण किया, जिसके सहारे फारसी सेना ने मुहाने को पार किया। फिर आयोनियन लोगों ने ही डैन्यूब नदी पर भी पुल का निर्माण किया, जिसके सहारे उसने इस नदी को भी पार किया। जब वह शकों के साथ युद्ध में व्यस्त था, दो यूनानी तानाशाहों ने डैन्यूब नदी पर बने पुल की रक्षा की। अपनी वापसी यात्रा में उसे कई जगह यूनानियों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। ज्यों ही शक युद्ध से वापस होने की खबर बाईजैंटियम प्रदेश पहुँची, त्योंही वहाँ के यूनानियों ने बौस्फोरस पर बने हुए पुल को नष्ट कर दिया। बौस्फोरस प्रदेश के अन्य यूनानी नगर-राज्यों में भी विद्रोह हो गए। डेरियस को मजबूर होकर अपनी सेना सेस्टस (Sestus) के रास्ते से भेजनी पड़ी। इस विद्रोह के पश्चात्, कई वर्षों तक वह बाइजैंटियम तथा चाल्सीडन प्रदेश पर अधिकार नहीं कर सका।

आयोनिया प्रदेश में विद्रोह

इसी समय डेरियस को एक दूसरी कठिनाई का सामना करना पड़ा। आयोनिया प्रदेश के यूनानियों ने फारसी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। हम देख चुके हैं कि साइरस महान के समय एशिया माइनर के यूनानी प्रदेशों पर फारसी शासन की स्थापना की गई थी तथा शासन का कार्य गवर्नरों को दिया गया था, जिसे सत्रप कहते थे। पर, गणतांत्रिक शासन के लिए इस प्रदेश के यूनानियों में असंतोष था। हेरोडोटस के वर्णन से इस विद्रोह के कारणों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता है। पर, इन प्रदेशों में गणतांत्रिक शासन के लिए असंतोष था, इसका पता चलता है। फारसी शासन की छत्रच्छाया में कई जगहों में यूनानियों को तानाशाहों के अधीन रख दिया गया था। इसलिए, इन तानाशाहों के अंत के लिए जनता फारसी शासन का भी अंत करना चाहती थी। वस्तुतः, इस विद्रोह को दबाने के बाद डेरियस ने कई प्रदेशों में गणतान्त्रिक शासन की अनुमति भी दी।

पर, इस विद्रोह का तात्कालिक कारण मिलेटस प्रदेश के तानाशाह एरिस्टागोरस (Aristagoras) की महत्त्वाकांक्षा थी। एरिस्टागोरस एक प्रख्यात अधिनायक हिस्टियस (Histiaeus) का दामाद था। डेरियस ने हिस्टियस की बफादारी पर संदेह करके उसे सुसा में बंदी बना डाला था तथा उसके स्थान पर एरिस्टागोरस को मिलेटस का अधिनायक नियुक्त किया था।

ऐसा मालूम होता है कि कुछ वर्षों तक फारसी साम्राज्य के प्रति वफादार रहने के बाद, एरिस्टागोरस के मस्तिष्क में विद्रोह की भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। हेरोडोटस के अनुसार उसके मस्तिष्क में विद्रोह को जन्म देने वाला उसका ससुर हिस्टियस ही था। पर, यह बात संदिग्ध लगती है; क्योंकि हिस्टियस का दायित्व

सिद्ध होने पर उसके बंदी-जीवन में कष्ट की वृद्धि की संभावना थी। संभव है, अपने-आपको फारसी शासन से पूर्णतया मुक्त करके स्वतंत्र शासक बनने की इच्छा से भी एरिस्टागोरस के मस्तिष्क में विद्रोह की भावनाएँ पनपी हों। कारण जो भी रहा हो, आयोनिया के विद्रोह का तात्कालिक कारण एरिस्टागोरस एवं उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ ही थीं।

५०० ई०-पू० में, ईजियन सागर में स्थित नैक्सस नामक द्वीप में एक गणतांत्रिक विद्रोह हुआ, जिसमें वहाँ के जनतांत्रिक नेताओं ने वहाँ के उच्च-कुलतंत्र पर आधारित शासकों को मार भगाया। अपने देश से निष्कासित इन कुलीन शासकों ने मिलेटस आकर एरिस्टागोरस से अपना शासन पुनः स्थापित करने में उसकी सहायता माँगी। इस कार्य में एरिस्टागोरस ने सार्डिस में स्थित फारसी गवर्नर आर्टाफर्नीज (Artaphernes) को सहायता देने पर राजी कर लिया, जिसके अनुसार इस विद्रोह को दबाने के लिए दो सौ युद्धपोत तथा सैनिक भेजे गए। आर्टाफर्नीज इस विद्रोह को दवाने के पश्चात् इस द्वीप को ऐसे शासकों के अधीन रखना चाहता था, जो फारसी सम्राट के अधीनस्थ हों। दुर्भाग्यवश, यह सारा अभियान विफल रहा। चार महीने तक, नैक्सस की राजधानी को घेरा डालने के वाद, फारसी सेना को अस्तव्यस्त होकर लौटना पड़ा।

इस अभियान की विफलता से एरिस्टागोरस के मन में फारसी सम्राट द्वारा दंडित होने का डर उत्पन्न हुआ। हेरोडोटस के अनुसार, इस भय से आक्रांत होकर ही उसने आयोनिया के विद्रोह का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। संभव है, इस अभियान की विफलता ने ही उसके मस्तिष्क में फारसी शासन की सैनिक दुर्वलता के कारण स्वतंत्र होने को स्पप्न जगा दिया हो। कारण जो भी रहा हो, ४९९ ई०-पू० में एरिस्टागोरस ने फारसी शासन के विरोधी तत्त्वों से मैत्री स्थापित कर ली, अपने प्रदेश मिलेटस में निरंकुश शासन का अंत करके गणतांत्रिक ढंग पर निर्वाचित पदाधिकारियों को नियुक्त किया तथा आयोनिया प्रदेश के अन्य नगर-राज्यों के यूनानी नेताओं से पुरानी आयोनियन लीग (Ionian League) को पुनरुज्जीवित करने के लिए बातचीत शुरू कर दी। आयोनिया प्रदेश के कई नगर-राज्यों ने फारसी साम्राज्य द्वारा रक्षित निरंकुश शासकों को निकाल-वाहर करके गणतांत्रिक आंदोलन का साथ दिया। इसी समय एरिस्टागोरस ने यूनान के प्रमुख नगर-राज्यों से इस गणतांत्रिक विद्रोह में सहायता माँगने का प्रयत्न किया। वह स्वयं स्पार्टा गया, पर उसे वहाँ सफलता नहीं मिली। लेकिन उसने एथेंस की जनसभा को इस विद्रोह की सहायता से २० युद्धपोत भेजने के लिए राजी कर लिया। इस विद्रोह में जिस दूसरे नगर-राज्य ने सहायता भेजी, वह था इरीट्रिया का नगर-राज्य। इसने पांच युद्धपोत भेजे।

४९८ ई०-पू० में आयोनिया प्रदेश के इस गणतांत्रिक विद्रोह ने गंभीर रूप धारण किया। विद्रोहियों ने फारसी शासन की राजधानी सार्डिस नगर पर कब्जा कर लिया तथा इसे जला डाला। सार्डिस पर विजय प्राप्त करने के सुदूरगामी परिणाम हुए। बौस्फोरस के मुहाने से साइप्रस के टापू तक अनेक यूनानी नगर-राज्यों ने विद्रोहियों का समर्थन प्रारंभ किया। पर, शीघ्र ही, एथेंस तथा इरीट्रिया ने अपने युद्धपोतों को वापस बुला लिया और इसके बाद इन दोनों नगर-राज्यों ने आयोनिया के विद्रोह में कोई दिलचस्पी नहीं ली।

इसके शीघ्र ही पश्चात् फारसी साम्राज्य का दमनचक्र चलने लगा तथा विद्रोह की लपटें शांत होने लगीं। ४९७ ई०-पू० में, फारसी शासकों ने पाँच विद्रोही नगरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया तथा साइप्रस द्वीप पर भी अधिकार कर लिया। यूनानी लोगों ने भी अपने प्रयत्न जारी रखे तथा दो स्थानों पर फारसी सेना को हराया। साइप्रस के आसपास उन लोगों ने एक फारसी जहाजी बेड़े को हराया तथा कोरिया प्रदेश में स्थल सेना की एक टुकड़ी को समाप्त किया। पर, इसी समय एरिस्टागोरस तथा उसके घनिष्ठ कार्यकर्त्ता फारसी दमन-चक्र से भयभीत होकर थ्रेस प्रदेश भाग गए, जहाँ वे वहाँ के निवासियों द्वारा मार डाले गए।

४९४ ई०-पू० से फारसी साम्राज्य ने जम कर आयोनिया के विद्रोह का बदला लेना शुरू किया। मिलेटस के पास यूनानी बेड़े को परास्त किया गया। शीघ्र ही मिलेटस नगर पर अधिकार किया गया तथा नगर को पूर्णरूपेण नष्ट कर दिया गया। बचे-खुचे नागरिकों को उजाड़ कर मेसोपोटामिया ले जा कर बसाया गया। दूसरे विद्रोही नगरों को अधिकृत कर उन्हें दंडित किया गया।

इस प्रकार के आतंक का राज्य थोड़े ही दिनों तक रहा। बाद में, फारसी शासकों ने नरमी से काम लेना प्रारंभ किया। विभिन्न नगरों पर लगाए करों को न्यायोचित ढंग से कम-बेश किया गया, निरंकुश शासकों को हटा कर फारसी गवर्नर के नियंत्रण में गणतांत्रिक शासन की व्यवस्था की गई तथा यूनानी नगर-राज्यों को आपसी झगड़े के फैसले के लिए अपना न्यायालय स्थापित करने की अनुमति दी गई। इस न्यायालय पर फारसी गवर्नर का कोई नियंत्रण नहीं था। इस प्रकार आयोनिया प्रदेश को शांत किया गया। ईजियन समुद्र के पश्चिमी तट पर स्थित थ्रेस तथा मैसिडोनिया को पुनः अधिकृत करने के प्रयत्न किए गए। यह प्रयत्न भी सफल रहा, पर एक तूफान में माउंट एथोस (Mount Athos) के पास फारसी जहाजी बेड़ा नष्ट हो गया। इसके कारण फारसी सैनिकों को यूनानी भूमि पर शरण लेनी पड़ी। वहाँ यूनानी लोगों ने उन पर आक्रमण किया तथा इसमें इस अभियान के नेता

मारडोनियस को भी चोट खानी पड़ी। किसी प्रकार मारडोनियस फारसी प्रदेश में लौट सका।

आयोनिया के विद्रोह के परिणाम

आयोनिया का विद्रोह तो समाप्त हो गया, पर यूनानी इतिहास एवं राजनीति पर इसके सुदुरगामी परिणाम हुए। फारसी सम्राट इस विद्रोह को दवाने के शीघ्र पश्चात् एथेंस पर आक्रमण करने की योजना बनाने लगा। हेरोडोटस के अनुसार, फारसी सम्राट डेरियस की दृष्टि में एथेंस तथा इरीट्रिया का आयोनिया के विद्रोह में जहाजों को भेज कर सक्रिय सहयोग देना एक अक्षम्य अपराध था, जिसके लिए इन दोनों नगर-राज्यों को दंडित करना आवश्यक था। जनश्रुतियों के अनुसार सार्डिस नगर के जलाए जाने के बाद, डेरियस ने अपने एक नौकर को प्रतिदिन इस बात की याद दिलाने को कहा था, "सम्राट्! आप एथेंस की कारतूत याद रखें!" दूसरे शब्दों में डेरियस एथेंस एवं इरीट्रिया को सबक सिखाने के लिए कृतसंकल्प था। इसीलिए, हेरोडोटस ने लिखा है कि एथेंस द्वारा जहाज देने का निर्णय यूनानियों एवं असभ्य फारसियों के बीच शत्रुता का प्रारंभ था। संभव है, इसके अतिरिक्त भी कुछ कारण रहें हो, जिनसे डेरियस ने एथेंस पर आक्रमण करने की योजना बनायी हो। उसे आयोनिया में पुनः विद्रोह भड़क उठने तथा एथेंस द्वारा सक्रिय सहयोग देने का भय रहा हो। एथेंस नगर राज्य का, गणतांत्रिक शासन का प्रबल समर्थक होने के कारण, आयोनिया प्रदेश में गणतांत्रिक विद्रोहों को उकसाए जाने की संभावना उनके मन में थी। इसलिए एथेंस पर आघात करना डेरियस की दृष्टि में आवश्यक था। एक साम्राज्यवादी शासक होने के नाते वह अपने साम्राज्य के निकटवर्ती देशों में गणतांत्रिक शासन को सशक्त होते नहीं देखना चाहता था। चूँकि एथेंस इस गणतांत्रिक आंदोलन का मुखिया था, डेरियस उसकी शक्ति को नष्ट करना चाहता था। इन्हीं कारणों से, आयोनियन विद्रोह के परिणामों की शृंखला में यूनान एवं फारस के संघर्षों का प्रारंभ हुआ, जिसे हेरोडोटस ने फारसी युद्धों (Persian Wars) की संज्ञा दी है।

यूनान के नगर-राज्यों, विशेषतः एथेंस में, फारसी दमनचक्र एवं साम्राज्यवाद के चक्कों में आयोनिया के फलते-फूलते नगरों के पिस जाने से गहरी सहानुभूति उत्पन्न हुई। कई शताब्दियों से ये नगर यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति, दर्शन एवं साहित्य के गौरवपूर्ण केंद्र थे। मिलेटस का नगर न केवल व्यापार-वाणिज्य का केंद्र था, वरन् कला, विज्ञान एवं काव्य के क्षेत्र में भी अग्रणी था। उस नगर का अस्तित्व पूरी तरह से मिटा कर फारसी शासकों ने एथेंसनिवासियों के हृदय में गहरा क्षोभ उत्पन्न

कर दिया था। इस क्षोभ एवं सहानुभूति की अभिव्यक्ति ४९३ ई०-पू० में कवि फ्रीनिशस (Phrynichus) द्वारा लिखित 'मिलेटस पर विजय' (The Capture of Miletus) नामक नाटक में की गई। इस नगर में रहने वाले एक ही वंश के लोगों का विनाश किस क्रूरता से किया गया, इसकी जीती-जागती तस्वीर इस नाटक में प्रस्तुत की गई तथा इस वात की भी चेतावनी दी गई कि यह विपत्ति एथेंस के सर पर भी मँडरा रही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आयोनिया के विद्रोह के पश्चात् भावी फारसी आक्रमण की क्रूर छाया एथेंस के जनमानस पर पड़ने लगी थी तथा वहाँ के राजनैतिक नेता इस संभावना के प्रति जागरूक थे।

थेमिस्टोक्लीज का उदय

एथेंस के गणराज्य को फारसी आक्रमण के प्रति जागरूक बनाने तथा सामरिक दृष्टि से तैयार करने का श्रेय एक साधारणवर्गीय नेता थेमिस्टोक्लीज को है। साधारण वर्ग से उत्पन्न इस व्यक्ति को इसके गुणों एवं लोकप्रियता के कारण ४९३ ई०-पू० में मजिस्ट्रेट या आरकन चुना गया। यह विलक्षण बुद्धि, राजनैनिक सूझबूझ, शक्ति एवं प्रतिभा से संपन्न था। एथेंस पर फारसी आक्रमण की संभावना से वह पूर्णतया परिचित था तथा उस आक्रमण का सामना करने के लिए वह एथेंस को सशक्त बनाना चाहता था। साथ ही, वह फारसी रणनीति की दुर्बलताओं से भी अवगत था। वह जानता था कि एथेंस के अनुर्वर प्रदेश में फारसी सेनाएँ अधिक दिनों तक तभी टिक सकती हैं, जब नावों तथा जहाजों के द्वारा खाद्य सामग्री दूसरे देशों से लायी जाए। इसलिए उसकी दृष्टि में फारसी आक्रमण को विफल करने का सबसे सशक्त उपाय एथेंस के जहाजी बेड़े को बढ़ाना और अधिक वलशाली बनाना था। इसीलिए उसको एथेंस की सामुद्रिक शक्ति का जनक माना जाता है। उसके नेतृत्व में, एथेंस का जहाजी बेड़ा, काफी सशक्त बनाया गया। इसी के समय पीरूज (Piraues) के तीन प्राकृतिक वंदरगाहों को जहाजी वेड़ों तथा व्यापारिक जहाजों के ठहरने लायक बनाया गया। उसने पीरूज को एक अच्छे वंदरगाह के रूप में परिवर्तित करके एथेंस को भावो फारसी आक्रमण का सामना करने लायक बना दिया। उसका दूसरा प्रस्ताव था कि लौरियन (Laurion) की खानों से जो चाँदी प्राप्त हुई, उसका उपयोग एथेंस के जहाजी बेड़े को सशक्त बनाने के लिए किया जाए। कुछ दिनों के बाद इस प्रस्ताव को कार्यान्वित किया गया।

फारसी युद्धों के पश्चात् थेसिस्टोक्लीज के जीवन का उत्तरार्द्ध देशभक्ति के दृष्टिकोण से निष्कलंक नहीं रहा, पर इसमें संदेह नहीं कि फारस के साथ युद्धों में उसने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी तथा एथेंस उसकी सूझबूझ तथा दूरदर्शिता से लाभांन्वित हुआ।

इन युद्धों के समय जिस दूसरे नेता के अनुभव एवं सूझबूझ से एथेंस लाभान्वित हुआ, वह था मिल्टिएड्स। हम देख चुके हैं कि यह एक निरंकुश शासक था, जिसने डेरियन के यूरोपीय आक्रमण के समय उसका साथ दिया था। लेकिन, आयोनिया के विद्रोह के समय उसने विद्रोहियों के साथ सहानुभूति दिखायी थी, जिससे वह फारसी सम्राट का कोपभाजन वन चुका था। इसलिए, फारसी आक्रमणों के प्रारंभ के पहले ४९३ ई०-पू० में वह अपनी जन्मभूमि एथेंस आ गया था। यहाँ उसे लोकप्रिय नेता थेमिस्टोक्लीज का पूर्ण समर्थन एवं सहयोग प्राप्त हुआ। मिल्टिएड्स एथेंस के एक पुराने अभिजात कुल का वंशधर था। उसका चाचा चर्सोनिसस (Chersonesus) के यूनानी उपनिवेश का संस्थापक रह चुका था।

एथेंस लौटने पर, उसके विरोधियों ने सेस्टस के उपनिवेश में रहने वाले एथेंसवंशियों पर निरंकुश एवं अत्याचारी शासन करने के लिए उस पर मुकदमा चलाया संभवतः आर्कन (मजिस्ट्रेट) थेमिस्टोक्लीज की सहान्भूति एवं सहायता से वह दोषमुक्त घोषित किया गया। तत्पश्चात् उसने थेमिस्टोक्लीज के साथ फारसी साम्राज्यवाद के विरोध एवं भर्त्सना का अभियान चलाया। ये दोनों ही नेता फारसी साम्राज्यवाद के घोर शत्रु थे। मिल्टिएड्स चूँकि फारसी रणनीति से भली-भाँति परिचित था, अतः फारसी आक्रमणों के समय एथेंस उसके प्रौढ़ अनुभव से लाभांन्वित हुआ। उसी समय, उसे एथेंस का सेनानायक (General) निर्वाचित किया गया था। इस समय फारसी साम्राज्यवाद का तीसरा विरोधी नेता एरिस्टाइड्स (Aristides) था, जिसे एथेंस की जनता उसकी ईमानदारी के कारण 'न्यायपूर्ण एरिस्टाइड्स' कहा करती थी। राजनैतिक क्षेत्र में, वह थेसिस्टोक्लीज का प्रतिद्वंदी था। अंत में, थेमिस्टोक्लीज ने उसे देश-निष्कासन (Ostracism) की सजा दिलवायी। पर, इस समय फारसी साम्राज्यवाद के विरोध में, वह थेमिस्टोक्लीज तथा मिल्टिएड्स के साथ था।

इस फारस विरोधी दल ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एथेंस की जनता को फारस से युद्ध के लिए तैयार किया। मारडोनियस द्वारा थ्रेस पर विफल अभियान का अंतिम लक्ष्य इन लोगों ने एथेंस को ही बतलाया। इनके अनुसार यदि फारस का जहाजी वेड़ा माउंट एथोस के पास तूफान से नष्ट नहीं हुआ होता, तो एथेंस पर आक्रमण निश्चित था। इन लोगों ने वहुत से यूनानी नागरिकों के मन में यह वात विठा दी कि डेरियस यूनान पर आक्रमण करना चाहता है।

इस प्रचार के ठीक एक साल बाद, ४९१ ई०-पू० में, डेरियस ने कुछ ऐसे कदम उठाए, जिनसे इन प्रचारों की सत्यता सिद्ध हो गई। डेरियस ने इस वर्ष अनेक यूनानी नगर-राज्यों में अपने दूत भेजे कि वे नगर उसकी अधीनता स्वीकार

करें। कई नगरों ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, पर एथेंस तथा स्पार्टा में भेजे गए दूत मार डाले गए। इस घटना के पश्चात् एथेंस के साथ फारसी साम्राज्य का युद्ध अवश्यंभावी हो गया।

इस प्रकार जब हम फारसी आक्रमण के कारणों का सिंहावलोकन करते हैं, तो पाते हैं कि फारसी साम्राज्य की विस्तारवादी नीति उसका मूल कारण थी। एथेंस द्वारा आयोनिया के विद्रोह में भाग लेना तथा फारसी दूतों का एथेंस एवं स्पार्टा में मारा जाना तात्कालिक कारण सिद्ध हुए।

फारस तथा यूनान के संघर्ष का प्रारंभ

अपने दूतों के मारे जाने के एक वर्ष बाद, डेरियस ने यूनान पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में जहाजी बेड़ा एवं स्थल सेना दोनों को ही तैनात किया गया। सेनाओं का संचालन डेटिस तथा आर्टाफर्नीज (जो सार्डिस के गवर्नर आर्टाफर्नीज का पुत्र था) को सौंपा गया। प्राचीन परंपराओं के अनुसार हेरोडोटस ने फारसी सेना की संख्या बहुत बढ़ा-चढ़ा कर लिखी है, पर तर्कसंगत ढंग से विचार करने पर सेना की संख्या तीस से चालीस हजार के बीच मालूम पड़ती है।

माराथन का युद्ध

४९० ई०-पू० में फारसी जहाजी बेड़ा यूनान की ओर रवाना हुआ। आक्रमण का मुख्य उद्देश्य एथेंस और इरीट्रिया को सवक सिखाना था, पर रास्ते में पड़ने वाले कुछ राज्यों को भी पराजित किया गया। नैक्सस (Naxos) को पूरी तरह नष्ट कर दिया गया। तत्पश्चात् इरीट्रिया के नगर-राज्यों को, छह दिनों के घेरे के बाद, नष्ट कर दिया गया। इसके पश्चात् बूढ़े अधिनायक हिप्पियस (Hippias) की सहायता से जहाजी वेड़ा एथेंस की ओर बढ़ा। सितंबर, ४९० ई०-पू० में फारसी जहाजी वेड़ा एथेंस से २७ मील पूरब ऐटिका प्रदेश के पूर्वी तट पर स्थित माराथन (Marathon) के मैदान में उतरा।

जब फारसी सेना के माराथन पहुँचने की खबर एथेंस पहुँची, तब एथेंस के नेताओं ने एक तेज दौड़ने वाले व्यक्ति की सहायता के लिए स्पार्टा भेजा। पर, स्पार्टा के एफर लोगों ने जवाव दिया कि वे लोग किसी धार्मिक अनुष्ठान में व्यस्त हैं, जिसकी समाप्ति के पश्चात् ही सहायता भेज सकते हैं। सहायता का संदेश चांद्र पंचांग के ९वें दिन भेजा गया था तथा धार्मिक अनुष्ठान की समाप्ति पूर्णिमा को हो रही थी, अर्थात् छह दिनों के बाद स्पार्टा से सहायता आ सकती थी। इस खबर के बाद एथेंस की सेना अकेले ही माराथान की ओर बढ़ी। युद्ध के पहले प्लेटो के नगर-राज्य ने एक हजार सैनिक सहायता के रूप में भेजे। एथेंस की सेना दस हजार की थी।

मारायन के युद्ध में रणनीति के संचालन का भार यद्यपि कैलीमैकस (Callimachus) नामक सेनापति को दिया गया था, पर वास्तव में संचालनकार्य मिल्टिएड्स ने ही किया। उसने पूरी तरह से एथेंस को फारसी रणनीति के अनुभव से लाभान्वित किया। उसी की प्रेरणा से एथेंस की जनसभा ने फारसी आक्रमण का सामना करने के लिए माराथन के संकीर्ण मैदान को चुना, जहाँ फारसी सेना की घुड़सवार-शाखा अपना कौशल दिखलाने में असमर्थ थी। मिल्टिएड्स स्वयं एक सेनानायक निर्वाचित हो चुका था। उसने अन्य ९ सेनानायकों तथा पोलमार्क कैलीमैकस को अपना नेतृत्व मानने के लिए राजी कर लिया।

इस युद्ध में एथेंस को अप्रत्याशित ढंग से विजय प्राप्त हुई। उसने बिना स्पार्टा की सहायता के अकेले ही विजय प्राप्त की। मिल्टिएड्स की अध्यक्षता में एथेंस की सेना ने इस कुशलता से फारसी सेना का सामना किया कि उनके पैर उखड़ गए तथा उन्हें अपने जहाजी बेड़े में शरण लेनी पड़ी। मिल्टिएड्स ने यूनानी सेना को ऐसे सुरक्षित स्थानों पर खड़ा किया, जहाँ फारसी सेना कुछ नहीं कर सकती थी। फारसी सेना पर आक्रमण करने के लिए उसने एथेंस की सेना को फारसी सेना के दोनों ओर खड़ा किया। पहले उसने फारसी सेना के मध्य भाग पर आक्रमण किया, पर उसे इसमें सफलता नहीं मिली। तब यूनानी सेना ने दोनों ओर से आक्रमण किया, जिसके कारण फारसी सेना में भगदड़ मच गई।

एथेंस की सेना ने भागते हुए फारसी सैनिकों को, जब वे अपने जहाजों में छिपने का प्रयत्न कर रहे थे, तब उन्हें खदेड़ा और मारा। माराथन के मैदान के पास की दलदल जमीन में भी बहुत फारसी सैनिक मारे गए।

फारसी सेना को एथेंस के निवासियों के एक दल द्वारा सहायता मिलने की आशा थी, जो असत्य सिद्ध हुई। एथेंस में फारसी सेना के पक्ष में कोई भी राजनैतिक षड्यंत्र नहीं हुआ। माराथन की विजय के पश्चात् शीघ्र ही मिल्टिएड्स ने नगर में प्रवेश किया तथा विजय का समारोह मनाया।

उसकी इस तात्कालिक कार्रवाई से फारसी सेना की रही-सही आशाओं पर भी पानी फिर गया तथा उन्हें विवश होकर लौटना पड़ा। उन्हें अंत तक यह आशा थी कि एथेंस में उनके पक्ष में विद्रोह हो जाएगा तथा उन्हें सहायता मिलेगी। परंतु, एथेंसनिवासियों ने उनकी इस आशा पर पानी फेर दिया।

माराथन की विजय के कुछ दिनों बाद, स्पार्टा के सैनिक सहायता लेकर आए। इन लोगों ने मृत फारसी सेना के शव देखे तथा विजयी एथेंस को बधाई दी। तत्पश्चात् वे घर लौट गए। एथेंस ने अकेले यह विजय प्राप्त करके यूनानी जगत में अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की।

विजय के महत्त्व

सामरिक दृष्टि से माराथन का युद्ध एक छोटा युद्ध था, पर विश्व के इतिहास में इसकी गणना महान युद्धों में की जाती है। इस युद्ध के नैतिक परिणाम सुदूरगामी एवं अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। इस विजय के मनोवैज्ञानिक परिणाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण थे। एथेंसनिवासियों को अपनी संस्थाओं, अपनी परंपराओं तथा अपने भविष्य के विषय में अभूतपूर्व विश्वास पैदा हो गया। उनके हृदय में यह बात जम गई कि उनका राजनैतिक संविधान उनकी प्रगति का माध्यम बन सकता है तथा वे उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर हो सकते हैं। इस विजय के पहले फारसी सम्राट को यूनानी जगत में अजेय माना जाता था। पर, इस विजय ने फारस की अजेयता को असत्य सिद्ध कर दिया। फारस के विरुद्ध होने वाले बाद के युद्धों के लिए एथेंसनिवासी मानसिक दृष्टि से तैयार हो गए तथा उनका मनोवल कई गुना वढ़ गया।

एथेंस की आंतरिक राजनीति में गणतांत्रिक संविधान की रक्षा हो गई। यदि इस युद्ध में एथेंस की पराजय हो गई होती, तो गणतांत्रिक प्रगति अवरुद्ध हो जाती तथा वहाँ पुनः अधिनायकवाद की स्थापना हो सकती थी। पर, इस विजय ने सिद्ध कर दिया कि गणतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था बाहरी आक्रमणों का जम कर मुकाबला कर सकती है तथा देश की रक्षा करने में भी समर्थ हो सकती है। फलस्वरूप गणतांत्रिक संविधान को पूर्ण बनाने की प्रवृत्तियां वलवती हुईं। उदाहरणार्थ, आर्कन लोगों का निर्वाचन अव लौट की प्रथा से होने लगा, जिससे कोई भी व्यक्ति अब आर्कन चुना जा सकता था; साथ ही, आंतरिक विश्वासघात एवं देश के साथ गद्दारी करने वालों को एथेंस से निष्कासित भी किया गया। दो राजनैतिक नेता, जिन्हें एथेंस की सुरक्षा की दृष्टि से खतरनाक समझा जाता था, को निकाल दिया गया। इनके नाम थे—एरिस्टाइडीज तथा मेगाक्लीज।

माराथन की विजय का सवसे महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ—एथेंस की प्रतिष्ठा में अभूतपूर्व वृद्धि। फारसी सेना को अकेले ही पराजित करने से एथेंस की मर्यादा में चार चाँद लग गए। इसी प्रतिष्ठा के वल पर आगे चल कर एथेंस साम्राज्य-स्थापना में सफल हो सका। वास्तव में यहीं से उसकी महत्ता तथा गरिमा का श्रीगणेश होता है। इसलिए माराथन की विजय एथेंस के भाग्योदय की आधारशिला थी।

प्राचीन यूनान के इतिहास में कालक्रम से माराथन के युद्ध के बारे में अनेक अनुश्रुतियाँ एवं किंवदंतियाँ जुड़ गईं तथा इस युद्ध के महत्त्व को खूब बढ़ा-चढ़ा कर वर्णित किया जाने लगा। कुछ लेखकों ने यहाँ तक कह डाला कि माराथन में एथेंस

की विजय यूरोपीय स्वतंत्रता एवं गणतांत्रिक शासन की एशियाई निरंकुशवाद पर विजय थी। कुछ लोगों ने यूरोप के हाथों समस्त एशिया की पराजय बतलायी। कुछ लेखक इस विजय से ही आधुनिक यूरोप के इतिहास का श्रीगणेश मानते हैं। ये सभी विचार भावुकता से भरे हुए हैं तथा यूरोपीय लेखकों की विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि एवं निष्पक्षता के द्योतक नहीं हैं। कुछ लेखकों ने यह भी कह डाला है कि यदि माराथन में एथेंस की पराजय हो गई होती, तो महान अनर्थ हो गया होता तथा पूरे यूरोप को एशिया का गुलाम बनना पड़ता। यह बात भी बिल्कुल थोथी है। यदि फारस की विजय भी होती, तो पूरे यूरोप के गुलाम होने की संभावना नहीं थी। फारस की विजय के पश्चात् एथेंस में गणतांत्रिक शासन अवश्य समाप्त हो जाता तथा वहाँ हिप्पियस नामक अधिनायक को फारसी सहायता से शासक बनाया जाता। इस प्रकार एथेंस में गणतंत्र की हत्या हो जाती तथा एथेंस निवासियों का मनोबल तोड़ दिया जाता। फिर एथेंस को अपना अड्डा बना कर अन्य यूनानी एवं यूरोपीय राज्यों पर आक्रमण हो सकता था।

हाँ, यह सत्य है कि इस विजय ने एथेंस में गणतंत्र की रक्षा कर दी। पर, इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता है कि एथेंस का गणतंत्र पूरे यूरोप के गणतांत्रिक जीवन का प्रतिनिधित्व करता था; क्योंकि पूरे यूरोप की तो बात छोड़िए, तत्कालीन यूनान में ही सभी नगर-राज्य गणतांत्रिक नहीं थे और पूरा यूरोप तो आधुनिक युग में भी गणतांत्रिक नहीं है। इसी प्रकार फारसी साम्राज्यवाद एवं निरंकुशवाद पूरे एशिया का प्रतिनिधित्व नहीं करता था। एशिया के कई भागों जैसे भारत के बौद्ध जनपदों में गणतांत्रिक शासन-पद्धति लागू थी। इसलिए समस्त यूरोप को गणतांत्रिक एवं सुसंस्कृत मान बैठना तथा समस्त एशिया को असभ्य एवं निरंकुशवाद की चक्की में पिसते मान बैठना ऐतिहासिक दृष्टि का दिवालियापन है।

फिर भी, एथेंस के इतिहास में माराथन के नाम में जादू था, जो एथेंस-निवासियों को गौरव और स्फूर्ति से अभिभूत कर देता था। वे इस विजय को एक युगांतकारी घटना मानते थे, जिससे उन्हें उत्तरोत्तर प्रगति करने में अभूतपूर्व प्रेरणा मिली।

माराथन के युद्ध में एथेंस की विजय के कई कारण थे। विजय का पहला कारण भौगोलिक था। वे ऐसी जगह पर लड़ रहे थे, जिसके चप्पे-चप्पे से वे परिचित थे। इससे उन्हें अपनी रणनीति के संचालन में अत्यंत सहायता मिली। उनकी विजय का दूसरा कारण यह था कि वे अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एक विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध लड़ रहे थे। इसलिए वे अपनी आजादी के लिए मर-मिटने को तैयार थे। उनके लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न था।

मिल्टिएड्स के बुद्धिमत्ता एवं अनुभव से भी एथेंसनिवासी बहुत लाभान्वित हुए। वह फारसी रणनीति से पूर्णतया परिचित था तथा उसी ने माराथन के संकीर्ण मैदान का चुनाव किया था, जहाँ फारसी सेना अच्छी तरह अपना कौशल न दिखा सके। उसकी यह चाल पूर्णतया सफल रही।

एथेंसनिवासियों के हथियारों के कारण भी उन्हें सफलता मिली। एथेंसनिवासी भारी और लंबे भालों तथा बर्छों से लैस थे। फारसी सेना तीर-धनुष, तलवार आदि हल्के हथियारों से लड़ रही थी।

माराथन के युद्ध ने न केवल एथेंस, वरन् पूरे यूनान का मनोबल तो बढ़ा दिया, पर यूनान अभी खतरे से मुक्त नहीं हुआ था। इसके दस वर्ष बाद फारस ने फिर आक्रमण किया तथा यूनान को कई लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। इन सभी युद्धों को फारसी युद्धों की संज्ञा दी गई है।

यूनान पर फारस का दूसरा आक्रमण एवं यूनानी-फारसी संघर्ष की वृद्धि

फारस की आंतरिक दशा (४९०-४८० ई०-पू०)

माराथन के युद्ध में फारसी सेना की पराजय को फारसी सम्राट डेरियस भूल नहीं सका। कहा जाता है कि माराथन की पराजय की खबर सुन कर वह क्रोधोन्मत्त हो उठा और इसका बदला लेने की तैयारी करने लगा। पर, ऐसा नहीं प्रतीत होता कि योजना बनाने के अतिरिक्त डेरियस ने आक्रमण करने के उद्देश्य से कोई गंभीर प्रयत्न किया हो। उसके राज्यकाल के अंतिम समय में विद्रोह हो गया, जिसे दबाने में वह लगा रहा। ४८६ ई०-पू० में ३६ वर्षों के शासनकाल के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई तथा उसके बाद उसका पुत्र जरेक्सेज (Xerxes) गद्दी पर बैठा। उसकी माँ साइरस की पुत्री थी। गद्दी पर बैठते ही उसे मिस्र के विद्रोह को दबाना पड़ा, जिसमें पूरा एक साल लग गया। उसके शीघ्र ही बाद बैबिलोन में विद्रोह हो गया। इसे दबाने के पश्चात् ४८३ ई०-पू० में जरेक्सेज अपने पिता की योजना को कार्यान्वित करने की बात सोच सका। माराथन की पराजय का बदला लेने के लिए उसको मारडोनियस नामक उसके चचेरे भाई ने बहुत प्रोत्साहित किया। अतः, अपने पिता द्वारा बनायी गई योजना को सफल करने के लिए उसने एक विशाल सेना तैयार की तथा इस सेना के यातायात के लिए भी विशद् योजना बनायी। जरेक्सेज का उद्देश्य इस बार केवल एथेंस को दंड देना नहीं, वरन् पूरे यूनानी प्रायद्वीप पर विजय प्राप्त करके साम्राज्य-विस्तार करना था।

हेरोडोटस, जिसने फारसी आक्रमण का इतिहास लिखा है, ने फारसी सेना की विशालता एवं विविधता का वर्णन किया है। उसकी सेना में फारसी साम्राज्य में

बसने वाली सभी जातियों का संमिश्रण था। उस सेना में भारतीय सैनिक भी अपने तीर-धनुष के साथ थे। इस सेना में ४६ जातियों के प्रतिनिधि थे। कुल सेना की संख्या २६ लाख ३१ हजार थी। इसके अतिरिक्त इस सेना के सुख-सुविधा एवं मनोरंजन के लिए करीब-करीब इतने ही व्यापारी, इंजीनियर, सेवक और वेश्याएँ भी थीं। हेरोडोटस का यह वर्णन निस्संदेह अतिरंजित है। आधुनिक अनुमानों के अनुसार जरेक्सेज की सेना की कुल संख्या तीन लाख से अधिक नहीं रही होगी, पर हेरोडोटस ने यूनानी विजय की महत्ता को बढ़ाने के लिए सेना की संख्या को बढ़ा-चढ़ा कर लिखा है।

इसी प्रकार, हेरोडोटस के अनुसार इस सेना के युद्धपोतों की संख्या, १२०७ तथा छोटे जहाजों की संख्या ३००० थी। आधुनिक अनुमानों के अनुसार जरेक्सेज की सेना में लगभग ८०० नावें या जहाज रहे होंगे।

इस विशाल सेना के यातायात के लिए भी जरेक्सेज को बहुत उपाय करने पड़े। हेलेस्पौण्ट (Hellespont) के मुहाने को, जिसे आजकल दर्रेदानियाल (Dardenelles) कहते हैं, उसने नावों के दो पुलों द्वारा पार किया। इसके पश्चात् थ्रेस तथा थेसली होती हुई यह विशाल सेना यूनान की ओर बढ़ी। जहाजी बेड़े को यह आज्ञा थी कि वह समुद्र के किनारे-किनारे सेना के समानांतर बढ़े। ४९२ ई० पू० में माउंट एथोस के पास हुई दुर्घटना को याद रख कर, जहाजी बेड़े को गुजरने के लिए माउंट एथोस के पास, इस प्रायद्वीप के अंत में एक बड़ी नहर खोदी गई।

इस अभियान की विशेषता यह थी कि फारसी सम्राट जरेक्सेज स्वयं सेना के साथ चल रहा था, यद्यपि सैन्य-संचालन का दायित्व उसके निकट-संबंधी एवं सेनापति मारडोनियस (Mardonius) को सौंपा गया था। अपने पिता की भाँति जरेक्सेज ने भी सैन्यबल के साथ-साथ कूटनीति का आश्रय लिया। ४८१ ई०-पू० में उसने यूनानी राज्यों में अपने दूतों को भेज कर पानी एवं जमीन की माँग की। दूसरे शब्दों में, उसने उनके पास अपना प्रभुत्व मनवाने का प्रस्ताव भेजा। बहुत से राज्यों ने यह प्रस्ताव मान लिया। दस वर्ष पहले, चूँकि डेरियस के राजदूत एथेंस तथा स्पार्टा में मार डाले गए थे, इसलिए इस बार फारसी राजदूतों को वहाँ जाने की हिम्मत नहीं हुई। अपने कूटनीतिक प्रयत्नों के द्वारा उसने कार्थेजनिवासियों तथा सिसली में बसे हुए यूनानियों में विद्वेष एवं संघर्ष पैदा कर दिया, जिसमें सिसली के यूनानी संघर्ष के समय यूनान की सहायता न कर सकें। इस प्रकार की सैनिक तथा कूटनीति तैयारी के बाद ४८० ई०-पू० में उसने आयोनिया प्रदेश की राजधानी सार्डिस से यूनान की ओर प्रस्थान कर दर्रेदानियाल को पार किया तथा थ्रेस और थेसली होता हुआ, यूनान की ओर बढ़ा।

यूनान द्वारा फारसी आक्रमण के खतरे का सामना

हम देख चुके हैं कि ४८१ ई०-पू० में जरेक्सेज ने आयोनिया प्रदेश की राजधानी सार्डिस से अपने दूत विभिन्न यूनानी राज्यों में अपनी प्रभुसत्ता मनवाने के प्रस्तावों के साथ भेजे थे। इन दूतों ने यूनानियों के हृदय में भावी आक्रमण की आशंका पैदा कर दी थी। इसके अलावे यूनान में फारसी सम्राट द्वारा यूनान पर आक्रमण की तैयारियों की खबर भी पहुँच चुकी थी। माउंट एथोस के पास डेढ़ मील लंबी नहर खुदवाने का समाचार भी यूनाननिवासी सुन चुके थें। इसलिए, जरेक्सेज के सार्डिस पहुँचने के बाद यूनाननिवासी यह जान गए थे कि आक्रमण शीघ्र ही होने वाला था। अतः, ४८१ ई०-पू० से ही यूनान में आक्रमण के मुकाबले की तैयारियाँ भी प्रारंभ हो गई थीं।

हम देख चुके हैं कि फारसी दूतों को एथेंस और स्पार्टा में जाने का साहस नहीं हुआ था। यूनानी जगत में सबसे शक्तिशाली होने के कारण इन्हीं दोनों नगर-राज्यों ने मिल कर इस राष्ट्रीय संकट की घड़ी में यूनान का नेतृत्व करना प्रारंभ किया। सैनिक दृष्टि से स्पार्टा की अग्रगण्यता सर्वमान्य थी तथा दस वर्ष पहले माराथन के युद्ध में फारसियों को हरा कर एथेंस ने अप्रतिम मर्यादा प्राप्त की थी।

इन दोनों राज्यों ने इस खतरे के मुकाबले के उद्देश्य से पहला कदम यह उठाया कि ४८१ ई०-पू० में एक अखिल-यूनानी सम्मेलन (Pan-Hellenic Congress) बुलाया। इस सम्मेलन का उद्देश्य था, फारसी आक्रमण का मुकाबला करने के प्रयत्नों को क्रियात्मक रूप देना। यूनान के इतिहास में एक अखिल-यूनानी भावना के जन्म का यह पहला उदाहरण था। यह सम्मेलन कोरिंथ के थल डमरुमध्य में बुलाया गया; क्योंकि यह स्थान एथेंस और स्पार्टा के मध्य में स्थित था। इस सम्मेलन में इकतीस राज्यों ने भाग लिया तथा इन सभी राज्यों ने मिल कर आक्रमण का मुकाबला करने की शपथ ली। इसमें उत्तरी यूनान के बहुत से राज्यों ने भाग नहीं लिया। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण इन्हीं राज्यों को फारसी आक्रमण का मुकाबला पहले करना था। ये राज्य आक्रमण का मुकाबला अकेले नहीं कर सकते थे, पर साथ ही इस संघ में शामिल होकर वे खुले तौर पर फारसी सम्राट का कोपभाजन भी नहीं बनना चाहते थे। इन उत्तरी प्रदेशों के कुछ राज्यों में ऐसे राजनैतिक दल भी थे, जो फारसी आक्रमण का मुकाबला न करके आत्मसमर्पण करना चाहते थे। थीब्स और थेसली में कुछ अभिजात वर्ग इसी मत के थे।

इस सम्मेलन ने सर्वप्रथम यूनानी राज्यों के आंतरिक विद्वेषों और वैमनस्य को दूर करने का प्रयत्न किया, ताकि एकता की भावना सुदृढ़ हो सकें। बहुत

राज्यों के बीच पुराने झगड़ों के कारण लंबी शत्रुता की भावना थी। इस सम्मेलन के प्रयत्नों से एथेंस और एजिना ने अपने पुराने झगड़ों को भुला कर साथ लड़ने का निश्चय किया। इस सम्मेलन में सम्मिलित सेनाओं के नेतृत्व का महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी निश्चित किया गया। स्थल सेना में स्पार्टा का नेतृत्व सर्वमान्य था। नौसेना के नेतृत्व के लिए एथेंस का दावा सबल था, पर ईर्ष्या के कारण एथेंस का नेतृत्व कई राज्यों को मान्य नहीं था। इसलिए स्थल सेना एवं नौसेना, दोनों का नेतृत्व स्पार्टा को ही दिया गया। प्रतिनिधियों का रुख देख कर एथेंस के नेताओं ने स्पार्टा का नेतृत्व मान लिया।

इस सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि गुप्तचरों को भेज कर जरेक्सेज की सेना के विषय में पूरा पता लगाया जाए तथा दूतों को भेज कर अन्य यूनानी राज्यों को संघ का सदस्य बनाया जाए। स्पार्टा के राजा लियोनिडास (Leonidas) को स्थल सेना तथा यूरीबिआडास (Eurybiadas) को नौसेना का नेता चुना गया।

हम देख चुके हैं कि एथेंस की नौशक्ति के विकास के लिए थेमिस्टोक्लीज ने बुद्धिमत्तापूर्ण योजना कार्यान्वित की थी, फलस्वरूप माराथन-युद्ध के दस वर्षों के भीतर (४९० ई०-पू० से ४८० ई०-पू०) में एथेंस की नौशक्ति काफी सुदृढ़ हो चुकी थी। सुरक्षा के अन्य प्रयत्न जैसे बंदरगाहों का निर्माण, किलेबंदी आदि भी किए जा चुके थे।

इस राष्ट्रीय संकट की घड़ी में एथेंस के नेताओं ने बुद्धिमत्ता का परिचय देकर उन राजनैतिक नेताओं को एथेंस लौटने का निमंत्रण दिया, जिन्हें देश-निर्वासन की सजा दी गई थी। अतः, इस निर्णय के अनुसार एरिस्टाइड्स तथा जैन्थिप्पस (Xanthippus) एथेंस लौट आए और उन्हें सेनापति नियुक्त कर वहाँ के लोगों ने उनमें अपना विश्वास प्रकट किया।

थर्मोपाइले का युद्ध

यूनानियों के सामने पहला कठिन प्रश्न था, किस स्थान पर फारसी सेना से प्रथम सामना किया जाए? उन लोगों ने पहले उत्तरी यूनान के थेसली प्रदेश के टेम्पे (Tempe) के दर्रे के पास फारसियों का मुकाबला करने का निश्चय किया। वहाँ दस हजार सैनिक भी भेजे गए, पर उन लोगों ने देखा कि वहाँ कई और समानांतर दर्रे थे, जिनकी रक्षा करना उनके लिए संभव नहीं था। इस कारण सेना वहाँ से लौट आई, जिसका परिणाम यह हुआ कि लगभग पूरे उत्तरी यूनान ने जरेक्सेज के आगे आत्मसमर्पण कर दिया।

तत्पश्चात् मध्य यूनान में थर्मोपाइले नामक स्थान पर यूनानी सेना से मुकाबला करने का निश्चय हुआ। यह स्थान पहाड़ी चोटियों तथा समुद्र के बीच एक

संकीर्ण मैदान था, जहाँ फारसी सेना की बड़ी संख्या बेकार हो जाती थी। नौसैनिक युद्ध की दृष्टि से भी वह स्थान आदर्श था।

यहाँ स्पार्टा के राजा लियोनिडास ने सात हजार सैनिकों के साथ मुकाबला करने का निश्चय किया। यूनान के जहाजी बेड़े का प्रमुख भाग आर्टीमिजियम (Artemisium) में स्थित था। ५३ जहाजों का एक बेड़ा चाल्सिस के जलडमरुमध्य की रक्षा कर रहा था।

जरेक्सेज ने चार दिनों तक यह प्रतीक्षा की कि उस विशालवाहिनी को देख कर यूनानी सेना पीछे हट जाएगी, पर ऐसा नहीं हुआ। लियोनिडास की अध्यक्षता में यूनानी अपनी जगह पर डटे रहे। पाँचवें दिन, फारसी सेना ने यूनानी सेना पर भीषण आक्रमण किया, पर यूनानी सेना ने जम कर मुकाबला किया। भाले और बर्छे से लड़ने वाले यूनानी एशियाई तीरंदाजों से किसी माने में पीछे नहीं रहे। यूनानी सेना के पृष्ठ भाग में एक दर्रा था, जिसको पार करके यूनानी सेना पर पीछे से हमला किया जा सकता था। इस मार्ग का पता फारसी सेना को नहीं था। इसी समय एपियाल्टीज (Epialtes) एक यूनानी ने अपने देश के साथ विश्वासघात करके यह मार्ग फारसी सेना को दिखला दिया। परिणामस्वरूप फारसी सेना ने पीछे से यूनानी सेना पर आक्रमण कर दिया। आगे-पीछे दोनों ही ओर से शत्रु के भीषण आक्रमण का मुकाबला करना यूनानी सेना के लिए कठिन हो गया, तथापि लियोनिडास की अध्यक्षता में यूनानी सैनिकों ने अप्रतिम वीरता का परिचय दिया और स्वदेश के रक्षार्थ अपने प्राणों की आहुति दी। राजा लियोनिडास लड़ता हुआ मारा गया तथा उसके साथ-साथ तीन सौ स्पार्टा के सैनिक और सात सौ थेस्पियन सैनिक भी युद्ध में ही खेत रहे।

यह लड़ाई ठीक उसी दिन हुई, जिस दिन आर्टीमिजियम में यूनानी जहाजी बेड़ा फारसी जहाजी बेड़े से पराजित हुआ। ये दोनों घटनाएँ अगस्त ४८० ई०-पू० में हुईं। लियोनिडास की हार की खबर पाने पर यूनानी जहाजी बेड़ा ऐटिका प्रदेश की ओर लौट गया।

थर्मोपाइले का युद्ध फारसी सेना ने जीत लिया, पर लियोनिडास तथा उसके सैनिकों के बलिदान की कहानी यूनान के घर-घर में फैल गई और यूनानियों, खासकर स्पार्टा वालों के लिए, एक अमर प्रेरणा का स्रोत बन गई। थर्मोपाइले के युद्ध के इतिहास में स्पार्टा के इन वीरों की गाथा स्वर्णाक्षरों में लिखी गई तथा वीरता एवं साहस के क्षेत्र में स्पार्टा की प्रतिष्ठा में और वृद्धि हो गई। चूँकि लियोनिडास एवं उसके साथियों ने मौत को सामने पाकर युद्ध जारी रखा तथा अंत में वे सब-के-सब मारे गए, इसलिए उनका यह बलिदान यूनान के इतिहास में अभूतपूर्व था। कुछ वर्षों के बाद, इस स्थान पर एक शिलालेख स्थापित किया गया, जिसमें लियो-

निडास तथा उसके तीन सौ स्पार्टा के सैनिकों के वलिदान को श्रद्धांजलि अर्पित की गई। इस शिलालेख में निम्नलिखित विचार व्यक्त किए गए—

"ऐ जाने वाले अपरिचित व्यक्ति !
तुम स्पार्टा वालों से जाकर कहो
कि हम लोगों ने, स्पार्टा के
कानूनों का पालन करते हुए,
अपने प्राणों का उत्सर्ग किया।"

हेरोडोटस ने भी अपने इतिहास में दो और शिलालेखों की चर्चा की है। इस प्रकार, थर्मोपाइले के युद्ध ने यूनानी मानस में एक श्रद्धान्वित वीरगाथा का स्थान ले लिया तथा स्पार्टा की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिए।

सैलामिस का युद्ध

थर्मोमाइले के युद्ध के पश्चात्, फारसी सेना एथेंस की ओर अग्रसर हुई। चूँकि स्पार्टा की सेना अब अपने प्रदेश की रक्षा के लिए अधिक व्यग्र हो गई, इसलिए ऐटिका प्रदेश में जरेक्सेज की सेना को कहीं भी किसी भी प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा। एथेंस के कुछ नेताओं ने फारसी सेना का मुकाबला करना चाहा, पर थेमिस्टोक्लीज ने एथेंस के नागरिकों को एथेंस नगर को खाली करने की सलाह दी तथा उसकी राय मान ली गई। लगभग सभी निवासी शहर छोड़ कर सुरक्षित स्थानों में भाग गए। कुछ ही दिनों में जरेक्सेज ने सेना के साथ एथेंस में प्रवेश किया। शहर को खाली पाकर उसमें आग लगा दी गई तथा इस प्रकार ग्यारह वर्ष बाद, सार्डिस नगर के जलाए जाने का बदला लिया गया।

एथेंस के जलाए जाने के बाद यूनानी सेनापतियों ने युद्ध के अगले कदम के बारे में मंत्रणा प्रारंभ की। स्पार्टा ने सेनापति कोरिंथ के स्थलडमरुमध्य के पास फारसी सेना का मुकाबला करना चाहते थे, पर थेमिस्टोक्लीज ने इस योजना का घोर विरोध किया; क्योंकि उसके अनुसार सैलामिस के मुहाने पर फारसी नौसेना का मुकाबला अधिक उपयुक्त था; क्योंकि यहाँ के संकीर्ण समुद्र में फारसी नौसेना अपना करतब दिखलाने में असमर्थ थी। साथ ही, सैलामिस में युद्ध होने से सैलामिस, एजिना तथा मेगरा प्रदेशों की रक्षा हो जाती थी। इसके अतिरिक्त यूनानी नौसेना सैलामिस में ही स्थित थी। जब अन्य सेनापतियों ने थेमिस्टोक्लीज का प्रस्ताव मानने से इनकार किया, तो थेमिस्टोक्लीज ने एथेंस के जहाजी बेड़े को हटा लेने की धमकी दी। पर, यह धमकी भी कारगर नहीं सिद्ध हुई। तब थेमिस्टोक्लीज ने एक चाल चली, जो सफल सिद्ध हुई। उसने फारसी सेनापति को यह खबर भेज दी कि यूनानी जहाजी बेड़ा पीछे हटना चाहता है। यह खबर पाकर फारसी सेना ने दो भागों में विभक्त होकर मुहाने के दोनों ओर मोर्चा बना लिया। इससे फारसी

जहाजी बेड़ा दो भागों में बँट गया तथा थेमिस्टोक्लीज की योजना सफल रही और यूनानी जहाजी बेड़े से लड़ना आसान हो गया।

२३ सितंबर, ४८० ई०-पू० को सैलामिस का युद्ध हुआ। यह युद्ध केवल नौसैनिक युद्ध था। चूँकि मुहाने की संकीर्णता से फारसी जहाजी बेड़ा कुछ नहीं कर सका, यूनानी नौसेना इस युद्ध में विजयी रही। फारसी जहाजी बेड़े के दो सौ जहाज नष्ट कर दिए गए। इस युद्ध ने ईजियन समुद्र पर जरेक्सेज का आधिपत्य समाप्त कर दिया तथा जरेक्सेज हेलेस्पौण्ट अथवा दर्रेदानियाल की सुरक्षा के लिए चिंतित हो उठा। उसने फारसी जहाजी बेड़े के एक भाग को हेलेस्पौण्ट की रक्षा के लिए भेज दिया तथा मारडोनियस को यूनान की विजय का भार सौंप कर वह स्वयं एशिया माइनर आ गया और वहाँ से स्थल मार्ग से फारस लौट गया। सेनापति मारडोनियस ने ६० हजार सैनिकों के साथ थेसली प्रदेश में अड्डा बनाया तथा आगामी बसंत में यूनान पर पुनः आक्रमण की योजना बनाने लगा। इस प्रकार सैलामिस का युद्ध फारसी नौसेना की शक्ति एवं प्रतिष्ठा के लिए अत्यंत घातक सिद्ध हुआ। चूंकि फारसी युद्ध-प्रणाली में नौसेना एवं स्थल-सेना सम्मिलित रूप से काम करती थी, नौसेना का विनाश यूनान की विजय के लिए भयंकर सिद्ध हुआ। स्थल-सेना को रसद पहुँचाने तथा सामुद्रिक मार्गों की रक्षा के लिए नौसेना का शक्तिशाली रहना आवश्यक था। सैलामिस का युद्ध यूनान के विजय-अभियान में बड़ा निर्णायक तथा फारसी सेना की भावी पराजय का सूचक सिद्ध हुआ। नौसेना के विनष्ट होने ही से जरेक्सेज प्रत्यावर्तन के मार्ग की रक्षा के लिए चिंतित हो उठा था।

प्लेटो का युद्ध

सैलामिस के युद्ध के पश्चात् थेमिस्टोक्लीज ने हेलेस्पौण्ट पहुँच कर फारसी नौसेना द्वारा निर्मित नावों के पुल को नष्ट करना चाहा, पर अन्य सेनापतियों ने उसकी योजना से असहमति प्रकट की। इसलिए यह योजना सफल नहीं हो सकी।

सैलामिस युद्ध के पश्चात् थेमिस्टोक्लीज ने सेनापति के पद से अवकाश ग्रहण किया और एरिस्टाइड्स तथा जैन्थिप्पस सेनापति निर्वाचित हुए। इन दोनों ही नेताओं को एथेंस निवासियों ने निर्वाचन की सजा से मुक्त किया था। इस प्रकार एथेंस में नेतृत्व बदल चुका था। इसी प्रकार स्पार्टा में भी नेतृत्व-परिवर्तन हो चुका था। स्पार्टा के राजा लियोनिडास की मृत्यु के पश्चात् उसका नाबालिग लड़का गद्दी पर बैठाया गया था। कुछ ही दिनों के बाद इसकी सहायता के लिए पौसेनियस राजा नियुक्त किया गया था।

मारडोनियस ने स्पार्टा एवं एथेंस में बदले हुए नेतृत्व का लाभ उठाना चाहा। उसने जाड़े के महीनों में एथेंस के साथ संधि करने का प्रयास किया। एथेंस के जहाजी बेड़े क सहायता से वह पूरे यूनान को विजित करना चाहता था। उसे आशा थी

कि नए सेनापति एरिस्टाइड्स तथा जैन्थिप्पस उसके प्रस्ताव का स्वागत करेंगे। पर, इन दोनों नेताओं ने मधुर शब्दों में भेजे उसके प्रस्ताव को विल्कुल ठुकरा दिया। मारडोनियस ने ध्वस्त एथेंस नगर के पुनर्निर्माण एवं एथेंस द्वारा नए भू-भाग पर आधिपत्य का प्रस्ताव भेजा था। ये प्रस्ताव एथेंस के पास समानता एवं स्वतंत्रता के आधार पर भेजे गए थे, पर इन नेताओं ने एथेंस की कठिनाइयों के वावजूद इन प्रस्तावों को ठुकरा दिया। उन लोगो ने अपने उत्तर में कहला भेजा :

> "जव तक सूर्य पूरव में उगता एवं पच्छिम
> में डूवता है, तव तक हम जरेक्सेज
> के साथ सुलह नहीं करेंगे।"

परिणामस्वरूप ४७९ ई०-पू० के वसंत में मारडोनियस ने एथेंस की ओर कूच किया तथा जून के महीने में उसने दूसरी वार एथेंस पर कब्जा किया। एथेंस ने स्पार्टा से सहायता माँगी। दस दिनों तक विचार करने के वाद एथेंस द्वारा मारडोनियस से मिलने जाने की आशंका की खवर पाकर पौसेनियस के नेतृत्व में स्पार्टा की अस्सी हजार सेना वोएशिया की ओर बढ़ी। मारडोनियस ने पुनः एथेंस के नेताओं को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया, पर वह सफल नहीं हुआ। स्पार्टा की सेना के आने की खवर पा कर मारडोनियस से ऐटिका प्रदेश को (जहाँ एथेंस स्थित था), खाली कर दिया तथा थीब्स प्रदेश में अपना अड्डा वना लिया। पौसेनियस के नेतृत्व में सम्मिलित यूनानी सेना आगे बढ़ती गई तथा कई हफ्तों की पैंतरेवाजी के पश्चात् अगस्त, ४७९ ई०-पू० में प्लेटी के मैदान में दोनों सेनाओं में निर्णायक युद्ध हुआ। मारडोनियस मारा गया तथा यूनानी सेना विजयी रही। इस विजय में सवसे अधिक योगदान स्पार्टा के सेनापति एवं सैनिकों का था। एथेंस का योगदान नगण्य था।

फारसी सेना का शेषांश, जिसमें करीव चालीस हजार सैनिक थे, सेनापति आर्टाबैंजस के नेतृत्व में समुद्रमार्ग से हेलेस्पौण्ट अथवा दर्रेदानियाल की ओर लौट गई। फारसी आक्रमणों के इतिहास में प्लेटी का युद्ध निस्संदेह निर्णायक सिद्ध हुआ। प्लेटी की पराजय ने सदा के लिए यूनान पर विजय पाने का फारसी साम्राज्य का सपना तोड़ दिया। इसके पश्चात्, फारसी साम्राज्यवाद का पश्चिमी सीमा एशिया माइनर तक की सीमित रही, ईजियन समुद्र को लांघ कर यूनान पर आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न सदा के लिए छोड़ दिया गया।

माइकेल का युद्ध

जिस समय प्लेटी का युद्ध चल रहा था, उसी समय से एथेंस की नौसेना डेलौस द्वीप में अड्डा बना कर ईजियन समुद्र के यूनानी द्वीपों की रक्षा कर रही थी।

इस नौसेना का नेतृत्व जैन्थिप्पस कर रहा था। प्लेटी के युद्ध के समय ही सैमोस द्वीप के यूनानियों ने यह खबर भेजी कि वे फारसी साम्राज्यवाद से मुक्त होने के लिए सहायता चाहते हैं। यह खबर पाकर एथेंस की नौसेना आयोनिया प्रदेश के तटवर्त्ती इलाकों की ओर बढ़ी। सैमोस के पूर्व एशिया माइनर में स्थित माइकेल की चोटी (Mount Mycale) के सामने जमीन पर एवं समुद्र में युद्ध हुआ। एथेंस की नौसेना ने फारसी जहाजी बेड़े को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जमीन पर भी फारसी सेना को पराजित किया तथा उनके शिविर को जला दिया। एथेंस द्वारा माइकेल की विजय की खबर पा कर आयोनिया प्रदेश के कई नगरों ने फारसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया एवं वे स्वतंत्र हो गए।

इस विजय के कुछ महीनों बाद जैन्थिप्पस के नेतृत्व में एथेंस एवं आयोनिया की मिली-जुली सेनाओं ने हेलस्पौण्ट अथवा दर्रेदानियाल क्षेत्र में भी फारसी सेना को हराया। हेलेस्पौण्ट के पूर्व में सेस्टस में स्थित फारसी साम्राज्यवाद द्वारा निर्मित प्रसिद्ध किले पर जैन्थिप्पस ने अधिकार कर लिया। इसके बाद, यद्यपि फारस अथवा यूनान में औपचारिक ढंग से युद्धबंदी अथवा संधि की घोषणा नहीं हुई, पर यहीं से फारसी युद्धों एवं आक्रमणों का अंत हो जाता है। इन आक्रमणों का एक मात्र इतिहासकार हेरोडोटस भी सेस्टस की विजय से ही इन युद्धों के इतिहास का अंत कर देता है। सेस्टस की विजय ४७८ ई०-पू० हुई। इसी वर्ष से फारसी युद्धों का अंत माना जाता है।

फारस के साथ संघर्ष का महत्त्व एवं परिणाम

फारसी साम्राज्य के विरुद्ध यूनान का यह लंबा संघर्ष, उदीयमान यूनानी राज्यों के लिए एक अग्नि-परीक्षा सिद्ध हुआ, जिसमें सफल होने के बाद वे तपे-तपाए सोने की भाँति चमकने लगे। इस संघर्ष में प्राप्त अनुभव से उनके भावी महत्ता एवं अभ्युदय का पथ प्रशस्त हुआ तथा वे नई जिम्मेदारियाँ संभालने में समर्थ हो सके।

इन युद्धों के दौरान स्पष्ट रूप से दो नगर-राज्यों का नेतृत्व उभर कर सामने आया। ये थे—एथेंस एवं स्पार्टा। यूनानी जगत में इन्हीं दोनों राज्यों ने मुख्य रूप से फारसी साम्राज्यवाद से लोहा लिया तथा इन युद्धों के बाद ये दोनों ही नगर-राज्य तपाए हुए सोने की भाँति चमक उठे। यूनानी जगत में इनकी महत्ता सर्वमान्य हो गई। स्थल युद्धों में स्पार्टा की सर्वश्रेष्ठता मान ली गई तथा नौसेना के क्षेत्र में एथेंस की। इस प्रकार यूनानी जगत में ये दोनों ही नगर-राज्य सर्वशक्तिशाली सिद्ध हुए। भविष्य में इन्हीं दोनों पर यूनानी जगत के नेतृत्व का भार आने वाला था। पर, इन दोनों नगर-राज्यों में भी एथेंस नगर-राज्य के नेताओं की प्रतिभा एवं क्षमता अधिक

निखर गई। फारसी युद्धों के दौरान, स्पार्टा एवं एथेंस दोनों ही यदाकदा संकीर्णता की नीति के दोषी ठहराए जा सकते हैं। पर, अधिकतर स्पार्टा ने ही संकीर्ण एवं स्वार्थपूर्ण नीति का अवलंबन किया। माराथन के युद्ध में भी स्पार्टा ने सहायता भेजने में विलंब किया था। इसी प्रकार थर्मोपाइले के युद्ध के पहले, स्थान के चुनाव में भी स्पार्टा की इच्छा थी कि यह युद्ध पेलोपोनेसस प्रदेश की सीमाओं पर ही लड़ा जाए। प्लेटी के युद्ध के पहले, जब एथेंस पर मारडोनियस ने दूसरी बार अधिकार किया, तब भी स्पार्टा से कोई सहायता नहीं मिल सकी। जब एथेंस ने मारडोनियस से मिल जाने की धमकी दी, तब स्पार्टा की सेनाएँ प्लेटी की तरफ अग्रसर हुई। प्लेटी के युद्ध में फारसी सेना को हराने के बाद, स्पार्टा पुनः पेलोपोनेसस प्रदेश के दायरे में सिमट गया तथा पूरे यूनान में क्या कुछ हो रहा है, इसकी चिंता बिल्कुल छोड़ दी। परन्तु, एथेंस ने अपनी नौसेना के सहारे प्लेटी की विजय के बाद युद्ध को एक वर्ष तक और जारी रखा। माइकेल के युद्ध में फारसी सेना को परास्त कर आयोनिया प्रदेश के स्वतंत्रता-आंदोलनों को सफल किया तथा उसके पश्चात् हेलोस्पौण्ट के पूर्व में स्थित सेस्टस के किले से भी फारसी सेना को मार भगाया। इसके अतिरिक्त, डेलौस को आधार मान कर एथेंस की नौसेना ईजियन समुद्र में गश्त लगाती रही। इन सभी घटनाओं से यह सिद्ध हुआ कि एथेंस के नेताओं ने फारसी आक्रमण के खतरे को केवल एथेंस की रक्षा के दृष्टिकोण से नहीं, वरन् अखिल-यूनानी-परिप्रेक्ष्य में देखा। यद्यपि स्पार्टा के नेताओं ने समय-समय पर अप्रतिम शूरता एवं साहस का परिचय दिया, पर उनका दृष्टिबिंदु स्पार्टा एवं दक्षिणी यूनान की रक्षा पर अधिक केंद्रीभूत था, जब कि एथेंस ने न केवल ऐटिका प्रदेश की रक्षा में ही रुचि ली, बल्कि उत्तरी यूनान, उत्तरी-पूर्वी यूनान, ईजियन के द्वीप-समूह तथा एशिया माइनर के यूनानी प्रदेशों के लिए भी खुल कर संघर्ष किया। इसका परिणाम यह हुआ कि एथेंस को अधिकांश यूनानी राज्यों ने इस युद्ध का नेता एवं अग्रणी राज्य मान लिया। विशेषतः, उन राज्यों ने, जो नौसैनिक शक्ति रखते थे, निर्विवाद रूप से एथेंस को अपना नेता मान लिया। ४७८ ई०-पू० में डेलौस के द्वीप में एक नौसैनिक महासंघ का गठन हुआ, जिसका नेतृत्व एथेंस के हाथ में था। इस संघ का उद्देश्य भविष्य में होने वाले फारसी आक्रमण के खतरे का मुकाबला करना था। आगे चल कर, यह नौसैनिक संघ न केवल एथेंस की महत्ता का, वरन् उसके साम्राज्यवाद की आधारशिला सिद्ध हुआ। इस प्रकार एथेंस के प्रभाव में वृद्धि, उसकी महत्ता का विकास एवं उसके साम्राज्यवाद का बीजारोपण फारस के साथ संघर्ष के महत्त्वपूर्ण परिणाम सिद्ध हुए।

एथेंस एवं स्पार्टा की प्रतिद्वंद्विता और पारस्परिक ईर्ष्या का पूर्वाभास भी हमें इन संघर्षों के इतिहास से मिलता है। इन युद्धों के दौरान एथेंस के प्रभाव-क्षेत्र

में स्थित राज्यों ने एथेंस की नीति का अनुसरण किया तथा दक्षिणी यूनान के राज्यों ने स्पार्टा का अनुसरण किया। यद्यपि स्पार्टा एवं एथेंस ने मिल कर युद्ध किया, पर इन दोनों में ही पूरे यूनानी जगत का नेतृत्व करने की लालसा थी, यह स्पष्ट हो गया। आगे चल कर, इन दोनों राज्यों में नेतृत्व के लिए मतभेद भी हो सकता है, यह स्पष्ट हो गया।

विदेशी आक्रमण के खतरे ने पहली बार यूनानी जगत में एकता के भाव को बढ़ाया। विभिन्न यूनानी नगर-राज्यों को एक साथ मिल कर लड़ने एवं नीति-निर्धारण का अवसर मिला। अतः, इन युद्धों के कारण एक अखिल-यूनानी दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हुआ। फारसी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए कई बार अखिल-यूनानी समितियों की बैठक हुई, जिसमें अधिकांश नगर-राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे।

एशिया के एक विशाल साम्राज्य की शक्ति से सफलतापूर्वक लोहा लेने का परिणाम यह हुआ कि यूनान के नगर-राज्यों का आत्मविश्वास बढ़ गया। वे भविष्य में किसी भी आक्रमण का सामना करने के लिए समर्थ हो गए।

इसी प्रकार, यूनानी नगर-राज्यों को अपनी राजनैतिक संस्थाओं एवं परंपराओं में भी आस्था बढ़ गई तथा उनकी सफलता में दृढ़ विश्वास हो गया। यदि फारस इस संघर्ष में विजयी होता, तो यह लगभग निश्चित था कि एथेंस में गणतांत्रिक प्रयोगों का गला घोंट दिया जाता एवं फारसी साम्राज्यवाद की छत्रच्छाया में पुनः अधिनायकवाद या टिरेनी की स्थापना होती। पर,फारसी युद्धों में यूनान की विजय ने एथेंस-जैसे नगर-राज्यों में, जहाँ गणतांत्रिक प्रयोग चल रहे थे, वस खतरे को सदा के लिए समाप्त कर दिया तथा गणतंत्र की जड़ें मजबूत हो गईं। ऐसे नगर-राज्यों के नागरिकों के मन में यह बात बैठ गई कि गणतांत्रिक ढाँचे में वे वड़े-से-बड़े विदेशी आक्रमण का सामना कर सकते हैं। अतः, उनकी राजनैतिक संस्थाएँ उनके विकास के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। इन युद्धों का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि एथेंस-जैसे नगर-राज्यों में गणतांत्रिक संस्थाओं की साख जम गई।

इन युद्धों द्वारा यूनानवासियों को एशियाई साम्राज्यवाद एवं एशियाई रणनीति को देखने और आँकने का मौका मिला। यदि यह कहा जाए कि यूनानी जगत को एशिया के एक देश की सभ्यता एवं युद्धकला को नजदीक से देखने का मौका मिला, तो अधिक उपयुक्त होगा। इस संपर्क के कई महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। सर्वप्रथम, यूनानवासियों को अपनी विजय को अतिरंजित करने की प्रवृति का प्रादुर्भाव हुआ तथा अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की श्रेष्ठता के बारे में कई भ्रांत धारणाओं का भी जन्म हुआ। इन भावनाओं की अभिव्यक्ति उनके इतिहास एवं साहित्य में हुई। उनके

मन में यह भ्रांत धारणा वैठ गई कि उनकी संस्कृति समस्त एशिया की संस्कृति से ऊँची है। वे सुसंस्कृत हैं तथा समस्त एशियावासी बर्बर हैं। इसी प्रकार उनकी दृष्टि में फारसी साम्राज्यवाद समस्त एशिया के साम्राज्यवाद का प्रतीक बन गया। वे लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पूरा एशिया निरंकुश राजतंत्र की चक्की में पिस रहा है और केवल यूनान में ही गणतंत्र की ज्योति जल रही है। इसलिए उन लोगों ने एशियाई संस्कृति को साम्राज्यवाद एवं निरंकुश राजतंत्र का प्रतीक और अपने-आप को गणतांत्रिक परंपराओं का प्रतिनिधि माना। हेरोडोटस, जिसने फारसी युद्धों का इतिहास घटनाओं से पचासों वर्ष बाद लिखा, ऐसे विचारों को बार-बार व्यक्त किया।

इन भ्रांत धारणाओं के साथ-साथ, यूनानवासियों को एशियाई सभ्यता के ज्ञान में वृद्धि हुई, जैसा कि हेरोडोटस ने जरेक्सेज की सेना में विभिन्न एशियाई देशों के सैनिकों के हथियारों एवं वेश-भूषा का विशद् वर्णन किया है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि यूनान के आंतरिक विकास की दृष्टि से एवं प्राचीन जगत के विषय में यूनान के दृष्टिकोण के विस्तार की दृष्टि से भी, यूनान का फारसी साम्राज्यवाद के साथ संघर्ष अत्यत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है।

इस संघर्ष में फारस की पराजय के कई कारण थे। उस युग में जब यातायात की सुविधाओं का सर्वथा अभाव था, फारस से यूनान पर आक्रमण करना अत्यंत कठिन था। इसलिए दूरी के कारण, इतनी बड़ी सेना को रसद पहुँचाने तथा एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में कठिनाई का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। यूनानवासी अपने देश में ही लड़ रहे थे, इसलिए उन्हे इन कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता था।

पर, यूनान की विजय का महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि यूनानवासी अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए लड़ रहे थे। उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न था। अतः, उन्हें अपना सर्वस्व बलिदान करने में भी कोई हिचक नहीं थी। परंतु, फारस की विशाल सेना के सैनिक इस उच्च आदर्श से प्रेरित नहीं थे।

अनुशासन की दृष्टि से भी यूनानी सेना फारसी सेना से कहीं अधिक अनुशासित एवं संगठित थी। फारसी सेना विभिन्न देशों के सैनिकों का समूह थी, जिनमें न तो एकता का भाव था, न आदर्शों की प्रेरणा थी। इसलिए जिस अनुशासित ढंग से यूनानी सेना लड़ रही थी, फारसी सेना नहीं लड़ सकती थी। इन्हीं कारणों से इस संघर्ष में फारस यूनान से पराजित हुआ।

डेलौस (Delos) का संघ एवं एथेंस के साम्राज्यवाद का उदय

फारसी युद्धों के दौरान एथेंस का नेतृत्व उनको महत्ता की वृद्धि में सहायक हुआ। ईजियन द्वीप-समूह तथा एशिया माइनर के यूनानी राज्यों ने उसका नेतृत्व

सहर्ष स्वीकार कर लिया था। प्लेटी के युद्ध के बाद एथेंस ने युद्ध को जारी रखकर अपने उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया था। स्पार्टा की संकीर्ण नीति के कारण ईजियन द्वीप-समूह एवं आयोनिया प्रदेश के यूनानी राज्य उससे असंतुष्ट थे। इन यूनानी राज्यों की दृष्टि में स्पार्टा केवल लेसिडेमन प्रदेश की सुरक्षा के लिए ही चिंतित था। उसे इन सुदूर प्रदेशों में बसी हुई यूनानी जनता के दुःख-सुख की रंच-मात्र चिंता नहीं थी। पर, एथेंस की नीति अखिल-यूनानी दृष्टिकोण से प्रभावित थी। डेलौस के संघ का उदय एवं गठन एथेंस की इस उदार एवं दूरदर्शी नीति का ही सुपरिणाम था तथा आगे चल कर एथेंस इस संघ से पूर्णतया लाभान्वित हुआ।

नेतृत्व की दृष्टि से एथेंस अन्य कारणों से भी स्पार्टा की तुलना में अधिक उपयुक्त था। एथेंस नगर की चहारदीवारी को मरम्मत कर अधिक मजबूत बनाया गया था। पीरूज के नए बंदरगाह की सुरक्षा की दृष्टि से किलेबंदी की गई थी। एथेंस की नौसेना यूनानी जगत में सबसे शक्तिशाली थी। थेमिस्टोक्लीज-जैसे नेताओं ने एथेंस की नौसेना का बहुत बड़े पैमाने पर विस्तार कर दिया था। माइकेल के युद्ध के पश्चात् एथेंस ने इन सभी बातों का पूरा लाभ उठाया तथा अपनी नौसेना की सहायता से ईजियन द्वीप-समूह और एशिया माइनर से फारसी शासन का अंत करने का ही बीड़ा उठा लिया था। अतः स्वाभाविक था कि इस प्रदेश के यूनानी राज्य एथेंस को फारस के विरुद्ध संघर्ष का एकमात्र नेता मान लें।

डेलौस के संघ का निर्माण ४७८-४७७ ई० पू० के जाड़े में हुआ। यह संघ स्वतंत्र राज्यों का स्वैच्छिक संघ था। इसके तीन मुख्य उद्देश्य थे—एक तो भविष्य में होने वाले फारसी आक्रमणों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना। दूसरा उद्देश्य था, फारसी आधिपत्य के अंतर्गत स्थित राज्यों में लूट-पाट मचा कर युद्ध में हुए खर्च को पूरा करना। तीसरा उद्देश्य था, फारसी आधिपत्य से एशिया माइनर तथा ईजियन प्रदेश के यूनानी राज्यों को मुक्त करना। इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए एथेंस के नेतृत्व में इस संघ का निर्माण किया गया। इसकी स्थापना ४७८ ई०-पू० में हुई तथा यह संघ सत्तर वर्षों तक कायम रहा। पेलोपोनेसियन युद्ध में ४०४ ई०-पू० में एथेंस की पराजय तक यह संघ जीवित था। ३७८ ई०-पू० में इस संघ को पुनरुज्जीवित किया गया और यह संघ इस बार चालीस वर्षों तक कायम रहा। पर, संघ का प्रथम काल ही यूनान के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इस काल में इस संघ के आधार पर एथेंस के साम्राज्यवाद का उदय हुआ।

इस संघ का निर्माण एथेंस के नेतृत्व में हुआ। इस संघ के सभी सदस्य नौसैनिक राज्य थे। एशिया माइनर के तटवर्ती प्रदेशों के यूनानी राज्य, एशिया में एयोलिन जाति के यूनानी राज्य, एशिया के तट के समीपस्थ द्वीप, प्रपौण्टिस प्रदेश

के बहुत से नगर-राज्य तथा कुछ थ्रेस में स्थित यूनानी राज्य इस संघ के सदस्य थे। यूबोइया का राज्य भी इस संघ का सदस्य था। कुल मिला कर दो सौ यूनानी राज्य इस संघ के सदस्य थे। कुछ सूत्रों के अनुसार सदस्यों की संख्या दो सौ नब्बे तक पहुँच गई थी।

इस संघ का स्वरूप

इस संघ की सदस्यता स्वेच्छा पर आधारित थी। फारसी आक्रमणों के भय तथा सुरक्षा के उद्देश्य से इन राज्यों ने स्वेच्छापूर्वक यह संघ बनाया था। इसके निर्माण में बलप्रयोग नहीं किया गया था। सदस्यों का पारस्परिक संबंध पूर्ण समता पर आधारित था। यह संघ पूर्णरूपेण स्वतन्त्र राज्यों का संघ था। कोई भी सदस्य किसी राज्य के अधीन नहीं था।

चूँकि यह मुख्यतया नौसैनिक राज्यों का संघ था, इसलिए संघ का आधार यह था कि प्रत्येक सदस्य राज्य, संघ की नौसेना को पुष्ट करने के लिए कुछ जहाज दिया करे। पर, अधिकतर सदस्य छोटे और निर्धन राज्य थे जो एक या दो जहाज से अधिक नहीं दे सकते थे। कुछ राज्य तो एक जहाज के बनाने में जितना खर्च लगता है, उसका थोड़ा हिस्सा ही देने में समर्थ थे। ऐसे राज्यों की सुविधा के लिए यह निश्चित किया गया कि ये राज्य सम्मिलित नौसेना के निर्माण एवं खर्च के लिए एक वार्षिक धनराशि दिया करें। यह धनराशि एक सामूहिक कोष में जमा की जाती थी। यह स्पष्टतया पता नहीं चलता कि किस प्रकार यह धनराशि निश्चित की गई थी, पर प्रत्येक ऐसे राज्य को सालाना ४६० टेलेंटस देने पड़ते थे।

संघ का संविधान एवं नामकरण

चूँकि इस संघ का मुख्यालय डेलौस द्वीप में स्थित था, इसलिए इसका नाम 'डेलौस का संघ' रखा गया। डेलौस द्वीप में इस संघ का सामूहिक कोष, कार्यपालिका समिति (Synod) तथा पुलिस स्थित थी। जब कार्यपालिका समिति की बैठक डेलौस द्वीप में होती थी, तब सभी सदस्य इसमें भाग लेने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजते थे। प्रत्येक सदस्य को एक मत प्राप्त था। पर, इस संघ का नेता होने के कारण एथेंस के हाथ में शुरू से ही बहुत मत थे। परिणामस्वरूप प्रारंभ से ही इस संघ की कार्यपालिका-समिति एथेंस के हाथ में थी। इसके अतिरिक्त, प्रारंभ से ही इस संघ के कोषाध्यक्ष का निर्वाचन सभी सदस्य राज्यों में से नहीं होता था, प्रत्युत् उसके लिए एथेंस का नागरिक होना अनिवार्य था। संघ के सदस्यों से वार्षिक चंदे को वसूल करना भी एथेंस के अफसरों को ही सौंपा गया था। इन अफसरों को हेलेनाटमिया (Hellenotamiae) कहा जाता था। इस प्रकार सामूहिक जहाजी बेड़े का सेनापति एरिस्टाइड्स नामक एथेंस के नागरिक को बनाया गया। संघ के सदस्यों से कितनी सालाना धनराशि वसूल की जाए; इसका निर्णय भी एरिस्टाइड्स

ने ही किया था। इन कारणों से एथेंस का स्थान इस संघ में प्रारंभ से ही प्रधान था। शनैः-शनैः एथेंस की प्रबलता एवं प्रमुखता में वृद्धि होती गई पर प्रारंभ में, एथेंस ने इन अधिकारों का दुरुपयोग नहीं किया। उसने सभी सदस्यों की स्वतंत्रता का सम्मान किया और उनके आंतरिक मामलों तथा शासन-पद्धति में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। एरिस्टाइड्स ने वार्षिक चंदे की जो दर निश्चित की थी, वह भी उचित एवं न्यायसंगत थी। इस कारण, लगभग दस वर्ष तक संघ के सदस्यों को एथेंस के व्यवहार से कोई शिकायत नहीं हुई तथा संघ का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा।

संघ की सफलताएँ एवं उपलब्धियाँ

प्रारंभ से ही, इस संघ का प्रमुख संचालक एथेंस का नेता साइमन (Cimon) था। ४७६ ई०-पू० में, एथेंस की जनता ने उसे अपना सेनापति चुना था। इस पद पर वह ४६२ ई०-पू० तक बना रहा। इस काल में, उसने अपनी योग्यता एवं साहस से, डेलौस के संघ को ईजियन प्रदेश में सर्वशक्तिशाली बना दिया। स्पार्टा के सेनापति पौसेनियस ने फारसी युद्धों के पश्चात् बाइजैण्टियम प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। साइमन ने उसे ट्रोड (Troad) प्रदेश में खदेड़ दिया। स्पार्टा का यह प्रसिद्ध सेनापति इन दिनों फारसी साम्राज्यवाद के साथ मिलकर यूनान के हितों के विरुद्ध षड्यंत्रों में लगा हुआ था। इसलिए इसको हरा कर वौस्फोरस के मुहाने को एथेंस के अधिकार में लाना संघ की तथा साइमन की पहली उल्लेखनीय सफलता थी। इसके पश्चात् साइमन ने मैसिडोनिया प्रदेश की सीमा पर ईआन (Eion) नामक नगर को फारसी शासन से मुक्त किया तथा ४७६ ई०-पू० तक पूरे थ्रेस प्रदेश को फारसी शासन से मुक्त कर दिया। ४७५ ई०-पू० में उसने ईजियन समुद्र के मध्य भाग में स्थित साईरस नामक द्वीप पर अधिकार किया। यह द्वीप समुद्री लुटेरों से भरा हुआ था, जिन्हें दंडित करना आवश्यक था। ४७३ ई०-पू० में साइमन ने, यूबोइया द्वीप में स्थित केरिस्टस (Carystus) नामक द्वीप पर अधिकार किया। ४९० ई०-पू० में प्रथम फारसी आक्रमण के समय इस नगर पर फारसियों को सहायता देने का संदेह था। साइमन ने इसे पराजित कर डेलौस के संघ का सदस्य बनने के लिए बाध्य किया।

साइमन ने फारसी साम्राज्य के विरुद्ध भी संघर्ष जारी रखा। उसने ४६७ ई०-पू० में दो सौ जहाजों का एक बेड़ा बनाया तथा एशिया माइनर के दक्षिणी भागों में स्थित यूनानी राज्यों को विजित कर उन्हें संघ का सदस्य बनने के लिए मजबूर किया। इस अभियान में उसने केरिया प्रदेश के यूनानी एवं अर्द्ध यूनानी

राज्यों तथा यूरीमेडन (Eurymedon) नदी के मुहाने पर स्थित प्रसिद्ध नगर फ़ेजेलिस (Phaselis) पर अधिकार किया। इसके भी पूर्व पैम्फीलिया (Pamphylia) प्रदेश में उसे फारसी सेना की एक नौसैनिक टुकड़ी से सामना हुआ। यूनानी सेना को देख कर, यूरीमेडन नदी के ऊपरी भाग की ओर फारसी जहाजी बेड़ा पीछे हटने लगा। पर, यूनानी सेना ने उन्हें लड़ने के लिए बाध्य कर उसे बुरी तरह पराजित करके जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया। इस नौसैनिक युद्ध के पश्चात् यूनानी एवं फारसी सेना में स्थल युद्ध भी हुआ, जिसमें फारसी सेना की करारी हार हुई। कुछ ही दिनों बाद, फारसी नौसेना का एक दस्ता, जो साइमन द्वीप से सहायता देने आ रहा था, नष्ट कर दिया गया। यूरीमेडन नदी के मुहाने पर एशिया माइनर के दक्षिणी भाग में, साइमन की यह सबसे बड़ी विजय तथा डेलौस के संघ की यह श्रेष्ठतम उपलब्धि थी। इस विजय के बावजूद, साइमन ने फ़ैजेलिस नगर के पूर्व के भू-भाग पर अधिकार नहीं किया। पर, इस विजय के द्वारा उसने एशिया माइनर के तटवर्ती प्रदेशों एवं ईजियन समुद्र में स्थित द्वीपों को फारसी खतरे से मुक्त कर दिया। उसकी बुद्धिमत्ता, साहस एवं कार्यकुशलता ने संघ के उद्देश्यों को सफल बनाया तथा संघ की उपादेयता सिद्ध की।

एथेंस के साम्राज्यवाद का बीजारोपण एवं संघ के सदस्यों में असंतोष का प्रादुर्भाव

करीब दस वर्षों तक संघ के सदस्यों ने प्रसन्नतापूर्वक अपनी सदस्यता बनाए रखी। वे वार्षिक चंदा भी देते रहे। इन दस वर्षों में ये लोग संघ की कृतियों एवं एथेंस के व्यवहार से भी संतुष्ट रहे। पर, जब दस वर्षों के बाद फारसी आक्रमण का भय जाता रहा, तब इनमें से कुछ के मन में संघ की उपयोगिता एवं उपादेयता के विषय में संदेह उत्पन्न होने लगा तथा इन सदस्य-राज्यों ने संघ से अलग होने की इच्छा प्रकट की। ४६९ ई०-पू० में नैक्सस द्वीप ने, जो ईजियन समुद्र में स्थित था तथा जो फारसी आक्रमण से पहले काफी तबाह हो चुका था, संघ से अलग होने का प्रयत्न किया। एथेंस के नेताओं ने यह घोषणा की कि संघ से अलग होने के लिए संविधान में कोई नियम नहीं है, इसलिए कोई सदस्य संघ से अलग नहीं हो सकता है। जब नैक्सस द्वीप ने इस निर्णय को मानने से इनकार किया, तब एथेंस की सेना ने इस द्वीप के मुख्य नगर को घेर लिया तथा इसे पुनः सदस्य बनने के लिए बाध्य किया। यूबोइया द्वीप में स्थित कैरिस्टस नगर को साइमन ने संघ का सदस्य बनने के लिए बाध्य किया था। कैरिस्टस एवं नैक्सस दोनों ही एथेंस की उद्धत एवं मनमानी नीति के उदाहरण बन गए तथा संघ के कमजोर सदस्यों के मन में एथेंस के प्रति दुर्भावना और असंतोष का बीजारोपण हो गया। एथेंस संघ को अपने

साम्राज्य के रूप में देखने लगा तथा सदस्यों के साथ उसका व्यवहार समानता पर आधारित न हो कर लगभग शासक और शासित का हो गया।

इसी समय से एथेंस ने अपनी प्रधानता एवं प्रभाव का दुरुपयोग करना शुरू कर दिया। कुछ सदस्यों ने संघ के जहाजी बेड़े के लिए जहाज न देकर पैसा देने के लिए राजी हो कर अपनी स्वतंत्रता के साथ बहुत बड़ा खिलवाड़ किया था। एथेंस ने उनकी इस भूल का फायदा उठाया तथा वार्षिक चंदे को कर के रूप में वसूलना प्रारंभ किया। धीरे-धीरे केवल तीन सदस्य राज्य ही जहाज देने में समर्थ रहे। ये थे— लेस्बास (Lesbos), शियास (Chios) तथा सेमास (Samos)। इनके अलावे एथेंस ने सभी सदस्य राज्यों से वार्षिक चंदे की धनराशि कर के रूप में उगाहना शुरू किया।

कर देने की नीति ने सदस्य-राज्यों का दुहरा अपकार किया। एक तो एथेंस उन्हें अपने अधीन राज्य के रूप में देखने लगा तथा उनके पैसे से अपने जहाजी बेड़े का विस्तार करने लगा। दूसरा अपकार यह हुआ कि वे अपनी सुरक्षा के लिए पूर्णतया एथेंस की इच्छा पर आश्रित हो गए। यदि एथेंस उन पर आक्रमण करता, तो अपनी सुरक्षा के लिए उनके पास एक भी जहाज नहीं था। अतः, ऐसे सदस्य इस संघ के सक्रिय सदस्य न होकर, निहत्थे तथा पूर्णतया एथेंस के अधीन राज्य बन गए। उनकी इस कमजोरी का फायदा उठा कर धीरे-धीरे एथेंस ने इस संघ को अपने साम्राज्य में परिवर्तित करना आरंभ कर दिया।

संघ के सदस्यों के आंतिरिक मामलों में एथेंस का हस्तक्षेप बढ़ता गया। उत्तरी यूनान के थ्रैस प्रदेश के पूर्व में स्थित, थेसास द्वीप इस संघ का एक प्रमुख सदस्य था। पर, व्यापारिक हितों एवं एक सोने की खान को लेकर थेसास तथा एथेंस में वैमनस्य उत्पन्न हो गया। इस कारण, थेसास द्वीप के निवासियों ने एथेंस के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। ४६३ ई०-पू० में साइमन ने इस विद्रोह को दबाया। उनके जहाजी बेड़े को परास्त किया गया तथा एक लंबे घेरे के बाद उन्हें आत्मसमर्पण करने के लिए विवश किया गया। उनके जहाजों पर एथेंस ने अधिकार किया तथा उन्हें वार्षिक कर देने के लिए बाध्य किया गया। इन नीतियों से यह स्पष्ट होता जा रहा था कि एथेंस इस संघ को अपने साम्राज्य में परिणत करना चाहता था।

बहुत से सदस्य-राज्यों में एथेंस की सैनिक टुकड़ियाँ तथा असैनिक पदाधिकारी भी विद्यमान रहने लगे। युद्ध के समय, इन सदस्य राज्यों को सैनिक देने के लिए भी मजबूर किया जाने लगा। प्रारंभ में जब डेलौस के संघ का एक सामुद्रिक राज्यों के संघ के रूप में जन्म हुआ था, तब यह शर्त नहीं लागू थी, पर एथेंस ने अब इस शर्त को लगाकर क्रियान्वित करना शुरू किया। कुछ सदस्य-राज्यों में, इन

शर्तों के विरुद्ध विद्रोह भी होने लगा। पर, इन विद्रोहों को दबाने के बहाने एथेंस इन राज्यों की रही-सही स्वतंत्रता का भी अपहरण कर रहा था।

शनैः-शनैः यह संघ एथेंस के साम्राज्य के रूप में परिणत होता जा रहा था। लगभग बीस वर्षों की अवधि में एथेंस ने बहुत हद तक इस संघ को अपना साम्राज्य बना डाला था। प्रसिद्ध इतिहासकार ग्रोट (Grote) ने ठीक ही लिखा है कि "इस संघ के सदस्य-राज्य, अनजाने तौर पर एथेंस के अधीनस्थ राज्य बन गए तथा एथेंस बिना किसी पूर्व-निर्धारित योजना के, संघ के नेता से निरंकुश शासक के रूप में परिवर्तित हो गया।"

ज्यों-ज्यों एथेंस की साम्राज्यवादी नीति सफल होती गई, त्यों-त्यों एथेंस ने संघ के संविधान का उल्लंघन करना शुरू किया। उसने डेलौस द्वीप में संघ की कार्य-पालिका समिति की बैठकें बुलाए बिना मनमाना निर्णय लेना शुरू किया। उसे अपने निर्णयों को चुनौती दिए जाने का डर नहीं था; क्योंकि अधिकांश सदस्य उसके अधीनस्थ राज्य थे। अंत में, ४५३ ई०-पू० में उसने वह अंतिम कदम उठाया, जिसने इस संघ को साम्राज्य में परिवर्तित करने की प्रक्रिया को पूर्ण कर दिया। इस वर्ष इस संघ के कोष को, जो डेलौस में अपोलो देवता के मंदिर में स्थित था, एथेंस की देवी एथेना के मंदिर में ला कर रख दिया। यह कदम एथेंस के साम्राज्य-निर्माण की पूर्णता का द्योतक था। इसके पश्चात् डेलौस का संघ, संघ नहीं रह कर एथेंस का साम्राज्य बन गया। संघ के सदस्य अब पूर्णरूपेण एथेंस की प्रजा बन गए तथा वार्षिक चंदा कर के रूप में उगाहा जाने लगा। पर, औपचारिक ढंग से 'संघ' शब्द का प्रयोग होता रहा।

यूनान के इतिहास में डेलौस के संघ का महत्त्व

यूनान के इतिहास में डेलौस के संघ को 'एक महान् प्रयोग' की संज्ञा दी गई है। साधारणतया यूनानी राज्यों की नीति संकीर्ण स्वार्थों पर आधारित होती थी तथा वे मिल कर काम नहीं करते थे। इस संघ का निर्माण पहला उदाहरण था, जब एक उद्देश्य के लिए यूनान के स्वतंत्र राज्यों ने समानता के आधार पर संघ बनाया हो। इसीलिए इतिहासकार ग्रोट ने लिखा है कि यूनान के इतिहास में सर्व-प्रथम एक महान् तथा उचित उद्देश्य से कई राज्यों ने समानता के आधार पर संघ बनाया। अतः यह संघ यूनानी राज्यों के अखिल-यूनानी दृष्टिकोण का परिणाम था। बहुत हद तक यह संघ अपने उद्देश्यों की सिद्धि में सफल रहा। इसने फारसी आक्रमण के खतरे को समाप्त कर दिया। बहुत-से यूनानी राज्यों को फारसी साम्राज्य की गुलामी से मुक्त कर दिया। पर बाद में एथेंस की नीति से अखिल-यूनानी दृष्टिकोण को धक्का पहुँचा तथा यूनानी जगत में फूट और दुर्भावना की वृद्धि हो गई। यूनानी

जगत स्पष्टतया दो प्रभाव-क्षेत्रों में बँटने लगा। ये थे—स्पार्टा एवं एथेंस के प्रभाव क्षेत्र। इस संघ के एथेंस के साम्राज्य में परिवर्तित होने के बाद स्पार्टा निवासी एथेंस से जलने लगे। उन लोगों ने एथेंस के अधीनस्थ राज्यों में एथेंस के विद्रोह को भड़काना शुरू किया। परिणामस्वरूप एथेंस एवं स्पार्टा में वैमनस्य एवं दुर्भावना का जन्म हुआ। अतः, इस संघ की स्थापना एवं एथेंस की नीति का परिणाम यह हुआ कि यूनानी जगत में फूट की भावना बढ़ गई।

इस संघ को एथेंस द्वारा साम्राज्य में परिवर्तित करना यूनानी संस्कृति का मूलभूत धारणाओं के प्रतिकूल था। एथेंस के साम्राज्यवाद ने यूनानियों की स्वतंत्रा एवं स्वायत्तता की भावना पर कुठाराघात किया। प्रत्येक यूनानी एक स्वतंत्र राज्य का सदस्य रहने में गौरव अनुभव करता था। किसी उद्देश्य विशेष तथा परिस्थिति-विशेष में यूनानी राज्य मिल कर संघ बना लेते थे एवं कुछ हद तक अपनी स्वतंत्रता छोड़ देते थे, पर सदा के लिए किसी के अधीनस्थ नहीं रहना चाहते थे। इसलिए इस संघ को एथेंस द्वारा साम्राज्य बनाने के प्रयत्न यूनान के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल थे। अतः, आगे चल कर यह साम्राज्यवाद एथेंस के लिए बड़ा महँगा सिद्ध हुआ।

पर साथ ही, हमें यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि इस संघ की स्थापना से ही एथेंस के महत्ता एवं अभ्युदय का श्रीगणेश होता है। इसी की स्थापना के कारण बहुत बड़े क्षेत्र में तथा बड़े पैमाने पर, एथेंस के सेनापतियों एवं नेताओं को अपनी क्रियात्मक प्रतिभा और रचनात्मक शक्ति को प्रदर्शित करने का अवसर मिला। एथेंस की नौसेना सुगठित, सुदृढ़ एवं क्रियाशील हो गई। वहाँ के नेताओं को संगठन एवं शासन का अनुभव प्राप्त होने लगा। ईजियन समुद्र एथेंस की नौसेना के जहाजों से भरा रहता था। पूरे एशिया माइनर एवं ईजियन द्वीप समूह में एथेंस की तूती बोलने लगी। उसकी आर्थिक समृद्धि एवं राजनैतिक प्रतिष्ठा में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। उसका नेतृत्व संघ के राज्यों में सर्वमान्य था। इन कारणों से इस संघ के प्रति एथेंस के नेताओं के मन में स्वाभाविक मोह उत्पन्न हो गया। फारसी आक्रमणों का भय समाप्त होने के बाद भी वे इस संघ को समाप्त नहीं करना चाहते थे। संघ की समाप्ति से एथेंस की महत्ता की भी समाप्ति हो जाती थी। इसी कारण वहाँ के नेताओं ने इस संघ के विघटन का विकल्प छोड़ दिया तथा इस संघ को क्रमशः अपने साम्राज्य में परिवर्तित करने का कदम उठाया।

एथेंस का साम्राज्यवाद एवं यूनान की आंतरिक राजनीति

साइमन के नेतृत्व में एथेंस का साम्राज्यवाद विकसित हुआ। डेलौस के संघ के उद्देश्यों को पूरा करते हुए, साइमन ने नए उपनिवेशों की स्थापना भी की। उसके

द्वारा स्थापित थे उपनिवेश दो सौ वर्ष पूर्व स्थापित उपनिवेशों से भिन्न थे। जहाँ प्राचीन उपनिवेशों का संबंध मातृभूमि के साथ विशेषतः सांस्कृतिक था, पर राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र होते थे, वहीं ये नए उपनिवेश राजनैतिक दृष्टि से पूर्णतया एथेंस के अंग थे। इन नए उपनिवेशों के नागरिक एथेंस के नागरिक बने रहते थे तथा उन्हें क्लेरुच (Cleruch) कहा जाता था। इन नए उपनिवेशों को क्लेरुची कहा जाता था। एथेंस के नागरिकों को यहाँ खेती के लिए जमीन दी जाती थी। ये नए ढंग के उपनिवेश एथेंस के साम्राज्यवाद के अंग थे। वस्तुतः इन नए उपनिवेशों में एथेंस की साम्राज्यवादी नीति की रक्षा के लिए एथेंस के सैनिक क्लेरुच के रूप में बसाए जाते थे।

साइमन ने ४६६ ई०-पू० में, इस नई उपनिवेशवादी नीति को कार्यान्वित करने के लिए ईआन के पास ईनिया होडोई (Ennea Hodoi) अर्थात् 'नव-रास्ते' नामक स्थान पर दस हजार एथेंस के नागरिकों को बसाने का अभियान प्रारंभ किया। पर, थ्रैस प्रदेश के निवासियों के विरोध के कारण इन उपनिवेशवादियों को थ्रैस से युद्ध करना पड़ा, जिसमें थ्रेस विजयी रहा। विवश होकर यह प्रयास छोड़ना पड़ा। पर पुनः ४३७ ई०-पू० में, यहाँ एथेंस का उपनिवेश बसाने का प्रयत्न किया गया, जो सफल रहा। इस उपनिवेश का नाम ऐम्फीपोलिस (Amphipolis) पड़ा, जो एथेंस के साम्राज्य का मुख्य केंद्र बन गया।

डेलौस के संघ के द्वारा जब एथेंस का साम्राज्यवाद साइमन के नेतृत्व में पल्लवित एवं पुष्पित हो रहा था, उसी समय स्पार्टा का राज्य आंतरिक समस्याओं से अशांत था। फारसी आक्रमणों के योद्धा पौसेनियस का आचरण स्पार्टा की शांति एवं सुरक्षा के लिए चिंता का कारण बनता जा रहा था। ४७६ ई०-पू० में साइमन द्वारा बाइजैन्टियम से निकाले जाने के बाद उसने एशिया माइनर में स्थित ट्रोड नामक फारसी साम्राज्य के अंतर्गत स्थित नगर में शरण ली थी। यहाँ वह फारसी गवर्नर से मिलकर पूरे यूनान का राजा बनने का षड्यंत्र करने लगा। स्पार्टा के शासकों ने उसे बुला कर कैद कर लिया। अंत में, उसे बिना मुकदमा चलाए ही छोड़ दिया गया था। छूटने के बाद उसने स्पार्टा के असंतुष्ट हेलाट वर्ग से विद्रोह कराने की योजना बनायी। उसके इस षड्यंत्र की सूचना स्पार्टा के शासक एफर लोगों को मिल गई। दंडित होने के डर से पौसेनियस ने एक मंदिर में शरण ली। इस मंदिर को चारों ओर से ईंट की ऊँची दीवारों से घेर दिया गया तथा वहीं उसे भूखों मार डाला गया। इस योद्धा का यह दुखद अंत ४७२ ई०-पू० में हुआ।

पौसेनियस की मृत्यु का प्रभाव एथेंस की राजनीति पर भी पड़ा। थेमिस्टोक्लीज इससे खास कर प्रभावित हुआ। वह बहुत दिनों से एथेंस के राजनैतिक जीवन में शक्तिहीन हो गया था तथा पौसेनियस की मृत्यु से थोड़े दिन पहले उसे निर्वासित

किया जा चुका था। वह आर्गोस में रहने लगा था तथा पौसेनियस के षड्यंत्रों में सम्मिलित था। पौसेनियस की मृत्यु के पश्चात् स्पार्टा के एफर लोगों ने थेमिस्टोक्लीज के अपराधों की घोषणा की तथा यह माँग की कि ऐथेंस का गणतंत्र उन अपराधों की जाँच कर उसे दंडित करे। एथेंस के नेताओं ने यह माँग स्वीकार कर ली। थेमिस्टोक्लीज को जब इस योजना का समाचार मिला, तब वह छिप कर कई देशों से होता हुआ एशिया माइनर भाग गया। वहाँ वह फारसी सम्राट् का आश्रित बन गया। पर, फारसी सम्राट ने उसके गुणों से प्रभावित होकर उसे मैग्नेशिया सहित तीन नगरों का शासक नियुक्त किया। मैग्नेशिया में ही ४६३ ई०-पू० के लगभग उसकी मृत्यु हो गई। मैग्नेशिया के लोगों ने उसकी मृत्यु के पश्चात उसके सम्मान में नगर के बीच उसकी मूर्ति भी स्थापित की। प्रतिभा एवं बुद्धिमत्ता की दृष्टि से वह प्राचीन यूनान के महान नेताओं में एक था। उसने अत्यंत संकट की घड़ी में एथेंस तथा पूरे यूनान की रक्षा की थी, पर चूँकि वह उच्चकुल में नहीं पैदा हुआ था, इस कारण एथेंसवासियों ने उसकी योग्यता एवं प्रतिभा के अनुरूप उसे सम्मान नहीं दिया, बल्कि बाद में उसका अपमान किया गया, जिससे उसे फारसी साम्राज्य में शरण लेनी पड़ी। पर, वहाँ शरण लेने में उसका उद्देश्य व्यक्तिगत सुरक्षा था। यह मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता कि वह फारसी सम्राट से मिल कर यूनान की स्वतंत्रता का अपहरण करना चाहता था। अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा की दृष्टि से उसे फारसी सम्राट की योजनाओं में सम्मिलित रहना तथा हाँ में हाँ मिलाना पड़ता था, पर वह हृदय से उन योजनाओं की सफलता संभवतः नहीं चाहता था।

स्पार्टा की आंतरिक उथल-पुथल का प्रभाव साइमन के जीवन पर भी पड़ा। थ्रेस प्रदेश में एथेंस के उपनिवेशवाद की योजना असफल होने के समय से ही उसके विरुद्ध एक गणतांत्रिक दल लोकमत तैयार करने लगा था। इस लोकतांत्रिक दल का नेता एफियाल्टीज (Aphialtes) नामक व्यक्ति था, जो थेमिस्टोक्लीज के निर्वासन के बाद एथेंस के राजनैतिक जीवन का प्रमुख नेता बन चुका था। इस दल ने साइमन पर थेसोस प्रदेश से घूस लेने का दोषारोपण किया। साइमन पर मुकदमा चलाया गया, पर उसे दोषमुक्त करार दिया गया। उस पर मुकदमा चलाया जाना इस बात का सबूत था कि एथेंस में एफियाल्टीज तथा पेरिक्लीज (Pericles) की अध्यक्षता में एक नए नेतृत्व का उदय हो रहा था। आंतरिक क्षेत्रों में युवक नेताओं का यह नया वर्ग उच्च कुल के लोगों की शक्ति समाप्त करना चाहता था तथा वैदेशिक नीति में उग्र साम्राज्यवाद का पोषक था।

स्पार्टा में एक वर्ष बाद एक भयानक भूकंप आया। इस भूकंप से उत्पन्न विपत्ति एवं अव्यवस्था का फायदा उठा कर स्पार्टा के हेलाट लोगों ने विद्रोह कर

दिया। इस विद्रोह को अकेले दबाने में अपने-आप को असमर्थ पा कर ४६३ ई०-पू० में स्पार्टा ने एथेंस से सैनिक सहायता माँगी। साइमन स्पार्टा को सहायता देने के पक्ष में था, पर एफियाल्टीज का दल सहायता भेजे जाने के विरुद्ध था। अंत में एथेंस की सभा ने साइमन की बात मान ली तथा साइमन चार-हजार सैनिकों के साथ स्पार्टा पहुँचा। पर, कुछ दिनों के बाद जब विद्रोह को दबाया नहीं जा सका, तब स्पार्टावालों ने साइमन और उसकी सेना पर संदेह करना शुरू किया तथा उन्हें तुरत स्पार्टा से चले जाने को कहा। इस अपमान से एथेंसवासियों में रोष छा गया। उन लोगों ने साइमन की गलत नीति को इस अपमान का मूल कारण बताया और ४६१ ई०-पू० में उसे निर्वासित कर दिया गया।

साइमन के निर्वासन के बाद लोकतांत्रिक दल के नेता एफियाल्टीज का प्रभाव बढ़ा। पर शीघ्र ही, अज्ञात शत्रुओं द्वारा उसकी हत्या कर दी गई तथा एथेंस के लोकतांत्रिक दल का नेतृत्व पेरिक्लीज नामक एक युवा नेता के हाथों में आ गया।

पेरिक्लीज का युग तथा एथेंस का स्वर्णकाल

(४४३ ई०-पू०—४२९ ई०-पू० तक)

पेरिक्लीज का युग एथेंस तथा यूनान के इतिहास में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस युग में एथेंस गणतंत्र का सर्वांगीण विकास हुआ। कला, साहित्य एवं दर्शन के क्षेत्र में इस युग की देन अमर है। इसी युग में एथेंस का गणतांत्रिक संविधान, जिसे सोलन तथा क्लैस्थिनीज ने जन्म दिया था, पूर्णता को प्राप्त हुआ और एथेंस में एक सफल गणतांत्रिक शासन का विकास हुआ। इस युग में एथेंस समस्त यूनान का बौद्धिक केंद्र बन गया, जहाँ लोग शिक्षा प्राप्त करने आते थे। भव्य-भवनों एवं कलात्मक वस्तुओं से एथेंस का सौंदर्य सौ गुना बढ़ गया। सौंदर्य एवं सजावट के कारण एथेंस नगरी समस्त ग्रीस की रानी प्रतीत होती थी। एथेंसवासी स्वतंत्र एवं उन्मुक्त जीवन बिताते थे। इन्हीं कारणों से इस युग को स्वर्णयुग की संज्ञा दी गई है। अब हम एक-एक कर उन सभी विषयों पर विचार करें, जिनके कारण यह युग अत्यंत गौरवपूर्ण युग माना जाता है।

एथेंस के गणतांत्रिक संविधान का पूर्ण होना

(एथेंस गणतंत्र का चरम विकास)

पेरिक्लीज का व्यक्तित्व

पेरिक्लीज का जन्म ४९३ ई०-पू० में एक कुलीन वंश में हुआ था। इसके पिता का नाम जैन्थिप्पस था तथा इसकी माँ क्लैस्थिनीज की भतीजी थी। पेरिक्लीज युवावस्था में ही एथेंस की राजनीति में प्रसिद्ध हो गया था। पेरिक्लीज को अच्छी

सैनिक शिक्षा मिली थी। इसके अतिरिक्त, उसे बौद्धिक शिक्षा, उस युग के दो महान विचारकों द्वारा मिली थी। प्रथम शिक्षक का नाम डेमन था, जो संगीतशास्त्र का विद्वान था तथा दूसरा शिक्षक एक महान दार्शनिक था, जिसका नाम एनेक्सागोरस था। एनेक्सागोरस के संपर्क में आने से पेरिक्लीज का मस्तिष्क अत्यंत प्रगतिशील हो गया तथा वह तत्कालीन रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से मुक्त था। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त गंभीर था, जो उसकी सफलता का महान कारण था। उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वह जिन गुणों से विभूषित था, वे गुण एक साथ विश्व के इतिहास में कम नेताओं तथा राजनीतिज्ञों में मिलते हैं। वह एक कुशल शासक था, जो अर्थनीति का पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान रखता था। उसने तत्कालीन दर्शन एवं विज्ञान का गंभीर अनुशीलन किया था तथा कला का वास्तविक प्रेमी था। वह विद्याप्रेमी था और उसके व्यसन बौद्धिक थे। उसके मित्र और साथी उस युग के महान चिंतक थे। उसके व्यक्तित्व का सबसे मोहक अंग था—उसकी अद्वितीय वक्तृत्वकला। वह अपनी वाणी के अपूर्व प्रभाव से जनता को मंत्रमुग्ध कर देता था। उसका गंभीर तथा भव्य मुखमंडल उससे धाराप्रवाह भाषण के साथ मिलकर जनता पर अपूर्व प्रभाव डालता था। वह जनता को कभी-कभी ही दर्शन देता था तथा वह भी मंच पर ही। वह ऊँचे मंच से एकत्र जनता की भीड़ को आदर्शवाद की भाषा में अपना संदेश देता था। उसके भाषण के कुछ अंश थ्युसिडाइडीज द्वारा लिखित इतिहास में संचित हैं। इन गुणों ने उसके व्यक्तित्व को एक अपूर्व दीप्ति से मंडित कर दिया था, जिसके कारण उसकी लोकप्रियता में चार चाँद लग गए थे। उसने ३० वर्षों तक एथेंस की राजनीति का संचालन किया। वह प्रारंभ में १० सेनापतियों में एक चुना गया था तथा उसके बाद वह लगातार १५ वर्षों तक सेनापति चुना गया, जो एथेंस के इतिहास की एक अपूर्व घटना थी। उसके पहले या बाद का कोई भी नेता इतना लोकप्रिय नहीं हुआ, जो पंद्रह बार जेनरल चुना जा सके। इन पंद्रह वर्षों में वह वस्तुतः जनता का हृदय-सम्राट तथा बेताज का बादशाह था। इन्हीं १५ वर्षों में उसने उन कार्यों को संपन्न किया, जिनके कारण वह विश्व-इतिहास में अमर हो गया। अपनी मृत्यु तक एथेंस गणतंत्र की वास्तविक कार्यपालिका शक्ति उसी के हाथ में केंद्रित रही। उसका देहांत ४२९ ई०-पू० में हुआ।

पेरिक्लीज के सांविधानिक सुधार

कहा जा चुका है कि पेरिक्लीज के शासनकाल में एथेंस का गणतांत्रिक संविधान पूर्णता को प्राप्त हुआ। सोलन तथा क्लैस्थिनीज ने जिस प्रक्रिया को प्रारंभ किया था, उसकी चरम परिणति पेरिक्लीज द्वारा हुई। जनता के हाथ में राज्य की प्रभुसत्ता देने का कार्य सोलन ने प्रारंभ किया था और क्लैस्थिनीज ने उसे आगे बढ़ाया। पेरिक्लीज ने जनता को पूर्णरूपेण प्रभुसत्तासंपन्न बना कर उस कार्य को

पूरा किया। वह जनता का सच्चा प्रेमी एवं हितैषी था। अतः उसने कुलीनों की रही-सही शक्ति को भी नष्ट कर दिया और जनता को शक्तिसंपन्न बनाया।

एरियोपैगस का सुधार

ऐरियोपैगस के अधिकारों का छीना जाना

ऐरियोपैगस नामक काउंसिल एथेंस के संविधान में सबसे दकियानूसी तथा प्रतिक्रियावादी संस्था थी, जो जनता की प्रगति में बाधक थी। उसके सदस्य वे आर्कन होते थे, जो राज्य में सबसे धनी वर्ग के सदस्य होते थे। यह संस्था गणतंत्र के विकास में प्रधान रोड़ा थी। अतः पेरिक्लीज ने स्पष्ट रूप से देखा कि जनता को पूर्ण रूप से प्रभुसत्तासंपन्न बनाने के लिए आवश्यक है कि इस संस्था का सुधार किया जाए या अंत किया जाए। उसे इस संस्था से विशेष घृणा थी। अतः, उसने कई ऐसे कानून पास कराए, जिससे इस संस्था की शक्ति बहुत कम हो गई। इसके सभी राजनैतिक अधिकार छीन लिए गए। इस सभा को यह अधिकार प्राप्त था कि राज्य के उच्च पदस्थ अधिकारियों को कानून का उल्लंघन करने पर दंड दे। इस सभा को यह भी अधिकार था कि वह शासन का निरीक्षण करे तथा यह देखे कि कानूनों का पालन होता है या नहीं। ये सारे अधिकार पेरिक्लीज ने एरियोपैगस से छीन कर लोक-सभा या आम जनता की सभा को प्रदान कर दिए। दूसरे शब्दों में, कुलीनों तथा धनियों से अधिकार छीन कर जनता को दे दिए गए। एरियोपैगस कभी-कभी नागरिकों के व्यक्तिगत जीवन की भी छानबीन करती थी। इसका यह अधिकार भी छीन लिया गया। अब इस संस्था के हाथ में केवल कुछ धार्मिक तथा न्याय-संबंधी अधिकार रह गए। इस सभा को हत्या-संबंधी मुकदमों के निर्णय करने का अधिकार रह गया तथा एथेना देवी के जैतून-वृक्षों और कुछ देव-मंदिरों की संपत्ति की देखभाल करना भी इसी संस्था के हाथ में रहा। अब तक बड़े अफसरों पर महाभियोग (Impeachment) एरियोपैगस में ही चलाए जाते थे; पर अब पेरिक्लीज के सुधारों के अनुसार एसेंबली में चलाए जाने लगे। अतः अब उन अफसरों पर, जो संतोषजनक ढंग से शासन नहीं करते थे, मुकदमा चलाने का अधिकार जनता के हाथों में आया। इस प्रकार एरियोपैगस की शक्ति को भंग कर, पेरिक्लीज ने एथेंस के गणतांत्रिक विकास को पूर्ण किया। गणतंत्र के विकास में यह अंतिम रुकावट थी, जिसे पेरिक्लीज ने दूर कर दिया। शासन में कुलीनों एवं धनियों का कोई हाथ नहीं रह गया तथा जनता पूर्णरूप से प्रभुसत्तासंपन्न हो उठी। इस सुधार से पेरिक्लीज ने एथेंस के संविधान में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया तथा विशेषतः इस सुधार से वह विश्व-इतिहास में अमर हो गया।

आर्कनों को वेतन—एरियोपैगस की शक्ति छीनने के बाद पेरिक्लीज ने गणतांत्रिक विकास की दिशा में दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। अभी तक, आर्कनों

को वेतन नहीं मिलता था। इस कारण यह कानून था कि आर्कन के पद पर समाज के दो उच्च तथा धनी वर्गों के ही सदस्य चुने जा सकते हैं; क्योंकि गरीब जनता बिना वेतन के काम करने में असमर्थ थी। पेरिक्लीज ने कानून में सुधार कर आर्कनों को वेतन देना प्रारंभ किया। इस सुधार से इस पद पर नियुक्ति का द्वार गरीब जनता के लिए भी खुल गया तथा धनी वर्ग का इस पद पर एकाधिकार समाप्त हो गया।

लौट की प्रथा द्वारा निर्वाचन—अभी तक निर्वाचन तथा लौट, दोनों के आधार पर अफसरों की नियुक्ति होती थी। पेरीक्लीज ने ५०० की काउंसिल के सदस्यों तथा आर्कनों की नियुक्ति के लिए निर्वाचन की प्रथा को समाप्त कर केवल लौट के आधार पर ही नियुक्ति को निश्चित किया। इससे कोई भी नागरिक किसी भी पद पर चुना जा सकता था। इस सुधार से गरीब नागरिक भी ऊँचे पद पर पहुँच सकता था। अतः अब इन अफसरों को वेतन देना आवश्यक हो गया, क्योंकि बिना वेतन के गरीब अफसर सुचारु रूप से शासन नहीं कर सकते थे। पेरिक्लीज ने आर्कनों तथा ५०० काउंसिल के सदस्यों के लिए वेतन की प्रथा चालू की। यह भी उसका प्रधान सुधार था, जिसके कारण एथेंस में गणतंत्र का पूर्ण विकास हुआ।

जजों का वेतन—तत्पश्चात् पेरिक्लीज ने सार्वजनिक न्यायालयों के जजों को भी वेतन देना प्रारंभ किया। इस सुधार से वह जनता में अत्यंत लोकप्रिय हो गया। इन जजों का चुनाव भी लौट के सहारे होता था। जो नागरिक जजों का काम करना चाहता था, वह अपना नाम एक सूची में लिख देता था तथा इसी सूची में से जजों का चुनाव लौट की प्रथा द्वारा होता था! दूसरे शब्दों में, इसी सूची में से संयोग से कोई भी नागरिक जज बन सकता था। नागरिकों को जज बनने में बड़ा आनंद मिलता था। वे विभिन्न मुकदमों की कहानी बैठ कर सुनते थे तथा इसके लिए पैसा भी पाते थे। अतः, इस सुधार ने पेरिक्लीज को जनता में अत्यधिक लोकप्रिय बना दिया।

नागरिकता के कानून में सुधार—एथेंस की नागरिकता अब एक वांछनीय वस्तु बन गई थी। वहाँ का नागरिक होने का अर्थ था—बहुत-से अधिकारों का उपभोग। इस कारण पेरिक्लीज ने नागरिक-कानूनों में सुधार करना आवश्यक समझा। अब प्रत्येक दस वर्षों पर नागरिकों की सूची में आवृत्ति की जाने लगी और यह कानून बना दिया गया कि वह व्यक्ति, जिसके माता एवं पिता दोनों ही एथेंस के नागरिक न रहे हों तथा उनकी शादी कानूनी ढंग से न हुई हो, तो एथेंस का नागरिक नहीं माना जाएगा।

इसके अतिरिक्त, पेरिक्लीज के युग में एथेंस गणतंत्र की एक और विशेषता थी। ऐसे सार्वजनिक कार्य, जिनमें पैसे खर्च होने की संभावना थी, धनी नागरिकों

को दे दिए जाते थे। गरीब नागरिकों को सार्वजनिक कार्यों में पैसे खर्च करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता था।

सुधारों का महत्त्व

इस प्रकार, इन सुधारों के द्वारा पेरिक्लीज ने एथेंस के गणतांत्रिक संविधान को पूर्ण किया। सोलन एवं क्लैस्थिनीज ने एथेंस में गणतंत्र की नींव डाली थी, पेरिक्लीज ने उसी आधार पर भव्य भवन का निर्माण किया। पेरिक्लीज के युग में, जनता के हाथों में पूर्णरूपेण शासन का अधिकार आ गया। उसके नेतृत्व में, गणतंत्र के विकास में जो बाधाएँ थीं, वे दूर की गईं तथा एथेंस एक पूर्ण गणतंत्र बन गया। पर, यह स्मरण रखना होगा कि एथेंस का गणतंत्र आज के गणतंत्रों से भिन्न था। वर्तमान गणतांत्रिक आदर्शों के अनुरूप प्रत्येक नागरिक को वोट का अधिकार प्राप्त है। पर, एथेंस में गुलामों को किसी भी प्रकार का अधिकार नहीं था। वे नागरिक नहीं माने जाते थे। एथेंस गणतंत्र की सुविधा का उपभोग करने वाले नागरिक बहुत थोड़े थे तथा बहुत बड़ी संख्या में ऐसे गुलाम थे, जिनका काम नागरिकों की सेवा करना था और उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं था।

पेरिक्लीज का साम्राज्यवाद

पेरिक्लीज के एथेंस गणतंत्र का नेता होने के पहले ही एथेंस के साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी। हम देख चुके हैं कि फारसी युद्धों के समय एथेंस ने शत्रु का सामना करने में यूनानी जगत का नेतृत्व किया था। एथेंस के पास एक शक्तिशाली नौ-सेना थी, जिसके बल पर उसने फारस वालों को हराया था। इस नेतृत्व से एथेंस को काफी लाभ हुआ। फारस पर विजय प्राप्त करने से उनकी प्रतिष्ठा में चार चांद लग गए तथा बहुत से छोटे राज्यों एवं ईजियन और भू-मध्य सागर में स्थित द्वीप उसे अपना नेता मानने लगे। भविष्य में फारस के आक्रमण का सामना करने के लिए एक सामुद्रिक संघ बनाया गया। इसे 'डेलौस का संघ' कहा गया। इसके सदस्य संघ की नौ-सेना को प्रतिवर्ष एक या दो जहाज देते थे। जो सदस्य जहाज नहीं दे सकते थे, वे रुपया ही देते थे। एथेंस इस संघ का प्रधान था। धीरे-धीरे, एथेंस ने इस संघ को अपने साम्राज्य में परिणत कर लिया। इस नौ-सैनिक संघ को नौ-सैनिक साम्राज्य में परिणत करने में उसे कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। अपने प्रभाव के बल ही उसने संघ के सदस्यों को अधीनस्थ बना दिया तथा वार्षिक चंदे के रूप में वसूल करना प्रारंभ किया। पेरिक्लीज के समय तक यह संघ पूर्णरूपेण साम्राज्य के रूप में परिणत हो चुका था। वह स्वयं एक साम्राज्यवादी था और एथेंस को किसी सूरत से महान एवं शक्तिशाली बनाना चाहता था। इसलिए उसने विरोध के बावजूद एथेंस के साम्राज्य को कायम रखा तथा उसको बढ़ाया भी। वहाँ

उसके विरुद्ध एक कुलीनों का दल था, जो उसकी साम्राज्यवादी नीति का सदैव विरोध करता था। यह दल चाहता था कि संघ के सदस्यों को स्वतंत्र कर दिया जाए। पर, पेरिक्लीज ने अधीनस्थ देशों पर अपना अधिकार अच्छी तरह जमाए रखा। इसके अतिरिक्त, उसने नए-नए उपनिवेशों की स्थापना की और वहाँ एथेंस के नागरिकों को बसाया।

पेरिक्लीज की इस साम्राज्यवादी नीति से एथेंस का भौतिक ऐश्वर्य बढ़ गया। नए उपनिवेशों में व्यापार का विस्तार हुआ। साम्राज्य-विस्तार से एथेंस के अधिकांश नागरिकों के हृदय में नए गौरव का उदय हुआ। वे अपने राज्य की गरिमा एवं प्रतिष्ठा की वृद्धि से प्रसन्न हुए। यह पेरिक्लीज की नीति की सफलता थी।

एथेंस का सर्वांगीण विकास

पेरिक्लीज का युग विश्व के इतिहास में एथेंस के सांस्कृतिक वैभव एवं विकास के लिए अधिक प्रसिद्ध है। पेरिक्लीज के कुशल नेतृत्व में नागरिकों ने गणतांत्रिक जीवन बिताते हुए एथेंस के सांस्कृतिक विकास से लाभ उठाया। इस युग में साहित्य, दर्शन, विज्ञान एवं कला की उन्नति पराकाष्ठा पर पहुँच गई। सभी को स्वतंत्र, सुरुचिपूर्ण एवं सुन्दर जीवन की सुविधा प्राप्त थी। इसी कारण, इस युग को यूनान का स्वर्ण युग कहते हैं। अब हम विचार करें कि किन कारणों से इस युग को यह संज्ञा प्राप्त हुई।

पेरिक्लीज के आदर्श

पेरिक्लीज ने अपने कुशल नेतृत्व एवं भव्य कल्पना के द्वारा इस युग को समृद्ध किया। वह एक साम्राज्यवादी था, पर उसके साम्राज्यवाद के आदर्श अत्यंत उच्च थे। वह एथेंस नगरी को पूरे यूनान की रानी बनाना तथा एथेंस के साम्राज्य को चतुर्दिक विस्तृत करना चाहता था। वह चाहता था कि समस्त ग्रीस एथेंस का नेतृत्व मान ले। इन आदर्शों के अतिरिक्त, उसके समक्ष सबसे महान उद्देश्य था, एथेंस को सांस्कृतिक दृष्टि से सबसे समृद्ध राज्य बनाना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने कुछ भी उठा नहीं रखा। इस दिशा में उसे सफलता भी मिली। इन्हीं प्रयत्नों एवं सफलताओं के कारण वह विश्व-इतिहास में अधिक प्रसिद्ध है।

एथेंस नगर की सौंदर्यवृद्धि

एथेंस के साम्राज्य से जो कर आता था, पेरिक्लीज ने उस धन का उपयोग एथेंस की सजावट में किया। उसका कहना था कि एथेंस की सजावट अधीनस्थ राज्यों के ही लिए नहीं, वरन् समस्त ग्रीस के लिए हितकर है। अधीनस्थ राज्यों से मिलने वाले कर का सदुपयोग एथेंस की सजावट में होना चाहिए, ताकि उन राज्यों के नागरिक एथेंस आकर एक सुंदर जीवन का आनंद उठा सकें। इसके लिए

आवश्यक है कि वहाँ सुंदर मंदिरों एवं भव्य भवनों का निर्माण हो। सड़कें सुंदर हों। वहाँ नाट्यशालाएँ हों तथा सुंदर त्योहारों का प्रबंध हो। इनके साथ ही, एथेंस कला एवं साहित्य का केंद्र हो, जिसमें समस्त ग्रीस के नागरिक वहाँ शिक्षा प्राप्त करने आ सकें। इन आदर्शों के लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहा।

सुंदर मंदिरों एवं भवनों का निर्माण

एथेंस की सौंदर्य वृद्धि के लिए पेरिक्लीज ने सुंदर भवनों का निर्माण कराया। सर्वप्रथम उसने उन मंदिरों का पुनरुद्धार कराया, जो ईरानी आक्रमण के समय शत्रुओं द्वारा तोड़ दिए गए थे। उसने नागरिकों को समझाया कि उन मंदिरों का पुनर्निमाण उनका पुनीत कर्त्तव्य है, क्योंकि वे मंदिर बर्बर शत्रुओं द्वारा तोड़े गए थे। उन बर्बर जातियों पर उन्हीं देवताओं की कृपा से विजय प्राप्त हुई थी, अतः देवताओं को प्रसन्न करना धार्मिक कर्त्तव्य है। उसने बहुत बड़े पैमाने पर निर्माण-कार्य शुरू किया।

पार्थेनन का निर्माण

पेरिक्लीज द्वारा निर्मित मंदिरों में सबसे सुंदर एवं प्रसिद्ध मंदिर पार्थेनन था। यह एथेंस की देवी एथेना का मंदिर था, जो एक्रोपोलिस (Acropolis) नामक स्थान पर बनाया गया। इस मंदिर के निर्माण की योजना इक्टिनस नामक स्थापत्य-विशेषज्ञ द्वारा की गई थी। यह मंदिर डोरियन शैली का उत्कृष्ट नमूना है और यह पत्थर का बनाया गया था। डोरियन शैली में सुन्दर एवं मजबूत खम्भों के आधार पर भवन खड़ा रहता था। इस मंदिर में ४६ खंभे थे। खंभों की ऊँचाई ३४ फुट थी। इन खंभों की चौड़ाई ऊपर कम होती जाती थी। पार्थेनन ४३२ ई०-पू० में बन कर तैयार हो गया। यह पेरिक्लीज के युग की अनुपम कृति था।

एथेना की मूर्त्ति

इस मंदिर में एथेना देवी की एक अत्यन्त सुन्दर एवं विशाल मूर्ति बना कर रखी गई। यह मूर्ति काँसे की बनी थी। इस सुन्दर एवं विशाल मूर्ति का निर्माता फीडियस (Phidias) नामक उस युग का प्रसिद्ध मूर्तिकार था। एथेना देवी की मूर्ति मंदिर के बीच में मुस्कराती मुद्रा में तथा सुनहले वस्त्रों से सजा कर रखी हुई थी। देवी के सिर पर शिरस्त्राण था।

पार्थेनन की दीवारों पर सुन्दर चित्र भी बनाए गए। पार्थेनन के अतिरिक्त पेरिक्लीज ने अन्य टूटे हुए मंदिरों का भी पुनरुद्धार कराया। इन निर्माण-कार्यों के कारण उसकी लोकप्रियता अत्यन्त बढ़ गई थी। एथेंस के नागरिकों को इन कार्यों से लाभ हुआ। अब कोई भी बेकार नहीं था। पेरिक्लीज ने एथेंस के बन्दरगाह पेरूज

को भी और मजबूत बनाया तथा नौसेना की शक्ति के विकास के लिए कुछ जहाजों को बराबर समुद्र में तैयार रहने का आदेश दिया।

सुंदर त्योहारों एवं नाटकों का प्रबंध

एथेंस नगर के सांस्कृतिक जीवन को आकर्षक बनाने के लिए पेरिक्लीज ने त्योहारों को और आकर्षक एवं सुन्दर बनाया।

नागरिकों के मनोरंजन के लिए साल भर जुलूस, प्रतियोगिताएँ, नाटक तथा अन्य समारोह होते रहते थे। नाटक देखने के लिए पेरिक्लीज ने विशेष रूप से प्रबंध किया। प्रत्येक नागरिक को राज्य की ओर से एक निश्चित रकम मिलती थी, जिससे वह नाट्यशाला का शुल्क दे सके। उसने नागरिकों को सुरुचिपूर्ण जीवन बिताने की प्रत्येक सुविधा दी। उसके इन कार्यों के लिए कुलीन नेताओं द्वारा उसका विरोध किया गया। उनका कहना था कि अधीनस्थ राज्यों का पैसा एथेंस की सजावट में व्यर्थ नष्ट किया जा रहा है। पर, जनता में पेरिक्लीज इतना लोकप्रिय हो गया था कि उसके विरोधियों का ही पतन हो गया। विरोधियों के नेता थ्युसिडाइडीज को तो देश से बहिष्कृत कर दिया गया।

साहित्य

पेरिक्लीज के युग में साहित्य का भी चरम विकास हुआ। इस युग में अत्यंत प्रसिद्ध कवि, नाटककार तथा लेखक हुए, जिनकी रचनाएँ आज भी आदर्श मानी जाती हैं।

कविता

पेरिक्लीज के युग का सबसे प्रसिद्ध कवि पिण्डार था। यह गीतिकाव्य का कुशल रचयिता और स्वयं एक प्रसिद्ध गायक था। लोगों का ऐसा विश्वास था कि उस पर अपोलो देवता की विशेष कृपादृष्टि थी। अपोलो संगीत का देवता था। पिण्डार का जीवनकाल ५२२ ई०-पू० से ४४८ ई-पू० था। इसकी रचनाओं के अंश मात्र पाए जाते हैं।

नाटक

पेरिक्लीज के युग में अत्यन्त उच्चकोटि के दुःखांत एवं सुखांत नाटक लिखे गए। इन नाटकों के कारण उसका युग अत्यंत प्रसिद्ध है।

दुःखांत नाटकों के क्षेत्र में सबसे प्रसिद्ध नैतिकतावादी नाटककार ईशेलस (Aeschylus) हुआ। इनका जीवनकाल ५२५ ई०-पू० से ४५६ ई०-पू० था। उसने विशेषतः धार्मिक एवं पौराणिक विषयों पर रचनाएँ कीं। उसकी रचनाओं में हम देवताओं के न्याय में उसका अखंड विश्वास पाते हैं।

युरिपाइडीज (Euripides) (४८० ई०-पू०—४०६ ई०-पू०)

यह उस युग का दूसरा प्रसिद्ध दुःखांत नाटककार था। इसके नाटकों में मानव-जीवन का स्वाभाविक चित्रण हुआ। इसने देवताओं को छोड़ कर मानवीय भावनाओं एवं प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान दिया। इसको दलितों एवं पीड़ितों से गहरी सहानुभूति थी और इसने अपने नाटकों में इस सहानुभूति को व्यक्त किया। अपने नाटकों में इसने एथेंस की साम्राज्यवादी नीति की भी आलोचना की। इसका सबसे प्रसिद्ध नाटक 'ट्रोजन नारियाँ' (The Trojan Women) है, जिसमें ट्राय की नारियों के युद्धकालीन कष्ट का वर्णन है। इसका दूसरा प्रसिद्ध नाटक 'मीडिया' (Medea) है।

सोफोक्लीज (Sophocles) (४९६ ई०-पू०—४०६ ई०-पू०)

यह भी उस युग का अत्यन्त प्रसिद्ध दुःखांत नाटककार एवं कवि था। इसने अपनी कविताओं में निराशावाद एवं दुःखवाद का अत्यन्त कोमल चित्रण किया। इसके समय में ग्रीक नाटक का चरम उत्कर्ष हुआ। इसने लगभग १०० नाटकों की रचना की, जिनमें आज ७ ही पाए जाते हैं। इसके प्रसिद्ध नाटक हैं—'एण्टीगोन' (Antigone) तथा 'एलेक्ट्रा' (Electra)। यह एक आदर्शवादी नाटककार था।

सुखांत नाटक

एरिस्टोफेनीज (Aristophanes) (४४८ ई०-पू०—३८५ ई०-पू०)

इसने कई हास्य-रस के नाटक लिखे, जिनमें तत्कालीन नेताओं पर तीखे व्यंग्य किए। इसके राजनैतिक व्यंग्य इतने लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध हो गए कि बाद में जाकर व्यंग्यात्मक नाटक लिखने वालों को राजनैतिक विषयों पर आलोचना करने की मनाही हो गई। इसके लिखे प्रसिद्ध नाटकों के नाम हैं—(१) 'नाईट्स' (Knights), (२) 'वास्प्स' (Wasps), (३) 'बर्ड्स' (Birds) तथा (४) 'पार्लियामेंट ऑफ विमेन' (The Parliament of Women); जिसमें इसने स्त्रियों को दिए गए अधिकारों का मजाक उड़ाया।

इतिहास

इस युग में दो प्रसिद्ध इतिहासकार भी हुए, जिनमें पहले का नाम है, हेरोडोटस (Herodotus) (४८४ ई०-पू०—४२५ ई०-पू०)। यह विश्व का प्रथम इतिहासकार माना जाता है, जिसने इतिहास लिखने की कला को जन्म दिया। इसी कारण इसे 'इतिहास का पिता' कहा जाता है। हम देख चुके हैं कि इसने यूनान पर फारस के आक्रमण का इतिहास लिखा। इसके वर्णन कहीं-कहीं भावुकता से भरे हुए हैं। इससे इसकी वर्णन-शैली को विशुद्ध इतिहास की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इसकी पुस्तक में घटनाओं के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक जीवन की झाँकी मिलती है।

थ्युसीडाइडीज (Thucydides) (४६० ई०-पू०—४०० ई०-पू०)

यह दूसरा प्रसिद्ध इतिहासकार हुआ, जिसने पेलोपोनिशियन युद्ध का इतिहास लिखा। इसने यह इतिहास पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से लिखा। अत: इस कारण इस इतिहास को विशुद्ध इतिहास की श्रेणी में रखा जाता है। यह विश्व में वैज्ञानिक इतिहास लिखने का जन्मदाता माना जाता है। इसने एथेंस साम्राज्य के पतन का इतिहास बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया। इसने जो कुछ लिखा, वह पूरी छानवीन करने के वाद लिखा।

दर्शन एवं विज्ञान

पेरिक्लीज के युग में दर्शन एवं विज्ञान के क्षेत्र में भी बड़े-बड़े चिंतक एवं विचारक हुए, जिन्होंने अपनी कृतियों से यूनानी सभ्यता को ही नहीं, वरन् विश्व-सभ्यता को समृद्ध किया। दार्शनिक चिंतन का प्रारंभ आयोनिया के नगरों में हुआ। चिंतन की यह प्रक्रिया पेरिक्लीज के युग में, एथेंस में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची। इस युग में प्रकृति का अध्ययन दो प्रसिद्ध वैज्ञानिकों द्वारा किया गया। इनका अध्ययन विज्ञान के क्षेत्र में एक अपूर्व देन सिद्ध हुआ।

एम्पीडोक्लीज (Empedocles) (४९० ई०-पू०—४३० ई०-पू०)

यह इस युग का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक था। इसने चार तत्त्वों का विश्लेषण किया तथा यह वतलाया कि इस विश्व का विकास आकर्षण एवं विकर्षण की शक्तियों से हुआ है। ये सिद्धांत आज तक विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सिद्धांत माने गए हैं। कुछ हद तक, इसने यह भी सिद्ध किया कि संसार के जीवन-संघर्ष में, योग्यतम व्यक्ति ही विजय पाते हैं।

डेमाक्रिटस (Democritus) (४६० ई०-पू०—३७० ई०-पू०)

इसने अणु-सिद्धांत का प्रवर्त्तन किया। इसके अनुसार विश्व की उत्पत्ति अणुओं से हुई है। इसी सिद्धांत को आगे चल कर एपीक्युरस और रोम के ल्यूकेटियस ने पल्लवित किया तथा लोकप्रिय बनाया।

इस युग में वैज्ञानिक खोज तथा समालोचना की प्रवृत्ति का पूर्ण विकास हुआ। इस युग में ज्ञान-पिपासा काफी बढ़ गई थी। इस युग की यह विशेषता थी कि सभी सिद्धांतों को तर्क की कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया जाता था। यूनान के हर भाग में ऐसे प्रतिभाशाली विचारकों का उदय हुआ था, जो किसी वात को बिना तर्क तथा खोज के मानने को तैयार नहीं थे।

एनेक्सागोरस (Anaxagoras)

पेरिक्लीज के युग का सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक एनेक्सागोरस था। यह पेरिक्लीज का शिक्षक भी था। यह भौतिकवादी था। इसे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं था।

इसके अनुसार विश्व की उत्पत्ति भौतिक तत्त्वों के कारण हुई तथा इसमें किसी दैवी शक्ति का हाथ नहीं है। इसके प्रभाव से पेरिक्लीज के विचार अत्यंत प्रगतिशील हो गए थे तथा वह अंधविश्वासों से मुक्त हो गया था। इस दार्शनिक पर पेरिक्लीज के शासनकाल के अंत में नास्तिकतावादी सिद्धांतों के प्रचार के कारण मुकदमा चलाया गया। पेरिक्लीज ने इसका समर्थन किया तथा उसे बचाने की कोशिश की। इसे कुछ जुरमाना देना पड़ा और तत्पश्चात् वह एथेंस से बाहर चला गया।

पाइथागोरस (Pythagoras) (५८२ ई०-पू०—५०७ ई०-पू०)

पेरिक्लीज के युग के पहले ही पाइथागोरस नामक वैज्ञानिक हुआ था, जिसने रेखागणित को जन्म दिया। उसने बिंदु, रेखा, धरातल एवं विस्तार की कल्पना को पूर्ण विकसित किया। गणित के अतिरिक्त वह संगीतशास्त्र का भी प्रेमी एवं ज्ञाता था।

सोफिस्टों द्वारा शिक्षा-प्रचार

इस युग में बहुत बड़ी संख्या में सोफिस्ट कहे जाने वाले शिक्षक और विचारक घूम-घूम कर नवयुवकों एवं जनता को ज्ञान का दान देते थे। सोफिस्ट का अर्थ होता है—ज्ञान का शिक्षक। ये उस युग की शोध एवं समालोचना की प्रवृत्ति के प्रतिनिधि तथा सभी विषयों के ज्ञाता होते थे, पर विशेषतः तर्क तथा वक्तृत्व कला की शिक्षा देते थे। सभी विषयों का पंडित होने से किसी भी विषय पर भाषण करते थे तथा अपने अध्यापन-कार्य के लिए फीस भी लेते थे। ये सोफिस्ट अध्यापन-कार्य के साथ पुस्तकें भी लिखते थे। ये राजनैतिक विषयों तथा सामयिक वार्ताओं पर लेख लिख कर अपने विचारों का प्रचार करते थे। अतः, कुछ हद तक ये आधुनिक समाचारपत्रों का काम भी पूरा करते थे। इनमें से कुछ उच्च कोटि के विद्वान, विचारक एवं दार्शनिक हुए, जिनकी देन विश्व-साहित्य की अमर निधि है। निम्नलिखित विचारकों ने सोफिस्टों के रूप में पेरिक्लीज के युग को समृद्ध बनाया—

प्रोडिकस (Prodicus)

यह एक निराशावादी था। इसके विचारों से तत्कालीन नाटककार यूरिपाइडीज बहुत प्रभावित हुआ। इसके अनुसार संसार में दुःख की मात्रा सुख से कहीं अधिक है।

प्रोटेगोरस (Protagoras)

यह उस युग का सबसे बड़ा सोफिस्ट था। इसने यूरोप में व्याकरणशास्त्र को जन्म दिया। इसने शिक्षक के रूप में विशेषतः एथेंस में काम किया। इसी कारण यह पेरिक्लीज के घनिष्ठ मित्रों में था। यह भी देवताओं के अस्तित्व में संदेह करता था तथा इस संदेह के कारण इसे एथेंसवासियों का कोपभाजन बनना पड़ा। इसने एक

पुस्तक में इस संदेहवाद का प्रतिपादन किया। इसने लिखा था कि देवता हो भी सकते हैं नहीं भी हो सकते हैं। उसके अस्तित्व के विषय में हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते; क्योंकि ऐसे ज्ञान के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। इस पुस्तक के कारण इसे एथेंस छोड़ कर सिसिली भागना पड़ा। इसी यात्रा में समुद्र में इसकी मृत्यु हो गई।

जौर्जियस (Gorgias)

यह एक दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञ था, पर विशेषतः एक सुन्दर वक्ता के रूप में प्रसिद्ध था। इसने यूनानियों को ओजस्वी तथा अलंकृत शैली में गद्य लिखना सिखलाया। इसकी शैली पहले की शुष्क शैली से भिन्न थी। कोमलकांत पदावली में लिखा हुआ इसका गद्य भावुकता से भरा होता तथा सीधे हृदय को स्पर्श करता था। इन प्रसिद्ध सोफिस्टों के अलावा अनेक सोफिस्ट घूम-घूम कर शिक्षा-प्रचार करते थे।

ये सोफिस्ट तत्कालीन बौद्धिक आंदोलन के सफल नेता थे, जिनका पेरिक्लीज के युग के सांस्कृतिक वैभव की वृद्धि में बहुत बड़ा हाथ था। अतः, हम देखते हैं कि इस युग में एथेंस का भौतिक, मानसिक, सांस्कृतिक एवं आत्मिक विकास अपने चरम सीमा पर पहुँच गया। इसी कारण यूनानी इतिहासकार ने गौरव के साथ इस युग को स्वर्ण युग की संज्ञा दी। इस युग के बौद्धिक आंदोलन की चरम परिणति सुकरात नामक दार्शनिक के व्यक्तित्व में हुई।

सुकरात (Socrates) (४६९ ई०-पू०—३६९ ई०-पू०)

यह ग्रीस का बहुत बड़ा विचारक एवं दार्शनिक था। इसका कार्यकाल विशेषतः पेरिक्लीज के युग के बाद आता है। यह भी एक सोफिस्ट था तथा इसने निर्भीक होकर अपने बुद्धि-वैभव के बल पर तर्कवाद की प्रतिष्ठा की। इसकी गणना विश्व के महान दार्शनिकों में की जाती है। इसका शिष्य प्लेटो (Plato) भी एक विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक हुआ। यह अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों का प्रबल शत्रु था तथा बुद्धि एवं तर्क का समर्थक था। उसने घोषणा की कि मनुष्य को केवल ज्ञान एवं सत्य के आगे झुकना चाहिए न कि धर्म, देवता या अन्य किसी शक्ति के आगे। वह किसी विषय की व्याख्या प्रश्नोत्तर-प्रणाली के द्वारा करता था। उसने एथेंस नगर में ही अपना जीवन बिताया तथा एथेंस के अनेक प्रतिभाशाली नवयुवकों को अपना शिष्य बनाया। उसका सबसे प्रसिद्ध शिष्य प्लेटो था। उसके शिष्य उसे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। अंत में अपनी तर्क-प्रणाली एवं संदेहवाद के कारण उस पर मुकदमा चलाया गया। उस पर दोषारोपण किया गया कि वह नगर के देवताओं में विश्वास नहीं करता तथा नवयुवकों को पथभ्रष्ट करता है। उसे दोषी सिद्ध किया गया तथा उसे जहर पिला कर मार डाला गया। पर स्मरण रहे, यह घटना पेरिक्लीज के युग की समाप्ति के ३० वर्ष बाद हुई।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि पेरिक्लीज का युग विश्व-इतिहास में, विशेषत: बौद्धिक विकास एवं सांस्कृतिक वैभव के लिए प्रसिद्ध है। इस युग की तुलना हम प्राचीन भारतीय इतिहास के गुप्त युग तथा इंगलैंड के इतिहास के एलिजाबेथ के युग से कर सकते हैं। इन्हीं दोनों युगों की भाँति इस युग में कला, साहित्य एवं विज्ञान का विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया तथा एथेंस नगर वस्तुतः पेरिक्लीज के आदर्शों के अनुसार समस्त यूनान में सर्वप्रधान सांस्कृतिक केंद्र बन गया। यह पेरिक्लीज के नेतृत्व की बहुत बड़ी सफलता थी।

पूर्ण विकसित अवस्था में एथेंस का संविधान

सोलन, क्लैस्थिनीज तथा पेरिक्लीज के नेतृत्व में एथेंस के संविधान का क्रमिक विकास हम देख चुके हैं। पेरिक्लीज के युग में यह संविधान अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुका था तथा यूनानी जगत में गणतांत्रिक प्रयोगों की चरम परिणति माना जाता था। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिकों एवं विचारकों ने इस संविधान की व्याख्या एवं मूल्यांकन में रुचि दिखलायी। प्लेटो एवं अरस्तू ने अपनी कृतियों में बार-बार इसकी चर्चा की। अतः हमारे लिए पूर्ण विकसित अवस्था में इस संविधान का ज्ञान आवश्यक है।

यूनानी जगत में, नगर-राज्यों के संविधान अधिकतर उस नगर के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन की समग्रता के द्योतक थे। उसमें नगर के जीवन का प्रत्येक अंग प्रतिबिंबित होता था तथा नागरिकों की समस्त जीवनचर्या उससे जुड़ी हुई थी।

आज के विशाल राज्यों का राजनैतिक जीवन प्रत्येक नागरिक को केवल मतदान के समय ही अधिक प्रभावित करता है, पर यूनानी जगत के छोटे-छोटे राज्यों का राजनैतिक जीवन प्रत्येक नागरिक के जीवन का अभिन्न अंग था, जिससे वह अलग नहीं हो सकता था। यदि यह कहा जाए कि इसके बिना वह जी ही नहीं सकता था, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्रत्येक नागरिक के कलात्मक अनुभव, उसके धार्मिक कृत्य एवं अनुष्ठान, यहाँ तक कि उसकी जीविका के साधन भी, उसके नगर के राजनैतिक जीवन से संबद्ध थे। इसलिए अरस्तु ने कहा था कि यूनानी नगर-राज्यों का संविधान एक कानूनी ढाँचा नहीं था, बल्कि जीवनचर्या था।

क्षेत्र एवं जनसंख्या की दृष्टि से यूनान के नगर-राज्य अनेक आधुनिक राज्यों तथा आधुनिक शहरों से बहुत छोटे थे। किसी भी नगर-राज्य की जनसंख्या तीन लाख से अधिक नहीं थी तथा क्षेत्रफल आजकल की तहसीलों अथवा जिलों के बराबर था। इसलिए प्रत्येक नागरिक राजनैतिक गतिविधियों में पूरी दिलचस्पी ले सकता था। सभी निर्णय लगभग उसके समक्ष होते थे। इसलिए संविधान का व्यावहारिक रूप प्रत्येक नागरिक के जीवन का अंग था।

एथेंस का समाज राजनैतिक दृष्टि से मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित था। इन वर्गों के राजनैतिक एवं कानूनी अधिकार भी भिन्न-भिन्न थे। समाज का निम्नतम वर्ग दासों का था। जनसंख्या का करीब एक-तिहाई भाग दासों का था। तत्कालीन जीवन पद्धति एवं विचारधारा में दासों का रहना अनिवार्य माना जाता था। खेतों और घरों में काम करना इन दासों का काम था। इस वर्ग को कोई राजनैतिक अधिकार नहीं प्राप्त था। जनसंख्या के इतने बड़े भाग को राजनैतिक अधिकारों से वंचित करना यूनानी गणतांत्रिक पद्धति की सबसे बड़ी कमजोरी थी। फिर भी अरस्तू-जैसे दार्शनिकों ने दासों की प्रथा का पोषण किया।

एथेंस-जैसे नगरों में दूसरा बड़ा वर्ग, जो अधिकारों से वंचित था, वह वर्ग विदेशियों का था। कई पुश्तों से वहीं रहने के बाद भी उन्हें कानूनी ढंग से कोई अधिकार नहीं प्राप्त था। इन विदेशियों को 'मेटिक्स' (Metics) कहा जाता था तथा इनके साथ सामाजिक जीवन में कोई पक्षपात या अन्याय नहीं किया जाता था। वे सभी तरह से स्वतंत्र थे, पर राजनैतिक अधिकारों से पूर्णतया वंचित थे।

तीसरा वर्ग नागरिकों का था, जो नगर के सदस्य थे तथा जिन्हें राजनैतिक जीवन में भाग लेने का पूरा अधिकार प्राप्त था। नागरिक के माता-पिता जिस नगर के नागरिक होते थे, उसे भी वहीं की नागरिकता प्राप्त होती थी। नागरिकता का अर्थ राजनैतिक जीवन की सदस्यता था। सदस्यता के साथ-साथ शासन के विभिन्न पदों पर निर्वाचित होने अथवा नियुक्त होने की योग्यता भी नागरिकता के अर्थ में सम्मिलित थी। पर, नागरिकों की स्त्रियाँ इन सभी अधिकारों से वंचित थीं। तत्कालीन राजनैतिक जीवन में स्त्रियों का कहीं स्थान नहीं था।

जनसभा अथवा एक्सलेशिया

संविधान की विभिन्न संस्थाओं के द्वारा राजनैतिक जीवन का नियमन एवं संचालन होता था। एथेंस नगर का प्रत्येक पुरुष नागरिक नगर की जनसभा अथवा एसेंबली का सदस्य होता था। यूनानी भाषा में जनसभा को एक्सलेशिया (Ecclesia) कहा जाता था। प्रत्येक पुरुष नागरिक जब बीस वर्ष का होता था, तब उसे जनसभा की बैठकों में सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त होता था। साल में चालीस बार जनसभा की बैठक होती थी। कभी-कभी असाधारण बैठकें भी होती थीं। यहाँ सभी महत्त्वपूर्ण विषयों तथा नीतियों पर बहस होती थी। नई योजनाएँ तथा नई नीतियाँ पहले इस सभा के सम्मुख रखी जाती थीं। सैद्धांतिक दृष्टि के समस्त शासनाधिकार एवं नियमों का निर्माण इसी जनसभा में निहित था। युद्ध और शांति के अधिकार भी इसी सभा के हाथ में थे। विदेशों से आए राजदूतों को जनसभा में ले जाकर परिचय दिया जाता था। सभी मजिस्ट्रेटों तथा उच्चधिकारियों को जनसभा के प्रति उत्तरदायी माना जाता

था। उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति में जनसभा का प्रमुख हाथ था। व्यापारिक एवं आर्थिक मामलों में जनसभा के निर्णय अंतिम माने जाते थे। राज्य के सर्वोच्च पदाधिकारी दस सेनापतियों (Ten Generals) का निर्वाचन प्रत्यक्ष ढंग से जनसभा में ही होता था। इन्हें जनसभा द्वारा बार-बार चुने जाने का अधिकार था। अतः इन सेनापतियों को अपने आचरण, कार्यों एवं नीतियों के लिए जनसभा के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ता था। मजिस्ट्रेटों एवं अन्य पदाधिकारियों को भी जनसभा के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ता था। कार्यमुक्त होने के बाद भी जनसभा उनकी गलतियों एवं दोषपूर्ण आचरण के लिए दंडित कर सकती थी। इस प्रकार सभी उच्च पदाधिकारियों के आचरण पर जनसभा का नियंत्रण था। पर, वास्तव में प्रमुख शासनाधिकार ५०० व्यक्तियों की समिति (Council of Five Hundred) में निहित था, जिसे 'बौल' भी कहते थे। सैद्धांतिक दृष्टि से नीति-निर्धारण जनसभा करती थी, पर वास्तव में नीति-निर्धारण एवं कार्यान्वयन इस समिति द्वारा ही किया जाता था। इस समिति को जनसभा की कार्यपालिका एवं संचालन समिति कहा जाए, तो गलत नहीं होगा। हम देख चुके हैं कि एटिका प्रदेश में दस जातियाँ थीं। क्लैस्थिनीज ने अपने सुधारों के द्वारा पुरानी संस्था चार सौ की समिति के स्थान पर पाँच सौ की समिति का निर्माण किया था। ऐटिका प्रदेश में बसने वाली दस जातियाँ पचास सदस्यों को इस समिति के लिए निर्वाचित करके भेजती थीं। चूँकि उनकी कुल संख्या पाँच सौ थी, इसलिए इस समिति का नाम 'पाँच सौ की समिति' रखा गया था।

पाँच सौ की समिति अथवा बौल

शासन के क्षेत्र में इस समिति को बहुत से महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे। जनसभा के सामने विचारार्थ नीतियों एवं विषयों को प्रस्तावित करने और भेजने का अधिकार इस समिति को ही था। जनसभा उन्हीं विषयों पर विचार कर सकती थी, जो उसके पास इस समिति द्वारा विधिवत भेजे जाते थे। अतः एथेंस के संविधान की परिपक्वावस्था में ऐसा प्रतीत होता है कि नीतियों का निर्धारण एवं प्रतिपादन जनसभा के द्वारा नहीं, वरन् इस समिति के द्वारा ही होता था। शासन की प्रमुख कार्यपालिका संस्था भी समिति ही थी। विदेशी राजदूतों को जनसभा के सामने समिति द्वारा ही पेश किया जाता था। मजिस्ट्रेटों एवं उच्च पदाधिकारियों पर इसका पूर्ण नियंत्रण था। इस समिति को नागरिकों को बंदी बनाने तथा मृत्युदंड तक देने का अधिकार था। इसको न्यायपालिका-संबंधी अधिकार भी प्राप्त थे। यह स्वयं अपराधियों को दंडित कर सकती थी या न्यायालयों में उनके विरुद्ध मुकदमा चलवा सकती थी। इस संस्था का राज्य के आय-व्यय, सार्वजनिक संपत्ति

के प्रबंध तथा करों पर पूर्ण नियंत्रण था। जहाजों का निर्माण एवं नौसेना का नियंत्रण यही करता थी। राजकीय सेना के घोड़ों की जाँच भी यही संस्था करती थी। राज्य के सभी कर्मचारी तथा प्रशासनिक संस्थाएँ इसी समिति की देखरेख में काम करती थीं।

पर, यह स्मरणीय है कि समिति की सारी शक्तियाँ जनसभा के सद्भाव पर ही आधारित थीं; क्योंकि सैद्धांतिक दृष्टि से ये सभी शक्तियाँ जन-सभा में ही निहित थीं। जनसभा उन्हीं विषयों पर विचार करती थी, जो उसके सामने समिति द्वारा भेजे जाते थे। जनसभा उन प्रस्तावों को पारित करती थी, संशोधित करती थी अथवा अस्वीकार करती थी। सभी प्रमुख निर्णय अथवा नीतियाँ जनसभा के सम्मुख स्वीकृति के लिए भेजी जाती थीं। पर, एथेंस गणतंत्र के चरमोत्कर्ष के काल में वस्तुतः निर्णय समिति द्वारा ही लिए जाते थे तथा इन निर्णयों का समर्थन जनसभा कर देती थी। उदाहरण के लिए युद्ध और शांति की घोषणाएँ, विदेशी राष्ट्रों के साथ मैत्री-संबंध की स्थापना, नए करों का भार तथा नए कानूनों का निर्माण आदि विषय जनसभा के अनुमोदन के लिए समिति द्वारा भेजे जाते थे और जनसभा साधारणतया समिति के निर्णय को मान लेती थी। सभी निर्णय सम्मिलित रूप से जनसभा तथा समिति के नाम पर ही होते थे। अतः, यह समिति एथेंस के गणतांत्रिक संविधान एवं शासनतंत्र की आधारशिला थी।

तीस वर्ष की अवस्था वाले नागरिक ही समिति के सदस्य चुने जा सकते थे। कोई भी सदस्य दो बार से अधिक नहीं चुना जा सकता था। चूँकि पाँच सौ सदस्यों की समिति कार्य-संपादन की दृष्टि से बड़ी थी, इसलिए एक जाति द्वारा निर्वाचित पचास सदस्य साल के एक महीने समिति का सारा कार्य करते थे। पूरा साल दस महीनों में ही बाँटा हुआ था। इन पचास सदस्यों की सहायता बाकी नौ जातियों के एक-एक सदस्य भी करते थे। इस प्रकार साल के एक महीने में उन साठ सदस्यों की एक समिति, पाँच सौ की समिति का समस्त कार्य-संपादन करती थी। इन छोटी समितियों को 'प्रिटैनी' कहा जाता था।

दस सेनापति

कार्यपालिका शक्ति की दृष्टि से सर्वोच्च पदाधिकारी दस सेनापति थे, जिनकी तुलना आधुनिक संसदीय प्रणाली के अंतर्गत मंत्रि-परिषद् से की जा सकती है। दसों जातियों से एक-एक सेनापति निर्वाचित किए जाते थे। साधारणतया ये प्रत्येक जाति के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता होते थे। सैद्धांतिक दृष्टि से ये सैनिक पदाधिकारी थे, जो युद्ध के समय प्रत्येक जाति की सेनाओं का संचालन करते थे, पर एथेंस के राजनैतिक उत्कर्ष एवं साम्राज्यवादी प्रयोगों के काल में इनका पद राजनैतिक दृष्टि से

सर्वाधिक महत्व एवं शक्ति का था। ये एथेंस के भाग्य-विधाता एवं कर्णधार थे। ये एथेंस के सबसे बड़े शक्तिशाली मजिस्ट्रेट थे। इन्हें नीति-निर्धारण एवं उसके कार्यान्वयन के क्षेत्र में पूरी स्वतंत्रता दी गई थी। इस पद का महत्त्व इस बात से आँका जा सकता है कि पेरिक्लीज-जैसे सुयोग्य एवं लोकप्रिय नेता ने एक सेनापति की हैसियत से ही पंद्रह वर्षों तक एथेंस के गणतंत्र का नेतृत्व किया। अपनी नीतियों की सफलता, व्यक्तित्व की गरिमा तथा लोकप्रियता के कारण एथेंस की जनता द्वारा वह बार-बार इस पद पर चुना गया। अपनी बुद्धिमत्ता के कारण वह दसों सेनापतियों में सबसे प्रमुख था। उसकी शक्ति का आधार जनसभा थी, जो उसकी सभी नीतियों का सहर्ष समर्थन करती थी। जनसभा के समर्थन के अभाव में उसका इतने दिनों तक बिना ताज का बादशाह बने रहना असंभव था। आधुनिक राजनैतिक शब्दावली में, वह संसदीय प्रणाली के अंतर्गत एक बहुमत दल के नेता अथवा प्रधानमंत्री की तरह शक्तिशाली था।

जनता के न्यायालय अथवा हीलिया (Heliaea)

जनता के न्यायालयों द्वारा मुकदमों का निर्णय करना एथेंस के संविधान की विशेषता थी तथा इस संविधान की परिपक्वावस्था में ये जनता के न्यायालय इस संविधान के प्रमुख अंग थे। इन न्यायालयों द्वारा यह संविधान मजिस्ट्रेटों तथा कानून पर नियन्त्रण रखता था। इन न्यायालयों की तुलना आधुनिक न्यायालयों से नहीं की जा सकती; क्योंकि इनका कार्य केवल मुकदमों की सुनवाई तथा फैसले तक ही नहीं सीमित था, वरन् उन्हें कई प्रकार के प्रशासनिक तथा वैधानिक अधिकार भी प्राप्त थे। ये न्यायालय एथेंस में गणतांत्रिक जीवन की अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम थे।

स्थानीय शासन की सुविधा के लिए एथेंसनिवासी अंचलों या हल्कों में बँटे हुए थे, जिन्हें 'डीम' (Deme) कहा जाता था। प्रत्येक डीम से एक साल के लिए जज बनने के लिए मनोनीत नागरिकों की एक सूची तैयार की जाती थी। कुल मिला कर सभी हल्कों से करीब छह हजार व्यक्तियों की सूची तैयार होती थी, जिनमें से प्रत्येक न्यायालय के लिए तथा प्रत्येक मुकदमे की सुनवाई के लिए जजों को लौट की प्रथा के द्वारा चुन लिया जाता था। लौट का अर्थ था—लाटरी के ढंग से किसी को चुन लेना, जिसमें कोई भो पक्षपात की शिकायत न कर सके।

इस प्रकार बने हुए न्यायालयों में जजों की संख्या कभी भी दो सौ से कम नहीं होती थी तथा पाँच सौ से अधिक नहीं होती थी। इन जजों के लिए कानून का ज्ञाता या विशेषज्ञ होना बिल्कुल आवश्यक नहीं था। ये जज तथा जुरी दोनों ही के मिले-जुले रूप थे। न्यायालय का अध्यक्ष भी एक मजिस्ट्रेट होता था, जो स्वयं भी

कानून का विशेषज्ञ नहीं होता था। वास्तव में कानून तथा न्यायालयों का विकास एथेंस की राजनैतिक व्यवस्था में वैज्ञानिक ढंग पर नहीं हुआ था। इस क्षेत्र में रोमन सभ्यता यूनानी सभ्यता से आगे थी।

किसी भी मुकदमे में दोनों पक्ष स्वयं अपने विचारों एवं दृष्टिकोण को न्यायालय के सामने रखते थे। कभी-कभी वे भाषण लिखने वालों से लिखवा कर अपनी बात कहते थे। न्यायालय वोट के द्वारा पहले यह निर्णय करता था कि दोषी अथवा अपराधी कौन है। यदि इस बात का निर्णय हो जाता था, तब दोनों पक्षों से क्या दंड दिया जाए, यह पूछा जाता था। तब न्यायालय पुनः मतदान के द्वारा दंड का स्वरूप निर्धारित करता था। किसी भी न्यायालय का फैसला अंतिम माना जाता था; क्योंकि अपील करने की व्यवस्था नहीं थी। चूँकि सैद्धांतिक दृष्टि से इन न्यायालयों का निर्णय पूरी जनता का निर्णय था, इसलिए अपील की प्रथा को स्थान नहीं दिया गया था। वस्तुतः ये न्यायालय जनसभा के समकक्ष एक संवैधानिक संस्था थे, जिनके द्वारा जनता के निर्णयों की अभिव्यक्ति होती थी। पेरिक्लीज के युग में प्रत्येक संवैधानिक संस्था के सदस्यों की भाँति इन न्यायाधीशों को भी दैनिक वेतन मिलता था।

अन्य प्रशासिनक तथा संवैधानिक अधिकारों के द्वारा मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति के पहले उनकी योग्यता एवं उस पद के लिए उनकी उपयुक्तता की जाँच करने का हक भी इन न्यायालयों को दिया गया था। न्यायालय में किसी भी निर्वाचित मजिस्ट्रेट के विरुद्ध यह प्रश्न उठाया जा सकता था कि वह उस पद के लिए उपयुक्त नहीं है और न्यायालय उसे अनुपयुक्त एवं अयोग्य करार दे सकता था। इस प्रकार, मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति पर न्यायालयों द्वारा जनता का नियंत्रण स्थापित किया गया था। पदमुक्त होने के बाद किसी भी मजिस्ट्रेट द्वारा किए गए प्रत्येक कार्य एवं निर्णय का नैयायिक पुनरीक्षण इन न्यायालयों में किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मजिस्ट्रेट के अवकाश प्राप्त करने पर उसके द्वारा सार्वजनिक संपत्ति के आय-व्यय की विशेष लेखा-परीक्षा एवं समीक्षा की जाती थी। इन व्यवस्थाओं के द्वारा प्रत्येक मजिस्ट्रेट बराबर जनता के समक्ष उत्तरदायी बना दिया गया था और इस विषय में न्यायालयों की शक्ति बहुत थी। चूँकि दस सेनापतियों को बार-बार निर्वाचित होने की छूट दी गई, थी, इसलिए उनके कामों का पुनरीक्षण नहीं होना था और वे सभी पदाधिकारियों में अधिक स्वच्छंदतापूर्वक कार्य-संपादन कर सकते थे। पर, मजिस्ट्रेटों को दुबारा निर्वाचित होने की स्वतंत्रता नहीं थी।

जनसभा अथवा पाँच सौ की समिति द्वारा बनाए गए किसी भी कानून का मूल्यांकन एवं पुनरीक्षण इन न्यायालयों में होता था। किसी भी कानून के विरुद्ध उसकी संवैधानिकता एवं औचित्य का प्रश्न इन न्यायालयों में उठाया जा सकता था।

कोई भी नागरिक किसी भी कानून के विरुद्ध यह प्रश्न उठा सकता था कि वह अनुचित तथा संविधान के विरुद्ध है। नागरिक द्वारा प्रश्न उठाए जाने के बाद किसी विधिविशेष को न्यायालय के निर्णय तक लागू नहीं किया जाता था। जब न्यायालय कानून के पक्ष में निर्णय देता था, तभी उसे लागू किया जाता था अन्यथा वह कानून रद्द कर दिया जाता था। एथेंस के न्यायालयों की यह संवैधानिक शक्ति आधुनिक अमरीका के न्यायालयों की शक्ति से मिलती है, जिसके अनुसार वे किसी कानून को संविधान के प्रतिकूल घोषित कर सकते हैं। एथेंस के न्यायालयों का निर्णय कानूनों की व्यावहारिकता, उपयोगिता एवं औचित्य के आधार पर अधिक होता था। उनकी संवैधानिकता का प्रश्न गौण ही माना जा सकता है। इन अधिकारों द्वारा एथेंस की राजनैतिक व्यवस्था में इन न्यायालयों को निर्णायक जिम्मेदारियाँ दी गई थीं।

एथेंस की राजनैतिक व्यवस्था के अध्ययन में निर्वाचन एवं देश निष्कासन की पद्धतियों की चर्चा आवश्यक है। एथेंस में गणतांत्रिक प्रणाली के प्रथम संस्थापक सोलन ने लौट की प्रथा को गणतांत्रिक पद्धति का अंग बना दिया था। लौट की प्रथा लाटरी से मिलती-जुलती थी, जिसमें संयोग अथवा भाग्य से कोई भी किसी पद पर निर्वाचित हो सकता था। कभी-कभी निर्वाचन एवं लौट दोनों ही मिला दिए जाते थे। कभी-कभी केवल लौट से ही काम लिया जाता था। तत्कालीन धार्मिक विश्वासों के अनुसार किसी भी व्यक्ति का लौट के द्वारा किसी भी पद पर नियुक्त होना इस बात का प्रमाण था कि उस पर देवताओं का अनुग्रह है; क्योंकि लौट द्वारा निर्णय देवताओं द्वारा निर्णय माना जाता था। सार्वजनिक जीवन में पक्षपात एवं गुटबंदी को कम करने के लिए लौट की प्रथा लागू की गई थी। सोलन ने मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति में यह पद्धति लागू की थी, पर सर्वथा अयोग्य व्यक्ति न चुन दिए जाएँ इसके लिए पहले निर्वाचन के द्वारा नामों की एक सूची तैयार की जाती थी; तब उस सूची में से लौट के द्वारा जितने पद होते थे, उतने व्यक्ति नियुक्त कर दिए जाते थे। एथेंस गणतंत्र के पूर्ण विकास की अवस्था में पाँच सौ की समिति के सदस्य तथा मजिस्ट्रेट (आर्कन) केवल लौट के आधार पर नागरिकों की सूची से चुन लिए जाते थे, ताकि प्रत्येक नागरिक को राजनैतिक पद पर आसीन होने का अवसर मिल सके। आधुनिक दृष्टिकोण से लौट-पद्धति का इतने बड़े पैमाने पर प्रयोग हास्यास्पद और बचकाना ढंग मालूम होता है, पर यूनानी विचारधारा में यह पूर्णतया लोकतांत्रिक तरीका था, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के अवसर समान हो जाते थे।

उच्च पदस्थ एवं प्रभावशाली व्यक्तियों को दंडित करने के लिए एथेंस के गणतंत्र में एक कठोर पद्धति का विधान था, जिसे 'आस्ट्रेसिज्म' (Ostracism) कहा जाता था। इसको हम मोटे तौर पर 'देश-बहिष्कार का दंड' कह सकते हैं। परंपराओं के अनुसार क्लैस्थिनीज इस प्रथा का जनक था। इस प्रथा के अनुसार

साल के छठे महीने में जनसभा के सामने विचारार्थ यह प्रश्न रखा जाता कि उस वर्ष आस्ट्रेसिज्म अथवा देश-बहिष्कार होना चाहिए अथवा नहीं। यदि जनसभा आस्ट्रेसिज्म करना चाहती थी, तो आठवें महीने में केवल इसी उद्देश्य से जनसभा की बैठक बुलायी जाती थी। सभी नागरिक अपनी-अपनी जातियों के साथ बैठते थे और मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों पर वे उस व्यक्ति का नाम लिख देते थे, जिस व्यक्ति की उपस्थिति वे राज्य के हितों की दृष्टि से खतरनाक समझते थे। परिणामस्वरूप जिस व्यक्ति को बहुमत से खतरनाक घोषित कर दिया जाता था, उसे दस साल के लिए एथेंस राज्य से बाहर चला जाना पड़ता था। इस प्रकार के मतदान के लिए जनसभा में यदि छह हजार नागरिक उपस्थित होते थे, तभी उसे कानूनी माना जाता था, अन्यथा असफल माना जाता था। बहिष्कृत व्यक्ति दस वर्ष तक ऐटिका प्रदेश में नहीं लौट सकता था। पर, उसकी सम्पत्ति सुरक्षित रहती थी तथा उसे एथेंस का नागरिक माना जाता था।

इस प्रथा का जन्म देने में क्लैस्थिनीज का उद्देश्य एथेंस गणतंत्र में अधिनायकवाद अथवा तानाशाही के खतरे को कम करना था। बहुत दिनों तक इस अधिकार का प्रयोग जनसभा ने नहीं किया। इसका पहला प्रयोग ४८७ ई०-पू० में किया गया। धीरे-धीरे व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा तथा ईर्ष्या के कारण इसका दुरुपयोग भी किया जाने लगा। कुछ प्रगतिशील तथा सुयोग्य नेताओं को भी इस पद्धति का शिकार होना पड़ा। उदाहरण के लिए ४८४ ई०-पू० में जैन्थिप्पस को तथा ४८२ ई०-पू० में एरिस्टाइड्स को देश से निष्कासित किया गया था, पर फारसी युद्धों के समय उन्हें बुला लिया गया था। ४७२ ई०-पू० में हम देख चुके हैं कि थेमिस्टोक्लीज को एथेंस से निष्कासित किया गया था। इस निष्कासन के समय ही उसने फारसी साम्राज्य में शरण ली थी।

इन सभी गुण-दोषों के बावजूद एथेंस की गणतांत्रिक परंपरा एवं राजनैतिक व्यवस्था प्राचीन विश्व का महत्त्वपूर्ण प्रयोग मानी जाती है। मानवजाति के राजनैतिक विकास के इतिहास में इनकी गणना प्रथम सफल गणतांत्रिक प्रयोगों में की जाती है।

यूनानी जगत के आंतरिक विद्वेष का विस्फोट

पेलोपोनेशियन युद्ध अथवा एथेंस और स्पार्टा का भयानक संघर्ष

जिस प्रकार फारसी युद्धों का इतिहास हमें हेरोडोटस के वर्णन से प्राप्त होता है, उसी प्रकार इस लम्बे संघर्ष का इतिहास हमें थ्युसीडाइडीज नामक सुप्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार की पुस्तक से मिलता है। थ्युसीडाइडीज एथेंसनिवासी था तथा उसे इस युद्ध में स्वयं लड़ने का अवसर मिला था। इससे उसका वर्णन अत्यन्त प्रामाणिक है। फिर वह इति-

युद्ध का महत्त्व

हास लिखने की कला में पहला इतिहासकार माना जाता है, जिसने वैज्ञानिक ढंग से इतिहास लिखने की कला को जन्म दिया। उसकी शैली एवं उसके दृष्टिकोण आधुनिक माने जाते हैं। उसने अपने सूत्रों की पूरी छानबीन करके उतना ही लिखा, जितना लिखना आवश्यक था। उसने काव्यात्मक शैली का पूर्ण त्याग किया तथा जनश्रुतियों एवं किंवदंतियों को स्थान देकर, अपने वर्णन को रोचक बनाने की कोशिश नहीं की। शैली और दृष्टिकोण की दृष्टि से वह हेरोडोटस से सर्वथा प्रतिकूल था, हालांकि ये दोनों ही इतिहासकार अपने ढंग से अद्वितीय थे। थ्युसीडाइडीज एक निष्पक्ष विचारों का लेखक था। वह गहरी सूझ-बूझ तथा सूक्ष्म विश्लेषण की प्रतिभा से युक्त था। उसके वर्णन का ढंग रोचक है, पर काव्यात्मक नहीं। उसका दृष्टिकोण बौद्धिक है तथा उसे राजनैतिक दांव-पेंच समझने की कुशलता प्राप्त है। हेरोडोटस की कृति पर उसकी काव्यात्मक प्रतिभा की छाप है। एक सफल कहानीकार की तरह—वह कथानक में मन को रमा देता है, पर उसमें राजनैतिक विश्लेषण की प्रतिभा नहीं है। उसकी शैली वैज्ञानिक नहीं है तथा उसका वर्णन किंवदंतियों और जनश्रुतियों से भरा पड़ा है।

थ्युसीडाइडीज ने स्वयं अपने वर्णन के प्रारंभ में ही इस लंबे संघर्ष के महत्त्व का वर्णन किया है। उसकी दृष्टि में यह युद्ध यूनान के इतिहास का सबसे महान युद्ध था। इस युद्ध के कारण यूनानी जगत में जो उथल-पुथल मची, उतनी इसके पहले की किसी घटना से नहीं हुई थी। इसने पूरे यूनान को झकझोर-सा दिया। थ्युसीडाइडीज का ऐसा विश्वास था कि इस युद्ध का प्रभाव न केवल यूनान पर, वरन् पूरे विश्व पर पड़ेगा।

कई कारणों से थ्युसीडाइडीज ने इस युद्ध को महत्त्वपूर्ण बताया। इस युद्ध ने पूरे यूनान को दो युद्ध-शिविरों में विभाजित कर दिया था तथा यह संघर्ष छब्बीस वर्षों के एक लंबे अरसे तक चलता रहा। दोनों पक्षों के नेता यूनान के प्रधानतम तथा सबसे शक्तिशाली राज्य थे, जो अपना सब कुछ दाँव पर लगा कर इस संघर्ष में जूझ रहे थे। स्पार्टा और एथेंस अपने चरमोत्कर्ष के काल में इस युद्ध में लगे थे तथा इन दोनों के पक्ष में बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे। इस प्रकार के आंतरिक संघर्ष के कारण यूनान का विभाजन पहले कभी नहीं हुआ था। इसलिए थ्युसीडाइडीज की दृष्टि में यह यूनान का सबसे भयंकर और सबसे बड़ा युद्ध था। इसलिए इस युद्ध के इतिहास को वह मानव जाति की चिरस्थायी निधि मानता है।

फारस के साथ युद्ध को वह यूनानी जाति की महान सफलता मानता है, पर पेलोपोनेशियन युद्ध की तुलना में फारस के साथ संघर्ष बहुत छोटी घटना थी। उसके अनुसार फारस के साथ युद्ध का निर्णय चार लड़ाइयों में हो गया, जिनमें दो स्थल पर लड़ी गई तथा दो समुद्र में। पर, यह संघर्ष ४३१ ई०-पू० से ४०५ ई०-पू० तक

चलता रहा। इसमें भयानक नर-संहार हुआ तथा इसके साथ-साथ यूनान पर अनेक विपत्तियाँ एक साथ टूट पड़ीं। बहुत बड़े पैमाने पर हत्याएँ हुईं तथा देश-बहिष्कार हुआ। सूर्यग्रहण अनेक बार देखा गया तथा इस युद्ध के दौरान यूनानवासियों को भूकंप, सूखा और भयानक प्लेग का भी सामना करना पड़ा। इन विपत्तियों ने इस युद्ध की भयंकरता को और बढ़ा दिया।

यह युद्ध यूनान के राजनैतिक ध्रुवीकरण का प्रमाण है तथा निस्संदेह यह युद्ध कुछ सिद्धांतों और नीतियों की रक्षा के लिए लड़ा गया। इन सिद्धांतों और नीतियों ने ही यूनान को दो युद्ध-शिविरों में बाँट दिया। इन दोनों शिविरों का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न था। एथेंस की दृष्टि में अपने सामुद्रिक साम्राज्य की रक्षा तथा यूनानी जगत में अपनी महत्ता बनाए रखना अत्यावश्यक था। एथेंस के नेताओं के अनुसार इन दोनों का त्याग जिम्मेदारियों से भागना तथा कायरता का सबूत था। उनके अनुसार यह साम्राज्य उन्होंने बनाया नहीं था, वरन् परिस्थितियों के कारण उन पर लाद दिया गया था। यदि स्पार्टा ने प्लेटी के युद्ध के बाद फारस के साथ युद्ध जारी रखा होता, तो यूनान का इतिहास भिन्न होता। इसलिए अनिवार्य परिस्थितियों ने उन्हें डेलौस के संघ को अपने आधिपत्य में बदलने को बाध्य किया था और उन लोगों ने न्याय तथा संयम के साथ अपने अधीनस्थ राज्यों के साथ व्यवहार किया था। इस आधिपत्य एवं प्रधानता की रक्षा करना उनका कर्त्तव्य था तथा इस कर्त्तव्य से वे भाग नहीं सकते थे। चूँकि स्पार्टा के नेता और स्पार्टा के मित्र देश एथेंस के संश्रित राष्ट्रों में असंतोष फैलाकर विद्रोह कराते रहते थे, इसलिए स्पार्टा की इस नीति का दमन करना उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक था। उनकी दृष्टि में स्पार्टा उनका सबसे बड़ा शत्रु था। उनका दृष्टिकोण अखिल-यूनानी था, जिसका प्रमाण उन लोगों ने फारसी युद्धों के दौरान दिया था। स्पार्टा की नीति स्वार्थपूर्ण और संकीर्ण थी। वे नई जिम्मेदारियों का स्वागत करते थे और स्पार्टावासी जिम्मेदारियों से भागते थे। एथेंसवासी यूनान में लोकतंत्र के समर्थक थे तथा स्पार्टावासी उच्चकुलतंत्र के हिमायती थे। इसलिए एथेंस की दृष्टि में प्रगतिशील एथेंस का प्रतिक्रियावादी और संकीर्ण स्पार्टा से युद्ध अवश्यभावी था।

इस युद्ध की महत्ता इस बात से भी बढ़ जाती है कि यह युद्ध ऐसे दो राज्यों में लड़ा गया, जिनकी शक्ति के क्षेत्र भिन्न-भिन्न थे। स्पार्टा स्थल-युद्ध में यूनान का सबसे शक्तिशाली राज्य था और एथेंस सामुद्रिक शक्ति तथा नौसेना की दृष्टि से बेजोड़ था। दोनों ही ने अपनी-अपनी शक्ति का उपयोग अपने प्रभुता और आधिपत्य के विस्तार में किया था। स्पार्टा ने एक शक्तिशाली स्थल-साम्राज्य की स्थापना कर ली थी तथा लेसीडेमन प्रदेश के अधिकांश राज्यों का नेतृत्व उसके हाथ में था और

एथेंस ने अपनी नौशक्ति के द्वारा एक दूर-दूर फैले हुए साम्राज्य की स्थापना की थी एवं नौसैनिक राज्यों का नेतृत्व उसके हाथ में था। इसलिए पूरे यूनान पर अपनी महत्ता स्थापित करने के लिए भी यह युद्ध लड़ा गया। यूनान का नेतृत्व कौन करे, इसका निर्णय करने के लिए यह संघर्ष हुआ।

स्पार्टा तथा उसके संश्रित राष्ट्रों की दृष्टि में भी कुछ सिद्धांतों के लिए ही यह युद्ध लड़ा गया। कोरिंथ-जैसे राज्यों की निगाह में एथेंस एक प्रसारवादी और साम्राज्यवादी राज्य था, जो पूरे यूनान को अपनी दासता की बेड़ी में जकड़ कर अपने पैरों-तले रौंदना चाहता था। एथेंस की यह निरंकुश नीति उसके मित्र-राष्ट्रों के साथ व्यवहार में स्पष्ट हो गई थी। उसने एक-एक कर अपनी सभी मित्र-राज्यों को अपना गुलाम बना रखा था। इसलिए उसकी इस असीम महत्त्वाकांक्षा पर अंकुश लगाना आवश्यक था। इसीलिए कोरिंथ-जैसे राज्यों ने स्पार्टा को इस निरंकुश विस्तारवादी राज्य का दमन करने के लिए उकसाया। स्पार्टा के नेता अपने-आपको यूनान के नगर-राज्यों की स्वतंत्रता के हिमायती मानते थे। इसलिए उनलोगों ने एथेंस के वढ़ते हुए साम्राज्यवाद को रोकने के लिए यह युद्ध किया। अतः, इन सिद्धांतों और नीतियों के कारण यूनान का दो सैनिक गुटों में बँट जाना इस युद्ध की विशेषता है।

जातिगत एवं वंशगत आधार पर भी इस युद्ध ने पूरे यूनान को दो भागों में बाँट दिया था। आयोनियन शाखा के अधिकांश यूनानी राज्य एथेंस के समर्थक थे तथा डोरियन शाखा के अधिकांश यूनानी राज्य स्पार्टा का साथ दे रहे थे।

अंततः यह युद्ध यूनान के आंतरिक विद्वेष का विस्फोट था। कई दशकों से एथेंस और स्पार्टा की प्रतिद्वंद्विता बढ़ती जा रही थी। धीरे-धीरे इस प्रतिद्वंद्विता ने ईर्ष्या और वैमनस्य का रूप धारण कर लिया था। परिणामतः पूरे यूनान का वातावरण पारस्परिक संदेह और घृणा से इस प्रकार विषाक्त हो गया था कि कोई मामूली घटना भी महान युद्ध का रूप धारण कर सकती थी। इसलिए इस युद्ध को स्पार्टा एवं एथेंस की पारस्परिक शत्रुता और ईर्ष्या की अभिव्यक्ति मानना गलत नहीं होगा।

युद्ध के मूलभूत कारण

इस युद्ध के एकमात्र इतिहासकार थ्युसीडाइडीज ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में इस युद्ध के वास्तविक कारण का वर्णन किया है। उसके अनुसार, यद्यपि सार्वजनिक तौर पर इस युद्ध के कारणों की घोषणाओं में दूसरी बातें बतलायी गईं, पर इसका वास्तविक कारण था—एथेंस की शक्ति में वृद्धि तथा इसके कारण स्पार्टा तथा उसके मित्र राष्ट्रों में भय की वृद्धि। थ्युसीडाइडीज के विचार ठीक मालूम होते हैं। डेलौस के संघ को क्रमशः साम्राज्य में बदलने के बाद, एथेंस की शक्ति और समृद्धि

में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही थी। एथेंस की आंतरिक राजनीति में साइमन के पतन के बाद जिन नेताओं का उदय हुआ, वे प्रसारवादी तथा साम्राज्यवादी थे तथा स्पार्टा को सबसे बड़ा शत्रु समझते थे। ये नेता थे—एफीयाल्टीज तथा पेरिक्लीज, जिनकी विस्तारवादी नीति से स्पार्टावासियों के मन में भय उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता था।

पेरिक्लीज की साम्राज्यवादी नीति

स्पार्टानिवासियों में भय तथा ईर्ष्या की भावना जागृत करने में पेरिक्लीज की प्रसारवादी नीति प्रधान कारण मालूम होती है। हम देख चुके हैं कि फारसी आक्रमणों के दौरान यूनान में अखिल-यूनानी एकता की भावना बढ़ गई तथा एथेंस और स्पार्टा के सहयोग में वृद्धि हुई थी। आक्रमण का मुकाबला करने के लिए कई बार यूनानी संघ (Hellenic League) की बैठक हुई थी। पर, ४६७ ई०-पू० में साइमन द्वारा एशिया माइनर के दक्षिणी भाग में यूरीमेडन नदी के मुहाने पर फारसी नौसेना को हराने के बाद फारसी आक्रमण का खतरा समाप्त हो गया। इसके पश्चात् डेलियन लीग (Delian League) का भी अन्त हो गया था। स्पार्टा और एथेंस की मित्रता एवं सहयोग की भावना भी समाप्त हो गई।

हम देख चुके हैं कि साइमन स्पार्टा के साथ मित्रता की नीति में विश्वास करता था, पर एफीयाल्टीज तथा पेरिक्लीज दोनों ही स्पार्टाविरोधी नीति के समर्थक थे। इसलिए, फारसी आक्रमण का खतरा समाप्त होते ही एफीयाल्टीज ने स्पार्टा के पड़ोसी राज्य आर्गोस (Argos) से मैत्री-संबंध कायम किया। चूँकि स्पार्टा के संबंध आर्गोस के साथ शत्रुतापूर्ण थे, इसलिए स्पार्टा ने इस संधि को अपने विरुद्ध समझा। एफीयाल्टीज ने थेसली के साथ भी मैत्रीपूर्ण संधि की।

पेरिक्लीज के वंश के लोग स्वाभाविक तौर पर स्पार्टा को एथेंस का शत्रु मानते थे। अपनी वंशगत परंपरा के अनुसार पेरिक्लीज भी स्पार्टा को एथेंस का स्वाभाविक शत्रु मानता था। फारस की तुलना में स्पार्टा ही पेरिक्लीज की दृष्टि में बड़ा शत्रु था। इसलिए पेरिक्लीज ने भी खुल कर स्पार्टाविरोधी नीति अपनायी तथा स्पार्टा के भावी आक्रमण की आशंका से एथेंस की बाहरी और आंतरिक सुरक्षा को दृढ़तर बनाना प्रारंभ किया। इस दिशा में उसने जो पहला कदम उठाया, वह था, मेगारा नामक नगर-राज्य से मैत्रीपूर्ण संधि करना। इस नगर-राज्य की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि इसके साथ मित्रता होने पर स्थलमार्ग से ऐटिका प्रदेश पर स्पार्टा की ओर से आक्रमण का खतरा कम हो जाता था। यह राज्य कोरिंथ के थलडमरूमध्य के उत्तरी भाग में स्थित था। अतः, यह यूनान के मध्य भाग तथा पेलोपोनेसस के प्रदेश को जोड़ता था। इस मैत्री से एथेंस को ऐसा बंदरगाह भी मिल गया, जहाँ से इटली तथा पश्चिमी भूमध्यसागर में आसानी से

जाया जा सकता था। पेरिक्लीज ने मेगारा में कुछ किलेबंदी भी कराई तथा सेना के कुछ दस्ते भी वहाँ रख छोड़े। पर शीघ्र ही यह मैत्री-संबंध आधिपत्य में बदल गया।

एथेंस की आंतरिक सुरक्षा के लिए पेरिक्लीज ने एथेंस की चहारदीवारी की दीवारों को मजबूत कराया तथा एथेंस से पीरुज के बन्दरगाह तक एक मजबूत दीवार बनवायी गई। इसके अतिरिक्त एथेंस से बंदरगाह तक की सड़कों के दोनों ओर उनकी रक्षा के लिए दो मजबूत दीवारें बनवायी गईं जिनसे आक्रमण के समय भी बंदरगाह से यातायात सुरक्षित रहे। इन सड़कों द्वारा युद्ध के समय भी समुद्र-मार्ग से रसद एथेंस में पहुँचायी जा सकती थी। चहारदीवारी को मजबूत करके एथेंस के आक्रमण के समय सुरक्षित बनाया गया। पेरिक्लीज की योजना के अनुसार युद्ध और आक्रमण के समय ऐटिका प्रदेश के ग्राम्य इलाकों के निवासियों को भी एथेंस में ही आकर शरण लेनी थी; क्योंकि चहारदीवारी के द्वारा केवल एथेंस नगर को ही सुरक्षित किया गया था। इसलिए युद्ध के समय अनिवार्यतः ग्राम्य प्रदेश अरक्षित हो जाते थे, पर उनके नागरिकों को एथेंस आकर शरण लेने की व्यवस्था थी।

पेरिक्लीज की इन नीतियों का परिणाम यह हुआ कि यूनान के कुछ राज्यों को एथेंस के इरादों पर संदेह होने लगा तथा एथेंस के प्रति शत्रुता की भावना बढ़ने लगी। सबसे पहले कोरिंथ नगर-राज्य के निवासी विशेषतः एथेंस की गतिविधि से सशंकित हो गए। एथेंस द्वारा मेगारा पर आधिपत्य स्थापित करने से कोरिंथ की दृष्टि से उसका सुरक्षा के लिए खतरा था। थ्युसीडाइडीज के अनुसार यह प्रधान कारण था, जिससे कोरिंथवासियों के हृदय में एथेंस के प्रति अत्यंत घृणा की भावना पैदा हो गई।

स्पार्टा ने सदैव एथेंस के प्रति इस विद्वेष-भावना से लाभ उठाया। स्पार्टा ने थीब्स के साथ अपनी पुरानी संधि को पुनर्जीवित किया। फिर स्पार्टा ने अपनी सेना को खाड़ी मार्ग से बोएशिया भेजा। एथेंस तथा उसके विरोधियों में छिटफुट लड़ाइयाँ होने लगीं। ४५७ ई०-पू० में एथेंस तथा स्पार्टा की सेना आमने-सामने थी। बोएशिया प्रदेश में टनाग्रा (Tanagra) नामक स्थान पर दोनों सेनाओं में मुकाबला हुआ, जिसमें स्पार्टा की सेना विजयी हुई। इस विजय के पश्चात् स्पार्टा की सेना घर लौटने को तैयार थी, पर कुछ ही हफ्तों में एथेंस ने पुनः आक्रमण कर दिया। ईनोफ़ाइटा (Oenophyta) नामक स्थान पर युद्ध हुआ। यहाँ एथेंस ने बोएशिया को पराजित कर उसे एक मैत्रीपूर्ण संधि करने के लिए बाध्य किया। पेरिक्लीज ने वहाँ उच्च-कुलतंत्र समाप्त करके लोकतांत्रिक शासन की स्थापना की।

पेरिक्लीज की साम्राज्यवादी नीति से एथेंस का आधिपत्य कुछ और राज्यों पर भी स्थापित हो गया। ४५७ ई०-पू० में ही एथेंस ने अपने पुराने शत्रु एजिना

द्वीप पर लंबे घेरे के बाद विजय पायी। एजिना को हर्जाने की बड़ी रकम देनी पड़ी तथा डेलौस के संघ का सदस्य बनने को बाध्य होना पड़ा। दो वर्षों बाद एथेंस की नौसेना ने कोरिंथ की खाड़ी के मार्ग से होकर एकिया राज्य को संधि करने के लिए बाध्य किया। ४५३ ई०-पू० में, पेरिक्लीज ने सिसली द्वीप के दो नगरों से संधि की। इसी साल, सिराक्यूज के प्रतिद्वंद्वी राज्य लियोण्टिनी (Leontine) से पेरिक्लीज ने संधि की तथा इटली में स्थित रेजियम (Rhegium) को भी अपना मित्र बनाया।

पेरिक्लीज ने नए उपनिवेशों की स्थापना द्वारा भी एथेंस की शक्ति का प्रसार किया। ४४६ ई०-पू० में पेरिक्लीज ने दक्षिणी इटली में साइबेरिस (Syberis) नामक स्थान पर एक नया उपनिवेश स्थापित करने के लिए एथेंस से उपनिवेशवादियों का एक दल भेजा। ४४४ ई०-पू० में दक्षिणी इटली में ही थूरी (Thuri) में एथेंस का उपनिवेश स्थापित किया गया। इन उपनिवेशों की स्थापना से कोरिंथवालों का क्रोध एथेंस के प्रति और बढ़ा; कोरिंथवासी पश्चिमी भूमध्यसागर को अपने प्रसार का क्षेत्र समझते थे।

फारस के साथ संघर्ष

इसी समय, कुछ आकस्मिक कारणों से एथेंस को फारस से भी उलझना पड़ा। मिस्र में लीबिया के एक राजकुमार ने विद्रोह कर नील नदी की घाटी पर अधिकार कर लिया तथा फारसियों को मिस्र से भगाने के लिए ४५९ ई०-पू० में एथेंस से सहायता माँगी। एथेंस के दो सौ जहाज वहाँ भेजे गए तथा विद्रोह सफल रहा। फारसी गवर्नर को मेम्फिस नगर में ४५७ ई०-पू० में घेर लिया गया। कुछ दिनों बाद फारसी सम्राट ने सेना भेजी तथा विद्रोह दबाया गया। एथेंस की सेना का बहुत बड़ा भाग मार डाला गया। यह पराजय ४५४ ई०-पू० में हुई। इस पराजय के कारण एथेंस ईनोफाइटा की विजय से पूरा लाभान्वित नहीं हो सका। ४५१ ई० पू० में साइमन देश-निर्वासन का दंड भुगत कर आ गया था। उसने एथेंसवासियों को स्पार्टा से पाँच वर्ष के लिए युद्धविराम करने को सहमत कर लिया। स्पार्टा ने इस संधि में एथेंस को आर्गोस के साथ ४६२ ई०-पू० में हुई संधि को तोड़ने के लिए बाध्य किया। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्गोस ने स्पार्टा के साथ तीस वर्ष के लिए मैत्रीपूर्ण संधि कर ली।

४५० ई०-पू० में साइमन ने मिस्र में हुई पराजय का बदला लेने के उद्देश्य से दो सौ जहाजों का एक बेड़ा तैयार किया तथा फारसी प्रदेशों पर आक्रमण किया। ४४९ ई०-पू० में साइप्रस द्वीप में सिटियाम नगर का घेरा डालते समय उसकी मृत्यु हो गई। साइमन के बेड़े ने फारसी बेड़े के एक अंश को पराजित किया। इसके बाद ही दोनों पक्षों ने सुलह कर ली। इस संधि के अनुसार फारसी सेना और

जहाजी बेड़े को ईजियन समुद्र से बाहर रखने तथा एथेंस की सेना को फारसी प्रदेशों से दूर रहने पर सहमति हुई।

पेरिक्लीज की नीति के अनुसार फारस से युद्ध करना व्यर्थ था। वह पूरे यूनान में अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था। इसलिए पेरिक्लीज ने एक अखिल-यूनानी सभा का आयोजन किया। इस सभा का उद्देश्य था, एथेंस के उन मंदिरों के जीर्णोद्वार की व्यवस्था करना, जिन्हें तीस वर्ष पूर्व जरेक्सेज के आक्रमण के समय नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। चूँकि इस सभा की सफलता पेरिक्लीज की नीति की सफलता होती, इसलिए स्पार्टा ने भाग लेने से इनकार कर दिया। अंततः यह सभा नहीं हो सकी।

स्पार्टा ने पुनः एथेंस के विरुद्ध विद्रोहों को भड़काना शुरू किया। ४४७ ई०-पू० में, बोएशिया के अभिजात वर्ग ने विद्रोह किया तथा कोरोनिया (Coronea) में एथेंस को पराजित किया। ४४६ ई०-पू० में यूबोइया में भी एथेंस के विरुद्ध विद्रोह हुआ। पेरिक्लीज स्वयं इस विद्रोह को दबाने के लिए यूबोइया गया। इसी बीच मेगारा में भी एथेंस की सेना को मार डाला गया तथा स्पार्टा की सेना ऐटिका प्रदेश पर आक्रमण करने को तैयार हो गई।

इस चतुर्दिक आक्रमण का सामना करने में एथेंस समर्थ नहीं था, इसलिए मजबूर होकर पेरिक्लीज ने ४४६ ई०-पू० में तीस वर्षों के लिए युद्ध-विराम की संधि की। इस संधि से एथेंस को कुछ राहत मिली तथा उसने अपनी शक्ति का उपयोग यूबोइया तथा ईजियन प्रदेश के अन्य द्वीपों के विद्रोह को दबाने में किया। फिर भी, इस संधि में एथेंस को अपने साम्राज्य के बहुत बड़े भाग छोड़ देने पड़े। एकिया और मेगारा उसके हाथ से निकल गए। इस संधि में यह भी तय किया गया कि एथेंस और स्पार्टा दोनों ही एक दूसरे के मित्रों को भड़का कर अपने साथ संधि करने के लिए बाध्य नहीं करेंगे। परिणामस्वरूप एथेंस के पेरिक्लीज द्वारा नवनिर्मित साम्राज्य में, ४४६ ई०-पू० के बाद दो ही प्रदेश बच गए—एजिना तथा नौपैकटस (Naupactus)।

इन सभी परेशानियों के बावजूद पेरिक्लीज ने ईजियन प्रदेश के उत्तरी एवं उत्तर-पूर्वी भाग में एथेंस के साम्राज्य का नए उपनिवेशों की स्थापना के द्वारा विस्तार किया। ४३७ ई०-पू० में थ्रेस प्रदेश में एम्फीपोलिस का उपनिवेश बसाया गया। वह उपनिवेश उत्तरी यूनान में एथेंस की शक्ति एवं व्यापारिक समृद्धि का केंद्र बन गया। इस प्रदेश के व्यापार तथा खानों पर एथेंस का अधिकार हो गया। काले सागर के उत्तर में क्रीमिया प्रदेश के राज्यों से पेरिक्लीज ने मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किया। हम देख चुके हैं कि छठी शताब्दी ई०-पू० में उपनिवेशन के

आंदोलन के समय एथेंस का इस प्रदेश से घनिष्ठ संबंध था। ४३७ ई०-पू० में पेरिक्लीज ने उस पुराने संबंध को फिर से दृढ़ बनाया तथा वहाँ के राजवंशों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किया।

इसका परिणाम यह हुआ कि एथेंस को काफी मात्रा में अनाज पैदा करने वाले प्रदेश से मैत्री हो गई, जहाँ से कठिनाई के दिनों में अनाज मँगाया जा सकता था।

इस प्रकार यदि हम पेरिक्लीज की साम्राज्यवादी नीति के परिणामों पर विचार करते हैं, तो थ्युसीडाइडीज की इस उक्ति की सत्यता समझ जाते हैं कि पेलोपोनेशियन युद्ध का वास्तविक कारण एथेंस की शक्ति का प्रसार तथा उससे स्पार्टा एवं उसके मित्र राष्ट्रों के भय में वृद्धि था। ४४५ ई०-पू० में हुई तीसवर्षीय संधि के पूर्व की घटनाएँ एथेंस के साम्राज्यवाद के विस्तार का प्रमाण है तथा ४४५ ई०-पू० में एथेंस पर कई ओर से आक्रमण इस बात का प्रमाण है कि एथेंस की विस्तारवादी नीति कई राज्यों की आँखों में खटकने लगी थी तथा वे इस साम्राज्यवाद पर अंकुश लगाना चाहते थे। इसलिए पेरिक्लीज के साम्राज्यवाद को हम पेलोपोनेशियन युद्ध के मूलभूत कारणों में मान सकते हैं। इस साम्राज्यवाद ने ही स्पार्टा और कोरिंथ के मन में उस विद्वेष की भावना को जन्म दिया, जिससे वे एथेंस को नीचा दिखाने के षड्यंत्र में लग गए।

एथेंस के संश्रित राज्यों का असंतोष

एथेंस के साम्राज्यवाद में कुछ ऐसी खामियाँ थीं, जिनके कारण उसके संश्रित राज्यों का असंतुष्ट होना स्वाभाविक था। एथेंस की साम्राज्यवादी व्यवस्था का मौलिक दोष यह था कि संश्रित राज्य उसकी केंद्रीय कार्यपालिका अथवा सरकार में कोई प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त कर सकते थे। इसलिए वे यह बात महसूस करने लगे थे कि एथेंस उन्हें सदा के लिए अधीनस्थ राज्य के रूप में रखना चाहता है। इसलिए यद्यपि एथेंस ने अपने साम्राज्य में शांति, सुव्यवस्था तथा आर्थिक समृद्धि को बढ़ाया, तथापि उसके संश्रित राज्य उसके मनमाने शासन से असंतुष्ट थे। उन पर एथेंस के भाषा, कानून और मुद्रा लादे जा रहे थे। उनके बीच में एथेंस के नागरिकों को बसाया जा रहा था। शासन में उन्हें किसी प्रकार का अधिकार या प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त था। इसलिए, इन संश्रित राज्यों के राजनैतिक नेता तथा पुराने शासककुल, जिनके अधिकारों को छीना गया था, विद्रोह की आग भड़का रहे थे। इसके अतिरिक्त एथेंस द्वारा कर बड़ी कठोरता से वसूल किए जाते थे। यूनानी राज्यों में स्वतंत्रता की भावना बद्धमूल थी। इसलिए ये संश्रित राज्य एथेंस के आधिपत्य से शीघ्रातिशीघ्र मुक्त होना चाहते थे। अतः, इन संश्रित राज्यों का बढ़ता हुआ असंतोष भी, इस युद्ध के मौलिक कारणों में था।

आर्थिक कारण

एथेंस के साम्राज्य के विकास के साथ-साथ उसकी व्यापारिक और आर्थिक समृद्धि में भी उत्तरोत्तर उन्नति हो रही थी। उसकी व्यापारिक समृद्धि से कुछ अन्य राज्यों के व्यापार को धक्का पहुँचा था। अतः, इस क्षेत्र में एथेंस के कई प्रतिद्वंद्वी राज्य थे, जो उनसे जलने लगे थे। पूरे ईजियन प्रदेश के व्यापार पर एथेंस का एकच्छत्र राज्य था। धीरे-धीरे एथेंस के व्यापार का विस्तार पश्चिमी भूमध्यसागर के प्रदेश में भी होने लगा था। एथेंस में बने हुए मिट्टी के बर्त्तन इटली के बाजारों में छा गए थे। कोर्सिरा के साथ संधि तथा नौपैक्टस पर आधिपत्य के द्वारा एथेंस यूनान के पश्चिम में अपने व्यापार का विस्तार करना चाहता था। इस व्यापारिक विस्तार से मेगारा, कोरिंथ तथा सिस्योन प्रदेश के व्यापार को धक्का लगा। इन राज्यों में एथेंस के प्रति विद्वेष का यह आर्थिक पहलू था, जो युद्ध के मूलभूत कारणों में एक माना जा सकता है।

युद्ध के तात्कालिक कारण

एथेंस की साम्राज्यवादी नीति ने यूनान के बहुत-से राज्यों में उस घृणा एवं विद्वेष की भावना को जन्म दिया, जिससे यूनान दो सैनिक शिविरों एवं राजनैतिक गुटों में बँट गया। एक गुट का नेता था एथेंस तथा दूसरे गुट का नेतृत्व स्पार्टा के हाथ में था। एथेंस का उद्देश्य था, ४४६ ई०-पू० की पराजय का बदला लेकर स्पार्टा को नीचा दिखाना तथा स्पार्टा का उद्देश्य था एथेंस के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करना, जिससे यूनान में उसकी शक्ति एवं प्रतिष्ठा कम हो जाए। दोनों ही एक दूसरे को अपना सबसे बड़ा शत्रु मानने लगे। समस्त यूनान की राजनीति संदेह, घृणा एवं विषाक्त हो उठी। दोनों ही गुट बारूद के ढेर पर बैठे थे, जहाँ एक मामूली चिनगारी भी भयानक विस्फ़ोट का कारण बन सकती थी। राजनैतिक दाँव-पेंच और पैंतरेबाजी द्वारा भयानक युद्ध की भूमिका तैयार हो चुकी थीं तथा युद्ध का प्रारंभ कभी भी हो सकता था।

कुछ छोटे राज्यों के आपसी झगड़ों ने इस युद्ध का तात्कालिक कारण प्रदान किया। ४३५ ई०-पू० से उन घटनाओं का क्रम प्रारभ हुआ, जिनकी परिणति युद्ध में हुई। इन घटनाओं का क्रम कोरिंथ के एक उपनिवेश कोर्सिरा में प्रारंभ हुआ।

कोर्सिरा तथा एपिडैमस

कोर्सिरा यद्यपि कोरिंथ का उपनिवेश था, पर बहुत दिनों से वह स्वतंत्र था तथा कोरिंथ के साथ उसके संबंध अच्छे नहीं थे। कोर्सिरा ने भी एपिडैमस (Epidammus) नामक एक उपनिवेश बसाया था। इसी समय यहाँ के निष्कासित कुलीनों ने पड़ोसी देश इलीरिया

(Illyria) के कुलीनों से मिल कर एपिडैमस पर आक्रमण कर दिया। इस दशा में एपिडैमस ने कोर्सिरा से सहायता माँगी। पर, कोर्सिरा ने सहायता देने से इनकार कर दिया। तब एपिडैमस ने कोरिंथ से सहायता माँगी तथा कोरिंथ ने एपिडैमस की सहायता के लिए सेना एवं उपनिवेशवासियों को भेजा। कोरिंथ द्वारा भेजी गई यह सहायता कोर्सिरा को अच्छी नहीं लगी। कोर्सिरा के अनुसार यह कोरिंथ का अनुचित हस्तक्षेप था। कोर्सिरा ने यह माँग की कि कोरिंथ अपनी सेना वापस बुला ले, पर कोरिंथ ने यह मांग ठुकरा दी। तब कोर्सिरा ने एपिडैमस पर आक्रमण कर दिया। कोरिंथ ने जब हस्तक्षेप की धमकी दी, तब कोर्सिरा ने एथेंस से सहायता माँगी। पेरिक्लीज ने कोर्सिरा से संधि की तथा एक छोटा जहाजी बेड़ा कोर्सिरा की सहायता के लिए भेजा। ४३३ ई०-पू० में साइबोटा (Sybota) द्वीप के पास कोर्सिरा तथा कोरिंथ में एक नौसैनिक युद्ध हुआ, जिसमें कोरिंथ की नौसेना ने कोर्सिरा की नौसेना को हरा दिया। एथेंस का जहाजी बेड़ा तब तक वहाँ पहुँच चुका था और उसकी उपस्थिति के कारण ही कोरिंथ की नौसेना कोर्सिरा के जहाजी बेड़े को पूर्णतया नष्ट नहीं कर सकी। इस लड़ाई के बाद एथेंस के जहाजी बेड़े ने कोर्सिरा के बेड़े के बचे-खुचे अंश को कोर्सिरा तक पहुँचा दिया तथा कोरिंथ की नौसेना को एथेंस के साथ भिड़ने की हिम्मत नहीं हुई।

एथेंस द्वारा कोर्सिरा को सहायता देना कोरिंथ के अनुसार न केवल एक अत्यंत शत्रुतापूर्ण कार्य था, वरन् तीस वर्षों की संधि का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन था। इसके अतिरिक्त कोर्सिरा के साथ एथेंस की संधि कोरिंथ के राजनैतिक एवं व्यापारिक हितों की दृष्टि से एक बहुत बड़ा खतरा थी। कोरिंथ के अनुसार एथेंस को इस झगड़े में तटस्थता की नीति का आश्रय लेना चाहिए था। चूँकि कोर्सिरा यूनान के पश्चिम में एक द्वीप था, इसलिए वहाँ से इटली, सिसली आदि से व्यापार किया जा सकता था। एथेंस इस संधि द्वारा पश्चिमी भूमध्य सागर के देशों में अपना व्यापार और प्रभाव बढ़ाना चाहता था। कोरिंथ पश्चिमी भूमध्यसागर को अपने प्रसार का क्षेत्र मानता था, इसलिए इस प्रदेश में एथेंस के व्यापार एवं प्रभाव का विस्तार उसके लिए असह्य था। इस प्रकार कोर्सिरा को सहायता देकर एथेंस ने कोरिंथ की शत्रुता की भावना को तीव्रतर बना दिया।

पोटीडिया (Potidaea) का विद्रोह

इस युद्ध के तात्कालिक कारणों में दूसरा स्थान पोटीडिया के विद्रोह का है। यह नगर उत्तरी यूनान में स्थित था। इसके पास ही एथेंस का नया उपनिवेश एम्फीपोलिस बसाया गया था, जिसके कारण इस नगर को व्यापारिक समृद्धि को खतरा उत्पन्न हो गया था। पोटीडिया का नगर कोरिंथ का उपनिवेश रह चुका

था, पर साइमन के नेतृत्व काल में यह डेलौस के संघ का सदस्य बन चुका था। एथेंस द्वारा इस नगर का कर बढ़ाए जाने पर यहाँ विद्रोह की तैयारियाँ शुरू हो गईं तथा इस विद्रोह को भड़काने में कोरिंथ और पड़ोसी राज्य मैसीडोनिया का बहुत हाथ था। ४३२ ई०-पू० में पोटीडिया ने एथेंस के आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। प्रतिशोध की भावना से तथा एथेंस की कठिनाइयों को बढ़ाने के लिए कोरिंथ ने दो हजार स्वयंसेवकों की एक सेना पोटीडिया की सहायता के लिए भेजी। आसपासके नगरों ने भी इस विद्रोह में साथ दिया, पर एथेस ने कर की मात्रा घटा कर विद्रोह को शांत कर दिया। लेकिन, पोटीडिया के विरुद्ध एथेंस ने एक घेरा डाल दिया, जो लंबे अरसे तक चलता रहा। इस घेरे के कारण कोरिंथ द्वारा भेजे गए स्वयंसेवक भी वहीं घिरे रहे।

ठीक इसी समय पेरिक्लीज ने मेगारा को भी सबक सिखाने का निश्चय किया। पेरिक्लीज के नेतृत्व में एथेंस की जनसभा ने निर्णय किया कि मेगारा के निवासी एथेंस साम्राज्य के अंतर्गत किसी बाजार में या बंदरगाह पर व्यापार के लिए नहीं जा सकते हैं। इस निर्णय द्वारा पेरिक्लीज यह दिखलाना चाहता था कि बिना युद्ध के भी एथेंस से बहुत से राज्यों को अपने घुटने-तले झुका सकता है। वास्तव में, इस निर्णय से मेगारा का आर्थिक दृष्टि से सर्वनाश हो गया।

एथेंस की शक्ति के विकास के लिए पेरिक्लीज ने पश्चिमी भूमध्यसागर प्रदेश के लिओण्टिनी तथा रेजियम के राज्यों से कुछ पुरानी संधियों को पुनरुज्जीवित किया। इन संधियों का समाचार पाकर कोरिंथ और सशंकित हो गया; क्योंकि पश्चिमी भूमध्य सागर को वह अपने प्रसार का क्षेत्र समझता था। अतः, कोरिंथ ने एथेंस को नीचा दिखाने का निश्चय कर लिया तथा उसने स्पार्टा को एथेंस से युद्ध करने के लिए उभारना शुरू किया। कोरिंथ को इस बात का विश्वास था कि वह अकेले एथेंस से लोहा लेने में समर्थ नहीं है।

स्पार्टा अभी भी एथेंस के साथ युद्ध नहीं चाहता था। पर, पेलोपोनेसस प्रदेश के संघ (Peloponnesian Confederacy) के सदस्य एथेंस के विरुद्ध उसे भड़काने लगे। कोरिंथ ने इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। जब एथेंस ने पोटीडिया पर घेरा डाला, उसी समय कोरिंथ ने अपने प्रतिनिधियों को स्पार्टा भेजा। इस समय, वहाँ पेलोपोनेशियन संघ की बैठक चल रही थी। इन प्रतिनिधियों ने स्पार्टा की जनसभा के समक्ष बोलते हुए तुरंत युद्ध की घोषणा करने का प्रस्ताव किया। उस समय वहाँ एथेंस के प्रतिनिधि भी, किसी दूसरे काम से मौजूद थे, जिन्होंने कोरिंथ द्वारा किए गए दोषारोपणों का खंडन किया। स्पार्टा के राजा आर्कीडैमस ने राजनयिक बातचीत के द्वारा झगड़े को सुलझाने की सलाह दी। पर स्पार्टा की

जनसभा ने यही निर्णय किया कि एथेंस द्वारा कोर्सिरा के युद्ध में भाग लेना तीस वर्षों के लिए किए गए युद्धविराम का उल्लंघन है। पेलोपोनेशियन संघ ने ४३२ ई०-पू० में युद्ध के पक्ष में मत दिया। डल्फी मंदिर के भविष्यवक्ता के पास दूत भेजे गए तथा वहाँ से उत्साहवर्द्धक संदेश प्राप्त हुआ।

इसके बाद स्पार्टा द्वारा एथेंस को चुनौती दी गई, जिसमें कहा गया कि यदि एथेंस यूनान के विभिन्न राज्यों की स्वतंत्रता वापस कर दे तथा उनकी शिकायतों को दूर कर दे, तो युद्ध की संभावना टल सकती है। उदाहरण के लिए मेगारा के विरुद्ध उठाया गया आर्थिक कदम वापस लिया जाए तथा एजिना और पोटीडिया को एथेंस के आधिपत्य से मुक्त किया जाए। ऐथेंस में पेरिक्लीज का विरोधी दल शांति के पक्ष में था, पर पेरिक्लीज के नेतृत्व में एथेंस की जनता ने चुनौती की शर्तों को नामंजूर किया तथा युद्ध के पक्ष में निर्णय किया। परिणामस्वरूप ४३१ ई०-पू० में युद्ध का प्रारंभ हो गया।

प्लेटी पर थीब्स का आक्रमण

जिस अंतिम घटना ने इस युद्ध की आग को प्रज्ज्वलित कर दिया, वह था—प्लेटी पर थीब्स का आक्रमण। यूनान के राजनैतिक ध्रुवीकरण तथा विद्वेष के वातावरण से फायदा उठाने के लिए ४३१ ई०-पू० में थीब्स के नागरिकों ने प्लेटी नगर पर पुनः अधिकार प्राप्त करने के लिए आक्रमण कर दिया। उनका यह आक्रमण असफल रहा। पर, चूँकि प्लेटी लगभग सौ वर्षों से एथेंस का संश्रित राज्य था, इसलिए एथेंस को उसकी सहायता के लिए युद्ध में कूदना पड़ा। यह आक्रमण ४३१ ई०-पू० के मार्च महीने में हुआ तथा इसके कारण पेलोपोनिशियन युद्ध शीघ्र ही प्रारंभ हो गया।

एथेंस की निगाह में प्लेटी पर आक्रमण तीसवर्षीय युद्धविराम संधि का सरासर उल्लंघन था तथा युद्ध अब अनिवार्य हो गया।

यूनान के विभिन्न राज्यों ने दोनों पक्षों में किसी-न-किसी का साथ दिया। जिस प्रकार महाभारत के युद्ध में भारत के सभी राजा किसी-न-किसी ओर से लड़ रहे थे, वैसे ही इस युद्ध में भी लगभग सभी यूनानी नगर-राज्य किसी-न-किसी पक्ष में सम्मिलित थे। स्पार्टा के साथ दो राज्यों को छोड़कर पेलोपोनसस प्रदेश के सभी राज्य थे। जिन दो राज्यों ने स्पार्टा का साथ नहीं दिया, वे थे आर्गोस तथा एकिया। आर्गोस से स्पार्टा को पुरानी शत्रुता थी। कोरिंथ तथा मेगारा स्पार्टा के साथ थे। उत्तरी यूनान में बोएशिया, फोसिस तथा लोक्रिस एवं पश्चिमी यूनान में अम्ब्रेसिया, एनोक्टोरियन और ल्युकस द्वीप स्पार्टा के पक्ष में थे। एथेंस के साथ डेलौस संघ के सदस्यों के अलावा, पश्चिमी यूनान के ऐकारनियम नागरिक, कोर्सिरा,

जैसिथस तथा नौपैक्टस थे। उत्तरी यूनान में प्लेटी उसके साथ था। संघ के सदस्यों में केवल लेस्वोस तथा शियास दो स्वतंत्र राज्यों के रूप में उसकी सहायता कर रहे थे।

इस युद्ध के प्रारंभ के समय यूनान का लोकमत अधिकतर स्पार्टा के ही पक्ष में था। यूनान की जनता यह मान रही थी कि एक अत्याचारी एवं साम्राज्यवादी नगर के विरुद्ध स्पार्टा यूनान के छोटे-छोटे नगर-राज्यों की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहा है।

युद्ध की प्रमुख घटनाएँ

प्लेटी पर थीब्स के आक्रमण ने उस चिनगारी का काम किया, जिससे युद्ध की ज्वाला भड़क उठी। दोनों ही पक्ष एक दूसरे की कमज़ोरियों का लाभ उठाना चाहते थे। हम देख चुके हैं कि युद्ध के प्रारंभ से ही लोकमत एथेंस के विरुद्ध तथा स्पार्टा के पक्ष में था; क्योंकि स्पार्टा के संश्रित राज्य स्पार्टा को एथेंस के साम्राज्यवाद के विरुद्ध छोटे-छोटे राज्यों की स्वतंत्रता का रक्षक मानते थे। एथेंस की साम्राज्यवादी नीति से उसके संश्रित राज्यों में भी असंतोष की भावना व्याप्त थी। इसलिए इस युद्ध के दौरान स्पार्टा ने इस असंतोष की भावना से पूरा लाभ उठाया चूँकि स्पार्टा स्थल युद्ध में एंथेस की अपेक्षा अधिक सुसंगठित एवं सशक्त था, इसलिए वह ऐटिका प्रदेश पर बार-बार आक्रमण करके, वहाँ की संपत्ति का विनाश कर एथस को दुर्बल बनाना चाहता था। एथेंस अपनी नौसेना की शक्ति से पेलोपोनेसस के तटवर्ती नगरों को नष्ट-भ्रष्ट करके स्पार्टा को तबाह करना चाहता था। एक दूसरे के दुर्बल स्थलों पर आघात पहुँचाने की नीति से आमने-सामने युद्ध लड़ने के अवसर कम आते थे। जब ऐटिका प्रदेश पर स्पार्टा का आक्रमण होता, तब ऐटिकावासी एथेंस नगर की दीवारों में छिप जाते तथा आक्रमणकारियों को संपत्ति का विनाश करने देते। इसी प्रकार पेलोपोनेसस प्रदेश तटवर्त्ती प्रदेशों पर भी एथेंस द्वारा आकस्मिक आक्रमण ही किए जाते। दोनों ही पक्ष एक दूसरे की शक्ति का क्रमिक ह्रास करना चाहते थे।

संपत्ति एवं साधनों की दृष्टि से एथेंस स्पार्टा की तुलना में अधिक समृद्ध था। उसके पास साम्राज्य तथा संपत्ति से भरा कोष भी था। पर स्पार्टा के सेना एवं सेनापति साधारणतया एथेंस की तुलना में अधिक सुयोग्य एवं कार्यकुशल थे। मित्रराज्यों के सहयोग एवं सद्भाव की दृष्टि से भी स्पार्टा एथेंस से अधिक सरल एवं भाग्यशाली था। जहाँ स्पार्टा के सहयोगी राज्य सच्चे दिल से और पूरी ईमानदारी से स्पार्टा को सक्रिय सहयोग दे रहे थे, वहीं एथेंस के संश्रित राज्य उसके डर से युद्ध में भाग ले रहे थे। उनके मन में यह डर बना हुआ था कि

एथेंस की विजय से उनकी पराधीनता चिरस्थायी हो जाएगी। इसलिए वे सच्चे दिल से एथेंस का साथ नहीं दे रहे थे।

एथेंस की सेना में तेरह हजार पैंदल सैनिक तथा एक हजार घुड़सवार थे। पर, तीन हजार पैदल सैनिक पोटीडिया का विद्रोह दबाने में लगे हुए थे। पेलोपोनेशियन संघ की सेना एथेंस की तुलना में लगभग तिगुनी अधिक थी। संघ की सेना में चौबीस हजार पैंदल सैनिक थे। इनके अतिरिक्त बोएशिया के पास दस हजार पैंदल सैनिक तथा एक हजार घुड़सवार थे। एथेंस की नौसेना संघ की नौसेना से कई गुनी सशक्त तथा बलशाली थी। पेरिक्लीज नौसेना तथा पैंसे के बल से ही युद्ध जीतना चाहता था। उसने इस उद्देश्य से काफी पैंसे बचा रखे थे। वह स्थल-युद्ध में एथेंस की कमजोरी से परिचित था, इसलिए उसने आमने-सामने युद्ध करने से इनकार किया। वह सफल शासक तथा कुशल राजनैतिक नेता था, पर वह कोई महान सेनापति नहीं था। कुशल सेनापतियों का अभाव एथेंस की महान कमजोरी थी। स्पार्टा की सेना का नेतृत्व वहाँ का राजा आर्कीडैमस कर रहा था, जो एक कुशल सेनानायक था। स्पार्टा का दूसरा प्रसिद्ध तथा सफल सेनानायक ब्रैसीडस था, जिसने अपनी सूझबूझ द्वारा पेरिक्लीज की नीतियों और चालों को समझ कर उसका मुकाबला करने की योजना बनायी, जिसके द्वारा एथेंस के साम्राज्य का विनाश हो सके।

युद्ध का प्रथम वर्ष

प्लेटी पर थीब्स के आक्रमण के बाद शीघ्र ही एथेंस की सीमाओं तक स्पार्टा की सेना राजा आर्कीडैमस के नेतृत्व में पहुँच गई। उसने संधि के प्रस्तावों के साथ कुछ दूतों को एथेंस भेजा। उसे आशा थी कि कहीं एथेंस उस समय संधि के प्रस्तावों को मान ले। पर पेरिक्लीज के नेतृत्व में यह निर्णय किया गया कि जब तक ऐटिका प्रदेश पर शत्रु की सेनाएँ वर्त्तमान हैं, तब तक संधि के प्रस्तावों पर विचार नहीं किया जा सकता। इस उत्तर के साथ दूतों को लौटा दिया गया इसके पश्चात्, युद्ध योजना के अनुसार होने लगा।

आर्कीडैमस के आक्रमण से बचने के लिए ऐटिका प्रदेश के किसान एथेंस की दीवारों के भीतर जा छिपे। उन लोगों ने अपने मवेशी तथा अपनी चल संपत्ति यूबोइया भेज दी। आर्कीडैमस की सेना को किसी प्रकार के विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। ऐटिका प्रदेश में कुछ सप्ताहों तक लूट-खसोट करने के बाद आर्कीडैमस लौट गया। एथेंस की नौसेना ने भी पेलोपोनेसस प्रदेश के तटवर्ती इलाकों को तबाह किया। एजिना द्वीप के निवासियों की वफादारी पर संदेह होने से एथेंस

ने वहाँ एथेंसवासियों की एक बस्ती स्थापित की, ताकि वे वहाँ के निवासियों की गतिविधि की निगरानी कर सकें।

युद्ध के प्रथम वर्ष का अंत पेरिक्लीज के एक प्रसिद्ध भाषण से हुआ, जो युद्ध में मरने वाले वीरों के सम्मान में दिया गया। यह भाषण जिसे 'अंतिम संस्कार से संबद्ध भाषण' (Funeral Oration) कहते हैं, विश्व के प्राचीन इतिहास में विख्यात है। इस भाषण में पेरिक्लीज ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में तथा सूक्ष्म ढंग से एथेंस गणराज्य के आदर्शों एवं उपलब्धियों का वर्णन किया।

युद्ध के दूसरे वर्ष की घटनाएँ पहले साल की घटनाओं से मिलती-जुलती हैं। पर, इस साल एथेंस पर एक दैवी विपत्ति आ पड़ी, जिसने एथेंस को कई दृष्टियों से अशक्त और दुर्बल बना दिया। एथेंस में प्लेग आ गया, जिससे बहुत बड़ी संख्या में नागरिकों की मृत्यु होने लगी। युद्ध के दौरान जनसंख्या की वृद्धि तथा सफाई का उचित प्रबंध नहीं होने से इस महामारी ने भयानक नरसंहार करना प्रारंभ कर दिया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस रोग से एथेंस की जनसंख्या का तीसरा हिस्सा मौत के मुँह में चला गया।

इस प्लेग का प्रभाव एथेंस की आंतरिक राजनीति पर भी पड़ा। अभिजात वर्ग के सदस्य, जो युद्ध के विरोधी थे, प्लेग के प्रभाव का लाभ उठाकर एथेंस की जनता को पेरिक्लीज के विरुद्ध भड़काने लगे। इस कार्य में वे कुछ हद तक सफल रहे तथा एथेंस का जनमत पेरिक्लीज के विरुद्ध हो गया। पेरिक्लीज को पदच्युत किया गया। उस पर सार्वजनिक संपत्ति के गबन का मुकदमा चला तथा पचास टेलेंट्स का जुर्माना किया गया। कुछ दिनों तक स्पार्टा से संधि के लिए भी प्रयत्न किए गए, पर आर्कीडैमस ने प्रस्तावों को ठुकरा दिया। शीघ्र ही, एथेंस का जनमत पेरिक्लीज के पक्ष में होने लगा तथा उसे पुनः सेनापति निर्वाचित कर लिया गया। चूँकि परिक्लीज के दो पुत्र प्लेग में मर चुके थे, इसलिए उनकी उपपत्नी के पुत्र को एथेंस की जनता ने उसका वैध पुत्र मानने का निर्णय किया। पर, शीघ्र ही ४२९ ई०-पू० में पेरिक्लीज स्वयं प्लेग के कारण मौत का शिकार हो गया तथा एथेंस का नेतृत्व अब दूसरी श्रेणी के नेताओं के हाथ में आ गया।

क्लियोन (Cleon) का नेतृत्व

क्लियोन एथेंस का चमड़े का एक व्यापारी था। वह अभिजात वर्ग का सदस्य नहीं था, वरन् अपने परिश्रम से ऊपर उठा था। इसलिए उसमें पेरिक्लीज की गरिमा, उदारता तथा दूरदर्शिता का सर्वथा अभाव था। पर, वह भी एक सुयोग्य नेता था, हालांकि प्राचीन इतिहासकारों ने उसकी कटु आलोचना की है।

साधारण कुल में उत्पन्न होने के कारण वह जनता की आकांक्षाओं से भली-भांति परिचित था, पर उसके नेतृत्व में कुछ ऐसी नृशंस और क्रूर नीतियों का प्रतिपादन हुआ, जिसमें एथेंस की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचा तथा उसके नाम पर धब्बा लग गया। फिर भी युद्ध की सारी असफलताओं तथा क्रूरताओं के लिए क्लियोन को ही दोषी ठहराना युक्तसंगत नहीं। युद्ध अपने-आप में ही एक नृशंस व्यापार है। अतः, उसके दौरान कुछ भी हो जाना असंभव नहीं है।

क्लियोन के नेतृत्व में युद्ध चलता रहा तथा ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों यह युद्ध अपनी नृशंसता से भयानक होता गया। पेरिक्लीज के जीवनकाल में भी कुछ क्रूर घटनाएँ घटी थीं। उसकी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले पोटीडिया का विद्रोह दबा दिया गया था। इस विद्रोह को दबाने में वहाँ के निवासियों को भूखों मार डालने की नीति का प्रयोग किया गया था। चारों ओर से नाकाबंदी करके वहाँ के रसद का जाना बंद कर दिया गया था। मजबूर होकर पोटीडिया को आत्मसमर्पण करना पड़ा। वहाँ के बचे-खुचे नागरिकों को निकाल-बाहर किया गया तथा वहाँ एथेंसवासियों को बसा दिया गया। इस कठोर नीति का उत्तरदायित्व पेरिक्लीज पर ही है।

४२८ ई०-पू० में माइटीलेन (Mytilene) प्रदेश में एथेंस के विरुद्ध विद्रोह हो गया। एक वर्ष के बाद एथेंस इस विद्रोह को दबाने में सफल हो सका। इस विद्रोह के तीस नेता एथेंस लाए गए तथा उन पर विद्रोह का मुकदमा चलाया गया। क्लियोन ने उन्हें प्राणदंड देने का अनुरोध किया, पर एथेंस की जनसभा ने इतना कठोर दंड देने से इनकार किया। इसलिए लेस्बास द्वीप पर भी एथेंसवासियों की एक बस्ती बसा दी गई।

चूँकि इस युद्ध के दौरान धीरे-धीरे एथेंस का कोष खाली हो रहा था, इसलिए एथेंसवासियों पर संपत्ति कर लगाया गया। इस प्रकार का प्रत्यक्ष कर पहले-पहल लगाया गया। इसके दो वर्ष बाद एथेंस के संश्रित राज्यों से लिया जाने वाला कर दुगुना कर दिया गया। इस कर के द्वारा १४६० टेलेंट्स की धनराशि इकट्ठी की गई।

युद्ध कई स्थलों पर चलता रहा। स्पार्टा की सेना ने प्लेटी पर अधिकार कर लिया। एथेंस की नौसेना से कोरिंथ की खाड़ी की पश्चिमी सीमा पर नौसैनिक युद्धों में विजय प्राप्त की। एथेंस की नौसेना ने सिसली में कोरिंथ के व्यापार को लूट-खसोट के द्वारा बड़ा धक्का पहुँचाया। पर, दोनों ही पक्ष निर्णायक रूप से एक दूसरे को नहीं पराजित कर सके।

४२७ ई०-पू० में पुनः युद्ध का प्रधान स्थल कोर्सिरा बन गया, जहाँ के गणतांत्रिक नेता एथेंस के समर्थक थे तथा वे कोरिंथ से सहानुभूति रखने वाले अभिजात वर्ग के शासन को समाप्त करना चाहते थे। एथेंस की नौसेना ने वहाँ पहुँच कर गणतांत्रिक दल को सक्रिय सहयोग दिया तथा कुलीन तंत्र को समाप्त कर दिया। कुलीन तंत्र के नेताओं को क्रूरतापूर्वक मार डाला गया।

४२५ ई०-पू० में एथेंस की सेना दक्षिणी-पश्चिमी पेलोपोनेसस प्रदेश के पाइलौस (Pylos) नामक नगर में उतरी। यहाँ इस सेना ने स्पार्टा की सेना के एक दस्ते को पराजित कर बंदी बना डाला। चूँकि इस आक्रमण का नेतृत्व अंतिम भाग में क्लियोन ने किया था, अतः सेनापति के रूप में उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। इस पराजय का बदला स्पार्टा ने एक साल बाद लिया, जब उसकी सेना ने एथेंस के उपनिवेश एम्फीपोलिस पर अधिकार कर लिया तथा थ्रेस पर भी आक्रमण कर दिया। एम्फीपोलिस का हाथ से निकलना एथेंस के साम्राज्यवाद पर बहुत बड़ा आघात सिद्ध हुआ। एम्फीपोलिस की रक्षा के लिए जो सेनापति भेजे गये थे, उनमें इतिहासकार थ्युसीडाइडीज भी था। एम्फीपोलिस पर स्पार्टा की विजय होने से, इन सेनापतियों को देश-निष्कासित किया गया। यह दंड थ्युसीडाइडीज को भुगतना पड़ा तथा उसी समय उसने इस युद्ध का विख्यात इतिहास लिखा।

एम्फीपोलिस की विजय से स्पार्टा के सेनपति ब्रैसीडस का हौसला बढ़ा तथा उसने पूरे थ्रेस प्रदेश पर विजय प्राप्त करने का कार्यक्रम बनाया। उसने बौसफोरस के मुहाने पर अधिकार करके क्रीमिया से एथेंस को भेजे जाने वाले मार्ग को अपने हाथों में लेना चाहा था। यदि उसकी यह योजना सफल हो जाती, तो शीघ्र ही एथेंस की पराजय हो जाती।

इसी वर्ष एथेंस की सेना ने बोएशिया प्रदेश पर आक्रमण किया तथा डेलियम के स्थल-युद्ध में ४२४ ई०-पू० में एथेंस बुरी तरह पराजित हुआ। इस पराजय से एथेंस के नेताओं ने संधि करने का विचार प्रारंभ किया। स्पार्टा से संधि-वार्त्ता प्रारंभ हुई तथा ४२३ ई०-पू० में स्पार्टा की इच्छा से एक वर्ष का युद्धविराम हुआ। पर, दोनों पक्ष के सेनापति — क्लियोन तथा ब्रैसीडल— इस युद्धविराम से संतुष्ट नहीं थे। क्लियोन ने एथेंस की जनसभा को समझाया कि एम्फीपोलिस का उपनिवेश एथेंस की सुरक्षा के लिए आवश्यक है, अतः उसकी अध्यक्षता में एक सेना एम्फीपोलिस पर पुनः अधिकार करने के लिए भेजी जाए। उसका प्रस्ताव स्वीकृत हुआ तथा एम्फीपोलिस प्रदेश में पुनः युद्ध प्रारंभ हो गया। इस युद्ध में दोनों ही पक्षों के सेनापति — क्लियोन तथा ब्रैसीडस मारे गए और विजय स्पार्टा की हुई। इस पराजय से एथेंस की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा।

एथेंस और स्पार्टा दोनों ही राज्यों में संधि के पक्ष में जनमत तैयार हो गया। एथेंस में निशियस (Nicias) नामक एक समृद्ध कुलीन नेता ने संधि के पक्ष में एक बड़ा गुट कायम कर लिया। ४२२ ई०-पू० के जाड़े के महीनों में संधि-वार्ता चलती रही तथा ४२१ ई०-पू० के मार्च महीने में स्पार्टा नगर में संधि की शर्तों पर हस्ताक्षर हुए। युद्ध प्रारंभ होने के ठीक दस वर्षों के बाद हुई इस संधि को निशियस के नाम पर 'निशियस की संधि' (Peace of Nicias) की संज्ञा दी गई है। इस संधि की शर्तों के अनुसार दोनों पक्षों ने एक दूसरे के युद्धबंदियों को छोड़ने तथा विजित प्रदेशों को लौटाने का निश्चय किया। एक दूसरी संधि के द्वारा एथेंस और स्पार्टा एक दूसरे के मित्र बन गए।

निशियस की संधि से पेलोपोनेशियन युद्ध के प्रथम चरण का अंत हुआ। पर इस संधि का कारगर होना दूर की बात थी। स्पार्टा के मित्र-राष्ट्र उसके इस व्यवहार से अत्यंत क्षुब्ध हो गए। कोरिंथ, मेगारा तथा थीब्स की दृष्टि में इस प्रकार की संधि करके स्पार्टा ने उसके साथ विश्वासघात किया। इसलिए उन लोगों ने इस संधि को मानने से इनकार कर दिया। परिणामस्वरूप दोनों ही पक्षों ने संधि की शर्तों को कार्यान्वित करने में आनाकानी शुरू की। एम्फीपोलिस प्रदेश के स्पार्टा के सेनापति ने उस प्रदेश का शासन एथेंस के प्रतिनिधियों के हाथ में न लौटा कर, वहाँ के निवासियों को सौंप दिया, जो संधि की शर्तों का उल्लंघन था। फलस्वरूप, एथेंस ने भी पेलोपोनेसस प्रदेश में स्थित पाइलौस को स्पार्टा को लौटाने से इनकार किया। एथेंस ने निसिया के प्रदेश को मेगारा को तब तक लौटाने से इनकार किया, जब तक की थीब्स प्लेटी का शासन एथेंस को नहीं सौंप दे। इस खींचातानी और दाँव-पेंच से युद्ध का तनाव यथावत् बना रहा तथा शीघ्र ही युद्धविराम का अंत हो गया और युद्ध के दूसरे चरण का प्रारंभ हो गया।

पेलोपोनेशियन युद्ध का दूसरा चरण

(४२१ ई०-पू०—४१३ ई०-पू०)

अल्सीबिआडीज (Alcibiades) का उदय तथा उसका नेतृत्व

४२१ ई०-पू० की संधि में प्रमुख भूमिका अदा करने के कारण निशियस की लोकप्रियता में थोड़ी वृद्धि हुई, पर शीघ्र ही अल्सीबिआडीज नामक एक प्रतिभाशाली युवक नेता के उदय से उसकी लोकप्रियता समाप्त होने लगी। इस गतिशील युवक नेता को शारीरिक सौंदर्य, अभिजात कुल, पारिवारिक संपत्ति तथा कुशाग्र बुद्धि एवं प्रतिभा सभी प्राप्त थे। वह पेरिक्लीज का चचेरा भाई था। अतः, उसे पेरिक्लीज के साथ रह कर एथेंस के नामीगिरामी लोगों के साथ निकट संपर्क में रहने का

अवसर मिला था। अपने स्वाभाविक प्रतिभा, सुंदरता तथा शिष्ट एवं मधुर व्यवहार से ही सुकरात-जैसे विचारक का कृपापात्र बन गया था। इन सभी गुणों से विभूषित होते हुए भी, उसमें 'नैतिक हिचक' नामक चीज नहीं थी। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह किसी भी साधन का सहारा ले सकता था। उसने मन में ठान लिया था कि उसे किसी प्रकार एथेंस का शासक बनना ही है। ४२० ई०-पू० में वह एथेंस का सेनापति चुना गया। निर्वाचन के समय निशियस ने उसका विरोध किया था, पर शीघ्र ही दोनों ने मिल कर हाइपरबोलस (Hyperbolus) नामक एक प्रतिद्वद्वी का विरोध करना शुरू किया। हाइपरबोलस अल्सीबिआडीज को देश-निष्कासन का दंड दिलवाना चाहता था। पर, निशियस तथा अल्सीबिआडीज दोनों ने मिल कर हाइपरवोलस को ४१७ ई०-पू० में देश-निष्कासन का दंड दिलवा दिया।

अल्सीबिआडीज अपने विख्यात चाचा की नीतियों का अनुसरण करना चाहता था। वह पेरिक्लीज की भाँति उग्र साम्राज्यवादी नीति को पुनर्जीवित करना चाहता था तथा अपने कुल की नीति के अनुसार स्पार्टा के साथ शत्रुता की नीति में विश्वास करता था। इसलिए एथेंस के गणतांत्रिक दल का नेता बनने के साथ ही उसने निशियस द्वारा स्पार्टा के साथ की गई संधि की आलोचना प्रारंभ की तथा स्पार्टा के शत्रु राज्यों से मैत्री-संबंध स्थापित करना शुरू किया।

४२१ ई०-पू० में स्पार्टा तथा उसके पड़ोसी राज्य आर्गोस के बीच हुई तीस-वर्षीय संधि समाप्त हो गई। इस संधि को पुनर्जीवित करने के लिए स्पार्टा से संदेश भेजे जाने लगे, पर आर्गोस ने कोई रुचि नहीं दिखायी। अभी तक आर्गोस ने इस युद्ध में तटस्थता की नीति का अवलंबन किया था तथा वहाँ के निवासी इस वात की आशा करने लगे थे कि वे यूनान में एथेंस और स्पार्टा के पतन के वाद, अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हो सकेंगे। इसलिए आर्गोस ने स्पार्टा के असंतुष्ट पड़ोसी राज्यों से मैत्री-संबंध कायम करना शुरू किया। परिणामस्वरूप, पेलोपोनेसस प्रदेश का संघ टूटने लगा। अल्सीबिआडीज ने इस सुनहरे अवसर से फ़ायदा उठाया तथा स्पार्टा के पड़ोसी राज्यों से मैत्री-संबंध स्थापित किया। उसने ४२० ई०-पू० में ही आर्गोस, मैंटीनिया तथा एलिस से संधि की। यद्यपि इन संधियों का स्वरूप रक्षात्मक था, तथापि अल्सीबिआडीज इनके द्वारा आक्रमण करना चाहता था। चूँकि एथसवासी किसी आक्रामक युद्ध के पक्ष में नहीं थे, इसलिए उन लोगों ने ४१८ ई०-पू० में अल्सीबिआडीज को सेनापति के निर्वाचन में हरा दिया। अल्सीबिआडीज के पतन से लाभ उठाकर स्पार्टा ने शीघ्र ही उसके द्वारा की गई गुटबंदी को समाप्त किया तथा मैंटीनिया के युद्ध में एथेंस और इस गुट के अन्य तीन राज्यों की मिली-जुली सेना को पराजित किया। इस विजय के बाद स्पार्टा ने आर्गोस को पुनः एक नई संधि

करने के लिए बाध्य किया तथा पेलोपोनेसस प्रदेश का संघ पुनः जीवित हो उठा। राजनयिक दृष्टि से एथेंस पुनः यूनानी जगत में अकेला हो गया। इन विफलताओं के बावजूद अल्सीबिआडीज एथेंस के जनमत को पुनः अपने पक्ष में करने में समर्थ रहा तथा दो वर्ष बाद उसने मेलौस को एथेंस के साम्राज्य का अंग बना दिया। जब वहाँ के लोगों ने विद्रोह किया, तब सेना भेज कर विद्रोह को कठोरतापूर्वक दवाया गया। बर्बरता के साथ वहाँ के सभी पुरुषों को मार डाला गया तथा सभी स्त्रियों और बच्चों को गुलाम बना डाला गया। ४१६ ई०-पू० में मेलौस में एथेंस के नागरिकों की एक बस्ती भी बसा दी गई। मेलौस का कांड इस युद्ध के दौरान एथेंस के नाम पर एक धब्बा माना जाता है। जिस निर्दयता और बर्बरता की नीति का सहारा लिया गया, वह एथेंस-जैसे गणतांत्रिक राज्य के लिए कलंक बन गया।

सिसली का अभियान

पेलोपोनेशियन युद्ध का द्वितीय चरण अल्सीबिआडीज के नेतृत्व से प्रारंभ हुआ, यह हम देख चुके हैं। उसके नेतृत्व का महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि एथेंस को सुदूर सिसली द्वीप की आंतरिक राजनीति में उलझना पड़ा। इस अभियान को युद्ध के द्वितीय चरण की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना माना जा सकता है। सिसली द्वीप की राजनीति में एथेंस तथा स्पार्टा ने दो पक्षों का समर्थन करने के लिए अपनी-अपनी सेनाएँ भेजीं। इस युद्ध में एथेंस का मुख्य उद्देश्य उस द्वीप में बसे हुए आयोनियन शाखा के यूनानियों के राज्यों की सहायता करना था। इस अभियान के लिए अल्सीबिआडीज ही मुख्यतः उत्तरदायी माना जा सकता है। सिसली में स्थित सेगेस्टा नगर से एथेंस के पुराने मैत्रीपूर्ण संबंध थे। ४१६ ई०-पू० में इस नगर पर उसके पड़ोसी नगर सेलीनस द्वारा आक्रमण हुआ तथा एथेंस से सहायता की माँग की गई। अल्सीबिआडीज ने सेगेस्टा को सहायता देने के प्रश्न का जोरदार समर्थन किया। इस बहाने इस महत्त्वाकांक्षी नेता ने एथेंस के नागरिकों को सिसली में एथेंस का प्रभाव-क्षेत्र चढ़ाने का सब्जबाग दिखाया। थ्युसीडाइडीज के अनुसार अल्सीबिआडीज़ सिसली को आधार बना कर पूरे पश्चिमी भूमध्य-सागर के राज्यों पर आधिपत्य स्थापित करना चाहता था तथा यहाँ के साधनों के द्वारा स्पार्टा का मानमर्दन करने का स्वप्न देख रहा था! संभवतः एथेंस के साधारण नागरिक भी इस विजय-अभियान के अवसर से उत्तेजित हो उठे थे।

फिर भी शांति प्रेमी निशियस ने इस अभियान का प्रारंभ से ही विरोध किया पर अल्सीबिआडीज की शब्द-चातुरी के कारण एथेंस के नागरिक इस अभियान के पक्ष में हो गए।

४१५ ई०-पू० के जून महीने में एथेंस के जहाजी बेड़े ने सिसली की ओर

प्रस्थान किया। पर, इस बेड़े के प्रस्थान के ठीक पहले एक भारी अपशकुन हो गया। किसी उपद्रवी ने एथेंस के देवता हर्मीज की सभी मूर्तियाँ तोड़-फोड़ दीं तथा अल्सीबिआडीज के शत्रुओं ने इस अपवित्र कार्य के लिए अल्सीबिआडीज को ही दोषी ठहराया। जब अल्सीबिआडीज ने तुरंत इस दोषारोपण की जाँच की माँग की, तब उसके शत्रुओं ने उसे स्थगित करा दिया, ताकि उसकी अनुपस्थिति में उन्हें उसको अपराधी सिद्ध करने का मौका मिले।

सिसली को जाने वाले विशाल जहाजी बेड़े तथा सेना का तीन सेनानी नेतृत्व कर रहे थे—अल्सीबिआडीज, निशियस तथा लामैकस। पूरे सत्ताईस हजार व्यक्ति १३४ बड़े जहाजों तथा १३० छोटे जहाजों पर जा रहे थे।

अल्सीबिआडीज के सिसली पहुँचते ही उस पर पुनः दूसरे बहाने से दोषारोपण किया गया तथा उसे सफाई देने के लिए एथेंस वापस आने का आदेश दिया गया। अपने शत्रुओं की चाल समझ कर अल्सीबिआडीज ने स्पार्टा में शरण लेने का निश्चय किया तथा स्पार्टा भाग गया। वहाँ जाकर उसने एथेंस के कट्टर शत्रु की भाँति स्पार्टा वालों को एथेंस की सारी योजनाओं से अवगत कर उन्हें विफल करने के लिए स्पार्टा को तैयार किया। सिसली के अभियान को विफल बनाने के लिए उसने स्पार्टा को सिसली में स्थित सिराक्यूज नगर की सहायता भेजने के लिए तैयार किया।

अल्सीबिआडीज के चले जाने के बाद सिसली के युद्ध में एथेंस का भाग्य-सूर्य अस्त होने लगा। इस अभियान का मुख्य उद्देश्य था, सिसली के सबसे समृद्ध तथा शक्तिशाली नगर सिराक्यूज पर अधिकार करना। निशियस ने एक युद्ध में सिराक्यूज को पराजित किया, पर बाद में उसकी असावधानी से सिराक्यूज के लोगों ने अपने रक्षात्मक प्रयत्नों को सुदृढ़ कर लिया। इसी बीच अल्सीबिआडीज के प्रयत्नों के फलस्वरूप सिराक्यूज को स्पार्टा से भी सहायता प्राप्त हो गई। दूसरे युद्ध में लामैकस मारा गया। सुदूर देश में इस युद्ध के संचालन का भार अब निशियस के कंधों पर आ पड़ा। निशियस न तो सुयोग्य सेनापति था और न उसे इस युद्ध के संचालन में उत्साह ही था। परिणामस्वरूप एथेंस की सेना भयानक स्थिति में पड़ गई। ४१४ ई०-पू० में निशियस ने एथेंस से और सैनिकों की सहायता माँगी। दूसरा जहाजी बेड़ा पाँच हजार सैनिकों के साथ सिसली पहुँचा, पर तब तक स्थिति बहुत दयनीय हो चुकी थी। सिराक्यूज की नौसेना ने एथेंस के जहाजी बेड़े को सिराक्यूज बंदरगाह में नष्ट कर दिया। स्थलसेना ने स्थलमार्ग से भागने का प्रयत्न किया, पर यह प्रयत्न विफल कर दिया गया। ४१३ ई०-पू० के सितंबर महीने में मजबूर होकर निशियस को आत्मसमर्पण करना पड़ा। एथेंस के विशाल जहाजी बेड़े का विनाश हो गया तथा उसकी विशाल सेना के केवल सात हजार सैनिक युद्धबंदियों के रूप में जीवित रहे।

एथेंस के इतिहास में यह उसकी सबसे बड़ी पराजय थी। इस प्रकार सिसली का यह अभियान, जिसके विषय में एथेंसनिवासियों ने बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं, एक महान विपत्ति के रूप में परिणत हो गया तथा एथेंस की रही-सही प्रतिष्ठा भी मिट्टी में मिल गई।

सिसली में एथेंस की करारी हार की खबर मिलते ही यूनान में एथेंस के शत्रु-राज्य उस पर टूट पड़े। एथेंस चारों ओर से शत्रुओं के षड्यंत्रों और आक्रमणों से घिर गया। स्पार्टा तथा उसके मित्र राज्यों ने शीघ्र ही उस पर आक्रमण करने की योजना बनायी। एथेंस के संश्रित राज्यों ने उसके आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह शुरू कर दिया तथा इन विद्रोहों में उन्हें स्पार्टा से सहायता का वचन भी मिल गया। कोढ़ में खाज की तरह, इस विपत्ति के समय ही फारस के सम्राट ने एथेंस से पुराना बदला लेने का प्रयत्न भी शुरू किया। ४१२ ई०-पू० में आयोनिया प्रदेश के कई नगरों में एथेंस के विरुद्ध विद्रोह हो गया। माइलेटसन, शियोस तथा अन्य नगरों में विद्रोह हुए। स्पार्टा उसके मित्र सिराक्यूज नगर के जहाज ईजियन समुद्र में गर्व के साथ गश्त लगाने लगे। इसी समय स्पार्टा ने सार्डिस में स्थित फारसी सत्रप तिस्साफर्नीज (Tissaphernes) से तीन संधियाँ कीं, जिनके द्वारा एशिया माइनर के सभी प्रदेशों और नगरों को, जिन पर कभी फारस का अधिकार था, पुनः फारस के अंतर्गत माना गया तथा इसके बदले में फारसी गवर्नर ने स्पार्टा को एथेंस के विरुद्ध आर्थिक तथा नौसैनिक सहायता देने का वचन दिया। दूसरे शब्दों में, स्पार्टा ने आयोनिया प्रदेश को जहाँ यूनानी ही बसे हुए थे, फारस के हाथ में बेच-सा दिया। इस प्रकार आयोनिया प्रदेश में एथेंस के प्रभाव का अंत-सा हो गया।

इसी समय, अल्सीविआडीज पर स्पार्टा निवासी संदेह करने लगे थे। अतः, वह भी स्पार्टा छोड़ कर सार्डिस पहुँच गया। यहाँ उसने फारसी गवर्नर तिस्साफर्नीज से साठ-गाँठ शुरू की। वह फारसी साम्राज्यवाद की सहायता से फिर से एथेंस का शासक बनना चाहता था।

सिसली के अभियान का एथेंस की आंतरिक राजनीति पर प्रभाव

सिसली के अभियान की विफलता का असर एथेंस की आंतरिक राजनीति पर भी पड़ा। गणतांत्रिक व्यवस्था के शत्रुओं ने इस पराजय को गणतांत्रिक व्यवस्था की विफलता सिद्ध की तथा गणतंत्र को विनष्ट कर वहाँ कुलीनतंत्र की स्थापना के लिए षड्यंत्र शुरू किया। एथेंस में कुलीनतंत्र के थोड़े-बहुत समर्थक शुरू से ही थे। ४११ ई०-पू० में इन लोगों ने बहुत से गणतांत्रिक नेताओं को मरवा डाला तथा एथेंस के भयभीत नागरिकों को कुलीनतंत्र का शासन स्वीकार करने को राजी कर

लिया। इस व्यवस्था के अंदर शासन का भार चार सौ सदस्यों की समिति (Council of Four Hundred) को सौंपा गया, जिसका मनोनयन विद्रोह के नेताओं ने ही किया था। इस नए शासन का नेता एंटीफोन (Antiphon) बनाया गया। इसने अन्य उग्रवादी नेताओं के साथ शासन करना शुरू किया। पर, शीघ्र ही इस नए शासन का निकम्मापन तथा खोखलापन सिद्ध हो गया। इसके अंदर सभी अफसरों तथा न्यायाधीशों का वेतन बंद कर दिया गया। आतंक तथा हत्याओं के बल पर यह शासन चलता रहा। फलतः जनमत इसके विरुद्ध होता गया।

चार महीनों के बाद ही, इन नए शासकों में गहरा मतभेद शुरू हुआ तथा एंटीफोन की हत्या कर दी गई। एशिया माइनर के पास सैमोस द्वीप में एथेंस की सेना का एक बहुत बड़ा भाग, पूर्वी ईजियन प्रदेश में एथेंस के स्वार्थों की रक्षा के लिए स्थित था। सेना का यह भाग इस नए शासन से पूर्णतया असंतुष्ट था; क्योंकि ये शासक स्पार्टा से संधि करना चाहते थे। इस सेना ने अल्सीबिआडीज को सार्डिस से बुला कर उसे सेनापति नियुक्त कर लिया। सैमोस की सेना ने कुलीनतंत्र के शासन को कभी मान्यता नहीं प्रदान की।

एंटीफोन की हत्या के बाद अन्य उग्रवादी नेता भगा दिए गए तथा थेरामिनीज (Thermenes) नामक एक नरमपंथी नेता ने नई सरकार बनायी। इसने उन सभी वर्गों को मतदान का अधिकार प्रदान किया, जो शासन को आर्थिक अथवा सैनिक सहायता दे सकते थे। व्यावहारिक रूप से समाज के तीन धनी वर्गों को शासन के अधिकार प्रदान किए गए तथा चतुर्थ वर्ग, जिसे थीट्स कहते थे, अधिकारों से वंचित रहे। इतिहासकार थ्युसीडाइडीज ने इस शासन की प्रशंसा की; क्योंकि इसमें शासन पाँच हजार नागरिकों के हाथ में था। इसे 'पाँच हजार नागरिकों का शासन' (Government by the Five Thousand) कहा गया। बाद में दार्शनिक अरस्तू ने भी इस शासन की प्रशंसा की।

एथेंस के इस आंतरिक विप्लव के समय भी युद्ध चलता रहा। फारस की आर्थिक सहायता के सहारे स्पार्टा ने एक बड़े जहाजी बेड़े का निर्माण किया तथा इसके सहारे ईजियन प्रदेश, आयोनिया और एथेंस पर आक्रमण की तैयारी होने लगी। ४१० ई०-पू० में इस जहाजी बेड़े ने फारसी सेना की सहायता से एथेंस के एक मित्र राज्य साइजीकस (Cyzicus) पर, जो एशिया माइनर के उत्तरी हिस्से में स्थित था, आक्रमण कर दिया। परंतु, इस आक्रमण का मुकाबला थेरामिनीज तथा अल्सीबिआडीज दोनों ने मिल कर किया और स्पार्टा के जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया। इस विजय का प्रभाव पुनः एथेंस की राजनीति पर पड़ा। 'पाँच हजार

का शासन' समाप्त हो गया तथा गणतांत्रिक शासन की स्थापना पुनः हो गई। स्पार्टा को इस पराजय से इतनी निराशा हुई कि स्पार्टावासियों ने संधि का प्रस्ताव भेजा, पर एथेंस ने ठुकरा दिया। एथेंस में नए गणतांत्रिक शासन का नेता क्लियोफोन निर्वाचित हुआ, जो उग्र साम्राज्यवादी था। इसके नेतृत्व में ही स्पार्टा का संधि-प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। फलस्वरूप युद्ध चलता रहा तथा अल्सीबिआडीज की लोकप्रियता बढ़ती गई। ४०७ ई०-पू० में आठ वर्षों के बाद जब वह एथेंस लौटा, तब उसका अभूतपूर्व स्वागत किया गया। उस समय यदि वह चाहता, तो एथेंस का अधिनायक बन सकता था। पर, उसने ऐसा करना उचित नहीं समझा।

युद्ध का अंतिम चरण

४१० ई०-पू० के पश्चात् इस युद्ध के अंतिम चरण का प्रारंभ माना जा सकता है। ४१० ई०-पू० की साइजीकस की लड़ाई के बाद एथेंस के शत्रुपक्ष के नेतृत्व में कुछ ऐसे परिवर्त्तन हुए, जिनका युद्ध की गतिविधि पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। स्पार्टा ने एक अत्यंत कुशल एवं उत्साही सेनापति, लाइसैंडर को, युद्ध के संचालन का भार सौंपा तथा फारस के सम्राट डेरियस द्वितीय ने अपने पुत्र साइरस को सार्डिस में अपने प्रांतों का गवर्नर बना कर भेजा। अभी तक फारस के दो गवर्नरों के आपसी वैमनस्य के कारण स्पार्टा के साथ संधि-वार्त्ता में प्रगति नहीं हो पाती थी। सार्डिस में स्थित फारसी गवर्नर तिस्साफर्नीज तथा हेलेस्पौंट प्रदेश के फारसी गवर्नर फार्नबैज्स आपसी प्रतिद्वंद्विता के कारण परस्पर विरोधी नीतियों पर चलते थे। इस असंगति को दूर कर फारसी साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए फारसी सम्राट ने अपने कनिष्ठ पुत्र साइरस को सार्डिस का गवर्नर नियुक्त किया तथा तिस्साफर्नीज को कोरिया प्रदेश का गवर्नर बना दिया।

लाइसैण्डर तथा साइरस के युद्ध के रंगमंच पर आते ही युद्ध के भाग्यचक्र में तेजी से परिवर्त्तन हुए। ये दोनों ही नीतिकुशल तथा उत्साही नेता थे। इन दोनों की सम्मिलित नीतियों से एथेंस के विनाश की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। साइरस ने आते ही लाइसैण्डर से अच्छे संबंध स्थापित किए तथा एथेंस को पूर्ण रूप से कुचल देने की योजना बनायी। स्पार्टा ने फारस की आर्थिक सहायता के बल पर एक नया जहाजी बेड़ा तैयार किया तथा ४०७ ई०-पू० एफीसस के पास नौटियम के युद्ध में एथेंस का जहाजी बेड़ा परास्त किया गया। यद्यपि अल्सीबिआडीज इस युद्ध के समय उपस्थित नहीं था, फिर भी इस पराजय के लिए उसे दोषी ठहराया गया। उसने निराश होकर हेलेस्पौण्ट प्रदेश के एक नगर में शरण ली, जहाँ ४०४ ई०-पू० में फारसी शासन ने उसको मरवा डाला।

नौटियम की पराजय का बदला एथेंस ने ४०६ ई०-पू० में आर्गीनूसे के सामुद्रिक युद्ध में स्पार्टा के जहाजी बेड़े को परास्त कर दिया। एथेंस के बेड़े का

नेतृत्व कोनन नामक सेनापति कर रहा था, जो अल्सीबिआडीज के स्थान पर नियुक्त किया गया था। स्पार्टा के वेड़े का नेतृत्व कैली क्रेटिडस नामक सेनापति कर रहा था, जो इस युद्ध में मारा गया। इस विजय से एथेंस का पूर्वी ईजियन प्रदेश पर पुनः अधिकार स्थापित हो गया तथा स्पार्टा ने पुनः संधि के प्रस्ताव भेजे, पर एथेंस ने फिर इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इस युद्ध के दौरान एथेंस की यह अंतिम विजय थी।

साइरस द्वारा दी गई आर्थिक सहायता के बल पर लाइसैंडर ने पुनः एक नया जहाजी वेड़ा वनाया। इस वेड़े द्वारा उसने एथेंस के जहाजी वेड़े के मुख्य अंश को हेलेस्पौण्ट के पास एगोसपोटामी (Aegospotami) के युद्ध में परास्त कर नष्ट कर डाला। इस युद्ध में एथेंस के १६० जहाज नष्ट किए गए तथा इनके सैनिकों को वंदी वना लिया गया। इस युद्ध में लाइसैण्डर को न तो किसी प्रकार के विरोध का सामना करना पड़ा और न उसे कोई नुकसान ही उठाना पड़ा। बीस जहाजों के साथ एथेंस का सेनापति कोनन भाग निकला तथा उसने एथेंस लौटना उचित न समझ कर साइप्रस द्वीप में शरण ली। उसने इस भयंकर पराजय का समाचार एथेंस भिजवा दिया।

इस भयंकर विनाश का समाचार पाते ही एथेंस वासियों में आतंक तथा त्रास फैल गया। वे समझ गए कि उन पर भयानक विपत्ति के बादल मंडरा रहे हैं तथा उनके शत्रु उनको अवश्य दंडित कर बदला लेंगे। एथेंस ने इस युद्ध के दौरान कई पराजित नगरों के साथ अत्यंत कठोरता का व्यवहार किया था। उसी प्रकार के कठोर व्यवहार की आशंका से वे संत्रस्त हो उठे।

उनकी आशंकाएँ सच सिद्ध हुईं। एथेंस नगर पर अधिकार करने के लिए स्पार्टा की सेनाएँ डेसीलिया नामक स्थान से एथेंस की ओर अग्रसर हुईं। उग्रवादी क्लियोफोन के विरोध के बावजूद, एथेंस नगर ने स्पार्टा के सेनापति के पास संधि का प्रस्ताव भेजा। पर, लाइसैण्डर ने स्थल सेना तथा नौसेना द्वारा एथेंस को घेरे रखा। थरमानीज, जो संधि-प्रस्ताव लेकर लाइसैण्डर के पास गया था, तीन महीने तक वंदी वना कर रखा गया। कई महीनों के घेरे के कारण एथेंस के नागरिक भूखों मरने लगे तथा अंततः अप्रैल, ४०४ ई०-पू० में एथेंस ने किसी भी शर्त पर संधि करने के लिए लाइसैंडर के आगे आत्मसमर्पण किया। एथेंस के दुर्दिन की यह चरम सीमा थी। इस पराजय एवं आत्मसमर्पण ने एथेंस की महानता के इतिहास का पटाक्षेप कर दिया।

एथेंस को विवश होकर लाइसैंडर की सभी शर्तें माननी पड़ीं। इन शर्तों के अनुसार एथेंस को अपनी सुरक्षा के लिए की गई क़िलेबंदी तथा चहारदीवारी तोड़नी पड़ी, पीरुज के वंदरगाह पर की गई किलेबंदी नष्ट करनी पड़ी, अपने जहाजी वेड़े के वचे हुए अंश को स्पार्टा को समर्पित करना पड़ा, अपने पूरे साम्राज्य से हाथ धोना

पड़ा, देश से निष्कासित नागरिकों को वापस बुलाना पड़ा तथा स्पार्टा के नेतृत्व को मानने के लिए बाध्य होना पड़ा।

एथेंस का पतन

पेलोपोनेशियन युद्ध का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि यूनान की राजनीति में एथेंस का भाग्य-सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया। एथेंस के राजनैतिक महानता, शक्ति, आधिपत्य एवं प्रसार के दिन लद गए तथा वह यूनान के साधारण राज्यों की श्रेणी में आ गया। इस युद्ध में हुई बर्बरता एवं नैतिक गलतियों के कारण एथेंस की प्रतिष्ठा यूनानी जगत में समाप्त हो गई, हालांकि विद्या, दर्शन, साहित्य एवं कला के क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा बनी रही।

इस युद्ध का दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम स्पार्टा का उत्कर्ष था। इस युद्ध की विजयों के कारण स्पार्टा की शक्ति एवं प्रतिष्ठा कई गुनी बढ़ गई। स्पार्टा यूनानी जगत का सबसे शक्तिशाली राज्य हो गया तथा एथेंस के साम्राज्यवाद का विनाश करने से यूनान के छोटे-छोटे राज्यों में उसके प्रति सद्भाव बढ़ गया। इस प्रकार एथेंस के विनाश की आधारशिला पर स्पार्टा की महत्ता का प्रारंभ हुआ।

इस युद्ध मे एथेंस की पराजय के कारण

इस युद्ध के सिंहावलोकन से एथेंस की पराजय के कई कारण दीख पड़ते हैं। पराजय का मूल कारण एथेंस का साम्राज्यवाद ही सिद्ध होता है। साम्राज्य और प्रसार की लिप्सा ने एथेंस को इस प्रकार अंधा बना दिया था कि उसका व्यवहार अपने मित्रों एवं संश्रित राज्यों के प्रति भी औचित्य की सीमा को लाँघ गया। छोटे राज्यों की स्वतंत्रता को कुचलने में उसने कोई हिचक नहीं दिखलायी तथा पराजित राज्यों के साथ अत्यंत कठोरता का व्यवहार किया। परिणामस्वरूप, उसके साथ किसी को सच्ची सहानभूति नहीं थी तथा उसके दुर्दिन में कोई आँसू बहाने वाला नहीं था। उसके मित्र राज्यों ने भी दिल खोल कर उसकी सहायता नहीं की।

स्पार्टा की ईर्ष्या एवं शत्रुता की भावना भी एथेंस की पराजय का प्रमुख कारण बन गई। एथेंस के विरुद्ध मित्र राज्यों के असंतोष को उभारने में स्पार्टा ने मुख्य भूमिका अदा की तथा एथेंस की कठिनाई को हर तरह से बढ़ाया। इस कार्य में स्पार्टा को कोरिंथ तथा अन्य राज्यों से भरपूर सहायता मिली।

पेरिक्लीज की मृत्यु के पश्चात् एथेंस में सुयोग्य एवं दूरदर्शी नेताओं का अभाव भी एथेंस की पराजय के लिए उत्तरदायी था। एथेंस की आंतरिक राजनीति की अस्थिरता, अयोग्य नेताओं का प्रभाव तथा जनमत का खोखलापन भी इस पराभव के कारण माने जा सकते हैं। उदाहरण के लिए सिसली के अभियान में, अल्सीबिआडीज पर दोषारोपण कर उसे बुला भेजना तथा उसे एथेंस का शत्रु बना देना,

एथेंस के अयोग्य नेताओं की नीति के खोखलापन के प्रमाण हैं। संभव था, अल्सीबिआडोज के नेतृत्व में सिसली के अभियान का परिणाम कुछ दूसरा ही हुआ होता।

सिसली के अभियान की विफलता ने एथेंस की नौसैनिक शक्ति को समाप्त कर दिया तथा इसके बाद ही उसके शत्रु उस पर टूट पड़े। अतः, इस अभियान की विफलताओं ने एथेंस के पतन का पथ प्रशस्त कर दिया।

युद्ध के अंतिम चरण में फारस का स्पार्टा को सक्रिय सहायता देना एथेंस की पराजय का अंतिम कारण था। फारस द्वारा दी गई आर्थिक सहायता के बिना लाइसैंडर का दो-दो बार विशाल जहाजी बेड़े का निर्माण करना संभव नहीं था। अतः, युद्ध के अंतिम चरणों में स्पार्टा की विजय का श्रेय फारस की सहायता को ही दिया जा सकता है।

इस युद्ध का प्रारंभ यूनानी जगत के पारस्परिक विद्वेष के कारण हुआ था। आपसी संदेह, घृणा एवं विद्वेष ने इस युद्ध को जन्म दिया था। दोनों पक्षों द्वारा इस युद्ध में की गई गलतियों, कठोरताओं और अत्याचारों से कटुता एवं विद्वेष की भावना में बहुत वृद्धि हुई। इस आपसी संदेह का लाभ फारसी सम्राट ने उठाया। स्पार्टा द्वारा एथेंस को पराजित करा कर फारसी सम्राट ने एथेंस से पुराना बदला लिया तथा पूरे एशिया माइनर से एथेंस का आधिपत्य समाप्त कर अपने पुराने राज्यों पर अपना पुनः अधिकार कायम कर लिया। अतः, एशिया माइनर तथा ईजियन प्रदेश में फारस के अधिकार-क्षेत्र का विस्तार भी इस युद्ध के परिणामों में माना जा सकता है। इस प्रकार यह युद्ध यूनानी जगत के आंतरिक विद्वेष का विस्फोट था, जिसने एथेंस की महानता पर पटाक्षेप कर दिया।

मैसीडोनिया का उदय

मैसीडोनिया का राजा फिलिप एक अपूर्व साहसी तथा महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसने अपनी सेना का नए ढंग से संगठन किया तथा इस सेना के बल पर अपने राज्य को बढ़ाया। ३३६ ई०-पू० में फिलिप ने एथेंस पर आधिपत्य स्थापित किया। तत्पश्चात् यूनान के सभी प्रधान राज्यों को हरा कर उसने लगभग पूरे यूनान पर अपना शासन स्थापित किया।

सिकंदर महान (Alexander the Great)

विश्वविजेता सिकंदर, मैसीडोनिया के राजा फिलिप का पुत्र था। अंत में, ग्रीस का नेतृत्व इसी के हाथों में आया। ग्रीस की सभ्यता को सुदूर एशिया के देशों तथा मिस्र तक प्रसारित करने का श्रेय इसी को है। बाद की सभ्यताओं को ग्रीस की संस्कृति को सुरक्षित रूप में देने का कार्य नियति ने इसे ही सुपुर्द किया

था। रोम वाले ग्रीस की जिस सभ्यता से प्रभावित हुए, वह सभ्यता सिकंदर के युग की सभ्यता थी। उसने अपनी प्रतिभा से प्राचीन यूनान की संस्कृति में संशोधन एवं परिवर्द्धन किया था। यही परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्कृत रोम को विरासत में मिली। इसी कारण, सिकंदर महान का युग विश्व-इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। यदि सिकंदर न होता, तो दुनिया को यूनानी संस्कृति का ज्ञान नहीं होता। पेरिक्लीज के युग का इतिहास तो हाल में खुदाइयों के बाद, इतिहाकारों ने तैयार किया। पर सिकंदर के युग ने रोम, मिस्र और एशिया को प्रभावित किया तथा रोम ने यूनानी संस्कृति से दुनिया को परचित कराया। अतः, सिकंदरकालीन यूनान ने ही प्राचीन विश्व को अधिक प्रभावित किया। सिकंदरकालीन युग को विश्व-इतिहास में 'हेलेनिस्टिक युग' (Hellenistic Age) कहते हैं।

सिकंदर के आदर्श

ग्रीस के प्राचीन वीरों से प्रभावित

ग्रीक संस्कृति का प्रसार

सिकंदर को बाल्यावस्था में दो शिक्षकों से शिक्षा मिली थी। पहला शिक्षक था लियानिडास, जिसने उसे शारीरिक व्यायाम, साहस, कष्ट-सहन तथा सादगी की शिक्षा दी। यह शिक्षा उसे स्पार्टा के आदर्शों के ढंग पर मिली। इसका दूसरा शिक्षक अरस्तू (Aristotle) था। अरस्तू प्राचीन ग्रीस का सबसे बड़ा दार्शनिक था। पर इसने सिकंदर को मुख्यतः साहित्य एवं भाषा की ही शिक्षा दी। सिकंदर ने होमर का अच्छी तरह अध्ययन किया था तथा होमर द्वारा चित्रित वीरों के चरित्र से वह अत्यंत प्रभावित था। वह ट्राय की लड़ाई के वीर योद्धा एकिलीज को अपना आदर्श मानता था तथा उसी के आदर्शों पर अपने जीवन को ढालना चाहता था। युद्धकला से सिकंदर को हार्दिक तथा स्वाभाविक प्रेम था। उसने होमर लिखित महाकाव्यों—'ईलियड' तथा 'ओडिसी' के अतिरिक्त ग्रीक इतिहास तथा साहित्य का भी अच्छी तरह अध्ययन किया था। अरस्तू के संपर्क एवं अध्यापन से उसके हृदय में ग्रीक संस्कृति से प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ था। वह ग्रीक संस्कृति के अच्छे और बुरे सभी पहलुओं से प्यार करता था। इसी कारण, वह इस संस्कृति का प्रसार ग्रीस की सीमाओं के बाहर, यूरोप के देशों, सुदूर एशिया तथा मिस्र के देशों में करना चाहता था। उसकी विश्वविजय के पीछे ग्रीक संस्कृति के प्रसार की भी इच्छा काम कर रही थी।

ईरान से प्रतिशोध

सिकंदर ने हेरोडोटस द्वारा लिखित ग्रीस पर ईरान के आक्रमण का इतिहास

पड़ा था। वह ईरान के उस आक्रमण का बदला लेकर ग्रीस का अद्वितीय नेता बनना चाहता था। वह चाहता था कि जिस तरह डेरियस एवं जरेक्सेज की सेनाओं ने ग्रीस पर आक्रमण करके महान अत्याचार किया था, वह भी उसी तरह ईरान साम्राज्य को अपने पैरों-तले रौंद दे। इस उद्देश्य को, सिकंदर ने ३३३ ई०-पू० में ईरानी सम्राट डेरियस को जो पत्र लिखा था उसमें स्पष्ट कर दिया था। सिकंदर मानता था कि ग्रीक जाति ने ईरानियों से बदला लेने के लिए उसको अपना नेता चुना है। इसी कारण, सिकंदर ने एशिया की ओर अपनी सेनाओं को मोड़ दिया।

एक नवीन संस्कृति का प्रादुर्भाव

सिकंदर एक अत्यंत असाधारण प्रतिभा संपन्न युवक था। वह अत्यंत उच्चाकांक्षी था तथा उसके मस्तिष्क में और भी ऊँचे आदर्श थे। कई जातियों के सम्मिलन से वह एक नवीन संस्कृति को जन्म देना चाहता था। विश्वविजय के अभियान में, कई जातियों एवं संस्कृतियों से परिचित होकर वह नई संस्कृति को विकसित करना चाहता था। उसने इस आदर्श की पूर्ति के लिए प्रयत्न भी किया। ग्रीक संस्कृति से एशिया के देशों को प्रभावित करने के लिए ही, उसने अपने अभियान में ७० नगरों की स्थापना की। विजय प्राप्त करने के बाद, वह नए नगरों को स्थापित करता था, जहाँ यूनानी नागरिकों को बसा देता था। इन्हीं नगरों में वह मिली-जुली संस्कृति के विकास का स्वप्न देखता था। ऐसे बसाए नगरों में मिस्र का अलेक्जेंड्रिया नामक नगर काफी प्रसिद्ध हुआ।

एक विशाल साम्राज्य की कल्पना

सिकंदर एक ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था, जिनमें विभिन्न जातियों, धर्मों एवं भाषाओं के लोग एक साथ प्रेम से रह सकें। उसकी विजयों के उद्देश्य अत्याचार और लूट-पाट नहीं थे, वह अपने बिखरे हुए बहुरंगी साम्राज्य को एक सूत्र में आबद्ध करना चाहता था। ज्यों-ज्यों वह अपनी विजयों के कारण, एशिया के हृदय में घुसता गया, त्यों-त्यों उसकी आँखों के सामने यह आदर्श स्पष्टतर होता गया। इसमें संदेह नहीं कि उसने अपनी विजयों का प्रारंभ, ग्रीस के नेता के रूप में, ईरान से बदला लेने के लिए किया, पर बाद में उसके उद्देश्य और ऊँचे होते गए। उसकी उदारता बढ़ती गई तथा उसका दृष्टिकोण विस्तृत होता गया। उसने एशिया के साथ अपने संबंध को नई दृष्टि से देखना शुरू किया। वह पहला यूनानी विजेता था, जो यूनानी और बर्बर जातियों के अंतर से ऊपर उठ सका। विशेषतः ईरान की विजय के पश्चात् उसने यूनानी और एशियाई जातियों का भेद ही भुला दिया। उसकी सेना एशियाई जातियों को असभ्य एवं बर्बर समझती थी, पर वह अब एक ऐसे साम्राज्य की कल्पना कर रहा था, जहाँ एशियाई और यूरोपीय

जातियाँ एक साथ रह सकें। वह इन दोनों पर समानता के आधार पर शासन करना चाहता था। इसी कारण ईरान के सामंतों के साथ उसने अच्छा व्यवहार किया तथा कभी-कभी इरानी वेश-भूषा को भी धारण करना प्रारंभ किया। वह अपने को अब एशियाई जातियों के सम्राट के रूप में देखता था। उसने सोग्दियाना (Sogdiana) के राजा की लड़की रुखसाना से शादी भी की। उसने अपनी सेना में एशियाई सैनिकों को भी नियुक्त किया तथा उन्हें एक तरह की सुविधाएँ देने का प्रयत्न किया। पर, इन कामों से उसकी सेना में उसके प्रति असंतोष का जन्म हुआ; क्योंकि उसके सैनिक एशियाई लोगों को हेय दृष्टि से देखते थे तथा अपने को सभ्य एवं सुसंस्कृत मानते थे।

सिकंदर द्वारा एशिया और यूरोप की विजय

सिकंदर के पिता फिलिप की मृत्यु ३३६ ई०-पू० में हुई। वह एक बहुत बड़ा विजेता तथा शासक था। पर, उसके मरते ही सिकंदर चारों ओर से कठिनाइयों से घिर गया। ३३६ ई०-पू० में उसकी अवस्था केवल २० वर्ष की थी। इसी अवस्था में, उसने अत्यंत कुशलता एवं साहस से सारी कठिनाइयों का सामना किया। १८ वर्ष की अवस्था में ही वह बड़ी वीरता के साथ, केरोनिया की लड़ाई में लड़ा था। अतः कम अवस्था में ही वह अपूर्व वीरता, साहस, सैनिक शक्ति एवं योग्यता से संपन्न था।

प्रारंभिक कठिनाइयाँ

चूँकि सिकंदर के पिता फिलिप ने यूनान पर बलपूर्वक राज्य स्थापित किया था, इस कारण उसके मरते ही, चारों ओर विद्रोह होने लगे। इस विद्रोह का श्रीगणेश एथेंस में हुआ तथा यूनान के अन्य भागों में शीघ्र फैल गया। पर, सिकंदर की सैनिक योग्यता तथा विद्युत् गति ने उसके शत्रुओं के सारे मनसूबे विफल कर दिए तत्पश्चात् सिकंदर ने कोरिंथ नामक स्थान में सभी राज्यों की एक सभा बुलायी। इस सभा के निश्चयानुसार सिकंदर को ईरान के साथ युद्ध चलाने का भार उसके पिता के स्थान पर दिया गया।

थीब्स का विद्रोह

यूनान के उत्तरी भागों में, मैसिडोनिया के विरुद्ध विद्रोह के लक्षण अभी तक जीवित थे। अतः, सिकंदर ने इलीरिया तथा थ्रैस नामक दो उत्तरी राज्यों की ओर प्रस्थान किया और वहाँ जाकर विद्रोहियों का दमन किया। उसने ज्योंही थ्रैस एवं इलीरिया का विद्रोह दबाया, त्योंही उसे समाचार मिला कि थीब्स में विद्रोह हो गया है। थीब्स के विद्रोह ने भयंकर रूप धारण कर लिया, क्योंकि

वहाँ यह झूठी अफवाह फैल गई कि सिकंदर की मृत्यु हो गई है। सिकंदर ने शीघ्र ही पहुँच कर थीब्स वालों को हराया तथा बड़ी ही निर्दयता से नागरिकों की हत्या कराई। थीब्स नगर पूर्णतया ध्वस्त कर दिया गया। सिकंदर की इस निर्दय नीति से समस्त यूनान आतंकित हो उठा तथा अब किसी भी राज्य को विद्रोह करने का साहस नहीं रहा। थीब्स के विद्रोह को प्रोत्साहित करने में एथेंस वालों का भी दोष था। पर, सिकंदर एथेंस वालों के साथ बहुत नरमी से पेश आया। इस तरह सिकंदर पूरे यूनान को आतंकित कर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफल हुआ।

ईरान की ओर प्रस्थान

ईरान से प्रतिशोध लेना सिकंदर के जीवन का एक लक्ष्य था। इसी उद्देश्य से यूनानियों ने उसे अपना नेता चुना था। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए, सिकंदर ने ३३४ ई०-पू० में हेलेस्पौण्ट के मुहाने को पार कर एशिया में प्रवेश किया। उस समय विशाल ईरानी साम्राज्य की सीमा यूरोप तक फैली हुई थी तथा यूनान के उत्तरी भाग को छूती थी। एशिया माइनर में प्रवेश करते ही सिकंदर को ईरानी सेना का सामना करना पड़ा, पर वह विजयी हो कर आगे बढ़ता गया। इस युद्ध के फलस्वरूप एशिया माइनर पर सिकंदर का आधिपत्य स्थापित हो गया। तत्पश्चात् बड़ी तेजी से उसने एशिया माइनर के सार्डिस, इफेसस तथा मिलोटस आदि नगरों पर विजय प्राप्त की। तत्पश्चात् उसे ईरानी सम्राट डेरियस का, ईसस नदी के किनारे सामना करना पड़ा। डेरियस बुरी तरह हराया गया तथा अपनी स्त्री और माता को सिकंदर के हाथों वंदी छोड़ कर भाग गया। सिकंदर ने उनके साथ अच्छी तरह व्यवहार किया। इस विजय ने मिस्र और सीरिया की विजय का मार्ग खोल दिया।

सीरिया की विजय

ईसस की विजय के पश्चात् सिकंदर ने सीरिया के टायर नामक नगर पर विजय प्राप्त की। इस विजय से वह समस्त सीरिया का स्वामी बन गया। तत्पश्चात् उसने गाजा पर विजय प्राप्त की।

मिस्र की विजय

सीरिया के बाद सिकंदर ने मिस्र पर विजय प्राप्त की। मिस्र में उसे विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। यहाँ मिस्रवासियों के धर्म का सम्मान करके वह बहुत लोकप्रिय हो गया। यहाँ उसने प्रसिद्ध अलैक्जेंड्रिया नगर को बसाया, जो बाद में वाणिज्य-व्यापार तथा शिक्षा का प्रधान केंद्र बन गया। यह नगर आज भी मिस्र का प्रधान नगर है।

बैबिलोन की विजय

३३१ ई० में सिकंदर ने मिस्र से बैबिलोन की ओर प्रस्थान किया। रास्ते ही में, उसे गागामेला नामक स्थान पर ईरानी सम्राट डेरियस तथा उसकी विशाल सेना का सामना करना पड़ा। यह युद्ध उसके जीवन का एक प्रधान युद्ध था। इस युद्ध को आरवेला (Arbela) का युद्ध भी कहते हैं। इस युद्ध में इरानी सम्राट अपनी सेना के साथ पूर्णरूपेण हराया गया तथा सिकंदर पूरे ईरान का स्वामी वन गया। इस विजय के बाद, सिकंदर पूरे ईरान का स्वामी वन गया। इस विजय के बाद, सिकंदर ने ईरानी साम्राज्य की चारों राजधानियों—बैंबिलोन, सुसा, पर्सीपौलिस तथा एकब्रताना पर विजय प्राप्त की। इन चारों राजधानियों में ईरानी सम्राट विभिन्न ऋतुओं में रहते थे। इन विजयों से सिकंदर को अपार संपत्ति प्राप्त हुई। डेरियस भाग गया तथा कुछ ही दिनों के बाद अपने एक गवर्नर द्वारा मार डाला गया।

बैक्ट्रिया तथा सोग्दियाना की विजय

ईरानी साम्राज्य के पूर्वी भागों पर अभी तक सिकंदर का आधिपत्य नहीं स्थापित हुआ था। अतः, सिकंदर ने शीघ्र ही बैक्ट्रिया (Bactria) पर आक्रमण किया तथा वहाँ के सत्रप या गवर्नर को मार कर, अपना आधिपत्य स्थापित किया। तत्पश्चात् उसने सोग्दियाना प्रदेश पर आक्रमण किया, जिसकी राजधानी मारकंद थी। इसको आजकल 'समरकंद' कहते हैं। सोग्दियाना प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित करने के वाद उसने कई नगर बसाए। यहीं उसने रुखसाना से शादी की। सोग्दियाना पर विजय प्राप्त करने के बाद वह बैक्ट्रिया लौट आया तथा यहीं से उसने भारत पर आक्रमण की तैयारियाँ शुरू कीं।

भारत पर आक्रमण

३२७ ई०-पू० में, सिकंदर ने भारत-विजय के लिए बैक्ट्रिया से प्रस्थान किया। काबुल होते हुए उसने हिंदूकुश पार किया। तत्पश्चात् पहाड़ी जातियों से लड़ता तथा उन्हें हराता हुआ, वह सिंधु नदी के तट पर पहुँचा। इस नदी को उसने नावों के पुल से पार किया। तक्षशिला के राजा ने उसके आगे आत्मसमर्पण कर दिया, पर पुरु नामक एक वीर राजा ने झेलम नदी के किनारे उसका सामना किया। पुरु भी हराया गया, पर उसने युद्ध में बड़ी वीरता का परिचय दिया था। सिकंदर उससे प्रसन्न था तथा उसके साथ उसने समानता का व्यवहार किया। सिकंदर आगे बढ़ता गया। व्यास नदी पर पहुँचने पर, उसकी सेना ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया; क्योंकि सेना में अफवाहें फैल गई थीं कि गंगा का प्रदेश भयानक हाथियों एवं अथाह नदियों से भरा पड़ा था। वे आतंकित हो गए थे कि आगे और विपत्तियों

का सामना करना पड़ेगा। फिर सैनिकों को घर छोड़े हुए १४ वर्ष हो चुके थे, युद्धों में बहुत से सैनिक मर चुके थे। इन कारणों से सिकंदर के सैनिकों में आगे बढ़ने का उत्साह नहीं था। सिकंदर के ओजस्वी भाषण से भी उनके हृदय में उत्साह की लहर नहीं दौड़ी। सैनिकों ने रोना शुरू कर दिया। अंत में विवश होकर सिकंदर को विश्व-विजय की कामना को त्याग कर लौटना पड़ा। लौटती यात्रा में भी वह युद्ध करता हुआ लौटा। सिंधु नदी के तट पर उसे भारत की दो वीर जातियों से सामना हुआ। ये दो जातियाँ थीं—मालवा तथा क्षुद्रक। इन दोनों जातियों के सम्मिलित संघ ने जम कर उसका सामना किया। इनके गढ़ पर विजय प्राप्त करने में सिकंदर को एक गहरी चोट आई, जिसका उसके शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ा। सिंधु के मुहाने पर उसने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त किया। एक भाग निआरकस (Nearchus) की अध्यक्षता में समुद्र के रास्ते से लौटा तथा दूसरा भाग बलूचिस्तान और मकरान रेगिस्तानों के बीहड़ रास्ते से होता हुआ बैबिलोन की ओर चला। सिकंदर ने ३२५ ई०-पू० में, भारत से प्रस्थान किया।

बैबिलोन में सिकंदर की मृत्यु

सुसा पहुँच कर सिकंदर ने कुछ विद्रोही गवर्नरों को दंड दिया। तत्पश्चात् उसने अपनी सेना का पुनर्गठन प्रारंभ किया, जिसमें यूनानी तथा एशियाई सैनिक एक साथ रह सकें। परंतु, इस नीति से उसके सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। सिकंदर ने कठोरता से विद्रोह को दबाया। तत्पश्चात् वह बैबिलोन पहुँचा। यहाँ वह अरब-विजय की तैयारी कर रहा था। पर, यहीं बुखार से ३२३ ई०-पू० में उसकी मृत्यु हो गई। इस समय उसकी अवस्था ३२ वर्ष की थी।

सिकंदर की साम्राज्यवादी नीति

सिकंदर एक महान विजेता एवं सेनापति के अतिरिक्त एक कुशल राजनीतिज्ञ भी था। अपने छोटे जीवन में उसने विजय के साथ-साथ साम्राज्य-संगठन का कार्य भी कुशलता से संपादित किया। उसने विजित जातियों और देशों के साथ उदारता तथा सहिष्णुता से काम लिया। साम्राज्य के शासन के लिए उसने जिस देश में जो शासन-तंत्र पाया, वहाँ वही रहने दिया। उसने एशिया माइनर के यूनानी नगरों को गणतांत्रिक सुविधाएँ प्रदान कीं। ईरानी साम्राज्य में उसने परंपरागत सत्रप-प्रथा को रहने दिया। ये सत्रप गवर्नर होते थे तथा विभिन्न प्रदेशों पर शासन करते थे। भारतवर्ष के विजित भागों के शासन के लिए उसने दो तरह का प्रबंध किया। उसने कुछ भागों को अपने मनोनीत गवर्नरों के हाथों में रहने दिया तथा कुछ भागों का शासन अपने मित्र राजा पुरु के हाथों में दे दिया। उसने विजित जातियों की सामाजिक संस्थाओं में कोई परिवर्तन नहीं किया तथा उनके धर्मों को सम्मान की

दृष्टि से देखा। वह अपने को ग्रीक जातियों का देवता मानता था, पर यह विचार उसने विजित जातियों पर नहीं लादा। वस्तुतः वह अपनी बहुरंगी प्रजा को एक सूत्र में बाँध कर, एक ऐसा भ्रातृमंडल स्थापित करना चाहता था, जहाँ यूनानी और एशियाई एक साथ रह सकें, जहाँ पूर्व और पश्चिम का भेदभाव मिट सके। वह अपने सैनिकों के विरोध के कारण इस आदर्श को पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं कर सका, पर इसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहा। ईरान में वह कभी-कभी ईरानी पोशाक भी पहन लेता था। उसने अपनी सेना में एशियाइयों को भी भरती किया। इन कार्यों से वह अपनी प्रजा का हृदय जीतना चाहता था, ताकि उसका राज्य सुदृढ़ हो सके।

विश्व-इतिहास में सिकंदर का स्थान

सिकंदर का स्थान प्राचीन विश्व के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। निस्संदेह वह विश्व का सबसे बड़ा विजेता तथा सेनानायक था। १३ वर्षों में उसने जितना काम किया, उतना काम कई सेनापतियों द्वारा जीवन भर में भी नहीं पूरा होता। १२ वर्षों में ही उसने पूरे पश्चिमी एशिया पर विजय प्राप्त की तथा भारत तक पहुँच गया। उसके व्यक्तित्व में कुछ ऐसी सम्मोहक शक्ति थी, जिससे उसके सैनिकों ने १३ वर्षों तक सब कुछ छोड़ कर उसका साथ दिया। उसने अपने अपूर्व साहस, मोहक व्यक्तित्व तथा ओजस्वी भाषणों के द्वारा अपने सैनिकों को इस तरह अनुप्राणित कर दिया था कि वे समझते थे कि वे किसी ऊँचे आदर्श की प्राप्ति के लिए क्रियाशील हैं। लड़ाइयों में वह स्वयं आगे रहता था। इसी कारण वह कई बार घायल भी हो गया। उसकी वीरता से उसके सैनिक दंग थे। वह विश्व का अद्वितीय विजेता, सेनापति और वीर था। कुछ लोग उसकी तुलना नेपोलियन से करते हैं। पर, नेपोलियन से वह निस्संदेह बड़ा था। नेपोलियन में वह वीरता नहीं थी, जो सिकंदर में थी। नेपोलियन ने मिस्र में अपनी सेना को छोड़ दिया तथा स्वयं भाग गया। फिर नेपोलियन रूस में भी बुरी तरह हारा। पर, सिकंदर ने कभी पराजय का नाम भी नहीं सुना। नेपोलियन के युग में यातायात की सुविधाएँ काफी थीं। पर, सिकंदर ने यातायात की कठिनाइयों के बावजूद इतने बड़े पैमाने पर विजय प्राप्त की।

विजेता एवं सेनापति के अतिरिक्त वह एक कुशल राजनीतिज्ञ तथा संगठनकर्त्ता भी था। उसने उदार नीति के द्वारा अपने विशाल साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। पर, उसको इस दिशा में सफलता नहीं मिली। उसके मरते ही उसका विशाल साम्राज्य कई टुकड़ों में बँट गया। उसके राज्य को उसके सेनापतियों ने आपस में बाँट लिया। अपूर्व प्रतिभा से युक्त होने के कारण

सिकंदर उच्च आदर्शों से भी अनुप्राणित था। वह विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण करना चाहता था तथा एक ऐसी निश्रित संस्कृति को जन्म देना चाहता था, जहाँ पूर्व और पश्चिम का मेल हो सके। अपने सैनिकों के विद्रोह के कारण, वह इस दिशा में भी सफल नहीं हो सका, पर इस आदर्श के लिए वह आजीवन प्रयत्नशील रहा।

सिकंदर की वास्तविक महत्ता यही है कि वह सेनापति होने के साथ-साथ एक बहुत बड़ा आदर्शवादी था। यद्यपि उसका साम्राज्य कई टुकड़ों में बँट गया तथा उसके बसाए बहुत से नगर भी समाप्त हो गए, पर सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में उसने अमिट छाप छोड़ी। अपने कार्यों के द्वारा उसने विश्व की कई सभ्यताओं को समृद्ध तथा ज्ञान की सीमा को विस्तृत किया। उसकी विजयों से एक नए युग का समारंभ हुआ। पहली वार एशिया की सभ्यताओं से यूरोपीय सभ्यता को परिचय हुआ। उसकी विजयों से भौगोलिक ज्ञान का काफी विस्तार हुआ। यूनान से भारत तक आने-जाने के कई रास्ते खुल गए। व्यापार-वाणिज्य में वृद्धि हुई तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ।

वह विश्व का प्रथम अंतर्राष्ट्रीयतावादी विजेता एवं शासक था। वह पहला विजेता था, जिसने जाति एवं राष्ट्र के भेदभाव को मिटाने की कोशिश की। भले ही उसे इस दिशा में सफलता न मिली हो, पर उसने इसके लिए आजीवन प्रयत्न किया। एशियाई तथा यूरोपीय जातियों को एक दृष्टि से शासन करने की नीति में ही उसकी वास्तविक महत्ता थी। विश्वबंधुत्व का स्वप्न देखने वाला वह प्रथम विजेता था।

उसने ग्रीक संस्कृति तथा ज्ञान के विस्तार का पथ प्रशस्त किया। पश्चिमी एशिया तथा मिस्र के कई नगर ग्रीक संस्कृति तथा ज्ञान के प्रमुख केंद्र हो गए। मिस्र का अलेक्जैंड्रिया नामक नगर एक ऐसा ही केंद्र बन गया। एशियाई संस्कृतियों के संपर्क से यूनानी संस्कृति में भी परिवर्तन हुए। इस मिली-जुली संस्कृति को इतिहास में 'हेलेनिस्टिक संस्कृति' की संज्ञा दी गई है तथा यह युग 'हेलेनिस्टिक युग' कहा गया है। रोम की सभ्यता हेलेनिस्टिक युग की संस्कृति से बहुत प्रभावित थी। ग्रीक भाषा का भी काफी प्रचार हुआ। इसी कारण हम पाते हैं कि ईसामसीह के युग में जेरुसेलम में हिब्रू के साथ ग्रीक भाषा भी बोली जाती थी। इस प्रकार सिकंदर की विजयों के कारण ग्रीक प्रतिभा को यूनान की सीमाओं के बाहर अपना पंख पसारने का अवसर मिला। सिकंदर का नाम कई भाषाओं के साहित्य में अमर हो गया।

सिकंदर अन्य देशों में यूनानी सभ्यता का पोषक तथा यूरोप में पूर्वी सभ्यता का प्रचारक एवं बीज बोने वाला था। पर, इस विषय में याद रखने की बात है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर उसके आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

हेलेनिस्टिक युग की संस्कृति

सिकंदर की विजयों से नए युग का समारंभ हुआ। इस युग को इतिहास में 'हेलेनिस्टिक युग' के नाम से अभिहित किया गया। ४०० ई०-पू० से २०० ई०-पू० तक का समय हेलेनिस्टिक युग कहा गया है। इस युग में यूनानी सभ्यता का एशिया माइनर, सीरिया, मिस्र तथा बैबिलोन में अच्छी तरह प्रचार हुआ। इन देशों के विभिन्न नगरों में यूनानी, बस गए तथा वहाँ उन लोगों ने नाट्यशालाएँ, व्यायामशालाएँ और स्कूल स्थापित किए। इन नगरों में प्राचीन यूनानी साहित्य एवं दर्शन का विशद् अध्ययन हुआ। विशेषतः मिस्र के अलेक्जैंड्रिया में ग्रीक भाषा एवं साहित्य का अच्छी तरह अध्ययन-अध्यापन होता था। यहाँ सबसे प्रसिद्ध पुस्तकालय भी था, जिसमें पाँच लाख ग्रंथ थे। अलेक्जैंड्रिया के अतिरिक्त एशिया माइनर के इफेसस, परगेमम तथा एंटियोक भी यूनानी संस्कृति के प्रधान केंद्र थे। इन नगरों में भी पुस्तकालय थे तथ यूनानी दर्शन एवं साहित्य का अध्ययन-अध्यापन होता था। हेलेनिस्टिक युग के शासक भी पढ़े-लिखे होते थे तथा उनके प्रोत्साहन से इस युग में प्राचीन ज्ञान का अध्ययन-अध्यापन जोरों से हुआ। इस युग में भी अच्छे कवि, नाटककार, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक पैदा हुए, जिन्होंने ग्रीक संस्कृति को और समृद्ध किया। कला के क्षेत्र में भी यूनान ने इस युग में काफी उन्नति की तथा अच्छी मूर्तियाँ एवं भवन बनाए गए।

विश्व-सभ्यता को यूनान की देन

सांस्कृतिक दृष्टि से यूनान प्राचीन विश्व का सबसे उन्नत देश था। अतः, यूनानियों की देन से विश्व-सभ्यता बहुत समृद्ध हुई है। प्राचीन यूनान के निवासी भौतिकवादी नहीं थे। उनकी अभिरुचि विशेषतः सांस्कृतिक विषयों में ही थी। इसी कारण यूनानियों ने साहित्य, कला, दर्शन एवं राजनीति के क्षेत्र में काफी उन्नति की। यूनानियों द्वारा लिखी हुई पुस्तकें आज भी विश्व-साहित्य की अनुपम निधि हैं। ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से यूनानी प्रतिभा की कृतियाँ हटा ली जाएँ, तो विश्व-संस्कृति निर्धन हो जाएगी।

राजनीतिशास्त्र

राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में यूनानियों ने बहुत बड़े प्रयोग किए। उन्होंने गणतांत्रिक शासन का सफल प्रयोग किया। अतः, गणतंत्रात्मक शासन के सिद्धांत विश्व-सभ्यता को यूनान की बहुत बड़ी देन है। प्लेटो तथा अरस्तू-जैसे विचारकों ने

राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अनुपम ग्रंथों का प्रणयन किया। गणतन्त्रात्मक शासन के अतिरिक्त यूनानियों ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का आदर्श भी दुनिया के सामने रखा। एथेंस में विचार तथा भाषण की स्वतंत्रता का पूर्ण विकास हुआ। यूनानियों के नगर या पोलिस—राजनैतिक सिद्धांतों की प्रयोगशाला थे। उनके सिद्धांतों तथा प्रयोगों से राजनीतिशास्त्र का साहित्य समृद्ध हुआ। अरस्तू द्वारा पहली वार विश्व के इतिहास में विभिन्न शासन-पद्धतियों का वर्गीकरण किया गया तथा प्लेटो ने विश्व के सामने आदर्श राजा की कल्पना प्रस्तुत की। इस प्रकार हम पाते हैं कि यूनानियों ने अपनी प्रतिभा से राजनीतिशास्त्र के साहित्य को समृद्ध किया। प्लेटो ने 'रिपब्लिक' तथा अरस्तू ने 'पोनिलिक्स' नामक पुस्तक लिखी। यूरोप के राजनैतिक सिद्धांतों का प्रथम प्रतिपादन इन्हीं ग्रंथों में हुआ।

दर्शनशास्त्र

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में यूनान की देन अद्वितीय है। प्राचीन भारत जिस प्रकार अपने दार्शनिक ज्ञान के लिए प्रसिद्ध है, वैसे ही प्राचीन यूनान भी। सच तो यह है कि पश्चिमी जगत में दार्शनिक चिंतन का श्रीगणेश यूनान में ही हुआ। दर्शन के क्षेत्र में प्राचीन यूनान में वहुत बड़े-बड़े दार्शनिक पैदा हुए, जिनकी रचनाएँ आज भी दर्शन साहित्य की अमूल्य निधि है। प्राचीन यूनान के तीन दार्शनिक विश्व-इतिहास में सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक माने जाते हैं।

सुकरात (४७० ई०-पू०—३९९ ई०-पू०)

यह अपने समय का सर्वश्रेष्ठ विचारक एवं सत्य का निर्भीक प्रचारक था। प्रश्नोत्तर द्वारा तत्त्व-चर्चा करके यह नवयुवकों को सत्य की शिक्षा देता था। इसने तत्कालीन एथेंस के अत्यंत होनहार एवं प्रतिभाशाली नवयुवकों को अपना शिष्य वनाया। पर, वह एथेंस के नेताओं द्वारा एथेंस के गणतंत्र के लिए खतरनाक समझा गया तथा विषपान द्वारा मार डाला गया। उसकी मृत्यु के बाद उसकी शिष्यमंडली ने उसकी शिक्षा का प्रचार किया।

प्लेटो (४३७ ई०-पू०—३४७ ई०-पू०)

यह सुकरात का सबसे वड़ा शिष्य था। इसे पाश्चात्य दर्शन का प्रवर्त्तक माना जाता है। इसने 'रिपब्लिक' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया। इस ग्रंथ में उसने राजनीतिशास्त्र तथा दर्शन के गूढ़ तत्त्वों का विवेचन किया। इसके विचार आज भी चाव से पढ़े जाते हैं। 'रिपब्लिक' में उसने आदर्श राज्य की कल्पना उपस्थित की।

अरस्तू (३८४ ई०-पू०—३२२ ई०-पू०)

यह प्लेटो का शिष्य तथा सिकंदर महान का गुरु था। यह विचारक, गंभीर विद्वान तथा बहुमुखी प्रतिभासंपन्न दार्शनिक था। इसकी प्रतिभा से विद्वत्ता एवं ज्ञान

का कोई क्षेत्र अछूता नहीं बचा। उसने दर्शन, राजनीति, तर्कशास्त्र, प्राकृतिक विज्ञान एवं जंतु विज्ञान के क्षेत्र में अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। अपनी प्रतिभा एवं विद्वत्ता से उसने आने वाली पीढ़ी को बहुत प्रभावित किया। आज भी तर्कशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र में उसके सिद्धांत अत्यंत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

इन महान दार्शनिकों के अतिरिक्त, यूनान में कुछ अन्य दार्शनिक मतों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें मुख्य मत निम्नलिखित हैं—

सिनिक मत

यह मत पलायनवाद अथवा भाग्यवाद से मिलता-जुलता है। इस मत के दार्शनिकों ने प्राकृतिक जीवन बिताने का अनुरोध किया। उनके अनुसार पृथ्वी ही सबसे अच्छी शय्या है तथा आकाश ही सबसे सुंदर वस्त्र है। इन लोगों ने शासकों तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का मजाक उड़ाया। इनके अनुसार जो कुछ हो रहा है, ठीक हो रहा है। मनुष्य को चुपचाप जो कुछ आवे, उसे सहन करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह नियतिवादी दार्शनिक मत था। इस मत का सबसे प्रधान दार्शनिक डायोजिनीज (Diogenes : ४१२ ई०-पू०—३२३ ई०-पू०) था। इसने 'यूटोपिया' नामक पुस्तक में इस मत के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया।

एपिक्युरियन मत

इस मत का प्रवर्त्तक एपिक्युरस (Epicurus : ३४२ ई०-पू०—२७० ई०-पू०) नामक दार्शनिक था। इस मत के अनुसार मनुष्य को आनंद की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। आनंद की प्राप्त के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करना चाहिए। पर, साथ ही इस दिशा में भी अति से बचना चाहिए; क्योंकि उससे आनंद में बाधा पड़ जाएगी। इसके अनुसार वास्तविक आनंद दुःखों से मुक्ति पाना है।

स्टोइक मत

स्टोइक मत के दार्शनिक सदाचारपूर्ण नैतिक जीवन के समर्थक थे। मनुष्य को, इनके अनुसार, प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन बिताना चाहिए। मनुष्य को एक तरह से दुःख एवं सुख का सामना करना चाहिए। इन लोगों को फलित ज्योतिष पर बहुत विश्वास था। इस मत का सबसे बड़ा दार्शनिक जेनो (Zeno) था, जिसका समय ३६० ई०-पू०—२६० ई०-पू० है।

हेडोनिस्ट मत

इस मत के दार्शनिक आनंदवादी थे। इनके अनुसार आनंद ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इस मत का सबसे बड़ा दार्शनिक एरिस्टिपस (Eristipus : ४३५ ई०-पू०—३५६ ई०-पू०) था।

स्केप्टिक मत

इस मत के दार्शनिक संशयवादी थे। जिस मत की वास्तविकता सिद्ध न हो सके, उसे ये मानने को तैयार नहीं थे। हम देखते हैं कि यूनानियों का दर्शन मानव जाति की चिंतन-प्रणाली के विकास का द्योतक है।

साहित्य

प्राचीन यूनान में अत्यंत उच्चकोटि के साहित्य की रचना की गई। प्राचीन यूनान के लेखकों, कवियों तथा नाटककारों की रचनाएँ आज के युग में भी आदर्श मानी जाती हैं। उच्चकोटि के कवि एवं नाटककार आज भी उससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

महाकाव्य

प्राचीन यूनान में महाकाव्यों की रचना हुई। ये महाकाव्य विश्व-साहित्य की अनुपम निधि हैं। प्राचीन यूनान का सबसे प्रसिद्ध महाकाव्यों का रचयिता होमर नामक कवि था।

होमर

होमर प्राचीन यूनान का सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन कवि है, जिसका समय लगभग ई०-पू० ९वीं शताब्दी है। इसने 'ईलियड' तथा 'ओडिसी' नामक दो महाकाव्यों की रचना की। जिस तरह भारतीय हिंदू 'रामायण' तथा 'महाभारत' से प्रेरणा ग्रहण करते हैं, ठीक उसी तरह उन दोनों महाकाव्यों ने यूनानी जीवन एवं समाज को प्रभावित किया। ट्राय के युद्ध की प्रसिद्ध कथा उन्हीं महाकाव्यों में वर्णित है। सिकंदर महान-जैसे वीरों ने 'इलियड' एवं 'ओडिसी' में चित्रित योद्धाओं को अपना आदर्श माना। पश्चिमी जगत के बहुत बड़े-बड़े कवि बाद के युगों में, इन दोनों महाकाव्यों से प्रभावित एवं प्रेरित हुए। 'ओडिसी' में चित्रित वीरों पर वर्जिल, दांते, तथ. टेनिसन-जैसे महाकवियों ने रचनाएँ कीं। ये दोनों महाकाव्य विश्व-सभ्यता को यूनान की अनुपम देन हैं।

हिसियड

यह प्राचीन यूनान का दूसरा महाकाव्य का रचयिता था। इसका समय आठवीं शताब्दी ई०-पू० के लगभग माना जाता है। इसकी प्रसिद्ध रचना का नाम है—'कार्य तथा काल' (Work And Days)। इसने विशेषत: खेतिहरों के जीवन का चित्रण किया।

गीतिकाव्य

सातवीं शताब्दी ई०-पू० से यूनान में गीतिकाव्य का भी विकास हुआ। छठी

शताब्दी ई०-पू० में सेफो (Sappho) नामक एक प्रसिद्ध कवयित्री हुई। अपनी सुंदर रचनाओं के लिए यह होमर की भाँति ही प्रसिद्ध हुई। गीतिकाव्य का दूसरा प्रसिद्ध कवि एनाक्रेआन (Anacreon) हुआ। इसका समय ५६० ई०-पू० से ४७५ ई०-पू० था।

गीतिकाव्य की चरम परिणति पिण्डार नामक कवि की रचनाओं में हुई। पिण्डार ५वीं शताब्दी ई०-पू० में हुआ।

नाटक

प्राचीन यूनान में अत्यंत उच्च कोटि के दुःखांत तथा सुखांत नाटक लिखे गए। नाटककारों में अत्यंत प्रसिद्ध नाटककार निम्नलिखित हैं, जो पेरिक्लीज के युग में हुए। ईशेलस, यूरिपाइडीज तथा सोफोक्लीज नामक अत्यंत प्रसिद्ध दुःखांत नाटककारों ने विश्व-साहित्य को अपनी अनुपम कृतियों से समृद्ध किया है।

सुखांत नाटककारों में एरिस्टोफेनीज नामक नाटककार पेरिक्लीज के युग (५वीं शताब्दी ई०-पू०) में हुआ। इसने हास्यरस के व्यंग्यपूर्ण नाटकों की रचना की। दूसरा प्रसिद्ध सुखांत नाटककार मिनांडर (३४२ ई०-पू०—२९१ ई०-पू०) हुआ। इन नाटककारों की रचनाएँ सभी युगों के लिए आदर्श रचनाएँ मानी गई हैं।

इतिहास

प्राचीन यूनान में इतिहास की रचना भी हुई। विश्व के प्रथम इतिहासकार हेरोडोटस (४८४ ई०-पू०—४२५ ई०-पू०) ने 'यूनान पर ईरानी आक्रमण का इतिहास' अत्यंत रोचक ढंग से लिखा। यह इतिहास लिखने की कला का जन्मदाता माना जाता है। दूसरा प्रसिद्ध इतिहासकार थ्युसिडाइडीज (४६० ई०-पू०—४०० ई०-पू०) हुआ। इसने वैज्ञानिक ढंग से इतिहास लिखने की कला को जन्म दिया। अतः, यह वैज्ञानिक ढंग से इतिहास लिखने की कला का पिता माना गया है। इसने एथेंस और स्पार्टा के बीच हुए पेलोपोनेशियन युद्ध का इतिहास लिखा।

कला

यूनाननिवासियों का कलापक्ष अत्यंत जागरूक था। जीवन के भौतिक क्षेत्र में उन्होंने कम उन्नति की, पर कला के क्षेत्र में उनका विकास चरम सीमा को पहुँच गया। वे सौंदर्य के पुजारी थे तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को उन लोगों ने सुंदर बनाने का प्रयत्न किया। जिस प्रकार उन लोगों ने अपने साहित्य को सुकोमल एवं सुंदर भावनाओं से सजाया, इसी प्रकार सुकोमल एवं सुकुमार भावनाओं को उन लोगों ने तक्षण कला तथा स्थापत्य कला में भी व्यक्त किया। उनके द्वारा निर्मित मंदिर एवं मूर्तियाँ उनकी सुकमार सौंदर्य-भावना के प्रतीक हैं।

स्थापत्य कला

डोरिक शैली का सर्वोत्कृष्ट नमूना, पेरिक्लीज के युग (५वीं शताब्दी ई०-पू०) में बनाया गया पार्थेनन नामक मंदिर है। इस शैली में लंबे और ठोस खंभों की भरमार रहती थी और इनके सहारे भवन खड़ा रहता था। ये खंभे ऊपर जाकर पतले हो जाते थे। इस शैली में बना हुआ पार्थेनन ग्रीकों की सौंदर्य-भावना का सुंदर प्रतीक था।

आयोनिक शैली

प्राचीन यूनान में इस शैली का प्रयोग विशेष रूप से हुआ। इसमें खंभे उतने ठोस तो नहीं, पर अलंकृत तथा सुंदर बनाए जाते थे। एथेंस का इरेक्थियम नामक मंदिर इस शैली का उत्कृष्ट नमूना था। इस मंदिर में कुछ खंभे युवतियों के आकार के बने थे। युवतियों के सिर पर पूजा-सामग्रियों की एक मंजूषा है। यह मंदिर पार्थेनन के बाद ग्रीक स्थापत्य कला का भव्य नमूना है।

कोरिंथियन शैली

इस शैली में खंभों को मजबूत तथा हर तरह से सुंदर बनाया जाता था। खंभों की सजावट ही इस शैली की विशेषता थी। इस शैली का प्रयोग बहुत कम होता था, पर रोमन युग में यह शैली बहुत लोकप्रिय हो गई।

मूर्तिकला

यूनानियों की मूर्तिकला उनकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति एवं विकास का सुंदर उदाहरण है। इस कला के माध्यम से यूनानियों ने अपने आदर्शों एवं सौंदर्य-प्रेम को अभिव्यक्त किया। मूर्ति-निर्माता यूनानी समाज में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति माना जाता था। यूनानियों का विश्वास था कि उनके देवताओं के शरीर मानवीय हैं। उनकी कल्पना के अनुसार उनके देवता अत्यंत सुंदर थे। इसी कारण, इनके देवताओं की प्रतिमाएँ अत्यंत ही सुंदर बनायी गईं। वे ऐसा मानते थे कि प्रतिमा जितनी ही सुंदर होगी, उतनी ही दैवी गुणों से युक्त होगी। इस कला का विकास पाँचवीं शताब्दी ई०-पू० में हुआ।

फीडियस (५०० ई०-पू०—४३५ ई०-पू०)

यह प्राचीन यूनान के मूर्तिकारों में सबसे प्रसिद्ध था। यह पेरिक्लीज का मित्र था तथा इसी ने पार्थेनन की मूर्तियों का निर्माण किया था। विशेषतः इसकी बनायी हुई एथेना देवी की मूर्ति अत्यन्त सुंदर एवं सजीव थी।

पोलिक्लिटस (४८० ई०-पू०—४२० ई०-पू०)

यह भी ५वीं शताब्दी ई०-पू० का प्रसिद्ध मूर्तिकार था। यह पहलवानों की काँसे की मूर्तियाँ बनाने के लिए प्रसिद्ध था। इसने कई पहलवानों के शरीर को नाप कर मूर्तिकला में सौंदर्य के सिद्धांत स्थिर किए।

चित्रकला

इस कला का भी पूर्ण विकास प्राचीन यूनान में हुआ। चित्रकारों में प्रसिद्ध चित्रकार थ्रेस का पोलिनौटस था। यह फीडियस का समकालीन था। इसने बहुत से समूह चित्रों को तैयार किया। दूसरा प्रसिद्ध चित्रकार अपोलोडोरस था। इसने लकड़ी के तख्तों पर सुंदर चित्र बनाए। यह चतुर्थ शताब्दी ई०-पू० में हुआ।

विज्ञान

यूनानी मस्तिष्क स्वभावतः चिंतनशील एवं उर्वर था। यूनानी दार्शनिकों के चिंतन ने वैज्ञानिक खोज एवं चिंतन को प्रोत्साहित किया। यद्यपि यूनानियों ने विज्ञान का विकास भौतिक उद्देश्यों के लिए नहीं किया, फिर भी इस क्षेत्र में यूनानियों की देन कुछ कम नहीं है।

अरस्तू (३८४ ई०-पू०—३२२ ई०-पू०)

महान दार्शनिक अरस्तू वैज्ञानिक चिंतन के लिए भी प्रसिद्ध है। दर्शन एवं राजनीति के अतिरिक्त उसके सिद्धांत वैज्ञानिक विषयों में आज भी पढ़ाए जाते हैं। सर्वप्रथम उसने प्राकृतिक विज्ञान का श्रीगणेश किया। उसने मछली की उत्पत्ति एवं विकास का इतिहास लिखा। वनस्पति-विज्ञान एवं जन्तु-विज्ञान अरस्तू के चिंतन से विकसित एवं समृद्ध हुए।

थियोफ्रेस्टस

यह अरस्तू का शिष्य था तथा इसने वनस्पति-विज्ञान को प्रथम बार शास्त्रीय रूप दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि वनस्पति-विज्ञान को शास्त्रीय रूप देने का श्रेय अरस्तू तथा उनके शिष्य को ही है।

डायोस्कोराइडीज

अरस्तू की तरह विज्ञान के क्षेत्र में, यह बहुत बड़ा चिंतक एवं विचारक था। सच तो यह है कि यूनान में दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चिंतन का प्रारंभ इसी के हाथों हुआ। इस दृष्टि से यह अरस्तू का पूर्वज था, क्योंकि अरस्तू इससे बहुत बाद में पैदा हुआ था। यह माइलेटस प्रदेश का निवासी था। यह यूनानी तथा यूरोपीय विज्ञान एवं दर्शन का पिता माना जाता है। इसने मिस्र में गणित ज्योतिष का अध्ययन किया था। अपने अध्ययन के बल पर इसने आयोनियानिवासियों को ५८५ ई०-पू० में होने वाले सूर्यग्रहण के विषय में पहले ही बतला दिया था। चूँकि उस युग में दर्शन एवं विज्ञान अलग-अलग नहीं थे, इसी कारण इसे दर्शन का भी पिता मानते हैं। इसने यह सिद्ध किया कि समस्त विश्व एक ही तत्व से विकसित हुआ। वह तत्त्व, इसके अनुसार जल है। विश्व की अनेकता में एकता की व्याख्या करने के लिए उसने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

एरिस्टार्कस (३१० ई०-पू०—३२० ई०-पू०)

यह पहला ग्रीक वैज्ञानिक था, जिसने यह घोषणा की कि सूर्य के चारों तरफ पृथ्वी घूमती है। इसने यह बताया कि सूर्य स्थिर है तथा पृथ्वी से बहुत बड़ा है। इसने पृथ्वी से चंद्रमा तक की दूरी का भी लगभग ठीक अनुमान लगाया।

गणितशास्त्र

यूनानियों ने गणित के क्षेत्र में असीम उन्नति की। इस क्षेत्र में उनकी देन अद्वितीय तथा अमर है। यूनानी विचारकों के ग्रंथ तथा सिद्धांत आज भी विद्यार्थियों तथा विद्वान द्वारा पढ़े जाते हैं।

गणित के क्षेत्र में विशेषतः रेखागणित का अध्ययन यूनानियों ने किया। यूनान में रेखागणित के बड़े-बड़े विचारक हुए।

थेलिस

यूनानी दर्शन एवं विज्ञान का पिता, इस शास्त्र का भी जनक था। उसने मिस्रवासियों से इस शास्त्र का अध्ययन किया था। इस शास्त्र में इसने बिंदु एवं रेखा की कल्पना की थी।

पाइथागोरस (५८२ ई०-पू०—५०७ ई०-पू०)

यह रेखागणित का सबसे बड़ा पंडित एवं वास्तविक प्रतिष्ठापक था। इसने बिंदु, रेखा, धरातल एवं विस्तार की शास्त्रीय कल्पना प्रस्तुत की और गणित के आधार पर यह सिद्ध किया कि पृथ्वी गोल है। इसने संगीत के स्वरों का संख्या के आधार पर संबंध स्थिर किया।

यूक्लिड (३०० ई०-पू०)

यह भी रेखागणित का बहुत बड़ा पंडित था, जिनकी देन इस क्षेत्र में अमर है। इसकी लिखी ज्यामिति की पुस्तक आज भी स्कूलों में पढ़ाई जाती है। इसकी पुस्तक में प्रमेयोपपाद्य (Theorem) को अत्यंत स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आर्किमिडीज (२८७ ई०-पू०—२१२ ई०-पू०)

अपने वैज्ञानिक चिंतन के कारण यह अरस्तू एवं पाइथागोरस की तरह प्रसिद्ध है। यह गणित शास्त्र एवं भौतिकशास्त्र का प्रकांड विद्वान था। अपने अध्ययन के आधार पर इसने सिंचाई के काम में आने वाली मिश्रित घिरनी तथा तापमय शीशों का आविष्कार किया। इसने खानों से पानी निकालने के काम में आने वाले पेंच का आविष्कार किया।

हेराक्लिटस (५४० ई०-पू०—४७५ ई०-पू०)

यह विश्व की एकता के सिद्धांत में नहीं विश्वास करता था। इसके अनुसार परिवर्तन का क्रम बराबर चलता रहता है, इस कारण प्राकृतिक तत्वों में विभिन्नता आ जाती है।

परमेनिडीज (५०० ई०-पू०)

इसे भौतिक तत्वों में आस्था नहीं थी। इसने भावना की चिरंतनता तया अपरिवर्तनशीलता पर जोर दिया। इसके अनुसार बाह्य जगत भावनाओं की प्रतिच्छाया मात्र है। इसने चिरंतन विश्वात्मा की कल्पना की तथा उसे वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध किया।

एनैक्सीमैण्डर (६११ ई०-पू०—५४७ ई०-पू०)

इसने प्राणी-विज्ञान तथा शरीर-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान किए। इसके अनुसार प्रारंभिक प्राणी जल में रहते थे तथा बाद में स्थल पर आ गए। इसने पहला मानचित्र तैयार किया।

एम्पीडोक्लीज (४९० ई०-पू०—४३० ई०-पू०)

इसने विकासवाद के सिद्धांत को और विकसित किया। इसके अनुसार अनुकूल परिवर्तनों से विकास की प्रक्रिया निश्चित होती है।

डेमोक्रीटस (४६० ई०-पू०—३७० ई०-पू०)

इसने जंतुओं का वर्गीकरण रक्त के गुण के आधार पर किया। इसके वर्गीकरण का विकास अरस्तू द्वारा किया।

चिकित्साशास्त्र

डायोजिनीज (५०० ई०-पू०—४३० ई०-पू०)

इसने पश्चिमी जगत में प्रथम बार शरीर-विज्ञान तथा शरीर के चीर-फाड़ एवं विश्लेषण (Anatomy) पर पहली पुस्तक लिखी। इसके अनुसार प्राणियों एवं जंतुओं का विकास मिट्टी में सूर्य की उष्ण रश्मियों के सहारे हुआ।

हिप्पोक्रेटीज (४६० ई०-पू०—३७७ ई०-पू०)

यह यूनानी चिकित्साशास्त्र का पिता माना जाता है इसने इस अंधविश्वास का खंडन किया कि बीमारियाँ प्रेतों के कारण होती हैं और बतलाया कि बीमारियां कुछ कारणों से होती हैं। इसने बीमारी दूर करने के लिए सफाई, रक्त-निष्कासन तथा पसीना होने पर जोर दिया। इसने वैद्यों के लिए शपथ लेने की प्रथा को शुरू किया। इस शपथ ने वैद्यों पेशे को नैतिक दायित्व से युक्त कर दिया।

हेरोफिलस (३०० ई०-पू०)

यह शरीर की चीर-फाड़ की विद्या का पिता माना जाता है। इसने मानव-शरीर को चीर-फाड़ कर मांसपेशियाँ तथा तंतुओं का अध्ययन किया।

उपसंहार

इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञान-विज्ञान का कोई भी क्षेत्र ग्रीक प्रतिभा से अछूता नहीं बचा। यूनानियों ने बहुत बड़ा साम्राज्य नहीं स्थापित किया तथा उनके आविष्कार बहुत व्यावहारिक नहीं; क्योंकि यूनानियों की अभिरुचि प्रधानतः बौद्धिक, कलात्मक एवं आध्यात्मिक थी। इसी कारण, यूनानियों ने अपनी देन से साहित्य, दर्शन, कला एवं विज्ञान के क्षेत्र को समृद्ध किया तथा इन क्षेत्रों में उनकी देन अद्वितीय और अमर है। प्राचीन विश्व की जिन जातियों ने जो विशाल साम्राज्य स्थापित किया, वह साम्राज्य आज मिट चुका है। पर, यूनानियों ने बौद्धिक क्षेत्र में जो साम्राज्य स्थापित किया, वह कभी मिटने वाला नहीं है। यूनान के कवि एवं नाटककार, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक, मूर्तिकार तथा कलाकार संसार में सदैव आदर्श माने जाते हैं तथा माने जाएंगे। इन्हीं विचारकों, कवियों एवं कलाकारों के कारण यूनानी सभ्यता और संस्कृति प्रसिद्ध है। इन्हीं की कृतियाँ विश्व-सभ्यता को यूनान की अमर देन हैं। इन्हीं दोनों के कारण यूनानी सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता, साहित्य एवं विज्ञान का आदि स्रोत मानी जाती है। यूरोपीय विद्वान स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं कि प्राचीन यूनान यूरोपीय सभ्यता का पिता है। महाकवि शेली तथा इतिहासकार फिशर ने अपनी रचनाओं में इस विचार को व्यक्त किया है।

●

७. प्राचीन रोम की सभ्यता

रोमन सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास

रोम की ऐतिहासिक महत्ता

यदि यूरोपीय साहित्य, दर्शन, विज्ञान एवं कला का आदि स्रोत यूनानी संस्कृति है, तो यूरोपीय सामाजिक व्यवस्था, कानून, भाषा तथा संगठन शक्ति की जननी रोम की सभ्यता है। पश्चिमी सभ्यता के निर्माण में प्राचीन यूनान तथा रोम की बराबर देन है। यदि यूनान ने सूक्ष्म चिंतन की प्रणाली को जन्म दिया, तो रोम ने जीवन को संगठित करने की कला का विकास किया। रोम के निवासी यूनानियों की तरह सुकोमल कल्पना-शक्ति तथा सौंदर्यानुभूति से युक्त नहीं थे, पर उन्हें व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभव पूर्ण-मात्रा में मिले थे। दूसरे शब्दों में, यूनानी प्रतिभा विशेषतः सैद्धांतिक थी तथा रोमन प्रतिभा व्यावहारिक थी। इन दोनों प्रतिभाओं के मणिकांचन संयोग ने ही यूरोपीय संस्कृति की पृष्ठभूमि तैयार की थी। ईसाई धर्म एवं चर्च के विकास में भी यूनानी एवं रोमन प्रतिभा का समान हाथ रहा। ईसाई दर्शन का विकास यूनानी चिंतन-प्रणाली एवं दर्शन के आधार पर हुआ तथा ईसाई चर्च का संगठन, जिससे ईसाई धर्म को ऐक्य एवं स्थायित्व प्राप्त हुए, रोम की व्यावहारिक प्रतिभा का परिणाम था। रोम की सभ्यता का विकास यूनानी सभ्यता के अपकर्ष के बाद हुआ। इस कारण रोमन संस्कृति ग्रीक संस्कृति से अत्यंत प्रभावित थी। कई विद्वानों के अनुसार रोमन संस्कृति यूनानी संस्कृति का ही प्रसार थी। वस्तुतः रोम वालों ने यूनान से बहुत कुछ सीखा था तथा उसमें अपनी प्रतिभा के अनुसार परिवर्तन एवं, परिवर्द्धन किया। यदि यूनान ने तत्कालीन जगत का बौद्धिक नेतृत्व किया, तो रोम ने प्राचीन विश्व का सबसे बड़ा साम्राज्य स्थापित किया। इसके अतिरिक्त रोम में कृषि, कानून, शासन-व्यवस्था तथा सैन्य-संगठन का चरम विकास हुआ। इन क्षेत्रों में रोमन प्रतिभा की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई। रोमन सभ्यता क्लासिकल (Classical) सभ्यताओं की चरम परिणति थी। जिस प्रकार नदियों का अंत समुद्र में होता है, उसी प्रकार प्राचीन विश्व की पाश्चात्य संस्कृतियों का अंत रोमन सभ्यता में हो गया। रोमन सभ्यता के अपकर्ष के बाद यूरोप के इतिहास में मध्ययुगीन अंधकार छा गया। पुनः रिनेसा (पुनर्जागरण) युग में जब यूनान और रोम की संस्कृतियों के अध्ययन से बौद्धिक जागरण हुआ, तभी उस अंधकार का आवरण उठ सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमन सभ्यता का स्थान प्राचीन विश्व की सभ्यताओं में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

भौगोलिक स्थिति

रोमन सभ्यता का केंद्र रोम नामक नगर था, जो इटली में स्थित है। इटली यूरोप महादेश का एक बहुत सुंदर देश है। यहाँ की भूमि यूनान से कहीं अधिक उपजाऊ है तथा पर्वतमालाएँ भी हरी-भरी हैं। इटली का प्रायद्वीप भूमध्यसागर में बहुत दूर तक घुस गया है। इसी कारण, रोम वालों ने आसानी से पूरे भूमध्यसागर के निकटवर्ती प्रदेश पर अपना साम्राज्य स्थापित किया। रोमन साम्राज्य का हृदय इटली का ही प्रायद्वीप था। इस देश के मेरुदंड के समान बीचोबीच एपिनाइन्स पर्वतमाला उत्तर से दक्षिण तक फैली हुई है। उत्तर में आलपस पर्वत तथा तीन ओर समुद्र है। इसके पश्चिम तट पर अनेक सुंदर बंदरगाह एवं नगर हैं। जलवायु भी अत्यंत मनोरम एवं स्वास्थ्यवर्द्धक है। पच्छिमी तट की ओर से ही कई नदियों की उपजाऊ घाटियाँ हैं। इसी पच्छिमी तट पर टाइबर (Tiber) नदी के किनारे रोम नगर का विकास हुआ, जो एक विशाल साम्राज्य का केंद्र बना। अतः, इटली की भूमि का उर्वरता रोमन साम्राज्य की समृद्धि में सहायक हुई तथा भूमध्यसागर के मध्य में स्थित होने से रोम वालों को निकटवर्त्ती प्रदेश पर साम्राज्य स्थापित करने में सुविधा हुई। रोम की भौगोलिक स्थिति ने भी रोम की महानता में योग दिया।

रोम का प्रारंभिक इतिहास

जिस प्रकार २००० ई०-पू० के लगभग आर्य जाति उत्तर-पश्चिम की ओर से भारतवर्ष में आई, उसी प्रकार इटली में भी २००० ई०-पू० में आर्य जाति का आगमन हुआ। आर्य जाति कई शाखाओं में बँटी थी, जिसमें लैटिन एवं सेम्माइट प्रधान थे। इनकी भाषा संस्कृत भाषा से मिलती-जुलती थी तथा आर्य भाषाओं की एक शाखा थी। १५०० ई०-पू० के लगभग यह जाति इटली देश में दक्षिण की ओर बढ़ती गई। १००० ई०-पू० तक ये जातियाँ इटली के विभिन्न प्रदेशों में बस गईं। विभिन्न प्रदेशों एवं शाखाओं में बँटे रहने के कारण यह जाति सभ्यता के क्षेत्र में अधिक विकास नहीं कर सकी। इटली में सर्वप्रथम एक उन्नत सभ्यता को विकसित करने का श्रेय एट्रस्कन (Etruscan) नामक एक अनार्य जाति को है।

एट्रस्कन जाति

ई०-पू० ९०० से इटली के पश्चिमी तट पर आर्नो (Arno) तथा टाइबर नदियों के बीच स्थित एट्रूरिया (Etruria) के प्रदेश में एक समृद्ध सभ्यता का उदय हुआ। इस सभ्यता के निर्माता निस्संदेह इटली में बसने वाली आर्य जाति से भिन्न

थे। उनके प्रारंभिक इतिहास के विषय में कुछ अधिक नहीं ज्ञात हो सका है। उनके कई हजार शिलालेख प्राप्त हुए हैं, पर सैंधव सभ्यता के शिलालेखों की तरह आज तक उन्हें पढ़ा नहीं जा सका है।

एट्रूरिया प्रदेश में बसने के कारण इस जाति को एट्रस्कन नाम से अभिहित किया गया है। इनके चेहरे भद्दे होते थे तथा इनके स्वभाव में निर्दयता होती थी। उनका धर्म भूत-प्रेतों की पूजा मात्र था। फिर भी, ये बड़े ही परिश्रमी एवं अध्यवसायी थे। उन्होंने व्यापार के क्षेत्र में बड़ी उन्नति की। ये मिस्र, फीनिशिया आदि से व्यापार कर काफी मात्रा में जवाहरात लाते थे। कई देशों के संपर्क में आकर इन लोगों ने अपनी संस्कृति का सुंदर विकास किया। पर, इनकी संस्कृति पर ग्रीक संस्कृति की गहरी छाप थी।

रोम का सुस्पष्ट इतिहास एट्रस्कन शासन से ही प्रारंभ होता है। रोम की स्थापना ७५३ ई०-पू० में हुई थी। एट्रस्कन लोग एट्रूरिया से दक्षिण की तरफ बढ़ते जा रहे थे तथा उन्होंने रोम पर बिना किसी युद्ध के ही आधिपत्य स्थापित कर लिया। एट्रस्कन जाति का पहला राजा टार्क्विन था (Tarcuin) था। एट्रस्कन शासन में रोम का अत्यधिक विकास हुआ। व्यापार-वाणिज्य की वृद्धि से रोम नगर अत्यंत समृद्ध हो गया। एट्रस्कन राजाओं ने इस धन का सदुपयोग किया तथा रोम नगर को भव्य, सुंदर और मजबूत यनाया। सर्वियस टुलियस (Servius Tullius) नामक एट्रस्कन राजा के शासनकाल में रोम का रूप ही वदल गया। रोम नगर की चहारदीवारी बनायी गई तथा कई मंदिरों का निर्माण हुआ। एट्रस्कन राजाओं ने रोम का नवीन ढंग से सैन्य-संगठन किया। वस्तुतः एट्रस्कन लोगों ने सैन्य-संगठन द्वारा रोम को एक सैनिक राज्य में परिणत कर दिया। बाद के इतिहास में भी रोम एक प्रधानतः सैनिक राज्य बना रहा। अनुशासन-प्रेम रोमन चरित्र का एक अंग बन गया।

इस जाति का अंतिम राजा टार्क्विन था। वह अत्यंत घमंडी था, इसी कारण उसे 'घमंडी ट्रार्क्विन' कहा गया है। उसके शासन से तंग आकर प्रजा ने उसे निकाल दिया। ४९६ ई०-पू० में रोम एट्रस्कन शासन से पूर्णतया मुक्त हो गया।

एट्रस्कन जाति के शासन का बहुत प्रभाव रोमन इतिहास एवं चरित्र पर पड़ा। इस जाति के शासन ने रोमन जाति की राजनैतिक एवं सैनिक संस्थाओं को तो प्रभावित किया ही, रोमन चरित्र पर भी इनका गहरा प्रभाव पड़ा। रोमन स्थापत्य कला में मेहराब इन्हीं की देन था। रोमन चरित्र में साहस, स्फूर्ति एवं कठोरता का होना इसी जाति से संपर्क का परिणाम था।

रोम गणतंत्र की स्थापना

एट्रस्कन जाति के राजाओं के अत्याचारी शासन ने रोमन जाति के हृदय में राजतंत्र के प्रति असीम घृणा का भाव पैदा कर दिया था। इसी कारण, रोमन जाति ने एट्रस्कन शासन का विनाश कर पुनः रोमन राजतंत्र की स्थापना नहीं की, वरन् गणतंत्र की स्थापना की। रोमन जाति स्वभावतः प्राचीनताप्रेमी थी। इसी कारण, यद्यपि उन लोगों ने राजतंत्र का विनाश कर दिया, पर कुछ दूसरा कठोर परिवर्तन नहीं किया। राजा के स्थान पर दो मजिस्ट्रेटों की व्यवस्था की गई, जिन्हें कौंसल (Consul) कहा जाता था। ये कौंसल प्रतिवर्ष निर्वाचित किए जाते थे। निर्वाचन को छोड़ कर इनके अधिकार प्रत्येक दृष्टि से एक राजा-जैसे ही होते थे। युद्ध में सेना का संचालन एवं नेतृत्व यही करते थे। शांति के समय में भी नागरिकों के जीवन पर इन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त था। ये नागरिकों को कोड़ों से पिटवा सकते थे। राज्य के आय-व्यय का नियंत्रण तथा न्याय करना इन्हीं के हाथ में था। दो कौंसल के पद का निर्माण शासन के भार को हलका करने के लिए अवश्य किया गया, पर साथ ही इसका एक और उद्देश्य था। दो कौंसल एक दूसरे पर नियंत्रण भी रखते थे। इससे राजतंत्र की पुनः स्थापना की आशंका नहीं थी। विशेष परिस्थितियों के लिए अधिनायक या डिक्टेटर के पद का प्रबंध किया गया था। यह डिक्टेटर छह महीने के लिए बहाल किया जाता था। इस समय राज्य की सारी सत्ता उसके हाथों में केंद्रित हो जाती थी।

गणतंत्र का विधान

दो कौंसल

सीनेट

कार्यकारिणी शक्ति निस्संदेह कौंसल लोगों के हाथ में थी, पर नीतिनिर्देशन का कार्य सीनेट (Senate) नामक संस्था करती थी। इसके सदस्य अत्यंत अनुभवी तथा बुद्धिमान होते थे। इसके सदस्य कुलीन वंश के वे ही लोग हो सकते थे, जो पहले कभी कौंसल रह चुके हों। अनुभवी व्यक्तियों के रहने से यह संस्था रोम गणतंत्र की प्रधान संस्था बन गई तथा सेना का प्रबंध, अर्थनीति और वैदेशिक नीति आदि का विषय इसी संस्था के हाथ में थे।

कौंसल लोगों की सहायता के लिए उनके अधीन दो कर्मचारी होते थे, जिनका काम था, अपराधियों को गिरफ्तार करना तथा राजस्व का निरीक्षण। इनको क्वेस्टर (Quester) कहा जाता था।

गणतांत्रिक शासन में वर्ग-संघर्ष

पैट्रीशियन

रोम के गणतंत्र में कुलीन लोगों की प्रधानता थी। चूँकि रोम एक कृषिप्रधान देश था, इस कारण यहाँ जिनके पास काफी भूमि थी, वे अपने को और लोगों से ऊँचा मानते थे। इन्हीं लोगों को ऊँचे पद मिलते थे तथा ये अपने को रोम के अलिखित कानून का व्याख्याता मानते थे। राजधर्म की भी व्याख्या वे ही करते थे। ये अपने को कुलीन भी मानते थे तथा साधारण जनता से शादी-व्याह का संबंध नहीं स्थापित करते थे। इन लोगों को 'पैट्रीशियन' (Patrician) तथा साधारण जनता को 'प्लेबियन' (plebian) कहा जाता था।

प्लेबियन

इस प्लेबियन वर्ग के कुछ सदस्य विदेशी व्यापारी तथा कारीगर थे, जो रोम में बस गए थे। पर, इस वर्ग के अधिक सदस्य भूमिहीन नागरिक थे। धीरे-धीरे जनसंख्या के बढ़ने से इस वर्ग की संख्या भी बढ़ती गई। क्रमशः कम भूमि वाले किसान भी भूमिहीन होते गए तथा प्लेबियन वर्ग में श्रमिक होकर सम्मिलित होते गए।

ट्रिब्यून का पद

इस प्लेबियन वर्ग की दशा रोम गणतंत्र में अत्यंत ही दयनीय थी। कर्ज न चुका सकने के कारण इन्हें गुलाम भी बनना पड़ता था। इस तरह के शोषण एवं उत्पीड़न के विरुद्ध इनके पास कोई अस्त्र नहीं था। अतः, इन्होंने इस अत्याचार का अंत करने के लिए निश्चय किया। इनके विना सेना का कार्य नहीं चल सकता था। अतः, अपने कष्टों का अंत करने के लिए इन्होंने गणतंत्र से असहयोग करना शुरू किया। अंत में, विवश होकर पैट्रीशियन लोगो को संधि करनी पड़ी तथा एक नए प्रकार के मजिस्ट्रेटों का पद बनाया गया, जिन्हें 'ट्रिब्यून' (Tribune) की संज्ञा दी गई। इन लोगों को एक विशेष कार्य-भार दिया गया। यदि कोई प्लेबियन ऋण न चुका सकने के कारण गिरफ्तार किया जाता था, तो इस मामले में हस्तक्षेप करने का काम इनका था। ये ट्रिब्यून प्लेबियन वर्ग में से प्लेबियनों द्वारा ही चुने जाते थे। इनका चुनाव प्रतिवर्ष होता था। इस तरह प्लेबियन वर्ग को भी कुछ अधिकार प्राप्त हुए।

कमीशिया ट्रिब्यूटा (Comitia Tributa)

प्लेबियनों की एक अपनी लोक-सभा स्थापित हुई, जिसका नाम 'कमीशिया ट्रिब्यूटा' पड़ा। धीरे-धीरे इस भाग के अधिकार बढ़ते गए तथा २८७ ई०-पू० तक उसके द्वारा स्वीकृत कानून सभी को मान्य होते थे। ट्रिब्यूनों का निर्वाचन इसी सभा द्वारा होता था तथा छोटे-छोटे कर्मचारियों की नियुक्ति भी यही सभा करती थी।

कमीशिया सेंचुरियेटा (Comitia Centuriata)

राष्ट्र के विरुद्ध अपराधों का निर्णय इस सभा द्वारा होता था और इसके सदस्य संपति के आधार पर चुने जाते थे। प्लेबियनों ने अन्य अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष जारी रखा। कानून लिखित नहीं होने से पैंट्रीशियन मजिस्ट्रेट मनमाना न्याय करते थे। इस अलिखित कानून के विरुद्ध प्लेबियनों ने आवाज उठाई। इस आंदोलन के फलस्वरूप कानून लिखे गए तथा ४५० ई०-पू० में 'बारह तख्तियों पर लिखित कानून' प्रकाशित किया गया। यह कानून राज्य में सर्वमान्य हुआ। पर, इस कानून में भी कुछ पारंपरिक प्रथाएँ यथावत् रख दी गई थीं। जैसे ऋण नहीं चुका सकने के कारण गुलाम बनने का दंड इस कानून में भी था। इसके पश्चात् ४४५ ई०-पू० तक कुछ और कानून पास किए, जिनके द्वारा प्लेबियनों को वे सभी अधिकार प्राप्त हुए, जो पैंट्रीशियनों को प्राप्त थे। अब वे पैंट्रीशियन लोगों के साथ शादी-ब्याह का संबंध स्थापित कर सकते थे। वे रोम की सभी सभाओं के सदस्य हो सकते थे। अब यह कानून बना दिया गया कि दो कौंसल में से एक प्लेबियनों में से चुना जाएगा। रोम गणतंत्र की सीमा तथा जनसंख्या में वृद्धि होने से शासन-कार्य भी बढ़ता गया। इसलिए कौंसल लोगों के कार्यभार को हल्का करने के लिए ४४३ ई०-पू० में दो सेन्सर का पद बनाया गया, जिन्हें कौंसल लोगों का बहुत-सा कार्य दे दिया गया। ये पाँच वर्षों में एक बार चुने जाते थे। इस पद पर प्लेबियन भी नियुक्त हो सकते थे। ट्रिब्युनों के भी अधिकार में वृद्धि की गई। ऋण न चुका सकने के कारण जो गुलाम बन जाने का कानून था, वह समाप्त कर दिया गया। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा रोम गणतंत्र का शासन होता था।

प्लेबियनों द्वारा अधिकारों की प्राप्ति

अतः, रोम में वर्ग-संघर्ष का अंत बहुत अच्छे ढंग से हुआ। संधि की नीति से अधिकार दोनों वर्गों में बँट गया तथा दोनों वर्गों ने मिल कर रोम गणतंत्र की उन्नति में हाथ बँटाना शुरू किया। वर्ग-संघर्ष एवं पारस्परिक घृणा के मिटने से रोम गणतंत्र की नींव सुदृढ़ हो गई। नागरिकों में राष्ट्रीयता एवं देशप्रेम की भावना का उदय हुआ। दोनों वर्गों के सम्मिलित सहयोग से रोम राज्य का विकास होने लगा तथा अंत में रोम एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुआ। वर्ग-संघर्ष का अंत कर रोम ने प्राचीन विश्व में एकता का नूतन आदर्श उपस्थित किया।

रोमन गणतंत्र के राज्य का विस्तार

पारस्परिक संघर्ष का अंत होने के पश्चात् रोमनिवासियों ने गणतंत्र की शक्ति

का विस्तार करना प्रारंभ किया । ई०-पू० चौथी शताब्दी से रोमन साम्राज्य का विकास प्रारंभ हुआ । सर्वप्रथम रोमनिवासियों ने पूरे इटली पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का निश्चय किया । इटली के अन्य प्रांतों में अभी तक एट्रस्कन जाति के कुछ केंद्र थे, जिनको जीतना रोम के प्रसार के लिए आवश्यक था । इससे रोमनों ने एट्रूरिया के प्रांत को, जो एट्रस्कन जाति का अपना राज्य था, जीत कर रोमन राज्य में मिला लिया ।

संपूर्ण इटली
पर अधिकार

इटली के अन्य प्रांतों में रोमन जाति के ही भाई-बंधु रहते थे, जो लैटिन तथा सेम्नाइट शाखाओं के थे । ये दोनों शाखाएँ आर्य जाति की शाखाएँ थीं । आर्य होते हुए भी, इटली के अन्य प्रांतों में बसी हुई ये जातियाँ, रोमन, जाति से द्वेष रखती थीं । इसका कारण था, रोमन जाति का दंभ । रोमन जाति अन्य प्रांत के लैटिन तथा सेम्नाइट जातियों से अच्छा व्यवहार नहीं करती थी । इनके अतिरिक्त एट्रस्कन जाति रोमनों के विरुद्ध इन जातियों को उकसाती रहती थी । इन कारणों से इन जातियों ने रोम के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया । यह युद्ध ३४० ई०-पू० से २९० ई-पू० तक चलता रहा । इस युद्ध में सेम्नाइट, गाल, लैटिन तथा एट्रस्कन जातियों ने मिल कर युद्ध किया । पर, रोम की सुसंगठित सेना के सामने टिक नहीं सकीं । ३३८ ई०-पू० तथा २९५ ई०-पू० में पराजित होने के बाद संपूर्ण इटली पर रोम का अधिकार हो गया ।

विजित प्रदेशों के शासन का प्रबंध रोमनों ने उदारता एवं भाईचारे के सिद्धांत पर किया । संपूर्ण इटली एक संघ के रूप में परिणत हो गया, जिसका नेतृत्व एवं नियंत्रण रोम के ही हाथ में रहा । विजित नगरों एवं प्रांतों को अपनी परंपरा के अनुसार स्थानीय शासन चलाने की स्वतंत्रता थी । रोम द्वारा केवल सैनिक शक्ति और वैदेशिक नीति का नियंत्रण होता था । प्रत्येक नगर के साथ रोम की मैत्री थी । रोमनिवासी अन्य प्रदेशों के नागरिकों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखते थे । इस उदार व्यवहार के कारण रोम विजित प्रदेशों की मैत्री एवं सद्भावना का पात्र बन गया । विजित प्रदेशों के निवासियों को रोम की नागरिकता प्राप्त थी । उससे वहाँ के नागरिक अपने को रोम के नागरिकों का सहयोगी मानने लगे । इसके पश्चात् सभी युद्धों में इटली के सभी नागरिक रोमनिवासियों के साथ कंधे से कंधा भिड़ा कर लड़े । यह उदारता रोमन नेताओं की दूरदर्शिता थी । यदि वे संपूर्ण इटली पर एक केंद्र से शासन करते, तो उन्हें नित्य विद्रोहों का सामना करना पड़ता । इस प्रकार रोम गणतंत्र ने राज्य-विस्तार के द्वारा इटली में राजनीतिक एकता स्थापित की । पर, इस राजनीतिक एकता के बावजूद, सांस्कृतिक एकता का अभाव था । यहाँ की जातियाँ विभिन्न भाषाएँ बोलती थीं ।

रोम गणतंत्र की वैदेशिक विजय

रोम और कार्थेज

कार्थेज का राज्य अफ्रिका के उत्तरी किनारे पर स्थित था। भूमध्य-सागर के किनारे इसके अनेक व्यापारिक केंद्र थे। रोम की अपेक्षा यह अधिक प्राचीन एवं समृद्ध गणतांत्रिक राज्य था। पश्चिमी भूमध्यसागर का नेतृत्व ग्रहण करने तथा रोमन शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए कार्थेज से संघर्ष अनिवार्य था। कार्थेज की बढ़ती हुई शक्ति से रोमनिवासी डरते भी थे। उन्हें आशंका थी कि कार्थेज कहीं रोम को हड़प न ले। इन्हीं कारणों से रोम और कार्थेज में एक शताब्दी से अधिक काल तक (२६४ ई०-पू०—१४६ ई०-पू०) संघर्ष चलता रहा और तीन भीषण युद्ध हुए, जिन्हें 'प्यूनिक युद्ध' (Punic war) की संज्ञा दी गई। पहला प्यूनिक युद्ध २६४ ई०-पू० से २४१ ई०-पूर्व तक चलता रहा। इस युद्ध में रोम की विजय हुई तथा कार्थेज के तीन प्रदेश कोर्सिका, सिसिली और सार्डिनिया छीन लिए गए।

इन प्रांतों के छिन जाने के बाद भी कार्थेज की शक्ति बढ़ती ही गई। स्पेन में कार्थेज ने नए साम्राज्य की स्थापना की। इसी समय कार्थेज में 'हानवाल' नामक सेनापति हुआ। यह विश्व के सर्वोत्तम सेनापतियों में माना जाता है। इसी की अध्यक्षता में द्वितीय प्यूनिक युद्ध का २१९ ई०-पू० में प्रारंभ हुआ। इसने सगुंटम (Saguntam) नामक रोमन प्रांत पर आक्रमण किया। वह करीब १५ वर्षों तक इटली में रोम के विरूद्ध लड़ता रहा। अंत में रोमन सेनापति सीपियो (Scipio) ने स्पेन एवं कार्थेज पर आक्रमण किया। इनकी रक्षा के लिए हानिवाल को इटली छोड़ना पड़ा। कार्थेज के समीप ज़ामा (zama) की लड़ाई में २०२ ई०-पू० में हानिवाल की घोर पराजय हुई। वह कुछ दिनों तक इधर-उधर भागने के बाद विष खाकर मर गया। संधि के अनुसार स्पेन पर रोम का अधिकार हो गया। कार्थेज को युद्ध का खर्च देना पड़ा। अब कार्थेज बिना रोम की अनुमति के किसी देश से युद्ध नहीं कर सकता था। उसके जहाजों की संख्या घटा कर दस कर दी गई। इस प्रकार द्वितीय प्यूनिक युद्ध के परिणामस्वरूप कार्थेज पूर्णतया शक्तिहीन हो गया।

कार्थेजवासी पुनः अपनी खोयी हुई समृद्धि को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो गए। इस दिशा में कार्थेज को काफी सफलता मिली। व्यापार में उन्होंने काफी उन्नति की। उनकी बढ़ती समृद्धि को देखकर रोमवासियों को आशंका हुई कि कहीं पुनः कार्थेज उन्हें परेशान न कर दे। कैटो (Cato) नामक एक प्रतिष्ठित रोमन नागरिक ने रोमवासियों को कार्थेज के विरुद्ध उत्तेजित किया। अंत में

कार्थेज के पड़ोसी न्यूमिडियंस (Numidians) को तंग करने के लिए उभारा गया। न्यूमिडियंस के दुर्व्यवहार से तंग आकर कार्थेज निवासियों ने बिना रोम की आज्ञा के ही न्यूमिडियंस पर आक्रमण कर दिया। रोम ने इसी बहाने कार्थेज पर आक्रमण कर दिया। यह तीसरा प्यूनिक युद्ध था, जो १४९ ई०-पू० में आरंभ हुआ तथा १४६ ई०-पू० तक चलता रहा। अंत में कार्थेज ने आत्मसमर्पण कर दिया ट्राय की तरह कार्थेज नगर मटियामेट कर दिया गया। भीषण जनसंहार के पश्चात् ढाई लाख जनसंख्या में केवल पचास हजार व्यक्ति जीवित बचे तथा उन्हें भी दास बना कर बेच दिया गया। पश्चिमी भूमध्य सागर पर रोम का पूर्ण अधिकार हो गया तथा रोम को अपनी नाविक एवं सैनिक शक्ति में पूर्ण विश्वास हो गया।

रोम द्वारा पूर्वी देशों की विजय

कार्थेज की पराजय के पश्चात् रोम ने अपने राज्य का विस्तार पूर्वी देशों में किया। सर्वप्रथम रोम ने यूनान पर अधिकार किया। यूनान की आंतरिक दशा फूट तथा अव्यवस्था के कारण खराब थी। अतः, रोम वालों ने आसानी से यूनान पर आधिपत्य स्थापित किया। तत्पश्चात् ईजियन समुद्र को पार कर एशिया माइनर के कई छोटे-छोटे राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। सीरिया के सेल्यूकस वंश के राजा को भी पराजित किया। टालेमी वंश द्वारा शासित मिस्र देश भी रोम का अधीनस्थ वन गया।

पश्चिमी देशों की विजय

पश्चिम में स्पेन द्वितीय प्यूनिक युद्ध के समय से ही रोम के अधीन हो चुका था। ५८ ई०-पू० में जूलियस सीजर ने गाल या फ्रांस पर विजय प्राप्त की। तत्पश्चात् ५२ ई०-पू० में जूलियर सीजर ने ब्रिटेन पर भी अपना आधिपत्य स्थापित किया। इस प्रकार ईस्वी सन् के प्रारंभ में जव रोम एक साम्राज्य के रूप में परिणत हो चुका था, तव उसके साम्राज्य की सीमा पश्चिम में स्पेन से पूर्व में दजला-फरात नदियों तक तथा दक्षिण में सहारा के रेगिस्तान से उत्तर में ब्रिटेन तक फैली हुई थी। रोम साम्राज्य की पूर्वोत्तर सीमा राइन तथा डैन्यूब नदी के किनारे तक थी।

साम्राज्य-विस्तार का परिणाम

उक्त विजयों के सिलसिले में रोम गणतंत्र का साम्राज्य अत्यंत विस्तृत हो गया। इन विजयों के सिलसिले में रोम का यूनान से घनिष्ठ संपर्क स्थापित हुआ तथा रोमन संस्कृति यूनानी संस्कृति से बहुत प्रभावित हुई। बहुत बड़ी संख्या में ग्रीक नागरिक रोम लाए गए। ये ग्रीक नागरिक रोम में गुलाम, शिक्षक, किरानी

रसोइया इत्यादि का काम करते थे। रोमन लड़कों की शिक्षा पूर्णरूपेण ग्रीक पद्धति पर होने लगी। असंख्य ग्रीक रोम में शिक्षक का काम करते थे। उनके स्कूलों में रोमन लड़के शिक्षा पाते थे। रोमन लड़कों को स्कूल पहुँचाने का काम ग्रीक गुलाम किया करते थे, जिन्हें 'पेडागौग' कहा जाता था। अतः, ये पेडागौग लड़कों की देखरेख तथा प्रारंभिक शिक्षा का कार्य करते थे। इस प्रकार बचपन से ही रोमन नागरिकों पर ग्रीक संस्कृति का प्रभाव पड़ जाता था। बारह वर्ष की अवस्था में ही रोमन बालकों को होमर, हीसियड-जैसे महाकवियों की रचनाओं के अंश कंठस्थ कराए जाते थे। बहुत रोमन नागरिक एथेंस तथा अलेक्जैंड्रिया-जैसे ग्रीक शिक्षा एवं संस्कृति के केंद्रों में पढ़ने जाते थे।

यूनानी संस्कृति का प्रभाव

यूनानी संस्कृति से इस घनिष्ठ संपर्क का प्रभाव रोमन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पड़ा। रोमन साहित्य में ग्रीक साहित्य का अनुकरण होने लगा। दर्शन के क्षेत्र में ग्रीक मतों का प्रचार हुआ। बौद्धिक क्षेत्र में यूनानी संपर्क से रोम का विकास तो हुआ, पर नैतिक तथा सामाजिक जीवन का स्तर यूनानी संपर्क से गिर गया। नागरिकों में भोगविलास की प्रवृत्ति बढ़ गई तथा राजनैतिक एवं सार्वजनिक कार्यों में अभिरुचि कम हो गई। रोमन नागरिकों के जीवन से सादगी एवं नैतिक पवित्रता जाती रही। विजित प्रदेशों से प्रचुर मात्रा में धन तथा गुलाम आने लगे, जिससे भोगविलास की प्रवृत्ति और बढ़ती गई।

गणतंत्र का क्रमिक पतन

रोम का साम्राज्य-विस्तार उसकी गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली के लिए अहितकर सिद्ध हुआ। रोम की आंतरिक दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती गई। वर्ग-संघर्ष दूसरे रूप में उठ खड़ा हुआ। किसानों की दशा बहुत खराब हो गई। बाहरी युद्धों से व्यस्त रहने के कारण उनकी भूमि हाथ से निकल गई थी। लौटने के बाद, मनोवैज्ञानिक परिवर्त्तन के कारण, उनका मन अब खेतों में नहीं लगता था। लूट का माल भी उन्हें नहीं मिला था। साम्राज्य विस्तार से प्राप्त धन सीनेट के सदस्यों तथा उनके संबंधियों को ही प्राप्त हुआ था। इस प्रकार साम्राज्य-विस्तार से संपन्न कुलीनों की संपन्नता बढ़ती गई तथा दूसरी ओर साधारण जनता और दरिद्र होती गई। इस कारण दोनों वर्गों का पारस्परिक वैमनस्य फिर उठ खड़ा हुआ। रोम के धनी नागरिकों के पास काफी संपत्ति थी तथा बहुत अधिक संख्या में दास होते थे। गुलामों की संख्या बढ़ती जा रही थी। इस कारण, धनी नागरिक अत्यंत विलासिता का जीवन बिताते थे। रोम के किसानों द्वारा उपजाया हुआ अनाज कम दाम पर बिकता था; क्योंकि

जनता का असंतोष

साम्राज्य के विभिन्न भागों से अनाज लाकर सस्ते दामों पर बेचा जाता था। साम्राज्य की रक्षा के लिए एक स्थायी एवं सुसंगठित सेना की आवश्यकता थी। रोमन कानून के अनुसार केवल जमीन वाले किसान ही सैनिक हो सकते थे। पर, अब ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम हो गई थी, जिनके पास जमीन हो। कुछ किसानों की जमीन साम्राज्य-विस्तार-संबंधी युद्धों के समय ही उनके हाथों से निकल गई थी। बहुत से किसानों ने गरीबी के कारण अपनी जमीन जमींदारों के हाथ बेच दी थी। अब रोम में भूमिहीन मजदूरों एवं गुलामों की संख्या अधिक थी। अब दो ही रास्ते थे। या तो इन भूमिहीन लोगों को भूमि देकर सैनिक बनने की योग्यता प्रदान की जाए या यह प्रतिबंध उठा दिया जाए, ताकि भूमिहीन लोग भी सैनिक बन सकें।

ग्रेकस बंधुओं का प्रयत्न

इस समस्या को हल करने का प्रयत्न दो नवयुवक नेताओं ने किया। इनके नाम थे—टाइबेरियस ग्रेकस (Tiberius Grachus) तथा कायस ग्रेकस (Cais. Grachus)। ये दोनों ही सहोदर भाई थे। इन्होंने धनिकों की भूमि की सीमा निश्चित करने का प्रयत्न किया। ये लोग चाहते थे कि जिन धनियों के पास ३०० एकड़ से ऊपर भूमि है, वह गरीब किसानों में बाँट दी जाए। दूसरे शब्दों में, ये किसी व्यक्ति के पास ३०० एकड़ से अधिक जमीन नहीं रहने देना चाहते थे। इससे बहुत से भूमिहीन मजदूरों को जमीन मिल जाती तथा वे सैनिक हो सकते थे। पर, कुलीन धनियों की प्रतिनिधि संस्था सीनेट के षड्यंत्रों के कारण, ये दोनों भाई अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हो सके। इनके सुधारों से धनियों के अधिकारों पर कुठाराघात होता था। अतः, इन दोनों भाइयों की हत्या कर डाली गई।

महान सेनापतियों का उदय

ग्रेकस बंधुओं की असफलता के पश्चात् मेरियस (Marius) नामक सेनापति ने सैनिक समस्या को हल करने की कोशिश की। उसने सैनिक नियम में क्रांतिकारी परिवर्त्तन किया। इस परिवर्त्तन के अनुसार अब भूमिहीन व्यक्ति भी सैनिक हो सकते थे। उसने बाहरी देशों में लूट का प्रलोभन देकर भूमिहीन तथा निर्धन नागरिकों को सेना में भरती करना प्रारंभ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि रोमन सेना का आंतरिक संगठन भिन्न हो गया। अब ऐसे सैनिकों की भरमार हो गई, जो देशभक्ति के स्थान पर लोभ से प्रेरित थे। साथ-साथ सेनापति का प्रभाव पहले से कई गुना बढ़ गया। सेना पर सेनापति का पूर्ण अधिकार हो गया। सेनापति रोमन गणतंत्र का सर्वशक्तिमान पदाधिकारी हो गया। धीरे-धीरे इन सेनापतियों ने अपने हाथ में राज्य की संपूर्ण सत्ता को केंद्रित करना शुरू किया तथा रोमन गणतंत्र साम्राज्य का रूप धारण करता गया।

मेरियस के बाद, ई०-पू० प्रथम शताब्दी से ईस्वी सन् का प्रथम शताब्दी तक, रोम के इतिहास में कई ऐसे महान सेनापति हुए। अतः, अब रोमन गणतंत्र सेनापतियों द्वारा संचालित शासन-तंत्र में परिणत हो गया। ये सेनापति सेनानायक होने के साथ-साथ राज-कार्य भी करते थे। इन सेनापतियों में प्रधान सेनापति सुल्ला (Sulla), पौंपी (Pompey) तथा जूलियस सीजर (Julius Caesar) हुए। सुल्ला ८२ ई०-पू० में दो वर्षों के लिए डिक्टेटर बना। इसने सीनेट की शक्ति को पुनः मजबूत किया। पौंपी को सुल्ला के अधीन सैनिक शिक्षा प्राप्त हुई थी। ७० ई०-पू० में यह रोम का सेनापति बना। इसने सीनेट की शक्ति को कम करने का प्रयत्न किया तथा पूर्वी भूमध्यसागर के समुद्री डाकुओं का विनाश किया।

सुल्ला, पौंपी तथा जूलियस सीजर

शासकत्रयी की स्थापना

रोम के शासन की आंतरिक बुराइयों को सुधारने के लिए रोम के विधान में कुछ परिवर्त्तन लाया गया। अब शासन का भार तीन सेनापतियों के हाथ में सौंपा गया, जिसमें वे रोम की रक्षा बाहरी तथा भीतरी शत्रुओं से कर सकें। ये तीनों सेनापति थे—पौंपी, क्रेसस (Crassus) तथा जूलियस सीजर। इस शासकत्रयी का शासन ६० ई०-पू० में प्रारंभ हुआ। पौंपी सैनिक योग्यता में अद्वितीय था। क्रेसस बड़ा धनवान था तथा सीजर कुशल राजनीतिज्ञ, विद्वान्, सुलेखक, चतुर शासक तथा वक्ता था। अतः, अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण सीजर इस शासकत्रयी में अत्यंत प्रसिद्ध हो गया। सीजर तथा पौंपी में प्रधानता के लिए बहुत दिनों तक प्रतिद्वंद्विता चलती रही। अंत में जूलियस सीजर ने ४८ ई०-पू० में पौंपी को हरा दिया। पौंपी मिस्र भाग गया, जहाँ उसकी हत्या हो गई।

जूलियस सीजर की प्रधानता

अब सीजर रोमन साम्राज्य का एकमात्र अधीश्वर तथा रोमन गणतंत्र का एकमात्र भाग्यविधाता बन गया। वह जीवन भर के लिए डिक्टेटर चुन लिया गया तथा १० वर्षों के लिए कौंसल नियुक्त हुआ। अब उसके अधिकार अपरिमित थे—युद्ध तथा संधि, सैन्य-संचालन, खजाने का नियंत्रण और अफसरों की नियुक्ति आदि के अधिकार उसी के हाथ में केंद्रीभूत थे।

सीजर ने अपने शासनकाल में गणतंत्र के साम्राज्य को और बढ़ा दिया। फ्रांस (गाल) तथा ब्रिटेन को जीत कर इसी ने साम्राज्य की सीमा को यूरोप में बढ़ाया। उसने अनेक सुधार भी किए। इसने सीनेट की शक्ति को कमजोर किया। सीनेट में इसने अपने मित्रों एवं साथियों को भर दिया। स्वयं आधे दर्जन पदों पर आसीन हो गया। वास्तविक सत्ता इसी के हाथों में केंद्रित हो गई। वह एक तरह से बिना ताज

का बादशाह हो गया। लोग देवता की तरह उसका सम्मान करने लगे। रोम के सिक्कों पर उसकी मूर्त्ति खचित होने लगी और उसका नाम भी अंकित होने लगा। उसने रोम के कैलेंडर में सुधार किया तथा साधारण जनता की दशा भी सुधारने का प्रयत्न किया। नगरों की शासन-व्यवस्था में भी सुधार हुआ। उसने रोम में मानसिक एवं बौद्धिक विकास की सुविधाएँ उपस्थित कीं। उसने नागरिकों के अधिकारों की भी वृद्धि की।

सीजर के विरुद्ध षड्यंत्र

सीजर की असीम लोकप्रियता तथा प्रतिष्ठा उसके शत्रुओं को ही नहीं, वरन् उसके मित्रों को भी असह्य हो उठी। उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचा गया। उस पर दोषारोपण किया गया कि वह गणतांत्रिक शासन-पद्धति का विनाश कर सम्राट होना चाहता है। ४४ ई०-पू० में सीजर की हत्या, सीनेट-भवन में, उसके प्रतिद्वंद्वी पौंपी की मूर्त्ति के नीचे षड्यंत्रकारियों द्वारा कर दी गई। उस समय उसकी अवस्था ५६ वर्ष की थी। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसने वस्तुतः गतंणत्र का विनाश कर साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था; क्योंकि वह अपनी योजनाओं की सफलता के पहले ही मार डाला गया। पर, इतना निश्चित है कि अब गणतांत्रिक शासन-पद्धति रोम के बढ़ते हुए साम्राज्य की समस्याओं को हल करने में समर्थ नहीं रह गई थी। अतः, गणतांत्रिक शासन प्रणाली का अंत अवश्यंभावी था। उसके हत्यारों ने गणतांत्रिक शासन को सशक्त बनाने का निष्फल प्रयत्न किया। पर, सीजर की मृत्यु से रोम गणतंत्र की मृत्यु नहीं रोकी जा सकी। रोम तेजी से साम्राज्य स्थापना की ओर बढ़ रहा था।

रोम में साम्राज्य की स्थापना

सीजर की मृत्यु के बाद रोम की आंतरिक अवस्था बहुत डावाँडोल हो गई। रोम पुनः गृहयुद्ध के दलदल में फँस गया। वहाँ महत्त्वाकांक्षी पुरुषों की लड़ाई १३ वर्षों तक चली तथा स्थिति को सुधारने के लिए एक दूसरी शासकत्रयी की स्थापना हुई। इस शासकत्रयी के सदस्य थे—एण्टोनी (Antony), लेपीडस (Lepidus) तथा आक्टेवियस (Octavius)।

आक्टेवियस जूलियस सीजर की बहन का पोता था। सीजर ने अपनी संपत्ति उसी के नाम बसीयत की थी। लेपिडस तथा एण्टोनी सीजर के कृपापात्र रह चुके थे। इन तीनों ने मिल कर सीजर के हत्यारों तथा षड्यंत्रकारियों को परास्त किया। पर, बाद में इन लोगों में आपस में ही फूट हो गई। इन तीनों में आक्टेवियस सबसे

ओक्टेवियस की सफलता

शक्तिशाली सिद्ध हुआ। एण्टोनी को मिस्र भागना पड़ा, जहाँ उसने आत्महत्या कर ली। आक्टेवियस अत्यंत योग्य तथा प्रतिभाशाली शासक था। कम उम्र में ही उसने असाधारण योग्यता का परिचय दिया। सीजर की मृत्यु के समय वह केवल १८ वर्ष का था। २८ वर्ष की अवस्था में उसने संपूर्ण इटली तथा रोमन साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर अपना पूरा आधिपत्य स्थापित कर लिया। बाद में उसने मिस्र तथा अन्य पूर्वी देशों पर विजय प्राप्त की। इस गौरवमय विजय यात्रा के पश्चात् वह २९ ई०-पू० में रोम लौटा। रोम में उसका अभूतपूर्व स्वागत किया गया। १५ वर्षों की अराजकता, रक्तपात तथा अशांति के पश्चात् जनता के हृदय में नई आशा का संचार हुआ। सब की आँखें युवक नेता पर केंद्रीभूत थीं। जनता ने अपने हर्षोन्माद में उसे 'आगस्टस', 'प्रिंसेप' तथा 'इम्परेटर' की उपाधि से विभूषित किया। 'आगस्टस' की उपाधि महानता का सूचक है। 'प्रिंसेप का अर्थ होता है—प्रथम नागरिक तथा 'इम्परेटर' विजयी सेनापति का सूचक है। परिस्थिति को अनुकूल देख कर आक्टेवियस ने साम्राज्य की स्थापना की। यह आगस्टस सीजर (Augustus Caesar) के नाम से रोम का सम्राट हुआ। 'सीजर' शब्द राजा का सूचक हो गया। इस प्रकार ५०० वर्षों के बाद रोम में गणतांत्रिक शासन का अंत हुआ तथा साम्राज्य का श्रीगणेश हुआ। इस प्रकार सीजर की हत्या के वावजूद रोम में साम्राज्य की स्थापना नहीं रुक सकी।

साम्राज्य का प्रारंभिक विधान

आक्टेवियस अथवा आगस्टस सीजर ने जिस साम्राज्य की स्थापना की, उसका स्वरूप पूर्णतया राजतंत्रात्मक नहीं था। उसका वाहरी ढाँचा अभी भी गणतांत्रिक था। आगस्टस भी गणतंत्र के समर्थकों को असंतुष्ट नहीं करना चाहता था। इसी कारण उसने सीनेट-जैसी संस्थाओं का खुल्लमखुल्ला विरोध नहीं किया। आगस्टस सीनेट को बहुत संमान की दृष्टि से देखता था। पर, सीनेट ने अपने पूर्व अनुभवों के आधार पर अपने को शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित रखने में असमर्थ समझा। इस कारण सीनेट ने अपनी सारी शक्ति आगस्टस को समर्पित कर दी। सैन्य-सचालन, सीमांत प्रदेशों का नियंत्रण, सुरक्षा, युद्ध एवं संधि के अधिकार, सभी आगस्टस के हाथों में केंद्रीभूत थे। इस प्रकार, वास्तविक सत्ता आगस्टस के हाथों में ही थी। सीनेट के सदस्य केवल सम्मानपूर्ण व्यवहार से ही संतुष्ट एवं प्रसन्न रहते थे। वस्तुतः सीनेट ही कानूनों को पास करती थी, पर कोई भी कानून आगस्टस की इच्छा के विरुद्ध नहीं पास होता था। वह बहुधा सीनेट की सभाओं में भी उपस्थित होता था। यह प्रांतीय गवर्नरों के शासन पर भी नियंत्रण रखता

था तथा सेना का वह प्रधान सेनानायक था। वैधानिक दृष्टि से वह गणतंत्र का प्रथम मंत्री था। लोग उसे प्रिंसेप्स (Princeps) अथवा प्रथम प्रधान नागरिक के नाम से पुकारते थे। पर, वास्तव में वह राज्य का स्वामी था। सैद्धांतिक रूप में, सीनेट तथा आगस्टस मिल कर शासन करते थे, पर व्यावहारिक दृष्टि से आगस्टस ही शासक था। नीति-निर्धारण में सीनेट का कोई हाथ नहीं था। आगस्टस के उत्तराधिकारियों ने गणतांत्रिक शासन के बाहरी ढाँचे को भी समाप्त कर निरंकुश राजतंत्र को स्थापित किया।

आगस्टस का शानन-प्रबंध

क्रमशः आगस्टस के अधिकार बढ़ते गए। जनता का समर्थन उसे पूर्णरूप से प्राप्त था। वह चाहता, तो डिक्टेटर हो सकता था। एक बार जनता ने उससे डिक्टेटर बनने की माँग भी की, पर उसने इनकार कर दिया। लेकिन, उसकी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती गई तथा सीनेट के रहे-सहे अधिकारों को भी वह हस्तगत करता गया। २२ ई०-पू० में, अकालग्रस्त जनता में अनाज बाँटने के लिए उसने एक नया पद बनाया, जिसका अधिकारी पहले 'क्यूरेटर' तथा बाद में 'प्रीफेक्ट' (Prefect) कहलाया। २० ई०-पू० में उसने सड़कों के नियंत्रण एवं निरीक्षण के लिए नए कर्मचारियों को नियुक्त किया। घोड़ों द्वारा डाक की प्रथा के संगठन के लिए भी उसने नए पदाधिकारी नियुक्त किए। राजधानी से अपनी अनुपस्थिति के समय शांति एवं सुव्यवस्था रखने के लिए, उसने 'प्रीफेक्ट' नामक कर्मचारी को नियुक्त किया। यह कर्मचारी आगस्टस के उत्तराधिकारियों के समय एक चिरस्थायी तथा अत्यंत प्रभावशाली पदाधिकारी हो गया। ६ठी ई० में उसने आग बुझाने वाली संस्था फायर ब्रिगेड का पुनर्गठन किया तथा इस विभाग को अपने द्वारा मनोनीत कर्मचारी के हाथों में सौंप दिया। इस प्रकार ये सारे अधिकार, जो अभी तक सीनेट द्वारा नियुक्त कर्मचारियों के हाथ में थे, वे अब आगस्टस द्वारा मनोनीत अफसरों के हाथ में आ गए।

आर्थिक सुधार

आगस्टस ने राज्य की आर्थिक व्यवस्था में भी महत्त्वपूर्ण सुधार किए। आर्थिक मामलों के संबंध के लिए उसने एक शृंखलाबद्ध सिविल सर्विस को जन्म दिया, जिसके सदस्यों को वह स्वयं नियुक्त करता था। उसने अपनी निजी संपत्ति के प्रबंध के लिए कर्मचारियों का एक बड़ा दल नियुक्त किया जिनमें सेक्रेटरी, क्लर्क, नकलनवीस तथा संदेशवाहक आदि थे। वैयक्तिक संपत्ति की दृष्टि से वह रोम का सबसे धनी नागरिक था।

प्रांतीय शासन

प्रांतों के आर्थिक शासन को सुव्यवस्थित करने के लिए उसने रेवेन्यू अथवा राजस्व कर्मचारियों को अधिक संख्या में नियुक्त किया। ये राजस्व कर्मचारी राजा के प्रति उत्तरदायी थे, न कि प्रांतीय गवर्नरों के प्रति। ये राजस्व कर्मचारी भूमि, गृह, दास, जानवर आदि संपत्ति पर जो प्रत्यक्ष कर लगते थे, उन्हें वसूल कर राजा को सौंपते थे।

प्रांतीय गवर्नरों की नियुक्ति तीन वर्ष के लिए होने लगी। आगस्टस के पहले गवर्नरों की नियुक्ति एक वर्ष के लिए होती थी। इस सुधार से गवर्नरों की नीति में अधिक स्थायित्व आ गया। गवर्नरों को अब वेतन भी दिया जाने लगा। प्रांतीय गवर्नर प्रांत स्थित सेना का साधारणतया सेनापति भी हुआ करता था।

सैन्य-सुधार

आगस्टस ने सेना के सुधार पर अधिक ध्यान दिया। उसने एक स्थायी सेना का संगठन किया, जिसकी संख्या दो लाख पचीस हजार थी। इस विशाल सेना की टुकड़ियों को उसने साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों में स्थित किया, जहाँ विद्रोह की आशंका थी। उसने सैनिकों को अधिकतर रोमन नागरिकों में से ही बहाल किया। वह इटली के नागरिकों को ही सारी नागरिक सुविधाएँ प्रदान करना चाहता था। अपने देशवासियों का पक्षपात उसकी लोकप्रियता का एक प्रधान कारण था। इस दृष्टि से उसकी नीति जूलियस सीजर की नीति के विरुद्ध थी। सीजर नागरिक सुविधाओं का प्रसार प्रांतों की जनता तक करना चाहता था। पर, आगस्टस ने इस नीति का अनुसरण नहीं किया। इसके समय में रोमन नागरिकों की सेना को दो दृष्टि से देखा जाता था। सीनेट से विदेशी सदस्य निकाल दिए गए तथा महत्त्वपूर्ण शासकीय पदों पर केवल रोमन नागरिक ही नियुक्त किए जाते थे। विशेषतः सीनेट के सदस्यों के संबंधी अवश्य ही ऊँचे पदों पर नियुक्त किए जाते थे।

इस प्रकार, आगस्टस ने गणतांत्रिक शासन को राजतंत्र में परिवर्तित किया, यद्यपि उसकी वाह्य रूपरेखा गणतांत्रिक ही रही। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि सभी लोग इस परिवर्तन से संतुष्ट थे। कुछ पुराने उच्च कुलों के सदस्य इस परिवर्तन को बिल्कुल नहीं पसंद करते थे। पर, अधिकांश जनता इस परिवर्तन से संतुष्ट थी। आगस्टस ने अपनी कुशल नीति के द्वारा शीघ्र ही जनता की शक्ति को राज्य की सेवा में लगा दिया। उसकी सबसे बड़ी सफलता यही थी कि उसने अपने देशवासियों को एक नए आदर्श से अनुप्राणित किया। उसने राजनैतिक परिवर्तन के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक परिवर्तन किया। सौ वर्षों से रोमन चरित्र ग्रीक दर्शन के व्यक्तिवाद तथा स्वच्छंद चिंतन के प्रभावों से दुर्बल होता जा रहा था। आगस्टस ने कर्त्तव्यपरायणता

तथा देश-सेवा का आदर्श उपस्थित कर गिरते हुए राष्ट्रीय चरित्र को और गिरने से बचाया। यह मनोवैज्ञानिक परिवर्तन राष्ट्रीय उन्नति के लिए अत्यंत हितकर सिद्ध हुआ तथा आगस्टस के युग में रोम का पूर्णरूपेण भौतिक एवं सांस्कृतिक विकास हुआ। आगस्टस का युग इसी उन्नति के कारण रोमन सभ्यता का स्वर्ण युग कहा गया है।

आगस्टस का युग (३१ई०-पू०-१४ ई०-पू०)

रोमन सभ्यता का स्वर्णकाल

आगस्टस का युग रोमन सभ्यता का स्वर्णयुग माना जाता है। तत्कालीन कवियों ने इस युग को स्वर्णकाल की संज्ञा दी। इस युग में रोम का भौतिक तथा सांस्कृतिक विकास चरम सीमा को पहुँच गया। आगस्टस के नेतृत्व में रोम में नैतिक, कलात्मक तथा धार्मिक पुनर्जागरण हुआ। रोमन चरित्र की दुर्बलताओं को दूर कर उसे सबल बनाने के प्रयत्न हुए। महान कवियों ने आगस्टस के प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से साहित्य की अपनी रचनाओं से समृद्ध किया। आगस्टस ने रोम नगर को नए मंदिरों एवं भव्य भवनों से सजाया। रोम नगर नवनिर्मित मंदिरों एवं भवनों से जगमगा उठा। इस युग में उच्चकोटि के साहित्य का सृजन तथा भव्य भवनों का निर्माण हुआ। पर, इस युग की वास्तविक महत्ता इस युग की भौतिक समृद्धि है। आगस्टस का युग, पेरिक्लीज के युग की भांति, अपने बौद्धिक तथा कलात्मक वैभव के लिए उतना प्रसिद्ध नहीं है, जितना अपनी भौतिक समृद्धि के लिए। पेरिक्लीज के युग में एथेंस का सांस्कृतिक विकास अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। आगस्टस के युग में रोम की भौतिक समृद्धि भी अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई। अब हम विचार करें कि किन कारणों से आगस्टस का युग स्वर्णयुग कहा गया है।

राष्ट्रीय चरित्र का उत्थान

आगस्टस ने राष्ट्रीय चरित्र को उठाने के लिए सतत् प्रयत्न किया। रोमन नागरिकों का नैतिक जीवन बाहरी प्रभावों तथा आंतरिक गड़बड़ियों के कारण गिरता जा रहा था। अतः, आगस्टस ने राष्ट्रीय जीवन में नैतिकता तथा आत्मसम्मान लाना आवश्यक समझा। इसी कारण अपने सुधार-संबंधी कार्यक्रम में उसने नैतिक, कलात्मक तथा धार्मिक पुनरुत्थान को प्रथम स्थान दिया। धन तथा वैभव की वृद्धि से रोमन समाज विलासिता के गर्त में गिरता जा रहा था। इसके साथ गुलाम काफी संख्या में आ गए थे। यूनान तथा पूर्वी देशों से बहुत से स्वतंत्र विचारक और विलासी आ गए थे। इन लोगों का प्रभाव रोमन समाज के नैतिक जीवन पर बहुत बुरा पड़ा। रोमन कुलीन समाज में तलाक की प्रथा बढ़ती जा रही थी। लोग विवाह करने से भी भाग रहे थे। समाज में स्वच्छंद रूप से विलासी जीवन बिताने वालों की संख्या बढ़ती जा रही थी।

आगस्टस स्वभावतः प्राचीनताप्रेमी थी। रोमन चरित्र के नैतिक अधःपतन को वह चुपचाप नहीं देख सकता था। अतः, उसने समाज में पुरानी नैतिकता, सादगी तथा गंभीरता लाने की कोशिश की। उसने कानूनों के द्वारा नैतिक जीवन को सुधारना चाहा और समाज में फैले हुए दुराचारों को रोकने के लिए कठोर दंड घोषित किए। उसने कठोर अनुशासन द्वारा नैतिक जीवन को उठाया, स्त्रियों को व्यायाम-संबंधी खेलों को देखना मना कर दिया और तलाक की प्रथा को कम करने के लिए कठोर कानून बनाए। उसने कानून बनाया कि अविवाहित लोग संपत्ति के उत्तराधिकारी नहीं हो सकते। निस्संतान विवाहित लोगों को उसने अधिक उत्तराधिकार-कर देने के लिए वाध्य किया। उन लोगों को, जिन्हें तीन से अधिक संतानें थीं, उसने कुछ करों से मुक्त किया तथा उन्हें कुछ पदों पर नियुक्त करने में तरजीह दी। ऐसे कानून लोकप्रिय नहीं हुए, फिर भी आगस्टस ने राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान के लिए भरसक प्रयत्न किया।

साहित्यिक तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान

आगस्टस का युग सांस्कृतिक उत्थान की दृष्टि से विश्व-इतिहास में एक अत्यंत समृद्ध युग है। उसके प्रोत्साहन से, उसके मित्र कवियों तथा लेखकों ने अपनी रचनाओं से इस युग के साहित्य को समृद्ध किया और विश्व-साहित्य को अनुपम देन दी। जिन कवियों तथा लेखकों ने अपनी कृतियों से इस युग को समृद्ध किया, उनमें निम्नलिखित अधिक प्रसिद्ध हैं—प्रोपर्टियस (Propertius), होरेस (Horace) तथा वर्जिल (Virgil)। आगस्टस के प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से इन लोगों को अपनी प्रतिभा के पूर्ण सदुपयोग का अवसर मिला। आगस्टस ने अपने नकलनवीसों द्वारा इनकी रचनाओं को पुस्तक रूप में लिखवाया। उस युग में जब पुस्तकें छपती नहीं थीं, इस राजकीय सहायता से इन कवियों का काम बड़ा आसान हो गया। पर, इस राजकीय सहायता का एक बुरा परिणाम भी हुआ। ये कवि अपनी भावनाओं को स्वच्छंद तथा स्वाभाविक रूप से व्यक्त करने में स्वतंत्र नहीं रह सके। उनकी रचनाओं में स्वाभाविक प्रवाह के स्थान पर कुछ कृत्रिमता आ गई; क्योंकि उन्हें अब राजा की अभिरुचि का भी ख्याल रखना पड़ता था। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि आगस्टस की खुशामद में रचनाएँ की गईं। केवल राजा की इच्छा के अनुसार देशप्रेम आदि भावनाओं पर अधिक जोर दिया गया। आगस्टस के युग के साहित्य की विशेषता देशप्रेम की भावना है।

इतिहास

आगस्टन रोम के गौरवपूर्ण अतीत से बहुत प्रभावित था। इसी कारण, उसने ऐसी रचनाओं को, जिनमें रोम के अतीत का गुणगान हो, प्रोत्साहन एवं प्रश्रय दिया।

इस प्रश्रय के फलस्वरूर इस युग में टाइटस लिवी (Titus Livy) ने रोम का प्रसिद्ध इतिहास लिखा। आगस्टस ने लिवी को बहुत सहायता दी। लिवी ने रोम का इतिहास १४२ जिल्दों में लिखा, जिसका अब केवल एक चौथाई अंश उपलब्ध है। लिवी ने ७५३ ई०-पू० से आगस्टस के युग तक का इतिहास बड़े सुस्पष्ट ढंग से लिखा। रोम का यह सबसे बड़ा इतिहासकार था, जिसने आगस्टस के युग की श्रीवृद्धि की।

काव्य

वर्जिल (७० ई०-पू०—१९ ई०-पू०) : यह आगस्टस के युग का सबसे बड़ा कवि तो था ही, साथ ही प्राचीन विश्व के महान कवियों में था। इसकी तुलना होमर तथा दांते-जैसे महान कवियों से की जाती है। इसकी सबसे प्रसिद्ध रचना है 'ईनिड' (Aenid)। ईनिड एक महाकाव्य है, जो होमर-रचित 'इलियड' तथा मिल्टन-रचित 'पैराडाइज लास्ट' की श्रेणी में रखा जाता है। ईनिड विश्व-साहित्य की एक अनुपम निधि है। इसकी कथावस्तु भी होमर-रचित 'इलियड' की कथावस्तु पर आधारित है। इसमें ट्राय के योद्धा ईनियस (Aeneas) के साहसिक कार्य वर्णित हैं। इसके अनुसार, ईनियस ट्राय के पतन के वाद जहाज लेकर चल पड़ा तथा अफ्रीका पहुँचा। उसके वाद उसने इटली में अपने वंश को स्थापित किया। इस पुस्तक में ईनियस को आगस्टस के पूर्वज के रूप में चित्रित किया गया है। ईनिड अपनी सुंदर कथावस्तु, संगीतमय शैली तथा कारुणिक भावों के लिए अत्यंत प्रसिद्ध है।

होरेस (६५ ई०-पू०—८ ई०-पू०) : आगस्टस के युग का यह दूसरा प्रसिद्ध कवि था। इसने काफी संख्या में गीतिकाव्य लिखे। इसने ग्रीक छंदों में रचनाएँ कीं। कम शब्दों में यह गूढ़ भावनाओं को व्यक्त करने में सिद्धहस्त था। लैटिन भाषा के कवियों में इसकी रचनाओं का सबसे अधिक अनुवाद हुआ है। इसकी रचनाओं से तत्कालीन ग्राम्य जीवन का संतोषजनक ज्ञान मिलता है।

प्रोपर्टियस (५० ई०-पू०—१८ ई०-पू०) : यह प्रेमकाव्य के लिए प्रसिद्ध है। अपनी कविताओं में इसने अपने हृदय को उड़ेल दिया।

धार्मिक पुनरुत्थान तथा निर्माण-कार्य

राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान तथा देशप्रेम की भावना के प्रचार के लिए आगस्टस ने धार्मिक पुनर्जागरण को आवश्यक समझा। गृहयुद्ध के समय बहुत से मंदिर जीर्णावस्था में खड़े थे। आगस्टस ने ऐसे ८२ मंदिरों का पुनरुद्धार करने का निश्चय किया। उसने मंगल देवता के लिए एक नया मंदिर बनवाया और बहुत-सी पुरानी धार्मिक प्रथाओं, पूजाओं तथा खेलों को पुनर्जीवित किया। उसने अपने को पौंटिफेक्स मैक्सिमस (Pontifex Maximus) घोषित किया, जिसका अर्थ है, धार्मिक संस्थाओं तथा राजधर्म अध्यक्ष। इन कार्यों से आगस्टस ने जनता की अभिरुचि इस

दिशा में मोड़ने का सच्चा प्रयत्न किया। धार्मिक उत्सवों की तड़क-भड़क से जनता वस्तुतः बहुत प्रभावित हुई।

राजा का देवत्व

इस धार्मिक उत्साह का एक बुरा परिणाम भी हुआ। अंधविश्वास तथा धार्मिक उत्साह के कारण जनता ने राजा को भी देवता के रूप में स्वीकार कर लिया। आगस्टस के पहले के कुछ राजाओं ने भी अपने को देवता घोषित किया था। जूलियस सीजर को सिकंदर की तरह जीवनकाल में ही देवता की तरह सम्मान मिला था। मृत्यु के बाद तो जूलियस सीजर निस्संदेह देवता मान लिया गया था। आगस्टस की प्रजा में यह भावना स्वतः आ गई थी कि वह उसे जूलियस सीजर की तरह देवताओं का सम्मान दे। पूर्वी प्रदेशों की जनता राजा को देवता मानने की भावना से अभ्यस्त थी। इसी कारण, पूर्वी प्रदेशों में आगस्टस को देवताओं की उपाधियाँ दी गईं। जैसे ग्रीस के एक शिलालेख में उसे 'दयालु आगस्टस', 'ईश्वर का पुत्र'-जैसी उपाधियाँ दी गई हैं। मिस्र में आगस्टस को सूर्य देवता का पुत्र माना गया है। उसके सम्मान में मंदिर भी बनाए गए। उसने देखा कि इससे राजनैतिक लाभ है। इस कारण उसने अपनी प्रतिमा को रोमा देवी मूर्ति के साथ पूजित होने दिया। रोमा देवी रोम नगर की अधिष्ठात्री देवी थी। सम्राट की पूजा की प्रथा साम्राज्य के पश्चिमी प्रांतों में फैल गई। इटली में सम्राट-पूजा के प्रचार में आगस्टस को कुछ हिचक हुई, पर इसका प्रचार इटली में भी हुआ। लेकिन, रोम में सम्राट की पूजा के लिए कोई मंदिर नहीं बना। वास्तव में आगस्टस की मृत्यु के बाद उसे पूर्णरूपेण देवता मान लिया गया तथा उसके उत्तराधिकारियों को भी यही सम्मान दिया जाने लगा। सम्राट-पूजा का महत्त्व राजनैतिक दृष्टि से बहुत अधिक था। सम्राट की पूजा बहुरंगी साम्राज्य की एकता का प्रतीक बन गई। विभिन्न प्रदेशों में बसने वाली जनता यह समझने लगी कि वह किसी दैवी सत्ता के शासन में है।

रोम नगर की सौंदर्यवृद्धि

आगस्टस के धार्मिक पुनरुत्थान का एक शुभ परिणाम यह हुआ कि रोम नगर की सजावट नए मंदिरों तथा भवनों के निर्माण से कई गुना बढ़ गई। आगस्टस ने प्राचीन मंदिरों का पुनरुद्धार कराया। उसने नगर-योजना में भी सुधार किए। दो शताब्दी से ग्रीक कला का प्रभाव रोम में निरंतर बढ़ता जा रहा था। यूनानी कलाकार तथा भवन-निर्माता काफी संख्या में आकर रोम में बस गए थे। रोमन नागरिक अलेक्जेंड्रिया-जैसे ग्रीक-प्रभावित नगरों से परिचित हो चुके थे। अतः, आगस्टस ने ग्रीक कला से प्रभावित होकर निर्माण-कार्य प्रारंभ कराया। जूलियस सीजर की तरह

उसने भी एक फोरम बनवाया, जो उसके नाम से प्रसिद्ध हुआ। फोरम में ही मंगल (मार्स) देवता का मंदिर स्थित था। फिर उसने अपने कुल वालों के लिए एक विशाल कब्रिस्तान का निर्माण करवाया। एक विशाल थिएटर या नाट्यशाला का भी निर्माण कराया। एक सार्वजनिक स्नानागार बनवाया गया। आगस्टस के युग का प्रसिद्ध मंदिर 'पैन्थियन' का निर्माण भी इसी समय हुआ। यह रोमन स्थापत्य कला के भव्य नमूनों में से एक है। इन भवनों की शैली निस्संदेह ग्रीक नमूनों पर आधारित थी। ग्रीस की डोरिक, आयोनिक तथा कोरिंथियन तीनों शैलियों के सम्मिश्रण से इस शैली का विकास हुआ। सौंदर्य की दृष्टि से, ये रोमन भवन ग्रीक स्थापत्य कला के सुंदर नमूनों से बहुत नीचे थे, पर विशालता की दृष्टि से ये काफी लंबे-चौड़े तथा भड़कीले थे। इनकी विशालता ही प्रभावोत्पादक थी, इसके अतिरिक्त इनके मेहराब तथा गगनचुंबी गुंबज इनको और भड़कीला बना देते थे। वस्तुतः रोमन भवनों के निर्माण में कलात्मकता से अधिक, इंजीनियरिंग की सफलता थी। इनमें धूप में सुखाई ईंटों का प्रयोग नहीं हुआ, वरन् कंकरीट का प्रयोग हुआ। यह कंकरीट ज्वालामुखी की राख, चूना तथा पत्थर की मिलावट से बनता था। इससे बने भवन अधिक टिकाऊ होते थे। इन भवनों में संगमरमर का भी काफी प्रयोग हुआ। आगस्टस ने कहा था कि उसने ईंटों के नगर को संगमरमर के नगर में परिणत कर दिया। उसकी यह उक्ति बहुत कुछ सत्य थी। उसने वस्तुतः अपने देशवासियों को एक ऐसी राजधानी दी, जिस पर वे गर्व कर सकें। रोम एक विशाल साम्राज्य की राजधानी कहलाने योग्य बन गया।

भौतिक ऐश्वर्य एवं आर्थिक समृद्धि

आगस्टस का युग वास्तव में एक स्वर्णयुग था। तत्कालीन कवियों ने इस युग को इसी नाम से अभिहित किया। यद्यपि इस युग में साहित्य की उन्नति हुई तथा रोमन स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने इसी युग में बने, फिर भी इस युग की वास्तविक महत्ता बौद्धिक तथा कलात्मक उन्नति के कारण उतनी नहीं है, जितनी भौतिक समृद्धि के कारण। पेरिक्लीज का युग एथेंस के इतिहास में अपने सांस्कृतिक वैभव तथा बौद्धिक उत्थान के लिए प्रसिद्ध है, पर आगस्टस का युग भौतिक ऐश्वर्य के कारण भी बहुत प्रसिद्ध है।

आगस्टस के युग की यह विशेषता थी कि प्रथम बार पूरे भूमध्यसागरीय प्रदेश में पूर्ण शांति थी। रोमन सत्ता ने इस पूरे प्रदेश को एक सूत्र में बांध कर अपनी असभ्य प्रजा के सारे झगड़ों को शांत कर दिया था। पूर्वी प्रदेश में राज्य-विस्तार के लिए राजाओं में जो युद्ध हुआ करते थे, वे सभी समाप्त हो गए थे। भूमध्यसागर समुद्री लुटेरों से भरा रहता था। पर, आगस्टस ने एक स्थायी जहाजी

बेड़े का निर्माण कर इन समुद्री लुटेरों का विनाश किया। यह जहाजी बेड़ा स्थायी रूप से निरीक्षण-कार्य करता था। इससे आगस्टस के युग में प्रजा अपने जानमाल को पहले के युगों से अधिक सुरक्षित मानने लगी। शांति एवं सुरक्षा के कारण व्यापार तथा उद्योग-धंधों की अभूतपूर्व उन्नति हुई। कृषि की विशेष उन्नति हुई। घास से ढके हुए मैदान उर्वर खेतों में परिणत किए गए।

उद्योग-धंधे

कृषि के साथ-साथ उद्योग-धंधों की भी उन्नति हुई। काफी संख्या में छोटे-छोटे कारीगर लुहार, बढ़ई तथा जूते बनाने वालों का काम करते थे। पर, इन छोटे कारीगरों की संख्या कम होती जा रही थी। अधिक लोग सेना में ही भर्ती होना चाहते थे। उच्च कुल के लोग कारीगरी के पेशे को हेय दृष्टि से देखते थे। वे सैनिक, वकील या राजनैतिक नेता होना अधिक पसंद करते थे। फिर भी इटली में इस युग में कुछ केंद्र थे, जहाँ कारीगरी की सुंदर वस्तुएँ बनायी जाती थीं। मिट्टी के सुंदर तथा चमकीले बर्तन इस युग में बनाए जाते थे। ये मिट्टी के बर्तन बाहरी देशों में भी निर्यात किए जाते थे। मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त धातुओं के भी अच्छे कारीगर इटली में थे। लोहे के हर तरह के औजार कैम्पेनिया प्रदेश में बनाए जाते थे। काँसे के सुंदर बर्तन बनाए जाते थे, जो उस युग में दुनिया भर में प्रसिद्ध थे। इन वस्तुओं की कारीगरी तथा व्यापार का नेतृत्व उन दिनों इटली के ही हाथ में था।

व्यापार

इस युग में अन्य देशों के साथ इटली का व्यापार भी कई गुना बढ़ गया। इटली की बनायी हुई वस्तुएँ बाहर भेजी जाती थीं तथा बाहरी देशों से आवश्यक और विलास की सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रा में आयात की जाती थीं। इस युग में रोम में अपार संपत्ति एकत्र हो गयी थी। यह संपत्ति व्यापार, रुपयों के लेनदेन तथा विदेशों की संपत्ति की आय से नागरिकों के हाथ में आ गई थी। अतः, रोम के संपन्न नागरिक विलास की सामग्रियों पर भी खुले हाथों पैसे खर्च करते थे। साम्राज्य के पश्चिमी प्रांतों से ऊन, चमड़ा तथा कई प्रकार के खनिज पदार्थ और सूती कपड़े आयात किए जाते थे। पूर्वी देशों से कारीगरों द्वारा बनायी गई वस्तुएँ मँगाई जाती थीं। सिडान से शीशा, एशिया माइनर से कालीनें, मिस्र से लिनेन तथा सुदूरपूर्व से सिल्क का आयात होता था। अरब तथा भारतवर्ष से मशाले, सुगंधित द्रव्य और जवाहरात का आयात होता था। इन सामानों को ग्रीस और सीरिया के जहाज ढोते थे। यह उन्नत व्यापार रोम की भौतिक समृद्धि का द्योतक था। निस्संदेह

आगस्टस के युग में रोमन नागरिकों के हाथ में अपार संपत्ति थी, जिसके द्वारा वे इन साधनों को जुटाते थे।

शासित प्रांतों का उत्थान

शांति एवं सुव्यवस्था

रोम ने बहुत से प्रांतों और देशों को जीत कर केवल एक लंबा-चौड़ा साम्राज्य ही नहीं स्थापित किया, वरन् विजित प्रांतों की जनता को सभ्य जीवन बिताने के साधनों को भी जुटाया। आगस्टस के युग में जो अपार संपत्ति रोम में इकट्ठी हुई, उसका सदुपयोग प्रजा के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भी किया गया। यह भी आगस्टस के युग की एक विशेषता थी। प्रांतों की जनता के लिए रोमन शासन एक वरदान सिद्ध हुआ। लगातार युद्ध होते रहने के भयंकर दुष्परिणामों से जनता मुक्त हो गई। रोमन शासन ने भीतरी फूट, अशांति एवं दुर्व्यवस्था को भी समाप्त कर दिया। आगस्टस के शासन-संबंधी सुधारों ने जनता के अफसरों के द्वारा होने वाले अत्याचारों से भी मुक्त कर दिया। शासन के नियम अधिक स्वस्थ तथा सुंदर हो गए। स्थानीय शासन पर केंद्रीय नियंत्रण और कठोर हो गया, जिससे अशांति की आशंका जाती रही। जगह-जगह राजकीय सेना के रहने से साम्राज्य में शांति तथा स्थायित्व आ गए। प्रांतों के कानून रोमन कानून के आधार पर और परिमार्जित कर दिए गए। इन सभी सुधारों से रोमन साम्राज्य की प्रजा शांति और सुख के दिन बिताने लगी, जिसके प्रमाण बाइबिल के न्यू टेस्टामेन्ट से मिलते हैं।

लोकोपकारी कार्य

साम्राज्य की स्थापना तथा आगस्टस के शासन से सबसे अधिक लाभ प्रांतों की जनता को ही हुआ। रोमन सीनेट केवल रोमन समाज के कुलीनों के हित की चिंता करती थी। पर, सम्राट संपूर्ण रोमन प्रजा के हित का ख्याल करता था। आगस्टस ने स्वयं प्रांतों में घूम-घूम कर प्रजा के हित का निरीक्षण करने में कितने वर्ष बिताए। उसने साम्राज्य के पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों प्रांतों में इस प्रकार की यात्राएँ कीं। उसके उत्तराधिकारियों में जो योग्य निकले, उन्होंने भी ऐसा ही किया। सम्राट के इस उत्साह का प्रभाव प्रांतीय गवर्नरों तथा कर्मचारियों पर पड़ा। उनके सहयोग से प्रांतों का सांस्कृतिक तथा भौतिक उत्थान हुआ। अर्धसभ्य तथा असभ्य देशों में सभ्यता के साधन शीघ्रता से बढ़ने लगे। हर जगह सड़कों, पुलों तथा बंदरगाहों का निर्माण हुआ। नए-नए शहर बस गए। इसमें संदेह नहीं कि ये लोकहितकारी कार्य विशेषतः सैनिक उद्देश्य तथा व्यापार की सफलता को ध्यान में रखकर किए गए। पर उद्देश्य जो कुछ भी रहा हो, प्रांतों की जनता को लाभ अवश्य प्राप्त

हुआ। जिन स्थानों पर रोमन सेना स्थित होती थी तथा जहाँ रोमन व्यापारी वसना चाहते थे, वहीं नगर बस जाते थे। इन नगरों में रोमन गवर्नर नए-नए भवन वनाते तथा स्कूलों की स्थापना करते थे। इन सभी साधनों से रोमन साम्राज्य की पिछड़ी हुई जनता सभ्यता के क्षेत्र में तेजी से आगे वढ़ने लगी। ये नगर रोम के छोटे-छोटे टुकड़ों-जैसे प्रतीत होते थे। रोमन संस्कृति के संपर्क तथा सुख के साधनों से प्रांतों की जनता एक नए जीवन का अनुभव करने लगी। रोमन शासन का यह अत्यंत शुभ परिणाम हुआ। आगस्टस ने शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करके अंधकार में पड़ी हुई प्रांतों की जनता को सभ्यता का प्रकाश दिखलाया। यह उसकी वड़ी सफलता थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगस्टस के युग में रोम नगर तथा रोमन साम्राज्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। रोम की भौतिक समृद्धि अपनी चरम सीमा को पहुँच गई। रोम नगर में जो अपार संपत्ति एकत्र हुई, उसका सदुपयोग रोम नगर की सौंदर्य-वृद्धि, व्यापार तथा उद्योग-धंधों के उत्थान एवं शासित प्रांतों की जनता के जीवन-स्तर को उठाने के लिए किया गया। रोम ने इतने बड़े साम्राज्य के नेता के रूप में पिछड़ी हुई जनता को सभ्य बनाया। रोम की प्रतिष्ठा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। साथ ही रोम का सांस्कृतिक उत्थान भी हुआ। नए कानूनों के द्वारा गिरते हुए रोमन चरित्र का नैतिक उत्थान हुआ तथा उच्चकोटि के साहित्य की रचना हुई। रोमन संस्कृति का प्रसार स्पेन से बैबिलोन तक तथा जर्मनी से सहारा तक हो गया। इतने बड़े भूभाग पर रोम की तूती बोलती थी। इन्हीं कारणों से आगस्टस के युग को 'रोमन सभ्यता का स्वर्णयुग' कहते हैं। आगस्टस की मृत्यु १४ ई० में हुई। उसके बाद रोमन साम्राज्य पाँच शताब्दियों तक कायम रहा (४७६ ई० पर्यंत) और प्रारंभ के दो सौ वर्षों में इसके द्वारा मानव-सभ्यता की महान सेवा हुई।

आगस्टस के उत्तराधिकारी सम्राटों में जो सम्राट प्रसिद्ध हुए, उनके नाम हैं—हाड्रियन एनटोनियस, मार्कस आरेलियस, डायोक्लेशियन, कांस्टैंटाइन तथा जस्टीनियन। निर्दयी सम्राटों में नीरो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

मार्कस आरेलियस (१६१ ई०-१८० ई०)

यह सम्राट रोमन इतिहास में अपनी साधुता तथा दार्शनिकता के लिए प्रसिद्ध है। जिस प्रकार अशोक का नाम भारतीय इतिहास में धार्मिकता के कारण सम्मानपूर्वक लिया जाता है, उसी प्रकार पाश्चात्य इतिहास में आरेलियस का नाम लिया जाता है। यह एक दार्शनिक था तथा 'मेडिटेशन्स' (Meditations) नामक पुस्तक में इसके उच्च नैतिक एवं दार्शनिक विचार मिलते हैं। मार्कस की शासन-

नीति लोकोप्रकार की उदात्त भावना पर स्थित थी। बहुत-सी उदार योजनाओं के द्वारा उसने दलित तथा निर्धन जनता के प्रति अपनी सहानुभुति प्रदर्शित की। उसने गुलामों की मुक्ति के लिए भी बहुत कुछ किया। उसकी उदारता से कई बार उसका खजाना तक खाली हो गया।

डायोक्लेशियन (Diocletian २८४ ई०—३०५ ई०)

इसके सम्राट होने के पहले रोमन साम्राज्य की स्थिति डाँवाडोल हो गई थी। साम्राज्य में अराजकता का बोलबाला हो गया था। दुर्भिक्ष तथा प्लेग साम्राज्य की निर्धनता और जनता की अशांति को और बढ़ा रहे थे। वर्बर जातियों के आक्रमण दिनोंदिन भीषण होते जा रहे थे। डाकुओं के दल स्वतंत्र रूप से प्रांतों में घूम-घूम कर जनता को तवाह करते फिरते थे। ऐसी शोचनीय अवस्था में डायोक्लेशियन सम्राट हुआ। इसने स्थिति को सुधारने के लिए कठोर कर्मठता तथा अदम्य उत्साह से प्रयत्न किया। यह चाहता था कि रोमन साम्राज्य अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को प्राप्त कर ले। इसने धार्मिक अंधविश्वासों तथा सैन्यशक्ति की आधारशिला पर अपना निरंकुश शासन स्थापित किया। पूर्वी देशों की प्रजा का सहयोग प्राप्त करने के लिए इसने अपने को पूर्वी देशों में पूजित सूर्य देवता घोषित किया। इसने कानून को ईश्वरीय सत्य घोषित किया। इसके समय में रोमन साम्राज्य बहुत अंश में दो भागों में बँट गया। साम्राज्य के पूर्वी भाग का सुचारु रूप से शासन करने के लिए इसने पश्चिमी एशिया में निकोमेडिया (Nicomedia) नामक स्थान पर राजधानी वनायी और स्वयं यहीं रहने लगा। पश्चिमी भाग का शासन करने के लिए एक सह-शासक नियुक्त किया गया।

कांस्टैंटाइन (Constantine) (३२३ ई०—३३३ ई०)

सम्राट आगस्टस के शासनकाल की मुख्य घटना थी—ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक ईसामसीह का जन्म। रोमन साम्राज्य के अंतर्गत जेरूसेलम में ईसा ने इस धर्म का प्रचार किया। महात्मा ईसा ने लोगों को पारस्परिक प्रेम, सहानुभुति तथा भ्रातृ-भाव की शिक्षा दी। रोमन साम्राज्य की दलित तथा निर्धन प्रजा ने बहुत बड़ी संख्या में इस धर्म को स्वीकार किया। ईसाई धर्म के तीव्र प्रचार से रोमन सम्राट सशंकित हो उठे, क्योंकि ईसाई धर्म सम्राट की उपासना और देवत्व के सिद्धांत के विरुद्ध था। इस कारण यह धर्म राजद्रोही करार दिया गया। समस्त मानव जाति के कल्याण की पवित्र भावना से अनुप्राणित धर्म तीन सौ वर्षों तक रोमन सम्राटों के दमन-चक्र का शिकार बना रहा। ईसाइयों पर घृणित अत्याचार किये गए। धैर्य तथा शांति से ईसाइयों ने अत्याचार का सामना किया। अत्याचारों के वीच यह धर्म पल्लवित और पुष्पित होता रहा। ईसाइयों ने त्याग एवं तपस्या के सहारे

अपना संगठन और दृढ़ कर लिया। जनता के हृदय पर तो इस धर्म का स्नेहसिंचित साम्राज्य इतना प्रबल हो गया कि अंततोगत्वा चौथी शताब्दी में रोम सम्राट कांस्टैंटाइन को इस धर्म के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा। इसने ईसाइयों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की और उनके ऊपर लगे हुए प्रतिबंधों को उठा दिया। उसने स्वयं ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। अब ईसाई धर्म साम्राज्य का अविच्छिन्न अंग बन गया।

पूर्वी साम्राज्य के शासन के लिए इसने अपने नाम पर कांस्टैंटिनोपुल (Constantinople) नाम का शहर बसाया। यह नगर पूर्वी जगत का रोम बन गया तथा १४५३ ई० तक यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति का केंद्र बना रहा।

रोमन साम्राज्य का पतन

साम्राज्य के दो भागों में बँटने से शासन-तंत्र ढीला पड़ता गया। कुछ समय तक रोम तथा कांस्टैंटिनोपुल में सम्राट साथ-साथ शासन करते रहे। अंत में दोनों अलग-अलग हो गए। एक का नाम पूर्वी रोमन साम्राज्य पड़ा तथा दूसरे का नाम पश्चिमी रोमन साम्राज्य। पूर्वी साम्राज्य की राजधानी कांस्टैंटिनोपुल थी तथा पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी रोम। प्रसिद्ध हूण सरदार अत्तिल ने रोमन साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी। अंत में ४७६ ई० में जंगली जर्मन जातियों के आक्रमण ने पश्चिमी साम्राज्य को समाप्त कर दिया। पूर्वी साम्राज्य अधिक दिनों तक जीवित रहा।

जस्टीनियन (Justinian) (५२७ ई०—५६५ ई०)

यह पूर्वी रोमन साम्राज्य का सबसे प्रसिद्ध सम्राट था। इसने कुछ समय तक पूर्वी और पश्चिमी दोनों साम्राज्यों को मिला कर शासन किया। सीमांत प्रदेशों की रक्षा का सुंदर प्रबंध किया। साम्राज्य में फैले हुए भ्रष्टाचार को दूर कर शासन को सबल बनाने का प्रयत्न किया। इसने बहुत से लोकोपकारी कार्य किए। जनता की भलाई के लिए इसने बहुत से बाँध, संग्रहालय, नाट्यशालाएँ तथा गिरजे बनवाए। विश्व-इतिहास में यह अपने कानूनों के लिए प्रसिद्ध है। इसी के समय में रोमन कानून का चरम विकास हुआ। विद्वानों द्वारा संशोधन के पश्चात् इसने रोमन कानून का परिमार्जित तथा परिवर्द्धित संस्करण निकलवाया, जिसे 'जस्टीनियन का कोड' अथवा 'विधि-संहिता' कहते हैं। यह यूरोपीय कानूनों की आधारशिला माना जाता है। इसके समय में रोमन साम्राज्य का विगत वैभव कुछ दिनों के लिए लौट आया। इसकी मृत्यु के पश्चात् रोमन साम्राज्य बाह्य आक्रमण तथा आंतरिक अशांति की विपत्ति में पुनः ग्रस्त हो गया। खजाना खाली था। पश्चिमी भाग पुनः स्वतंत्र हो गया तथा रोमन साम्राज्य सदा के लिए पतन के गर्त में गिर गया।

विश्व-सभ्यता को रोम की देन

रोमन साम्राज्य के पतन से रोम का राजनैतिक नेतृत्व तो समाप्त हो गया, पर सांस्कृतिक क्षेत्र में उनकी देन चिरस्थायी सिद्ध हुई। रोमन जाति एक अत्यंत कर्मठ तथा व्यवहारकुशल जाति थी। उनमें संगठन तथा रचनात्मक शक्ति कूट-कूट कर भरी थी। बौद्धिक क्षेत्र में उन्हें मौलिकता नहीं प्राप्त थी। फिर भी कला, विज्ञान तथा दर्शन को उन्होंने यूनानियों से सीख कर उस पर अपनी प्रतिभा की छाप छोड़ी। पर कानून, सैन्य-संगठन तथा साम्राज्य-निर्माण में, प्राचीन विश्व के इतिहास में वे अद्वितीय रहे। इन क्षेत्रों में उनकी प्रतिभा की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई। बाद की पीढ़ियाँ उनके आदर्शों से अनुप्राणित हुईं। यूरोपीय समाज उनके कानूनों से नियंत्रित हुआ। ईसाई चर्च के संगठन में रोमन प्रतिभा स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुई। इस प्रकार सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में उन लोगों ने अपनी प्रतिभा की अमिट छाप छोड़ दी। अब हम इन विभिन्न क्षेत्रों में उनकी देन पर विचार करें।

रोमन कानून

रोमन सभ्यता की सर्वोत्तम, ठोस तथा चिरस्थायी देन है—रोमन कानून। रोमन लोग कानून बनाने में अत्यंत प्रवीण थे तथा उन्होंने कानूनों का जो निर्माण और संग्रह किया, वह बौद्धिक क्षेत्र में उनकी बहुत बड़ी देन सिद्ध हुआ। रोमन कानून केवल सामाजिक प्रथाओं पर आधारित नहीं था, वरन तर्क एवं औचित्य की आधारशिला पर स्थित था। यह रोमन कानून की सबसे बड़ी विशेषता थी।

रोमन नगर तथा रोमन साम्राज्य की तरह रोमन कानून का भी विकास धीरे-धीरे हुआ। यह सदियों के प्रयास का फल था। प्रारंभ में रोम में भी लिखित कानूनों का अभाव था। शासक वर्ग मनमाना न्याय करता था। सर्वप्रथम ४५० ई०-पू० में प्लेबियनों ने जब अधिकारप्राप्ति के लिए आंदोलन किया, तब कानून का पहला संग्रह हुआ, जिसे 'बारह तख्तियों के कानून' (Law of the twelve tables) के नाम से पुकारा गया। इस संग्रह में तीन प्रमुख सिद्धांत स्पष्ट रूप से स्थिर किए गए, जो निम्नलिखित हैं—

(क) व्यापार के सिलसिले में जो लेनदेन तथा व्यवहार होता था, उसे कानूनी करार दिया गया।

(ख) किसी झगड़े में चोट खाए हुए आदमी को प्रतिशोध के बदले हरजाना लेने का सिद्धांत स्थिर किया गया।

(ग) कानून की दृष्टि में सभी नागरिकों को समान माना गया।

रोमन कानून के विकास का यह श्रीगणेश था। इसके पश्चात् न्यायाधीशों

की व्याख्या तथा निर्णयों से रोमन कानून का क्रमशः विकास होता गया। न्यायाधीशों को प्रेटर (Praetor) कहा जाता था। प्रेटर पदासीन होते समय उन सिद्धांतों की व्यवस्था करता था, जिनका पालन वह मुकदमों के निर्णय में करता था। इन घोषणाओं में कभी-कभी यह नए कानूनों का भी निर्माण कर देता था। रोमन नागरिकों के मुकदमों के निर्णय के लिए एक अलग प्रेटर बहाल किया जाता था तथा विदेशियों के मुकदमों के न्याय के लिए अलग प्रेटर भर्ती किया जाता था।

दीवानी कानून

रोम का दीवानी कानून अत्यंत प्रसिद्ध है। इससे यूरोपीय समाज बहुत अधिक प्रभावित हुआ। वास्तव में यह पश्चिमी सांस्कृतिक परंपरा की आधारशिला बन गया। रोम के दीवानी कानून (Civil Law) की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं—

(क) रोमन कानून में ही, विश्व-इतिहास में सर्वप्रथम कारपोरेशन (अथवा निगम) की कल्पना का जन्म हुआ। कानून की दृष्टि में मनुष्यों का कोई दल, जो किसी विशेष उद्देश्य से एक व्यक्ति की तरह काम करे—एक इकाई माना गया।

(ख) संपत्ति का वर्गीकरण वैज्ञानिक ढंग से किया गया। संपत्ति को तीन वर्गों में बाँटा गया। देवभूमि, देवमंदिर तथा देवपात्र आदि को पवित्र संपत्ति करार दिया गया। दूसरे प्रकार की संपत्ति सार्वजनिक संपत्ति करार दी गई। इसके भी दो भाग थे। वायु, समुद्र और बहते हुए जल आदि को पहले प्रकार की सार्वजनिक संपत्ति माना गया। दीवार, फाटक, गली, सड़कें तथा जलमार्ग, इन्हें दूसरे प्रकार की सार्वजनिक संपत्ति माना गया। व्यक्तिगत संपत्ति तीसरे प्रकार की संपत्ति मानी गई।

संपत्ति पर अधिकार प्राप्त करने के तीन तरीके निश्चित किए गए थे—

(क) गवाहों के सामने नियमानुसार विक्रय के द्वारा संपत्ति पर अधिकार-प्राप्त होता था।

(ख) यदि मजिस्ट्रेट आदेश के द्वारा संपत्ति को एक व्यक्ति से दूसरे के हाथ में हस्तांतरित करे, तो उस हस्तांतरित संपत्ति पर दूसरे का अधिकार होता था।

(ग) चल संपत्ति पर एक वर्ष तक व्यवहार करने से तथा अचल संपत्ति पर दो वर्ष तक व्यवहार करने से अधिकार प्राप्त होता था।

इकरारनामा (Contract) संबंधी कानून रोमन कानून का अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। इकरारनामे में तीन तत्त्वों का होना आवश्यक माना जाता था। पहला तत्त्व था—देने का प्रस्ताव। दूसरा तत्त्व था—प्रस्ताव की स्वीकृति तथा तीसरा

तत्त्व था, प्रस्तावों की पूर्त्ति अथवा संपादन। इन तीनों तत्त्वों के होने पर इकरारनामा दोनों पक्षों पर कानूनी रूप से लागू होता था। इस कानून से संपत्ति के लेनदेन में बड़ी सुविधा हुई।

रोमन कानून का क्रमिक विकास

१७६ ई०-पू० में रोम के जो नागरिक नहीं थे, उनके लिए भी कानून बनाए गए। इन कानूनों को 'जुसजेन्शियम' (Jusgentium) की संज्ञा दी गई। इन कानूनों का निर्माण औचित्य तथा मानवता के सिद्धांत पर किया गया। बाद में इन कानूनों को भी दीवानी कानून में मिला दिया गया।

थियोडोसियन कोड

४३८ ई० में कानूनों का एक नया संग्रह निकाला गया। सम्राट थियोडोसियस के नाम पर 'थियोडोसियन कोड' कहा गया। इसमें ईसाई धर्म के विचारों को रोमन कानून में समाविष्ट करने का प्रयास किया गया।

जस्टीनियन कोड

५३४ ई० में सम्राट जस्टीनियन के प्रयास से निकाला गया कानूनों का यह संग्रह रोमन कानूनों की चरम परिणति था। सम्राट जस्टीनियन को रोमन कानूनों में संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई, क्योंकि रोमन कानून साम्राज्य तथा समाज की बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल नहीं रह गया था। इस उद्देश्य से इसने दस विद्वानों का एक आयोग (कमीशन) नियुक्त किया। इन विद्वानों के परिश्रम से जस्टीनियन कोड निकला, जो रोमन कानूनों का संशोधित, परिमार्जित तथा परिवर्द्धित संस्करण था। अब रोमन कानून अत्यंत सुस्पष्ट हो गया। इन विद्वानों के इस संग्रह को चार भागों में विभक्त किया गया, जिनका विवरण निम्नलिखित है—

(क) कोड : पहले भाग को कोड की संज्ञा दी गई। इसमें राजकीय आदेशों एवं शासनों का संग्रह किया गया, जिनके द्वारा कानून का क्रमिक विकास हुआ था।

(ख) डाइजेस्ट : इसमें कानून के पंडितों तथा न्यायवेत्ताओं के विचारों का संग्रह किया गया। यह रोमन कानून का सारतत्त्व (डाइजेस्ट) माना गया।

(ग) इंस्टीच्यूट्स : इसमें कानून का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। यह कानून के विद्यार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तक था। इसे 'इंस्टिच्यूट्स' की संज्ञा दी गई।

(घ) नावेल्स : यह कानूनों में होने वाले संशोधनों, परिवर्तनों एवं परिवर्द्धनों के संग्रह के लिए प्रस्तुत किया गया। कानून में होने वाली नवीनताओं के संग्रह के उद्देश्य से प्रणीत यह खंड 'नावेल्स' नाम से पुकारा गया।

चार खंडों में विभक्त यह संग्रह रोमन कानून के अध्ययन के लिए एक अत्यंत सुंदर ग्रंथ सिद्ध हुआ। बाद के युगों में, यूरोपीय समाज के धार्मिक तथा नागरिक कानूनों के लिए यह एक आदर्श बन गया।

रोमन कानून का महत्त्व

यूरोपीय सभ्यता के कानूनों के विकास में रोमन कानून का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। मध्य युग में यूरोपीय देशों के कानूनों के बुनियादी सिद्धांत रोमन कानून से लिए गए थे। रोमन कैथोलिक चर्च के धार्मिक कानून भी रोमन कानून पर आधारित थे। आधुनिक यूरोपीय देशों के कानूनों में रोमन कानूनों का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकारों की विशद् व्याख्या रोमन कानून की सर्वोत्कृष्ट सफलता है। आधुनिक युग के कानूनों के पहले किसी भी देश के कानून में व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकारों का इतना पूर्ण विवेचन नहीं किया गया, जितना रोमन कानून में हुआ।

रोमन कानून में जनता की प्रभुसत्ता की भी कल्पना पायी जाती है। इस कल्पना से जनतांत्रिक शासन के विकास में महत्त्वपूर्ण प्रेरणा मिली।

रोमन कानून के अवगुण

रोमन कानून में कुछ दोष भी विद्यमान थे। रोमन कानून संपूर्ण रोमन जनता के लिए नहीं, वरन् एक वर्ग विशेष के लिए बनाया गया था। विदेशी और गुलाम रोमन नागरिक नहीं माने जाते थे। रोमन कानून में केवल नागरिकों के हितों का ध्यान रखा गया था। कानूनी अधिकार केवल नागरिकों को ही प्राप्त थे। रोमन साम्राज्य के युग में प्रतिष्ठित वर्ग को सूली तथा शारीरिक परिश्रम के दंड नहीं दिए जाते थे। निम्न वर्ग के लोगों को दंडस्वरूप सब तरह की यातना दी जाती थी। विशेषतः गुलामों को साधारण अपराधों के लिए भी सूली पर चढ़ा दिया जाता था। यह रोमन कानून का बहुत भारी अवगुण था।

इतना होते हुए भी, रोमन कानून ने मध्ययुग तथा आधुनिक युग के यूरोपीय कानून को प्रभावित किया और रोमन कैथोलिक चर्च के धार्मिक कानूनों पर भी अपनी छाप छोड़ी। विश्व-सभ्यता को रोमन कानून रोम की चिरस्थायी देन सिद्ध हुआ।

लैटिन भाषा

रोम की सांस्कृतिक देनों में लैटिन भाषा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। लैटिन भाषा ग्रीस की आदर्शवादिता एवं रोम की व्यावहारिकता के सामंजस्य से विकसित हुई तथा यूरोप को बहुत-सी आधुनिक भाषाओं की जननी बन गई।

यूनान पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् लैटिन भाषा एवं उसके साहित्य का

विकास हुआ। लैटिन भाषा के लेखकों और विद्वानों ने ग्रीक साहित्य की उच्चता एवं महानता से प्रेरणा ग्रहण की तथा ग्रीक शैली के आधार पर लैटिन साहित्य का विकास किया। उनके पास कथावस्तुओं का अभाव नहीं था, पर ग्रीक प्रभाव से उन लोगों ने कथावस्तुओं में भी परिवर्तन किए। लैटिन भाषा के नाटककारों ने ग्रीक नाटककार मिनैन्डर के सुखांत तथा हास्यात्मक नाटकों का अनुकरण किया। उन लोगों ने काव्यों तथा नाटकों का प्रणयन लैटिन भाषा में ही किया। उच्च कोटि के साहित्यकारों की रचनाओं का माध्यम बनने से इस भाषा का विकास होता गया तथा रोमन सभ्यता एवं साम्राज्य के उन्नतिशील युग में इस भाषा का चरम विकास हुआ। रोमन साम्राज्य के पतन के समय तक यह भाषा अत्यंत प्रौढ़, सशक्त तथा लोकप्रिय भाषा बन गई थी। पाश्चात्य जगत के बहुत-से सभ्य देशों की यह एकमात्र स्वीकृत भाषा थी। जिस तरह भारतवर्ष में संस्कृत सदियों तक राजभाषा तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों की भाषा बनी रही, उसी तरह मध्य युग में यूरोप के विभिन्न देशों की यह राजभाषा बनी रही। ईसाई धर्म के उदय तथा प्रसार के साथ यह ईसाई चर्च की भी भाषा बन गई। बहुत से प्रसिद्ध ईसाई संतों और महात्माओं ने इस भाषा में अपने विचारों को व्यक्त किया। इन कारणों से यह भाषा अत्यंत समृद्ध भाषा बन गई। रोम के पतन के शताब्दियों बाद तक यह यूरोप के कई देशों की राजभाषा बनी रही। इंगलैंड में सोलहवीं सदी में रानी एलिजाबेथ के युग में राजकीय लेख लैटिन भाषा में ही लिखे जाते थे। बेकन, हार्वे तथा न्यूटन-जैसे विद्वानों ने इस भाषा में लिखा। यूरोप की बहुत-सी आधुनिक भाषाओं पर लैटिन भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। अंगरेजी भाषा के बहुत से शब्द लैटिन से लिए गए हैं।

ग्रीक भाषा के बाद, प्राचीन तथा मध्यकालीन यूरोप की समस्त ज्ञानराशि लैटिन भाषा में संचित है। अतः, लैटिन भाषा तथा उसका साहित्य विश्व-सभ्यता को रोम की एक बहुत बड़ी देन है।

लैटिन साहित्य

लैटिन भाषा का साहित्य, जिसकी सृष्टि रोमन सभ्यता के युग में हुई, विश्व का एक अत्यंत समृद्ध साहित्य माना जाता है। हम अब इस साहित्य के विभिन्न अंगों पर दृष्टिपात करें—

महाकाव्य : महाकाव्यों की रचना करने वाले दो महाकवि हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं से लैटिन साहित्य को समृद्ध किया।

वर्जिल (७० ई० पू०—१९ ई० पू०) : यह लैटिन साहित्य का सबसे बड़ा महाकवि है। इसकी तुलना होमर से ही की जाती है। इसका सबसे प्रसिद्ध

महाकाव्य है—'ईनिड'। इसमें ट्राय के योद्धा ईनियस का चरित्र वर्णित है। वह महाकाव्य होमर-रचित 'ईलियड' की श्रेणी में रखा जाता है। इसके अतिरिक्त इसने 'जौर्जिक्स' तथा 'इक्लौस' नामक दो काव्य-ग्रंथों का भी प्रणयन किया।

होरेस (६५ ई०-पू०—८ ई०-पू०) : यह दूसरा प्रसिद्ध रोमन महाकवि था। इसकी रचनाओं में तत्कालीन ग्राम्य जीवन का सुंदर चित्रण मिलता है। इसने ग्रीक छंदों में रचनाएँ कीं और काफी संख्या में गीतिकाव्य लिखे। इसकी रचनाएँ ओड्स (Odes) तथा सेटायर्स (Satires) आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। लैटिन भाषा के कवियों में इनकी रचनाओं का सबसे अधिक अनुवाद हुआ है।

कविता

बहुत से कवियों ने अपनी हृदयस्पर्शी तथा मार्मिक रचनाओं से लैटिन साहित्य को समृद्ध किया। उनकी रचनाएँ आज भी विश्व-साहित्य की अमर निधि मानी जाती हैं। ऐसे कवि, जिनकी रचना से लैटिन साहित्य अमर है, उनमें निम्नलिखित कवि अत्यंत प्रसिद्ध हैं—

ल्युक्रैशियस (९५ ई०-पू०—५५ ई०-पू०) : यह एक उच्च कोटि का कवि था। इसने यूनानी दर्शन के आनंदवाद से अनुप्राणित उच्चकोटि की कविताएँ लिखीं।

कैटुलस (८७ ई०-पू०—५३ ई०-पू०) : यह लैटिन भाषा का अत्यंत प्रसिद्ध कवि है। यह विश्व-साहित्य में प्रेमपूर्ण कविताओं के लिए प्रसिद्ध है। अपनी कविताओं में इसने अपनी प्रेयसी लेस्विया के प्रति अपने हृदय के मार्मिक उद्गार व्यक्त किए हैं।

ओविड (४३ ई०-पू०—१७ ई०-पू०) : यह भी लैटिन साहित्य का अमर कवि है। इसने काव्य के माध्यम से कहानियाँ लिखीं। 'मेटामौफोसेस' उसकी प्रसिद्ध रचना है।

प्रौपर्टियस (५० ई०-पू०—१८ ई०-पू०) : यह भी रोमन साहित्य का एक प्रसिद्ध कवि है तथा अपनी प्रेमपरक कविताओं के लिए प्रसिद्ध है।

नाटक

नाटक के क्षेत्र में रोमन लोग यूनानियों के बहुत अधिक ऋणी थे। ग्रीक नाट्यकला को ही उन लोगों ने अपनाया। रोमन लोग कुश्ती तथा जानवरों की लड़ाई आदि खेल-तमाशों के अधिक प्रेमी थे, इससे इन लोगों ने नाट्यकला तथा रंगमंच के विकास पर अधिक ध्यान नहीं दिया। ग्रीक लोगों की तरह ये लोग नाटक के प्रेमी नहीं थे। फिर भी रोम में उच्चकोटि के नाटककार हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं से लैटिन साहित्य को समृद्ध किया। रोमन नाटककारों में दो नाटककार प्लौटस तथा टिरेन्स अत्यंत प्रसिद्ध हैं।

प्लौटस (२५४ ई०-पू०—१८४ ई०-पू०) तथा टिरेन्स (१८५ ई०-पू०—८९ ई०-पू०) : इन दोनों ने ग्रीक-नाटककार मिनैंडर के सुखांत एवं हास्यात्मक नाटकों के आधार पर रचना की। व्यंग्यात्मक प्रहसन (Satire) का विकास रोमन साहित्य में पूर्ण रूप से हुआ। रोमन लोगों ने साहित्य के इस अंग को समृद्ध एवं पुष्ट किया। व्यंग्यात्मक प्रहसन लिखने वाले कई कवि हुए. जिनमें निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं—

एफ्रेनियस (१२० ई०-पू०) ल्यूसिलियश (१८० ई०-पू०—१०२ ई०-पू०) तथा जुवेनाल (१०० ई०)। महाकवि होरेश ने भी व्यंग्यात्मक प्रहसनों की रचना की।

इतिहास

लैंटिन भाषा का ऐतिहासिक साहित्य अत्यंत समृद्ध है। रोमन इतिहासकारों ने इतिहास की रचना आधुनिक दृष्टिकोण तथा वैज्ञानिक प्रणाली से की। यदि यह कहा जाए कि इतिहास लिखने की आधुनिक प्रणाली को जन्म रोमन इतिहासकारों ने दिया, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। निम्नलिखित रोमन इतिहासकार प्रसिद्ध हैं—

पोलिबियस (२०४ ई०-पू०—१२२ ई०-पू०)

यह रोम का पहला इतिहासकार था। इसने प्यूनिक युद्धों का इतिहास लिखा।

लिवी (५९ ई०-पू०—१७ ई०-पू०)

यह रोम का सबसे बड़ा इतिहासकार था। इसकी सुप्रसिद्ध रचना 'रोम का इतिहास' है, जिसमें ७५३ ई०-पू० से लेकर आगस्टस के युग (३० ई०-पू०) तक का इतिहास वर्णित है। इसकी शैली सुस्पष्ट एवं हृदयग्राही है। लिवी द्वारा लिखित रोम का इतिहास विश्व की अत्यन्त सफल ऐतिहासिक रचनाओं में माना जाता है। इसने जो कुछ लिखा, उसे ऐतिहासिक साधनों की छानबीन के वाद लिखा॥

टैसिटस (११७ ई०-पू०—५७ ई०-पू०)

यह रोम का दूसरा बड़ा इतिहासकार है। इसने 'ऐनल्स' (Annals), 'हिस्ट्रीज' (Histories) तथा 'जर्मानिया' (Germania) नामक इतिहास की पुस्तकों का प्रणयन किया। इसकी लिखी 'जर्मानिया' जर्मन जाति के प्रारंभिक इतिहास पर एकमात्र प्रामाणिक पुस्तक है।

सैलस्ट (८६ ई०-पू०—३४ ई०-पू०)

यह बहुत बड़ा विद्वान था। इसने लिखित प्रमाणों के आधार पर इतिहास की रचना की।

जूलियस सीजर (१०२ ई०-पू०—४४ ई०-पू०)

जूलियस सीजर केवल रोम का महान सेनानायक तथा राजनीतिज्ञ ही नहीं था, वरन् एक कुशल इतिहास-लेखक भी था। अपनी कृतियों से तो उसने इतिहास

रचा ही, साथ ही उसने अपनी लेखनी से भी इतिहास की रचना की। उसने दो इतिहास की पुस्तकों का प्रणयन किया— 'गाल के युद्ध' (Gallic Wars) तथा 'गृहयुद्ध' (Civil War)। गाल के युद्ध में सीजर ने जो फ्रांस में लड़ाइयाँ लड़ीं, उनका वर्णन किया है। अपनी स्पष्ट तथा सहज शैली के कारण यह ग्रंथ आज भी खूब पढ़ा जाता है। गृहयुद्ध में उसने तत्कालीन रोम के आंतरिक विग्रह का सजीव चित्र उपस्थित किया है।

गद्य

गद्य के क्षेत्रों में, सिसरो (१०६ ई०-पू०—४३ ई०-पू०) की रचनाएँ आज भी आदर्श मानी जाती हैं। सिसरो वस्तुतः आधुनिक यूरोपीय गद्य का जन्मदाता है। उच्चकोटि के गद्य-लेखक उसकी रचनाओं से आज भी प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

दर्शन

दर्शन के क्षेत्र में रोमन लोगों की मौलिक देन कुछ विशेष नहीं है। पर, रोमन लोग दर्शन के क्षेत्र में भी यूनान के शिष्य थे। रोमन दार्शनिकों ने ग्रीक दर्शन का गंभीर अनुशीलन किया तथा उसकी व्याख्या की। रोमन दार्शनिकों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं—

केटो (२३४ ई०-पू०—१४९ ई०-पू०)

इसके समय में ग्रीक आदर्शों तथा विचारों का प्रचार बड़े जोरों से रहा था। ग्रीक दर्शन के व्यक्तिवाद तथा आनंदवाद रोमन मस्तिष्क में घर कर रहे थे, जिसके फलस्वरूप रोमन जाति का नैतिक जीवन विशृंखल एवं दुर्बल होता जा रहा था। इसी कारण, इसने ग्रीक आदर्शों के अनुकरण का घोर विरोध किया। इसने रोमन समाज की पुरानी नैतिकता, सादगी, कर्मठता तथा अनुशासनप्रियता पर जोर दिया। चूँकि ग्रीक विचारों के प्रसार से ये आदर्श समाप्त होते जा रहे थे, इसने खुलकर ग्रीक भाषा की पढ़ाई का भी विरोध किया। इसने आचरण की शुद्धता एवं साधुता पर विशेष जोर दिया।

सिसरो (१०६ ई०-पू०—४३ ई०-पू०)

यह प्रसिद्ध विद्वान, सिद्धहस्त गद्य-लेखक, ओजस्वी वक्ता तथा विख्यात दार्शनिक था। इसने भी दर्शनशास्त्र की एक पाठ्य पुस्तक का प्रणयन किया।

सेनेका (४ ई०-पू०—६५ ई०)

यह रोम का सबसे बड़ा दार्शनिक था। ग्रीक दर्शन के स्टोइक मत का प्रचार रोम में खूब हुआ था। इस मत के दार्शनिक सदाचारपूर्ण नैतिक जीवन के समर्थक थे। इनके अनुसार, मनुष्य को प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन बिताना चाहिए तथा समदृष्टि से दुःख एवं सुख का सामना करना चाहिए। सेनेका इसी मत का

दार्शनिक था। यह सदाचार, नैतिकता तथा मानव-सेवा का पोषक था। पेनेक्टियस नामक दार्शनिक ने रोम में स्टोइक मत का प्रचार किया।

मार्कस आरेलियस (१६१ ई०—१८० ई०)

यह रोम का प्रसिद्ध सम्राट था और रोम के इतिहास में अपनी साधुता तथा दार्शनिकता के लिए प्रसिद्ध है। यह अपने को शासन के क्षेत्र में, ईश्वरीय इच्छा कार्यान्वित करने का निमित्त मात्र समझता था। अपनी 'मेडिटेशन्स' नामक पुस्तक में इसने अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त किया और स्टोइक मत की व्याख्या की।

ग्रीक दर्शन के स्टोइक मत के साथ-साथ आनंदवाद अथवा एपिक्युरियन मत का भी प्रसार रोम में हुआ। आनंदवाद का प्रचारक ल्यूक्रेशियस (९७ ई०-पू०—५३ ई०-पू०) नामक कवि था। इस मत के मानने वाले सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों में अधिक अभिरुचि नहीं रखते थे। रोमन साम्राज्य के पतन के युग में यह मत अधिक लोकप्रिय हो गया।

विज्ञान

विज्ञान के क्षेत्र में भी रोमन लोग यूनान के ऋणी थे। इस क्षेत्र में रोमनों की अपनी देन अत्यंत सीमित है। रोमन लोग विज्ञान के सैद्धांतिक पक्ष में बहुत अभिरुचि नहीं रखते थे, केवल व्यापारिक पक्ष में अभिरुचि रखते थे। निम्नलिखित विद्वान् तथा विचारक रोमन विज्ञान के स्तंभ हैं—

प्लिनी (२९ ई०—७९ ई०)

इसने 'प्राकृतिक इतिहास' (Natural History) नामक पुस्तक लिखी, जो विश्वविख्यात है। यह लैटिन भाषा में विज्ञान पर सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह ग्रंथ पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं लिखा गया है; क्योंकि इसमें किंवदंतियों को भी तथ्य मान लिया गया है।

टालेमी (द्वितीय शताब्दी ईस्वी)

यह अलेक्जैंड्रिया का निवासी था। इसने गोलीय त्रिकोणमिति (Spherical Trigonometry) का विकास किया। यह भूगोल के महान पंडित के रूप में विश्व-इतिहास में विख्यात है। इसने मानचित्र बनाने की कला का आविष्कार किया। पहले-पहल इसी ने मध्याह्न तथा समानांतर रेखाओं का प्रयोग किया।

कैलंडर का सुधार

गणित-ज्योतिष के आधार पर सौर-पंचांगों का सुधार रोमन सभ्यता की देन है। सुधार के पहले वर्ष ३५५ दिनों का होता था। जूलियस सीजर ने इसमें सुधार किया। अब वर्ष ३६५ दिनों का होने लगा। १० दिन जो बढ़े, वे महीनों में बाँट दिए। अब एक सप्ताह सात दिनों का होने लगा। यह कैलेंडर १ जनवरी,

४५ ई०-पू० से लागू हुआ। जूलियस सीजर के नाम पर सातवें महीने का नाम 'जुलाई' रखा गया।

चिकित्साशास्त्र

रोमन-सरकार ने जनता के स्वास्थ्य तथा सफाई का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया था। आधुनिक अस्पतालों के संगठन की कल्पना रोमन सभ्यता की देन है। बड़े शहरों में चिकित्सक सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते थे तथा सरकार से वेतन पाते थे। सेना के लिए अस्पताल तथा चिकित्सक अलग से नियुक्त किए गए थे।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी रोमनों ने अपनी प्रतिभा के अनुसार व्यावहारिक क्षेत्र में ही दिलचस्पी दिखायी। चिकित्साशास्त्र के सैद्धांतिक अध्ययन तथा विवेचन में रोमनों ने विशेष उन्नति नहीं की, पर चिकित्सा-संबंधी संस्थाओं के संगठन तथा विकास में इन लोगों ने अपनी व्यावहारिक प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया।

गैलेन (१३० ई०—२०० ई०)

यह रोमन युग का सबसे वड़ा चिकित्सक था। यह रोमन साम्राज्य के पूर्वी भाग में स्थित परगैमम का निवासी था। इसकी शिक्षा ग्रीक प्रभावित अलेक्जैंड्रिया में हुई थी। रोम आने पर यह अत्यंत लोकप्रिय-चिकित्सक हो गया। इसने श्वास-प्रणाली, रीढ़, हृदय तथा पेशियों का अध्ययन किया। शरीर के इन अंगों की व्याख्या चिकित्साशास्त्र में गैलन की वहुमूल्य देन थी। इसने ग्रीक के प्रसिद्ध चिकित्सक हिपोकेटस की परंपरा को पुनर्जीवित किया।

निर्माण-कार्य

रोमन लोग व्यवहारकुशल होने के कारण निर्माण-कार्य में अत्यंत कुशल थे। भवन-निर्माण के साथ इन लोगों ने अनेक सड़कों तथा पुलों का भी निर्माण किया। भवन-निर्माण आदि में भी रोमनों ने सौंदर्य-प्रदर्शन की अपेक्षा व्यावहारिकता तथा उपादेयता पर अधिक जोर दिया। इसलिए रोमन लोगों की वनायी इमारतें ग्रीक इमारतों की अपेक्षा अधिक ठोस तथा शानदार थीं। ग्रीक लोग कलात्मक तथा सुंदर भवनों एवं मंदिरों के निर्माण में सफल हुए, पर भड़कीली तथा वड़ी-वड़ी इमारतें वे नहीं वना सके। रोमनों की इमारतों में उनकी कलात्मक प्रवृत्ति से अधिक उनकी इंजीनियरिंग की कुशलता का प्रमाण मिलता है। मेहराव और गुंवद के सहारे उन लोगों ने विशाल इमारतें वनायीं। इन लोगों ने कंक्रीट का व्यवहार आरंभ किया, जिससे निर्माण का खर्च कम हो गया। आगस्टस के युग में रोम नगर संगमरमर के भव्य भवनों, मंदिरों तथा स्नानागारों से सज कर रमणीक वन गया। प्रारंभ में ईसाई गिरजों का निर्माण रोमन पद्धति पर ही हुआ। स्नानागारों का

निर्माण रोमनों ने स्वतंत्र रूप से किया। रोमन सम्राटों को फोरम तथा स्नानागार बनवाने का बड़ा शौक था। ये स्नानागार बहुत कुशलता से बनवाए जाते थे। इनमें गर्म और ठंढे पानी से नहाने का अलग-अलग प्रबंध था। स्नान के बाद कसरत करने का भी प्रबंध रहता था तथा पुस्तकालय भी होता था। एक-एक स्नानागार में सोलह सौ व्यक्ति स्नान कर सकते थे। फोरम में नागरिक बैठ कर गंभीर प्रश्नों पर विचार-विमर्श करते थे। फोरम रोमन नागरिक के सामाजिक, राजनैतिक तथा सार्वजनिक जीवन का केंद्र था। रोमन नागरिकों का बहुत अधिक समय फोरम में ही बीतता था। इससे रोम के कई सम्राटों ने बहुत शौक से फोरम बनवाए। इसके अतिरिक्त, रोमनों ने बहुत से भव्य मंदिर तथा जलमार्ग बनवाए। रोमन साम्राज्य के प्रांतों में सड़कों तथा पुलों का निर्माण रोमन प्रतिभा की व्यवहारकुशलता का प्रमाण थी। रोम नगर में कई गिरजाघर चौथी शताब्दी ईस्वी के हैं।

मूर्तिकला

रोमन मूर्तिकला अन्य कलाओं की भाँति यूनानी मूर्तिकला से प्रभावित थी। रोम नगर में असंख्य मूर्तियाँ यूनान-विजय के समय यूनान से ही लायी गई थीं। पर, रोमन मूर्तिकारों ने स्वतंत्र शैली को भी जन्म दिया था।

उन लोगों ने मानव-शरीर के ऊपरी अर्द्धभाग की मूर्ति बनाने की कला का विकास किया। ऐसी मूर्तियाँ बस्ट (Bust) कही जाती थीं। पर, रोम के मूर्तिकार ग्रीक मूर्तिकारों की तरह सूक्ष्म सौंदर्य-भावना का परिचय नहीं दे सके। लेकिन, मनुष्य की स्वाभाविक मूर्तियाँ बनाने में वे सफल रहे।

विद्वत्ता के अन्य क्षेत्र

शिक्षा के क्षेत्र में क्विटिलियन (३५ ई०—९५ ई०) ने शिक्षा-प्रणाली पर पुस्तक लिखी। शिक्षाशास्त्री आज भी इस पुस्तक का अध्ययन करते हैं।

फ्रौंटियस (४० ई०-१०३ ई०) ने इंजीनियरिंग पर प्रथम पुस्तक लिखी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोम ने अपनी व्यावहारिक प्रतिभा तथा संगठन-शक्ति के द्वारा यूरोपीय सभ्यता की पृष्ठभूमि तैयार की। अपने सुस्पष्ट कानून, प्रौढ़ एवं समृद्ध लैटिन भाषा तथा भव्य-निर्माण-कार्य के द्वारा रोमन जाति ने विश्व-सभ्यता को समृद्ध किया। बौद्धिक एवं सैद्धांतिक क्षेत्र में रोमनों ने यूनानी लोगों की तरह उन्नति नहीं की। पर कला, विज्ञान एवं साहित्य को उन्होंने यूनानी लोगों से ही सीख कर उस पर अपनी प्रतिभा की छाप छोड़ दी। लेकिन साम्राज्य-संगठन, सैन्य-विधान, कानून तथा निर्माण-कार्य में रोमन लोगों की व्यावहारिक प्रतिभा की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई। इन क्षेत्रों में इनकी देन अद्वितीय तथा अमर है।

●

८. ईसाई धर्म का उदय एवं प्रसार

पृष्ठभूमि

रोमन साम्राज्य की धार्मिक परंपरा

ईसा के जन्म के पहले रोमन साम्राज्य का प्रसार यूरोप के वहुत बड़े भाग के अतिरिक्त पश्चिमी एशिया के कई देशों में भी हो चुका था। जिस शताब्दी में ईसाई धर्म का जन्म हुआ, उस शताब्दी में रोमन साम्राज्य प्रसार एवं संस्कृति की दृष्टि से अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। इस विशाल रोमन साम्राज्य में कई भाषाओं के वोलने वाले तथा कई धर्मों के मानने वाले रहते थे। रोम प्राचीन देवताओं जुपिटर (वृहस्पति) तथा मार्स (मंगल) के अतिरिक्त मिस्र, यूनान तथा फिलस्तीन आदि देशों के कई देवताओं की पूजा होने लगी। इन देशों से कई धार्मिक प्रक्रियाएँ भी रोम में प्रचलित हो गईं। मिस्र से इसिस की पूजा रोम में प्रचलित हो गई थी। फिर मिस्र देवता की पूजा भी पूरवी देशों से रोम में पहुँच गई।

सम्राट-पूजा

रोमन साम्राज्य के प्रांतों में इन देवताओं की पूजाएँ होती थीं। इस वहुरंगी साम्राज्य को एक सूत्र में आवद्ध करने के लिए रोमन सम्राटों ने सम्राट-पूजा प्रचलित की। इस साम्राट-पूजा का प्रारंभ आगस्टस ने कराया। साम्राज्य के पूरवी भाग में मनुष्यों को देवता-रूप में पूजना कोई नई बात नहीं थी; क्योंकि ग्रीक पौराणिक कथाओं में कई ऐसे वीरों का वर्णन था, जो मरणोपरांत देवता मान लिए गए थे। सिकंदर ने अपने को देवता घोषित किया था। मिस्र में फराओ देवता माने जाते थे। हम्मूरावी तथा सारगन वेविलोन में देवता माने गए थे। जब रोमन सेनापतियों ने पूरवी देशों की विजय की, तो उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि वहुत जगहों पर उन्हें देवताओं की तरह सम्मान मिला। लेकिन, रोम में यह वात नहीं थी।

अतः, सम्राट-पूजा पूरवी देशों से प्रारंभ होकर धीरे-धीरे रोम में भी पहुँची। रोम में देवता की तरह पूजित होने की वात आगस्टस को पसंद नहीं थी। पूरवी देशों में इस पूजा के प्रचार से आगस्टस को कई राजनैतिक लाभ दृष्टिगोचर हुए। सवसे वड़ा लाभ यह था कि यह पूजा समस्त साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधने का साधन बन गई। इससे सम्राट को साम्राज्य के विभिन्न भागों से, जो लोग उनकी पूजा के लिए आते थे, उनसे संपर्क स्थापित करने में सुविधा हुई। जब आगस्टस को

ये राजनैतिक लाभ दृष्टिगोचर हुए, तब उसने इसका प्रचार कराया। गाल (फ्रांस) तथा जर्मनी में उसने बलपूर्वक लोगों से अपनी पूजा करायी।

रोम और यहूदी

समस्त साम्राज्य में केवल यहूदी नामक जाति इस सम्राट-पूजा से मुक्त थी। यहूदी एकेश्वरवादी थे। वे जेहोवा की पूजा करते थे तथा जेहोवा के अतिरिक्त किसी की पूजा उनके यहाँ वर्जित थी। जेहोवा ही उनका ईश्वर था। यहूदियों का जीवन हजरत मूसा द्वारा प्रणीत व्यवहारशास्त्र से नियंत्रित था, जिसे 'तोरा' (Torah) कहते थे। यहूदियों के पुरोहित या शिक्षक, जो राबी कहलाते थे तोरा की व्याख्या करते थे तथा यहूदी बालकों को शिक्षा देते थे। संपूर्ण यहूदी धर्मशास्त्र को 'तालमुड' (Talmud) कहा जाता था। यहूदी मंदिरों को 'सिनागौज' (Synagogue) कहते थे। वहाँ पूजा होती तथा धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। यहूदियों के पुरोहित जेहोवा की पूजा को किसी भी विदेशी प्रभाव से मुक्त रखना चाहते थे।

जेरूसेलम

रोमन साम्राज्य के जेरूसेलम प्रदेश में यहूदी बहुत बड़ी संख्या में रहते थे। रोमन सेनापति पाम्पी ने जेरूसेलम पर विजय प्राप्त की थी। पैलेस्टाइन में आगस्टस के शासनकाल में लगभग चालीस लाख यहूदी थे। उसने पैलेस्टाइन के दक्षिणी भाग को जुडाइया (Judaea) के प्रांत में परिणत कर दिया तथा पैलेस्टाइन देश के शेष भाग गैलिली (Galilee) और जोरडान के पूर्वी भाग को स्थानीय हेरोड राजवंश के हवाले कर दिया। जेरूसेलम जुडाइया के प्रांत में स्थित था।

जुडाइया के प्रांत तथा जेरूसेलम का शासन एक रोमन गवर्नर किया करता था। पर, रोमन गवर्नर यहूदियों के धार्मिक तथा अन्य भावनाओं के विषय में नहीं के बराबर हस्तक्षेप करता था। यहूदियों को प्रसन्न रखना शांति एवं सुव्यवस्था के लिए आवश्यक था। रोमन शासक यहूदियों से डरते थे। इसी कारण यहूदियों को कुछ रियायतें दी गईं, जो अन्य धर्मावलंबियों को नहीं प्राप्त थीं। व्यापार के सिलसिले में यहूदी रोमन साम्राज्य के अन्य भागों में भी जाकर बस गए थे तथा उन लोगों ने अपने धर्म का भी प्रचार विभिन्न स्थानों में किया था। विशेषतः एशिया माइनर में यहूदियों को अपने धर्म के प्रचार में काफी सफलता मिली थी। उनके धर्म की पवित्रता तथा उनके स्वच्छ आचरण से कुछ लोग प्रभावित हुए थे। पर, यहूदी धर्म ऐसा लोकप्रिय धर्म नहीं था, जिसे साधारण जनता बहुत बड़े पैमाने पर अपना सके।

ईसा का जीवन-वृत्त

प्रारंभिक जीवन

इन्हीं यहूदियों के देश में ईसाई धर्म का जन्म और विकास हुआ। ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक महात्मा ईसामसीह का जन्म ४ ई०-पू० में पैलेस्टाइन के जुडाइया प्रांत के बीथलहेम (Bethlehem) नामक स्थान पर हुआ था। पर, ईसा के जीवन का बहुत बड़ा अंश गैलिली प्रदेश के नाजरेथ (Nazareth) नामक स्थान पर बीता। इसी कारण वे 'नाजरेथ के जीसस' नाम से प्रसिद्ध थे। ईसा का नाम जीसस यीशु या जीसस था। ईसा या जीसस का जन्म एक बढ़ई-परिवार में हुआ था।

यहूदियों में बहुत दिनों से यह विश्वास प्रचलित था कि उनके यहाँ किसी दिन एक मसीहा या रक्षक जन्म लेगा। यह मसीहा जेहोवा ईश्वर की ओर से उनके बीच धार्मिक सुधार, शांति तथा राजनैतिक स्वतंत्रता को स्थापित करने के लिए भेजा जाएगा। यहूदियों के पैगंबरों ने बराबर एक मसीहा के आने की चर्चा की थी।

ईसा को बचपन में 'जॉन' नामक शिक्षक से शिक्षा मिली थी। जॉन एक लोकप्रिय शिक्षक था। जान ने भी इस बात पर जोर दिया कि यहूदियों की रक्षा के लिए एक मसीहा जन्म लेगा। जॉन को रोमन अधिकारियों ने फांसी दे दी। जीसस ने करीब ३० वर्ष की अवस्था से अपने उपदेशों का प्रचार करना प्रारंभ किया। उसका हृदय करुणा से पूर्ण था तथा समाज के उपेक्षितों, उत्पीड़ितों और दरिद्रों की दयनीय दशा को देख कर द्रवित हो जाता था। इसी कारण उसने अपने उपदेशों में गरीबों तथा उपेक्षितों के प्रति बहुत सहानुभूति दिखलाई। जीसस ने दया, प्रेम, सहानुभूति तथा न्याय पर अधिक जोर दिया। जीसस ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि मनुष्य को सभी मनुष्यों से प्रेम करना चाहिए।

धर्म-प्रचार

जीसस का जन्म किसी धनी कुल में नहीं हुआ था। इस कारण उसके पास भी धन नहीं था तथा वह समाज का कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति नहीं था। वह साधारण जनता से सहानुभूति रखता था; क्योंकि वह स्वयं साधारण परिवार का था। इस कारण उसकी तथा उसके उपदेशों की लोकप्रियता साधारण जनता में बढ़ती गई। इसके अतिरिक्त उसका व्यक्तित्व अत्यंत मोहक तथा प्रभावोत्पादक था। वह अत्यंत सुंदर, मृदुभाषी तथा प्रेमपूर्ण हृदय का था। दुःखी व्यक्तियों को देखकर उसका हृदय पिघल जाता था। वह किसी पीड़ित से घृणा नहीं करता था। घृणित रोगों से पीड़ितों की भी सेवा करने से हिचकता नहीं था। बाइबिल के अनुसार उसने

कोढ़ियों तथा अंधों आदि को भी अपने स्पर्श-मात्र से रोगमुक्त कर दिया। इस तरह जीसस ने घूम-घूम कर पीड़ितों तथा रोगियों की सेवा करना और अपने उपदेशों का प्रचार करना शुरू किया। साधारण जनता ने उनके मोहक व्यक्तित्व तथा आश्चर्यजनक कार्यों से प्रभावित होकर उसे अपना मसीहा मान लिया। साधारण जनता में यह बात फैल गई कि जिस मसीहा के अवतरित होने का संदेश पैंगंबरों ने दिया था, वह मसीहा जीसस ही है। इस प्रकार जीसस के अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। उसने भी अपने को मसीहा घोषित किया तथा कहा—"मैं यहूदियों का राजा हूँ।" उसने यहूदी धर्म की वहुत-सी बातों की कटु आलोचना की। उसके उपदेश का ढंग पैंगंवरों से भी अधिक प्रभावोत्पादक था। उसने अपने को 'ईश्वर का पुत्र' भी घोषित किया।

जीसस का विरोध तथा मृत्यु

जीसस की इन्हीं घोषणाओं के कारण उसका विरोध प्रारंभ हुआ। यहूदी जाति प्रारंभ से ही बहुत कट्टरपंथी जाति थी। उनकी कट्टरता के ही कारण रोमन गवर्नर भी उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करते थे। अतः, यहूदी पुरोहितों ने स्वाभाविकतया जीसस का विरोध करना प्रारंभ किया। वे यह वात मानने को तैयार नहीं थे कि कोई मनुष्य ईश्वर का पुत्र हो सकता है तथा अपने को मसीहा घोषित कर सकता है। फिर, यहूदी पुरोहितों की कल्पना के अनुसार मसीहा एक शक्तिशाली राजा होगा, जो उन्हें रोमन शासन से मुक्त करेगा। इसी कारण उन लोगों ने ईसा की मसीहा तथा ईश्वर का पुत्र मानने से इनकार किया और उसे धर्म का विरोधी एवं पाखंडी घोषित किया।

जीसस के बहुत से अनुयायी हो चुके थे। उसके प्रधान शिष्यों में बारह प्रमुख थे, जिन्हें 'बारह शिष्य' (Twelve Apostles) के नाम से पुकारा जाता है। तीन वर्ष तक अपने धार्मिक विचारों का प्रचार करने के वाद, जीसस एक दिन जेरूसेलम गया। यहूदी धर्म के सवसे बड़े धर्माधिकारी यहीं रहते थे। जेरूसलम में भी वह अपने धर्म का प्रचार कर चुका था। जेरूसेलम के कट्टर-पंथी पुरोहित जीसस की स्पाष्टवादिता से तंग आ चुके थे। जीसस के सिद्धांतों की लोकप्रियता से उनके धर्म पर कुठाराघात होता था। अतः, इस बार जब जीसस जेरूसेलम पहुँचा, तब पुरोहितों ने उसे दंड देने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। एक रात को जब जीसस भोजन के उपरांत अपने बारह शिष्यों के साथ सोया था, रात को प्रधान पुरोहित के आदमियों द्वारा गिरफ्तार किया गया। बाइविल के अनुसार जीसस के बारह शिष्यों में से एक (जूडास) ने उसे धोखा दिया तथा उसे गिरफ्तार कराने में पुरोहितों का साथ दिया। गिरफ्तार होने के बाद उसके अन्य शिष्यों ने भी साथ नहीं दिया तथा कह बैठे कि

वे उसे जानते तक नहीं। जीसस गिरफ्तारी के बाद प्रधान पुरोहित कैफस के सामने मंदिर में पेश किया गया तथा साधारण पूछताछ के बाद राजद्रोही, धर्मविरोधी और पाखंडी करार दिया गया। तत्पश्चात् उसे अपराधी सिद्ध कर रोमन गवर्नर पाइलेट के यहाँ भेज दिया गया। पाइलेट के विचार में जीसस बहुत अंश तक निर्दोष प्रतीत हुआ। पर, यहूदियों तथा पुरोहितों के दवाव के कारण उसे मजबूर होकर जीसस को राजद्रोही एवं अपराधी मान कर सूली देनी पड़ी। सूली देने के पहले जीसस को घोर अपमान तथा यातनाएँ सहनी पड़ी। उसे सूली के तख्ते को ढोना पड़ा तथा काँटों का ताज पहनना पड़ा। २९ ई० में वसंत ऋतु में, शुक्रवार को, जेरूसेलम के बाहर, एक पहाड़ी पर, दो चोरों के साथ, जीसस को सूली दी गई।

मृत्यु का परिणाम

जीसस की मृत्यु ने उसके धर्मप्रचार को अमर कर दिया। उसकी मृत्यु उसके धर्मप्रचार की पराकाष्ठा सिद्ध हुई। रोमन गवर्नर ने समझा कि बात खत्म हो गई। उसने जेरूसलम में शांति स्थापित करने के लिए जीसस को सूली पर चढ़ाया। पर, वास्तव में जीसस की मृत्यु के पश्चात् इसके धर्म का प्रचार वड़े पैमाने पर प्रारंभ हुआ।

जीसस के अनुयायियों की दृष्टि में जीसस वास्तविक मसीहा सिद्ध हुआ, जिसने हँसते-हँसते सारी यातनाओं का सामना किया। जीसस ने सूली पर भी कहा—"पिता! इन्हें क्षमा करो; क्योंकि ये नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं।"

ईसाइयों के धार्मिक विश्वास के अनुसार जीसस अपनी मृत्यु के वाद चालीस दिनों तक अपने शिष्यों तथा प्रेमियों के बीच दैवी ज्योति से युक्त होकर प्रगट होता रहा तथा समस्त विश्व में अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए उन्हें अनुप्राणित करता रहा। मृत्यु के पश्चात् पुनः प्रगट होकर अपने शिष्यों को अनुप्राणित करने की घटना को ईसाई धर्म में 'रिसरेक्शन' (Resurrection) कहते हैं। यह ईसाई धर्म का मूल मंत्र है। इस घटना से उसके शिष्यों को उसके मसीहा होने में तनिक भी संदेह नहीं रहा। उसकी मृत्यु से उनके हृदय में जो निराशा उत्पन्न हुई थी, वह आशा, विश्वास तथा प्रसन्नता में परिणत हो गई। उनका उत्साह द्विगुणित हो गया।

जीसस के उपदेश

जीसस के उपदेश सीधे-सादे थे तथा मानव जाति के कल्याण एवं प्रेम की भावना से ओतप्रोत थे। उसके उपदेशों में गरीबों, पीड़ितों एवं उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति और प्रेम का संदेश था। उसने यहूदी धर्म की बहुत-सी बातों को नए ढंग से कहा। जीसस ने कहा था—"मैं पुराने धर्म को विनष्ट करने नहीं आया हूँ, वरन् उस धर्म को पूर्ण बनाने आया हूँ।"

यहूदियों का यह दृढ़ विश्वास था कि संसार की रक्षा के लिए एक मसीहा जन्म लेगा। जीसस ने कहा—"पैगंबरों ने जिस मसीहे की चर्चा की है, वह मसीहा मैं ही हूँ। मैं मानव जाति को पाप से बचाने आया हूँ। मैं ईश्वर का पुत्र हूँ तथा मेरा राज्य सांसारिक नहीं, वरन स्वर्गीय है। जो मेरे अनुयायी हैं, वें इस स्वर्गीय राज्य के अधिकारी हैं।"

जीसस ने दीनों, दलितों एवं उपेक्षितों को असीम आशा का संदेश दिया। उसने कहा—"तुम गरीब धन्य हो; क्योंकि ईश्वरीय राज्य तुम्हारा ही है। जो आज रोते हैं, वे ही हँसेंगे। जो भूखे हैं, वे ही संतुष्ट होंगे। जो विनम्र हैं, वे ही इस पृथ्वी के स्वामी होंगे।"

जीसस ने यहूदियों को विश्वास दिलाया कि वह कोई नई बात नहीं कह रहा है, वरन् प्राचीन पैगंबरों ने जो कहा है, वह उसी बात को पूर्ण कर रहा है। उसने कहा "मैं वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था का विनाश करने नहीं आया हूँ, वरन् इसे पूर्ण बनाने आया हूँ।"

जीसस ने दया, करुणा तथा हृदय की पवित्रता पर अधिक जोर दिया। उसने कहा, "जिनके हृदय में दया है, वे धन्य हैं; क्योंकि ईश्वर के दरवार में उन्हें ही दया मिलेगी। जिनका हृदय पवित्र है, वे धन्य हैं; क्योंकि ईश्वर के साक्षात्कार के वे ही अधिकारी हैं।"

जीसस ने क्षमाशीलता एवं शांति पर बहुत अधिक जोर दिया तथा अपने जीवन में इस आदर्श को चरितार्थ भी किया। जीसस ने कहा, "प्रतिशोध की भावना निंदनीय है। पुराने शिक्षकों ने कहा है—"एक आँख के बदले, एक आँख ले लो। एक दाँत कोई तोड़े, तो उसका भी एक दाँत तोड़ दो। पर मैं कहता हूँ, बदला मत लो। यदि कोई एक गाल पर एक थप्पड़ मारे, तो उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो। जो तुम्हारा कोट छीनना चाहे, उसे कमीज भी दे दो। शांति के प्रेमी धन्य हैं; क्योंकि वे ही ईश्वर की सच्ची संतान हैं।" जीसस मानव-प्रेम का प्रतीक था तथा उसने मानव-प्रेम के आदर्श को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। जीसस ने कहा, "पुराने पैगंबरों ने कहा है—"अपने पड़ोसी से प्यार करो तथा शत्रु से घृणा करो। पर, मैं कहता हूँ कि अपने शत्रुओं को भी प्यार करो, जो तुन्हें अभिशाप दें, उन्हें आशीर्वाद दो। जो तुमसे घृणा करें, उनकी भलाई करो ! जो तुमसे नाजायज फायदा उठाते है तथा तुम पर अत्याचार करते हैं, उनकी भलाई के लिए ईश्वर से प्रार्थना करो; क्योंकि तुम्हारा स्वर्ग में रहने वाला पिता ईश्वर, बुरे और अच्छे, सभी पर सूर्य की रश्मियों को बिखेरता है तथा सभी को वर्षा की बूँदों से शीतल करता है।"

जीसस ने एकांत में ईश्वर की प्रार्थना करने का उपदेश दिया तथा दान, व्रत करने के बाद उसका प्रचार करना अनुचित वतलाया। उसने कहा, "जो लोग अच्छे काम करने के बाद उसका प्रचार करते हैं, वे केवल प्रचार चाहते हैं, ईश्वर को प्रसन्न करना नहीं चाहते।"

जीसस ने धन इकट्ठा करने की प्रवृत्ति की भी भर्त्सना की। उसने कहा, "तुम्हें ईश्वर के लिए धन और लोभ का त्याग करना पड़ेगा। ईश्वर तथा धन दोनों की उपासना नहीं हो सकती। तुम्हारा पिता तुम्हारे भोजन और वस्त्र का प्रवंध करेगा। पक्षियों को देखो, फूलों को देखो। पक्षियों को भोजन ईश्वर देता है तथा फूलों का शृंगार भी वही करता है। इसलिए तुम ईश्वर के राज्य की तलाश करो। पवित्रता तथा सदाचार से रहो, तुम्हें सब कुछ मिल जाएगा।"

जीसस ने दूसरे लोगों की आलोचना करने की प्रवृत्ति की भी निंदा की। उसने कहा, "किसी के आचरण अथवा कर्त्तव्य की निंदा मत करो, अन्यथा तुम्हारी भी निंदा होगी।"

इस प्रकार जीसस ने सदाचारपूर्ण एवं पवित्र जीवन पर जोर दिया। उसने संन्यास का आदर्श नहीं उपस्थित किया, वरन् सांसारिक जीवन का आनंद उठाते हुए, घृणा, असत्य, प्रतिद्वंद्विता तथा हिंसा से दूर रहने का उपदेश दिया। उसके उपदेश संसार के अन्य महापुरुषों के उपदेशों से मिलते हैं। उसके नैतिक आदर्श समस्त मानव जाति के लिए हैं; क्योंकि उनमें शांति, आंतरिक पवित्रता, उदारता तथा विनम्रता-जैसे उदात्त गुणों पर जोर दिया गया है। ईश्वर का पितृत्व तथा समस्त मानव जाति का वंधुत्व जीसस के उपदेशों का मूल मंत्र है। साथ ही, जीसस ने अपने को 'ईश्वर का पुत्र' वतलाया। आज भी ये तत्त्व ईसाई धर्म की आधारशिला माने जाते हैं।

ईसाई धर्म का प्रचार

जीसस के बाद ईसाई धर्म का प्रचार करने वाले जीसस के बारह शिष्य थे, जिन्हें ईसाई धर्म के इतिहास में 'एपोसलस' (Apostle) की संज्ञा दी गई है। इन्हीं लोगों ने जीसस या ईसामसीह की मृत्यु के बाद जेरूसेलम, जुडाइया तथा गैलिनी आदि प्रदेशों में ईसाई धर्म का प्रचार किया। एशिया माइनर तथा मिस्र में भी ईसाई धर्म के प्रारंभिक प्रसार का श्रेय इन्हीं लोगों को है। कुछ दिनों तक ईसाई धर्म का प्रचार यहूदी लोगों तक ही सीमित रहा। ईसामसीह के बारहो शिष्य तथा अन्य अनुयायी यहूदी ही थे। ईसाई धर्म के अधिकतर प्रारंभिक अनुयायी साधारण कोटि के मनुष्य थे। यहूदी धर्म के नेता ईसाई धर्म के विरुद्ध थे। अतः, इन नेताओं ने ईसाई धर्म

के मानने वालों को उसी तरह सताया, जिस तरह ईसामसीह को सताया था। बहुत-से ईसाई धर्म के मानने वाले कैद किए गए तथा कुछ मारे भी गए।

संत पाल द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार

ईसाई धर्म को यहूदियों की सीमा के बाहर निकाल कर सर्वप्रथम विश्वजनीन रूप देने का श्रेय संत पाल को है। अभी तक ईसाई धर्म के मानने वाले अपने को यहूदी ही समझते थे। उन्हें जेहोवा में विश्वास था तथा वे यहूदी सामाजिक प्रथाओं का पालन करते थे। यहूदी समाज की कुछ रूढ़ियाँ तथा प्रथाएँ ईसाई धर्म को विश्वजनीन रूप देने में बाधक हो रही थीं। यहूदियों के अलावा अन्य धर्मों के मानने वाले उन रूढ़ियों के कारण ईसाई होने में हिचकते थे। संत पाल ने इस बात को समझा तथा ईसाई धर्म को और उदार बना कर उसका दरवाजा अन्य धर्मावलंबियों के लिए भी खोल दिया।

संत पाल का वास्तविक नाम साल (Saul) था। वे टार्सस (Tarsus) के निवासी थे। एशिया माइनर के दक्षिणी भाग में टार्सस एक ग्रीक नगर था। ईसाई धर्म के इतिहास में साल 'संत पाल' के नाम से ही विशेष प्रसिद्ध है। संत पाल ग्रीक संस्कृति में पले हुए, एक प्रगाढ़ विद्वान थे। वे यहूदी थे तथा रोमन नागरिक भी थे। प्रारंभ में वे ईसाई धर्म के पक्के विरोधी थे। उन्होंने ईसाइयों को सताया भी था। उनका अकस्मात् ईसाई होना, ईसाई-धर्म के इतिहास की एक विशिष्ट घटना है। परंपराओं के अनुसार एक बार जब वे जेरूसेलम से दमिश्क जा रहे थे, तब रास्ते में उन्हें ऐसा आभास हुआ कि ईसामसीह उनके आगे खड़े हो कर कह रहे हों—"तुम मेरे अनुयायियों को सता कर मुझे सता रहे हो।" इस दैवी प्रेरणा ने साल को संत पाल में परिणत कर दिया। संत पाल अपनी विशिष्ट प्रतिभा, गंभीर विद्वत्ता, अमर प्रेरणा तथा अपने अदम्य उत्साह से ईसाई धर्म के महान प्रचारक सिद्ध हुए। तथा घूम-घूम कर उन्होंने ईसामसीह के संदेश को कांस्टेंटीनोपुल, एथेंस एवं रोम तक पहुँचा दिया। ईसाई धर्म के वास्तविक प्रचार का श्रेय वस्तुतः संत पाल को ही है।

शीघ्र ही सीरिया का एंटिओक (Antioch) नगर ईसाई धर्म का केंद्र बन गया। ४२ ई० में, पहले-पहल, यहीं ईसाई धर्म के मानने वालों को क्रिश्चियन (Christian) या मसीही की संज्ञा प्राप्त हुई। यहीं से संत पाल तथा उनके समर्थकों ने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए प्रयाण किया। बीस वर्षों तक संत पाल तथा उनके साथियों ने घूम-घूम कर प्रचार-कार्य को जारी रखा। इस कार्य के सिलसिले में उन

लोगों को अनेक शारीरिक यातानाएँ झेलनी पड़ीं, समुद्रयात्रा की भीषण कठिनाइयों को झेलना पड़ा, टूटे जहाजों में चलना पड़ा, बहुतेरे अपमान सहने पड़े और कई बार बंदी भी बनना पड़ा। ६२ ई० में, संत पाल को रोम में शहीद होना पड़ा। इस प्रकार संत पाल ने ईसाई धर्म को रोम तक पहुँचा दिया। उनके नेतृत्व में ईसाई धर्म वस्तुतः विश्वजनीन बन गया। संत पाल प्रारंभिक ईसाई चर्च के संगठनकर्त्ता के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। उन्होंने ही ईसाई चर्च के संगठन की आधारशिला रखी। उनके पत्र न्यू टेस्टामेण्ट में संगृहीत हैं।

●

९. प्राचीन चीन की सभ्यता

चीन की सभ्यता का मानव जाति के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। आधुनिक काल में भी चीन एक शक्तिशाली और प्रभावशाली राष्ट्र है। इस देश में विश्व की जनसंख्या का चौथाई भाग रहता है। जनसंख्या की दृष्टि से यह विश्व का सबसे बड़ा राष्ट्र है और क्षेत्रफल की दृष्टि से सोवियत यूनियन के बाद यह दूसरा राष्ट्र है। चीनी भाषा बोलने वालों की संख्या संसार में बहुत अधिक है। इस सभ्यता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी धारा करीब तीन हजार वर्षों से अबाध गति से बहती आ रही है। प्राचीन विश्व की अन्य सभ्यताएँ मिट गईं और केवल इतिहास के पन्नों तक सीमित रह गईं, पर चीनी सभ्यता आज भी जीवित है। प्राचीन मिस्र, प्राचीन बैबिलोनिया या प्राचीन यूनान की सभ्यताएँ अब जीवित नहीं, पर चीन की सभ्यता बहुत कुछ अपने प्राचीन रूप में ही जीवित है।

चीन की भौगोलिक विशेषताएँ

चीन का पूरा क्षेत्रफल करीब सैंतीस लाख वर्गमील है। यह क्षेत्रफल संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के क्षेत्रफल से भी अधिक है और जापान की तुलना में पचीस गुना बड़ा है। चीन का बहुत बड़ा भाग पहाड़ी है और खेती के लायक नहीं है। इसलिए खेती के लायक जमीन बहुत कम है। प्रकृति ने चीन देश को विदेशी आक्रमणों से एक तरह से सुरक्षित कर दिया है, उसकी पूर्वी सीमा पर प्रशांत महासागर है, जो दुनिया का सबसे बड़ा समुद्र है। दक्षिण और पश्चिम में विशाल पर्वतमालाएँ एवं रेगिस्तान हैं। दक्षिणी सीमा करीब पाँच हजार मिलों तक दुनिया की सबसे बड़ी पर्वतमालाओं—हिमालय, काराकोरम और पामीर से सुरक्षित है। पश्चिम में दो बड़े रेगिस्तान हैं। पहला रेगिस्तान है, तुर्किस्तान का तकला मकान और दूसरा, मंगोलिया का गोबी। इस सुरक्षित सीमा के कारण प्राचीनकाल में चीन विदेशी आक्रमणों से अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कुछ सुरक्षित रहा। जिस तरह हिंदुस्तान का इतिहास विदेशी आक्रमणों से भरा है, चीन का इतिहास उससे भिन्न है।

चीन देश को यांगजी नदी और एक केंद्रीय पर्वतमाला दो भागों में विभक्त कर देती है। ये दो प्रमुख भाग हैं—उत्तर और दक्षिण। उत्तरी भाग की मिट्टी पीले रंग की है, जहाँ ह्वांग-हो नदी बहती है जिसका अर्थ होता है—पीली नदी। इस भाग के लोगों का रंग भी अधिक पीला होता है। जमीन काफी उपजाऊ है। ह्वांग-हो नदी बरसात के दिनों में काफी भयंकर हो जाती है और इसमें भयानक बाढ़ आती

है। इन बाढ़ों के कारण ही चीन के लोग इसे 'चीन की विपत्ति कहा करते थे। यह नदी अक्सर अपने मार्ग को भी परिवर्तित करती है। तीन हजार वर्षों के इतिहास में इसमें डेढ़ हजार वार बाढ़ आई है। लेकिन, कम्युनिस्टों के शासनकाल में इस नदी में बाँध बना कर इस नदी द्वारा होने वाली आफत को कम करने का प्रयत्न किया गया है। चीन में भीतरी प्रदेश के नौका-यात्रा के लिए जो सबसे अच्छी नदी है, वह है यांगजी, जो मध्य चीन से होकर बहती है। इस नदी में दो हजार मील तक स्टीमरें जा सकती हैं। सुदूर दक्षिण की सबसे प्रसिद्ध नदी सि-क्यांग है। इसमें भी बहुत दूर तक स्टीमरें जा सकती हैं।

उत्तरी चीन की तुलना में दक्षिणी चीन काफी हरा-भरा है। उत्तरी चीन में वर्षा कम होती है, इसलिए खेती की पैदावार कम है। दक्षिणी चीन में काफी वर्षा होने के कारण और जलवायु उष्ण होने के कारण चावल की पैदावार बहुतायत से होती है। यहाँ उत्तर की तुलना में पेड़ों की संख्या अधिक है। इसलिए यह प्रदेश हरा-भरा लगता है। इस प्रदेश में नहरों और तालाबों की अधिकता है। बहुत से लोग तो नावों पर ही रहते हैं। दक्षिणी प्रदेश में एक साल में दो या तीन फसलें पैदा की जाती हैं।

जलवायु की दृष्टि से संपूर्ण चीन में कई प्रकार की आबोहवा पायी जाती है। दक्षिणी प्रदेश में काफी गर्मी और उत्तरी प्रदेश में काफी ठंढ पड़ती हैं। उत्तरी चीन में साइबेरिया से ठंढी हवाएँ आने के कारण सर्दी कड़ाके की पड़ती है, लेकिन गर्मी का मौसम भी काफी उष्ण होता है। पर, साधारण तौर पर पूरे चीन की जलवायु उष्ण है। धूप यहाँ तेज होती है और पसीना काफी होता है। प्रशांत महासागर की मौसमी हवाओं से दक्षिणी प्रदेश में ग्रीष्म ऋतु में काफी वर्षा होती है। इससे दक्षिणी प्रदेश की उर्वरता भी बढ़ जाती है।

चीनी जाति की सभ्यताएँ

विश्व की अन्य जातियों की तरह चीनी जाति भी एक मिली-जुली जाति है। तिब्बती, हूण, मंगोल, मंचू और मियाओ (Miao) जाति के सम्मिश्रण से चीनी जाति बनी हुई है। मुख्य रूप से चीनी जाति मंगोल वंश की है। उनके चमड़े का रंग पीला होता है, बाल खड़े, मोटे और काले होते हैं। आर्य जाति की तुलना में उनके शरीर पर बाल बहुत कम होते हैं। उनकी मूँछ और दाढ़ी भी बहुत कम होती है। मंगोल जाति के लोगों के चेहरे की यह विशेषता होती है कि उनके गालों की हड्डियाँ उभरी होती हैं। उनकी आँखों का रंग काला या गहरा भूरा होता है। आँखें छोटी और तिरछी होती हैं। चेहरे अधिकतर गोल हुआ करते हैं।

चीनी भाषा संसार की प्राचीनतम भाषाओं में है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, इस भाषा को बोलने वालों की संख्या संसार में सबसे अधिक है। चीनी लिपि का प्रयोग केवल चीन में ही नहीं, बल्कि जापान और कोरिया में भी होता है। उस भाषा का लिखित इतिहास करीब चार हजार साल पुराना है। बैबिलोनिया की लिपि की तरह यह लिपि भी प्रारंभ में चित्रलिपि थी। इसमें वर्णमाला का अभाव था। प्रतीकों के द्वारा विचारों को व्यक्त किया जाता था। आज भी इस भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसके अक्षरों का ज्ञान आवश्यक है और इन अक्षरों को सीखना बहुत कठिन है। जो व्यक्ति जितने ही अक्षरों को जानता है, वह उतना ही बड़ा विद्वान माना जाता है। करीब एक हजार शब्दों का ज्ञान किसी भी व्यक्ति को सुशिक्षित बनने के लिए आवश्यक है। उत्तर और दक्षिणी चीन में बोली जाने वाली इस भाषा के विभिन्न रूप हैं, पर संपूर्ण देश में लिखित भाषा एक ही है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि पेकिंग और हांगकांग के रहने वाले दो चीनी आपस में मिलें, तो भले ही वे बातचीत न कर सकें, पर वे लिख कर एक दूसरे को समझ सकते हैं। बीसवीं शताब्दी में इस भाषा को साधारण बना कर जनोपयोगी बनाने की कोशिश की गई है।

चीनी सभ्यता का प्रारंभिक विकास

अन्य प्राचीन सभ्यताओं की तरह चीन की प्राचीन सभ्यता के उद्‌गम और विकास का इतिहास हमें स्पष्ट रूप से प्राप्त नहीं है। यद्यपि चीनी साहित्य में ऐतिहासिक सामग्री काफी है और प्राचीन में इतिहास लिखने का प्रचलन था, फिर भी चीनी सभ्यता के उद्‌गम के बारे में कुछ लिखा हुआ नहीं मिलता। चीन की दो सबसे पुरानी पुस्तकों के नाम हैं—(१) शी-चिंग (Shih-Ching) अर्थात काव्य-संग्रह, (२) दूसरी पुस्तक है शू-चिंग, (Shu-Ching) जिसका अर्थ हुआ—ऐतिहासिक कथाओं का संकलन। इन दोनों पुस्तकों से अत्यंत प्राचीन काल की सभ्यता का ज्ञान होता है। इन पुस्तकों से जिस सभ्यता का ज्ञान हमें मिलता है, वह आदिम सभ्यता नहीं, बल्कि एक विकसित सभ्यता थी। वास्तव में चीन के विद्वानों ने इस प्रारंभिक काल की सभ्यता के इतिहास में कोई दिलचस्पी नहीं दिखलायी। सिर्फ दो-ढाई सौ वर्षों से इस अत्यंत प्रारंभिक युग की सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने की ओर चीनी और पश्चिमी विद्वानों का ध्यान गया है।

पाश्चात्य विद्वानों ने चीनी सभ्यता के उद्‌गम के बारे में कई प्रकार के मत प्रकट किए। कुछ विद्वानों ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि चीनी सभ्यता का मूल मिस्र की सभ्यता में पाया जाता है। कुछ दिनों में यह विचार छोड़ दिया गया। फिर यह सिद्धांत प्रतिपादित किया गया कि बैबिलोनिया के लोगों ने चीन जाकर सभ्यता का विकास किया। यह सिद्धांत विशेषकर इस बात पर आधारित था कि सुमेर और चीन की लिपि में समानता है; क्योंकि दोनों ही चित्रलिपियाँ थीं।

फिर कुछ विद्वानों ने यह माना कि मध्य एशिया में ही चीनी सभ्यता और मेसोपोटामिया की सभ्यता की शुरुआत हुई। कुछ विद्वानों ने यह भी माना कि मध्य एशिया के रहने वालों ने मेसोपोटामिया से इस सभ्यता को चीन में फैलाया। कुछ विद्वानों ने यह भी मत प्रगट किया कि चीनी सभ्यता की शुरुआत यूरोप में हुई। फिर कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि चावल की खेती और भैंसों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि चीनी सभ्यता के विकास पर प्राचीन भारत की सभ्यता का बहुत वड़ा प्रभाव था। फिर तिब्बत और बर्मा के लोगों के साथ चीनी लोगों की वंशगत समानता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वर्मा और तिब्बत की ओर से ही चीन में सभ्यता का विकास हुआ। सवसे प्रचलित सिद्धांत यह है कि उत्तर-पश्चिम की ओर से चीन पर कई जातियों ने आक्रमण किया और इन लोगों ने चीन की आदिम जातियों को हरा कर सभ्यता का प्रसार किया। इन सिद्धांतों में किसी भी सिद्धांत को निर्णयात्मक मानना गलत है; क्योंकि जो प्रमाण हमें मिले हैं, वे निर्णयात्मक नहीं हैं।

जिस प्रकार मिस्र में प्राचीनतम सभ्यता का विकास नील नदी की घाटी में हुआ, मेसोपेटामिया में दजला और फरात की घाटी सभ्यता का केंद्र बनी और प्राचीन भारत में सिंधु और गंगा की घाटियों में सभ्यता का विकास हुआ, उसी प्रकार ह्वांग-हो नदी की घाटी में, उत्तर-चीन में, प्राचीनतम सभ्यता का विकास हुआ। उत्तर चीन की जमीन समतल है। इसमें जंगलों और पेड़ों का अभाव हैं; यहाँ की जमीन खेती के उपयुक्त थी, इसलिए इस घाटी में ही चीन की प्राचीनतम सभ्यता का विकास हुआ।

वहुत बड़ी संख्या में खुदाई में हड्डियों पर शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिससे हमें प्राचीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है। इन हड्डियों को देववाणी से संबद्ध माना जाता था या भविष्य जानने के लिए इन पर खुदाई की जाती थी; इसलिए इन्हें 'आरेकल बोन' (Oracle bone) कहा जाता है।। होनान प्रांत में आन्यांग (Anyang) जिले में ये हड्डियाँ बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं। इन हड्डियों पर वे प्रश्न खुदे रहते थे, जिन प्रश्नों को उस समय के लोग अपने पूर्वजों या देवताओं से पूछते थे। उन लोगों का यह विश्वास था कि इन प्रश्नों का उत्तर स्वप्नों के सहारे देवता उन्हें दे दिया करते हैं। इसलिए इन हड्डियों पर खुदे हुए लेख इस प्रारंभिक सभ्यता के ज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण साधन हैं। फिर खुदाई के द्वारा भी इस प्रारंभिक युग का इतिहास प्राप्त होता है।

यह कहना गलत नहीं होगा कि चीनी सभ्यता का विकास मुख्य रूप से चीन के अंदर ही हुआ। किसी दूसरे देश से यह सभ्यता पूर्ण रूप से लायी नहीं गई।

समय-समय पर विदेशी सभ्यता के प्रभाव इस सभ्यता पर पड़ते रहे।

सृष्टि के प्रारंभ के विषय में चीनी कथाएँ

प्रत्येक देश में सृष्टि के प्रारंभ के विषय में कल्पनाएँ की गईं और पौराणिक आख्यानों का विकास हुआ। चीन में भी इस विषय पर आख्यान बनाए गए। चीन में जिस कथा का विकास हुआ, उस पर चीनी संस्कृति की छाप है।

इस विषय में उनकी कल्पना बिल्कुल सरल थी। उनके अनुसार सृष्टि को प्रारंभ करने वाला एक विराट् पुरुष था, जिसका नाम था—पान-कू (Pan-Ku)। इसका शरीर अति विशाल था और यह दो रहस्यमय शक्तियों के संयोग से पैदा हुआ था। ये रहस्यमय शक्तियाँ थीं—यांग (Yang) नाम का पुरुष और यिन (Yin) नाम की स्त्री। पान-कू ने अठारह हजार वर्षों तक परिश्रम किया और रूखानी और मुँगड़े से ठोक-ठोक कर अंतरिक्ष में उड़ते हुए ग्रेनाइट पत्थरों को चंद्र, सूर्य, पृथ्वी और सितारों का रूप दिया। इनको बनाने के बाद उस व्यक्ति की मृत्यु हो गई। मरने के बाद उसका सिर पहाड़ों के रूप में परिवर्तित हो गया, उसकी छाती बादल और हवा के रूप में बदल गई और उसकी आवाज बिजली तथा मेघों के गर्जन के रूप में परिवर्तित हो गई। उसकी धमनियों ने नदियों का रूप धारण किया और उसकी नसें छोटी-छोटी पहाड़ियाँ और घाटियाँ बन गईं। उसके मांस से खेत बन गए, उसके बाल और चमड़ों ने पेड़-पौधों का रूप धारण किया। उसके दाँत, हड्डियाँ और मज्जा धातुओं एवं चट्टानों के रूप में परिवर्तित हो गईं। उसका पसीना वर्षा के पानी के रूप में परिवर्तित हो गया और अंत में जो कीड़े-मकोड़े उसके शरीर की ओर आकृष्ट हुए, उन्होंने मानव जाति का रूप धारण किया।

यह कहानी बिल्कुल मनगढ़ंत आख्यान है और चीनी विद्वानों ने इस आख्यान को बहुत महत्त्व नहीं दिया है। उनका कहना है कि विश्व की उत्पत्ति के बारे में दार्शनिक सिद्धांत साधारण व्यक्तियों के लिए अत्यंत दुरुह थे। इसलिए ऐसी कहानी को बनाया गया, जिसे सभी लोग समझ सकें। चीन के प्राचीन विचारकों और ऋषियों ने भी इस विषय में अपने मत व्यक्त किए। इसलिए चीन के विद्वत् समाज में इस कहानी की अपेक्षा ऋषियों के विचार को अधिक महत्त्व मिला।

चीनी सभ्यता की यह विशेषता रही हैं कि इसकी धारा अबाध गति से अत्यंत प्राचीन काल से आज तक बहती आ रही है। इस सभ्यता की निरंतरता में कोई रुकावट नहीं पड़ी है। चीन में अत्यंत प्राचीनकाल से ही असभ्य अवस्था में मनुष्य के रहने के प्रमाण मिले हैं। पेकिंग के पास जो खोपड़ियाँ या पुराने औजार मिले हैं, उससे पता चलता है कि करीब पाँच लाख वर्ष पहले भी अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य यहाँ रहता था। इस आदिम अवस्था में मनुष्य

को 'पेकिंग मैन' या पेकिंग का आदमी कहा गया है। यह मनुष्य आग और औजारों का प्रयोग जानता था। संभवतः यह मनुष्यभक्षी था। जाति के अनुसार यह मंगोल था। इस असभ्यावस्था में यह 'पेकिंग मैन' उत्तरी चीन में ही रहता था। किस प्रकार इस आदिम अवस्था से यह मनुष्य सभ्यावस्था को प्राप्त हुआ, यह हमें ज्ञात नहीं। हम इतना जानते हैं कि चीनी सभ्यता की रूपरेखा उत्तरी चीन में ह्वांग-हो-नदी की घाटी में प्रारंभिक ऐतिहासिक राजवंशों के शासन में हुई। चीन में लिखा हुआ जो सबसे पुराना इतिहास हमें मिलता है, उससे पता चलता है कि इन राजवंशों के राजाओं और पौराणिक वीरों की कथाएँ विस्तृत रूप से वर्णित हैं। बाद के प्रत्येक राजवंश ने अपना इतिहास लिखवाया। इसलिए ऐतिहासिक काल के लिए हमें काफी सामग्री प्राप्त होती है।

चीनी सभ्यता के पथ-प्रदर्शकों का काल

पारंपरिक कथाओं से ऐसा पता चलता है कि चीनी सभ्यता के आदिकाल में मनुष्य गुफाओं में रहते थे और मोटे औजारों से शिकार किया करते थे तथा मछली मारा करते थे। वे खाना पकाना नहीं जानते थे और अपने शरीर को जानवरों की खालों से ढँकते थे। उनमें नैतिकता के आदर्शों का अभाव था, जिससे वे अपने निकट-संबंधियों से भी शादी-विवाह का रिश्ता कर लेते थे। संक्षेप में उनकी भी यही हालत थी, जो अन्य आदिम जातियों की थी और उन लोगों ने भी धीरे-धीरे भूलों एवं अनुभवों के आधार पर सभ्यता के मार्ग में कदम बढ़ाया।

इस आदिम अवस्था के बाद जो युग प्रारंभ हुआ, वह 'पौराणिक शासकों का युग' कहा जा सकता है। इसी युग में चीनी सभ्यता के भौतिक पक्ष की नींव डाली गई। तिथि-क्रम के अनुसार इस युग को तीन हजार ईस्वी-पूर्व के आसपास रखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यह युग प्राचीन मिस्र के प्रथम दो राजवंशों के समकालीन था।

इन प्रारंभिक राजाओं में फू-सी (Fu-Si) प्रथम था। चीनी आख्यानों के अनुसार उसने पशु-जगत पर विजय प्राप्त की और चीनी सभ्यता की नींव डाली। उसने परिवार के निर्माण के द्वारा सामूहिक निवास की आधारशिला रखी और लोगों को आपस में सहयोग करना सिखलाया। उसने निकट-संबंधियों में शादी-विवाह के संबंध को बंद किया। उसके नेतृत्व में चीनी जाति ने घर बनाना, शिकार करना और जानवरों को पालना सीखा। लोग घोड़े, भेंड़ और कुत्ते रखने लगे तथा मुर्गियाँ, बतख एवं हंस खाने के लिए पाले जाने लगे।

चीनी सभ्यता का दूसरा पथ-प्रदर्शक शेन-नुंग (Shen-Nung) था। इसको कृषि के देवता के रूप में याद किया जाता है; क्योंकि इसने चीनियों को खेती करना

सिखलाया। इसके नेतृत्व में दलदल जमीनों को खेती के लायक वनाया गया और पशुपालन में विकास किया गया। इसके नेतृत्व में ही चीनी अपनी खानाबदोश आदतों को छोड़ कर कृषकों के रूप में गाँवों में रहने लगे। कृषि के विकास और गाँवों में रहने के कारण पारिवारिक भावना तथा भाई-चारे का विकास हुआ। कुलों का संगठन हुआ और विवाह तथा अन्य सामाजिक प्रथाओं का नियमन किया गया। साधारणतया एक कुल के लोग एक गाँव में रहते थे। प्रत्येक गाँव के चारों ओर चहारदीवारी रहती थी, जो लोगों को जंगली जानवरों और वर्वर जातियों के हमले से बचाती थी। इस प्रकार के कुछ कुल छोटी-छोटी राजनैतिक इकाइयों के रूप में भी परिवर्तित हो गए। दूसरे शब्दों में ये छोटे-छोटे राज्य वन गए। इन राज्यों के नेता कभी-कभी आपस में लड़ाइयाँ भी करते थे। जो विजयी होता, उसे 'टी' (Ti) की उपाधि दी जाती थी, जिसका अर्थ होता है—अधिराज।

इस प्रकार के शासकों में सबसे प्रसिद्ध शासक हुआंग-टी (Huang-Ti) हुआ, जिसका अर्थ होता है—पीला सम्राट। इसने करीव २७०० ई०-पू० में शासन किया। चीन के प्रारंभिक इतिहासकारों ने इसे न केवल बहुत वड़ा योद्धा, वल्कि एक बहुत बुद्धिमान शासक और राजनीतिज्ञ भी वतलाया है। उसकी बहुत प्रशंसा की गई है और उसे चीनी जाति का पिता बतलाया गया है। इसी के राज्यकाल में चीनी राज्य के इर्द-गिर्द रहने वाली असभ्य जातियों को शांत किया गया और पैंतालीस नगरों का निर्माण हुआ। इसकी पत्नी ली-ज़ू (Lei-Tzu) ने चीनी लोगों को पहले-पहल रेशम के कीड़ों को पालना सिखलाया।

हुआंग-टी की मृत्यु के वाद कई राजा गद्दी पर वैठे, जिन्होंने स्मरण रखने लायक कोई काम नहीं किया। कुछ दिनों के वाद याओ (Yao) नाम का व्यक्ति गद्दी पर बैठाया गया। याओ और उसका उत्तराधिकारी चीनी इतिहास एवं जनश्रुतियों में अत्यंत लोकप्रिय हैं। कनफ्युशियस (Confucius) ने इन दोनों राजाओं को चीनी साम्राज्य का आदर्श शासक बतलाया। याओ के शासनकाल में ह्वांग-हो नदी में प्रलयंकर बाढ़ आई। इस बाढ़ का वर्णन बाईविल में वर्णित भयंकर बाढ़ से मिलता-जुलता है। जब याओ का मंत्री इस बाढ़ को रोकने में समर्थ नहीं हुआ, तव उसने अपने लड़के यू (Yu) को यह काम सौंप दिया। यू ने वड़ी-वड़ी नहरें बनवाईं; जिनके द्वारा बाढ़ का पानी इधर-उधर बाँट दिया गया। इस प्रकार उसने इस भयंकर बाढ़ पर नियंत्रण किया।

उस जमाने में राजगद्दी पर अधिकार वंशानुगत नहीं था। इसलिए याओ ने अपनी वृद्धवस्था में एक दूसरे नेता को शासन का भार सौंप दिया, जिसका नाम शुन (Shun) था। याओ और शुन चीनी इतिहास के सबसे लोकप्रिय शासक हैं। चीनी

इतिहासकारों ने इन दोनों राजाओं को सर्वगुण-संपन्न बतलाया है और भावी शासकों के लिए आदर्श घोषित किया है। इन दोनों के शासनकाल को चीन के इतिहास का स्वर्ण युग माना गया। तिथि-क्रम के अनुसार इस युग को हम २४५६ ई०-पू० से २२०५ ई०-पू० तक मान सकते हैं।

सिया राजवंश का इतिहास

(२२०५ ई०-पू० से १७६६ ई०-पू० तक)

शुन ने अपने बाद गद्दी पर यू को बिठाया, जिसने बाढ़ के समय नहरों को बना कर देश की रक्षा की थी। यू ने ही चीन के लंबे इतिहास में प्रथम राजवंश की स्थापना की। इस प्रथम राजवंश का नाम सिया (Hsia) राजवंश था। इस राजवंश ने २२०५ ई०-पू० से १७६६ ई०-पू० तक शासन किया। यह बैबिलोन के प्रथम राजवंश के समकालीन था। सिया राजवंश के समय भौतिक जीवन में बहुत उन्नति हुई। इसी राजवंश के अंदर कर लेने की सुनिश्चित व्यवस्था के लिए भूमि का योजनाबद्ध रूप से वितरण हुआ और बहुत सख्ती के साथ शराब पीने की मनाही की गई। दुनिया के इतिहास में चीन पहला देश था, जिसमें शासन की ओर से शराब पीने की मनाही की गई।

इस युग में भौतिक सभ्यता में और भी विकास हुआ। इस युग के लोग कांसे के हथियारों का प्रयोग करते थे और युद्ध में बख्तरबंद गाड़ियों का भी प्रयोग होता था। शांति के समय खेती और रेशम के कीड़ों के पालने का काम बहुत बड़े पैमाने पर होता था। प्रशासन का काम कुलीन लोग किया करते थे। प्रशासन के कर्मचारी कई श्रेणियों में विभक्त थे और उनकी श्रेणियों का ज्ञान संगयशब पत्थर की अंगूठियों के आकार और मूल्य से पता चलता था।

इस युग में लोग ईश्वर की इच्छा (Will of Heaven) की पूजा करते थे। इस शक्ति को वे लोग 'टियेन' (Tien) कहते थे। टियेन का अर्थ होता है—स्वर्ग। उनका सर्वोच्च देवता था—शांग-टी (Shang-Ti)। जिस प्रकार आकाश पृथ्वी से ऊपर है, उसी प्रकार शांग-टी सभी पार्थिव शक्तियों का नियंत्रण करता है, ऐसा उनका विश्वास था।

सिया राजवंश की स्थापना यू-जैसे लोकप्रिय और प्रतापी राजा ने की थी; पर कालांतर में इस वंश का पतन होने लगा। इस वंश का अठारहवाँ राजा एक निर्दयी और अत्याचारी शासक था, जिसे चीनी इतिहासकारों ने बहुत दुष्ट और पापी घोषित किया है। इस राजा का नाम 'की' (Ki) था। इस राजा को गद्दी से

उतारने का श्रेय शांग (Shang) वंश के राजकुमार टांग (Tang) को है। टांग ने एक विद्रोह का नेतृत्व किया, जो सफल रहा। इसी ने शांग राजवंश की स्थापना की, जिस राजवंश ने चीन पर १७६६ ई०-पू० से ११२२ ई०-पू० तक शासन किया।

शांगवंश का इतिहास
(१७६६ ई०-पू० से ११२२ ई०-पू०)

राजधानी और नगर-निर्माण

शांगवंश के इतिहास का ज्ञान हमें खुदाई से प्राप्त सामग्रियों से होता है। ह्वांग-हो नदी के पास आन्यांग नाम की जगह पर खुदाई से बहुत सी सामग्री प्राप्त हुई है, जिससे हमें शांग राजवंश का इतिहास मालूम होता है। कुछ जनश्रुतियों के अनुसार, जिनकी पुष्टि पुरातात्विक खोजों से हुई है, यह पता चलता है कि १४०० ई० पू० के शीघ्र बाद पानकेंग (Pan-Keng) नाम के राजा ने अपनी राजधानी आन्यांग नाम के शहर में बनायी। यह शहर हुआन नदी के किनारे बनाया गया। इस नगर को 'शांग लोगों का महानगर' (The Great City of Shang) कहा गया। इस नगर के रहने वाले इतिहास की दृष्टि से चीन देश के पहले निवासी थे। अन्यांग शहर से जिस राज्य पर शासन होता था, उसे 'शांग राजवंश का राज्य' कहा जाता था।

खुदाई में जो सामग्री मिली है, उससे शांगवंश के शासन तथा जीवन के अन्य पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। शांगवश के शासक सम्राट नहीं, बल्कि राजा थे। अपनी सैनिक शक्ति के आधार पर ये आसपास के राजाओं पर अपना अधिकार जमाए रहते थे। कभी-कभी जब इन लोगों के अधीनस्थ राजा अधिक शक्तिशाली हो जाते थे, तो इन पर हमला भी कर देते थे।

शांग राजवंश के समय चीन के लोग खानाबदोश नहीं थे, जो अपने जानवरों को लेकर एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते हैं। वे लोग अच्छे-अच्छे घरों को बना कर एक स्थान पर रहते थे। उनमें से कुछ लोग अभी भी भेड़ों और अन्य जानवरों के साथ चरागाहों की तलाश में घूमते थे। पर, अधिकतर लोग कृषक और शहरों के निवासी थे।

शांगवंश के राजाओं को शत्रुओं के आक्रमण के कारण अपनी राजधानी पाँच बार बदलनी पड़ी। आन्यांग नाम का शहर' जो बाद में राजधानी बनाया गया, इस दृष्टि से बहुत उपयुक्त था। यह नगर हुआन नदी की उर्वर घाटी के बीच में बसा हुआ था, इसलिए खेती की दृष्टि से यह क्षेत्र बहुत ही उपजाऊ था। सुरक्षा की दृष्टि से भी इस नगर की स्थिति बहुत उपयुक्त थी। इस नगर की तीन दिशाओं में हुआंग नदी बहती थी, जिससे तीन दिशाओं से स्वाभाविक रूप से रक्षा हो जाती थी। चौथी

दिशा में एक मिट्टी की दीवार बना कर सुरक्षा का प्रबंध कर दिया गया था। इस प्रकार आन्यांग नगर को कई सुविधाएँ प्राप्त थीं। उपजाऊ इलाके के बीच बसे होने के कारण खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती थी। मवेशियों के लिए चरागाह भी उपलब्ध थे। हुआंग नदी से पीने का पानी मिलता था और सुरक्षा भी होती थी। कुछ ही दूरी पर जंगल भी स्थित थे, जिनसे लकड़ी प्राप्त होती थी। इन जंगलों में लोग शिकार भी किया करते थे। इन जंगलों के आसपास पहाड़ भी थे, जहाँ गर्मियों के दिन में राजा और कुलीन वर्ग के लोग शरण लिया करते थे।

शांग लोगों के शासनकाल के पहले इस इलाके में पत्थरों के औजारों का प्रयोग करने वाले असभ्य लोग रहते थे। शांग लोगों ने इन पर विजय प्राप्त करके इनको अपना दास बना लिया था। संभवतः इन लोगों से नगर-निर्माण के कार्य में काफी सहायता ली गई थी।

दासों और नौकरों के घर जमीन के अंदर गड्ढों में बनाए जाते थे। इन गड्ढों की ऊँचाई छह-सात फुट होती थी और इनका व्यास दस फुट होता था। वास्तव में नवपाषाण युग से ही उत्तर चीन के लोग ऐसे घरों में रहते थे। लेकिन, धनी वर्ग के लोग अच्छे-अच्छे घरों में रहते थे, जो जमीन के ऊपर सुंदर ढंग से बनाए जाते थे। इन घरों की तुलना चीन में प्रचलित वर्त्तमान घरों से की जा सकती है। शांग युग में लोग ईंटों का प्रयोग नहीं जानते थे, इसलिए उनके घर मिट्टी के बने होते थे, जिनकी छतें फूस की होती थीं। इन घरों में काफी जगह होती थी। खुदाई में एक बहुत बड़ा कमरा मिला है, जो २६ फुट चौड़ा और ९२ फुट लंबा है। ये लोग दीवारों को कई प्रकार के रंगों से रँग कर सजाया करते थे। इनकी कब्रों की दीवारों में भी रँगाई पायी गई है। यदि हम इस युग के मकानों की तुलना प्राचीन यूनान के मकानों से करें, तो हम यह पाएँगे कि चीन में पत्थर का प्रयोग नहीं होता था, जबकि यूनान में इमारतें पत्थर की बनायी जाती थीं। उस समय भी चीन के घरों में बड़े-बड़े आँगन होते थे।

खुदाई से यह भी पता चलता है कि शांग युग के राजा और कुलीन लोग अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को खाई खोद कर जमीन में रखा करते थे। ऐसी एक खाई खुदाई में मिली है, जिसमें ५८०१ वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें मिट्टी के अच्छे बर्तन, हड्डियाँ, कछुए की खोपड़ी, मुक्ता, कौड़ी, कांसा, सोना और कई प्रकार के संगयशब (Jade) पाए गए हैं। ऐसा पता चलता है कि इन खाइयों में कीमती रेशमी और सूती वस्त्र भी रखे जाते थे।

आन्यांग शहर के चारों ओर सुरक्षा की दृष्टि से चहारदीवारी बनायी गई थी, लेकिन खुदाई में पायी नहीं गई। हम यह जानते हैं कि इस तरह की चहारदीवारी चाऊ (Chou) युग में बनायी जाती थी। इसलिए शांग युग में भी ऐसी चहारदीवारियाँ अवश्य बनायी गई होंगी। इन चहारदीवारियों पर निश्चित दूरियों पर बुर्ज बनाए जाते थे। इन बुर्जों से आने वाले शत्रुओं को पहले से देखा जा सकता था। शत्रु के आने की सूचना मिलने पर नगर के फाटक बंद कर दिए जाते थे। वास्तव में चीनी भाषा में राजधानी के लिए जो शब्द प्रयुक्त होता था, उसका अर्थ होता था—ऐसा शहर, जिसके चारों ओर चहारदीवारी, फाटक और बुर्ज हों।

ऐसा लगता है कि आन्यांग के अलावा कई दूसरे शहर भी थे, जो चहारदीवारी से घिरे हुए थे। आन्यांग शहर के आसपास भी इस प्रकार के कई छोटे-छोटे शहर थे। १९३४ ई० में हुआन नदी के उस पार खुदाई से एक ऐसे शहर का पता चला। कछुओं की खोपड़ियों पर कुछ लेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे पता चलता है कि यह शहर शिकार के समय निवास-स्थान रहता होगा या आक्रमण के समय शत्रुओं का मुकाबला पहले यहीं से होता होगा।

इस प्रकार आन्यांग शहर और उसके आसपास के शहरों से यह पता चलता है कि शांग युग में चीनी सभ्यता का इतना विकास हो चुका था कि लोग शहरों में रहने लगे थे और खेती से काफी मात्रा में खाद्य सामग्री पैदा करते थे। युद्ध के समय भी वे नगरों की सुरक्षा का प्रबंध करते थे। वे शिकार भी किया करते थे और युद्ध-कला से भी अच्छी तरह परिचित थे। उनके नगर बैबिलोनिया के नगरों की तरह विकसित नहीं थे, फिर भी वे शहरों में रहना जानते थे और शहरों की संख्या काफी थी। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से चीनी सभ्यता के विकास के लिए शांग का काफी महत्त्व है।

शांग युग में लोगों की जीविका का साधन

आन्यांग शहर के रहने वाले मुख्य रूप से अपनी जीविका के लिए खेती पर निर्भर करते थे। वे घरेलू जानवर भी पालते थे और शिकार भी किया करते थे। लेकिन, शिकार से जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती थी। शिकार एक प्रकार से उनके मनोरंजन का साधन था। शिकारों से पशुओं का चमड़ा उन्हें प्राप्त होता था, जिससे वे सर्दियों में पहनने के लिए रोएँदार चमड़े के कोट (Fur coat) बनाया करते थे। आन्यांग में गर्मी काफी पड़ती है तथा सर्दी भी कड़ाके की पड़ती है, इसलिए रोएँदार गर्म कोट वहाँ के लिए उपयुक्त थे। इस तरह शिकार से कई उद्देश्य सिद्ध होते थे। कुछ भोजन की सामग्री भी प्राप्त हो जाती थी, कुछ मनबहलाव भी हो जाता था, कुछ पहनने के सामान भी प्राप्त हो जाते थे और साथ

की सेना को लड़ने का अभ्यास भी हो जाता था। इसलिए चाऊ युग की पुस्तकों मुख्यतः 'काव्य-पुस्तक' (Book of Poetry) में शिकार से संबद्ध यात्राओं के वर्णन मिलते हैं। शांग वंश के राजा बहुत अधिक शिकार किया करते थे, यह ओरेकल बोन पर प्राप्त लेखों से पता चलता है। उनके यहाँ कुछ ऐसी पूजाएँ होती थीं, जिनमें उन्हें ऐसे पशुओं की बलि देनी होती थी, जिस पर उन लोगों ने स्वयं अधिकार किया हो। इसलिए राजाओं द्वारा पकड़े हुए पशुओं की सूची कभी-कभी ओरेकल बोन के लेखों से प्राप्त होती है।

विज्ञानों में मतभेद है कि शांग युग में चीन में हाथी मिलते थे या नहीं। प्रोफेसर क्रील (Creel) का मत है कि हाथी मिलते थे और इनका उपयोग लकड़ी के बड़े-बड़े कुंदों को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में किया जाता था। खुदाई में हाथियों की हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे हम अनुमान लगा सकते हैं कि लोग हाथी पाला करते थे। प्रोफेसर क्रील के अनुसार उत्तरी चीन की जलवायु उतनी ठंढी नहीं थी, जितनी आज है। इसलिए हाथी आसानी से रह सकता था। पर, आजकल उत्तरी चीन में हाथी नहीं मिलते हैं।

हाथी के अतिरिक्त जो दूसरे जानवर पाए जाते थे, वे थे—कुत्ते, सूअर, भेड़, बकरी, हिरण, बैल, भैंस और बंदर। ये सभी जानवर लोगों द्वारा पाले जाते थे। कुछ विद्वानों के अनुसार घोड़े नहीं पाले जाते थे, पर क्रील का मत है कि घोड़े पाले जाते थे और उनका उपयोग रथों के हाँकने में किया जाता था। माल ढोने के काम में घोड़े, बैलों और भैंसों का इस्तेमाल होता था।

भोजन के लिए जिन जानवरों का उपयोग होता था उनमें गाय, बैल, सूअर भेड़, कुत्ते और मुर्गियाँ थीं। नवपाषाण-युग में कुत्ते और सूअर खाने के लिए सबसे प्रिय भोजन थे, लेकिन शांग युग में खाने की दृष्टि से सूअर अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। कुते भी खाए जाते थे और उनको बलिदान में भी चढ़ाया जाता था। बाद के युग में खाने की दृष्टि से कुत्ते का मांस अत्यंत स्वादिष्ट वस्तु माना जाने लगा। बड़े-बड़े भोजों में कुत्ते को शौक़ से परोसा जाता था। आज के युग में भी चीन के कई भागों में कुत्ते को बड़े शौक से खाया जाता है। कुत्तों का प्रयोग खूँखार होने के कारण शिकारों में भी किया जाता था। भेड़ों को काफी संख्या में बलिदान में चढ़ाया जाता था। बकरे और बकरियों की भी हड्डियाँ मिली हैं। लेकिन, यह कहना कठिन है कि वे जंगली होते थे या पालतू। नवपाषाण-युग में सूअर का मांस मुख्य भोजन था। आन्यांग शहर में भी काफी बड़ी संख्या में सूअर को बलिदान में चढ़ाया जाता था। नवपाषाण-युग से ही बैल उत्तरी चीन में पाए जाते थे। शांग युग में गाय और बैल घरेलू जानवरों में प्रमुख थे।

विद्वानों का ऐसा मत है कि शांग युग में चरागाह काफी संख्या में थे। कुछ ओरेकल बोन के लेखों पर चरागाहों से संबद्ध झगड़ों का भी उल्लेख है। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मान लिया था कि इस युग के चीनी मवेशियों को लेकर घूमने वाले खानाबदोश थे, जिन्होंने हाल ही में खेती करना सीखा था, लेकिन प्रोफेसर क्रील इस मत को नहीं मानते। उनका कहना है कि इस युग में चीनी कृषक बन गए थे, जो घर बना कर गाँवों और शहरों में रहते थे और काफी संख्या में पालतू पशु रखते थे। उनका यह भी मत है कि चीनियों के अधिकांश पूर्वज किसी भी समय में मवेशियों को लेकर घूमने वाले खानाबदोश नहीं थे, बल्कि शुरू से ही वे घर बना कर रहने वाले खेतिहर थे। बहुत बड़ी संख्या में दूध देने वाले पशुओं के रखने पर भी इन लोगों के विषय में दिलचस्प बात यह है कि ये लोग कभी भी दूध या उससे बनी चीजों का प्रयोग नहीं करते थे। इस दृष्टि से वे प्राचीन भारत के आर्यों से सर्वथा भिन्न थे। जहाँ प्राचीन भारत के आर्य दूध, दही और घी का प्रयोग भोजन तथा पूजा में काफी मात्रा में करते थे, वहाँ चीन में दूध और उससे बनी चीजों का एकदम प्रयोग नहीं होता था।

कृषि

खेती उनकी जीविका का प्रमुख साधन थी। वे बहुत योजनाबद्ध ढंग से खेती किया करते थे। वसंत ऋतु में अपने वर्ष के दूसरे या तीसरे महीने में वे पूजा-पाठ के द्वारा यह निश्चित किया करते थे कि वे कौन-सी फसल बोएँगे। इस समय वे अपने पूर्वजों की विशिष्ट पूजा किया करते थे और उनसे प्रचुर मात्रा में खेती की उपज देने की प्रार्थना करते थे। इस पूजा के बाद फसलें बोयी जाती थीं। फसलों को उगने के बाद राजा भी कभी-कभी खेतों के निरीक्षण के लिए जाया करते थे। शांग युग में गेहूँ की फसल उगायी जाती थी, यह तत्कालीन लेखों से सिद्ध होता है। नवपाषाण-युग से ही बाजरे की खेती का जिक्र बार-बार आता है। नवपाषाण-युग से आज तक बाजरा चीनी लोगों के खाद्य पदार्थों में प्रमुख रहा है। आज भी उत्तरी चीन का यह मुख्य भोजन है। चावल का प्रयोग धनी वर्ग के लोग अधिक किया करते थे। बाजरे से एक प्रकार की शराब भी बनायी जाती थी, जिसका धार्मिक उत्सवों और समारोहों के अवसर पर प्रयोग किया जाता था।

शांग युग के लोग चावल उपजाना जानते थे कि नहीं, यह विवादास्पद है। उस युग में उत्तरी चीन की जलवायु चावल की खेती के लायक थी और जमीन भी उपयुक्त थी, इसलिए संभवत: वे चावल पैदा करते थे। चावल की खेती से सिंचाई का बहुत निकट का संबंध है। इसलिए यह भी अनुमान किया जाता है कि वे सिंचाई

का प्रबंध करना भी जानते थे। ओरेकल वोन के लेखों से सिंचाई का पता चलता है। वे मोटे किस्म के बाँध बना कर सिंचाई के लिए पानी इकट्ठा करना भी जानते थे।

कपड़े बनाने वाले कुछ पौधों को उगाना भी वे लोग जानते थे। पुरातत्ववेत्ता यह मानते हैं कि नवपाषाण-युग से ही उत्तरी चीन में कोई ऐसा पौधा उगाया जाता था, जिससे कपड़े बनाए जा सकते थे। संभवतः यह पौधा एक प्रकार का सन (Jute) था, जिसके रेशों से वे कपड़े बनाया करते थे। ये रेशे आन्यांग के पास खुदाई में पाए गए हैं।

खेती करने के उनके तरीके क्या थे—इस विषय में हमारा ज्ञान बहुत कम है। खेती के लिए वे जिन औजारों का प्रयोग करते थे, वे संभवतः लकड़ी के बने हुए होते थे। जानवरों द्वारा हल जोतने की प्रथा चाऊ युग से शुरू हुई। शायद इस युग में भूमि को कुदाल से कोड़ कर खेती की जाती थी। खेती का काम अधिकतर पुरुष किया करते थे। लेकिन, रेशम उगाने का काम खास कर स्त्रियाँ ही किया करती थीं। चाऊ युग से रेशम का प्रयोग चीनी संस्कृति में इतना अधिक हो गया था कि यह मानना गलत नहीं होगा कि शांग युग में भी रेशम काफी मात्रा में उगाया जाता होगा। दसवीं शताब्दी ई०-पू० के एक शिलालेख से पता चलता है कि रेशम का प्रयोग कारोबार में विनियम के माध्यम के रूप में होता था। चाऊ युग के काव्य-संग्रह में भी रेशम-उद्योग का वर्णन है।

शांग युग में आर्थिक समृद्धि के तीन साधन थे—कृषि, पशुपालन और शिकार। इन तीनों के साथ हम युद्ध को भी जोड़ सकते हैं; क्योंकि युद्ध के साथ काफी लूट का माल आता था। शांग युग में थोड़ा-बहुत व्यापार भी होता था। लेकिन, अधिकतर गाँव या शहर जीवन की आवश्यकताओं के लिए सारी वस्तुएँ वहीं पैदा कर लेते थे। दूसरे शब्दों में, गाँव या शहर अपने-आप पर निर्भर थे और एक दूसरे से विनिमय भी करते थे। इससे यह भी पता चलता है कि एक केंद्रीय राजनैतिक सत्ता का अभाव था। व्यापार विनिमय के द्वारा ही होता था। घोड़े, गाय-बैल और अनाज विनिमय के माध्यम माने जाते थे। इस जमाने में कौड़ियों का प्रयोग सिक्कों की तरह ही होता था। एक खाई में, जिसमें बहुत से बहुमूल्य पदार्थ पाए गए, १६३ कौड़ियाँ जो बेशकीमती किस्म की हैं, पायी गई हैं। चाऊ युग में कौड़ियों का प्रयोग सिक्कों की तरह ही होता था। दुनिया के अन्य हिस्सों में भी कौड़ियों का प्रयोग इस तरह होता था। इसलिए यह मानना कि शांग युग में कौड़ियों का प्रयोग द्रव्य के स्थान होता था, गलत नहीं होगा। कौड़ी का प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों में स्त्रियों की उर्वरता बढ़ाने के लिए भी होता था। चीन में नवपाषाण-युग की जो कब्रें हैं, उनमें कौड़ियाँ पायी गई हैं।

द्रव्य के स्थान पर कौड़ियों का प्रयोग बहुत सुगम था; क्योंकि कौड़ी शीघ्र नष्ट नहीं होती थी । उनका एक जगह से दूसरी जगह ले जाना सुगम था और कौड़ियाँ दुष्प्राप्य भी थीं । इसलिए उनका विनिमय के माध्यम के रूप में आसानी से प्रयोग हो सकता था । चाऊ युग के जो शिलालेख हमें प्राप्त हुए हैं, उनसे पता चलता है कि धीरे-धीरे कौड़ियों को छोड़ कर धातुओं का सिक्कों के रूप में प्रयोग होने लगा । चाऊ युग में कौड़ियों का महत्त्व अधिक था । तैंतीस शिलालेखों से यह पता चलता है कि कौड़ियों को पुरस्कार के रूप में राजा लोग अपने अधीनस्थ सरदारों को दिया करते थे । आज भी चीनी भाषा में पुरस्कार के लिए जो शब्द मिलता है, उस पर कौड़ी का चित्र बना रहता है । कौड़ी की एक माला से बहुमूल्य वस्तुएँ खरीदी जा सकतीं थीं । कई प्रकार की कौड़ियों का प्रयोग विनिमय के लिए होता था । कौड़ियों को छेद कर उनकी माला बनायी जाती थी । कुछ कौड़ियों का मूल्य हजार रुपयों से भी अधिक होता था । शायद इन बहुमूल्य कौड़ियों के द्वारा ही सरदारों को पुरस्कार दिया जाता था अथवा उन्हें घूस दी जाती थीं ।

एक जगह से दूसरी जगह माल ढोया जाता था । इससे पता चलता है कि व्यापार एक शहर से दूसरे नगर में होता था । चूँकि इस समय सिक्कों का अभाव था, इसलिए उन्नतिशील व्यापार का होना संभव नहीं था ।

शांग युग की सामाजिक अवस्था

शांग युग के शिलालेखों से यह पता चलता है कि सामाजिक अवस्था का प्रमुख अंग परिवार था । शांग युग में पारिवारिक प्रेम और भावना का विकास पूर्वजों की पूजा के कारण हुआ । पूर्वजों और पितरों को बहुत ही शक्तिशाली माना जाता था । ऐसा विश्वास किया जाता था कि पूर्वज या पितर लोग चाहें तो मनुष्य को सुखी-संपन्न बना सकते हैं और यदि वे नाराज हो जाएँ, तो मृत्यु भी भेज सकते हैं । इसलिए पूर्वजों और पितरों को पूजा के द्वारा प्रसन्न रखना अत्यंत आवश्यक माना जाता था । इसलिए उनको समय-समय पर बलिदान चढ़ाए जाते थे । एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी पूजा और बलिदान के क्रम को जारी रखती थी । यदि कोई व्यक्ति अपने कामों से परिवार की शक्ति और प्रतिष्ठा को बनाता था, तो इस बात को भी पूर्वजों की पूजा और सेवा का फल ही माना जाता था; क्योंकि परिवार की समृद्धि बढ़ने से यह निश्चित हो जाता था कि पूर्वजों की पूजा होती रहेगी । यदि कोई व्यक्ति अपनी जान दे कर भी परिवार की प्रतिष्ठा बढ़ाता, तो उसका स्थान परिवार के पूज्य पितरों में सुनिश्चित हो जाता । परिवार के साथ धोखा करना सबसे बड़ा पाप माना जाता था । इसी प्रकार परिवार की वंशावली को समाप्त करना भी बहुत बड़ा पाप माना जाता था । ऐसा विश्वास किया जाता था कि इन पापों को करने

वाला व्यक्ति भूत-प्रेत बन कर अकेले भूख-प्यास से तड़पता फिरता है और परिवार के लोग उसका कोई सम्मान नहीं करते हैं। इसलिए परिवार की उन्नति और वृद्धि के लिए प्रयत्न करना बहुत प्रशंसनीय माना जाता था। इन विश्वासों का फल यह हुआ कि परिवार के प्रति प्रेम और वफादारी की भावना चीनी संस्कृति में वद्धमूल हो गई। इस भावना ने चीन के इतिहास को बहुत जोरों से प्रभावित किया है।

शांग युग में भी परिवार एक महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में पाया जाता है। इस युग में परिवार से तात्पर्य एक कुल का है। शांग युग में राजकुल भी होता था, जो शासनकार्य किया करता था। कुछ विद्वानों का यह मत है कि शांग युग में परिवार का वंधन और यौन-नैतिकता के आदर्श वहुत ढीले-ढाले थे। कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि उस काल के लोग केवल अपनी माताओं के ही नाम जानते थे, उनके पिता अज्ञात होते थे। पर, प्रोफेसर क्रील तथा अन्य विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं। इस विषय पर जो प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, वे निर्णयात्मक नहीं हैं। विद्वानों ने इस तरह के मत के प्रचलित होने का कारण यह माना है कि एक राजा को अपने कई पिताओं को पूजा और बलिदान चढ़ाते हुए वर्णन किया गया है। इसका मतलब यह हुआ कि उस समय या तो कई पुरुष एक स्त्री से शादी करते थे या शादी करते ही नहीं थे। लेकिन, क्रील महोदय इस मत का खंडन करते हैं कि दरअसल चीनी भाषा में 'पिता' शब्द से 'पिता के भाइयों' का भी वोध होता है। यह सत्य है कि वाद में चीनी भाषा में 'पिता' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार स्वच्छंद यौन-संवंध के विषय में भी जो प्रमाण मिलते हैं, वे पर्याप्त नहीं हैं।

शांग युग में जो शिलालेख मिले हैं, उनमें राजकुलों द्वारा पितरों और पूर्वजों की पूजा का वर्णन है। लेकिन, इसका यह मतलब नहीं कि पितरों और पूर्वजों की पूजा राजकुलों तक ही सीमित थी। यह निश्चित रूप से कहना संभव नहीं है कि इस युग में एक कुलीन वर्ग था कि नहीं। हो सकता है कुछ प्रभावशाली कुलों को मिलाकर एक शासक वर्ग रहा हो। कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि यह शासक-वर्ग पश्चिम से आक्रमणकारियों के रूप में आया और इसने शांग युग में शासन करना शुरू किया। इस वर्ग की सभ्यता और संस्कृति के स्तर चीन के निवासियों से ऊँचे थे। पर, इस विषय में हम कोई निर्णयात्मक मत नहीं दे सकते। हो सकता है कि इस कुलीन वर्ग से ही पुरोहित, राजदूत और भविष्यवक्ता लिए जाते हों। यह भी हो सकता है कि ये लोग शुरू में राजा के यहाँ नौकर के रूप में रहे हों और धीरे-धीरे इन्होंने अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ा ली हो। चीनी भाषा-विज्ञान के जानने वालों का यह मत है कि नौकरों या दासों ने ही धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ायी और मंत्री का पद प्राप्त किया; क्योंकि चीनी भाषा-विज्ञान के अनुसार गुलाम शब्द का प्रयोग अंत में मंत्री के अर्थ में होने लगा।

इस युग में दासियाँ भी पायी जाती थीं। दासियों के लिए ची (Chieh) शब्द का प्रयोग होता था। 'ची' का अर्थ होता था—रखैल या उपपत्नी। दासियाँ युद्धवंदी के रूप में लायी जाती थीं और उनसे कई तरह के काम लिए जाते थे। शांग युग में 'ची' शब्द का प्रयोग वरावर पत्नी के रूप में नहीं होता था। इस शब्द का प्रयोग एक दासी के रूप में भी होता था। इन लोगों को कोई अधिकार नहीं प्राप्त था। इन दासियों के स्वामियों को इनसे यौन-संबंध का भी अधिकार था। लेकिन, जव तक ये दासियाँ काफी आकर्षक नहीं होतीं, उनके स्वामी उनसे संभवतः यौन-संबंध नहीं रखते थे। लेकिन, जो दासियाँ आकर्षक होतीं, उन्हें घरों में उपपत्नियों के ही रूप में रखा जाता और उनसे हल्का काम लिया जाता था। धीरे-धीरे इस तरह ही चीन में उपपत्नी रखने की प्रथा का विकास हुआ। इन उपपत्नियों की संतानों को समाज में अधिकार भी दिए गए।

एक चीनी विद्वान का मत है कि इन सभी दासों के सिर पर गोदना गोद दिया जाता था, ताकि वे भाग न सकें और भागने पर पहचान लिए जाएँ। दासों के साथ किस तरह व्यवहार किया जाता था, इस विषय में हमारा ज्ञान अधूरा है। लेकिन, इतना हम कह सकते हैं कि उनके साथ अत्यधिक कठोरता नहीं बरती जाती थी; क्योंकि हम जानते हैं कि सेना में भी उनको सैनिक के रूप में रखा जाता था। इसका मतलब यह है कि वे विश्वसनीय समझे जाते थे। यदि वे स्पार्टा के हेलाट लोगों की तरह असंतोष की आग में जलते रहते, तो लड़ाई-जैसी जिम्मेवारी के कामों में उनको हरगिज नहीं लगाया जाता।

ऊँचे वर्ग की स्त्रियों की दशा संभवतः अच्छी थी। कभी-कभी भूतपूर्व रानियों को अपने पतियों के साथ और कभी-कभी अकेले भी वलिदान चढ़ा दिया जाता था। कभी-कभी स्त्रियों के द्वारा शकुन-विचार या भविष्यवाणी का उल्लेख हमें तत्कालीन लेखों में मिलता है। बहु-विवाह की प्रथा थी, पर इसका प्रयोग संयत ढंग से किया जाता था। ओरेकल वोन के शिलालेखों से हमें कुछ राजाओं द्वारा एक से अधिक शादियों का पता चलता है। इन लेखों में एक ऐसे राजा का उल्लेख मिलता है, जिसको तीन पत्नियाँ थीं तथा दो राजाओं को दो-दो पत्नियाँ थीं। लेकिन इन्हीं लेखों से ऐसे छब्बीस राजाओं का उल्लेख मिलता है, जिनको एक-एक पत्नियाँ थीं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि चीनी इतिहास के बाद के युग के राजाओं की तरह शांग युग के राजा भी अधिकतर वहु-विवाह में विश्वास नहीं करते थे। इसलिए उनके यहाँ हरम रखने की प्रथा नहीं थी।

दुर्भाग्यवश शांग युग की सामाजिक अवस्था के बारे में हमारा ज्ञान अधूरा है। चाऊ युग से सामाजिक अवस्था के बारे में अधिक जानकारी मिलने लगती है।

यह संभव है कि चाऊ युग में जो सामाजिक अवस्था पायी जाती है, बहुत कुछ उसी प्रकार की प्रथा शांग युग में भी पायी जाती थी।

शांग युग का कला-कौशल और उद्योग-धंधे

ऐसा प्रतीत होता है कि शांग युग में कला-कौशल और उद्योग-धंधों का काफी विकास हुआ था। पर, उनके कलाकौशल के अधिकांश नमूने प्राप्त नहीं हैं। केवल पत्थरों, हड्डियों और धातुओं से बने सामान तथा मिट्टी के बर्तन पाए गए हैं। लेकिन, शांग युग के लोग लकड़ी का सामान बनाने में बहुत ही दक्ष थे। इसी प्रकार कब्रों की दीवारों पर जो नक्काशी पायी गयी है, उससे यह पता चलता है कि इस युग के कलाकार काँसे पर भी सुन्दर नमूने बनाया करते थे। इसके अलावे कई प्रकार की कारीगरी प्रचलित होगी, जिसका हमें ज्ञान नहीं है।

शांग युग के लोग कपड़ों पर काफी ध्यान दिया करते थे। ऐंडरसन नाम के एक विद्वान ने वतलाया है कि वे लोग संगमरमर के छोटे-छोटे-टुकड़ों से गोल वटन भी वनाया करते थे। ये बटन बहुत ही सुंदर और गोल बने हुए हैं। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि जो इतने सुंदर वटन बनाते थे, वे उच्चकोटि के कपड़े भी पहनते होंगे। चीन में नवपाषाण-युग से ही पत्थर और मिट्टी की तकलियों का प्रयोग सूत कातने के लिए होता था। कपड़े के अलावा ये लोग चटाइयाँ और टोकरियाँ वनाना भी जानते थे। शांग युग और चाऊ युग दोनों ही युग में घरों के फर्श पर चटाइयाँ विछी रहती थीं। खुदाई में चटाई और कपड़ों के नमूने प्राप्त हुए हैं। कपड़ों की वुनावट और धागे भी प्राप्त हुए हैं। इनकी बुनावट ढीली-ढाली है, पर बराबर और साफ-सुथरी है। ये लोग सीने का काम भी जानते थे। नवपाषाण-युग में हड्डी की सूइयाँ वनायी जाती थीं और शांग युग में काँसे की सूइयों का प्रयोग होता था। ये दोनों प्रकार की सूइयाँ खुदाई में मिली हुई हैं। ये लोग किस प्रकार की पोशाक पहनते थे, इसका नमूना हमें नहीं मिला है, लेकिन हमें इतना ज्ञात है कि इनके कपड़े सिले हुए होते थे और इनमें बाँहें भी होती थीं। जाड़े के दिनों में ये लोग रोएँदार चमड़े का प्रयोग करते थे हालाँकि शांग युग में काँसे के वर्तनों का प्रयोग होने लगा था, लेकिन साथ ही पत्थर के बर्तनों का प्रयोग जारी रहा। इसका कारण यह था कि काँसा अधिक नहीं पाया जाता था। इसलिए काँसे का प्रयोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को वनाने में होता था। जैसे हथियार और धार्मिक अनुष्ठानों से संबद्ध वर्तन काँसे के वनाए जाते थे। शांग युग की खुदाइयों में पत्थर की एक आयताकार और अर्द्धवृत्ताकार छुरी मिली है। इस प्रकार की छुरी काफी संख्या में पायी गई है। आन्यांग शहर में पत्थर की पॉलिश की हुई कुल्हाड़ियाँ, पत्थर के बर्तन, पत्थर की तश्तरियाँ, सान वाले पत्थर के ऊखल और पत्थर के मूसल मिले हैं। कुछ ऐसे भी

पत्थर पाए गए हैं, जिनसे संगीतात्मक ध्वनि निकलती है। पत्थर के जिन हथियारों का प्रयोग होता था, वे थे—भाले, बर्छे और तीर की नोक। नवपाषाण-युग से ही पत्थर के गहने भी बनाए जाते थे। पत्थरों के कंगन और अंगूठियाँ काफी संख्या में पायी गई हैं। शांग युग के लोग पत्थरों को काट कर सूअरों, पक्षियों और मनुष्यों की आकृतियाँ भी बनाया करते थे। इस युग के कारीगरों के लिए पत्थरों के बाद हड्डियाँ और घोंघे भी काफी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। हड्डियों से भी तीरों की नोक बनायी जाती थी। बल्लम की नोक भी पत्थरों की बनायी जाती थी। घरेलू सामानों में पत्थरों की करछुल काफी प्रचिलित थीं और काफी संख्या में पायी गई हैं। इन करछुलों पर सुंदर नक्काशी की हुई है। बालों में खोंसने के लिए हड्डियों की पिन भी बनायी जाती थी। इस प्रकार की पिनें भी काफी संख्या में मिली हैं। हड्डी से बने सामानों में एक मुर्गे का सिर मिला है, जो देखने में अत्यंत सुंदर है। हड्डियों से सामान इतनी कुशलता से बनाए गए हैं और उनमें इतनी चमक दी गई है कि देखने वाले को लगता है कि वे संगयशव के बने हुए हैं। बालों में खोंसी जाने वाली जो पिनें प्राप्त हुई हैं, उनके प्रयोग के बारे में हमारी जानकारी कम है। पर, हम इतना जानते हैं कि चाऊ युग में स्त्री और पुरुष दोनों ही इनको बालों में खोंसा करते थे। पुरुष अधिकतर अपनी टोपियों को सिर पर ठीक रखने के लिए इनका प्रयोग करते थे।

हड्डी की बनी हुई चीजों में जो सबसे ध्यान देने योग्य वस्तु है, वह एक फुट लंबा हड्डी का टुकड़ा है, जिसपर नक्काशी की हुई है। कभी-कभी यह नक्काशी फिरोजा धातु से की गई है। हड्डियाँ केवल कलात्मक दृष्टि से बनायी गई थीं, पर कुछ पर लिखावट भी मिली है। ओरेकल बोन, जिन पर लेख प्राप्त हुए हैं वे भी कारीगरी के ही नमूने हैं; क्योंकि उन्हें बड़ी मेहनत से चिकना किया जाता होगा। गाय, बैलों, हिरणों के सींग से हथियार तथा घरेलू बर्तन बनाए जाते थे। सूअर और हाथी के दाँत से गहने बनाए जाते थे। शंख और सीपी से भी कई प्रकार के गहने बनाए जाते थे। कुछ वाद्य-यंत्र भी प्राप्त हुए हैं, जिनसे पता चलता है कि शांग युग के लोगों को संगीत का ज्ञान रहा होगा।

उनके लकड़ी के काम के नमूने अब प्राप्त नहीं हैं; क्योंकि हजारों साल तक मिट्टी में दबे रहने के कारण ये सड़ गए। लेकिन, हम इतना जानते हैं कि वे लोग लकड़ी का काम अच्छी तरह जानते थे। उनके घरों का ढाँचा लकड़ी का बना रहता था। उनके धनुष-वाण, बर्छे, बल्लम और लड़ाई की कुल्हाड़ियाँ लकड़ी की बनायी जाती थीं। वे रथ और नाव भी बनाना जानते थे। इससे सिद्ध होता है कि लकड़ी के काम में उन्होंने काफी कुशलता प्राप्त कर ली थी।

वे मिट्टी के सुंदर वर्तन भी वनाना जानते थे । आन्यांग की खुदाइयों में सबसे बड़ी संख्या में मिट्टी के वर्तन प्राप्त हुए हैं । यह आश्चर्य की वात है कि शांग युग में नवपाषाण-युग के मिट्टी के बर्तन, जो रँगे हुए होते थे, नहीं मिलते हैं । शांग युग के मिट्टी के वर्तन दो प्रकार की मिट्टी के बने होते थे । एक साधारण प्रकार की मिट्टी और दूसरी उजली मिट्टी । उजली मिट्टी से ही सुंदर और बारीक किस्म के वर्तनों को वनाया जाता था । मिट्टी के वर्तन अधिकतर हाथ से बनाए जाते थे । कुम्हार के चक्के का प्रयोग कम होता था, लेकिन वे लोग कुम्हार के चक्के का प्रयोग जानते थे और काफी कुशलता से इस पर वर्तन बनाते थे । उजली मिट्टी के वर्तनों पर जो नक्काशी की जाती थी, वह मिट्टी की गीली अवस्था में ही बना दी जाती थी । उजली मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग अधिकतर धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर होता था । यह इस वात से सिद्ध होता है कि राजाओं की कब्रों में उजली मिट्टी के वहुत सुंदर वर्तन पाए गए हैं । दूसरे प्रकार के मिट्टी के वर्तनों पर जो खाके खींचे जाते थे, वे भी गीली अवस्था में बना दिए जाते थे या उन पर छाप दिया जाता था । इस तरह की नक्काशियों कें कई तरह कें नमूने पाए गए हैं । ये खाके गीली मिट्टी पर सूतों के द्वारा या रस्सों के द्वारा वनाए जाते थे । इस प्रकार नक्काशी करने के वाद मिट्टी के वर्तनों को पकाया जाता था । कुछ मिट्टी के पात्रों पर चमक भी दी जाती थी; क्योंकि कुछ ऐसे नमूने भी प्राप्त हुए हैं । मिट्टी के कुछ बड़े वर्तनों का आकार तीन फुट ऊँचा और अठारह फुट चौड़ा है । करीब पंद्रह किस्मों से भी ज्यादा तरह के बर्तन मिले हैं । इनका प्रयोग खाना वनाने, खाने और सामानों को संचित करने के उद्देश्य से किया जाता था । इनमें पानी इकट्ठा कर धोने का काम किया जाता था । इन मिट्टी के बर्तनों पर लेख बहुत कम पाए जाते हैं । वाद के युगों में जितने प्रकार के मिट्टी कें पात्र पाए जाते थे, वे सभी शांग युग में भी पाए जाते थे ।

मूर्तिकला तथा काँसे की कारीगरी

शांग युग की मूर्तिकला काफी विकसित थी । मूर्तिकला में जो नमूने पाए जाते हैं, वे सभी नमूने काँसे की मूर्त्तियों में भी पाए जाते हैं । इस युग में पत्थर और काँसे से पक्षियों और जानवरों की सुंदर मूर्तियाँ बनायी जाती थीं, लेंकिन सुंदरता और सूक्ष्मता की दृष्टि से इनकी तुलना प्राचीन यूनान अथवा प्राचीन भारत की मूर्तियों से नहीं की जा सकती । फिर भी तकनीकी दृष्टि से ये मूर्तियाँ काफी सुंदर तथा देखने में चिकनी और चमकीली हैं । इसलिए कुल मिला कर ये परिष्कृत और सुंदर हैं ।

दुर्भाग्यवश शांग युग के बाद चीन में मूर्तिकला का लोप हो गया। इस युग के बाद केवल छोटी-छोटी मूर्तियाँ ही बनायी जाने लगीं। शांग युग में काँसे की कला का भी विकास हुआ। काँसे के बहुत बड़े-बड़े बर्तन धार्मिक अनुष्ठानों के लिए बनाए जाते थे। काँसे के ये बर्तन अपनी सुंदरता की दृष्टि से संसार की कला के इतिहास में बेजोड़ हैं। कुछ विद्वानों का तो यह मत है कि किसी भी देश या किसी भी युग में काँसे के इतने सुंदर बर्तन नहीं बनाए गए। इस युग के लोग काँसे का प्रयोग अधिक करते थे और काँसा प्रचुर मात्रा में पाया जाता था। आन्यांग में जो खुदाई हुई है, उसमें काँसे की चीजें काफी संख्या में मिली हैं। काँसे के वने हथियार, औजार और गहने पाए गए हैं। काँसे के बने हथियारों में तीरों की नोक, कटारीनुमा कुल्हाड़ियाँ (Dagger axe) और वल्लम की नोक पायी गई हैं। औजारों में चाकू, कुल्हाड़ी, बसुला, सूई और सुआ पाए गए हैं। कब्रों में भी काँसे के बर्तन पाए गए हैं। आन्यांग शहर में काँसे को तैयार भी किया जाता था। इसके लिए काँसे की धातु को गलाया जाता था। अब यह मान लिया गया है कि पश्चिमी दुनिया के बहुत कम क़ारीगर शांग युग के काँसे के कारीगरों की तुलना में आ सकते हैं।

काँसे के बर्तनों पर नक्काशी की गई है, इन नक्काशियों के नमूने परंपरागत हैं। उदाहरण के लिए काँसे के बर्तनों पर परतदार सर्प (Dragon), भैंसें, भेड़, साँप, कीड़े और पक्षियों के चित्र बनाए गए हैं। ये चित्र कई प्रकार से बनाए गए हैं। कुछ पक्षियों के चित्र तो बहुत ही सजीव और वास्तविक लगते हैं। चूँकि इन बर्तनों का प्रयोग धार्मिक पूजा और अनुष्ठानों के अवसर पर होता था, इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि जिन जानवरों या पक्षियों के चित्र कांसे से बर्तनों पर पाए जाते हैं, उनका धार्मिक पूजा या अनुष्ठानों से संबंध था। चूँकि हम तत्कालीन धार्मिक विश्वासों से अवगत नहीं हैं, इसलिए इन आकृतियों और चित्रों का सही अर्थ लगाने में असमर्थ हैं। परदार सर्प का प्राचीन चीन के धार्मिक विश्वासों में काफी महत्त्व था। इसलिए उसका चित्र बनाना आवश्यक था। ओरेकल बोन के शिलालेखों में परदार सर्प का महत्त्व बतलाया गया है। इसी प्रकार वायु देवता की पूजा पक्षी के रूप में की जाती थी। ऐसा ओरेकल बोन के लेखों से पता चलता है। इसी कारण पक्षियों के चित्र बनाए जाते थे।

काँसे के बर्तनों पर जो कलात्मक नमूने पाए जाते हैं, वे सजावट और आलंकारिक दृष्टि से दुनिया के इतिहास में बेजोड़ हैं। इस विषय में विद्वानों में दो मत नहीं है। उदाहरण के लिए परदार सर्पों के जो चित्र बनाए गए हैं, उनकी तुलना आधुनिक युग के किसी भी चित्र से की जा सकती है। शांग युग के कांसे की कलाकृतियाँ सुन्दरता और सुरुचि के साथ-साथ अपनी मजबूती का भी परिचय

देती हैं। चाऊ युग की काँसे की कलाकृतियों से शांग युग की कलाकृतियाँ उच्चतर हैं। शायद काँसे को ढालने की प्रक्रिया चीनी लोगों ने किसी दूसरे देश से सीखी थी। इस प्रकार काँसे की कलाकृतियाँ और मूर्तिकला इस बात का प्रमाण हैं कि शांग युग के लोगों की कलात्मक अभिरुचि और ज्ञान काफी विकसित थे।

शांग युग की राजनैतिक अवस्था

शांग युग की राजनैतिक अवस्था का ज्ञान हमें ओरेकल बोन के लेखों से मिलता है। इस युग का राजा एक काफी बड़े राज्य पर शासन करता था। ऐसे तो उस युग के चीनी लोग यह विश्वास करते थे कि शांग वंश का राजा पूरी पृथ्वी पर शासन करता है। उनके इस विश्वास का हम केवल यह अर्थ लगाएँगे कि इनकी दृष्टि में दुनिया चीनी भाषा बोलने वालों तक ही सीमित थी। इसलिए उनका यह तात्पर्य था कि उनका राजा संपूर्ण चीनी जगत पर शासन करता है। ऐसा लगता है कि शांग राजाओं के राज्य की सीमा काफी बड़ी थी। इस राज्य पर वे लोग अपनी सैनिक शक्ति द्वारा अधिकार जमाए रहते थे।

शांग युग में लड़ाइयाँ अक्सर हुआ करती थीं। इन लड़ाइयों में रथों पर चढ़ कर धनुष-बाण के द्वारा युद्ध किया जाता था। इन हथियारों से ऐसा अनुमान किया जाता है कि उन लोगों ने बहुत बड़े भू-भाग पर अधिकार नहीं किया होगा। इस राज्य की राजनैतिक एकता को बनाए रखने में धार्मिक विश्वासों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ था। समय-समय पर लोगों में इस बात का प्रचार किया जाता था कि शांग राजाओं के पूर्वज काफी शक्तिशाली हैं, इसलिए जो लोग शांग राजाओं के प्रति वफादार रहेंगे, उनकी वे सहायता करेंगे तथा जो लोग शांग राजाओं का विरोध करेंगे, वे शांग लोगों के पूर्वजों का कोपभाजन बन कर दुर्गति को प्राप्त होंगे; क्योंकि क्रुद्ध होने पर शांग लोगों के पूर्वज प्रतिशोध अवश्य लेंगे।

ऐसा लगता है कि शांग राज्य की राजनैतिक एकता बनाए रखने में सुयोग्य शासन अथवा पैसों का हाथ उतना नहीं था, जितना कि एक प्रकार की सामंत प्रथा (Feudalism) का था। लेकिन, कुछ विद्वान इस बात को नहीं मानते कि सामंत प्रथा का विकास इस युग में हुआ था। वास्तव में सामंत प्रथा का विकास चाऊ शासकों ने किया। उन लोगों ने शांग युग से इस प्रथा को नहीं अपनाया। दरअसल जिन राजाओं को दृष्टि में रख कर विद्वानों को सामंत प्रथा का संदेह होता है, वे राजा शांग राजाओं के अधीनस्थ शासक थे, जिनको लड़ाइयों में हरा कर अधीनस्थ बनाया गया था। ये राजा सामंत या जागीरदार नहीं थे। इन्हें छोटे-छोटे इलाकों पर शासन करने वाला या किसी खास कुल या समुदाय का नेता (Tribal leader) माना जाता है। केवल युद्धों में हारने के कारण वे अधीनस्थ

हो गए थे। जिस प्रकार प्राचीन मेसोपोटामिया में सारगन प्रथम ने आसपास के राजाओं को हरा कर उनसे अधीनता मनवा ली थी और उन्हें हर साल कर देने को बाध्य किया था, ठीक उसी प्रकार के संबंध शांग राजाओं के भी अधीनस्थ राजाओं के साथ थे। प्राचीन भारत में समुद्रगुप्त ने भी सुदूर दक्षिण के राजाओं को हरा कर कर देने को बाध्य किया था। इसी प्रकार शांग राजाओं ने भी अपने अधीनस्थ शासकों के साथ किया। इसका तात्पर्य यह है कि इन अधीनस्थ शासकों के राज्यों पर कभी भी केंद्रीय रूप से राजधानी से शासन नहीं होता था। ये अधीनस्थ राजा अपने प्रदेशों पर स्वयं शासन करते थे और शांग राजाओं को कर दिया करते थे। यदि सैनिक शक्ति का भय कम हो जाता, तो ये अधीनस्थ राजा स्वतंत्र होने का प्रयास करते थे। जहाँ तक अनुमान है, ह्वांग-हो नदी के उत्तर में करीव चालीस हजार वर्गमील पर शांग राजाओं का संपूर्ण नियंत्रण था।

चीनी परंपराओं के अनुसार उस काल में एक ही राजा होता था, जिसे चीनी भाषा में 'वांग' (Wang) कहते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि उस जमाने में कुछ दूसरे भी सरदार थे, जो अपने-आप को राजा के समकक्ष मानते थे। इस युग के विभिन्न राज्यों में आपस में क्या संबंध थे, यह कहना मुश्किल है। उनमें अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। कभी-कभी दूसरे राज्यों में राजदूत भी भेजे जाते थे। इन राजदूतों के विषय में हमें जानकारी ओरेकल वोन के लेखों से मिलती है। कुछ प्रमाण मिले हैं, जिनसे यह पता चलता है कि इस प्रकार के राजदूत तथा वड़े राजकीय अफसर राजकुल अथवा कुलीन वर्ग के नहीं होते थे, वल्कि वे राजा के नौकर हुआ करते थे, जिनको धीरे-धीरे पदोन्नति प्राप्त हुई थी। इस वात का ज्ञान हमें चीनी भाषा-विज्ञान के आधार पर होता है। चीनी भाषा में मंत्री और अफसर के लिए जिन शब्दों का प्रयोग होता है, उनका इतिहास इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रारंभ में इनमें से एक शब्द का अर्थ होता था—'आँख'। धीरे-धीरे इस शब्द का अर्थ हुआ 'कैदी'। उसके वाद इस शब्द का अर्थ हुआ 'नौकर' और अंत में इस शब्द का अर्थ हुआ 'मंत्री'। इसी प्रकार 'शी' (Shih) दूसरा शब्द है, जिसके इतिहास से मंत्री और अफसर वर्ग के इतिहास का वोध होता है। शुरू में 'शी' शब्द का प्रयोग कातिव, लेखक तथा इतिहासकार के रूप में होता था। क्रिया के रूप में इस शब्द का प्रयोग भेजने, नौकर रखने या हुक्म देने के अर्थ में होता था। वाद में इस शब्द का प्रयोग अफसर के अर्थ में होने लगा। भाषा-विज्ञान के इन तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि अफसर और राजदूत वर्ग का विकास नौकरों की अवस्था से हुआ।

धनुषबाण इस युग के प्रधान आक्रामक अस्त्र थे। अभी हाल तक चीन के राजाओं के सम्मुख धनुष-बाण चलाने की प्रतियोगिताएँ हुआ करती थीं। ये प्रतियोगिताएँ प्राचीनकाल में भी हुआ करती थीं। आधुनिक युग में भी धनुष-बाण की प्रतियोगिताएँ चीनी सम्राट के दरबार में हुआ करती थीं। इन प्रतियोगिताओं में जीत की गणना लकड़ी और बाँस के टुकड़ों द्वारा गिन कर की जाती थी। इस प्रतियोगिता का लेखा-जोखा रखने के लिए एक कर्मचारी नियुक्त होता था, जिसको प्राचीन काल में 'शी' कहते थे। बाद में भी इस तरह की प्रतियोगिताओं के हिसाब-किताब रखने वालों को 'शी' ही कहते थे। चूँकि इस तरह का काम करने वाले प्राचीनकाल से ही तेज और बुद्धिमान होते थे, अतः इस तरह की नियुक्तियों में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती। जब लेखन-कला का विकास हुआ, तब ऐसे लोग दूसरी चीजों का भी लेखा-जोखा (Record) रखने लगे। धीरे-धीरे इतिहास लिखने की कला के विकास के साथ-साथ 'शी' शब्द इतिहासकार के रूप में प्रयुक्त होने लगा और जब विद्वत्ता का विकास हुआ, तब यह वर्ग विद्वान माना जाने लगा। धीरे-धीरे चीनी समाज में विद्वत् वर्ग ने शक्ति और प्रभाव प्राप्त कर लिया। इन लोगों को उनकी सेवाओं के लिए वेतन के रूप में जमीन और जागीर दी जाने लगी। लेकिन ये सब विकास शांग युग के बाद हुए। बाद के युग में तो विद्वत् समाज के हाथ में ही सारी राजनैतिक शक्ति केन्द्रित हो गई। लेकिन, हमें यह याद रखना है कि विद्वत् वर्ग की प्रतिष्ठा की शुरुआत धनुषबाण की प्रतियोगिताओं के हिसाब-किताब रखने के साथ ही हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि शांग युग में शासन का कार्य अधिकतर राजा ही किया करता था और वह छोटे-छोटे अफसरों से इस कार्य में सहायता लेता था। उसके राज्य के अन्दर कई अधीनस्थ राजा भी हुआ करते थे, जो उनको अपना अधिपति मानते थे और कर दिया करते थे। अपने राज्य के आंतरिक शासन के मामलों में ये अधीनस्थ राजा करीब-करीब स्वतंत्र थे।

शांग युग की युद्धकला

हम देख चुके हैं कि शांग युग में आक्रामक हथियारों में प्रमुख स्थान धनुष-बाण का था। जब तक पश्चिमी देशों के साथ संपर्क के कारण बंदूकों आदि का प्रयोग शुरू नहीं हुआ, तबतक आधुनिक युग में भी धनुष-बाण का प्रयोग होता रहा। इन धनुषों को लचीली लकड़ी और सींग से बनाया जाता था। चीनी संस्कृति में धनुर्विद्या का बराबर महत्त्व रहा है। कुलीन वर्ग के लोगों से अपेक्षा की जाती थी कि वे धनुर्विद्या का ज्ञान प्राप्त करें। कुलीन वर्ग का प्रत्येक पुरुष

धनुर्विद्या और रथ हांकने की कला का प्रशिक्षण प्राप्त करता था। चाऊ युग में राजाओं के लड़के और कुलीन लोगों के लड़के स्कूलों में धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त करते थे। यहाँ तक कि मनोरंजन के लिए राजा लोग भी धनुर्विद्या की प्रतियोगिता में भाग लेते थे। इन प्रतियोगिताओं के खत्म होने पर भोज और शराब पीने की पार्टियाँ हुआ करती थीं। शांग राजाओं की राजधानी में भी इस प्रकार की प्रतियोगिनाएँ हुआ करती थीं।

धनुष बाण के बाद प्रमुख हथियारों में कटारीनुमा कुल्हाड़ी थी। यह एक विचित्र प्रकार का हथियार था, जो एक कटारी की तरह नुकीला बनाया जाता। लेकिन, इसका प्रयोग कुल्हाड़ी की तरह होता था। इन हथियारों की मूठ काँसे की बनायी जाती थी, जो करीब नौ इंच लंबी होती थी। इस तरह के कुछ हथियारों पर इतनी सुंदर सजावट की गयी है, जिससे यह पता चलता है कि इनका प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों या पूजा के अवसर पर होता था। आन्यांग की खुदाई में बर्छे और बल्लम भी पाए गए हैं। इनका सिरा पत्थर, हड्डी या काँसे के बना रहता था। शांग युग की युद्ध-कला में धातुनिर्मित कवचों का भी प्रयोग होता था, जैसे धातुनिर्मित टोपियों का प्रयोग होता था।

१९३५ ई० में आन्यांग के पास कब्रों की खुदाई में सत्तर से अधिक काँसे के बने शिरस्त्राण मिले हैं। ये शिरस्त्राण शांग युग के ही हैं। यह शांग युग की काँसे पर बनी हुई नक्काशी से सिद्ध होता है।

चीन के ऐतिहासिक युग में युद्धकला में रथों का बहुत बड़ा स्थान था। ये रथ घोड़ों द्वारा खींचे जाते थे। शांग युग में करीब १३२४ ई०-पू० के लगभग ऐसे रथों का प्रयोग पाया जाता है। शायद इससे पहले से भी रथों का प्रयोग होता हो। बाद के युग में रथों का महत्त्व और भी बढ़ गया। चाऊ युग में रथों के प्रयोग का उल्लेख बार-बार आता है। रथों में दो घोड़ों का प्रयोग होता था। बाद में रथों में चार घोड़े जोतने की प्रथा शुरू हो गई। रथों में दो पहिए होते थे। इन पहियों में कई डंडे लगे रहते थे। शांग युग में रथों की अपेक्षा सैनिकों की संख्या अधिक थी। इन रथों पर संभवतः सेनापतियों और सैनिक अफसरों को ढोया जाता था। इस युग में अधिकतर रथों से युद्ध-संचालन का काम होता था। लेकिन, इनका प्रयोग वास्तविक लड़ाई में कम होता था।

कुलीन वर्ग के अधिकतर लोग सैनिक अफसरों के काम किया करते थे। निरंतर अभ्यास के द्वारा ये अपने-आपको युद्ध के लिए तैयार रखते थे, ताकि आवश्यकता पड़ने पर शीघ्रातिशीघ्र युद्ध में जा सकें। पैदल सैनिक अधिकतर कृषक हुआ करते थे. जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर युद्ध की शिक्षा दी जाती थी।

चाऊ युग के काव्य-संग्रह में ऐसे लोगों के विलाप का वर्णन है, जब ये घर से दूर युद्धक्षेत्र में जबरन ले जाए जाते थे और इन्हें घर छोड़ कर बहुत दिनों तक बाहर रहना पड़ता था। कभी-कभी ऐसे सैनिकों के परिवार को आर्थिक कष्ट भी सहना पड़ता था।

शांग युग की सेना बहुत बड़ी नहीं होती थी, लेकिन उस युग की दृष्टि से यह सेना बहुत छोटी भी नहीं कही जा सकती। तीन हजार की सेना का उल्लेख बार-बार आता है। पाँच हजार की सेना का वर्णन भी आता है। इस युग में किसी भी युद्ध-संबंधी अभियान के लिए कम-से-कम एक हजार की सेना का होना आवश्यक था। हम ठीक से नहीं कह सकते कि किस प्रकार युद्ध के इन अभियानों का संगठन और संचालन होता था। अभियान प्रारंभ करने के पहले युद्ध के हर पहलू पर ज्योतिषियों और पंडितों से भविष्यवाणी करायी जाती थी। यदि उन्हें शत्रुओं के आक्रमण की आशंका होती, तो वे प्रेतात्माओं से सहायता माँगते थे। वे अधीनस्थ राजाओं के पास पत्र आदि भेजने के लिए भी प्रेतात्माओं से परामर्श माँगा करते थे।

जिन युद्धों को योजना बना कर लड़ा जाता था, उनकी शुरूआत वसंत ऋतु में हुआ करती थी, लेकिन आकस्मिक हमलों का मुकाबला किसी वक्त किया जा सकता था। युद्ध में हराए गए लोगों को या तो बलिदान चढ़ा दिया जाता था या गुलाम बना दिया जाता था। कभी-कभी हमले रात में किए जाते थे। शांग लोगों के प्रमुख शत्रुओं का निवास उत्तर और पश्चिम की दिशा में था। जिन चाऊ लोगों ने शांग वंश को समाप्त किया, वे पश्चिम के ही रहने वाले थे। चीनी साहित्य से पता चलता है कि शांग युग के राजाओं ने पूर्वी समुद्री तट पर रहने वाली जातियों के साथ भी सफलतापूर्वक युद्ध किया। अंत में चाऊ लोगों की उच्चतर युद्धकला के कारण शांग वंश का विनाश हुआ।

शांग युग की धार्मिक अवस्था

शांग युग में धर्म का मुख्य रूप पितरों और पूर्वजों की पूजा से संवद्ध था। बाद में यह सत्य है कि चीन में कनफ्यूशियन धर्म, ताऊ धर्म और बौद्ध धर्म का विकास हुआ। लेकिन, यह ध्यान देने की बात है कि इन तीनों धर्मों से पूर्वजों की पूजा का घनिष्ठ संबंध था। कुछ विद्वान यह मानते थे कि पूर्वजों की पूजा चीन में बाद में शुरू हुई, लेकिन ऐसा मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

प्राचीन चीन के धर्म में पूर्वजों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनको मृत व्यक्ति नहीं माना जाता था, बल्कि शक्तिशाली देवता माना जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि मरने के बाद पूर्वजों के हाथ में असीम शक्ति आ जाती

है जिस तरह दूसरे देशों में देवताओं की पूजा का महत्त्व था, उसी प्रकार प्राचीन चीन में पूर्वजों की पूजा का महत्त्व था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि शिकार, खेती, लड़ाई तथा अन्य कामों में सफलता या विफलता पूर्वजों की कृपादृष्टि पर ही निर्भर करती है। अप्रसन्न होने पर ये पूर्वज अकाल, पराजय, बीमारी और मौत भेज कर दंड देते हैं। यह मानना गलत होगा कि शांग युग के निवासी अपने पूर्वजों को केवल भय या आतंक की ही दृष्टि से देखते थे। वास्तव में ये अपने पूर्वजों के प्रति गहरी निष्ठा और भक्ति रखते थे। घर के बड़े-बूढ़ों के मरने पर वास्तविक और गहरा शोक व्यक्त किया जाता था।

आन्यांग के पास शांग युग की तीन सौ कब्रों की खुदाई हुई है। इस खुदाई से उन लोगों के शव-संस्कार की प्रक्रिया का पता चलता है। इनके शवसंस्कार के बारे में एक विचित्र बात देखने को मिलती है कि ये मुर्दों को मुँह के बल सुलाया करते थे। किसी भी कब्र में शव-पेटिका नहीं पायी गई है। इससे यही अंदाज लगाया जाता है कि शव को दफनाने के पहले चटाई में लपेट दिया जाता था। यह इस बात से ज्ञात होता है कि काँसे के जो सामान कब्र में गाड़ दिए जाते थे इनको भी पहले चटाई में और चटाई के बाद कपड़ों में लपेट दिया जाता था। मृतक के महत्त्व के अनुसार उनकी कब्र में वस्तुएँ रखी जाती थीं। छोटी-छोटी कब्रों में काँसे की बनीं हुई कटारी-नुमा कुल्हाड़ी और कुछ मिट्टी के बर्तन रखे जाते थे। ऊँचे पद के व्यक्तियों की कब्रों में काफी संख्या में काँसे के सुंदर बर्तन रखे जाते थे। राजाओं की कब्र में बहुत ही बहुमूल्य पदार्थ रखे जाते थे। दुर्भाग्यवश राजाओं की कब्रों को खोद कर सामान चुरा लिए गए हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि शांग वंश के राजाओं की कब्रों में सफेद मिट्टी के सुंदर बर्तन, संगमरमर की कलात्मक मूर्तियाँ, काँसे के बर्तन (जो बीस-बीस फुट ऊँचे होते थे), काँसे के शिरस्त्राण और हथियार रखे जाते थे। बाद के युग में चीनी लोगों ने कब्रों में ऐसी वस्तुओं को रखना शुरू किया, जिसका प्रयोग जीवित लोग नहीं कर सकते थे। परंतु, शांग अथवा चाऊ युग में ऐसी बात नहीं थी। इसीलिए शांग युग की कब्रों में बहुमूल्य वस्तुएँ भी रख दी जाती थीं। फिर भी प्राचीन मिस्र के लोग जितनी बहुमूल्य चीजों को कब्रों में रखते थे, वैसी बात चीन में नहीं थी। मिस्र के पिरामिडों की तुलना में यहाँ की बनावट साधारण थी, लेकिन फिर भी इन कब्रों को बनाना काफी मुश्किल काम था। जो सबसे बड़ी कब्र पायी गई है, वह तैंतालीस फुट गहरी और ६५ फुट लंबी तथा चौड़ी है। इन कब्रों की दीवारों पर रँग कर सुंदर चित्रकारी की जाती थी। शव को उसके सामानों के साथ रखने के बाद मिट्टी से पूरी कब्र को भर दिया जाता था। राजाओं के शव-संस्कार के समय बहुत से मनुष्यों को बलिदान भी चढ़ा दिया जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि मरे हुए पूर्वज अंतरिक्ष में निवास करते हैं।

ओरेकल बोन के लेखों से पत्ता चलता है कि शांग युग के लोग अपने पूर्वजों से सहायता माँगते थे और उनको जितना बलिदान चढ़ाते थे, उतना किसी देवता को नहीं। इन लेखों से वास्तव में राजाओं द्वारा अपने पूर्वजों के प्रति बलिदान चढ़ाने का उल्लेख मिलता है, लेकिन इसके आधार पर हम यह भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि साधारण लोग भी इसी प्रकार अपने पूर्वजों की पूजा करते थे। विद्वानों का यह मत है कि पूर्वजों की पूजा करते वक्त उनका व्यक्तिगत नाम नहीं लिया जाता था। मृत रानियों को भी पूजा और बलिदान चढ़ाए जाते थे। खास कर स्त्रियों को संतान देना स्त्री-पूर्वजों की कृपा पर निर्भर माना जाता था।

पितरों और पूर्वजों के अलावा वे लोग कुछ दूसरी शक्तियों का भी प्रयोग करते थे। इस विषय में जिस प्रमुख देवी का ज्ञान हमें मिलता है, वह है—परदार-सर्प-स्त्री (Dragon Woman)। बाद के युग में पहाड़ों और नदियों की भी पूजा होने लगी थी। संभवतः शांग युग में इनकी पूजा नहीं होती थी। पर पृथ्वी की पूजा होती थी। चाऊ युग में पृथ्वी की पूजा एक मिट्टी के टीले के प्रतीक से की जाती थी। हर गाँव में एक ऐसा टीला रखा जाता था, जो उस गाँव के सामाजिक और धार्मिक जीवन का केंद्र बन जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि इस टीले में पृथ्वी देवी की आत्मा का निवास है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह कहना कठिन है कि इस युग में पृथ्वी की पूजा देवता के रूप में की जाती थी। इस युग का एक प्रधान देवता, वायु देवता भी था। वायु देवता को प्रसन्न करने के लिए बलिदान भी चढ़ाए जाते थे। इन प्रमुख देवताओं के अलावा कुछ छोटे-छोटे देवता भी थे, जैसे सर्प देवता। इसी प्रकार टी (T) नाम का दूसरा देवता भी था। इस देवता को 'टी' या 'शांग टी' कहते थे। 'शांग' का अर्थ होता है—ऊपर का शासक। वास्तव में शांग टी का प्रयोग ईश्वर के अर्थ में होता था। इस शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में विभिन्न मत हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि 'टी' शब्द का प्रयोग एक प्रकार की पूजा और बलिदान से था और उनका प्रयोग 'शांग लोगों के सबसे बड़े पूर्वज' के रूप में भी होता था। खास कर लड़ाई शुरू होने से पहले शांग टी की पूजा और उसकी कृपा प्राप्त करना आवश्यक था। शांग टी देवता वर्षा का मालिक था और फसल भी देता था। यह देवता भी अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्यों पर सौभाग्य या दुर्भाग्य भेज सकता था। एक प्रमुख देवता होते हुए भी मनुष्यों को सुख या दुःख देने में इस देवता को एकाधिकार प्राप्त नहीं था। पूर्वज तथा अन्य देवता भी यह सब कुछ किया करते थे। कुछ लोगों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि शांग युग में चीनी लोग एकेश्वरवादी थे। लेकिन, यह प्रयास गलत सिद्ध हुआ है; क्योंकि शांग युग के लोग बहुत-से देवी

देवताओं की पूजा करते थे। उनके सभी पूर्वज प्रमुख देवताओं का स्थान प्राप्त कर लेते थे। इसलिए 'टी' देवता को उसका एकमात्र देवता मानना गलत होगा।

शांग युग में चीनी लोग कई तरीकों से देवताओं की इच्छा जानने की कोशिश करते थे। खास कर कछुओं की हड्डियों पर लिख कर देवताओं से प्रश्न किए जाते थे। देवताओं की इच्छा जानने के लिए किस प्रकार का विधि-विधान था, इस का ब्यौरा हमें नहीं मिलता। राजा लोग कोई अभियान शुरू करने के पहले देवताओं की इच्छा जानने की कोशिश करते थे। कुछ विद्वानों के अनुसार शांग-युग में लोग देवताओं की इन्छा जानने की निम्नलिखित विधियों के अनुसार कोशिश करते थे—

(१) **बलिदान :** इस विषय में लोग यह जानना चाहते थे कि किस देवता को किस प्रकार का बलिदान दिया जाए। बलिदान में जानवरों की संख्या क्या हो।

(२) वे किसी भी विषय की घोषणा करने के पहले देवताओं की इच्छा जानना चाहते थे कि अमुक घोषणा की जाए या नहीं।

(३) राजनैतिक संबंधों और भोजों के विषय में वे देवताओं की इच्छा जानना चाहते थे, हालाँकि अभी इस विषय पर पूरी तरह से प्रकाश नहीं डाला गया है।

(४) यात्राओं के विषय में वे देवताओं के विचार जानने की कोशिश करते थे। यात्राओं पर जाने के पहले वे देवताओं की इच्छा जानना चाहते थे।

(५) शिकार और मछली मारने जाने के पहले भी देवताओं से जानना चाहते थे कि वे जाएँ अथवा नहीं।

(६) युद्ध प्रारंभ करने के पहले वे जानना चाहते थे कि सेना की क्या संख्या हो, किस प्रकार युद्ध किया जाए इत्यादि।

(७) हर फसल की बोआई के पहले वे जानना चाहते थे कि वह फसल कैसी होगी तथा उस साल खेती कैसी होगी।

(८) वे वर्षा, बर्फ, वायु और कुहासे के विषय में भी जानना चाहते थे।

(९) वे मौसम के विषय में भी देवताओं से प्रश्न किया करते थे।

(१०) बीमार पड़ने के बाद वे कब स्वस्थ होंगे, इस विषय पर भी देवताओं से प्रश्न किया करते थे।

(११) उनका सप्ताह दस दिन का होता था और प्रत्येक सप्ताह के शुरू होने के पहले देवताओं से पूछा करते थे कि यह सप्ताह खराब होगा या अच्छा।

(१२) वे राजनयिक विषयों पर भी देवताओं की इच्छा जानने की कोशिश करते थे।

हड्डियों पर प्रश्न लिख कर छोड़ दिए जाते थे। इन हड्डियों को 'ओरेकल बोन' कहते हैं। भविष्यवाणी करने वाला व्यक्ति उन हड्डियों पर देवताओं की इच्छा

लिख देता था। वे स्वप्नों के द्वारा भी देवताओं की इच्छा की व्याख्या किया करते थे।

शांग युग के धर्म में बलिदानों का भी बहुत अधिक महत्त्व था। बलिदानों की प्रथा इसलिए शुरू हुई कि इसके द्वारा पूर्वजों और पितरों को भोजन दिया जा सके। यह विश्वास किया जाता था कि मृत व्यक्तियों को भी भोजन की आवश्यकता होती है। बलिदान देते समय शराब को जमीन पर गिरा दिया जाता था। जानवरों को कभी-कभी जमीन में गाड़ दिया जाता था और कभी-कभी जला दिया जाता था। इस युग के चीनी लोग मानते थे कि बलिदानों द्वारा मृत व्यक्तियों को भोजन मिलता है। बलिदान में सबसे अधिक संख्या में जानवर चढ़ाए जाते थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसी कारण राजा लोग शिकार करने जाते थे। जिन जानवरों का बलिदान चढ़ाया जाता था, उनमें प्रमुख थे—गाय, बैल, भेंड़, सूअर तथा कुत्ते। खुदाइयों से पता चलता है कि जंगली सूअर और दूसरे जंगली जानवर भी बलिदान चढ़ाए जाते थे। ओरेकल बोन के लेखों से पता चलता है कि कभी-कभी मुर्गियाँ और घोड़े भी बलिदान चढ़ाए जाते थे। नर और मादा दोनों ही तरह के जानवर चढ़ाए जाते थे। एक बलिदान के समय एक से दस तक के जानवर बलिदान चढ़ाए जाते थे। कभी-कभी पचास, सौ और दो सौ जानवर भी बलिनान चढ़ाए जाते थे। बलिदानों में शराब भी चढ़ायी जाती थी। इसके अलावे कुछ बहुमूल्य पत्थर भी देवताओं को चढ़ाए जाते थे, जैसे संगयशव कौड़ियाँ भी बलिदानों में चढ़ायी जाती थीं। ये बलिदान खुली जगह में दिए जाते थे। शांग युग के लेखों से पता चलता है कि ये बलिदान मंदिरों में चढ़ाए जाते थे। इन मंदिरों को कई नामों से पुकारा जाता था। इनमें सबसे प्रचलित और प्रसिद्ध नाम का अर्थ होता था, 'आत्माओं का गृह'। आज भी चीनी भाषा में ऐसे मंदिरों को 'पूर्वजों का मंदिर' कह कर पुकारा जाता है। कभी-कभी बलिदान वाले मंदिरों को 'रक्त-मंदिर' भी कहा जाता था; क्योंकि ऐसा विश्वास था कि पूर्वजों की आत्माएँ रक्त का पान किया करती हैं।

ये बलिदान किस ऋतु में चढ़ाए जाते थे, इस विषय में कोई निश्चित मत देना कठिन है। संभवतः ये लोग वसंत ऋतु में फसलों की बुआई करते थे तथा ऐसी आशा रखते थे कि बलिदानों से फसलें अच्छी होंगी। यह भी संभव है कि हेमंत ऋतु में भी फसल कटने पर बलिदान कृतज्ञता-ज्ञापन के रूप में चढ़ाए जाते थे। हो सकता है कि वे वर्ष के प्रारंभ तथा अंत में भी बलिदान चढ़ाते थे।

बलिदान चढ़ाने की प्रणालियाँ भी कई प्रकार की थीं। बलिदानों के लिए चित्रलिपि में जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता था, उनसे बलिदान के तरीके का पता चलता है। कुछ पद्धतियों का ज्ञान हमें निश्चित रूप से होता है। शराब चढ़ाने का सबसे प्रचलित तरीका था, शराब को जमीन पर गिरा देना। यह प्रणाली चीन

के इतिहास में बहुत दिनों तक प्रचलित रही। जानवरों को बलिदान चढ़ाने के कई तरीके थे। सबसे प्रचलित तरीका जानवरों को आग में जलाने का था। यह कहना मुश्किल है कि आग में जलाने का उद्देश्य जानवर को केवल भूनना या पूरी तरह जला देना था। हो सकता है कि जानवर के शरीर के कुछ हिस्सों को ही आग में जलाया जाता हो। आग में जलाने के अतिरिक्त जानवर को जमीन में गाड़ कर भी बलिदान चढ़ाया जाता था। फिर पानी में फेंक कर भी जानवरों को बलिदान चढ़ाया जाता था।

संभवतः कुछ देवताओं को बलिदान आग में सौंप कर चढ़ाए जाते थे तथा कुछ देवताओं को जमीन में गाड़ कर। शांग युग की ओरेकल हड्डियों से पता चलता है कि हुआन नदी तथा पृथ्वी को जलायी गई सामग्री चढ़ायी जाती थी तथा पानी में फेंक कर पितरों को बलिदान चढ़ाया जाता था।

बलिदान के समय किस प्रकार का कर्मकांड अथवा पूजा-पद्धति थी, इसका ज्ञान प्राप्त नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन बलिदानों को चढ़ाने के लिए भी खास तरह के पुरोहित होते थे। आत्माओं से बातें करने के लिए भी खास तरह के ओझा हुआ करते थे। ये बलिदान इसलिए चढ़ाए जाते थे कि देवता तथा पितर लोग प्रसन्न हों, विभिन्न कार्यों में सहायता दें तथा विपत्ति और खतरे के समय रक्षा करें। कभी-कभी किसी विशेष इच्छा अथवा प्रार्थना की पूर्ति के लिए भी बलिदान चढ़ाए जाते थे।

शांग युग में नर-बलि की प्रथा थी अथवा नहीं, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। प्रोफेसर क्रील का मत है कि नर-बलि की प्रथा का बड़े पैमाने पर प्रचलित होने के पर्याप्त प्रमाण पाए जाते हैं। पर, चीनी विद्वान यह मानते हैं कि शांग युग के चीनी इतने वर्बर तथा असभ्य नहीं थे कि वे मनुष्यों को बलिदान चढ़ाते होंगे। उनका कहना है कि जिस शब्द के आधार पर नर-बलि का बोध कराया जाता है, उसका अर्थ नृत्य भी होता है। पर; प्रोफेसर क्रील के मतानुसार नर-बलि चढ़ाने वाली कुल्हाड़ी भी पायी गई है, जिससे सिद्ध होता है कि नर-बलि की प्रथा भी प्रचलित थी।

शांग युग के वाद नर-बलि की प्रथा में बहुत कमी आ गई, पर छिटपुट तौर पर, काफी दिनों तक यह प्रथा प्राचीन चीन में कायम रही। प्राचीन मिस्र की भाँति मृत राजाओं के साथ उनकी पत्नियों तथा उनके नौकरों को दफनाने की प्रथा भी काफी दिनों तक थी। उदाहरणार्थ २१० ई०-पू० में जब चीन वंश (Chin dynasty) का पहला सम्राट मरा, तब उसके साथ उसका सारा हरम जला दिया गया। आधुनिक युग में भी, कभी-कभी डाकूओं को बलिदान के रूप में ही मारा जाता था।

यदि डाकू किसी सैनिक या पुलिस अफसर की हत्या किए रहता, तो उस मृत व्यक्ति की आत्मा के लिए एक तख्ता बनाया जाता था तथा उस तख्ते के सामने उस डाकू को मार दिया जाता था। इसलिए यदि शांग युग की हड्डियों के शिलालेखों से शांग युग में नर-बलि का पता चलता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। बल्कि यह सत्य है कि शांग युग में नर-बलि की प्रथा काफी बड़े पैमाने पर प्रचलित थी। प्रोफेसर क्रील के मतानुसार शांग युग में कभी-कभी एक सौ या तीन सौ व्यक्तियों को एक साथ बलिदान चढ़ा दिया जाता था। ऐसा एक शिलालेख से नहीं, कई शिलालेखों से पता चलता है। साधारणतया, शांग युग में युद्धबंदियों का सफाया इसी तरीके से किया जाता था। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता प्रोफेसर ऐंडरसन का भी यही मत है कि शांग युग में नर-बलि की प्रथा थी; क्योंकि खुदाइयों में बहुत बड़ी संख्या में मानव-खोपड़ियाँ तथा हड्डियाँ मिलती हैं। प्रोफेसर ऐंडरसन के अनुसार कुछ गुफाओं में, जहाँ ये खोपड़ियाँ मिली हैं, नर-बलि चढ़ायी जाती थी। कुछ कब्रों की खुदाई से भी नर-बलि की प्रथा के प्रमाण मिलते हैं। विद्वानों का विचार है कि शांग युग में नर-बलि चढ़ाए हुए मनुष्यों की खोपड़ियाँ धड़ से अलग कर दी जाती थीं तथा उन्हें अलग-अलग दफनाया जाता था। खुदाइयों में इस प्रकार की कई खाइयाँ मिली हैं, जहाँ धड़ें तथा खोपड़ियाँ अलग-अलग दफनायी गयी हैं।

नरबलि चढ़ाए जाने वालों में एक खास जाति का नाम शिलालेखों में बार-बार आता है। यह जाति है—चियांग (Chiang)।

इस शब्द का अर्थ है 'पश्चिमी प्रांतों के गड़ेरिए'। शांग युग के चीनियों को उत्तर-पश्चिम में रहनेवाले बर्बर तथा असभ्य जातियों से निरंतर संघर्ष करना पड़ता था। ये जातियाँ बहुत बड़ी संख्या में भेड़ें पालती थीं। इसलिए शांग लोग इन्हें गड़ेरिया ही कहते थे। चूँकि शांग लोग मवेशी पालनेवाले थे। उन्हें असभ्य गड़ेरियों से सख्त नफरत थी। इसलिए जब कभी युद्धों में ये गड़ेरिए पराजित किए जाते तथा बंदी बनाए जाते, इन सभी बंदियों को बलिदान चढ़ा दिया जाता था। बाद में 'चियाग' शब्द का प्रयोग युद्धबंदी तथा गुलाम के अर्थ में होने लगा। जब ११२२ ई०-पू० में चाऊ लोगों के नेतृत्व में बहुत-सी बर्बर जातियों ने शांग लोगों पर आक्रमण किया तथा उन्हें हराया, तब इस आक्रमण में इस चियांग जाति ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। चाऊ लोगों से इस जाति का घनिष्ठ संबंध तथा खून का रिश्ता था।

इस प्रकार हम पाते हैं कि शांग युग के धार्मिक विश्वासों एवं अनुष्ठानों में बलिदान की प्रथा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यदि यह कहा जाए कि बलिदानों के

बिना उनकी धार्मिक पूजा संपन्न नहीं होती थी, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

चाऊ युग की सभ्यता तथा संस्कृति

चाऊ युग का महत्त्व

चाऊ राजवंश का शासनकाल चीन के लंबे इतिहास में सभी राजवंशों की तुलना में सबसे दीर्घकालीन था। इस राजवंश के शासनकाल की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ चीन के सांस्कृतिक इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः इसी युग में चीनी संस्कृति की उन विशिष्ट संस्थाओं तथा धारणाओं का जन्म हुआ, जिन्होंने चीन के सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को आधुनिक युग तक प्रभावित किया है। यदि यह कहा जाए कि इसी युग में चीनी संस्कृति की आधारशिला रखी गई, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

पारस्परिक सूत्रों के अनुसार चाऊ राजवंश ने ११२२ ई०-पू० से २२५ ई०-पू० तक चीन पर शासन किया। करीब नौ सौ वर्षों के इस लंबे शासनकाल में चीन के राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन में महान परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों से सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया तीव्र हो गई। विकास तथा परिवर्तन की इस तीव्र प्रतिक्रिया से चीनी संस्कृति का कोई अंग अछूता नहीं रहा। दर्शन एवं धर्म, राजनीति तथा नीतिशास्त्र के क्षेत्रों में अभूतपूर्व विकास हुआ। विशेषतः धर्म एवं अध्यात्म में ऐसे सामंजस्य का प्रादुर्भाव हुआ कि इन दोनों का विकास पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

साहित्यिक विकास की दृष्टि से भी यह युग चीन के इतिहास में अत्यंत विशिष्ट स्थान रखता है। चीनी साहित्य का यह शास्त्रीय युग (Classical Age) था। इसी युग में चीनी साहित्य के महान ग्रंथों का प्रणयन हुआ। चीनी साहित्य के बहुमूल्य रत्न 'ऐतिहासिक संग्रह' (Book of History) तथा 'काव्य-संग्रह' (Book of Poetry) की रचना बहुत अंश में इसी युग में हुई। चीनी दर्शन के महान आचार्य—कनफ्यूशियस (Confucius), मेंशियस (Mencius), लाओजू (Lao-Tzu) तथा मो-जू (Mo-Tzu) इसी युग को गौरवान्वित कर रहे थे।

चीन के इतिहास के चाऊ युग को 'सामंती युग' भी कहा जाता है। वस्तुतः सुव्यवस्थित शासन-तंत्र की सफलता की दृष्टि से चाऊ राज्य की सीमा काफी विस्तृत थी। इस विशाल राज्य की सीमा को ध्यान में रखकर चाऊ राजवंश के शासकों ने अपने राज्य को कई छोटे-छोटे भागों में विभक्त कर दिया तथा इन टुकड़ों को शासन के हेतु अपने संबंधियों और मित्रों को सौंप दिया। ये अधीनस्थ शासक ही सामंत माने जा सकते हैं। इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से इन्हें भड़कीली उपा-

धियों से विभूषित किया गया है। कृतज्ञताज्ञापन के लिए ये सामंती शासक चाऊ शासक को कर, सेना तथा पूर्ण निष्ठा का वचन देते थे। अपने शासनक्षेत्र में ये शासक पूर्णतः स्वाधीन थे। अरने अधिकार की रक्षा के लिए चाऊ शासक समय-समय पर इन सामंती शासकों के राज्य का दौरा करते थे तथा इन शासकों को प्रत्येक छठे वर्ष चाऊ शासक के दरबार में उपस्थित होकर अपने राज्य की गतिविधि का ब्यौरा देना पड़ता था। शीघ्र ही यह व्यवस्था मध्यकालीन यूरोप की सामंती प्रथा के समकक्ष प्रतीत होने लगी।

इस सामंती व्यवस्था के विकास ने भी तत्कालीन सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया को प्रभावित किया तथा इस युग की महत्ता में वृद्धि की। चाऊ राजा 'ईश्वर का पुत्र' (Son of Heaven) माना जाता था तथा वह सामंती शासकों का अधिराज था। इस व्यवस्था के कारण उसे प्रतिष्ठा तथा राज्य की राजनैतिक एकता बनाए रखने में सहायता मिलती थी। तत्कालीन धार्मिक विश्वासों के द्वारा भी राजा का हाथ मजबूत होता था। राजा को प्रजा एवं ईश्वर के बीच मध्यस्थ माना जाता था, जिसके सहारे वह राजनैतिक एकता तथा अपनी शक्ति को बनाए रखने में समर्थ होता था।

चूँकि राजा धार्मिक एवं राजनैतिक, दोनों ही विषयों में सर्वोपरि था, उसे कई विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। वह इच्छानुसार पंचांग में परिवर्तन कर सकता था, राज्य की ओर से बलिदान चढ़ाता था तथा समारोहों की अध्यक्षता करता था। उसके इन अधिकारों तथा कार्यों के निर्देशन के लिए विधियों एवं नियमों की संहिता बनायी गई। इन विधियों तथा नियमों को समष्टिगत रूप से चीनी पारिभाषिक शब्दावली में 'ली' (Li) कहते थे। ली के द्वारा औचित्य एवं मर्यादा के उन नियमों का निर्धारण होता था, जिनके पालन की अपेक्षा इस युग के सामंती शासकों तथा अभिजात वर्ग से की जाती थी। औचित्य की इस नियमावली के द्वारा चाऊ शासक अपनी प्रतिष्ठा की वृद्धि कर सकते थे तथा सामंती शासकों को अपने अधीन रख सकते थे।

कालांतर में, औचित्य एवं मर्यादा-संबंधी इन नियमों का संकलन बड़े ग्रंथों में किया गया, जिन्हें चीनी साहित्य के प्राचीनतम प्रतिष्ठित ग्रंथों में गिना जाता है। इसमें से सबसे प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित संग्रहों के नाम हैं—

(१) ईली अर्थात् आनुष्ठानिक रीति-नीतियों का संग्रह (Ili—Book of Ceremonial Customs),

(२) ली-ची अर्थात् धार्मिक कृतियों एवं अनुष्ठानों का संग्रह (Li-Chi—Record of Rites) और

(३) चाऊ-ली अर्थात् चाऊ कर्मकांड एवं धर्मविधियों का संग्रह (Chou-Li—Chou Rituals)।

इन ग्रंथों के द्वारा राजा तथा सामंती शासकों के संबंधों का नियमन किया गया। इनसे राजनैतिक अनुशासन तथा समुचित शिष्टाचार बनाए रखने में सहायता मिली। दूसरे शब्दों में, राजनैतिक एवं सामाजिक संबंधों की रूपरेखा निर्धारित की गई। इन महान ग्रंथों के प्रणयन के कारण भी चाऊ युग चीन के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस युग की मान-मर्यादा तथा ऐश्वर्य की कहानी चीनी इतिहास में अमर हो गई। चीनी इतिहासकारों ने इस युग की तड़क-भड़क और सज-धज को इस काल की विशेषता बतलाया है। चीन में प्रचलित एक कहावत के अनुसार सिया राजवंश राजभक्ति पसंद करता था, शांग राजवंश वास्तविकता का प्रेमी था तथा चाऊ राजवंश तड़क-भड़क और आडंबरप्रिय था।

चाऊ लोग कौन थे ?

चाऊ जाति का प्रारंभिक इतिहास स्पष्टतया ज्ञात नहीं है। संभवतः इनका प्रारंभिक इतिहास पारंपरिक कथाओं में निहित था, जिसको कालांतर में काव्य-संग्रह में वर्णित किया गया। इन पारंपरिक कथाओं से चाऊ लोगों की विजय के दो सौ वर्ष के पूर्व का इतिहास ज्ञात होता है। वे लोग चीन के किस प्रदेश के रहने वाले थे, इसका निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है। ये लोग वाई (Wei) नदी की घाटी के रहने वाले थे, जिसको आजकल शेंसी प्रांत (Shensi Province) कहते हैं। यह प्रदेश शांग लोगों की राजधानी से करीब सौ मील दक्षिण स्थित था और खेती की पैदावार की दृष्टि से काफी उपजाऊ था। चारों ओर से पहाड़ों और जंगलों से घिरा होने के कारण इस प्रदेश के निवासियों की प्रगति में बाहरी व्यवधान कम थे। परंपराओं से ज्ञात होता है कि चाऊ लोग पहले वाई नदी की सहायक नदी चिन नदी के पास रहते थे। लेकिन दूसरी जातियों के आक्रमण के कारण उन्हें दक्षिण की ओर जाना पड़ा। ये लोग जिस प्रदेश में आ कर बसे, उस प्रदेश का नाम चाऊ-मैदान था। संभवतः इसी प्रदेश के नाम पर उन लोगों को चाऊ कहा गया। शांग लोगों पर विजय पाने के थोड़े दिनों पहले चाऊ जाति वाई नदी के दक्षिण फेंग (Feng) नामक स्थान पर जाकर बस गई। यह स्थान आधुनिक नगर सियान (Hsian) नगर से लगभग चौदह मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित था। शांग लोगों पर विजय पाने के शीघ्र बाद इन लोगों ने अपनी राजधानी हाओ (Hao) नामक स्थान में बनायी। यह हाओ नगर फेंक नगर से करीब आठ मील उत्तर-पूर्व में स्थित था। बहुत दिनों तक चाऊ राजवंश की राजधानी यहीं स्थित रही। जब ७७१ ई०-पू० में बर्बर जातियों के आक्रमण से यह नगर ध्वस्त कर दिया गया, तब बाध्य होकर चाऊ लोगों को अपनी राज-

धानी बदलनी पड़ी। आज इन दोनों नगरों के भग्नावशेष भी नहीं मिलते हैं। जिन स्थानों पर ये दोनों नगर बसे हुए थे, वहाँ अब गेहूँ के खेत लहराते हैं। लेकिन, पास के गाँवों के नाम में अभी 'फेंग' तथा 'हाओ' शब्द जुड़े हुए हैं। इस आधार पर विद्वान यह मानते हैं कि इन्हीं स्थानों पर ये दोनों नगर स्थित थे।

चीन की ऐतिहासिक परंपरा के अनुसार चाऊ लोगों को सांस्कृतिक और जातिगत दृष्टिकोण से शांग लोगों का सगा-संबंधी माना जाता है। पर, इस विषय पर विद्वानों में गहरा मतभेद है। प्रोफेसर क्रील तो यह मानते हैं कि चाऊ लोग शांग जाति से पूर्णतया भिन्न थे। संभवतः यह मानना युक्तिसंगत होगा कि चाऊ लोग मूलतः उत्तरी चीन के नवपाषाण-युग के निवासियों के वंशज थे। चूँकि शांग लोग भी इन्हीं नवपाषाण-युग के निवासियों के वंशज थे, इसलिए दोनों जातियाँ निकट-संबंधी मानी जा सकती हैं। 'काव्य-संग्रह' के अनुसार चाऊ लोग शांग लोगों पर विजय पाने के सौ वर्ष पहले गुफाओं और झोपड़ियों में रहते थे। ये झोपड़ियाँ और गुफाएँ कुम्हारों के आवा से मिलती-जुलती थीं। नवपाषाण-युग के निवासी भी पृथ्वी के अंदर बनी खाइयों में रहते थे। इस बात से नवपाषाण-युग के निवासियों और चाऊ लोगों में निकट-संबंध सिद्ध होता है। चाऊ लोग मूलतः एक कृषिप्रधान जाति थे। उनकी भाषा शांग लोगों की भाषा से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। इसी कारण उन लोगों को शांग जाति की लिपि अपनाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इस लिपि को अपनाने में उन लोगों के अपने व्याकरण, शब्द-भंडार तथा मुहावरों में बहुत साधारण परिवर्त्तन करने पड़े। इस तरह मोटे तौर पर शांग जाति और चाऊ जाति में कुछ समानताएँ थीं, जिनसे इन दोनों के निकट-संपर्क का आभास होता है। लेकिन, उनकी संस्कृति के गहरे अध्ययन से यह पता चलता है कि दोनों संस्कृतियों में बहुत-सी विभिन्नताएँ भी थीं। उदाहरण के लिए उनकी शासन-प्रणाली शांग लोगों से पूर्णतया भिन्न थी। इसी प्रकार दोनों जातियों के धार्मिक विश्वासों में मौलिक विभिन्नताएँ थीं। उनके उत्तराधिकार के नियम भी पूर्णतया भिन्न थे। शांग जाति में जब राजा की मृत्यु होती थी, तब राजगद्दी का उत्तराधिकार पहले मृत राजा के भाइयों को होता था। यदि कोई भाई जीवित नहीं रहता, तो उत्तराधिकार लड़के को मिलता। परंतु चाऊ जाति में राजगद्दी का अधिकार सीधे मृत राजा की मुख्य रानी के सबसे बड़े पुत्र को मिलता था। इन बातों से शांग और चाऊ संस्कृति की मूलभूत विभिन्नताओं का पता चलता है।

चाऊ युग की प्रारंभिक अवस्था में जो सांस्कृतिक विकास हुआ, वह चाऊ और शांग दोनों जातियों के सम्मिलित प्रयास का परिणाम था। इस सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया में किस जाति का कितना योगदान था, यह ठीक-ठीक बतलाना

कठिन है। पर, इतना निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि इस सांस्कृतिक विकास में मुख्य योगदान शांग जाति का ही था। हाँ, यह सत्य है कि चाऊ जाति ने शांग संस्कृति को नए धर्म में दीक्षित होने वालों की तरह बड़े उत्साह से अपनाया तथा उस संस्कृति के बहुत से अंगों को बौद्धिक उत्साह से समृद्ध किया और अपनी विजयों के माध्यम से उस संस्कृति का विस्तार सुदूर देशों में किया। प्रारंभिक चाऊ युग की संस्कृति के विकास और प्रसार में चाऊ जाति का यह मुख्य योगदान था। वस्तुतः शांग युग की समृद्ध संस्कृति से चाऊ युग के लोगों का परिचय पुराना था। यह मानना गलत होगा कि वे लोग शांग लोगों पर विजय प्राप्त करने के बाद ही इस संस्कृति के संपर्क में आए। संभवतः शांग लोगों के संपर्क में आने पर ही चाऊ लोगों के हृदय में शांग लोगों पर विजय पाने की अभिलाषा का प्रादुर्भाव हुआ।

शांग संस्कृति के साथ चाऊ लोगों का प्रारंभिक संपर्क युद्धों के द्वारा ही हुआ। वाई नदी की घाटी में बसी हुई अनेक बर्बर जातियों में चाऊ जाति क्रमशः शक्तिशाल और प्रभावशाली होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि इनकी दृष्टि पूर्व में बसने वाली शांग जाति पर पड़ी। शांग प्रदेश से लौटने वाले लोगों से चाऊ लोगों ने शांग जाति की समृद्धि, विद्वता और संस्कृति की कहानियाँ सुन रखी थीं। परंपराओं के अनुसार तो यह माना जाता है कि चाऊ लोग संभवतः शांग लोगों की प्रजा थे। इस विषय पर निश्चत मत देना कठिन है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों जातियों में एक संधि हुई थी, जिसके अनुसार चाऊ लोगों ने अपने-आपको नाममात्र के लिए अधीनस्थ मान लिया था। इन संपर्कों से शांग संस्कृति का प्रभाव चाऊ जाति पर पड़ने लगा था। कई सूत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि शांग जाति के उच्च कुलों की लड़कियाँ तथा राजकुमारियाँ चाऊ लोगों को विवाह में दी जाती थीं। यह प्रथा चाऊ विजय के कुछ ही दिनों पहले तक प्रचलित थी। चीन के बाद के इतिहास में भी ऐसे उदाहरण पाए जाते हैं, जब बर्बर जातियों के आक्रमण से बचने के लिए चीनी राजकुमारियों को इन जातियों को दे दिया जाता था। इसलिए शांग राजकुमारियाँ भी बर्बर चाऊ जाति के आक्रमण के डर से विवाह में दी जाती हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यदि ऐसा होता था, तो यह सत्य है कि शांग जाति में एक प्रकार से खून का रिश्ता भी स्थापित हो चला था। इसी कारण बहुत से विद्वान यह मानते हैं कि सांस्कृतिक दृष्टिकोण से शांग और चाऊ जाति में विशेष अंतर नहीं था। वस्तुतः शांग लोगों पर विजय पाने के बहुत पहले से ही दोनों जातियों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान के द्वारा निकट-संपर्क स्थापित हो चला था। विजय के पश्चात् चाऊ लोगों ने शांग संस्कृति को अपना कर उसे आगे बढ़ाने में काफी उत्साह प्रदर्शित किया। विजय के पश्चात् चाऊ लोग शांग संस्कृति को आत्मसात् करने में प्रयत्नशील रहे। उनका उद्देश्य

था कि उनमें शांग लोगों में कोई अंतर न दीख पड़े। अपने इस प्रयत्न में वे बहुत हद तक सफल रहे। उन लोगों ने न केवल शांग लोगों की लिपि को अपनाया, बल्कि शांग युग की साहित्यिक भाषा और मुहावरों को भी अपनाया। उन लोगों ने शांग लोगों की भविष्यवाणी की कला, तिथि-क्रम, वास्तुकला तथा कुछ धार्मिक विश्वासों को भी अपनाया। बहुत से चाऊ शासकों ने शांग शासकों के नामों को भी अपनाया। इस प्रकार शांग जाति की समृद्ध संस्कृति से चाऊ जाति ने अपने आपको लाभान्वित किया।

इस सांस्कृतिक विनिमय की प्रक्रिया से चाऊ जाति को जो लाभ हुआ, उसके लिए वे सदैव शांग जाति के कृतज्ञ रहे। शांग जाति के सांस्कृतिक ऋण की चाऊ लोगों ने कृज्ञतापूर्वक घोषणा की तथा खुले दिल से शांग संस्कृति की महानता की प्रशंसा की। इस महान संस्कृति की धारा को जीवित और अक्षुण्ण रखने में उन लोगों ने अपने-आपको गौरवान्वित अनुभव किया। उन लोगों ने बड़े ही गर्व के साथ यह घोषणा की कि वे शांग की महान संस्क्रति के संरक्षक हैं। चाऊ युग के राजशासनों और घोषणाओं से इस बात के प्रमाण बार-बार मिलते हैं कि चाऊ लोग शांग संस्क्रति से कितने अधिक प्रभावित थे। इन लोगों ने अपने कर्मचारियों और अफसरों को बार-बार आदेश दिए कि वे शांग युग के दंडविधान का पालन करें तथा शांग युग महान पुरुषों के वचनों का अध्ययन करें एवं शांग युग की शासन-पद्धति का अनुकरण करें। दूसरे शब्दों में चाऊ शासक शांग युग की शासन-पद्धति, दंडविधान तथा विद्वानों की उक्तियों को आदर्श मानते थे। शांग युग की महानता को स्वीकार करने में इन लोगों ने कोई हिचक नहीं दिखायी और अपने पूर्वजों का नाम बहुत कम लिया। इस प्रकार चाऊ जाति के इतिहास में इस प्रकार का उदाहरण है, जब विजेता विजित जाति की संस्क्रति से प्रभावित होता है। विश्व-इतिहास में ऐसे और उदाहरण मिलते हैं जब विजित जाति की संस्क्रति न विजेता को प्रभावित किया हो तथा विजेता जाति उस संस्क्रति को न केवल अपनाती है, बल्कि उसका प्रसार भी करती है। उदाहरण के लिए रोमन लोगों ने यूनान पर विजय पायी, पर यूनानी संस्कृति से इतने प्रभावित हुए कि उस संस्कृति को समृद्ध कर प्रसारित किया।

बहुत से पश्चिमी विद्वानों ने चाऊ जाति और प्राचीन भारत में आ कर बसने वाली आर्य जाति में समानताएँ बतलायी हैं। उदाहरण के लिए ये दोनों ही जातियाँ कांसे की युग की सभ्यता को बनाने वाली थीं तथा दोनों ही जातियाँ रथों के सहारे युद्ध करती थीं। समय की दृष्टि से भी दोनों ही जातियाँ समकालीन थीं। यह कहना कठिन है कि इन दोनों जातियों में कोई संबंध था या नहीं। पारंपरिक चीनी साहित्य के अनुसार चाऊ जाति के लोग चीन के ही निवासी थे। इन लोगों के आक्रमण से चीन

में बहुत सी नई बातों का प्रारंभ हुआ, साथ ही उसके आगमन से धर्म और समाज के क्षेत्र में नए विचारों और नई प्रथा का आरंभ हुआ। इनके आक्रमण के उद्देश्य अनेक थे। इसमें संदेह नहीं कि लूट-खसोट भी इनका उद्देश्य था, साथ ही राज्य की स्थापना भी इनका उद्देश्य प्रतीत होता है।

चाऊ लोगों ने शांग प्रदेश पर अपने विजय-अभियान को लगभग वीस वर्षों में समाप्त किया। शांग लोगों को पराजित करने में उन्होंने शांग लोगों के शत्रुओं से सहायता ली। जब यह विजय-अभियान समाप्त हुआ, तब शांग दरवार में रहने वाले व्यक्तियों को होनांग प्रांत के क्वी-टे (Kwei-teh) नामक स्थान पर रहने की अनुमति दे दी गई। विजय प्राप्त करने के बाद चाऊ राजाओं ने शेन्सी प्रांत के सियान नामक स्थान पर अपनी राजधानी बनायी। इन्होंने बहुत सी जागीरें बनायीं, जिन्हें अपने मित्रों और संबंधियों में बाँट दिया। इन मित्रों और संवंधियों ने शांग लोगों पर विजय प्राप्त करने के लिए यथेष्ट सहायता की थी। चाऊ साम्राज्य जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा, तब उत्तर में दक्षिणी मंचूरिया से यांगजी नदी की घाटी तक फैला हुआ था तथा पूर्व में समुद्रतट से पश्चिम में कांसु (Kansu) प्रांत तक फैला हुआ था। इस साम्राज्य की सीमाओं के इर्द-गिर्द बहुत-सी असभ्य और बर्बर जातियाँ रहती थीं, जो चाऊ लोगों के आक्रमण का बहुत दिनों तक मुकावला करती रहीं। अपनी विजय के ढाई सौ वर्षों बाद तक चाऊ वंश के राजाओं ने बड़ी दृढ़ता के साथ अपने साम्राज्य पर अधिकार जमाए रखा। लेकिन, करीब ८०० ई०-पू० से चाऊ वंश के राजाओं का शासन ढीला पड़ने लगा।

चाऊ वंश की राजनैतिक विजय

प्राचीन चीन पर चाऊ वंश का शासन ११२२ ई०-पू० से २२५ ई०-पू० तक कायम रहा। इस वंश में ३७ सम्राट हुए, जिनके शासनकाल में चीन के निवासियों ने प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति की। परंपराओं के अनुसार शांग वंश का अंतिम शासक चाऊ-सिन (Chou-Hsin) था, जो योग्य होते हुए भी अपनी एक उपपत्नी के कुप्रभाव में आकर अत्याचार करने लगा। जनता इन दोनों के अत्याचार से कराह उठी। चाऊ-सिन का चाऊ वंश के शासक वेन-वांग (Wen-Wang) के साथ संघर्ष हुआ। वेन-वांग को पश्चिमी प्रदेश का राजा माना जाता था। चीन के इतिहास में उसे एक आदर्श शासक माना गया है। इसी के नेतृत्व में चाऊ लोगों ने शांग लोगों से युद्ध करने की क्षमता प्राप्त की।

चाऊ सिन के साथ वेनवांग के युद्ध में चाऊ-सिन को ही सफलता मिली। वेन-वांग को बंदी वना लिया गया तथा बहुत बड़ी रकम जुर्माने के रूप में देने पर

छोड़ा गया। इस पराजय का बदला वेन-वांग के पुत्र वू-वांग ने लिया। उसने एक विद्रोह के द्वारा चाऊ-सिन को गद्दी से उतार दिया। चाऊ-सिन ने अपने महल में आग लगा कर आत्महत्या कर डाली। वू-वांग ने चाऊ-सिन के मृत शरीर से सिर काट डाला, उसकी रखैल की हत्या कर डाली तथा चाऊ वंश की स्थापना की।

वेन-वांग की तरह, उसका पुत्र वू-वांग (Wu-Wang) भी चीनी इतिहास में आदर्श शासक माना गया। इसने वाई नदी की घाटी में सियान-फू (Hsian-fu) के पास अपनी राजधानी बनायी। वू-वांग का राज्य शांग वंश के शासकों के राज्य से बड़ा था। वू-वांग ने अपने राज्य का एक छोटा हिस्सा शांग वंश के शासकों को भी दिया तथा राज्य के दूसरे भागों को अपने दो भाइयों में बाँट दिया।

वू-वांग के बाद उसका नाबालिग पुत्र चेंग-वांग (Cheng-Wang) गद्दी पर बैठा। इसकी नाबालिगी के समय उसका चाचा चाऊ-कुंग (Chou-Kung) राजप (Regent) था। चाऊ-कुंग ने अपने भाई वू-वांग के शासनकाल में राज्य की 'बड़ी सेवा की थी। चाऊ-कुंग ने ही राज्य को संगठित किया तथा उसने अपने नाबालिग भतीजे को राज्य-शासन में इतने अच्छे ढंग से प्रशिक्षित किया कि उसकी मृत्यु के पश्चात् चेन-वांग ने बहुत अच्छे ढंग से शासन किया। चाऊ-कुंग ने शासन-तंत्र की जो रूपरेखा तैयार की, वह सदियों तक आदर्श बनी रही। इसी ने चाऊ-ली अर्थात् चाऊ-कर्म-कांड का संकलन कराया।

चाऊ-कुंग संपूर्ण चीनी इतिहास का सबसे विशिष्ट व्यक्तित्व था। उसने सात वर्षों तक राजप के रूप में शासन किया। वह विलक्षण बुद्धि, असाधारण उत्साह एवं शक्ति तथा निष्कलंक चरित्र के लिए प्रसिद्ध था। कनफ्यूशियस ने उसको अपने दर्शन का मूल-स्रोत बतलाया। बहुत से चीनी विद्वानों ने उसे कनफ्यूशियस से भी बड़ा बताया है। उसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में हमारी जानकारी पर्याप्त नहीं है, पर ऐसा लगता है कि चीनी संस्कृति में जो कुछ भी विशिष्ट है, उसका प्रारंभ चाऊ-कुंग ने ही किया। चीनी दर्शन तथा संस्कृति की आधारशिला रख कर उसने चीन की गरिमा का प्रारंभ किया। उसने ढीले-ढाले शासन-तंत्र को सुगठित तथा सुव्यवस्थित किया। चाऊ वंश द्वारा विजित राज्य, जो टुकड़े-टुकड़े होने जा रहा था, को उसने विघटित होने से बचाया तथा सुदृढ़ किया। उसने बड़ी ही दृढ़ता से कठिनाइयों का सामना किया तथा अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की।

चाऊ-कुंग ने ही पूर्वी प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। दो-तीन वर्षों की विजय-यात्रा में उसने पूर्वी प्रदेशों पर चाऊ-शासन को स्थापित किया तथा वहाँ के शांग-शासक को मार डाला। उसने सदा के लिए शांग-शासन को समाप्त कर डाला, जिससे भविष्य में चाऊ लोगों को किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े।

चेंग-वांग के बालिग होने पर चाऊ-कुंग ने शासन उसके हाथों सौंप दिया। अभी तक चाऊ राज्य की राजधानी वाई नदी की घाटी में ही थी। चूँकि चाऊ प्रदेश अब पूरब की ओर बढ़ता जा रहा था, चेंग-वांग ने लोयांग (Loyang) में नई राजधानी बनाने का आदेश दिया। यह राजधानी आधुनिक लोयांग के पास बनायी गई। यह नई राजधानी शांग वंश की राजधानी से डेढ़ सौ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित थी। कुछ सालों के बाद वर्त्तमान लोयांग से दस मील पूर्व दूसरी राजधानी बनायी गई। चाऊ-कुंग ने इस नई राजधानी के निर्माण में बहुत दिलचस्पी दिखायी। वह चाहता था कि चेंग-वांग अपनी राजाधनी यहीं रखे, पर उसने इसका प्रयोग राजधानी के रूप में कभी-कभी ही किया।

शांग लोगों के विद्रोह की समाप्ति के पश्चात् तथा पूर्वी प्रदेश में राजधानी बनने के बाद, चाऊ लोगों की विजय की प्रक्रिया पूर्ण हो गई। अब इन लोगों ने चीन के वैध शासकों के रूप में शासन करना प्रारंभ किया।

चाऊ वंश का संक्षिप्त राजनैतिक इतिहास

दुर्भाग्यवश, चाऊ वंश के प्रारंभिक युग का राजनैतिक इतिहास क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध नहीं है। राजाओं के नाम तथा उनसे संबद्ध दंतकथाएँ उपलब्ध हैं, पर क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता है। इस वंश में ३७ सम्राट हुए तथा इस वंश के शासनकाल में चीन का सर्वांगीण विकास हुआ। पर, इन सभी शासकों के शासन-काल का संपूर्ण इतिहास प्राप्त नहीं है।

चाऊ-कुंग तथा चेंग-वांग के बाद, चाऊ वंश के कुछ राजाओं ने बहुत-सी असभ्य तथा बर्बर जातियों पर विजय प्राप्त की। इनमें पहला प्रसिद्ध राजा चाओ-वांग था, जिसने १०५२ ई०-पू० से १००१ ई०-पू० तक राज्य किया। इसके पश्चात् इसका उत्तराधिकारी मू-वांग गद्दी पर बैठा, जिसने १००१ ई०-पू० से ९४६ ई०-पू० तक शासन किया। इसने भी बर्बर जातियों पर विजय प्राप्त की। इन दोनों राजाओं के शासनकाल में चाऊ वंश का अधिकार-क्षेत्र हान की घाटी तक फैल गया। मू-वांग ने बड़े ही उत्साह से दक्षिण तथा उत्तर-पश्चिम में अपने राज्य का विस्तार किया। दक्षिण में उसकी सेनाएँ यांगजी नदी के दक्षिण तक पहुँच गईं तथा उत्तर-पश्चिम में भी उसने दूर तक विजय प्राप्त की। मू-वांग ने नए प्रदेशों में शासन के लिए शासन-प्रणाली तथा कानूनों में भी सुधार किया।

नवीं शताब्दी ई०-पू० से चाऊ वंश का इतिहास कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है। शी-चिंग (Shih-Ching) नामक काव्य में राजाओं की कृतियों और उपलब्धियों का वर्णन प्राप्त होता है। धीरे-धीरे चाऊ राज्य के विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो

गई। एक ही साथ, राजकुल के कई परिवारों ने शासन करना शुरू किया। वहुत से मंत्रियों तथा सेनापतियों के वंशज भी, जिन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें मिली थीं, राजा से प्रतिद्वंद्विता करने लगे तथा अपने को उसके समकक्ष मानने लगे। इनमें से वहुत सामंतों ने कुछ असभ्य जातियों को पराजित कर अपने राज्य का विस्तार भी किया। इन विजयों के द्वारा चीनी सभ्यता तथा संस्कृति का भी विस्तार हो रहा था।

इस विघटन तथा अलगाव की प्रवृत्ति को रोकना चाऊ वंश के दुर्बल राजाओं के लिए संभव नहीं था। अतः, राज्य की एकता को कायम रखना राजाओं की व्यक्तिगत योग्यता तथा शक्ति पर ही निर्भर करता था। धीरे-धीरे राजा के सामंतों ने अपनी शक्ति का इतना विस्तार कर लिया था कि वे राजा की आज्ञा का खुल कर उल्लंघन करने लगे। शक्तिशाली सामंतों ने राजदरबार में जाकर राजा के प्रति निष्ठा व्यक्त करने से भी इन्कार करना शुरू किया तथा राजा को कर देना भी वंद कर दिया।

अयोग्य राजाओं के शासनकाल में सामंतों की शक्ति वढ़ जाती थी। ८७८ ई०-पू० में ली-वांग (Li-Wang) नामक राजा चाऊ वंश की गद्दी पर बैठा। यह बड़ा ही लालची, क्रूर तथा अत्याचारी था। जब प्रजा में इसके अत्याचारों के विरुद्ध असंतोष बढ़ने लगा, तब इसने द्रमन और कठोरता की नीति से असंतोष को दबाना चाहा। पर अंत में, इसके विरुद्ध भयानक विद्रोह हुआ, जिसके कारण इसे गद्दी छोड़ कर भागना पड़ा तथा इसने अपने जीवन के अंतिम चौदह वर्ष चिन (Chin) राज्य में एक साधारण व्यक्ति की तरह बिताए।

ली-वांग के बाद उसका लड़का, जिसका पालन-पोषण उस राज्य के मंत्री शाओ के ड्यूक (Duke of Shao) के यहाँ हुआ था, सुआन-वांग (Hsuan Wang) के नाम से ८२७ ई०-पू० में गद्दी पर बैठा। इसने ७८१ ई०-पू० तक योग्यतापूर्वक शासन किया। यह निःसंदेह अपने पूर्ववर्त्ती राजाओं से योग्य निकला। इसके समय में सामंतों ने राजा के प्रति श्रद्धा और निष्ठा के भाव व्यक्त किए। इसने अपनी योग्यता से चाऊ वंश की प्रतिष्ठा तथा शक्ति में वृद्धि की, पर इसे लगातार असभ्य जातियों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। इसने शांसी तथा शेंसी प्रांत पर असभ्य जातियों के हमले का मुकाबला किया और उन्हें मार भगाया। इसने इन शत्रुओं के प्रदेश पर भी हमला किया। हान की घाटी पर भी इसने आक्रमण किया। पर, बर्बर जातियों के साथ निरंतर संघर्ष में उलझे रहने से इसकी शक्ति एवं योग्यता का उपयोग अन्य रचनात्मक कार्यों में नहीं हो सका।

सुआन-वांग ने अपने पराक्रम से चाउ वंश के पतन की प्रक्रिया को कुछ दिनों के लिए रोक दिया। पर, इसकी मृत्यु के बाद, चाऊ राजवंश तेजी से पतन की ओर

अग्रसर होने लगा। इसका, उत्तराधिकारी यू-वांग अत्यंत कमजोर और निकम्मा निकला। इसने एक साधारण स्त्री के प्रेम में अंधा होकर अपने-आप को बिलकुल बदनाम कर दिया तथा शासन को पूर्णरूपेण चौपट कर दिया। चाऊ वंश के पराभव का सबसे अधिक उत्तरदायित्व इसी राजा पर है।

पाओ (Pao) नामक राज्य के सामंत ने यू-वांग को पाओज (Paoszu) नामक एक अत्यंत सुंदर लड़की भेंट की, जो राजा की सबसे प्रिय उपपत्नी बन गई। इस स्त्री ने राजा को इस प्रकार मंत्रमुग्ध कर लिया कि वह राजपाट छोड़ कर उसको प्रसन्न करने के ही प्रयत्न में लगा रहता था। परंपरा के अनुसार इस स्त्री को हँसाने के लिए उसने वहुत प्रयत्न किए, पर सफल नहीं रहा। तब उसने आक्रमण के समय जो दस हजार मशालें जलायी जाती थीं, उन्हें जलवाया। उनके धुएँ को देख कर चारों ओर से सामंत अपनी सेनाओं के साथ आ पहुँचे। झूठ-झूठ इन सामंत सेनाओं को आते देख राजा की उपपत्नी हँस पड़ी। इससे प्रोत्साहित होकर राजा ने वार-वार इस तरीके का प्रयोग करना शुरू किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी सामंतों ने इसे मजाक समझ लिया तथा वास्तविक आक्रमण की हालत में भी आना बंद कर दिया।

इस उपपत्नी के प्रभाव में आकर राजा ने अपनी पत्नी के पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी वनाने से इनकार किया तथा इसके लड़के को उत्तराधिकारी बना दिया। इसके वाद, इस उपपत्नी को ही रानी भी घोषित कर दिया। राजा की वैध पत्नी, शेन राज्य के शासक की लड़की थी। जब शेन राज्य के शासन को अपमान की खबर मिली, तब उसने यू-वांग को दंड देने के लिए, कई राज्यों तथा बर्बर जातियों से मिल कर आक्रमण कर दिया। इस वास्तविक आक्रमण के समय जब राजा ने मशालों के धुएँ से सामंतों को बुलाना चाहा, तब उन लोगों ने आने से इनकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि युद्ध में यू-वांग मारा गया, उसकी उपपत्नी बंदी बना ली गई तथा सारा खजाना लूट लिया गया। इस घटना से पश्चिमी चाऊ राजवंश के शासन का अंत हो गया तथा चाऊ वंश की महानता के दिन भी लद गए।

चाऊ राजवंश के अपकर्ष का काल

७७१ ई०-पू० के पश्चात् चाऊ वंश का अपकर्ष प्रारंभ होता है। यू-वांग की मृत्यु के पश्चात् सामंतों ने उसके वैध पुत्र को राजा मान लिया। इसका नाम पिंग-वांग था। उसका राज्यकाल ७७१ ई०-पू० से ७२० ई०-पू० तक था। इसके राज्यकाल में राजधानी वाई नदी की घाटी से हटा कर, पूरब की ओर लोयांग नामक स्थान पर ले जायी गई। राजधानी का परिवर्तन इसलिए किया गया, जिसमें बर्बर जातियों के आक्रमण आसानी से नहीं हो सकें। पुरानी राजधानी असभ्य जातियों के प्रदेश से निकटस्थ होने के कारण वार-वार आक्रांत होती थी। इस राजधानी

के परिवर्तन के बाद का इतिहास पूर्वी चाऊ राजवंश के शासन का इतिहास कहा जाता है। राजधानी का परिवर्तन चाऊ वंश के अपकर्ष का सीमा-चिह्न था। इसके बाद भी चाऊ वंश ने अपनी नई राजधानी से २५६ ई०-पू० तक राज्य किया। पर उनकी शक्ति, प्रतिष्ठा एवं गरिमा समाप्त हो गई। अब वे नाम मात्र के शासक बने रहे। वस्तुतः उनका अस्तित्व सामंतों की दया पर निर्भर था। चाऊ वंश के राज्य की सीमा बहुत-से सामंती शासकों के राज्य की सीमा से भी छोटी हो गई। अतः, पूर्वी चाऊ वंश के शासनकाल में शक्ति और प्रतिष्ठा चाऊ वंश के हाथ में नहीं, वरन् बहुत से सामंती शासकों के हाथ में चली गई।

इसके बाद चाऊ राजा अपने नाममात्र के सामंतों के हाथ की कठपुतली बन गए। यदि यह कहा जाए कि तत्कालीन सामंती व्यवस्था में, चाऊ शासक भी चीन के बहुत से सामंतों में एक हो गए, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। शक्तिशाली सामंतों ने शक्तिहीन चाऊ राजवंश के पतन से लाभ उठा कर अपनी शक्ति तथा राज्य का विस्तार करना शुरू किया। छोटे-छोटे सामंतों के भूभाग को हड़प कर कई राज्य बढ़ने लगे। आठवीं शताब्दी ई०-पू० से तीसरी शताब्दी ई०-पू० तक चीन की राजनैतिक स्थिति मध्यकालीन यूरोप की स्थिति से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। अनेक सामंती राज्यों ने चीन को अनेक राज्यों में विभक्त कर लिया था, जिनकी सीमाएँ शक्ति के अनुसार बढ़ती-घटती रहती थी। एक विशिष्ट प्रकार की सामंती व्यवस्था थी, जिसमें सामंत चाऊ शासक के प्रति निष्ठा, कर तथा सैनिक सहायता सैद्धांतिक दृष्टि से देने को बाध्य रहते थे और छोटे-छोटे सामंत बड़े-बड़े सामंत के प्रति इसी तरह का दायित्व रखते थे। चाऊ शासन ज्यों-ज्यों कमजोर होता गया, त्यों-त्यों सुरक्षा की दृष्टि से इन सामंतों ने गुट बना कर, आपसी समझौते और संधि के द्वारा पूरे चीन पर शासन करना प्रारंभ किया।

पूर्वी चाऊ वंश के शासनकाल में चीन एक राजनैतिक सत्ता के अधीन नहीं था, बल्कि बहुत से छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। सातवीं शताब्दी ई०-पू० में पाँच राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो गए। ये राज्य थे—

(१) ची—जो उत्तरी-पूर्वी चीन में फैला हुआ था।
(२) चिइन या चिन—जो पश्चिमी चीन में स्थित था।
(३) चीन या सीन—जो उत्तरी चीन में स्थित था।
(४) सुंग—जो बीच के मैदानों में फैला हुआ था।
(५) चू—जो दक्षिण की ओर वर्त्तमान हूपे (Hupeh) प्रांत में स्थित था।

इस समय तक चू प्रदेश में चीनी संस्कृति का पूर्ण रूप से विस्तार नहीं हुआ था। इसलिए, इस प्रदेश को बर्बर जातियों का प्रदेश ही माना जाता था। पर,

शक्तिशाली होने के कारण तत्कालीन राजनीति में यह प्रदेश महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा था।

ये पाँचों राज्य आपस में लड़ते रहते थे, पर इसके शासनकाल में चीन के सांस्कृतिक एवं सामाजिक विकास की गति धीमी नहीं हुई। पाँचवीं शताब्दी ई०-पू० के मध्य भाग में चीन के इतिहास में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गए थे। विभिन्न राज्यों के बीच निरंतर युद्ध ही इस युग की विशेषता थी। पर सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्वी चाऊ वंश के शासन के पतन का काल बड़ा ही महत्त्वपूर्ण एवं सृजनात्मक था। शासन, कानून, दर्शन एवं धर्म में नए-नए विचारों का प्रादुर्भाव हुआ।

चाऊ राजवंश की शक्ति ज्यों-ज्यों क्षीण होती गई, विभिन्न राज्यों के आपसी संघर्ष बढ़ते गए। इतिहास चीनी इतिहासकारों ने इसे 'आंतरिक संघर्ष का युग, कहा है। युद्ध करना इस युग में एक पेशा बन गया। युद्धकला को परिवर्तित कर उसे अधिक कारगर बनाया गया। शक्ति के आधार पर शक्ति के प्रसार के लिए युद्ध बराबर चलते रहे। शक्तिशाली राज्य छोटे राज्यों को निगलने लगे। समाज में क्रांतिकारी परवर्तन हुए। पुराने धनी एवं अभिजात वर्ग के लोग साधारण वर्ग में आ गए तथा साधारण वर्ग के लोग अभिजात वर्ग के सदस्य हो गए।

धीरे-धीरे चीन राज्य सबसे शक्तिशाली हो गया। इसने पूरब और दक्षिण की ओर जाने वाले दो मार्गों पर अधिकार कर लिया, जिससे इसकी आर्थिक स्थिति में काफी उन्नति हुई। इस राज्य का सैनिक संगठन अन्य राज्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ था। इसने रथों द्वारा युद्ध-संचालन का तरीका छोड़ कर पैदल तथा घुड़सवार सैनिकों द्वारा लड़ने की कला अपनायी। संभवतः इसने इस प्रकार की युद्धकला अपने पड़ोसी बर्बर जातियों से सीखी थी, जो इस राज्य की पश्चिमी तथा उत्तरी सीमा पर स्थित थे। कभी-कभी ची तथा चू राज्यों ने मिल कर चीन राज्य का मुकाबला किया, पर इन दोनों में कोई चिरस्थायी संधि नहीं हो सकी। तीसरी शताब्दी ई०-पू० के पूर्वार्द्ध में ची की शक्ति को सदा के लिए समाप्त कर दिया गया। ची के विनाश से चीन की शक्ति में और वृद्धि हो गई। ची के विनाश के पश्चात् चीन ने चू राज्य को भी कई बार पराजित कर उसके बड़े भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

इन सामंती राज्यों के आपसी संघर्ष के कारण, चाऊ राजवंश की शक्ति एवं प्रतिष्ठा में उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। चाऊ वंश की कमजोरी से प्रोत्साहित होकर कुछ सामंती शासकों ने वांग अर्थात् राजा की गौरवपूर्ण उपाधि भी धारण करना शुरू किया। अभी तक वांग की उपाधि चाऊ वंश के शासक हीं धारण कर सकते थे। अन्य शासक यह उपाधि धारण कर अपने-आपको चाऊ वंश के राजाओं

के समकक्ष सिद्ध करना चाहते थे। तीसरी शताब्दी के मध्य में नान-वांग नामक राजा चाऊ वंश की गद्दी पर बैठा। यह चाऊ वंश का अंतिम राजा था, जिसने वांग की उपाधि धारण की। चीन राज्य ने इस राजा से इसके राज्य के पश्चिमी हिस्से को छीन लिया तथा उसे शक्ति एवं आधिपत्य के सभी प्रतीकों से वंचित कर दिया। नान-वांग की मृत्यु २५६ ई०-पू० में हुई। इसकी मृत्यु के पश्चात्, इसके एक संबंधी ने पूर्वी चाऊ राजकुमार (Eastern Chou Prince) अथवा तुंग-चाऊ-चुन (Tung-Chou-Chun) की उपाधि धारण कर कुछ दिनों तक पूर्वी प्रदेश पर अधिकार बनाए रखा। पर, २४९ ई०-पू० में चीन राज्य द्वारा यह भी पराजित किया गया तथा इसका राज्य चीन राज्य में मिला लिया गया।

चाऊ राज्य को पूर्णतया समाप्त करने के बाद भी चीन राज्य को कुछ अन्य शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वियों से लड़ना पड़ा। निर्णायक के रूप से चीन राज्य को सर्वशक्तिशाली बनाने का श्रेय चीनी इतिहास के सबसे बड़े महान योद्धा शी-हुआंग-टी (Shi-Huang-Ti) को है, जिसने अपने पराक्रम से समस्त चीन को एक राजनैतिक सूत्र में आवद्ध किया। २४७ ई०-पू० में शी-हुआंग-टी कम उम्र में ही गद्दी पर बैठा। इसके नेतृत्व में २२७ ई०-पू० तक समस्त चीन का एकीकरण हुआ। चीन वंश के नाम पर ही पूरे देश का नाम 'चीन' पड़ा। शी-हुआंग-टी का देहांत २१० ई०पू० में हुआ। चीन वंश सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्णतया चीनी था, पर जातिगत दृष्टि से पूर्णतया चीनी नहीं था। चीन वंश की स्थापना से चीनी संस्कृति के प्रारंभिक विकास की कहानी समाप्त होती है तथा साम्राज्यवाद के एक नए युग का श्रीगणेश होता है।

चाऊ युग का सांस्कृतिक विकास

चीनी संस्कृति के विकास के इतिहास में चाऊ युग का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। चीनी संस्कृति अपने विभिन्न रूपों में न केवल पल्लवित एवं पुष्पित हुई, वरन् अनेक नए प्रदेशों तथा बर्बर जातियों में इसका प्रसार हुआ। इसलिए, यदि यह कहा जाए कि चाऊ युग में चीनी संस्कृति के प्रमुख विचारों, संस्थाओं तथा मान्यताओं का उद्भव हो चुका था, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। वस्तुतः यह चीनी संस्कृति का विकास काल था।

इस विकास तथा प्रसार के क्रम में चीनी संस्कृति कई बाहरी तत्त्वों के संमिश्रण से समृद्ध हुई। कई बर्बर जातियों के संपर्क में आने से उनकी सभ्यताओं के कई तत्त्वों को भी चीनी संस्कृति ने आत्मसात् कर लिया। अतः, चाऊ युग में चीनी संस्कृति कई सांस्कृतिक धाराओं का सामंजस्य उपस्थित करती है। उदाहरण के लिए चाऊ तथा चीन युग की कला पर शक लोगों की कला के प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि चीन के पश्चिमी मैदानों में शक जाति का शासन था। सांस्कृतिक

विकास की दृष्टि से चाऊ युग का विकास यूनानी इतिहास के पेरिक्लीज के युग से मिलता-जुलता है।

चाऊ युग की राजनैतिक व्यवस्था

चाऊ युग के संक्षिप्त राजनैतिक इतिहास से तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था का आभास मिलता है। शांग युग की समाप्ति के बाद राजनैतिक व्यवस्था जटिल तथा पेचीदी होती गई और एक प्रकार की सामंती व्यवस्था की शुरूआत हो गई। विजय के पश्चात् चाऊ विजेताओं ने राज्य के भू-भाग को अपने सगे-संबंधियों तथा मित्रों में बाँट दिया, क्योंकि इन्हीं लोगों के सहयोग से इन लोगों ने विजय प्राप्त की थी। बड़ी-बड़ी जागीरें प्राप्त करने के बाद इन लोगों ने अपने-अपने प्रदेशों में राजाओं की तरह शासन करना प्रारंभ किया। अपने इलाकों में रहने वाले लोगों के जीवन पर जागीरदारों अथवा सामंतों का पूर्ण अधिकार था। तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था तथा सामाजिक जीवन में राजा के बाद शक्ति एवं प्रतिष्ठा की दृष्टि से इन्हीं सामंतों का स्थान था।

जिस प्रकार राजा ने इन सामंतों को जागीरें दी थीं, उसी प्रकार ये सामंत भी अपने मंत्रियों तथा अधीनस्थ सरदारों को उनकी सेवाओं के बदले जमीन देते थे। इस व्यवस्था को वास्तविक अर्थ में सामंती व्यवस्था नहीं कहा जा सकता, पर उससे मिलती-जुलती व्यवस्था अवश्य कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, मध्ययुगीन यूरोपीय सामंती व्यवस्था में राजा से साधारण प्रजा तक कई सीढ़ियाँ थीं—सामंतों की कई श्रेणियों के द्वारा सामंती व्यवस्था आबद्ध थी, यह बात चाऊ काल की सामंती व्यवस्था में नहीं पायी जाती है। इस व्यवस्था में दो-एक श्रेणियाँ ही थीं। छोटा जागीरदार, जो जमीन की देखभाल करता था, साधारण प्रजा का मालिक था। साधारण जनता साधारण मजदूरों की तरह खेती का काम करती थी तथा अपनी मजदूरी के बदले भरण-पोषण के लिए अनाज पाती थी।

भूमि-व्यवस्था में सुनिश्चित कानूनों का विकास नहीं हुआ था। जमीन का कर अथवा जमीन खरीदने-बेचने की व्यवस्था का विकास नहीं हुआ था। शक्तिशाली लोग कमजोर लोगों की जमीन पर बलपूर्वक अधिकार कर लेते थे। पर, सभी को अपनी भूमि पर अधिकार बनाए रखने के लिए सदैव सतर्क रहना पड़ता था। लगभग सभी भूमिधारियों के पास एक छोटी-मोटी सेना रहती थी; क्योंकि भूमि की रक्षा तथा समय-समय पर अपने स्वामी अथवा सामंत की सहायता के लिए उन्हें सेना भेजनी पड़ती थी। इस दृष्टि से सभी छोटे-बड़े सामंत अथवा भूमिधारी अपनी सेना को यथाशक्ति शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करते थे। अपने-आप की रक्षा के लिए इन भूमिधारियों को आसपास के सामंती शासकों से मैत्री संबंध भी रखना पड़ता था,

ताकि विपत्ति के समय उन्हें सहायता प्राप्त हो सके। ये लोग कुशल परामर्शदाताओं को भी अपने पास रखते थे। इन्हें भूमि पर काम करने वाले किसानों तथा मजदूरों के सद्भाव को भी बनाए रखना पड़ता था; क्योंकि युद्ध में ये लोग ही सैनिक का काम करते थे। असंतुष्ट होने पर, ऐन मौके पर ये लोग साथ छोड़ सकते थे।

राजा 'वांग' (Wang) कहा जाता था, जो इस व्यवस्था के अंतर्गत शीर्षस्थ था। सिद्धांततः राजा को शासन का अधिकार ईश्वरीय आदेश तथा पुण्य के आधार पर मिला था। चीनी भाषा में ईश्वरीय आदेश को 'टिएनमिंग' (Tienming) तथा पुण्य को 'टे' (Te) कहा जाता था। उसे इस पुण्य की प्राप्ति न केवल अपने कामों द्वारा, वरन् अपने पूर्वजों द्वारा ईश्वरीय आदेशों के पालन से अर्जित होती थी। पर, व्यावहारिक दृष्टि से राजा की शक्ति एवं प्रभुता उसकी व्यक्तिगत योग्यता तथा उसके चरित्र एवं व्यक्तित्व की गरिमा पर निर्भर करती थी। राज्य के सुविस्तृत होने तथा यातायात की कठिनाइयों के कारण संपूर्ण राज्य पर राजा का कारगर ढंग से शासन संभव नहीं था। इसलिए प्रांतों में रहने वाले प्रमुख सामंती शासक बहुत हद तक स्वतंत्र शासकों-जैसा व्यवहार करते थे। केवल धार्मिक मामलों में ये लोग राजा की प्रधानता स्वीकार करते थे। उपाधियाँ प्रदान करना भी राजा का ही काम था। चाऊ राजवंश के शासन के प्रारंभिक काल में, राजाओं के हाथ में वास्तविक शक्ति केंद्रित नहीं थी, तथापि ये लोग शांगवंश के शासकों से अधिक शक्तिशाली थे। पर जैसा हम देख चुके हैं, चाऊ वंश के अपकर्ष काल में चाऊ शासक नाममात्र के राजा रह गए और उनके सामंत उनसे अधिक शक्तिशाली हो गए। इस अवनति के युग में जो थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा चाऊ राजाओं को प्राप्त थी, वह उनके प्रतापी पूर्वजों के नाम पर प्राप्त थी। राज्य के धार्मिक कृत्यों में उनकी प्रधानता से भी उन्हें थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

राजा मंत्रियों की सहायता से शासन-कार्य करता था। प्रधान मंत्री समग्र शासन तथा नीतियों के निर्धारण में राजा अथवा वांग की सहायता करता था। प्रधान मंत्री के अलावे छह अन्य मंत्री भी राजा की सहायता करते थे। प्रत्येक मंत्री एक विभाग का अध्यक्ष होता था। ये विभाग थे—कृषि, युद्ध, लोक-निर्माण-विभाग, वित्त, धार्मिक मामले तथा न्याय-विभाग। कृषि-मंत्री फसल बोने, काटने, बेचने तथा विभिन्न प्रकार की फसलों के बारे में आदेश दिया करता था। सेना के अनुरक्षण तथा साज-सामान का उत्तरदायित्व युद्ध-मंत्री पर था। लोक-निर्माण-विभाग का मंत्री सड़कों, नहरों और बाँधों की देखभाल के लिए जिम्मेदार था। इसकी अध्यक्षता में दलदल भूमि को खेती के योग्य बनाया जाता था। वित्त-मंत्री आर्थिक मामलों, राजकीय कोष तथा राजा के घरेलू खर्च का निरीक्षण करता था। धार्मिक मामलों का मंत्री राजा

के दरबार के समारोहों तथा धर्मानुष्ठानों के विषय में सलाह देता था। इसके मातहत में अनेक पुजारी, ज्योतिषी, स्वप्नों के व्याख्याता तथा गायक रहते थे। न्याय-मंत्री न्याय-शासन तथा दंडविधान में संशोधन के लिए उत्तरदायी था।

इन मंत्रियों की सहायता से राजा अपने राजनैतिक कर्त्तव्यों को निभाता था। नीति-निर्धारण तथा शासन के व्यापक पहलुओं के विषय में राजा इनकी मंत्रणा लेता था, पर अंतिम निर्णय राजा का ही होता था। राजा को अधीनस्थ सामंती शासकों के आपसी झगड़ों का भी फैसला करना पड़ता था तथा सैनिक अभियानों के पूर्व उनके ब्यौरेवार संचालन का निर्णय करना पड़ता था। इन सभी मामलों में शक्ति एवं निर्णय का मूल-स्रोत राजा ही था। सामंती शासकों को जागीर देने या छीनने का हक उसी को था। राज्य की खुशहाली, शासन की स्थिरता तथा ईश्वर एवं मानव के बीच सामंजस्य की स्थापना के हेतु राजा ही धार्मिक अनुष्ठानों का विधिवत् संपादन कर सकता था।

राजा तथा मंत्रियों के बाद एक लंबी तथा काफी पेचीदी नौकरशाही थी। बहुत बड़ी संख्या में कई प्रकार के अफसर तथा कर्मचारी शासन-तंत्र के संचालन के लिए नियुक्त थे। इनमें से बहुत से-अफसरों के पद वंशानुगत थे। चाऊ वंश के लंबे शासनकाल में कई परिवर्तन भी हुए। चाऊ राजाओं की शक्ति का ह्रास होने से, इस नौकरशाही का प्रशासनिक महत्त्व भी कम होता गया। धीरे-धीरे इसका रूप रूढ़िबद्ध तथा घिसा-पिटा हो गया और यह कोई कारगर कदम उठाने में असमर्थ हो गई। पर, धार्मिक विश्वासों के क्षेत्र में, राजा के साथ-साथ इस नौकरशाही की भी महत्ता थी। राज्य की उन्नति एवं समृद्धि के लिए न केवल राजा को, बल्कि इन विभिन्न पदाधिकारियों को भी समय-समय पर धार्मिक अनुष्ठानों को संपन्न करना पड़ता था। इन धार्मिक कृत्यों का संपादन समाज के कल्याण के लिए उतना ही आवश्यक माना जाता था, जितना मनुष्यों का पारस्परिक व्यवहार में नैतिक कर्तव्यों का पालन।

चाऊ राजवंश का शासित भूभाग मुख्यतः दो भागों में विभक्त था—१. राजा द्वारा शासित भूभाग तथा २. राजा के अधीनस्थ सामंतों द्वारा शासित प्रदेश। चाऊ राजवंश के शासन के कुछ भाग में राजा द्वारा शासित प्रदेशों तथा सामंतों द्वारा शासित प्रदेशों की संख्या कुल मिला कर नौ थी। इन नवों प्रांतों के शासक राजा द्वारा ही नियुक्त किए जाते थे। कई प्रातों के गवर्नर स्थानीय शासक ही नियुक्त किए गए थे।

सामंती शासकों को राजा को सैनिक सहायता तथा कर देना पड़ता था और समय-समय पर दरबार में जाकर निष्ठा व्यक्त करनी पड़ती थी। इसके बदले में

उन्हें जागीर तथा उपाधियाँ प्रदान की जाती थीं। पाँचवीं शताब्दी ई०-पू० तक सिक्कों का प्रचलन नहीं होने से कर उपज के रूप में ही दिया जाता था। प्रत्येक सामंत को अपने प्रदेग में प्रदेश के देवताओं तथा पूर्वजों की पूजाएँ करनी पड़ती थीं और अपनी प्रजा में न्याय के द्वारा शासन करना पड़ता था। उन्हें प्रजा के सम्मान एवं प्रतिष्ठा की रक्षा करनी पड़ती थी। अपने प्रदेश के शासन के लिए सामंत लोग भी बहुत से पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों को नियुक्त करते थे।

७७१ ई०-पू० के पहले यह व्यवस्था राजा तथा सामंतों के बीच संबंधों की नैतिकता पर आधारित थी, जिसके अनुसार छोटा शासक बड़े शासक का आदर करता था। सैद्धांतिक दृष्टि से सामंत राजा के अधीनस्थ थे तथा अपने पद के लिए उसकी कृपा पर निर्भर करते थे। अतः, पश्चिमी चाऊ राजवंश के शासनकाल में यह व्यवस्था कायम रही तथा समाज में स्थिरता बनी रही। पर चाऊ वंश के पतनकाल में, यह व्यवस्था टूट गई तथा राजा से अधिक सामंत लोग ही अधिक शक्तिशाली हो गए।

चाऊ वंश के शासनकाल में युद्ध रथों द्वारा लड़ा जाता था। लड़ाइयों का संचालन चहारदीवारी से घिरे हुए नगरों के भीतर से होता था। युद्ध में बहुधा बर्बरता तथा कठोरता प्रदर्शित की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि बर्बर जातियों पर विजय प्राप्त करने के बाद मृतकों का मांस बड़े समारोह के साथ खाया जाता था, पर चीनी संस्कृति को मानने वालों के साथ युद्ध में ऐमी बर्बरता नहीं प्रदर्शित की जाती थी। ७७१ ई०-पू० के पहले, सामंतों के आपसी युद्धों में कई मान्य नियमों का पालन किया जाता था, जिनके अनुसार बहुत हद तक जानमाल की रक्षा की जाती थी तथा अपने स्वामी के प्रति निष्ठा और वफादारी दिखलाने का प्रयत्न किया जाता था। युद्ध के नियमों का पालन नहीं करने से सम्मान एवं प्रतिष्ठा से हाथ धोना पड़ता था। पर, चाऊ वंश के पतन के कारण जब सामंतों में शक्ति का विस्तार करने के लिए भयंकर संघर्ष प्रारंभ हो गया, तब इन नियमों तथा मान्यताओं को तिलांजलि दे दी गई।

इस युग की दंड-संहिता अत्यंत कठोर थी। अपराधियों को मृत्युदंड के साथ-साथ हाथ-पैर काटने, नाक काटने तथा बधिया करने का दंड दिया जाता था। कभी-कभी अपराधियों के पूरे चेहरे पर गोदना गोद दिया जाता था। जुर्माना देने की भी प्रथा थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चीन के राजनैतिक जीवन में उन व्यवस्थाओं तथा मान्याताओं का जन्म हो चुका था, जिनसे चीन की संस्कृति बाद में प्रभावित हुई।

चाऊ युग की साहित्यिक प्रगति

चीनी भाषा के अक्षरों के आदि रूप का विकास शांग राजवंश के शासन-काल में ही हो चुका था। चाऊ काल में लिखने के उपकरणों में बहुत विकास हुआ। अच्छी स्याही तथा लिखने की तूलिका और सुंदर एवं कारगर बनायी गई। इन सुविधाओं के कारण चाऊ युग में काफी बड़ी मात्रा में उच्च कोटि का साहित्य लिखा गया। कुछ नए अक्षरों को विकसित किया गया। पुस्तकों का प्रणयन लकड़ी के तख्तों तथा बांस की पट्टियों पर किया गया। उच्च कोटि के साहित्य की रचना के कारण ही चाऊ युग को प्राचीन चीनी साहित्य का स्वर्ण-युग भी माना जाता है।

ऐसा लगता है कि चाऊ युग में पुस्तकों की रचना बहुत बड़ी संख्या में की गई तथा लिखने की कला का प्रयोग प्रत्येक अवसर पर किया जाता था। एक लिखित प्रमाण के अनुसार २१७ ई०-पू० में दफनाए हुए एक राजा की कब्र में बांस की पट्टियों पर लिखी हुई इतनी पुस्तकें प्राप्त हुईं, जिनको दस बैलगाड़ियों पर ढोया जा सकता था। चाऊ युग के प्रारंभ से ही साहित्यिक रचनाओं की संख्या बढ़ने लगी। प्रतिष्ठित प्रलेख (Document Classic) नामक ग्रंथ में एक प्रलेख मिलता है, जिसमें चाऊ के ड्यूक (Duke of Chou) ने अपने भाई शाओ के ड्यूक (Duke of Shao) को सलाह दी है कि किन कारणों से उसे नए राजवंश की स्थापना में मदद देनी चाहिए। ऐसी रचनाओं से सिद्ध होता है कि चाऊ युग में प्रत्येक अवसर पर लिखने की कला का प्रयोग किया जाता था। चूँकि चाऊ लोगों ने लिखने की कला शांग लोगों से सीखी थी, इसलिए इस कला का प्रयोग वे गर्व एवं उत्साह के साथ प्रत्येक अवसर पर करना चाहते थे।

सभी महत्त्वपूर्ण अवसरों पर लेखन-कला का प्रयोग किया जाता था। उदाहरण के लिए, जब किसी राजा की मृत्यु होती थी, तब उसकी अंत्येष्टि क्रिया के नियम तथा विवरण लिखे जाते थे। दान-पत्र लिखित होते थे, जिन्हें दानकर्त्ता आदाता को देता था। कभी-कभी इन दान-पत्रों में आदाता तथा उसके पूर्वजों के गुणों की प्रशंसा भी लिखी जाती थी और इन्हें जोर से पढ़ कर सुनाया जाता था। प्रत्येक प्रकार के अभिलेख तथा लिखित प्रमाण रखे जाते थे। कांसे पर खुदे हुए एक अभिलेख से पता चलता है कि गुलामों के नाम एक पंजिका पर दर्ज रहते थे तथा गुलामों की श्रेणी इसी आधार पर निर्धारित होती थी। एक लिखित प्रमाण के अनुसार एक गुलाम ने एक विशेष सेवा करने की रजामंदी इस शर्त्त पर दी कि उसकी गुलामी का लिखित प्रमाण नष्ट कर दिया जाएगा। तत्कालीन धारणा के अनुसार देवताओं के यहाँ मनुष्यों के कृत्यों का लिखित विवरण रखा जाता है। प्रतिष्ठित प्रलेख के अनुसार देवता स्वर्ग से नीचे देखते हुए मनुष्यों के पाप-पुण्य का हिसाब रखते हैं।

राजा के आदेश अथवा राज-शासन चाऊ युग के प्रारंभ से ही लिखित होते थे। साधारण रोजमर्रा के आदेश भी लिखे जाते थे तथा प्राप्त करने वालों को शान के साथ पढ़ कर सुनाए जाते थे। चाऊ युग में शान-शौकत तथा तड़क-भड़क को इतना प्रश्रय दिया जाता था कि दैनिक•जीवन की घटनाओं में इनका सहारा लिया जाता था। लिखित आदेशों को पढ़ कर सुनाने के पीछे यही मनोवृत्ति काम कर रही थी।

चाऊ युग में नियमित डाक व्यवस्था के प्रमाण नहीं मिलते हैं, पर पत्रों को पत्रवाहकों तथा संदेशवाहकों के द्वारा निरंतर भेजा जाता था। राजाओं द्वारा ऐसे पत्र अपने मित्रों अथवा शत्रु-राजाओं के पास प्रेषित किए जाते थे। सरकारी कर्मचारी आपस में इसी प्रकार पत्र-व्यवहार करते थे। साधारण व्यक्तियों में भी पत्र-व्यवहार होता था। प्रतिष्ठित प्रलेख का कुछ अंश ऐसी ही पत्रों से भरा हुआ है। तत्कालीन धार्मिक विश्वासों के अनुसार देवताओं, पूर्वजों तथा सर्व प्रधान देवता शांग-टी के पास भी पत्रों द्वारा प्रार्थना की जाती थी और विशेष सहायता एवं कृपा की दर्खास्त की जाती थी।

पूरी जनसंख्या में साक्षर लोगों की संख्या बहुत कम थी। पर, अभिजात अथवा कुलीन वर्ग के सभी सदस्यों से पढ़े-लिखे होने की अपेक्षा की जाती थी। मरने के बाद इस वर्ग के व्यक्तियों की लाशों के साथ बाँस की लिखने की पट्टियाँ भी दफनायी जाती थीं। प्राचीन यूनान के निवासियों की भाँति, चीन में भी संक्षेप में बातचीत तथा घटनाओं को लिख लेने की प्रथा थी। बहुत से राजा अपने मंत्रियों को नोट लेने का आदेश देते थे।

इस काल में बहुत से ग्रंथों की रचना का श्रेय राजाओं अथवा मुख्य मंत्रियों को दिया गया है। वास्तव में इन पुस्तकों को लिखित रूप देने का दायित्व एक विशेष प्रकार के मंत्रियों को था, जो राजाओं अथवा मुख्य मंत्रियों के विचारों को अपनी साहित्यिक प्रतिभा के कारण उपयुक्त शब्दों में लिख कर पुस्तक का रूप देते थे। इसलिए यह स्वाभाविक था कि इन लेखकों के विचारों का प्रभाव भी इन पुस्तकों के भावों तथा आकार पर पड़ता था। इस प्रकार के पेशेवर लेखकों का प्रभाव राजनीति और शासन पर भी कम नहीं था। इस प्रकार की पुस्तकों में राजा के विचारों को बहुधा निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया जाता है—'राजा ऐसा मानते हैं' अथवा 'राजा इस विचार से सहमत हैं'।

इस प्रकार के लेखकों को तत्कालीन चीनी भाषा में 'शी' (Shih) कहा जाता था। शांग युग में इसका शाब्दिक अर्थ तीरंदाजी की प्रतिद्वंद्विता में अंक लिखने वाला

होता था। चाऊ युग में प्रधान शी (Grand Shih) एक अत्यंत प्रभावशाली पदाधिकारी होता था। कांसे पर खुदे हुए शिलालेखों में इसे 'पुस्तकों का लेखक' (Maker of Books) की उपाधि से विभूषित किया गया है। इस युग के छोटे-बड़े सभी शासक लिखने-पढ़ने के कार्मों के लिए ऐसे लेखकों को नियुक्त करते थे।

चाऊ युग में, विशेषत: ६०० ई०-पू० के पहले जो साहित्य लिखा गया, उसका स्वरूप मुख्यत: व्यावहारिक था। साहित्य का प्रयोग राजनीति तथा शासन-प्रणाली के सहायक के रूप में किया जाता था। कविताओं की रचना भी राजनैतिक उद्देश्यों से करायी जाती थी। फिर भी, कुछ विशुद्ध साहित्य की भी रचना इस युग में हुई। व्यावहारिक साहित्य के रूप में हम लिखित राज-शासन, संधि-पत्र तथा विदेशी शासकों के पास भेजे गए पत्रों को स्थान दे सकते हैं। इनके साथ तत्कालीन विधि-विधानों पर पुस्तकें लिखी गईं। काव्यों का सृजन हुआ तथा संगीत एवं इतिहास पर भी पुस्तकों की रचना हुंई। इन्हें हम विशुद्ध साहित्य की श्रेणी में रख सकते हैं। अभिजात वर्ग के युवकों को इस प्रकार के साहित्य से अवगत कराया जाता था।

चाऊ युग के चीनी लोगों का इतिहास-प्रेम तत्कालीन विश्व के इतिहास में अद्वितीय है। इन लोगों की ऐतिहासिक दृष्टि अतुलनीय है। इतिहास को एक दर्पण माना जाता था तथा राजाओं को वारंवार यह चेतावनी दी जाती थी कि वे अतीत से शिक्षा लेना न भूलें तथा इतिहास को अपना पथ-प्रदर्शक मानें। ऐतिहासिक घटनाओं से शिक्षा नहीं लेने के कारण ही अतीत के राजाओं का विनाश हुआ, ऐसी शिक्षा-इतिहास के अध्यापन द्वारा राजकुमारों तथा अभिजात वर्ग के युवकों को दी जाती थी। 'प्रतिष्ठित प्रलेख' में ऐसे लेखों का संग्रह है, जिनमें चाऊ शासकों को इतिहास के अध्ययन से शिक्षा लेकर अतीत के राजाओं की गलतियों से दूर रहने को कहा गया है।

सामंती शासकों के दरबारों में भी इतिहास लिखवाने की प्रथा चाऊ युग के अंत में विकसित हो चुकी थी। प्रत्येक सामंती शासक के काल का इतिहास लिखा जाता था। अपने राज्य के साथ-साथ अन्य राज्यों का इतिहास भी दरबार में नियुक्त इतिहासकारों द्वारा लिखा जाता था। इसके कारण चीन के प्राचीन इतिहास की सामाग्री हम लोगों को प्रर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। लू राज्य के एक मंत्री ने अपने शासक को उपदेश दिया था:—

"शासकों के प्रत्येक कार्य को लिखा जाना चाहिए। यदि आपके लिखित कार्य अनुचित और अवैध होंगे, तो आपके वंशज आपको क्या समझेंगे" ?

इससे स्पष्ट हाता है कि इतिहास लिखने के माध्यम से शासकों को अनुचित मार्ग पर चलने से रोकने का भी प्रयत्न किया जाता था।

यद्यपि इस युग में बहुत बड़ी मात्रा में साहित्य-रचना हुई, पर आज उसका बहुत थोड़ा अंश ही उपलब्ध है। इन पुस्तकों को ऐसे उपकरणों पर लिखा गया, जो विनिष्ट हो गए। बहुत से प्रलेखों की उपयोगिता समाप्त हो गयी। युद्धों के कारण बहुत सी पुस्तकें नष्ट हो गईं। २१३ ई०-पू० में चीन वंश के एक शासक ने बहुत सी पुस्तकों को लेकर जलवा दिया तथा आदेश दिया कि चाऊ युग की पुस्तकों को रखना अपराध है। इन सब दुर्घटनाओं के बावजूद जो पुस्तकें बची रहीं, उनमें भी बाद में बहुत-सी बातें जोड़ दी गईं। इससे पुस्तकों के मूल रूप को निश्चित करना अत्यंत कठिन है।

७०० ई०-पू० के पहले का लिखा हुआ साहित्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। इन प्रलेखों में हम पहला स्थान काँसे पर खुदे हुए लेखों (Bronze Inscriptions) को देंगे। चाऊ युग में बनाए गए काँसे के सामान कलात्मक तथा तकनीकी दृष्टि से शांग युग के कांसे के सामानों से निम्नकोटि के हैं, पर ऐतिहासिक दृष्टि से अपने लेखों के कारण अधिक उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण हैं। पश्चिमी चाऊ युग में बहुत बड़ी संख्या में काँसे पर लेख खोदे गए, जिस प्रकार शांग युग में हड्डियों (Oracle bone) पर खोदे गए थे। पूर्वी चाऊ युग में पुस्तकें बहुत बड़ी संख्या में लिखी गईं।

इन लेखों में विभिन्न विषयों का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए दो राज्यों की सीमाएँ निर्धारित की गई हैं अथवा राजा द्वारा दो सामंतों के बीच झगड़े का निपटारा किया गया तथा निर्णय इन लेखों में खुदा हुआ है। सो-शुआन (Tso-Chuan) नामक ग्रंथ के अनुसार ५३६ ई०-पू० में चेंग राज्य का फौजदारी कानून काँसे के बहुत से बर्तनों पर उत्कीर्ण कर दिया गया था। इस प्रकार के बहुत से लेखों में भूमि के आदान-प्रदान के विवरण भी उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के लेखों में बहुत-सी पुस्तकें भी काँसे के बर्तनों पर खुदी हुई मिलती हैं। इस युग में लिखी कम-से कम उनतीस पुस्तकों की प्रतिलिपि ऐसे बर्तनों पर खुदी हुई पायी गई है। ये पुस्तकें अपने प्रामाणिक तथा मौलिक रूप में उत्कीर्ण हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिष्ठित प्रलेख के कुछ अंश भी आरंभ में ऐसे ही बर्तनों पर खुदे हुए होंगे।

काँसे के बर्तनों पर उत्कीर्ण इन लेखों का समय निर्धारित करना अत्यंत कठिन है। उन लेखों का, जिन पर नाम खुदे हुए हैं अथवा जिन पर ऐतिहासिक तथ्य उत्कीर्ण हैं, समय का निर्धारण कुछ कम कठिनाई से किया जा सकता है, अन्यथा अन्य उत्कीर्ण लेखों का समय निर्धारण टेढ़ी खीर है। ऐसे लेखों के काल-निर्धारण में भाषा-विज्ञान का ही सहारा लेना पड़ता है, तो भी निष्कर्षों का सही होना आवश्यक नहीं

है। लंबे लेखों में बहुधा रोजमर्रा की बातों, नैतिक उपदेशों तथा औपचारिक समारोहों का विवरण पाया जाता है।

इस युग में जिस साहित्य की रचना की गई, वह मुख्यतः धार्मिक था। यज्ञों तथा पूजाओं के समय गायी जाने वाली ऋचाओं की रचना की गई। पूर्वजों के सम्मान में होने वाले समारोहों के अवसरों पर गाए जाने वाले गीतों की रचना भी की गई। इसी प्रकार कुछ सांसारिक विषयों पर भी रचनाएँ की गईं। उदाहरण के लिए, राजदरबार के सामारोहों को दिलचस्प बनाने के लिए कविताएँ रची जाती थीं। इन रचनाओं को प्रमुख अवसरों जैसे—प्रीतिभोज, तीरंदाजी की प्रतियोगिताएँ तथा स्वागत समारोहों के अवसर पर पढ़ा जाता था। इनके अतिरिक्त व्यंग्य-काव्य तथा प्रहसन, लोकगीत, प्रेम-काव्य और बच्चों के जन्म के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों की भी रचना की गई। इन विभिन्न प्रकार की कविताओं तथा गीतों का संग्रह 'प्रतिष्ठित काव्य-संग्रह' (Book of poetry) में पाया जाता है। चीनी भाषा में इस पुस्तक का नाम शी-चिंग (Shih-Ching) है, जिसका अनुवाद 'प्रतिष्ठित काव्य-संग्रह' (Classic of poetry) अथवा 'काव्य-संग्रह' (Book of poetry) किया जाता है।

प्रतिष्ठित काव्य-संग्रह

चाऊ युग का यह एकमात्र विशुद्ध काव्य ग्रंथ है, जिसमें भावुकता तथा कल्पना की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से पायी जाती है। पुस्तक का कुछ अंश प्रामाणिक दस्तावेजों का संग्रह कहा जा सकता है, पर इन दस्तावेजों की शैली भी आलंकारिक है।

यह ग्रंथ तीन सौ ग्यारह कविताओं का संग्रह है। परंपराओं के अनुसार प्रसिद्ध विचारक कनफ्युशियस ने तीन हजार कविताओं में से तीन सौ ग्यारह कविताओं का चयन कर उन्हें इस काव्य-संग्रह में संकलित किया। पर, विद्वानों के अनुसार यह काव्य-संग्रह संभवतः कनफ्युशियस से पहले ही तैयार कर दिया गया था। एक को छोड़ कर इन सभी कविताओं के लेखकों ने अपने-आपको अज्ञात रखना ही उचित समझा।

इस संग्रह के प्रारंभिक भाग में संकलित कविताएँ मुख्यतः धार्मिक हैं तथा इनका प्रयोग बलिदानों अथवा पूजाओं के अवसर पर किया जाता था। शांग-राजवंश के राजाओं द्वारा बलिदान तथा पूजा के अवसर के लिए भी कुछ रचनाएँ संग्रहीत हैं, जिन्हें 'शांग राजाओं के प्रशंसा-गीत' (Praise-odes of Shang) की संज्ञा दी गई है। इन रचनाओं को कुछ विद्वान शांग युग की रचनाएँ मानते हैं, पर अधिकतर विद्वान यही मानते हैं कि संपूर्ण पुस्तक चाऊ युग की ही कृति है। चाऊ युग में भी, ऐसा विश्वास किया जाता है कि समस्त रचनाएँ ६०० ई०-पू० के पहले की ही हैं।

किसी भी हालत में इस पुस्तक की तुलना प्राचीन यूनान अथवा प्राचीन भारत के महाकाव्यों से नहीं की जा सकती। 'ईलियड' अथवा 'ओडिसी' तथा 'रामायण' और 'महाभारत' की छाँह छूना भी इस पुस्तक के लिए संभव नहीं। वास्तव में प्राचीन चीन में महाकाव्यों की रचना हुई ही नहीं। संभवतः उच्चकोटि की काव्यात्मक प्रतिभा से संपन्न कोई कवि भी हुआ ही नहीं। फिर भी, इस ग्रंथ में कहीं-कहीं महाकाव्य की शैली की झलक मिल जाती है। कुछ संक्षिप्त कविताओं में कुछ वीरों के जन्म तथा विजयों की गाथा बड़े ही मार्मिक ढंग से वर्णित हैं। संभवतः इन कविताओं की रचना गाने के उद्देश्य से की गई थी, पर किस धुन अथवा लय में इन्हें गाया जाता था, आज यह बता सकना कठिन है।

इस संग्रह की बहुत-सी रचनाओं को गीतिकाव्य कहना गलत न होगा। इन प्रगीतात्मक रचनाओं में प्रेमियों के मिलन एवं विरह की प्रसन्नता तथा व्यग्रता एवं अन्य हाव-भाव का जीवंत वर्णन मिलता है। इसी प्रकार तत्कालीन सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं की झाँकी भी इस ग्रंथ में संगृहीत रचनाओं में मिलती है। बहुत-सी रचनाओं में खेतों में मिहनत करने वाले मजदूर, बैठ कर खाने वाले धनी व्यक्तियों की खिल्ली उड़ाते हैं। कुछ रचनाएँ उन उपपत्नियों की निराशा तथा व्यग्रता का वर्णन करती हैं, जिन्हें अपने स्वामी से मिलने का अवसर कम मिलता है। इसी प्रकार, युद्ध पर गए हुए सैनिकों की पत्नियाँ किस प्रकार वियोग के दिन प्रतीक्षा में काटती हैं, इसका मार्मिक वर्णन देखने को मिलता है। इन कविताओं में दैनिक जीवन के अनेक पहलुओं का सजीव वर्णन भी प्राप्त होता है। कुछ ऐसे विचारकों का दुखड़ा भी सुनने को मिलता है, जो तत्कालीन भ्रष्टाचार से ऊब कर विनाश की भविष्यवाणी करते हैं। तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की भावनाओं तथा विचारों का जीवंत चित्रण हमें इस प्रतिष्ठित काव्य-संग्रह में मिलता है। इन कविताओं के ओज, सौंदर्य तथा सुकुमारता का रसास्वादन अनुवादों के द्वारा नहीं, वरन् इनके मूल रूप में ही किया जा सकता है।

कालांतर में इन कविताओं से कुछ ऐसे अर्थ निकाले जाने लगे, जिनका कविताओं से कोई संबंध नहीं था। उदाहरणार्थ प्रेम से संबद्ध कविताओं से दार्शनिक अर्थ निकाला जाने लगा। धीरे-धीरे राजनीति तथा राजनयिक कार्यों में भी कविताओं का प्रयोग होने लगा। प्रत्येक राजनैतिक नेता तथा राजनयज्ञ को प्रत्येक अवसर के उपयुक्त कविताओं को याद रखना पड़ता था, जिनके द्वारा वह अपनी दलीलों को सुदृढ़ कर सकें। संधियों तथा मैत्री-संबंध स्थापित करने के प्रयत्नों में और प्रीति-भोजों के अवसरों पर उपयुक्त कविताओं को कहना आवश्यक था। कविता के इस उपयोग का परिणाम यह हुआ कि कभी-कभी अर्थ का अनर्थ कर दिया जाता था। जैसे प्रेम-काव्यों से दार्शनिक अर्थ निकालना इसी प्रकार का प्रयत्न था।

परिवर्त्तनों की पुस्तक

इस युग के दूसरे प्रसिद्ध ग्रंथ को 'परिवर्तनों की पुस्तक' (The Book of Changes) की संज्ञा दी गई है। चीनी भाषा में इसका नाम आई-चिंग (I-Ching) है। चाऊ युग में लिखा हुआ यह प्रथम ग्रंथ माना जाता है। इस पुस्तक के अध्ययन से शांग राजवंश के अंतिम दिनों तथा चाऊ राजवंश के प्रारंभिक काल की दशा का ज्ञान होता है। वस्तुतः इस पुस्तक की रचना जादू-टोना, शकुन-विचार तथा भविष्यवाणी के मंत्रों के संग्रह के लिए की गई थी। इन गुप्त विद्याओं के जानने वाले इस ग्रंथ से सहायता लेते थे। इस पुस्तक की भाषा तथा शैली भी गूढ़ अर्थाविष्ट एवं संक्षिप्त है। सूत्ररूप में नियमों को लिखा गया है। अतः, पूरी पुस्तक को समझना सबके लिए संभव नहीं है। परंपरानुसार यह पुस्तक रहस्यमय प्रतीकवाद तथा गूढ़ भाषा का जीवंत उदाहरण है। इसलिए यह माना जाता है कि मंत्र-तंत्र जानने वाले ही इसको सांगोपांग समझ सकते थे।

प्रतिष्ठित प्रलेख

इस युग की तीसरी विख्यात तथा सम्मानित रचना है 'प्रतिष्ठित प्रलेख', जिसे चीनी भाषा में 'शांग-शू' (Shang-Shu) की संज्ञा दी गई थी। अंगरेजी में इसका अनुवाद (Document Classic) अथवा (Classic of History) अर्थात् 'इतिहास के प्रतिष्ठित प्रलेख' किया गया है। वास्तव में, यह ग्रंथ बहुत-से प्रलेखों (Documents) का संग्रह है। चीनी भाषा में इसका दूसरा नाम 'शू-चिंग' (Shu-Ching) भी है, पर इसका पुराना तथा अधिक प्रचलित नाम 'शांग-शू' है।

इस ग्रंथ में चाऊ युग में समय-समय पर लिखे गए प्रलेखों तथा दस्तावेजों का संग्रह पाया जाता है। इस कारण यह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पर, इसमें लिखी सब सामग्री विश्वास के योग्य नहीं है। इसके बहुत से प्रलेख चाऊ युग के बाद में जोड़े गए हैं। इस जालसाजी के कारण पुस्तक की ऐतिहासिक उपयोगिता कम हो जाती है। फिर भी इस युग के ऐतिहासिक प्रलेखों का एकमात्र संग्रह होने के कारण तत्कालीन इतिहास के लिए इस पुस्तक का सहारा लेना आवश्यक है। इस ग्रंथ का मूल अंश ७०० ई०-पू० के पहले का लिखा हुआ है, पर जोड़ी हुई रचनाएँ तीसरी शताब्दी ई०-पू० तक की हैं।

पुस्तक की विषय-वस्तु विभिन्न प्रकार की है। इसमें राजाओं तथा शासकों द्वारा समय-समय पर दिए गए आदेश, भाषण, उपदेश, पत्र तथा घोषणाएँ संगृहीत हैं। कुछ नैतिक उपदेश भी इसमें संगृहीत हैं। इसमें चाऊ राजवंश की दूसरी राजधानी के निर्माण से संबद्ध बहुत से प्रलेख भी पाए जाते हैं। कुल मिला कर, इस पुस्तक को तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री का सम्मानित संग्रह माना जा सकता है।

सो-शुश्रान (Tso-Chuan)

इस काल की चौथी विख्यात पुस्तक सो-शुआन हैं। इसका अर्थ है—सो (Tso) नामक व्यक्ति का इतिहास। इस पुस्तक का भी ऐतिहासिक महत्त्व ही है। इस पुस्तक में लू (Lu) नामक राज्य की ऐतिहासिक घटनाओं पर टिप्पणी संगृहीत है। चूंकि कनफ्युशियस का जन्म इसी राज्य में हुआ था, वहुत से विद्वानों के अनुसार इन रचनाओं के आवृत्ति तथा पुनर्लेखन में कनफ्युशियस का भी हाथ था। पर, वहुत से विद्वान ऐसा नहीं मानते हैं। इस पुस्तक में संगृहीत सामग्री ७२२ ई०-पू० से ४६८ ई०-पू० तक की है। इस कारण चाऊ युग के इतिहास के लिए इस पुस्तक में संगृहीत सामग्री अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस पुस्तक में बाद में प्रक्षेप की हुई रचनाएँ अथवा जालसाजी भी कम है। इससे भी इस पुस्तक की उपयोगिता वढ़ जाती है।

राजनैतिक प्रवचनों का संग्रह (Discourses of the States)

इस पुस्तक को भी चाऊ युग की प्रसिद्ध रचनाओं में स्थान दिया जाता है। पर, वस्तुतः इस पुस्तक की रचना चाऊ युग की समाप्ति के वाद हुई। दूसरे शब्दों में इस पुस्तक को अपना वर्त्तमान रूप चाऊ युग की समाप्ति के वहुत बाद प्राप्त हुआ। इस पुस्तक में वर्णित घटनाएँ चाऊ युग की ही हैं। जिस मूल सामग्री के आधार पर इस ग्रंथ की रचना हुई है, वह भी चाऊ युग की है। इसमें वर्णित कहानियाँ अधिकतर छठी तथा पाँचवीं शताब्दी ई०-पू० की हैं।

पर ऐतिहासिक दृष्टि से इस पुस्तक की सामाग्री विश्वसनीय नहीं है; क्योंकि पुस्तक में जालसाजी के वहुत उदाहरण हैं। इससे इस पुस्तक को ऐतिहासिक रचना का आधार नहीं बनाया जा सकता। इसकी उपयोगिता इसी बात तक सीमित है कि इससे दूसरे साधनों से ज्ञान एवं घटनाओं का विवरण प्राप्त हो सकता है।

'शिष्टाचारों का ग्रंथ' (श्राई-ली)

चाऊ युग के प्रसिद्ध ग्रंथों की सूची 'शिष्टाचारों का ग्रंथ' के उल्लेख के विना पूरी नहीं हो सकती, जिसे चीनी भाषा में आई-ली (I-Li) कहते हैं। चाऊ युग के शासक तथा अभिजात वर्ग शिष्टाचार एवं तड़क-भड़क से भरे समारोहों के प्रेमी थे। अतः, इस ग्रंथ में विभिन्न अवसरों पर निभाए जाने वाले शिष्टाचारों की विशद नियमावली संगृहीत है। विशेषतः इसमें छोटे सामंतों के पथ-प्रदर्शन के लिए नियम संकलित हैं। इसमें विवाह, सामंत-पद की प्राप्ति, श्राद्ध, यज्ञ तथा अपने से वड़ों एवं छोटों के पास आने-जाने और मिलने के अवसर पर निभाए जाने वाले शिष्टाचार वर्णित हैं। प्रीतिभोज तथा धनुर्विद्या की प्रतियोगिता के अवसर पर पालन किए जाने वाले नियम भी पाए जाते हैं। इस पुस्तक में अत्यंत छोटी-छोटी बातों का

भी ब्यौरा मिलता है, जिनसे तत्कालीन जीवन का आंतरिक चित्र प्रस्तुत हो जाता है। निस्संदेह इस पुस्तक की रचना चाऊ युग में ही की गई थी।

इस ग्रंथ के अतिरिक्त दो और पुस्तकें शिष्टाचार तथा कर्मकांड पर पायी जाती हैं, जिनको वर्त्तमान रूप चाऊ युग के बाद में दिया गया। इन पुस्तकों के नाम हैं—ली-ची (Li-Chi) अर्थात् 'शिष्टाचारों तथा कर्मकांड के प्रलेख' और चाऊ-ली (Chou-Li) अर्थात् 'चाऊ युग के शिष्टाचार तथा कर्मकांड'। ली-ची की रचना चाऊ युग की समाप्ति के बाद की गई। पर चाऊ-ली की रचना चौथी अथवा तीसरी शताब्दी ई०-पू० में की गई। इसमें चाऊ शासन को एक आदर्श शासन के रूप में चित्रित किया गया है तथा शासनतंत्र के गठन की अव्यावहारिक योजना प्रस्तुत की गई है। बाद के राजनैतिक विचारकों तथा समाज-सुधारकों पर इस पुस्तक के आदर्शवाद का गहरा प्रभाव पड़ा।

चाऊ युग के अंत में कविता के नए स्वरूपों का विकास हुआ। संभवतः इन नए स्वरूपों के विकास में उन असभ्य जातियों का भी योगदान था, जो अब चीनी संस्कृति के प्रभाव-क्षेत्र में आ रही थीं तथा धीरे-धीरे चीनी जाति का अंग बन रही थीं। इस प्रकार की कविता का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण ली-साओ (Li-Sao) नामक कविता है, जिसकी रचना चु-युआन (Chu-Yuan) नामक एक राजनैतिक नेता ने की थी। इस कविता में अपने उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के द्वारा इस कवि ने अपने-आपको तथा अपने आदर्शों को आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाया है।

इन साहित्यिक प्रवृत्तियों, ग्रंथों तथा दर्शन एवं विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति के कारण ही चीनी इतिहास में चाऊ युग को प्रतिष्ठित एवं शास्त्रीय युग माना जाता है। अब दर्शन एवं विज्ञान की प्रगति का इतिहास नीचे दिया जा रहा है।

दार्शनिक विचारधाराओं का उदय तथा ज्ञान-विज्ञान की प्रगति

विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के उदय तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति होने के कारण भी इस युग को चीनी इतिहास का 'संमानित शास्त्रीय युग' माना जाता है। यदि यह कहा जाए कि चाऊ युग की सबसे उत्कृष्ट उपलब्धि दर्शन के क्षेत्र में हुई, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। चीन में दार्शनिक चिंतन का उद्‌भव छठी शताब्दी ई०-पू० में हुआ तथा बाद की शताब्दियों में इसका अभूतपूर्व विकास हुआ। विश्व की कई महान सभ्यताओं में छठी शताब्दी ई०-पू० अपने दार्शनिक विकास के लिए प्रख्यात है। यूनानी दर्शन, हिब्रू चिंतनधारा, बौद्ध तथा जैन धर्म और जरथुष्ट्र के धर्म का उदय एवं प्रसार छठी शताब्दी ई०-पू० में ही हुआ। चीन के इतिहास में भी यह युग दार्शनिक चिंतन के लिए प्रसिद्ध है। संभवतः इन विभिन्न सभ्यताओं में सामाजिक एवं धार्मिक प्रश्नों को सुलझाने के लिए मनीषियों और विचारकों ने एक ही काल में

प्रयत्न शुरू किए, जिनका परिणाम हमें विभिन्न दार्शनिक धाराओं में उपलब्ध होता है।

विशेषतः चीन में दार्शनिक चिंतन तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक प्रश्नों से घनिष्ठ रूप से संबद्ध था। ७९१ ई०-पू० के पश्चात् चाऊ राजवंश एक शक्तिहीन तथा पतनोन्मुख राजवंश था। केंद्रीय सत्ता कमजोर हो चुकी थी तथा विघटन की प्रवृत्तियाँ सबल हो चुकी थीं। सामंती शासक चाऊ राजाओं से अधिक शक्तिशाली होते जा रहे थे तथा चाऊ राजा उनके हाथ में कठपुतली बन चुके थे। चीन का साम्राज्य बहुतेरे छोटे-छोटे राज्यों में बँट चुका था। शक्तिशाली सामंत छोटे सामंतों के राज्य हड़प रहे थे। इस मात्स्य-न्याय तथा अराजकता के युग में ही ज्वलंत सामाजिक तथा राजनैतिक प्रश्नों को सामने रख कर विचारकों ने अपने मत व्यक्त किए। अनेक विचारक तथा चिंतक घूम-घूम कर शासकों को शिक्षा देने का काम करते थे। कई राज्यों के शासकों ने ऐसे शिक्षकों तथा विचारकों को अपने यहाँ रख कर प्रोत्साहित एवं सम्मानित किया। एक शासक के यहाँ विभिन्न दार्शनिक धाराओं के प्रतिनिधि एक साथ रह कर मनन एवं चिंतन करते थे। इसी कारण, चाऊ युग के अपकर्ष के काल में दार्शनिक चिंतन को प्रोत्साहन मिला।

इन विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का मुख्य उद्देश्य समाज का पुनर्निर्माण करना था। दूसरे शब्दों में एक आदर्श मानव-समाज की स्थापना के लिए ये विभिन्न चिंतनधाराएँ प्रयत्नशील थीं। यहाँ तक कि चीनियों की व्यावहारिक प्रतिभा के कारण धर्म भी मुख्य रूप से सामाजिक उपयोगिता का विषय था, न कि मोक्ष और आध्यात्मिक कल्याण का, जैसा की प्राचीन भारत का धर्म था। इसलिए इस युग के अधिकांश विचारक शासक-वर्ग के थे, जो प्रशासनिक कार्यों में लगे हुए थे। अतः तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन को अपने आदर्शों के साँचे में ढालना ही इनका मुख्य उद्देश्य था। अतः इन लोगों ने ईश्वर के स्वरूप, परमतत्त्व के विवेचन तथा ब्रह्मांड की उत्पत्ति आदि विषयों पर अपना समय नष्ट नहीं किया, बल्कि उनकी दृष्टि ज्वलंत सामाजिक तथा राजनैतिक प्रश्नों पर ही केंद्रित थी।

इस युग के विचारकों में अपनी विचारधारा से समस्त चीनी संस्कृति एवं इतिहास को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला कनफ्युशियस था। चीन देश के राजनीतिक, सामाजिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक मूल्यों एवं आदर्शों पर इस महान ऋषि के विचारों की अमिट छाप पायी जाती है।

कनफ्युशियस (५५१ ई०-पू०—४७९ ई०-पू०)

कनफ्युशियस, जिसे चीनी लोग 'कुंग-जु' (Kung-Tzu) अथवा 'ऋषि कुंग' (Master Kung) कहते हैं, इस युग का सबसे बड़ा दार्शनिक एवं विचारक था।

इसका जन्म आज के शांटुंग प्रांत में स्थित लू नामक राज्य में ५५१ ई०-पू० में एक अभिजात कुल में हुआ था। इसके पिता एक सैनिक तथा छोटे नगर के शासक थे। इसके जन्म के समय इसके पिता बूढ़े हो चले थे तथा माँ अवस्था में अपने पति से बहुत छोटी थी। अतः कुछ ही दिनों में पिता की मृत्यु के पश्चात इसका पालन-पोषण उसकी विधवा माँ ने किया। ऐसा लगता है कि कनफ्युशियस का बचपन कुछ हद तक निर्धनता में ही बीता। इसकी माँ स्वभावतः अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों से मुक्त थी और भूत-प्रेत अथवा शकुन-अपशकुन में विश्वास नहीं करती थी। अतः, बचपन से ही कनफ्युशियस पर अपनी माँ के व्यावहारिक तथा तार्किक दृष्टिकोण की छाप पड़ गई और इसका मस्तिष्क अंधविश्वासों से सर्वथा मुक्त हो गया। कनफ्युशियस को १७ साल की अवस्था में ही ची (Chi) राज्य में कर वसूलने तथा राजकीय भूमि की देखभाल करने के लिए नियुक्त किया गया। उसने शादी की, जिससे एक लड़का पैदा हुआ। पर, परंपराओं के अनुसार चार वर्ष के बाद ही पति-पत्नी में संबंध-विच्छेद हो गया। धीरे-धीरे वह राजकीय नौकरी में सर्वोच्च पद पर पहुँच गया। ५२ वर्ष की अवस्था में वह नगर मजिस्ट्रेट तथा ५४ वर्ष की अवस्था में पुलिस मंत्री के स्थान पर नियुक्त हुआ। पर, राजा के अनैतिक आचरण से ऊब कर उसने त्यागपत्र दे दिया। लू राज्य से त्यागपत्र देने के बाद वह कई राज्यों में इस खोज में भटकता रहा कि कोई राजा उसे अपना गुरु मान कर उसे नैतिक एवं राजनैतिक आदर्शों को अपने राज्य में क्रियान्वित करने का अवसर प्रदान करे, पर यह सौभाग्य उसे नहीं प्राप्त हुआ। अंततोगत्वा, वह लू राज्य में लौट आया, जहाँ उसने जीवन के अंतिम वर्ष अध्ययन तथा अध्यापन में बिताए। ७२ वर्ष की आयु में लू राज्य में ही उसका देहावसान हुआ। विभिन्न पदों पर कार्य करने में उसने सदैव उच्च नैतिक आदर्शों का पालन किया तथा किसी भी हालत में अपने सिद्धांतों को तिलांजलि नहीं दी। वह किसी भी राजा अथवा शासक की कृपा का भिखारी नहीं रहा तथा उसका आचरण सदैव नितांत पवित्र एवं न्यायपूर्ण रहा। अपने शासक को आचारभ्रष्ट पाते ही वह नौकरी छोड़ देता था। जीवन के अंतिम दिनों में कष्ट एवं अपमान के बावजूद वह अपने सिद्धांतों पर अडिग रहा।

बाल्यकाल से ही कनफ्युशियस विद्याव्यसनी तथा शिक्षाप्रेमी था। विशेषतः कर्मकांड एवं प्राचीन विद्याओं से उसे अनुराग था। अपनी माँ की मृत्यु के पश्चात् १९ साल की अवस्था से ही उसने इन विषयों में इतनी प्रवीणता प्राप्त कर ली कि उसकी विद्वता की ख्याति दूर-दूर तक पहुँच गई। उसके पास दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आने लगे। उसने बहुत से शासकों को भी शिक्षा प्रदान की। परंपराओं के अनुसार उसने तीन हजार विद्यार्थियों को इतिहास, प्राचीन साहित्य तथा शिष्टाचार की शिक्षा दी।

कनफ्युशियस की शिक्षाएँ तत्कालीन जीवन से संबद्ध हैं। उसका जीवन ऐसे युग में बीता, जब अधिकांश शासक अनैतिक मूल्यों से प्रभावित हो कर मनमाने ढंग से शासन करते थे तथा जनता अज्ञान के अंधकार में इस प्रकार डूबी हुई थी कि वह कुछ भी करने में असमर्थ थी। इसलिए, कनफ्युशियस ने आजीवन अपनी शिक्षाओं के द्वारा शासन-तंत्र को सुधारने तथा शासकों को न्यायी शासक बनाने का प्रयत्न किया। अनैतिक शासन से उसे अत्यंत घृणा थी, इसलिए वह शासन को नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों से अनुप्राणित करना चाहता था। पर, अपने जीवन के अंतिम दिनों में उसे इसी बात का पछतावा रहा कि उसे अपने सिद्धांतों को कार्यान्वित करने का अवसर नहीं मिला तथा उसके मन में निराशा एवं विफलता की भावना थी। परंपराओं के अनुसार उसने अपने जीवन के अंतिम क्षणों में कहा था—

"मैं यिन (Yin) राजवंश का वंशज हूँ। पर, इस समस्त चीनी साम्राज्य में कोई ऐसा शासक नहीं है, जो मेरी शिक्षाओं को सुनने को तैयार हो। मेरी मृत्यु का समय आ गया है।"

४७९ ई०-पू० में जब कनफ्युशियस की मृत्यु हुई, तब बहुत लोगों ने यही सोचा कि एक असफल व्यक्ति की मृत्यु हुई है। कनफ्युशियस स्वयं असफलता और पराजय की भावना से दुखी होकर मरा। पर, चीनी संस्कृति के इतिहास के अध्ययन से यही सिद्ध होता है कि विश्व के इतिहास में कनफ्युशियस की भाँति विरले ही विचारक हुए हैं, जिन्होंने मानव जाति के विचारों को उस हद तक प्रभावित किया हो। चीनी संस्कृति में उसके विचार प्रेरणा के शाश्वत् तथा मूल स्रोत सिद्ध हुए हैं। उसके विचारों को प्रत्येक युग में अपनाया तथा कार्यान्वित किया गया। चीन की दार्शनिक विचारधारा के समस्त अंग उससे प्रभावित हैं। यहाँ तक कि आज के कुछ साम्यवादी विचारक भी अपने विचारों की पुष्टि के लिए उसकी दुहाई देते हैं। १८ वीं शताब्दी में यूरोप में उसके विचार पहुँचे तथा उस युग के ज्ञानोदय में इन विचारों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

कनफ्युशियस के जीवन-वृत्त से किसी उग्रवादी समाज-सुधारक का चित्र हमारे समक्ष नहीं उपस्थित होता, बल्कि एक परंपरानिष्ठ कुलीन व्यक्ति तथा विद्वान का चित्र उभर कर आता है, जिसने चीनी संस्कृति के अतीत में सच्ची नैतिकता, न्यायपूर्ण शासन तथा वास्तविक कुलीनता के आदर्शों की अभिव्यक्ति पायी। उसके अनुसार पुरातन युग के आचार-विचार आदर्श एवं अनुकरणीय थे। अभिजात वर्ग का सदस्य होने के नाते उसके आचार-विचार एवं उसकी अभिरुचि उस वर्ग के ही अनुरूप थी। वह अच्छे भोजन, अच्छी संगति और शिष्टाचार के कठिन नियमों का प्रेमी था। परिणामतः उसके विचारों ने शिष्टाचार का प्रेम, अतीत के प्रति आदर

की भावना तथा परिवार की महत्ता आदि प्रवृत्तियों को जन्म दिया, जिनसे चीनी समाज राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से एकसूत्र में आबद्ध रहा।

कनफ्युशियस की कृतियाँ

इस महान विचारक ने अपने जीवनकाल में अनेक प्राचीन पुस्तकों का संकलन तथा संपादन किया, जिनको वह अपने विद्यालयों में पढ़ाता था। इन पुस्तकों पर उसके विचारों की गहरी छाप है। ये पुस्तकें अधिकतर पुरातन काव्य एवं इतिहास तथा शिष्टाचार से संबद्ध हैं, जिनका उल्लेख हम चाऊ युग के साहित्य में कर चुके हैं। ये ग्रंथ हैं—

(१) परिवर्तन का ग्रंथ (Book of Changes) : इसका चीनी नाम आई-चिंग (I- Ching) है। कनफ्युशियस के विद्यालय में इस पुस्तक का प्रयोग दर्शन की पाठ्य पुस्तक के रूप में होता था।

(२) कर्मकांड एवं शिष्टाचार का ग्रंथ (Book of Etiquette and Ceremony) : चीनी भाषा में इसका नाम आई-ली (I-Li) है। इसका प्रयोग पाठ्य-पुस्तक के रूप में होता था।

(३) इतिहास के प्रतिष्ठित प्रलेख (Document of Classic) : हम देख चुके हैं कि चीनी भाषा में इस ग्रंथ के दो नाम थे—(१) शू-चिंग (Shu Ching) तथा (२) शांग-शू (Shang-Shu)। कनफ्युशियस ने इस ग्रंथ को भी अपने विद्यालय के पाठ्यक्रम में रखा।

(४) काव्य-ग्रंथ (Book of Poetry) : इस ग्रंथ का नाम शी-चिंग (Shih-Ching) है। हम देख चुके हैं कि परंपराओं के अनुसार कनफ्युशियस ने ही इस ग्रंथ का संकलन एवं संपादन किया।

(५) वसंत और शरत् का इतिहास (Spring And Autumn Annals) : इस ग्रंथ का रचयिता कनफ्युशियस ही माना जाता है। इस ग्रंथ में उसने अपने राज्य लू का इतिहास लिखा।

पर, कनफ्युशियस के विचारों का प्रामाणिक विवरण उसके प्रसिद्ध शिष्यों द्वारा लिखित निम्नलिखित पाँच ग्रंथों में मिलता है, जिन्हें कनफ्युशियनवाद का शास्त्रीय एवं प्रतिष्ठित ग्रंथ माना जाता है। इनके नाम नीचे दिए जाते हैं।

(१) सूक्ति-संग्रह (The Analects) : कनफ्युशियस के अनेक शिष्यों ने उसके विचारों एवं उसकी उक्तियों का इस पुस्तक में सूक्तियों के रूप में संग्रह किया है।

(२) मेंशियस के कथन (The Sayings of Mencius) इसमें कनफ्युशियस के सबसे प्रसिद्ध शिष्य मेंशियस के कथन संगृहीत है।

(३) सर्वोच्च विद्या (The Great Learning) : इसमें कनफ्युशियस के मूल विचारों का सारांश विशद टिप्पणी के साथ संकलित किया गया है। इसका लेखक कनफ्युशियस का एक शिष्य था।

(४) मध्यम मार्ग का सिद्धान्त (The Doctrine of the Mean) : इसका लेखक कनफ्युशियस का पोता था।

(५) पुत्रोचित भक्ति का शास्त्रीय ग्रंथ (The Classic of Filial Piety) : इस ग्रंथ में भी कनफ्युशियस के उपदेश संगृहीत हैं।

कनफ्युशियस की प्रतिभा बहुमुखी थी, पर प्रमुख रूप से वह राजनीति तथा आचारशास्त्र का शिक्षक था। वह अपने देश में सुशासन की स्थापना करना चाहता था। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि पुरातन आदर्शों तथा मूल्यों की स्थापना से सुशासन की स्थापना हो सकती है। इस दृष्टि से वह अपने आपको नए विचारों का प्रवर्त्तक नहीं, वरन् पुरातन आदर्शों एवं मान्यताओं का प्रसारक मानता था। प्राचीनकाल के शासक अपने शासन को नैतिक आदर्शों एवं मूल्यों से नियमित रखते थे, जिससे समाज सुखी एवं समृद्ध था। समाज में शांति एवं सुव्यवस्था बल-प्रयोग द्वारा नहीं, वरन् शासकों के नैतिक आचरण के द्वारा कायम थी। अतः उन आदर्शों पर चलने तथा शासकों को उस प्रकार का आचरण करने से ही सुशासन की स्थापना हो सकती है और समाज का कल्याण हो सकता है। इस पुरातन आचारशास्त्र की स्थापना तथा प्रचार के लिए ही उसने पुरातन शिष्टाचार एवं कर्मकांड का अध्ययन-अध्यापन प्रारंभ किया, ताकि समाज में नैतिकता की स्थापना हो सके।

एक स्वस्थ समाज की स्थापना के लिए कनफ्युशियस ने मनुष्यों के बीच वास्तविक सद्भाव तथा सच्ची सहानुभूति पर जोर दिया। सामाजिक संबंध को स्वस्थ तथा सुखद बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसे व्यवहार की वह दूसरों से अपेक्षा रखता है।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए परोपकार तथा परमार्थ की भावना का शिक्षा एवं प्रसार आवश्यक है। इस भावना की पहली तथा सबसे कारगर पाठशाला परिवार है। प्रारंभ से ही बच्चों में इन भावनाओं को पल्लवित एवं पुष्पित किया जा सकता है। कौटुम्बिक जीवन ऐसी साधना का उचित स्थल है। मनुष्य के जीवन की सफलता कौटुम्बिक जीवन से प्रारंभ होकर समाज एवं राष्ट्र की सफलता में परिणत हो सकती है; क्योंकि अंततोगत्वा राष्ट्र तथा समाज भी कुटुम्ब के ही विशाल रूप हैं अतः यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कुटुम्ब को अपने कर्त्तव्यों के पालन द्वारा सुखी बनावे, तो समाज एवं राष्ट्र का सुखी तथा संपन्न होना अनिवार्य है। पर, इस उद्देश्य की प्राप्ति निरे बौद्धिक ज्ञान एवं विद्या से नहीं हो सकती, बल्कि शुद्ध आचार-विचार,

नैतिकता तथा शिष्टाचार के द्वारा हो सकती है। मनुष्य के सुख के लिए बौद्धिक ज्ञान की अपेक्षा शुद्ध आचरण अधिक आवश्यक है। प्रत्येक को अपने दैनिक आचरण जैसे—उठना-बैठना, खाना-पीना, बोल-चाल आदि में शिष्टाचार का ध्यान रखना आवश्यक है।

निम्नलिखित उक्ति में, कनफ्युशियस के सामाजिक आदर्श की स्पष्ट झांकी मिलती है—

> "पुरातन युग के शासक अपने राज्य को सुशासित बनाने के लिए पहले अपने परिवार को नियंत्रित और सुशासित बनाते थे। परिवार के नियमन के उद्देश्य से वे पहले अपने-आपको सुशिक्षित एवं सुनियंत्रित बनाते थे। उनके परिवारों के सुनियंत्रित होने से उनके राज्य सुशासित होते थे, उनके राज्यों के सुशासित होने से उनका साम्राज्य सुव्यवस्थित तथा समृद्ध था।"

इस प्रकार कनफ्युशियस के सिद्धांतों में परिवार से राष्ट्र तक एक ही कड़ी में बँधे हुए हैं तथा कड़ी के किसी अंग का कमजोर होना पूरी व्यवस्था को दुर्बल बनाता है। इन उपदेशों के द्वारा कनफ्युशियस ने तत्कालीन शासकों को बार-बार यह चेतावनी दी कि वे पवित्र आचरण के द्वारा अपनी प्रजा का पथ-प्रदर्शन करें। जब कोई सामंत शासक कनफ्युशियस के व्यक्तिगत संपर्क में आता था, तो वह उसे नैतिक जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता था तथा नैतिक आचरण में भ्रष्ट शासकों से कोई संबंध नहीं रखता था। जब एक सामंत ने अपने राज्य में बार-बार होने वाली चोरियों से दुखी होकर कनफ्युशियस से सलाह माँगी, तब कनफ्युशियस ने उसे दो टूक जवाब दिया—

"महाशय ! यदि आप स्वयं लालची नहीं होते, तो आपकी प्रजा भी चोरी नहीं करती।"

कनफ्युशियस को इस बात का दृढ़ विश्वास था कि साधारण जनता अपने शासकों का अनुकरण करती है। एक बार उसने कहा था, "यदि ऊँचे पदों पर आसीन लोग अपने संबंधियों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करें, तो सारी प्रजा सदाचार में लग जाएगी।"

कनफ्युशियस की राजनैतिक विचारधारा पैतृक शासक के आदर्शों पर आधारित थी। उसके अनुसार शासक तथा शासित के संबंध पिता-पुत्र के संबंधों की तरह हैं। जिस प्रकार पितृभक्ति तथा बड़ों के प्रति आज्ञाकारिता की भावना कौटुम्बिक जीवन की आधारशिला है, ठीक उसी प्रकार राजनैतिक व्यवस्था भी प्रजा की आज्ञाकारिता एवं निष्ठा तथा शासक की पितृ-सुलभ सद्भावना पर आधारित है। अतः,

कनफ्युशियस के सिद्धांतों के अनुसार शासन व्यक्तिगत संबंधों पर आधारित है, न कि कानून अथवा विधि पर। शासक एवं शासित का संबंध कानूनी नहीं, वरन् नैतिक, सहज तथा व्यक्तिगत है। इसलिए राजनैतिक जीवन को नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों से अलग नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से राज्य (State) मात्र राजनैतिक सत्ता नहीं, वरन् सभ्यता एवं संस्कृति का माध्यम है। विश्व की राजनैतिक चेतना को कनफ्युशियस की यह सबसे बड़ी देन है।

कनफ्युशियस ने इस बात को स्वीकार किया कि शांतिपूर्ण नीति व्यक्ति तथा समाज के लिए सर्वोत्तम है, पर दुर्भाग्यवश इस संसार में बल-प्रयोग का सहारा लेना आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में, युद्ध तथा बल-प्रयोग कभी-कभी अनिवार्य हो जाते हैं; क्योंकि संसार में ऐसे लोग भी हैं, जो केवल बल-प्रयोग की भाषा ही समझते हैं। अतः, कनफ्युशियस युद्ध तथा बल-प्रयोग के विरुद्ध नहीं था, पर उसने इनका प्रयोग सभी प्रयत्नों तथा उपायों को करने के बाद करने की मंत्रणा दी। उसके अनुसार युद्ध किसी ऊँचे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होने चाहिए तथा साधारण सैनिकों को भी इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि वे क्यों लड़ रहे हैं, ताकि वे अपने उद्देश्य के औचित्य से परिचित होकर पूर्ण उत्साह से लड़ सकें।

कनफ्युशियस एक शिक्षक था तथा शिक्षा के क्षेत्र में अत्यंत ऊँचे आदर्शों से अनुप्राणित था। उसका यह विश्वास था कि शिक्षा का उद्देश्य केवल मनुष्य के ज्ञान को बढ़ाना नहीं, वरन् उसके नैतिक जीवन को सुदृढ़ तथा विस्तृत करना है। दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के उज्ज्वलांश को विकसित करना है। कनफ्युशियस चाहता था कि उसके शिष्य शासन के क्षेत्र में क्रांतिकारी भूमिका अदा करें।

शिक्षा के क्षेत्र में वह वर्गों के महत्त्व को स्वीकार नहीं करता था। उसके शिष्यों में साधारण तथा कुलीन, अमीर और गरीब सभी प्रकार के लोग थे तथा उसने सभी को एक दृष्टि से देखा। उसने कहा था कि शिक्षा के क्षेत्र में वर्ग-विभेद नहीं होना चाहिए।

चूँकि वह साधारण वर्ग के व्यक्तियों को भी भद्र पुरुष बना देता था, इसलिए उसकी शिक्षा-प्रणाली में शिष्टाचार को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। राजदरबार में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, इस बात की वह विशद् रूप से शिक्षा देता था। राजदरबार के शिष्टाचार को तत्कालीन चीनी भाषा में ली (Li) कहते थे। पर, शिष्टाचार के क्षेत्र में भी कनफ्युशियस ने दिखावे तथा आडंबर की भर्त्सना की। उसने शिष्टाचार के भाव पर जोर दिया।

कनफ्युशियस का आचारशास्त्र मानव-स्वभाव पर आधारित है। उसका विश्वास था कि मनुष्य एक सामाजिक जीव है तथा समाज ही मनुष्य को बनाता है।

एक बुद्धिमान् मनुष्य को न तो समाज से भाग कर संन्यासी होना चाहिए और न अपने नैतिक विचार छोड़कर समाज के पीछे-पीछे चलना चाहिए। एक नीतिवान् मनुष्य को समाज के साथ सहयोग करना चाहिए, पर अपने सिद्धांतों तथा विवेक को तिलांजलि देकर नहीं।

कनफ्युशियस द्वारा 'ली' तथा शिष्टाचार की कल्पना में कोरा शिष्टाचार ही नहीं, वरन् नैतिक कर्त्तव्य भी शामिल था। इसीलिए, कनफ्युशियस की शिक्षा-प्रणाली में ली को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। ली के द्वारा मनुष्य के मनोवेगों का नियंत्रण होता है। कनफ्युशियस की दृष्टि में ली अथवा शिष्टाचार के अभ्यास के बिना बौद्धिक ज्ञान निरर्थक है। शिष्टाचार के अभ्यास तथा संबर्द्धन से शिक्षित व्यक्ति में एक संतुलित व्यक्तित्व का विकास होता है। ऐसे संतुलित व्यक्ति समाज की सेवा अपने नैतिक सिद्धांतों के अनुरूप, प्रलोभनों के बावजूद, कर सकते हैं।

कनफ्युशियस के दर्शन में ताओ (Tao) की कल्पना भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। 'ताओ' का अर्थ कनफ्युशियस के समय 'मार्ग' अथवा 'आचरण का पथ' था। यह चीनी संस्कृति की पुरातन विचारधारा थी। कनफ्युशियस के अनुसार 'ताओ' वह मार्ग है, जिससे मनुष्य सुख, सफलता तथा शांति प्राप्त कर सकता है। कनफ्युशियस की चिंतनधारा में नीतिशास्त्र तथा सुशासन दोनों सन्निविष्ट हैं; क्योंकि दोनों के सहयोग से ही प्रत्येक मनुष्य का कल्याण हो सकता है। औचित्य तथा न्याय की भावना से अनुप्राणित कर्म ही 'ताओ' अथवा 'मार्ग' है।

अपने सिद्धांतों की रक्षा के लिए कनफ्युशियस ने अपने शिष्यों को प्राणोत्सर्ग तक करने की शिक्षा दी। चीन के इतिहास में कनफ्युशियस के प्रति निष्ठा रखने वालों में बहुतों ने अपने सिद्धांतों की रक्षा के लिए शहादत को गले लगाया।

कनफ्युशियस ने ईश्वर, मोक्ष, मरणोपरान्त जीवन आदि विषयों पर कुछ भी कहने में दिलचस्पी नहीं दिखायी। वास्तव में, वह कोई धर्मोपदेशक अथवा पैगंबर नहीं था। अतः, उसकी विचारधारा धार्मिक अथवा तत्त्वज्ञान से संबद्ध नहीं, वरन् व्यावहारिक तथा नैतिक है। उसने धार्मिक विषयों पर अपना मत व्यक्त करने में अनिच्छा प्रकट की। जब उसके एक शिष्य ने मृत्यु के बारे में प्रश्न किया, तो उत्तर मिला—"जब तुम जीवन को नहीं समझते, तब मृत्यु को कैसे समझ पाओगे ?"

कनफ्युशियस के विचारों के अध्ययन से मालूम होता है कि उसके अपने धार्मिक विचार तथा विश्वास, तत्कालीन विचार और धार्मिक विश्वासों से प्रभावित थे, पर उसने अपने दर्शन एवं अपनी विचारधारा को धार्मिक विश्वासों पर आधारित नहीं किया। उसने बहुत-सी धार्मिक कुरीतियों की आलोचना की। उदाहरणार्थ, उसके समय में नरबलि की प्रथा कुछ हद तक थी। उसने इस प्रथा की कटु आलोचना

की तथा इस प्रथा के अंत के लिए उसकी भर्त्सना बहुत हद तक जिम्मेवार थी। इसी प्रकार, उसने इस बात पर जोर दिया कि पितरों को बलिदान कुछ पाने के लिए नहीं, वरन् उनके प्रति आदर तथा निष्ठा की भावना से होना चाहिए।

कनफ्युशियस के अनुसार सुशासन की कसौटी प्रजा की खुशहाली तथा समृद्धि है। अतः, शासन का उद्देश्य प्रजा का सुख एवं कल्याण होना चाहिए। पर, यह तभी संभव है, जब शासन की बागडोर राज्य के योग्यतम व्यक्तियों के हाथ में हो। योग्यता की आधारशिला कुल अथवा संपत्ति नहीं, बल्कि ज्ञान एवं आचरण है। ज्ञान की प्राप्ति तथा आचरण-निर्माण उचित शिक्षा के द्वारा हो सकता है। अतः, शिक्षा का विस्तार होना चाहिए, ताकि प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों को अपने ज्ञान के विस्तार तथा आचरण के निर्माण का अवसर प्राप्त हो सके। ऐसे ही ज्ञानवान् तथा चरित्रवान् व्यक्तियों के हाथ में शासन का भार सौंपा जाना चाहिए। कनफ्युशियस ने वंशानुगत शासकों को यह सलाह दी कि उन्हें सुयोग्य, सुशिक्षित एवं चरित्रवान् मंत्रियों की सलाह पर चलना चाहिए।

चीन के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में कनफ्युशियस के विचार अमर प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। इसका कारण यह है कि उसने मानवीय मूल्यों को अपने दर्शन में सर्वोच्च स्थान दिया। उसके अनुसार "मनुष्यों को समझना ही बुद्धिमत्ता है तथा मनुष्यों को प्रेम करना ही सदाचार है।" उसका यह दृढ़ विश्वास था कि मानवता तभी सुखी हो सकती है, जब समाज में सहयोग तथा स्वतंत्रता की भावना का विकास हो।

इस प्रकार, कनफ्युशियस ने एक ऐसे समाज के निर्माण का प्रयत्न किया, जिसमें अतीत के प्रति आस्था तथा पारंपरिक शिष्टाचार के प्रति निष्ठा हो। वह समाज के विघटन तथा क्रांतिकारी परिवर्त्तन के विरुद्ध था। साथ ही, वह शासकों को विचारवान्, न्यायी एवं चरित्रवान् बनाना चाहता था, जिससे प्रजा सुखी एवं समृद्ध हो। प्रजा का समर्थन शासकों को सुशासन के द्वारा ही प्राप्त हो सकता था। शासकों के चरित्रवान् होने पर प्रजा का सच्चरित्र होना उसकी दृष्टि में अनिवार्य था। इसीलिए, उसने अपनी शिक्षा के द्वारा अपने शिष्यों में पूर्ण एवं संतुलित व्यक्तित्व के विकास के लिए आजीवन प्रयत्न किया।

कनफ्युशियस की मृत्यु के पश्चात्, उसके सिद्धांत अमर हो गए तथा उनसे चीन का इतिहास पूर्णतया प्रभावित हुआ। कनफ्युशियनवाद ने न केवल चीन को राष्ट्रीय एकता प्रदान की, वरन् चीनी संस्कृति को अमरता एवं दार्शनिकता भी प्रदान की। कनफ्युशियनवाद चीनी संस्कृति की महत्ता एवं गरिमा की आधारशिला

सिद्ध हुआ। चीन के लोगों ने गर्वपूर्वक अपने-आपको कनफ्युशियस की संतान बतलाया।

पर, साथ ही कनफ्युशियस के सिद्धांतों की लोकप्रियता ने चीनी समाज को कठोर अनुशासन की कड़ी में बाँध कर रूढ़िबद्ध तथा गतिहीन बना दिया। कालांतर में कनफ्युशियनवाद परिवर्त्तन के मार्ग में सबसे बड़ा व्यवधान सिद्ध हुआ। लेकिन, साथ-ही-साथ चीनी संस्कृति अपने वास्तविक रूप में जीवित रही।

चाऊ-युग में कनफ्युशियस की चिंतनधारा पर आधारित कई दार्शनिक धाराओं का विकास हुआ। कनफ्युशियस के प्रमुख शिष्यों में मेंशियस (Mencius) का स्थान सर्वोच्च है। इसका जीवनकाल ३७२ ई०-पू० से २८८ ई०-पू० माना जाता है। इसका जन्म भी कनफ्युशियस की तरह लू-राज्य में हुआ था। इसके विचारों के विकास में कनफ्युशियस से भी अधिक इसकी बुद्धिमती माता का प्रभाव था। कनफ्युशियस की भाँति मेंशियस भी एक प्रकांड विद्वान् तथा प्रख्यात शिक्षक था, जिसकी ख्याति से प्रभावित होकर दूर-दूर से विद्यार्थी उसके पास आते थे। अपने गुरु की भाँति सुशासन की स्थापना में इसकी भी विशेष अभिरुचि थी तथा इसने भी अपने जीवन का अधिकतर भाग घूम-घूम कर शासकों को अपने मार्ग पर लाने के प्रयत्न में बिताया। कनफ्युशियस की विचारधारा के उदार पक्ष को लोकप्रिय बनाने का श्रेय मेंशियस को ही है। इसके विचारों का प्रामाणिक संकलन 'मेंशियस के विचार' नामक ग्रंथ में पाया जाता है, जिसका चीनी नाम मेंग-जू-शू (Meng-Tzu-Shu) है।

मेंशियस

कनफ्युशियस की भाँति इसने भी इस बात पर जोर दिया कि सुशासन बल-प्रयोग पर नहीं, वरन्, शासकों के सदाचार तथा नैतिक उदाहरण पर भी निर्भर करता है। शासकों के सदाचार पर इसने कनफ्युशियस से भी अधिक जोर दिया और शासकों को चेतावनी दी कि यदि वे पिता की भाँति प्रजा के सुख-दुःख का ख्याल नहीं करते, तो प्रजा को भी विद्रोह करने का अधिकार है। यदि कोई शासक प्रजा के सुख-दुख में अभिरुचि नहीं लेता, तो उसका विनाश आवश्यक है। मेंशियस ने कनफ्युशियस से भी अधिक कटु शब्दों में आचारभ्रष्ट शासकों की आलोचना की। उसकी प्रसिद्ध उक्ति है—

"ईश्वर प्रजा की आँखों से ही देखता है तथा प्रजा के कानों से ही सुनता है।"

अतः, जिस शासक के प्रति प्रजा में गहरा एवं अनवरत असंतोष व्याप्त रहता है, ईश्वर, उस शासक के हाथ से शासन की बागडोर छीन लेता है। इसलिए, राजा क अपने राज्य में सदैव प्रजा की भौतिक सुख-सुविधाओं को बढ़ाना चाहिए।

मेंशियस के अनुसार सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था पर ही निर्भर करती है। जीविका की सुविधा नहीं प्राप्त होने से लोग निराशा, भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता के गर्त्त में गिर जाते हैं। आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए उसने बहुत-से कारगर उपाय बताए।

मेंशियस के बहुत-से विचार अत्यन्त आधुनिक लगते हैं। उदाहरण के लिए, इसने कर वसूलने की प्रथा को अधिक सरल एवं उपयोगी बनाने पर जोर दिया तथा व्यापार के नियमों को अधिक उदार बनाने का उपदेश दिया। शिक्षा के क्षेत्र में वह सार्वजनिक शिक्षा का हिमायती था। मानवीय मूल्यों के क्षेत्र में इसका विश्वास था कि मनुष्य स्वभावतः नेक होता है तथा उचित शिक्षा के द्वारा मानव-स्वभाव को मधुरतर बनाया जा सकता है। यदि मनुष्य को सदैव सद्भाव एवं सहानुभूति प्राप्त हो तथा उसका संगीत एवं ललित कला से घनिष्ठ संपर्क स्थापित हो, तो मानव-स्वभाव अत्यंत मधुर बनाया जा सकता है।

मेंशियस के राजनैतिक विचारों की मूल धारणा यह थी कि नैतिक जीवन से ही सफलता प्राप्त होती है। इसी प्रकार, शिक्षा से उसका तात्पर्य नैतिक शिक्षा से है। उसके विचार कनफ्युशियस के मूल विचारों से भिन्न नहीं है। वस्तुतः, उसने कनफ्युशियस के कथनों में निहित विचारों को पल्लवित एवं पुष्पित कर उन्हें लोकप्रिय बनाया। यही उसकी सबसे बड़ी देन है।

इस युग का तीसरा प्रसिद्ध दार्शनिक मो-टी था, जिसके विचारों ने चीनी संस्कृति को प्रभावित किया। बहुत-से विद्वानों के अनुसार यह कनफ्युशियस का समकालीन था, पर अवस्था में कनफ्युशियस से बहुत छोटा था।

मो-टी (Mo-ti)

इसके जीवन की तिथियाँ सुननिश्चत नहीं है, पर इसमें जीवन का अधिकतर भाग पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बीता था। अतः यह मेंशियस से पहले तथा कनफ्युशियस के बाद पैदा हुआ था। इसका जन्म भी लू-राज्य में ही हुआ था।

मो-टी भी समाज का सुधार चाहता था। पर, इसका मार्ग कनफ्युशियस एवं मेंशियस से भिन्न था। इसने शिष्टाचार अथवा कर्मकांड पर जोर नहीं दिया, वरन् इसने ईश्वरीय इच्छा तथा तार्किक बुद्धि के अनुसार आचरण करने का उपदेश दिया। इसने तर्कशास्त्र की एक विशिष्ट शैली को विकसित किया, जिसमें परिभाषाओं पर अधिक जोर दिया जाता था। इसके अनुसार मनुष्य यदि ईश्वरीय इच्छा का पालन करे, तो उसे, सर्वोच्च सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसने ईश्वर के लिए शांग-टी (Shang-ti) शब्द का प्रयोग अधिक किया, यद्यपि टिएन् (Tien) शब्द भी इस अर्थ में प्रयुक्त होता था। इसने नैतिक गुणों तथा चेतना से युक्त परम-

शक्ति की सत्ता को माना, जिसकी पूजा इष्ट देवता के रूप में की जा सकती है। अतः इसके संप्रदाय में भक्ति-भावना तथा समाज-सेवा पर बहुत जोर दिया गया।

मो-टी तथा इसके अनुयायियों ने इस बात पर जोर दिया कि चूँकि ईश्वर मनुष्यों को प्यार करता है तथा नैतिकता को समर्थन देता है, इसलिए मनुष्यों को एक दूसरे को प्यार करना चाहिए तथा नैतिक जीवन बिताना चाहिए। इसके साथ ही मो-टी शांतिवादी तथा युद्धों का घोर विरोधी था। इसने युद्धों को अमानवीय तथा घोर दुष्कर्म घोषित किया और सभी शासकों को निरस्त्रीकरण की नीति अपनाने का उपदेश दिया। इसने विशेषतः आक्रामक युद्धों की घोर भर्त्सना की।

इसका प्रेतात्माओं (Spirits) में विश्वास था, पर इसने खर्चीले श्राद्ध-संस्कार, कर्मकांड तथा संगीत के विरुद्ध उपदेश दिया। इसके द्वारा समाज का कल्याण नहीं होता है। इसके अनुसार राष्ट्रीय संपत्ति के उत्पादन एवं वितरण पर नियंत्रण होना चाहिए। किसी भी वस्तु का उत्पादन आवश्यकता से अधिक नहीं होना चाहिए। यह नियतिवाद का भी घोर विरोधी था। इसके अनुसार मनुष्य अपने प्रयत्नों के द्वारा अपने भाग्य तथा अपने नैतिक जीवन में सुधार ला सकता है।

कनफ्युशियस के अनुयायियों ने, विशेषतः मेंशियस ने मो-टी के विचारों की कटु आलोचना की। मेंशियस के अनुसार मो-टी के विचार समाज का विघटन कर सकते हैं; क्योंकि मो-टी के दर्शन में पारिवारिक प्रेम तथा वफादारी के स्थान पर विश्वजनीन प्रेम एवं सहानुभूति पर जोर दिया गया था।

मो-टी के दर्शन ने चीनी संस्कृति को कई शताब्दियों तक प्रभावित किया। बहुत-से प्रतिभासंपन्न विद्वानों ने इस संप्रदाय की प्रतिष्ठा बढ़ायी। पतनोन्मुख चाऊ-वंश के अंतिम दिनों में जब हिंसा तथा युद्धों का बोलबाला था, इस संप्रदाय के शांति एवं प्रेम के आदर्श अरण्यरोदन प्रतीत होते थे। फिर भी, इस विचारधारा के अनुयायी प्रथम शताब्दी ई०-पू० तक पाए जाते थे।

कनफ्युशियस के बाद चीनी संस्कृति तथा इतिहास को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला दार्शनिक लाओ-जू (Lao-Tzu) था। इसकी दार्शनिक विचारधारा धार्मिक रहस्यवाद तथा राजनैतिक अराजकता का प्रतिनिधित्व करती है। यह कनफ्युशियस का समकालीन था, पर इसका जन्म संभवतः कनफ्युशियस से पहले हुआ था। यह चाऊ-राजाओं के अभिलेखागार का संरक्षक था। इसके विचार 'ताओ-टे-चिंग' (Tao-Teh-Ching) नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं। बहुत-से विद्वानों के अनुसार इस पुस्तक का रचयिता लाओ-जू के संप्रदाय का प्रसिद्ध लेखक चू-आंग-जू (Chu-ang-Tzu) था।

लाओ-जू की दार्शनिक विचारधारा का नाम चीनी इतिहास में 'ताओवाद' है। इस संप्रदाय की उपर्युक्त पुस्तक 'ताओ-टे-चिंग' के प्रथम शब्द के आधार पर इस विचारधारा का नाम 'ताओवाद' पड़ गया। ताओवाद कनफ्युशियनवाद की विरोधी विचारधारा है। ताओवाद ने कनफ्युशियनवाद की मूल धाराओं का विरोध किया। उदाहरणार्थ, इस विचारधारा के कनफ्युशियनवाद के शिष्टाचार एवं कर्मकांड, नीतिशास्त्र एवं बौद्धिकता की कटु आलोचना की। ताओवाद सामाजिक उत्थान तथा सभ्यता के विकास में कोई दिलचस्पी नहीं रखता था। इसके विपरीत ताओवाद मनुष्यों को अपनी नैसर्गिक आदिम अवस्था में लौटने का उपदेश देता था। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य व्यर्थ ही अपनी इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं से परेशान है। उसे चाहिए कि इन सभी प्रवृत्तियों को छोड़ कर आराम से प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करे। मनुष्य जब प्राकृतिक नियमों का पालन करेगा तथा नैसर्गिक जीवन बिताएगा, तभी उसे सुख एवं शांति प्राप्त हो सकती है। शासनतंत्र के द्वारा संसार के सुधार की योजना व्यर्थ है। सभ्यता की दुरूहता को नष्ट कर नैसर्गिक जीवन की सादगी ही मनुष्य के लिए वांछनीय है। इस संप्रदाय ने शिक्षा एवं विद्वता को भी अनावश्यक बताया; क्योंकि इनके द्वारा मनुष्यों की अनेक इच्छाएँ अनायास जागृत हो जाती हैं, जिनसे मनुष्य की शांति भंग होती है।

ताओवाद कुछ अंशों में भारतीय दर्शन में शंकराचार्य के मायावाद से मिलता-जुलता है। जिस प्रकार दृश्य जगत् को माया माना गया है, उसी प्रकार ताओवाद के अनुसार वास्तविक जगत् को इंद्रियों के द्वारा न तो देखा जा सकता है और न अनुभव ही किया जा सकता है। 'ताओ' शब्द का प्रयोग परमतत्त्व के रूप में किया गया, जो इस ब्रह्मांड में व्याप्त अंतिम सत्य है। इस अंतिम सत्य का ज्ञान तर्क अथवा अध्ययन के द्वारा नहीं, वरन् ध्यान, चिंतन तथा आंतरिक ज्योति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य का आचरण ताओ के अनुसार होना चाहिए, तभी उसका आध्यात्मिक कल्याण संभव है।

चीन के इतिहास में ताओवाद एक महत्त्वपूर्ण विचारधारा के रूप में जीवित रहा। इसने चीनी जाति के चरित्र को भी प्रभावित किया। इस विचारधारा के प्रचार से चीनी जाति के चरित्र में एक खास प्रकार की नरमी तथा मृदुता का समावेश हो गया।

फाचिया (Fachia)-संप्रदाय

चाऊ-युग की अंतिम प्रसिद्ध विचारधारा 'फाचिया'-संप्रदाय के नाम से विख्यात है। 'फाचिया' का अर्थ 'विधिवादी' अथवा 'कानून का समर्थक' संप्रदाय होता है। इस विचारधारा का उद्भव एवं विकास चौथी शताब्दी ई०-पू० में हुआ, जब चारों ओर अशांति एवं अराजकता का बोलबाला था। कनफ्युशियस के आदर्श, जिनके अनुसार

शासकों के नैतिक आचरण का प्रभाव प्रजा पर पड़ता है, व्यर्थ सिद्ध हो रहे थे। अतः, इस विचारधारा के पोषकों ने समाज तथा शासन के नियमन के लिए कानूनों की महत्ता पर जोर दिया। चूँकि सदैव ऊँचे आदर्शों से अनुप्राणित तथा सदाचारी शासकों का होना असंभव है, अतएव शासनतंत्र की सफलता के लिए सुनिश्चित कानूनों का होना आवश्यक है, जिसके अनुसार शासन निष्पक्ष ढंग से चलाया जा सके। मनुष्यों के चंचल स्वभाव का भी नियंत्रण कानूनों के सहारे ही किया जा सकता है। कानूनों का निर्माण समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार बुद्धिमत्तापूर्वक किया जाना चाहिए। कानूनों के अनुसार दिए जाने वाले दंडों के डर से मनुष्यों की कुप्रवृत्तियों को रोका जा सकता है। इस विचारधारा में अभिजात वर्ग तथा राज्य को अधिक महत्त्व दिया गया। कृषि एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता पर जोर दिया गया। राज्य की समृद्धि के लिए व्यापार की महत्ता पर भी जोर दिया गया। इस विचारधारा में कुछ साम्यवादी तत्त्वों का भी समावेश था। उदाहरणार्थ, पूँजी का राष्ट्रीयकरण तथा राज्य के व्यापार को अपने हाथ में लेना भी इस संप्रदाय के कार्यक्रम में सम्मिलित था।

यद्यपि कनफ्युशियनवाद की लोकप्रियता से फाचिया-संप्रदाय का पतन होने लगा, तथापि चीन के प्राचीन इतिहास पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इस विचारधारा के दो मुख्य स्तंभ केवल दार्शनिक ही नहीं, वरन् महान् राजनैतिक नेता भी थे। इन दोनों महान् नेताओं के नाम थे—लार्ड शांग (Lord Shang) तथा ली-स्सू (Li-ssu)। ये दोनों ही चाऊ-युग के पतनकाल में प्रसारवादी तथा सामंती राज्य चीन के मंत्री थे। इनका समय क्रमशः चौथी शताब्दी ई०-पू० तथा तीसरी शताब्दी ई०-पू० था। फाचिया-दर्शन ने शासकों को निरंकुश बनाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। लार्ड शांग तथा ली-स्सू द्वारा विकसित आदर्शों के आधार पर ही चीन के राज्य के शासक शी-हुआंग-टी (Shi-Huang-ti) ने चाऊ-वंश का विनाश कर समस्त चीन को एक सूत्र में आबद्ध किया तथा प्रथम साम्राज्य की स्थापना की।

इन विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के कारण ही चाऊ-युग के उत्तरार्द्ध को चीन के बौद्धिक इतिहास में अत्यंत रचनात्मक काल माना जाता है। इस प्रकार की बौद्धिक प्रगति पुनः चीन के आधुनिक इतिहास में ही दृष्टिगोचर हुई।

ज्ञान-विज्ञान की प्रगति

चाऊ-युग की वैज्ञानिक प्रगति भी चीन के प्राचीन इतिहास में प्रसिद्ध है। गणित-ज्योतिष के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अध्ययन किए गए। अनेक सितारों तथा पुच्छल तारा की गति का अध्ययन किया गया। ४४४ ई०-पू० में ज्योतिष के आधार पर एक वर्ष में ३६५¼ दिन निर्धारित किए गए। ३५० ई०-पू० में बृहस्पति तथा

शनि ग्रहों की गति का अध्ययन किया गया। पुच्छल तारा (Comet) पहले-पहल २४० ई०-पू० में देखा गया। धूप-घड़ी (Sun dial) का प्रयोग पाँचवीं शताब्दी ई०-पू० से होने लगा था। इसी प्रकार जल-घड़ी (Water clock) का व्यवहार भी पाँचवीं शताब्दी ई०-पू० से ही होने लगा था।

कई सामाजिक एव आर्थिक प्रश्नों को सुलझाने के लिए भी वैज्ञानिक प्रयोग किए गए। जनगणना के प्रयत्न किए गए। करों को वैज्ञानिक ढंग से निश्चित किया गया तथा अकाल को रोकने के भी प्रयत्न किए गए। इस दिशा में जो प्रयत्न किए गए, वे इस बात के प्रमाण हैं कि चीनी सभ्यता परिपक्व एवं प्रौढ़ होती जा रही थी।

वाणिज्य-व्यापार तथा कला-कौशल के क्षेत्र में भी नए तौर तरीकों का प्रयोग होने लगा था, जिनसे हाथ की बनी हुई वस्तुओं की सुंदरता एवं उपयोगिता में वृद्धि हुई थी। लकड़ी के सामानों को अधिक सुंदर तथा चिकना बनाने के लिए प्रलाक्षा-लेपन (Lacquering) की प्रक्रिया विकसित हो चुकी थी। इसी प्रकार काँसे के सुंदर दर्पण भी बनाए जाने लगे थे। बहुत-सी वस्तुओं पर सोने की जरदोजी (Gold fligree) का काम किया जाता था। बहुत-से काँसे के वरतनों पर सोने-चाँदी को जटित कर सुंदर नक्काशी की जाती थी। चाऊ-युग के अभिजात वर्ग के लोग विशाल महलों में रहते थे जिनके चारों ओर वाटिका तथा उपवन होते थे। अतः, इस युग में गृहनिर्माण कला तथा बागवानी का विकास भी हुआ। संगयशब की बनी हुई छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ तथा गहने इस युग की समृद्धि एवं सुरुचि का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

शांग-युग में, हम देख चुके हैं कि कौड़ियों का प्रयोग सिक्कों के स्थान पर होता था। पर, इस युग में धातुओं के सिक्कों का प्रयोग होने लगा। खेती के औजारों में लोहे का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। उदाहरण के लिए, हँसिया, हथौड़ा, आरा, छेनी, रुखानी तथा बरमे का प्रयोग होने लगा था। खेतों को जोतने के लिए बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हल का प्रयोग होने लगा था। गदहे, खच्चर तथा ऊँट, जो मध्य एशिया से चीन में लाए जाते थे, सामान ढोने के काम में लाए जाते थे। नई तरह की तलवार का भी प्रयोग होने लगा तथा तीरंदाज लोग आड़ी कमान (Cross bow) का प्रयोग करने लगे थे। घोड़ों पर चढ़ने की लोकप्रियता से पतलून तथा लंबे जूतों का भी चलन हो गया था।

सार्वजनिक उपयोगिता के कामों पर इस युग में विशेष ध्यान दिया गया। दलदल जमीनों को खेती के लायक बनाया गया तथा बाढ़ के नियंत्रण के प्रयत्न किए गए। नहरों तथा सड़कों का निर्माण किया गया और जलाशयों एवं तालाबों को भी खुदवाया गया।

चाऊ-युग की अंतिम शताब्दियों में चीनी सभ्यता एवं संस्कृति का एशिया की अन्य सभ्यताओं से निकट संपर्क स्थापित हुआ। अत्यंत प्राचीन काल से ही चीन का अन्य सभ्यताओं से संपर्क था। उदाहरण के लिए, कौड़ियों को उष्णकटिबंधीय देशों से लाया जाता था। इसी प्रकार, गेहूँ, पश्चिमी एशिया से तथा भैंस को बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती प्रदेशों से लाया गया था। ये सारी वस्तुएँ १००० ई०-पू० के लगभग या उससे भी पहले चीन में लायी जा चुकी थीं। पाँचवीं शताब्दी ई०-पू० के पश्चात् विदेशों से और घनिष्ठ संपर्क स्थापित हो गया।

मध्य एशिया, पश्चिम एशिया तथा भारतवर्ष की सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की छाप इस युग की चीनी संस्कृति पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। छठी शताब्दी ई०-पू० में पश्चिम एशिया से बैलों द्वारा जोते जाने वाले हल का प्रयोग चीनियों ने सीखा। चौथी शताब्दी ई०-पू० से चीनी भाषा पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए, सिंह के लिए 'संस्कृत' शब्द 'सिंह' का ही प्रयोग होने लगा था, यद्यपि सिंह या शेर चीन में नहीं पाया जाता है। इससे भारत की भाषा एवं संस्कृति से घनिष्ठ संपर्क सिद्ध होता है। चाऊ-युग के पूर्व चीन में शव घास में लपेट कर दफ़ना दिए जाते थे, पर इस युग में शवपेटिका (Coffin) का प्रयोग होने लगा। संभवतः, यह प्रथा इन लोगों ने मिस्र से सीखी।

ब्रह्मांड-विद्या, भूगोल तथा ज्योतिष के क्षेत्र में निस्संदेह प्राचीन भारत चीन का गुरु था। चौथी शताब्दी-ई०-पू० में जो पुस्तकें इन विषयों पर लिखी गईं, उन पर भारतीय प्रभाव पूर्णतया स्पष्ट है। बृहस्पति की बारहवर्षीय गणना में जो चीनी शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह भारतीय ज्योतिष के स्वाति नक्षत्र से मिलता-जुलता है। चीनी भाषा में यह शब्द 'स्यापदी (Siapdiei) कहा गया है। इसी प्रकार, घुड़सवार की कला इन लोगों ने मध्य एशिया से सीखी। पार्थियन लोगों से इन लोगों ने पायजामा या पतलून तथा लंबे जूते पहनना सीखा और शक जाति से इन लोगों ने इस काल में टोपी एवं कमरबंद का प्रयोग भी सीखा।

कला, संगीत तथा ज्यामिति के क्षेत्र में भी विदेशी प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। ज्यामिति के क्षेत्र में कुछ यूनानी स्वयंसिद्ध सिद्धांत भी पाए गए हैं। इस प्रकार चाऊ-युग, बौद्धिक विकास की दृष्टि से प्राचीन चीन के इतिहास में अद्वितीय है। दर्शन, साहित्य, कला एवं विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। विदेशी सभ्यताओं के घनिष्ठ संपर्क से चीन का बौद्धिक तथा सामाजिक जीवन समृद्ध हुआ और चीनी सभ्यता परिपक्वता एवं प्रौढ़ता का प्रमाण देने लगी। बौद्धिक जीवन तथा कला-कौशल के क्षेत्रों में उल्लिखित उपलब्धियों के कारण ही चाऊ-युग प्राचीन चीन का प्रतिष्ठित शास्त्रीय युग माना जाता है।

धार्मिक जीवन

जिस प्रकार प्राचीन भारत का आदियुग भी अपने धार्मिक चिंतन के लिए विख्यात है, चीनी इतिहास का आदिकाल उस प्रकार प्रख्यात नहीं। यदि यह कहें कि चीन में धार्मिक चिंतन का विकास चाऊ-युग के बहुत बाद, विशेषतः भारतीय संपर्क में आने पर हुआ, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। धार्मिक चिंतन से यह युग लगभग शून्य ही था, इसी कारण इस युग का धर्म, धार्मिक चिंतन अथवा तर्क पर आधारित नहीं था, वरन् यह धर्म एक सीधा-सादा धर्म था, जो आदिमानव के अपरिष्कृत धर्म का ही थोड़ा विकसित रूप था। इसमें पूर्वजों एवं पितरों के साथ-साथ भूत-प्रेतों की पूजा का प्राधान्य था।

सौभाग्यवश चाऊ-युगीन धार्मिक अवस्था के ज्ञान के लिए हमें पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। इस युग में लोगों की क्या धार्मिक अभिलाषाएँ एवं विश्वास थे, इसका ज्ञान हमें प्रामाणिक रूप से मिलता है। इसी प्रकार, इस युग के देवी-देवताओं के बारे में भी पूरी जानकारी हासिल होती है।

काँसे के बरतनों पर खुदे हुए लेखों से हमें धार्मिक जीवन के कई पहलुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। धार्मिक अनुष्ठानों के द्वारा इस युग के लोग किस वस्तु की प्राप्ति चाहते थे, इसका ज्ञान हमें मिलता है। पितरों तथा देवताओं की पूजा के द्वारा इस युग के लोग मुख्यतः निम्नलिखित वस्तुओं की कामना करते थे।

इस युग के लोगों में पुत्र-पौत्रों की प्राप्ति के द्वारा अपने वंश को जीवित रखने की अभिलाषा सर्वोपरि थी। एक लंबे जीवन की कामना को दूसरा स्थान दिया जा सकता है। इन अभिलेखों में देवताओं में इन कामनाओं की पूर्ति के लिए वार-वार प्रार्थना की गई है। कभी-कभी देवताओं तथा प्रेतात्माओं से शरीर की रक्षा, सौभाग्य तथा असंख्य संतानों की प्राप्ति के लिए भी प्रार्थना की गई है इसी प्रकार सुखद मृत्यु की भी प्रार्थनाएँ देखने को मिलती हैं। पर, इन अभिलेखों में बहुत कम प्रार्थनाएँ ही ऐसी मिलती हैं जिनमें सद्बुद्धि तथा मानसिक शांति के लिए प्रार्थना की गई हो।

भविष्य को जानने की इच्छा इस युग के सभी वर्ग के लोगों में पायी जाती थी। इसके लिए भविष्यवक्ताओं का सहारा लिया जाता था। स्वप्नों की व्याख्या करने की विद्या भी विकसित हो चली थी। राजा-रंक सभी भविष्य को जानना चाहते थे। यहाँ तक कि प्रेमी युग्म जो अन्यत्र भागना चाहते थे, वे भी भविष्यवक्ताओं से अपना भविष्य जानने का प्रयत्न करते थे।

बलिदान एवं यज्ञ

तत्कालीन धार्मिक जीवन में बलिदानों का बहुत महत्त्व था। यज्ञ अथवा बलिदान के साथ-साथ प्रार्थना करना ही देवताओं अथवा प्रेतात्माओं को प्रसन्न करने

का प्रचलित ढंग था। कुछ चढ़ावे तो नियमित रूप से पितरों को दिए जाते थे। इसके पीछे जो भावना काम करती थी, वह बूढ़े पिता को प्रतिदिन भोजन-पेय देने से मिलती-जुलती थी तथा बदले में निरंतर सहायता एवं कृपा की अपेक्षा भी उसी तरह की जाती थी, जैसे पुत्र अपने पिता से अनवरत रक्षा पाने का विश्वास रखता है। इन नियमित चढ़ावों के साथ प्रार्थना की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। पर, यदि किसी गंभीर संकट की घड़ी में अथवा विशेष अवसर पर पूजा करने वाले को विशेष प्रार्थना की सहायता अथवा दया की कामना होती थी, तो वह देवता को एक विशेष प्रार्थना के द्वारा अपनी आवश्यकता से अवगत कराता था। संभवतः ऐसी प्रार्थनाएँ लिखित होती थीं तथा पूजा अथवा बलिदान के समय उच्च स्वर से पढ़ी जाती थीं और अंत में उन्हें जला दिया जाता था। युद्ध के प्रारंभ में खास तौर से दैवी सहायता के लिए विशिष्ट ढंग की पूजा एवं प्रार्थना की जाती थी। इस युग की धारणाओं के अनुसार युद्ध के परिणामों पर ऐसी प्रार्थनाओं का बहुत असर होता था।

चढ़ावे की वस्तुएँ शांग-युग में अर्पित की जाने वाली वस्तुओं से मिलती-जुलती थीं। शांग-युग के खेतों से पैदा होने वाली वस्तुएँ चढ़ावे में अर्पित नहीं होती थीं। केवल अनाज से बनी शराब ही चढ़ावे में सम्मिलित थी। पर, चाऊ-युग में प्रारंभ से ही अनाज चढ़ाया जाता था। चढ़ावे की वस्तुएँ पूजा करने वाले सामाजिक स्तर के अनुरूप होती थीं। धनी लोग बहुमूल्य वस्तुएँ अर्पित करते थे तथा गरीब लोग मछली भी पूर्वजों को अर्पित करते थे। बलिदान में चढ़ाए जाने वाले पशुओं का शरीर स्वस्थ होना आवश्यक था। विकलांग पशुओं को नहीं चढ़ाया जाता था, संभवतः चाऊ-युग के पूर्वार्द्ध में नरबलि की भी प्रथा थी, पर कनफ्युशियस जैसे विचारकों के प्रभाव से यह कुप्रथा धीरे-धीरे समाप्त हो गई। फिर भी, इस युग में शांग-युग की अपेक्षा नरबलि की प्रथा बहुत कम ही थी।

विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार के बलिदान तथा चढ़ावे दिये जाते थे। कुछ बलिदान अथवा पूजाएँ युद्ध में विजय के पश्चात् होती थीं। वसंत तथा शरत् ऋतुओं में कुछ बलिदान कृषि अथवा पंचांग के उपलक्ष्य में चढ़ाए जाते थे। परिवार के व्यक्तियों की मृत्यु होने के बाद उन्हें बहुत चढ़ावे दिए जाते थे, पर धीरे-धीरे समय बीतने पर उन्हें कम खाद्य सामग्री अर्पित की जाती थी। इसका कारण यह विश्वास कि मृत व्यक्ति शनैः-शनैः प्रेतात्माओं के जीवन से अभ्यस्त हो जाते हैं। प्रत्येक भोजन के समय खाद्य तथा पेय का थोड़ा अंश प्रेतात्माओं के लिए भूमि पर गिरा दिया जाता था।

पितृ-पूजा (Ancestor-Worship) की यह विशेषता थी कि इसमें एक व्यक्ति को, जिस पूर्वज-विशेष की पूजा होती थी, उसके स्थान पर बैठा दिया जाता था तथा उसको सभी चढ़ावे अर्पित किए जाते थे। यह व्यक्ति उस पूर्वज का वंशज होता था तथा पूजा के समय तक यह मान लिया जाता था कि उस पूर्वज-विशेष की आत्मा उसमें प्रविष्ट हो गई है। चढ़ावे की वस्तुओं को खाने के पश्चात् तथा अर्पित मदिरा का पान करने के बाद यह व्यक्ति पूजा करने वाले को आशीर्वाद देता था। और यह घोषित करता था कि उसकी अर्पित वस्तुएँ स्वीकार कर ली गई हैं। कभी-कभी बच्चों को भी ऐसे स्थानों वर बैठा दिया जाता था।

पितृमंदिर (ancestral temple) तत्कालीन धार्मिक जीवन का केंद्र-बिंदु था। प्रत्येक परिवार का हर महत्त्वपूर्ण समारोह इसी मंदिर में संपन्न होता था। विवाह श्राद्ध आदि सभी अनुष्ठान वहीं होते थे। राजाओं तथा शासकों के पितृ मंदिर राजनैतिक तथा प्रशासकीय कार्यवाही के भी केंद्र थे। राजा के उत्तराधिकारी को युवराज का पद यहीं दिया जाता था। युद्धों के अभियान का प्रारंभ तथा विजय का 'समारोह पितृमंदिर में ही होता था। राजनयिक वार्ताएँ, राजकीय भोज तथा उच्च पदाधिकारियों की नियुक्तियाँ भी यहीं संपन्न होती थीं। राजा एवं शासक न केवल अपने पितरों की वरन् ईश्वर की पूजा भी इन्हीं पितृमंदिरों में करते थे।

शी (She) नामक वेदी का महत्त्व तत्कालीन धार्मिक जीवन में पितृमंदिरों के ही समकक्ष था। प्रत्येक ग्राम में छोटे-छोटे मिट्टी के टीले होते थे, जहाँ पृथ्वी की पूजा की जाती थी। पृथ्वी को खेती की अधिष्ठात्री देवी के रूप में इन टीलों पर चढ़ावा देकर पूजा की जाती थी। तत्कालीन धारणा के अनुसार इस पूजा से फसल अच्छी होती थी तथा सूखा नहीं पड़ता था। बड़े-बड़े सामंतों के पास पूजा के लिए बड़े टीले होते थे। राज-परिवार को भी इस प्रकार की पूजा के लिए एक टीला होता था।

शांग-युग में शी अथवा मिट्टी की वेदी की पूजा होती थी। चाऊ-युग में 'शी' कृषि की देवी के रूप में अच्छी फसल एवं वर्षा के लिए पूजित होती थी। चाऊ-युग में 'शी' का नाम 'शी-ची' (She-Chi) हो गया, जिसका अर्थ होता था—'भूमि तथा अन्न'। अतः, कृषि से शी का घनिष्ठ संबंध था। पर इन टीलों के पास कुछ अन्य धार्मिक कृत्य भी संपन्न होते थे। सेनापति युद्धों के अभियान के पूर्व कुछ अनुष्ठान इन टीलों के पास संपन्न करते थे। कुछ अपराधियों को मृत्युदंड भी राजकीय टीलों के पास दिया जाता था।

इस प्रकार, तत्कालीन धार्मिक जीवन के दो ही मुख्य केंद्र थे—पितृमंदिर तथा शी। पर, राजधानी के उपनगरों में खुले स्थानों पर भी बलिदान एवं चढ़ावे देवताओं को अर्पित किए जाते थे।

चाऊ-युग का धार्मिक जीवन पुरोहितों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त था। कुछ ऐसे राजकीय पदाधिकारी तथा कर्मचारी होते थे, जो धार्मिक कृत्यों के विशेषज्ञ होते थे। मंदिरों की देखभाल, प्रार्थनाओं की रचना एवं पाठ तथा यज्ञों के संपादन का भार इन्हीं के हाथ में होता था। धार्मिक अनुष्ठानों का संचालन ये ही लोग करते थे। पर, इनका सामाजिक स्तर ऊँचा नहीं था। धार्मिक मामलों में इन्हें किसी प्रकार का अधिकार अथवा प्राधान्य नहीं था। कभी-कभी गुलाम भी इन धार्मिक कृत्यों का संपादन करता था।

इस युग में कुछ ओझा-गुनी तथा जादू टोना जानने वाले स्त्री-पुरुष भी होते थे, जो प्रेतात्माओं के साथ सीधा संपर्क रखने का दावा करते थे। ये लोग प्रेतात्माओं को बुला कर बातें करने का दावा करते थे तथा भविष्यवाणी और अन्य जादू-टोने के नृत्य करते थे। पर, समाज में इनका सम्मान नहीं था। लोग इन्हें संदेह की दृष्टि से देखते थे।

पूर्वजों की आत्माओं का विशेष अवसरों पर पूजा तथा सम्मान के लिए आह्वान किया जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि शक्तिशाली पूर्वजों की आत्माएँ अपने वंशजों की रक्षा अधिक कारगर ढंग से करती हैं। युद्ध के समय बहुत-से राज्य अपने पूर्वजों के प्रताप से शत्रुओं के आक्रमण से भी बच जाया करते थे।

इस युग में प्रेतात्माओं से संबद्ध बहुत-सी कहानियाँ तथा किंवदंतियाँ प्रचलित थीं। कभी-कभी ये आत्माएँ प्रेतों का रूप धारण कर पुरानी शत्रुता का बदला लेती थीं अथवा प्रसन्न होकर लोगों का भला भी करती थीं। एक जनश्रुति के अनुसार 'सुआन' (Hsuan) नामक राजा एक प्रेत द्वारा मार डाला गया तथा एक रानी को एक कुख्यात प्रेत द्वारा पुत्र भी पैदा हुआ। तत्कालीन धारणा के अनुसार जब प्रेतात्माओं को यज्ञ-याग अथवा बलिदान द्वारा भोजन नहीं प्रदान किया जाता था, तब ये आत्माएँ भूख-प्यास से व्याकुल चारों ओर भटकती फिरती थीं तथा कई प्रकार के उपद्रव भी करती थीं। कभी-कभी ये आत्माएँ दूसरी आत्माओं को अर्पित भोज्य पदार्थ चुरा ले जातीं थीं अथवा लोगों को बीमार बना देती थी। इसलिए, नियमित रूप से यज्ञ-याग एवं बलिदान के द्वारा इन प्रेतात्माओं को संतुष्ट रखना आवश्यक था।

पूर्वजों की आत्माओं के साथ-साथ जल, पर्वत, नदी आदि प्राकृतिक वस्तुओं की आत्माएँ भी पूज्य थीं। ह्वांग-हो की आत्मा को चढ़ावा देने पर युद्ध में विजय की संभावना बढ़ जाती थी। इस नदी की आत्मा स्वप्नों के द्वारा मनुष्यों को अपनी इच्छित वस्तु की सूचना देती थी।

पितृ-पूजा तथा प्रेत-पूजा से भरे हुए इस काल के धर्म में ईश्वर की कल्पना भी सुस्पष्ट होती जा रही थी। ईश्वर की कल्पना का विकास स्वर्ग अथवा स्वर्ग में रहने वाले देवता के माध्यम से हुआ। कुछ देवताओं की कल्पना युग्म अथवा जोड़े के

रूप में की गई। जिस प्रकार ऋग्वैदिक धर्म में आकाश एवं पृथ्वी को एक साथ पुकारा जाता था—द्यावा-पृथ्वी, उसी प्रकार इस युग के धर्म में आकाश-पृथ्वी को एक जोड़े के रूप में पुकारा जाता था। आकाश अथवा स्वर्ग को टिएन् (Tien) कहा जाता था तथा पृथ्वी को टी (Ti)। सर्वप्रधान देवता 'शांग-टी' की कल्पना भी स्वर्ग से संबद्ध थी। शांग-टी स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ शासक था, जिसे हम परम सत्ता की भी संज्ञा दे सकते हैं। इसके समकक्ष पृथ्वी का देवता हाऊ-टू (Hou Tu) कहा जा सकता था।

इस युग में धीरे-धीरे 'टिएन्' तथा 'शांग-टी' मिल कर एक हो गए। इस मिले हुए रूप को हम परमेश्वर अथवा परमात्मा के समकक्ष कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, 'शांग-टी' की कल्पना ईश्वर की कल्पना का निकटतम रूप मानी जा सकती है। वस्तुतः शांग-युग में ही परमात्मा अथवा परमसत्ता के अर्थ में 'शांग-टी' शब्द का प्रयोग होता था। चाऊ-युग का प्रधान देवता 'टिएन्' अथवा स्वर्ग था, जहाँ महान् एवं शक्तिशाली आत्माओं का निवास था। पर, जब चाऊ लोगों ने शांग-संस्कृति के अधिकतर भाग को अपना लिया, तब इन लोगों ने इन दोनों प्रधान देवताओं की कल्पना को मिला दिया। फलस्वरूप, शांग-टी का प्रयोग परमात्मा एवं स्वर्ग के शासक के रूप में होने लगा।

यद्यपि चाऊ-युग का धर्म किसी ऊँचे दर्शन पर आधारित नहीं था, तथापि इस युग के धर्म में मानवतावाद तथा लोकोपकार की भावनाओं पर जोर दिया गया। इसका कारण था कि विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के उदय से नैतिकता के प्रति सामाजिक-अंतःकरण जाग्रत हो गया था। फलस्वरूप, धर्म के क्षेत्र में शुष्क कर्मकांड अथवा अनुष्ठान पर जोर कम होने लगा। कनफ्युशियस जैसे विचारकों ने यह घोषित किया कि देवताओं की कृपा प्राप्त करने के लिए यज्ञ-याग के सदाचार अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन लोगों के अनुसार अत्याचारी शासक बलिदानों एवं चढ़ावों के द्वारा देवताओं की कृपा के अधिकारी नहीं हो सकते। कनफ्युशियस जैसे विचारकों की कटु आलोचना के कारण ही, हम देख चुके हैं कि इस युग में नरवलि की कुप्रथा का धीरे धीरे अंत हो गया। अतः, निस्संदेह इस युग में मानव-जीवन की महत्ता एवं पवित्रता पर अधिक जोर दिया गया।

इस युग के धार्मिक दर्शन के क्षेत्र में पापों के कुपरिणाम पर जोर दिया गया। इस बात को घोषित किया गया कि मनुष्य को अपने पापों का दुष्परिणाम—विपत्ति, अपयश, दुर्भाग्य अथवा अकालमृत्यु के रूप में इस जीवन में ही भोगना पड़ता है। तत्कालीन धार्मिक विश्वास की यह विशेषता थी कि मृत्यु के बाद किसी भी पाप के लिए दंड पाने की संभावना नहीं थी; क्योंकि मृत्यु के बाद पापी तथा सदाचारी

पूर्वज के रूप में समान रूप से सम्मानित एवं पूजित होते थे। केवल वंश-वृक्ष के समाप्त हो जाने से उस वंश के पूर्वजों को, चाहे वे सदाचारी रहे हों अथवा दुराचारी, एक साथ ही बलिदान तथा चढ़ावे से वंचित होना पड़ता था। इसी कारण वंशवृद्धि के लिए निरंतर प्रार्थनाएँ की जाती थीं।

इस युग के धार्मिक जीवन के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि इस युग का धर्म आदिकालीन एवं अपरिष्कृत था। प्राचीन भारत की तरह यहाँ सूक्ष्म तथा उच्च धार्मिक दर्शन का विकास नहीं हुआ। इसी कारण इस धर्म में प्रेतात्माओं तथा पितरों की पूजा का प्राधान्य था। यहाँ तक कि ईश्वर की कल्पना भी सुस्पष्ट नहीं थी। वस्तुतः, चीनी जाति की प्रतिभा व्यावहारिक थी, फलतः सूक्ष्म धार्मिक चिंतन में उनकी अभिरुचि नहीं थी।

सामाजिक दशा

पारिवारिक जीवन

परिवार अथवा कुटुंब, चीन के सामाजिक जीवन की आधारशिला हैं। इसी के आधार पर समाज एवं राज्य का निर्माण हुआ। कुटुंब के प्रति निष्ठा एवं वफादारी को एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण नैतिक गुण माना जाता था। इस गुण में वंचित मनुष्य का समाज में आदर नहीं होता था। भारतीय संस्कृति में भी पारिवारिक जीवन की महत्ता चीन के ही समान रही है।

कुटुंब में पिता अथवा सबसे वरिष्ठ सदस्य को परिवार के अन्य लोगों के जीवन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था। परिवार के स्वामी के आदेश का पालन सभी को करना पड़ता था। प्रायः पिता ही परिवार का स्वामी होता था। पिता की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र उस पद का उत्तराधिकारी होता था, पर पिता को यह अधिकार था कि वह यदि चाहे, तो ज्येष्ठ पुत्र को इस अधिकार से वंचित कर दे। कभी-कभी पिता अपनी उपपत्नी के साथ पुत्र को भी अपना उत्तराधिकारी बना देता था। चूँकि उपपत्नी रखने की प्रथा थी, इसलिए उपपत्नियाँ अपना महत्त्व एवं अधिकार बढ़ाने के लिए तथा अपने पुत्रों को उत्तराधिकारी बनाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती थीं।

कुटुंब में पिता के बाद माता का स्थान अत्यंत सम्मानित था। परिवार के स्वामी की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी ही परिवार की शासिका बन जाती थी। वयोवृद्ध स्त्रियों तथा पुरुषों को चीन में बड़ा ही सम्मानित स्थान प्राप्त था।

पुत्र-पुत्रियों पर माता-पिता का अधिकार एवं शासन निरंकुश था, पर माता-पिता इस अधिकार का उपयोग कठोरता के साथ नहीं, वरन् अधिकतर प्रेम तथा नरमी के साथ करते थे। संतानें भी माता-पिता की आज्ञा का पालन मजबूरी के

कारण नहीं, वरन् प्रसन्नतापूर्वक करती थी। तत्कालीन इतिहास में कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जब संतानों ने खुशी-खुशी मौत को गले लगा लिया, पर अपने माता-पिता को दुखी नहीं बनाया। कभी-कभी पिता के कठोर व्यवहार से ऊब कर अथवा पिता के विरुद्ध किसी षड्यंत्र में फँसे होने के कारण, राज-परिवार अथवा अभिजात-वर्ग के सदस्य दूसरे राज्यों में शरण लेते थे, पर पिता के विरुद्ध खुला विद्रोह नहीं करते थे।

प्राचीन भारतीय संस्कृति की ही तरह चीनी संस्कृति में पितृभक्ति को सर्वोत्तम गुण माना जाता था। पितृभक्ति रामायण की कथा की आधारशिला है। इस प्रकार, चीनी संस्कृति में भी पितृभक्ति को प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक कर्त्तव्य माना गया था। परिवार, समाज की ईकाई था, पितृभक्ति, परिवार को एक सूत्र में आबद्ध करने वाली कड़ी थी। पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना परिवार, समाज तथा राज्य की नींव को कमजोर करना था। पितृपूजा की भावना से भी पितृभक्ति का घनिष्ठ संबंध था। एक पुत्र का अपने पिता के प्रति वही कर्त्तव्य था, जो चीनी संस्कृति में पितरों एवं पूर्वजों के प्रति था। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का यह पुनीत कर्त्तव्य था कि वह अपने पितरों को नियमित रूप से सम्मानित एवं पूजित करे तथा उन्हें खाद्य-सामग्री अर्पित करे, उसी प्रकार प्रत्येक पुत्र का यह परम कर्त्तव्य था कि वह अपने माता-पिता की हर तरह से सेवा करे तथा उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करे। पितृभक्ति के लिए चीनी भाषा में 'सियाव' (Hsiao) शब्द का प्रयोग होता था, जिसका प्रारंभिक अर्थ पितरों के प्रति श्रद्धा-भक्ति था। इसीलिए, जीवित माता-पिता की सेवा एवं भक्ति पर तत्कालीन चीनी संस्कृति में बहुत जोर दिया गया। एक चीनी लोकोक्ति के अनुसार जीवित माता-पिता की सेवा-सुश्रूषा करना पूर्वजों तथा पितरों के मंदिर में धूप जलाने से अधिक पुण्यप्रद है।

सभी वर्गों के लोगों में पितृभक्ति की जाती थी। राजा और अभिजात-वर्ग का भी यह पुनीत कर्त्तव्य माना जाता था कि वे माता-पिता की सेवा करें तथा उनकी आज्ञा का पालन करें। पितृभक्ति के आदेश का उल्लंघन करने वालों को न केवल लोक-निंदा का भाजन बनना पड़ता था, वरन् उन्हें राजकीय दंड का भी भागी बनना पड़ता था। चाऊवंश के शासन-काल के प्रारंभ से ही ऐसे राजकीय दस्तावेज प्राप्त हुए हैं, जिनमें युवकों को यह उपदेश दिया गया है कि वे माता-पिता के प्रति अपने कर्त्तव्यों का अवश्य पालन करें। जो व्यक्ति अपने माता-पिता अथवा बड़े भाइयों की आज्ञाओं का पालन नहीं करके उनके हृदय पर चोट पहुँचाते थे, उन्हें अपराधी माना जाता था। तथा उनको राजकीय आदेशों के अंतर्गत दंडनीय माना जाता था। इस प्रलेखों में इस बात पर जो दिया गया है कि परिवार के छोटे-छोटे लोगों को अपने से

बड़ों का सम्मान करना चाहिए, पर बड़े लोगों को भी अपने व्यवहार एवं आचरण से उस सम्मान के योग्य होना चाहिए।

तत्कालीन सामाजिक आदर्शों के अनुसार यह स्वाभाविक था कि निष्ठा एवं वफादारी की सबसे ऊँची अभिव्यक्ति परिवार के प्रति हो। जो व्यक्ति अपने परिवार के प्रति निष्ठावान् नहीं था, समाज में उस पर कोई विश्वास नहीं करता था। इसलिए तत्कालीन साहित्य में परिवार के प्रति वफादारी की अत्यंत प्रशंसा की गई। वस्तुतः, इस काल में एक भाई दूसरे भाई के लिए जान देने को तैयार रहता था। पर, राज्य-परिवारों के इतिहास में उसके अपवाद भी मिलते हैं—जहाँ गद्दी के लिए भाइयों में षड्यंत्र चलते रहते थे।

परिवार की प्रतिष्ठा के लिए अपमानों का बदला लेना भी पारिवारिक निष्ठा का एक रूप था। यदि किसी व्यक्ति के पिता अथवा बड़े भाई की किसी ने हत्या कर दी, तो उस व्यक्ति का यह कर्त्तव्य था कि अपराधी व्यक्ति का अथवा उसके परिवार के किसी व्यक्ति की हत्या करके वह बदला ले। इस प्रकार के प्रतिशोध को नैतिक विचारकों ने भी एक कर्त्तव्य सिद्ध किया। कभी-कभी ऐसे प्रतिशोध के कारण कितने परिवारों का ही विनाश हो जाता था। कभी-कभी अपराधियों को नष्ट किए जाने की निंदा भी की जाती थी।

युद्ध के समय प्रत्येक कुल अथवा वंश के लोग एक साथ लड़ा करते थे। कुछ परिवारों में राजकीय पद भी वंशानुगत थे तथा पिता के बाद पुत्र को दिए जाते थे। वास्तव में चीन के इतिहास में परिवार के हितों की रक्षा के लिए ऊँचे-से-ऊँचे ढंग का उत्सर्ग एवं बलिदान किया जाता था। परिवार के लिए प्राणोत्सर्ग का अवसर पाना परम सौभाग्य समझा जाता था। परिवार की भक्ति के बाद ही देशभक्ति अथवा राज्यभक्ति का स्थान था। इसका कारण यही था कि एक व्यक्ति का समस्त जीवन परिवार में विलीन हो जाता था।

कनफ्युशियस की चिंतनधारा ने परिवार के महत्त्व तथा परिवार के प्रति निष्ठा की भावना को और सुदृढ़ कर दिया। उसके अनुसार पिता की गलती को छिपाना पुत्र का कर्त्तव्य है तथा पुत्र की गलती को छिपाना पिता का कर्त्तव्य है। एक बार शी (She)-राज्य के शासन ने कनफ्युशियस से कहा कि मेरे राज्य में कुछ लोग इतने ईमानदार हैं कि यदि उनका पिता भी कोई चोरी करेगा, तो वे उसके खिलाफ गवाही देंगे। इस पर कनफ्युशियस ने जवाब दिया।

> "मेरे प्रदेश में ईमानदारी की परिभाषा भिन्न है। यदि पिता चोरी करे, तो उसे छिपाना पुत्र का कर्त्तव्य है तथा यदि पुत्र चोरी करे, तो पिता भी उसे छिपाता है।"

इस उक्ति से कनफ्युशियस ने परिवार के प्रति निष्ठा को एक नया रूप दिया। दूसरे शब्दों में परिवार की मर्यादा की रक्षा के लिए झूठ बोलना भी उचित है। इसीलिए कनफ्युशियस को पारिवारिक परंपरा का सबसे बड़ा हिमायती और पोषक माना जाता है। उसकी चिंतन-धारा का यह परिणाम हुआ कि पूरे चीनी इतिहास में परिवार एक महान संस्था के रूप में जीवित रहा तथा परिवार के प्रति वफादार होना सबसे बड़ा कर्त्तव्य माना गया। परिवार को सुखी एवं समृद्ध बनाने के लिए गलत तरीकों से धन कमाना भी उचित माना गया।

स्त्रियों का स्थान

तत्कालीन चीनी संस्कृति में स्त्रियों के स्थान का इतिहास बड़ा ही दिलचस्प है। अभिजात-वर्ग की स्त्रियों का जीवन साधारण स्त्रियों से भिन्न था। साधारण वर्ग की स्त्रियाँ अपने पुरुषों के साथ खेतों में काम करती थीं तथा इसके अलावा खाना बना कर अपने पुरुषों को पहुँचाती थीं और घर की देखभाल भी करती थीं। कपड़े सिना तथा रेशम की खेती करना भी स्त्रियों का ही काम था।

विवाह की प्रथा

विवाह प्रत्येक स्त्री के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य माना जाता था। पति का घर ही स्त्री का वास्तविक एवं स्वाभाविक निवासस्थान माना जाता था। विवाह-संबंध में कुल एवं गोत्र का ध्यान रखा जाता था। एक कुल तथा गोत्र के लोगों में वैवाहिक संबंध नहीं स्थापित होता था। लड़की और लड़का विभिन्न गोत्रों एवं कुल-नामों के हुआ करते थे। मातृपक्ष से संबद्ध, दूर के रिश्ते के भाई-बहनों में शादी हो सकती थी, पर एक ही पितृकुल के चचेरे भाई-बहनों की शादी नहीं होती थी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि एक ही पितृकुल के लड़के-लड़कियों के वैवाहिक संबंध से निकृष्ट कोटि की संतान उत्पन्न होती है।

संभवतः, इस युग में बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी। लड़के-लड़कियों की शादी क्रमशः २० वर्ष तथा १७ वर्ष की अवस्था के लगभग होती थी। पर, कभी-कभी बेमेल विवाह भी होते थे, जिनमें वृद्ध लोग जवान लड़कियों से तथा वृद्धा स्त्रियाँ युवकों से शादी कर लेती थीं। जो माता-पिता अपने लड़के-लड़कियों की शादी नहीं कर पाते थे, उन्हें किसी-किसी राज्य में दंडित भी किया जाता था। विवाह तय करना माता-पिता का कर्त्तव्य था। इसमें युवक-युवतियों का कोई हाथ नहीं था। विवाह के पश्चात् धार्मिक अनुष्ठानों में सम्मिलित होने के पश्चात् पत्नी पतिकुल का सदस्य हो जाती थी। विवाह के पश्चात् मृत्युपर्यंत विवाह-संबंध दृढ़ माना जाता था। पर, पति-पत्नी में किसी एक की मृत्यु के पश्चात् उभय पक्ष को पुनर्विवाह की

स्वतंत्रता प्राप्त थी। सती-प्रथा नहीं थी, लेकिन विधवाएँ प्रायः पुनर्विवाह करने से इनकार करती थीं। पर, कुछ समय बीतने के बाद बहुत-सी विधवाएँ पुनर्विवाह कर लेती थीं।

इस युग में तलाक की प्रथा के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। तलाक देने का अधिकार पति को ही था। साधारणतया बाँझपन, परपुरुष-गमन, बीमारी, चोरी की प्रवृत्ति आदि के आधार पर संबंध-विच्छेद किया जा सकता था, पर कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में तलाक देना वर्जित था। यदि पत्नी को रहने के लिए मायके का घर नहीं हो अथवा उसने पति के माता-पिता के श्राद्ध में भाग लिया हो या उसके आने के बाद पारिवारिक संपत्ति में वृद्धि हुई हो, तो इन तीनों अवस्थाओं में तलाक देने की अनुमति नहीं थी।

बहु-विवाह एवं उपपत्नीवाद

कभी-कभी पत्नी की छोटी बहनें, जो उसके साथ ससुराल जाती थीं, दूसरी पत्नियों के रूप में रख ली जाती थीं। यह प्रथा शांग-युग से ही चली आ रही थी। राज-परिवार तथा अभिजात-वर्ग में एक से अधिक पत्नियाँ रखने की प्रथा थी।

उपपत्नी रखने की प्रथा इस युग में बहुत जोरों से प्रचलित थी। उपपत्नियों की दो श्रेणियाँ थीं। एक तो अभिजात-वर्ग की उपपत्नियाँ, जो शादी के समय अपनी बड़ी बहनों के साथ उनके पतिकुल में प्रविष्ट हो जाती थीं तथा शनैः-शनैः द्वितीय अथवा तृतीय पत्नी का स्थान ग्रहण कर लेती थीं। राज-परिवार में विवाहित पत्नी के साथ अन्य राज-परिवारों की लड़कियाँ विवाह के समय आती थीं तथा राजा की द्वितीय अथवा तृतीय पत्नी बन जाती थीं।

इन उच्च कुल की उपपत्नियों के साथ साधारण वर्ग की स्त्रियाँ भी उपपत्नी के रूप में रखी जाती थीं। इन दोनों ही प्रकार की उपपत्नियों को 'ची' (Chieh) की संज्ञा दी गई थी, पर व्यावहारिक जीवन में अभिजात-वर्ग की उपपत्नियों की अवस्था साधारण वर्ग की उपपत्नियों से बहुत अच्छी थी। साधारण वर्ग की बहुत-सी स्त्रियों को धनी परिवारों में घरेलू कामकाज करने के लिए रखा जाता था। ये ही स्त्रियाँ रेशम के कीड़े पालने आदि का काम करती थीं। इन स्त्रियों पर परिवार के स्वामी का अधिकार होता था। ऐसी स्त्रियों के लिए 'ची' शब्द का प्रयोग किया गया। ऐसी उपपत्नियों को पुत्र की उत्पत्ति से उनके सम्मान तथा अधिकार में वृद्धि हो जाती थी। ऐसे पुत्र को पिता का उत्तराधिकारी भी बनाया जा सकता था। वस्तुतः, इसी तरह उपपत्नीवाद की प्रथा का जन्म हुआ। ऐसी उपपत्नियों को वास्तव में मनोरंजन का साधन ही माना जाता था तथा पत्नी का सम्मानित स्थान उन्हें प्राप्त नहीं था। पर, अपनी सुंदरता तथा अन्य गुणों से ऐसी उपपत्नियाँ भी स्वामी

को अभिभूत कर अपने पुत्रों को पिता का उत्तराधिकारी बनाने में समर्थ हो जाती थीं, तथापि इन उपपत्नियों को पत्नी के समान समझना आवश्यक नहीं माना जाता था। उदाहरण के लिए लू-राज्य के एक प्रधान मंत्री की प्रशंसा इन शब्दों में की गई—

> "वह इतना इमानदार तथा मितव्ययी था कि न तो उसकी उपपत्नियाँ रेशमी कपड़े पहनती थीं और न उनके घोड़े बाजरा खाते थे।"

साधारण वर्ग की उपपत्नियों को वस्तुतः कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। प्रमुख पत्नी यदि चाहती, तो पति से बिना पूछे उसकी हत्या भी करा सकती थी। प्रमुख पत्नी की मृत्यु के पश्चात् अन्य पत्नियाँ या उपपत्नी उसका काम सँभाल लेती थीं, पर पत्नी का सम्मानित पद किसी को प्राप्त नहीं होता था। उपपत्नियों की सारी सफलता उनके सौंदर्य एवं व्यवहारकुशलता पर ही निर्भर थी।

बहुपत्नीवाद तथा उपपत्नीवाद का दाम्पत्य जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। अंतःपुर में कलह, ईर्ष्या तथा षड्यंत्र का बाजार गर्म रहता था। अतः, इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों कुप्रथाओं से दाम्पत्य जीवन की सुखशांति में बाधा पड़ती थी।

राज-परिवारों तथा अभिजात-वर्ग के अंतःपुरों की देखभाल के लिए हिजड़ों को नियुक्त किया जाता था। कभी-कभी इन हिजड़ों पर शासकों तथा स्वामियों की विशेष कृपादृष्टि रहती थी। संभवतः, इन हिजड़ों का उपयोग चाउ-युग से ही प्रारभ हुआ।

यदि पत्नी के माता-पिता तथा भाई शक्तिशाली होते थे; तो ससुराल में उसका सम्मान अधिक होता था। ऐसी पत्नियों के साथ दुर्व्यवहार करने में पति डरते थे; क्योंकि उन्हें पत्नी के संबंधियों से प्रतिशोध का भय बना रहता था।

चाऊ-युग में पर्दा-प्रथा के भी प्रमाण मिलते हैं। स्त्रियाँ अधिकतर अंतःपुर में ही रहती थीं, यद्यपि इस प्रथा का चलन हर जगह नहीं था। 'सोशुआन' (Tso Chuan) नामक ग्रंथ के अनुसार जो स्त्रियाँ अपने कमरों में मरती थीं, उन्हीं की आत्मा की शाँति के लिए पट्टियाँ उनके मृत पति की पट्टियों के साथ कब्र में रखी जाती थीं। स्त्रियाँ स्वयं पर्दा-प्रथा के माने जाने पर जोर देती थीं। कभी-कभी वे अपने दूर के संबधियों से भी पर्दे के पीछे से बातें करना पसंद करती थीं। लू-राज्य के एक प्रधान मंत्री ने लिखा है कि एक बार जब वह अपने किसी दूर के रिश्ते की चाची से मिलने गया, तब उसकी चाची ने बातचीत के समय उसको कमरे से

बाहर खड़े रखा। सार्वजनिक समारोहों में स्त्रियाँ पर्दे के पीछे बैठायी जाती थीं, जिसमें वे सबकुछ देख सकें, पर उनको कोई नहीं देखे।

विवाहित स्त्रियों को सभी घरेलू काम-काज को देखना पड़ता था। उनका अधिकांश समय कपड़े बुनने, रेशम पालने तथा सीने-पिरोने में ही बीतता था। अभिजात-वर्ग की स्त्रियाँ तथा रानियाँ भी सहर्ष ये सारे काम सँभालती थीं। पर, अपनी पत्नी से बहुत अधिक काम लेना पति की प्रतिष्ठा में घातक होता था। पत्नी पूजा-पाठ तथा यज्ञ-याग में पति का साथ देती थीं। यदि कोई व्यक्ति पति के लिए उपहार ले जाता, तो पत्नी के लिए भी उपहार ले जाना उसके लिए अनिवार्य माना जाता था।

स्त्रियों में साधारणतया शिक्षा का अभाव था, पर उनमें गहरी सूझ-बूझ तथा बुद्धिमत्ता के प्रमाण मिलते हैं। अभिजात-वर्ग की स्त्रियों में शिक्षा के भी प्रमाण प्राप्त हुए हैं। स्त्रियाँ उचित अवसरों पर 'काव्य-ग्रंथ' से उपयुक्त कविताएँ सुनाती थीं तथा पुरुषों के साथ काव्य का रसास्वादन करती थीं। लू-राज्य की एक वृद्धा स्त्री ने विशेषज्ञ की तरह राजनीति पर अपना प्रवचन दिया है, जो तत्कालीन ग्रंथों में संग्रहीत है। बहुत-सी स्त्रियाँ खुलेआम राजनैतिक तथा सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग लेती थीं। प्रसिद्ध 'काव्य-ग्रंथ' में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। बहुत-सी स्त्रियाँ अपनी बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह से अपने पतियों अथवा पुत्रों को संकट की घड़ी में सही रास्ता दिखाया करती थीं। संकट की घड़ी में पुरुष भी ऐसी स्त्रियों की सलाह लिया करते थे, जिनकी बुद्धिमता पर उन्हें विश्वास होता था। कभी-कभी वयोवृद्ध स्त्रियाँ राजनैतिक तथा सार्वजनिक मामलों को अपने निर्णयों द्वारा प्रभावित करती थीं। अपने पतियों की अनुपस्थिति में शासकों की स्त्रियाँ कभी-कभी शासन की बागडोर भी सँभाला करती थीं। इसलिए यह मानना गलत होगा कि स्त्रियाँ पूर्णरूपेण सार्वजनिक जीवन से दूर रहती थीं।

तत्कालीन धारणाओं के अनुसार स्त्रियों का सार्वजनिक जीवन से दूर रहना ही श्रेयस्कर माना जाता था। लोकोक्तियों तथा कविताओं में उन्हें सार्वजनिक जीवन से दूर रहने की सलाह दी जाती थी। विवाहित जीवन तथा पारिवारिक मामलों में व्यस्त रहना उनके लिए आदर्श माना जाता था। विवाहिता स्त्रियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे विनम्र तथा आज्ञाकारिणी हों। प्रसिद्ध पुस्तक 'काव्य-संग्रह' के अनुसार निर्भीक और जबर्दस्त स्त्रियों से विवाह नहीं करना चाहिए। वास्तव में, तत्कालीन लोकमत स्त्रियों के प्रतिकूल था। नीतिशास्त्र के ज्ञाता, स्त्रियों के विरुद्ध बहुत-सी बातों का प्रचार करते थे। नीतिशास्त्रज्ञ, राजाओं तथा शासकों को चेतावनी देते थे कि वे स्त्रियों की सलाह न लिया करें; क्योंकि बहुत-से शासकों

का विनाश स्त्रियों की बात मानने के ही कारण हुआ है। किसी भी पुरुष का किसी स्त्री के इशारे पर चलना उस पुरुष की लोक-निंदा का कारण बन जाता था। लोगों का ऐसा विश्वास था कि स्त्रियों के पेट में कोई बात नहीं पचती है, इसलिए किसी भी गूढ़ अथवा रहस्यात्मक बात उनसे नहीं कहनी चाहिए। प्रतिष्ठित 'काव्य-संग्रह' में स्त्रियों के विरुद्ध प्रचलित धारणाओं की झाँकी निम्नलिखित उद्धरणों में मिलती है—

'बुद्धिमान पुरुष नगरों की दीवारों को सुदृढ़ करते हैं।
पर बुद्धिमती स्त्रियाँ उसका विनाश करना जानती हैं।
वास्तव में बुद्धिमती स्त्रियाँ भी, एक उल्लू की ही बुद्धि रखती हैं।

बहुत बोलने वाली स्त्रियाँ सत्यनाश का कारण होती हैं।
विनाश का कारण ईश्वरीय इच्छा नहीं, वरन् स्त्रियाँ ही होती हैं।

स्त्रियों तथा हिजड़ों से किसी सदुपदेश की अपेक्षा करना मूर्खता है।"

इस प्रकार, तत्कालीन धारणा के अनुसार स्त्रियों की बात मानना निरीमूर्खता मानी जाती थी।

सामाजिक वर्ग

मुख्य रूप से तत्कालीन समाज तीन वर्गों में बँटा हुआ था। ये तीन वर्ग थे—(१) अभिजात-वर्ग (२) सामान्य वर्ग और (३) दास तथा भृत्य-वर्ग। चाऊ-युग के उत्तरार्ध में सामंत-प्रथा के उदय एवं विकास से एक भूमिधारी अभिजात-वर्ग का उदय हो चुका था। यह वर्ग लगभग वंशानुगत हो चुका था। कभी-कभी सामान्य वर्ग के लोग भी अभिजात-वर्ग में प्रविष्ट हो जाते थे। साधारणतया बड़े-बड़े सामंती शासक तथा जमींदार इस वर्ग के ही सदस्य होते थे। पर, यह मानना गलत होगा कि अभिजात-वर्ग के सभी सदस्य बड़े जमींदार होते थे। बहुत-से अभिजात-वर्ग के सदस्य छोटे जमींदार होते थे। तथा बहुत-से सदस्य राजकीय कर्मचारी, सैनिक, विचारक एवं दार्शनिक भी होते थे। कनफ्युशियस जैसा विचारक अभिजात-वर्ग का ही सदस्य था।

अभिजात-वर्ग के सदस्यों को शी (Shih) के नाम से पुकारा जाता था। इस युग के अभिजात-वर्ग की तुलना मध्यकालीन यूरोप के शूर-वीरों (Knights) से की जा सकती है। इनका सारा आचार-विचार तथा रहन-सहन सामान्य वर्ग के लोगों

से पूर्णतया भिन्न था। ये लोग सैनिक पदाधिकारी तथा राजकीय प्रशासकों के पद को सुशोभित किया करते थे। इस वर्ग के लोग व्यापार तथा खेती का काम नहीं करते थे। वास्तव में 'शी' शब्द का मूल अर्थ था 'शूर-वीर' अथवा 'साहसी पुरुष'। अतः, यह वर्ग अपने-आपको सामान्य वर्ग से पूर्णतया भिन्न समझता था। इस वर्ग के रीति-रिवाज तथा आदर्श सामान्य से पूर्णतया भिन्न थे। इस वर्ग की अभिरुचि प्रशासन, युद्ध-कला, धनुर्विद्या, रथ की घुड़दौड़ आदि क्षेत्रों में थी। ये लोग तीरंदाजी की प्रतियोगिताओं और रथों की घुड़दौड़ से अपना मनोरंजन करते थे। इनके परिवारों में वयस्क होने, विवाह तथा पूर्वजों के श्राद्ध के संस्कार बड़ी धूम-धाम से मनाए जाते थे। इस वर्ग के युवक जब बीस वर्ष के होते थे तब इस अवसर पर उन्हें खास प्रकार की टोपी धारण करने की अनुमति दी जाती थी तथा इस अवसर पर समारोह होते थे। इस अवसर पर होने बाले यज्ञ-याग काफी विस्तृत होते थे। वास्तव में, यह संस्कार अभिजात-वर्ग के युवकों का इस वर्ग में औपचारिक प्रवेश का द्योतक था। युवकों को इस अवसर पर एक विशिष्ट टोपी दी जाती थी। उन्हें विशिष्ट नाम भी दिया जाता था। अभिजात-वर्ग की उपपत्नियों के पुत्रों को भी बीस वर्ष पूरा होने पर विशिष्ट प्रकार की टोपी दी जाती थी, पर यह समारोह कम धूमधाम से मनाया जाता था।

वस्तुतः, अभिजात-वर्ग चाऊ-युग का ऐसा सामाजिक वर्ग था, जिसे प्रचुर मात्रा में अवकाश प्राप्त था तथा यह वर्ग इस अवकाश का उपयोग पढ़ने-लिखने में भी करता था। अतः, इस वर्ग का सांस्कृतिक स्तर सामान्य वर्ग से काफी ऊँचा था। देहाती और गँवारू किसानों तथा मजदूरों की तुलना में यह वर्ग काफी सभ्य एवं सुसंस्कृत मालूम होता था। यद्यपि जाति अथवा वंश की दृष्टि से सामान्य जनता तथा अभिजात वर्ग एक ही था।

राजाओं और शासकों से अभिजात-वर्ग का घनिष्ठ संबंध था। शासकों के इर्द-गिर्द यह वर्ग रहता था। मध्यकालीन जर्मनी के सैनिक सरदारों (Comitatus) की तरह यह वर्ग सदैव राजाओं के साथ रहता था। अतः, यह स्वाभाविक था कि प्रशासकीय पदों पर इस वर्ग के सदस्यों की नियुक्ति हो तथा समाज में इन्हें विशेषाधिकार एवं सम्मान की प्राप्ति हो। परिणामतः, धीरे-धीरे यह वर्ग वंशानुगत हो गया। इस वर्ग में शिष्टाचार, साहित्य-प्रेम, शासन की प्रतिभा, अच्छे भोजन एवं वस्त्र का शौक तथा रहन-सहन के परिष्कृत ढंग का विकास होता गया। कभी-कभी अभिजात-वर्ग के परिवारों को एक सदस्य द्वारा किए गए अपराध के दंड में परिणत भी कर दिया जाता था। अभिजात-वर्ग के सदस्यों को इस प्रकार के दंड का डर सदैव बना रहता था।

दुर्भाग्यवश, इस युग की सामान्य जनता के विषय में हमारा ज्ञान सीमित है। मुख्यतः अभिजात-वर्ग के सदस्यों द्वारा लिखित तत्कालीन साहित्य में सामान्य वर्ग की चर्चा आनुषंगिक है। केवल 'प्रतिष्ठित काव्य-संग्रह' का कुछ भाग ही सामान्य वर्ग के सदस्यों द्वारा लिखा गया है। सामान्य वर्ग में वे छोटे-छोटे किसान थे, जो जमींदारों से जमीन लेकर खेती करते थे या जमींदारों के खेतों में मजदूरी पर काम करते थे। इनकी हालत गुलामों से थोड़ी ही अच्छी थी। इन पर जुल्म ढाने में अभिजात-वर्ग के लोग डरते थे; क्योंकि सामंतों के अत्याचार से तंग आकर ये लोग कभी-कभी दूसरे प्रदेशों में जाकर बस जाया करते थे। सामंती शासक इस डर से इन लोगों को नाखुश नहीं करना चाहते थे; क्योंकि इनके भाग कर अन्यत्र चले जाने से जमीन के बंजर रह जाने की संभावना उत्पन्न हो जाती थी। अतः, अभिजात-वर्ग तथा सामान्य वर्ग दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर थे।

कारीगरों तथा व्यापारियों को भी सामान्य वर्ग में ही रखा जा सकता है। कृषि-व्यवस्था से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध नहीं होने के कारण यह वर्ग अभिजात-वर्ग के सीधे प्रभाव-क्षेत्र में नहीं आता था, पर यह वर्ग भी अपनी जीविका के लिए शासक वर्ग तथा अभिजात-वर्ग की ही कृपा पर निर्भर था। अभिजात-वर्ग की सुख-सुविधा की वस्तुओं के निर्माण से कारीगर-वर्ग का भरण-पोषण होता था। चूँकि अभिजात-वर्ग काफी शौकीन वर्ग था, इसलिए कारीगरों को अपनी जीविका के लिए पर्याप्त मात्रा में रोजगार मिल जाता था। चाऊ-युग के नगरों में कारीगरों तथा व्यापारियों की संख्या काफी बड़ी थी। एक सूत्र के अनुसार ६५० ई०-पू० में ची नामक राज्य की राजधानी में काफी बड़ी संख्या में कारीगर बसे हुए थे। यह वर्ग भी वंशानुगत हो चला था। इस प्रकार व्यापारी-वर्ग भी काफी संख्या में पाया जाता था। इस वर्ग को व्यापार के क्षेत्र में काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी। व्यापार के कारण इस वर्ग के पास प्रचुर संपत्ति पायी जाती थी।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि चीनी समाज की रूपरेखा तथा महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ चाऊ-युग के अंत तक सुस्पष्ट रूप धारण कर चुकी थीं।

चाऊ-युग का आर्थिक जीवन

चाऊ-युग का आर्थिक जीवन मुख्यतः कृषि पर आधारित था। इसलिए, भूमि का स्वामित्व संपत्ति का मानदंड था। कृषि-कार्य ही प्रमुख पेशा था। सामंती व्यवस्था के आधार पर किस प्रकार भूमि का बँटवारा हुआ था, यह हम देख चुके हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से सारी भूमि राजा की ही होती थी। राजा अपने सामंतों को उनकी सेवा के बदले में जागीरें देता था। इन जागीरों पर सामंती शासक छोटे किसानों तथा नौकरों से काम कराते थे। अभिजात-वर्ग के लोगों के पास अपनी

भूमि होती थी। इस वर्ग के लोग इस भूमि पर अपने से खेती नहीं करते थे, वरन् छोटे किसानों तथा गुलामों से खेती कराते थे।

इस युग में उपजाए जानेवाले अनाज में बाजरा, चावल, गेहूँ तथा जौ मुख्य थे। खेतों में बैलों द्वारा हल चलाए जाते थं। बाजरा और चावल दोनों से ही शराब भी बनायी जाती थी। सब्जियों और फलों की भी खेती होती थी; क्योंकि इसके पत्तों से रेशम के कीड़े पाले जाते थे। इन कीड़ों से रेशम तैयार करना भी इस युग का प्रमुख उद्योग था। अभिजात-वर्ग के लोग रेशमी कपड़ों के निर्माण में भी कई प्रकार के पौधों के रेशों का प्रयोग किया करते थे।

फसल कटने के बाद खेतों का स्वामी पैदावार का अधिकांश अपने पास रख लेता था तथा खेतों में काम करने वाले मजदूरों को उतना ही अनाज देता था, जो मुश्किल से उनके जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त होता था। बहुत-से उदारचेता जमींदार अपने मजदूरों एवं आश्रितों को संतुष्ट रखने के लिए उन्हें पैदावार का बड़ा हिस्सा भी दिया करते थे; क्योंकि खेतों की सारी पैदावार इन मजदूरों के श्रम पर ही निर्भर करती थी। युद्ध के समय ये लोग ही सैनिकों का काम करते थे। अतः युद्ध काल में उनका सहयोग पाने के लिए भी राजा एवं शासक वर्ग साधारण किसानों पर लगा हुआ कर माफ कर देते थे। सड़कों, महलों तथा नगरों के निर्माण में भी साधारण वर्ग के किसानों-मजदूरों से ही काम लिया जाता था। इस काम के बदले उन्हें थोड़ी मजदूरी दी जाती थी या बेगार भी ली जाती थी। अकाल अथवा आपत्तियों के समय साधारण वर्ग के लोगों को भुखमरी का भी सामना करना पड़ता था। शासकों की ओर से ऐसे अवसरों पर राहत और सहायता के कार्यक्रम चलाए जाते थे। 'प्रतिष्ठित काव्य-संग्रह' में आपत्तिकाल में निर्धन लोगों की भुखमरी के प्रमाण पाए जाते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि इस युग के अभिजात-वर्ग तथा कृषक-वर्ग के बीच गहरी खाई थी। एक वर्ग खेतों का स्वामी था तो दूसरा वर्ग मजदूर था। एक वर्ग खेतों में मेहनत करता था, दूसरा वर्ग उसका निरीक्षण करता था। एक वर्ग आराम से गुलछर्रे उड़ाता था, दूसरा वर्ग मेहनत के वावजूद सदैव भुखमरी के दरवाजे पर खड़ा रहता था।

शहरों के उदय से चाऊ युग के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। राजा की राजधानी तथा सामंती शासकों के किलों के इर्द-गिर्द कस्बे और नगर बस गए। इन शहरों के निवासियों तथा ग्रामीण जनता के जीवन में गहरा अंतर था। शहरों में अभिजात-वर्ग के होने के कारण व्यापार एवं उद्योग-धंधों की प्रगति हुई तथा बाजारों का विकास हुआ। कारीगरों तथा व्यापारियों की संख्या में वृद्धि हुई।

शहरों की आर्थिक समृद्धि की तुलना में ग्रामीणों का जीवन निर्धन था। ग्रामों का आर्थिक जीवन केवल कृषि पर आधारित था, पर नगरों का आर्थिक जीवन बहुमुखी था।

चाऊ युग के उत्तरार्द्ध में सिंचाई की अच्छी व्यवस्था की गई तथा कृषि के औजारों और तरीकों में सुधार हुआ। यद्यपि छोटे किसानों को भूमि का स्वामित्व प्राप्त नहीं था, पर एक ही भूमि पर निरंतर कृषि-कार्य करने से उन्हें जमीन से लगाव हो जाता था। जमींदारों अथवा शासकों के अत्याचार से ऊब कर ही ये लोग दूसरे राज्यों में जा कर बस जाते थे।

कई प्रकार के घरेलू जानवर इस युग में पाले जाते थे। बैल, भेड़ें, सूअर तथा कुत्ते प्रमुख घरेलू जानवर थे। खास अवसरों पर इन सभी जानवरों का मांस खाया जाता था। अभिजात-वर्ग के लोग शिकार के द्वारा मनोरंजन किया करते थे। तत्कालीन साहित्य में मछली खाने का भी प्रमाण मिलते हैं।

नगरों में उद्योग-धंधों तथा व्यापार की उन्नति हुई। चीनी संस्कृति के प्रसार के साथ-साथ व्यापार-वाणिज्य का भी विस्तार होता गया। प्रत्येक सामंती राज्य की सीमा पर बाहर से आने वाले माल पर चुंगी ली जाती थी। नमक, मछली, लोम (Fur), सूती कपड़े तथा रेशमी कपड़ों का व्यापार बड़े पैमाने पर होता था। तत्कालीन काँसे पर खुदे हुए लेखों तथा ग्रंथों से सड़कों के होने का प्रमाण मिलते हैं। सड़कों के किनारे कहीं-कहीं पेड़ लगाए गए थे तथा सड़कों की सदैव मरम्मत भी की जाती थी। सरायें भी सड़कों के क़िनारे बनायी गयी थीं। इन सड़कों के कारण भी इस युग में व्यापार-वाणिज्य का प्रसार हुआ।

चाऊ-युग के प्रारंभ में व्यापार विनिमय के द्वारा ही होता था। व्यापारी देश के एक भाग में पैदा होने वाले सामान को दूसरे भाग में ले जाते थे तथा वहाँ पैदा होने वाली चीजों को लाद कर ले आते थे। इस प्रकार व्यापार चलता था। पर, धीरे-धीरे कौड़ियों का प्रयोग सिक्कों के स्थान पर होने लगा। हम देख चुके हैं कि शांग-युग में भी कौड़ियों का प्रयोग मुद्रा तथा उपहार के लिए किया जाता था।

ताँबे का प्रयोग जानने के बाद इसका उपयोग विनिमय के लिए किया जाने लगा। पाँचवीं शताब्दी ई०-पू० से चीन में धातुओं से सिक्के बनाए जाने लगे, इसका प्रमाण तत्कालीन ग्रंथ 'राजनैतिक प्रवचन' (Discourses of the States) से प्राप्त होता है। लोहे का प्रयोग भी चाऊ-युग से ही होने लगा। व्यापार-वाणिज्य के उत्थान से व्यापारी वर्ग के पास कभी-कभी अपार संपत्ति एकत्र हो जाती थी।

इस बात से प्रमाण मिलते हैं कि इस युग में विद्वत्-वर्ग का भी उदय हुआ। अधिकतर अभिजात-वर्ग के लोग ही पुस्तकों की रचना करते तथा शिक्षकों का काम

करते थे। ये शिक्षक तथा विद्वान सामन्ती शासकों के आश्रित होते थे। व्यक्तिगत ढंग से शिक्षक का कार्य कनफ्युशियस ने ही प्रारंभ किया, अन्यथा शिक्षक, विद्वान तथा पुरोहित एक प्रकार के राजकीय कर्मचारी ही हुआ करते थे।

कारीगर कई प्रकार के हथियार, घरेलू बरतन तथा सामान, रथ और महीन कपड़े बनाकर बेचते थे। ये लोग शहरों में ही रहते थे; क्योंकि वहीं इन सामानों की खपत होती थी। तत्कालीन ग्रंथों में वैद्यों की भी चर्चा आती है। वैज्ञानिक ढंग पर वैद्यक अथवा औषधि-विज्ञान का विकास नहीं हुआ था। यह झाड़-फूँक तथा मंत्र-तंत्र का मिला-जुला रूप था। इस युग में पेशेवर डाकुओं के भी प्रमाण पाए जाते हैं।

तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुसार आर्थिक जीवन का गठन हो गया था, पर यह व्यवस्था बहुत अंशों में आदिकालीन और अविकसित थी।

चाऊयुगीन संस्कृति के अन्य पहलू

चाऊ-युग के इतिहास के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि चाऊ-शासन की नींव 'ईश्वरीय आदेश के सिद्धान्त' (Decree of Heaven) पर टिकी हुई थी। इस सिद्धांत का अर्थ है कि किसी राजा अथवा राजवंश को प्रजा पर शासन करने का अधिकार ईश्वरीय आदेश एवं इच्छा से प्राप्त होता है तथा वह राजा अथवा राजवंश तभी तक शासन कर सकता है, जब तक उसे ईश्वरीय आदेश प्राप्त रहता है। किसी राजवंश का विनाश इस बात का द्योतक है कि उस राजवंश पर ईश्वरीय कृपा समाप्त हो गई है। ईश्वर किसी भी राजा अथवा राजवंश को शासन का अधिकार इसलिए देता है कि वह प्रजा की भलाई करे। जब राजा अथवा राजवंश भलाई करना बंद कर दें अथवा प्रजा पर अत्याचार करने लगें तब प्रजा का यह दायित्व है कि ऐसे राजा या राजवंश के विरुद्ध विद्रोह करके उसका विनाश कर दे, जिससे ईश्वरीय इच्छा का पालन हो, अर्थात् ईश्वरीय आदेश की अभिव्यक्ति प्रजा की इच्छा द्वारा ही होती है। अतः किसी भी राजवंश के विनाश पर प्रजा की यही धारणा थी कि ईश्वर ने उसे वंश के विनाश का आदेश दे दिया है। इस सिद्धांत के द्वारा राजा को प्रजा के हित में रत रखने का प्रयत्न किया गया था तथा उसे इस बात की चेतावनी दी गई थी कि ज्योंही वह प्रजारंजन से विमुख होगा, प्रजा उसका विनाश कर देगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस सिद्धांत का जन्म चाऊ-युग के प्रारंभ में हुआ। संभवतः इस सिद्धांत के द्वारा प्रजा को शांग-राजवंश के विनाश तथा चाऊ-शासन की स्थापना के प्रति अनुकूल बनाने की कोशिश की गई। इस सिद्धांत के जन्मदाता चाऊ-राजवंश के ही सदस्य थे, पर बाद में चीन के विद्वत्-वर्ग ने इसे लोकप्रिय बनाने में

बहुत योगदान दिया। इस सिद्धांत के द्वारा इस बात का प्रचार करने की कोशिश की गई कि शांग-वंश के शासकों ने अपनी अयोग्यता, क्रूरता तथा दुराचार से ईश्वरीय आदर्श खो दिया था, अतः चाऊवंश को प्रजा की सेवा के लिए ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ। शांग-वंश के अंतिम राजा को एक अत्यंत व्यभिचारी तथा लंपट राजा के रूप में चित्रित किया गया। अतः, ईश्वरीय आदेश के सिद्धांत का प्रसार चाऊ-राजवंश को सुदृढ़ तथा लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से किया गया। चूँकि चाऊ वंश का शासक शांग-राज्य की तुलना में एक बड़े भू-भाग पर स्थापित हुआ था तथा उसका आकार निरंतर बढ़ता जा रहा था, अतः ऐसे सिद्धांत का इस राज्य की जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए पूरा उपयोग किया गया। इस सिद्धांत के द्वारा चाऊ-शासकों को जनता के मन में अपने शासन के प्रति सहानुभूति स्थापित करने में बहुत हद तक सफलता प्राप्त हुई। चाऊ लोगों ने सैनिक सफलता तो प्राप्त कर ली थी, पर जनता उन्हें बर्बर तथा असभ्य ही मानती थी। चाऊ लोग स्वयं भी अपने-आपको सांस्कृतिक दृष्टि से शांग लोगों से हीन तथा निकृष्ट मानते थे और उन लोगों ने खुलेआम शांग-संस्कृति को अपनाना शुरू किया। अतः, शांग-राजाओं की प्रजा के मन में इन बर्बर आक्रमणकारियों के प्रति विद्वेष की भावना थी। इस विद्वेष की भावना को समाप्त कर मैत्रीपूर्ण भावना को जन्म देने के ईश्वरीय आदेश के सिद्धांत का सहारा लिया गया। केवल 'प्रतिष्ठत प्रलेख' में ऐसी कई पुस्तकें हैं, जिनमें 'ईश्वरीय आदेश के सिद्धांत' का प्रतिपादन किया गया है तथा शांग-वंश के अंतिम राजा की कड़े शब्दों में भर्त्सना की गई है। ऐसा लगता है कि इन पुस्तकों में परोक्ष रूप से चाऊ-राजवंश की वैधता का समर्थन किया गया है।

कालांतर में इस सिद्धांत का प्रयोग राजवंशों के विनाश के लिए किया गया। प्रजा के किसी भी कष्ट अथवा राज्य पर किसी भी विपत्ति का दायित्व राजा पर ही थोपा जाने लगा। प्राकृतिक विपत्तियों के लिए भी राजा को ही दोषी ठहराया जाने लगा। राजाओं के विरुद्ध विद्रोह करने में भी इस सिद्धांत का प्रयोग किया जाने लगा। चीनी साहित्य में कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिसमें कई चीनी राजाओं ने किसी विपत्ति के समय जनता की तबाही का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। इस सिद्धांत ने चीनी शासकों में ईमानदारी से जनता की सेवा करने की प्रेरणा प्रदान की। प्रजारंजन राजा का कर्त्तव्य समझा जाने लगा। यह माना जाने जगा कि मात्र सैनिक शक्ति के सहारे ही शासन को सुदृढ़ नहीं किया जा सकता, जब तक जनता का समर्थन प्राप्त नहीं हो। शांग-वंश के समर्थकों की विद्रोही भावनाओं को शांत करने के लिए भी इस सिद्धांत का प्रचार किया गया।

इस सिद्धांत के प्रचार से चाऊवंश लाभान्वित हुआ। जनता की निगाह में वे बर्बर आक्रमणकारी नहीं, वरन् चीनी जनता के वैध शासक बन गए। ईश्वरीय आदेश के अनुसार वे लोग जनता की सुख-समृद्धि बढ़ाने तथा चीनी संस्कृति की रक्षा के लिए भेजे गए थे। शांग-वंश के अत्याचारपूर्ण शासन का विनाश कर न्याय, शांति तथा खुशहाली की स्थापना के लिए उनका शासन ईश्वरीय आदेश से स्थापित हुआ था।

तत्कालीन इतिहास की रचना में बार-बार इस सिद्धांत की पुष्टि की गई। इस सिद्धांत की प्राचीनता पर भी जोर दिया गया। इसलिए, यह सिद्ध करना कठिन है कि चाऊवंश के समय में इस सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ। पर ऐसा प्रतीत होता है कि चाऊ-युग से ही इस सिद्धांत को लोकप्रिय बनाया गया। इस सिद्धांत का स्वाभाविक परिणाम अयोग्य, लालची एवं क्रूर राजाओं के विरुद्ध विद्रोह की भावना थी। जो राजा प्रजा पर अत्याचार करे या प्रजा को खुशहाल नहीं रख सके, उसको गद्दी से उतार देना प्रजा का कर्त्तव्य था; क्योंकि प्रजा पर अत्याचार करके राजा ईश्वरीय आदेश खो देता है।

इस सिद्धांत के आधार पर चाऊ-शासकों ने चीनी साम्राज्य का विस्तार एवं चीनी जाति का राजनैतिक एकीकरण किया। चीनी साम्राज्य के बाहर बसने वाली जातियों को उन लोगों ने बर्बर एवं असभ्य करार दिया तथा चीन की भूमि को विश्व का केंद्र अथवा मध्यवर्त्ती राज्य घोषित किया।

चाऊ-युग की यह विशेषता है कि इस काल में चीनी सभ्यता एवं संस्कृति के सभी मूलभूत सिद्धांतों एवं मान्यताओं का प्रतिपादन हो गया था। ये मूलभूत मान्यताएँ निम्नलिखित थीं—

(१) चीन की, राज्य एवं शासन-प्रणाली ईश्वर-प्रदत वस्तुएँ हैं, जो सभी सभ्य जातियों के संरक्षण के लिए निर्मित हैं तथा चीनी सभ्यता की रक्षा इनका प्रमुख उद्देश्य है।

(२) चीनी शासन का प्रमुख लक्ष्य प्रजारंजन है। यदि शासक प्रजा की भलाई करने में असमर्थ है, तो प्रजा का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह विद्रोह करे तथा अत्याचारी शासक को गद्दी से उतार कर ऐसे शासक को सिंहासनारूढ़ करे, जो पुनः प्रजारंजन में समर्थ हो।

(३) शासन-तंत्र को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए राजा का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपनी सहायता के लिए राज्य के लिए राज्य के योग्यतम एवं सच्चरित्र व्यक्तियों को ऊँचे पदों पर नियुक्त करे। इन व्यक्तियों को चीनी इतिहास एवं संस्कृति का गहन अध्ययन होना चाहिए, जिसमें ऐसे व्यक्ति ऐतिहासिक ज्ञान के द्वारा शासन को गलतियों से बचा सकें।

विद्वत्-वर्ग एवं शासनतंत्र

इन बुनियादी मान्यताओं से आगे चल कर चीन का इतिहास प्रभावित हुआ। वस्तुतः, चाऊ-युग से ही इन सिद्धांतों एवं मान्यताओं ने चीनी सभ्यता को प्रभावित करना प्रारंभ किया। चाऊ-युग से ही शासनतंत्र को संचालित करने के लिए ऊँचे राजकीय पदों पर चीनी इतिहास, साहित्य तथा संस्कृति के विद्वानों को नियुक्त किया जाने लगा। विद्वत्-वर्ग द्वारा शासनतंत्र के संचालन की प्रथा चीनी इतिहास में बीसवीं शताब्दी में मंचू-र जवंश के पतन तक कायम रही।

प्रशासकीय पदों पर नियुक्त किए जाने वाले विद्वानों से चीनी प्राचीन उच्च साहित्य (Classics) के ज्ञान की अपेक्षा की जाती थी। उन्हें चीनी परंपरा एवं इतिहास में भी पारंगत होना आवश्यक था। प्राचीन राजाओं के आदेशों का भी उन्हें अध्ययन करना आवश्यक था। प्राचीन शिष्टाचार एवं रीति-रिवाजों का उन्हें पूर्ण ज्ञान रखना अपेक्षित था। नियुक्ति के पहले इन सभी विषयों की परीक्षाएँ ली जाती थीं, जो लंबी और कठिन होती थीं। इन प्रतियोगिता-परीक्षाओं में सफल उम्मीदवारों को ही प्रशासकीय पदों पर नियुक्त किया जाता था।

यद्यपि इस प्रथा के विरोधी, इन विद्वान प्रशासकों को अव्यावहारिक किताबी कीड़े मानते थे, तथापि ये विद्वान प्रशासक चीन की राजनैतिक एकता सदियों तक बनाए रखने में समर्थ रहे। अपनी ईमानदारी एवं विद्वत्ता से चीनी शासकों पर इन लोगों की धाक जमी रही। शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में इनका एकाधिकार जमा रहा। ये लोग अत्याचारी राजाओं को सदैव चेतावनी देते रहे कि अत्याचारी एवं क्रूर राजाओं का विनाश निश्चित है। उनके सामने चीनी इतिहास के अनेक उदाहरण मौजूद थे। अपने प्रशासकीय सिद्धातों के द्वारा वे प्रजा की खुशहाली बढ़ाने में भी समर्थ रहे। अतः, इन विद्वान प्रशासकों के आचार एवं व्यवहार में कोई अंतर नहीं था। वे जो कुछ कहते थे, उसे कर दिखाते थे।

अपने शासकों के प्रति ये विद्वान प्रशासक पूर्णतया वफादार एवं निष्ठावान होते थे। इसमें से कुछ अपने कर्त्तव्यों के पालन में असमर्थ होने पर आत्मघात तक कर लेते थे। पर साथ ही, अपने कर्त्तव्य-पालन में वे अक्सर चाटुकारिता या खुशामद से दूर रहते थे। राजा को सच्ची सलाह देने में वे बहुधा हिचकिचाते नहीं थे। इनमें से कुछ लोग राजा की हाँ-में-हाँ भी मिलाया करते थे। राजा को प्रजारंजन में रत रखना वे अपना कर्त्तव्य मानते थे।

चूँकि ये विद्वान प्रशासक सैनिक नहीं थे, अतः ये युद्ध अथवा युद्ध के द्वारा राज्य-विस्तार से उदासीन रहते थे। अतः, ये लोग युद्ध का अधिकतर विरोध ही करते थे; क्योंकि उनका विश्वास था कि युद्ध की विभीषिका प्रजा की खुशहाली में बाधक होती

है। इन लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि संतुष्ट एवं खुशहाल प्रजा ही सुदृढ़ शासन की नींव होती है। अतः, ये लोग अनुचित करों के द्वारा प्रजा का शोषण करने से राजाओं को मना करते थे। चूँकि युद्धों के समय करों का बोझ बढ़ जाता है, इसलिए ये लोग युद्धों का विरोध करते थे। अतः, साधारणतया ये विद्वान प्रशासक दयालुता एवं लोकोपकार की भावना से ओतप्रोत थे। कनफ्युशियस जैसा विचारक इस परंपरा का सर्वोच्च प्रतिनिधि था, लेकिन परंपरा का संस्थापक या जनक नहीं था। कुछ विद्वानों के अनुसार शांग-युग से प्रशासकीय पदों पर विद्वानों की नियुक्ति की जाने लगी थी। चाऊ-युग में इस प्रथा को अधिक विकसित तथा व्यापक रूप दिया गया।

कानून का विकास

प्राचीन भारत की तरह चीनी व्यवहारशास्त्र अथवा कानून का भी विकास सामाजिक प्रथाओं तथा रीति-रिवाजों के आधार पर हुआ। अतः, चाऊ-युग में भी परंपरा एवं रिवाज को ही कानून की आधारशिला माना गया। विशेषतः चीनी जाति परंपरा एवं प्राचीनता को अत्यंत गौरव एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। चाऊ-युग के प्रारंभ में ही राजाओं को बार-बार इस बात की चेतावनी दी गई कि वे प्राचीन काल के बुद्धिमान राजाओं का अनुसरण करें तथा प्राचीन ऋषियों की कृतियों का अध्ययन करें। चाऊ-युग का साहित्य ऐसे उपदेशों से भरा पड़ा है। इसके साथ ही इस बात का भी उपदेश दिया गया कि परंपरा एवं रीति-रिवाजों का आदर करें। जिन राजाओं ने इन उपदेशों को नहीं माना, उन्हें शक्ति से भी हाथ धोना पड़ा। अतः, चाऊ-युग में परंपरा एवं रीति-रिवाजों को कानून के समकक्ष मान्यता प्राप्त थी।

चाऊ-युग में लिखित कानूनों का अभाव था, पर 'प्रतिष्ठित प्रलेख' के एक स्थल से ज्ञात होता है कि एक सर्वमान्य सैनिक कानून विकसित हो चुका था। इस ग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि नागरिकों के लिए फौजदारी कानून भी बन चुका था। संभवतः, ये दोनों ही कानून लिखित नहीं, वरन् सर्वमान्य थे। राजाओं एवं प्रशासकों को प्राचीन राजाओं की कृतियों एवं परंपराओं के आधार पर दंड देने की स्वतंत्रता थी।

चाऊ-युग में बहुत-से अपराधों का निर्णय एवं दंड परिवार अथवा कुल के माध्यम से ही संपन्न हो जाता था। कुल के आचार को प्रतिष्ठा एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था। प्राचीन भारत में भी श्रेणी (Guild) तथा कुल अपने सदस्यों के आचरण पर निगरानी रखते थे।

न्यायतंत्र की सफलता न्यायाधीशों की व्यक्तिगत ईमानदारी पर बहुत हद तक निर्भर थी। कभी-कभी कुछ न्यायाधीश घूस अथवा सुंदर रमणियों के द्वारा भी प्रभावित किए जाते थे। चाऊ-युग के शासक अपने अधीनस्थ शासकों को प्रजा को उचित न्याय देने के लिए चेतावनी दिया करते थे। न्याय क्षेत्र में दयालुता के साथ न्याय करने का आदेश दिया जाता था।

तत्कालीन साहित्य से उस समय दिए जाने वाले दंडों का हवाला मिलता है। हाथ, पैर अथवा नाक काट देना अथवा खौलते हुए पानी में डुबो कर प्राण लेना, बहुत बड़े लकड़ी के तख्ते को गले से लटका दिया जाना तथा जुर्माना आदि प्रमुख दंड थे। धनी-मानी तथा शक्तिशाली व्यक्तियों को दंडित करना आसान नहीं था।

तत्कालीन साहित्य से दीवानी कानून के विकसित होने के भी प्रमाण मिलते हैं। इन कानूनों के द्वारा भूमि तथा संपत्ति-संबंधी झगड़ों का फैसला होता था।

राजा और शासक आसानी से अपने अधीनस्थ दास-दासियों की हत्या करा देते थे, पर उन्हें इसके लिए कोई भी दंडित नहीं कर सकता था। कभी-कभी राजा लोग विरोध करने वाले अधीनस्थ शासकों और मंत्रियों की भी हत्या करवा देते थे। अतः, कानून के विषय में जो हमारी आधुनिक धारणा है, उसके अनुसार चाऊ-युग में कानून सामान्य जनता के ही लिए था, शासक-वर्ग के लिए नहीं था। कानून को मानना या न मानना शासकों के व्यक्तिगत विवेक तथा अंतःकरण पर ही निर्भर था।

मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद

तत्कालीन साहित्य से विशेषतः उच्च वर्ग के लोगों के आमोद-प्रमोद के साधनों का पता चलता है। कभी-कभी साधारण जनता के जीवन की झाँकी भी मिल जाती है। खास कर फसल कटने के समय साधारण वर्ग भी आनंद-विभोर होकर समारोह मनाता था, जिसमें भोज एवं शराब की प्रधानता रहती थी। इन समारोहों में नृत्य और गान का भी समावेश होता था।

अभिजात-वर्ग साहित्य एवं काव्य से मनोरंजन करता था। अनेक धार्मिक कृत्यों में भी इस वर्ग को सक्रिय भाग लेना पड़ता था। धार्मिक समारोह अधिकतर रंगीन एवं मनोरंजक भी होते थे। अपने घरों को सजाने में भी वे आनंद का अनुभव करते थे। चारण तथा विदूषक भी अपने चुटकुलों तथा कविताओं के द्वारा उनका दिल बहलाते थे। कुछ पेशेवर नर्त्तक भी धार्मिक समारोहों तथा दरबारों में नृत्य प्रस्तुत किया करते थे।

शिकार और युद्ध भी अभिजात-वर्ग के मनोरंजन के साधन थे। शिकार के द्वारा सैनिकों को युद्ध का प्रशिक्षण भी प्राप्त होता था। तीरंदाजी की प्रतियोगिताओं के द्वारा ये लोग मनोरंजन के साथ-साथ अपने युद्धकौशल को भी बढ़ाते थे। अभिजात

वर्ग के युवकों को धनुष-बाण चलाने की शिक्षा देने के लिए विद्यालय भी वर्त्तमान थे। प्रतियोगिताओं में सफल होने वालों को पुरस्कार भी दिए जाते थे। तीरंदाजी की प्रतियोगिता में राजा भी भाग लिया करते थे।

भोज और शराब पीने को भी हम तत्कालीन मनोरंजन की श्रेणी में रख सकते हैं। धार्मिक कृत्यों, समारोहों तथा तीरंदाजी की प्रतियोगिताओं का अंत भोजों से होता था, जिसमें लोग दिल खोल कर खाते-पीते थे। छोटे शासक अपने से बड़े शासकों की अगवानी में भी भोज दिया करते थे। इन भोजों में पद के अनुसार बैठने की जगहें निश्चित की जाती थीं। ये भोज संगीत की धुनों के साथ संपन्न होते थे। मांस और शराब का प्रयोग इन भोजों में प्रचुर मात्रा में होता था। शराब बाजरे से तैयार की जाती थी।

चाऊ-युग के प्रारंभिक काल में चाऊ-राजा अत्यधिक शराब पीने के विरुद्ध थे; क्योंकि उनका यह विश्वास था कि शांग-वंश के पतन के कारणों में मद्यपान का भी मुख्य स्थान था। पर, धार्मिक कृत्यों में शराब पीने के विरोध में ये लोग नहीं थे। धीरे-धीरे चाऊवंश के शासक भी शराब के प्रेमी बन गए तथा भोजों के अवसर पर अत्यधिक मात्रा में शराब का प्रयोग होने लगा।

तत्कालीन मनोरंजन के साधनों में संगीत का भी प्रमुख स्थान था। पेशेवर संगीतज्ञ राजाओं और शासकों का दिल बहलाया करते थे। व्यक्तिगत तौर पर भी लोग संगीत का अभ्यास करते थे। धार्मिक कृत्यों एवं यज्ञों में संगीत को प्रमुख स्थान प्राप्त था। तीरंदाजी की प्रतियोगिताओं में संगीत का स्थान था। धार्मिक कृत्यों में नगाड़े और घंटे भी बजाए जाते थे। भोजों के अवसर पर संगीतज्ञों को भी भोजन और शराब दी जाती थी। धार्मिक समारोहों में वाद्य-वृंद (Orchestra) भी बजाए जाते थे। अतः, चाऊ-युग मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद के क्षेत्र में भी काफी विकसित हो चुका था।

उपसंहार

चीन की सभ्यता विश्व की प्राचीनतम एवं महान सभ्यताओं में एक है। शांग और चाऊ-युग में इस महान सभ्यता की आधारशिला रखी गई। इस सभ्यता के कई मूलभूत सिद्धांत तथा मान्यताओं का विकास इस युग में हो गया था। बाद में बौद्ध धर्म के द्वारा भारत के संपर्क में आने से भारतीय सभ्यता ने चीनी संस्कृति को धर्म, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, साहित्य एवं कला के क्षेत्र में बहुत दूर तक प्रभावित किया। चाऊ-युग के अंत तक चीनी सभ्यता का व्यावहारिक रूप लगभग उजागर हो चुका था। इसी के आधार पर बाद में चीनी सभ्यता का विशाल भवन निर्मित किया गया। अतः इस काल का ज्ञान चीन की सभ्यताओं के ज्ञान के लिए अत्यावश्यक है।

❁

१० : प्राचीन भारत की सभ्यता के कुछ पहलू

सिंधु-घाटी की सभ्यता

मिस्र, चीन तथा मेसोपोटामिया की तरह भारत-भूमि में भी नदियों की घाटी में प्राचीनतम सभ्यता का विकास हुआ। जिस प्रकार मिस्र में नील नदी की घाटी तथा मेसोपोटामिया में दजला और फरात नदी की घाटी में मनुष्य की प्राचीनतम सभ्यता का विकास हुआ, ठीक उसी प्रकार भारत में सिंधु नदी की घाटी सभ्यता के क्षेत्र में मानव के प्रथम प्रयासों का केंद्र बनी। पर, भारत की इस प्राचीनतम सभ्यता का ज्ञान सर्वप्रथम सन् १९२२ ई० में खनन-कार्य के परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ। जमीन के भीतर से इस सभ्यता के अवशेषों को खोद निकालने का श्रेय डॉ० राखालदास बनर्जी तथा रायबहादुर श्रीदयाराम साहनी को है। सिंध में कुछ बौद्ध अवशेषों की खुदाई के दौरान डॉ० बनर्जी को चित्रलिपि में कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण लेख मिले, जिनके कारण हरप्पा और मोहेन्जोदारो में बहुत बड़े पैमाने पर खुदाई की गई, जिसके फलस्वरूप सिंधु-घाटी की सभ्यता का ज्ञान हमें प्राप्त हुआ। भारत-सरकार के पुरातत्त्व-विभाग की ओर से जिन स्थानों पर खुदाई करायी गयी, उनका विवरण निम्नलिखित है।

सिंध के लरकाना जिले में मोहेन्जोदारो नामक स्थान में एक ऊँचे टीले के नीचे खुदाई से इस सभ्यता के विस्तृत अवशेष प्राप्त हुए। मोहेन्जोदारो की खुदाई से इस बात का पता चला कि इस स्थान पर सैंधव सभ्यता के नगर थे, जो ईसा से २७०० वर्ष पूर्व विकसित अवस्था में थे। इसके बाद मौण्टगुमरी जिले के हरप्पा नामक जगह पर खुदाई की गई, जिससे इस महान सभ्यता के बारे में हमारा ज्ञान और विस्तृत एवं पक्का हो गया। हरप्पा की खुदाई से यह सिद्ध हो गया कि यह सभ्यता ताम्र-पाषाण-युग की सभ्यता थी। चूँकि इस सभ्यता के प्रमुख अवशेष सिंधु की घाटी में पाए गए, इसलिए इतिहासकारों ने इस सभ्यता का नाम 'सिंधुघाटी की सभ्यता' या 'सैंधव सभ्यता' रख दिया। इधर कुछ विद्वानों ने इसका नामकरण 'हरप्पा की सभ्यता' भी किया है। हाल की खुदाइयों तथा शोध-कार्य से यह सिद्ध होता है कि यह सभ्यता सिंधु नदी की घाटी तक ही सीमित नहीं थी, वरन् दूर-दूर तक फैली हुई थी। वह आधुनिक बलूचिस्तान, उत्तरी पश्चिमी सीमा-प्रांत, पंजाब, सौराष्ट्र, राजस्थान और गंगा नदी की घाटी के उत्तरी भाग तक फैली हुई थी। उस युग में सिंधु नदी का प्रदेश पर्याप्त वर्षा के कारण एक हरा-भरा तथा खुशहाल प्रदेश था, जिसके कारण एक समृद्ध नगर-सभ्यता का विकास एवं प्रसार वहाँ संभव हो

सका। मोहेन्जोदारो और हरप्पा में ३५० मील का अंतर है। इससे विद्वानों का यह अनुमान है कि विशाल प्रदेश पर फैली हुई इस सभ्यता के दो शासन-केंद्र थे। उत्तरी भाग पर का केंद्र पंजाब में स्थित हरप्पा का नगर तथा दक्षिणी प्रदेश की राजधानी सिंध में स्थित मोहेन्जोदारो नगर था। सिंध का प्रदेश अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण पश्चिमी एशिया, भारतखंड तथा अफगानिस्तान से व्यापार एवं संस्कृति के क्षेत्र में घनिष्ठ संबंध स्थापित करने में समर्थ था। प्राप्त अवशेषों से यह भी ज्ञात हुआ है कि इस सभ्यता के निवासी लिखना जानते थे तथा उनके शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं। पर दुर्भाग्यवश, इस लिपि को पढ़ा नहीं जा सका है। अब यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि सिंधु-घाटी की सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में एक है। इन अवशेषों की प्राप्ति से भारतीय सभ्यता का इतिहास ईसा से ३५०० वर्ष पूर्व प्रारंभ होता है तथा सिंधु-घाटी की सभ्यता सुमेर, अक्कड, बैबिलोन, मिस्र और असीरिया की सभ्यताओं के समकक्ष मानी जाती है।

नगर-रचना तथा भवन-निर्माण

प्राचीन भारत की सभ्यताओं में सिंधु-घाटी की सभ्यता ही एक ऐसी सभ्यता है, जिसके विषय में हमारा सारा ज्ञान खुदाई से प्राप्त अवशेषों पर आधारित है। इस सभ्यता के विषय में लिखित सामग्री शून्य के बराबर है। इन अवशेषों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस महान सभ्यता के निर्माता नगर-निर्माण-कला से परिचित थे तथा हरप्पा और मोहेन्जोदारो के नगर सुनिश्चित योजना के आधार पर बनाए गए थे। नगर की सड़कें और गलियाँ सीधी बनी हुई थीं तथा एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं। खुदाई में पायी हुई सड़कें चौड़ी हैं। नगर की मुख्य सड़क की चौड़ाई तैंतीस फुट है। यह सड़क उत्तर से दक्खिन की ओर जाती है तथा इस सड़क को काटती हुई एक दूसरी सड़क पूरब से पच्छिम की ओर जाती है, जिसकी चौड़ाई कुछ और अधिक है। ऐसा मालूम होता है कि इन सड़कों के कारण शहर आयताकार भागों में बंटा था तथा ये पतली सड़कों और गलियों के द्वारा छोटे-छोटे मुहल्लों में बँटे थे। पतली सड़कें भी ९ फुट से १८ फुट तक चौड़ी हैं तथा गलियाँ भी मोहेन्जोदारो नगर में ४ फुट से कम चौड़ी नहीं हैं। घरों का रुख सड़कों की ओर पाया जाता है तथा इन सड़कों के किनारे कुएँ एवं रोशनी के खंभे थे। सारे शहर में नालियों और मोरियों का जाल बिछा हुआ था, जिसके सहारे गंदा पानी निकाल दिया जाता था। कूड़ा-कर्कट सड़कों के किनारे बने विशाल गड्ढ़ों या मिट्टी के बड़े पात्रों में फेंका जाता था।

भवन-निर्माण

खुदाई में बड़े तथा छोटे सभी प्रकार के भवन पाए गए हैं। कुछ भवन महल जैसे हैं तथा कुछ बहुत छोटे दो कमरे के घर भी हैं, जिनसे समाज में धनी तथा

निर्धन दोनों ही वर्गों के अस्तित्व का पता चलता है। मकानों की बनावट सादी है। इनके निर्माण में कलात्मक सौंदर्य के स्थान पर सादगी और सुविधा पर अधिक ध्यान दिया गया है। प्रायः सभी मकानों में कुएँ, स्नानगृह तथा ढकी हुई नालियाँ पायी जाती हैं। मकानों की नीवें गहरी और चौड़ी हैं तथा दीवारें मोटी और पकायी हुई ईंटों से बनायी गयी हैं। घरों की फर्श प्रायः पक्की और ईंटों की बनी हुई है। प्रत्येक घर में दरवाजे और खिड़कियाँ हैं। तथा ऊपर जाने के लिए सीढ़ियों के टूटे अंश अब भी दिखाई पड़ते हैं। प्रत्येक घर में आँगन होते थे तथा आँगन के चारों ओर कमरे बने होते थे। खुले आँगन के चारों ओर कमरों का बनाया जाना यहां की भवन-निर्माण कला की विशेषता थी। कुछ घरों में दूसरी मंजिल पर भी स्नान-गृह होते थे, जिनका पानी परनलों से निकाला जाता था।

खुदाई से चार प्रकार के भवनों का आभास मिलता है—नागरिकों के मकान, सार्वजनिक भवन, सार्वजनिक स्नानागार तथा धर्म-स्थान या मंदिर। मोहेन्जोदारो में एक विशाल स्नानागार मिला है, जिसे खुदाई में प्राप्त भवनों में सबसे प्रसिद्ध एवं दर्शनीय माना जा सकता है। इसका क्षेत्रफल १८० फुट तथा १०८ फुट है। स्नानकुंड एक बड़े चौकोर आँगन के बीच स्थित है। यह उनतीस फुट लंबा, तेईस फुटा चौड़ा और आठ फुट गहरा है। इसके चारों ओर बरामदे, रास्ते और कमरे हैं। पानी में उतरने के लिए सीढ़ियाँ तथा नहाने के लिए चबूतरे हैं। यह कुंड बाहर से पानी लाकर भरा जाता था तथा आवश्यकता नहीं होने पर खाली कर दिया जाता था। इसका जल पास में स्थित एक कुएँ से आता था। इसके साथ एक हम्माम भी था, जिसके द्वारा नहाने के लिए गर्म जल का उपयोग होता था। संभवतः इस कुंड पर स्नान धार्मिक पर्वों के अवसर पर किया जाता था या यह तैरने और विनोद का केंद्र था। इस स्नानकुंड की सुदृढ़ बनावट, इसकी पक्की फर्श, ईंटों की सीढ़ियाँ तथा पानी के निकास के लिए बड़ी चौड़ी तथा ढकी नालियाँ तत्कालीन वास्तुकला की सफलता का आश्चर्यजनक प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

खुदाई में अन्य सार्वजनिक तथा राजकीय भवनों के भग्नावशेष भी प्राप्त हुए हैं। मोहेन्जोदारो में एक विशाल भवन के अवशेष मिले हैं, जो राज-प्रासाद-सा प्रतीत होता है। दो विशाल आँगन, भांडागार तथा भृत्यों के कक्ष से सुसज्जित यह विशाल प्रासाद काफी शानदार मालूम होता है। हरप्पा में निवासगृहों के अतिरिक्त विशाल अन्न-भंडारों के अवशेष भी मिले हैं। मोहेन्जोदारो की विस्तृत सड़कों के किनारे कहीं-कहीं सार्वजनिक भोजनालयों के अवशेष भी मिले हैं। इन भवनों के भग्नावशेषों से यह पता चलता है कि सिंधु-घाटी की सभ्यता एक उन्नत, विकसित तथा समृद्ध सभ्यता थी, जिसमें नागरिकों की सुख-सुविधा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। संभवतः, नगरों का शासन किसी स्थानीय नगरपालिका के द्वारा होता

था, जो नागरिक जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करती थी। भवन-निर्माण तथा नगर-योजना से यह सिद्ध होता है कि लोगों के रहन-सहन का स्तर काफी ऊँचा था।

सामाजिक जीवन

लिखित सामग्री के अभाव में सामाजिक व्यवस्था की पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं है, पर खुदाई में प्राप्त सामग्री के आधार पर सामाजिक जीवन के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। संभवतः, समाज में धनी, गरीब एवं मध्यम तीनों ही वर्ग विद्यमान थे। नगरों में अधिकांश मध्यम वर्ग के लोग ही रहते थे। समाज की इकाई परिवार था तथा संभवतः समाज का ढाँचा मातृ-सत्तात्मक था। खुदाई में प्राप्त नगर-निर्माण एवं सामाजिक संस्थानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज में विभिन्न प्रकार के व्यवसाय तथा पेशे के लोग रहते थे। उदाहरण के लिए, पुरोहित, राजकीय कर्मचारी, वैद्य, व्यवसायी, रँगरेज, बुनकर, सुनार, लुहार, कुम्हार, कृषक, धातुकार आदि लोग तत्कालीन समाज के अंग थे। शासन-प्रणाली के विषय में कुछ निश्चित रूप से अनुमान लगाना कठिन है। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न विचार व्यक्त किए हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि प्रतिनिधि शासक वहाँ शासन करता था तथा कुछ मानते हैं कि शासन-प्रणाली लोकतंत्रात्मक थी। कुछ विद्वान शासन-प्रणाली को पुरोहित प्रधान तथा कुछ उसे शक्ति के विकेंद्रीकरण तथा स्वायत्तशासन शासन प्रणाली के सिद्धांतों पर आधारित मानते हैं। संभवतः, हरप्पा तथा मोहेन्‌जोदारो जैसे नगरों में शासन नगरपालिका के द्वारा होता था, जिसे नगर के शासन का पूरा अधिकार प्राप्त था। इसी विकेंद्रीकरण की नीति पर शासन संचालित होता था। शासन-सत्ता संभवतः किसी एक शासक अथवा राजा के हाथ में केंद्रीभूत नहीं थी, विभिन्न क्षेत्रों तथा प्रधान नगरों को स्वायत्त-शासन का अधिकार प्राप्त था।

खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर भोजन, वस्त्र, आमोद-प्रमोद तथा शृंगारिक प्रसाधनों के विषय में भी अनुमान लगाया जा सकता है। भोजन में अन्न, फल, मांस, अंडे, मछली, दूध आदि शामिल थे। संभवतः, भोजन के लिए वे लोग गाय, सूअर, भेड़, मुर्गे और कछुए के मांस का प्रयोग करते थे। मछली का प्रयोग भोजन में बहुत बड़े पैमाने पर होता था। गेहूँ, जौ और खजूर उनके भोजन में प्रमुख स्थान रखते थे। नारियल, तरबूज, अनार, नींबू आदि फलों का प्रयोग भी भोजन में होता था। विविध प्रकार के बरतनों से यह सिद्ध होता है कि वे तरह-तरह के खाद्य तथा पेय पदार्थों का उपयोग करते थे।

सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग होता था। खुदाई में प्राप्त मूर्त्तियों से यह सिद्ध होता है कि उनकी पोशाक सादी थी तथा स्त्रियों एवं पुरुषों के

पहनावे में विशेष अंतर नहीं था। ऊपर के वस्त्र में शाल या चादर कंधे से लटकती थी। नीचे धोती या साड़ी का प्रयोग होता था। चादर इस प्रकार ओढ़ी जाती थी कि दाहिना हाथ काम के लिए स्वतंत्र रहता था। स्त्रियाँ सिर पर एक विशेष प्रकार का परिधान धारण करती थीं, जो पंखे की भाँति पीछे की और उठा रहता था। पुरुष दाढ़ी और मूँछ रखते थे। स्त्रियाँ कई प्रकार के केश-विन्यास से बालों को सँवारती-सजाती थीं। शृंगार के लिए स्त्रियाँ एवं पुरुष दोनों ही दर्पण, कंघी, काजल और सुरमे का व्यवहार करते थे। खुदाई में कई ऐसे उपकरण—जैसे काजल तथा सुरमा लगाने की शलाकाएँ प्राप्त हुई हैं। धातु पर चमकती हुई पालिश के प्रयोग से दर्पण बनाए जाते थे।

सिंधु-घाटी के निवासी आभूषणों के प्रेमी थे। संपन्न एवं निर्धन सभी वर्ग के स्त्री-पुरुष, अपनी शक्ति एवं रुचि के अनुसार विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करते थे। ये आभूषण सोना, चाँदी, ताँबा, हाथी-दाँत तथा कई प्रकार के पत्थरों से निर्मित होते थे। हीरा, पन्ना, मूँगा, लाल आदि पत्थरों से भी आभूषण बनाए जाते थे। समाज का साधारण एवं निम्नतम वर्ग भी अस्थियों, घोंघों, सीपों तथा पक्की मिट्टी के आभूषण धारण करता था। स्त्री-पुरुष दोनों ही हार, बाजू, कड़े, कुंडल तथा अंगूठियाँ पहनते थे। स्त्रियाँ करधनी, कर्णफूल, कान के काँटे, कड़े और पायल प्रायः धारण करती थीं। कुछ गहने अत्यंत आकर्षक एवं सुंदर होते थे। खुदाई में हाथी-दाँत की कंघियाँ, ओठ रँगने के साधन तथा काँसे के बने हुए दर्पण मिले हैं, जिनसे शृंगारिक प्रसाधनों में सिंधु-घाटी की स्त्रियों की विशेष रुचि सिद्ध होती है।

खुदाई में प्राप्त अवशेषों से मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद के विषय में भी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ के निवासी आखेट, शतरंज, पासा, जुआ, नृत्य एवं संगीत के द्वारा अपना मनोरंजन करते थे। कुछ मुद्राओं पर आखेट के दृश्य अंकित हैं—जैसे धनुष-बाण से युक्त शिकारी को बारहसिंघे का पीछा करते हुए दिखाया गया है। पशु-पक्षियों की लड़ाई के द्वारा भी ये लोग अपना मन-बहलाव करते थे। एक मुहर पर दो जंगली मुर्गों को लड़ते हुए अंकित किया है। संभवतः पासों का खेल सबसे अधिक लोकप्रिय था। खेल के प्रयोग में लाए जाने वाले पासे काफी संख्या में प्राप्त हुए। ये पासे मिट्टी, पत्थर तथा हाथी-दाँत के बने हुए हैं। संभवतः, संपन्न वर्ग हाथी-दाँत के पासों का प्रयोग करता था। हरप्पा तथा मोहेन्जोदारो के भग्नावशेषों में प्राप्त कुछ मूर्त्तियाँ तथा उनकी भाव-भंगिमाएँ नृत्य एवं संगीत की लोकप्रियता का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। मुहरों पर ढोल, वीणा, तुरही तथा नर्त्तकी के चित्र अंकित हैं।

बच्चों के मनोरंजन पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। मिट्टी के खिलौने बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। मिट्टी की बनी छोटी-छोटी बैलगाड़ियाँ, कुर्सियाँ

पशु-पक्षियों की मूर्त्तियाँ, झुनझुने तथा सीटियाँ बच्चों के मनबहलाव के लिए व्यवहार में लाए जाते थे। मिट्टी के अतिरिक्त ताँबे, पीतल तथा काँसे के भी खिलौने बनाए जाते थे। कभी-कभी खिलौनों को रंग कर आकर्षक भी बनाया जाता था।

सामाजिक जीवन के इन विभिन्न पहलुओं के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज सुखी एवं शांतिपूर्ण था। सामाजिक संस्थाएँ उन्नत एवं सुव्यवस्थित थीं तथा समाज का उद्देश्य सुख और शांति से रहना था, इसलिए समाज में युद्ध एवं कलह की प्रवृत्ति का अभाव था।

विभिन्न व्यवसाय

सिंधु-घाटी के निवासी मुख्यत: चार प्रकार के व्यवसायों से अपना जीवन-यापन करते थे। ये थे : कृषि, पशु-पालन, व्यापार तथा उद्योग-धंधे। हरप्पा तथा मोहेन्‌जोदारो के भग्नावशेषों में प्राप्त विभिन्न उपकरणों से यह सिद्ध होता है कि यहाँ के निवासी गेहूँ, कपास, मटर, तिल और चावल की खेती करते थे। सिंधु-घाटी पर्याप्त वर्षा के कारण काफी उर्वर थी, जिसमें इस विशाल नागरिक सभ्यता के लिए भरपूर खाद्य-सामग्री पैदा की जाती थी। अनाज के अतिरिक्त नारियल, खजूर, तरबूज, केला, अनार, नींबू आदि फल भी पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किए जाते थे। फल भी पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किए जाते थे। फलयुक्त हलों से खेतों की जुताई होती थी तथा कुदाल और फावड़ों का भी प्रयोग कृषि-कार्य में होता था। अनाज पीसने के लिए चक्कियाँ तथा कूटने के लिए ओखल का प्रयोग होता था। बैलगाड़ियों के द्वारा अनाज शहरों तक पहुँचाया जाता था, जहाँ विशाल गृहों तथा अन्न-भंडारों में अनाज का संग्रह किया जाता था।

कृषि के बाद पशु-पालन जीविका का दूसरा प्रधान साधन था। कुछ पशु घरेलू कामों के लिए भी पाले जाते थे। ऊँचे कंधों वाले बैल, गाय, भैंस, भेड़, बकरी सूअर, हाथी और ऊँट इनके पालतू पशु थे। संभवत:, इन्हें कुत्तों और घोड़ों का ज्ञान नहीं था। ये लोग हंस, बतख, खरगोश, बंदर, हिरण, मुर्गा और तोता भी पालते थे। जंगली पशुओं सिंह, भालू, गैंड़ा, भैंसा आदि के चित्र खिलौनों और मुहरों पर मिले हैं।

विभिन्न प्रकार के उद्योग-धंधे यहाँ के निवासियों की जीविका का तीसरा साधन माने जा सकते हैं। सिंधु-घाटी में उद्योग-धंधों का काफी विकास हुआ था। विभिन्न धातुओं, मिट्टी, लकड़ी तथा पत्थर से बहुत-सी वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। इनकी बिक्री से कारीगरों का भरण-पोषण होता था। खुदाई में मिट्टी के बहुत सुंदर बरतन प्राप्त हुए हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि मिट्टी के बरतन बनाने की कला में यहाँ के कारीगर सिद्धहस्त थे। इसी प्रकार सुनार, राजगीर, लुहार, जौहरी, हाथी

दाँत के शिल्पी, पत्थर काटने वाले, बुनकर तथा रँगरेज अपने-अपने व्यवसाय से अच्छी तरह अपना भरण-पोषण करते थे। खुदाई में जो आभूषण प्राप्त हुए हैं, वे इस क्षेत्र के कारीगरों की सफलता के प्रमाण हैं। इसी प्रकार पत्थर, काँसे तथा ताँबे के हथियार बनाने वाले भी अपनी कला में निपुण थे। विभिन्न प्रकार के खिलौनों के निर्माता तथा लकड़ी के उपस्कर-निर्माता भी अपनी कारीगरी से खुशहाल रहते होंगे।

जीविका का अंतिम प्रधान साधन व्यापार एवं वाणिज्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु-घाटी के व्यापारी विदेशों से भी घनिष्ठ व्यापारिक संबंध स्थापित किए हुए थे। नियमित रूप से विदेशों के साथ वस्तुओं का आयात-निर्यात होता था। सिंधु-घाटी से निर्यात होने वाली वस्तुओं में कपास तथा सूती कपड़ों का प्रमुख स्थान था। इस समय से ही सूती कपड़े पश्चिमी एशिया के देशों में लोकप्रिय थे। कालांतर में, बेबिलोनिया में भी भारत से सूती कपड़ों का निर्यात होता था। चाँदी, फीरोजा और लाजवर्द ईरान तथा अफगानिस्तान से आयात किए जाते थे। ताँबा राजस्थान अथवा ईरान से मँगाया जाता था तथा संगयशब का आयात तिब्बत या मध्य एशिया मे होता था। अंतर्देशीय व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। सिधु-घाटी के समृद्ध नगरों का बलूचिस्तान की ग्रामीण सभ्यता से घनिष्ठ व्यापारिक संबंध स्थापित था। शंख, घोंघे तथा सीप काठियावाड़ तथा दक्कन से आयात किए जाते थे। सामानों का आयात-निर्यात स्थल-मार्ग से मुख्यतः होता था। संभवतः सुमेर से भी बहुमूल्य पत्थर तथा कच्चा माल मँगाया जाता था। अतः, उन्नत वाणिज्य-व्यापार के कारण व्यापारियों का वर्ग धनी और खुशहाल था। इन मुख्य व्यवसायों के अतिरिक्त, जैसा हम देख चुके हैं, पुरोहित, वैद्य, राजकर्मचारी, सैनिक तथा मजदूर-वर्ग के लोग भी यहाँ काफी संख्या में पाए जाते थे। अतः, सुदृढ़ आर्थिक जीवन के द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों में तालमेल स्थापित था।

खुदाई में बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त मूर्तियों एवं मुहरों से यही सिद्ध होता है कि सिंधु-घाटी के निवासी कला एवं सौंदर्य प्रेमी थे तथा कला के कुछ क्षेत्रों में यहाँ के कलाकारों की सफलता आश्चर्यजनक है। विशेषतः, मूर्तिकला के कलाकारों का कौशल सराहनीय है। मोहेन्जोदारो में मिट्टी की बनी हुई नर्त्तकियों की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। पर, काँसे की बनी हुई एक नर्त्तकी की मूर्ति अपनी सजीवता तथा भाव-भंगिमा की दृष्टि से अद्वितीय है। नाचने की मुद्रा में खड़ी हुई यह नर्त्तकी अपनी सजीव मुद्रा के साथ कटि-प्रदेश पर हाथ रखकर पाद-प्रक्षेप करने को उद्यत दिखलाई गई है। यह मूर्त्ति यहाँ की कला का जीवंत उदाहरण है। इसी प्रकार मोहेन्जोदारो में प्राप्त ध्यानस्थ योगी की मूर्त्ति भी यहाँ की मूर्त्तिकला का

उत्कृष्ट उदाहरण है। हरप्पा और मोहेन्जोदारो के भग्नावशेष भी इस बात को सिद्ध करते हैं कि यहाँ भवन-निर्माण-कला का समुचित विकास हुआ था। यहाँ के भवनों में बाहरी तड़क-भड़क का अभाव है, पर इनके आरामदेह, आकर्षक तथा मजबूत होने में कोई संदेह नहीं है। खुदाई में उत्कीर्ण रेखा-मूर्तियों के भी सुंदर और उत्कृष्ट नमूने प्राप्त हुए हैं। मिट्टी, पत्थर तथा धातुओं की बनी हुई मूर्त्तियाँ यहाँ के कलाकारों की सफलता एवं दक्षता के जीते-जागते उदाहरण हैं। इनकी मूर्त्तिकला तथा वास्तुकला को हम उपयोगितावादी एवं यथार्थवादी कह सकते हैं। इनके चित्रों में उत्कीर्ण रेखाचित्रों में रंग का भी प्रयोग होता था। खुदाई में मोर, मछली, पशु, कछुए आदि के सुंदर चित्र प्राप्त हुए हैं।

यहाँ के कलाकारों को सबसे उल्लेखनीय सफलता मुहरों को ढालने तथा उन पर विभिन्न आकृतियाँ अंकित करने में प्राप्त हुई हैं। खुदाई में अनेक मुहरें प्राप्त हुई हैं, जो कलाकारों की सफलता का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। लगभग ५५० मुहरें खुदाई में प्राप्त हुई हैं। इन मुहरों पर विशेषतः बैल, गैंडे, हाथी, बारहसिंघे आदि पशुओं का चित्रण अत्यंत कुशलता के साथ किया गया है। इनमें एक शक्तिशाली साँड़ का अंकन अत्यंत सजीव है। पशुओं का सजीव एवं स्वाभाविक चित्रण यहाँ के कलाकारों की कुशलता तथा यहाँ के निवासियों की सौंदर्यप्रियता और यथार्थवादिता का द्योतक है। कुछ मुहरों पर आलेख भी उत्कीर्ण हैं, पर दुर्भाग्यवश यहाँ की लिपि को आज तक नहीं पढ़ा जा सका है।

लेखन-कला का विकास सिंधु-घाटी के निवासियों की एक उल्लेखनीय सफलता थी। पर, दुर्भाग्यवश इस लिपि को पढ़ने के सभी प्रयास विफल रहे हैं। यह लिपि प्राचीन सुमेर, एलम और मिस्र की लिपियों से मिलती-जुलती है। छोटे आलेखों के कई उदाहरण प्राप्त हुए हैं। इस लिपि के आधार पर यह सिद्ध होता है कि प्राचीन सुमेर तथा सिंधु-घाटी की सभ्यताओं में निकट संपर्क स्थापित था। संभवतः उनकी लिपि चित्रलिपि का ही विकसित एवं परिष्कृत रूप है तथा वे लोग दायें से बायें तथा बायें से दायें दोनों ही प्रकार से लिखते थे।

गौण कलाओं के क्षेत्र में भी यहाँ के कलाकार काफी कुशल थे। विभिन्न प्रकार की धातुओं को गला कर, उन्हें साँचों में ढाल कर, वे कई प्रकार की वस्तुएँ बनाते थे। सोने, चाँदी तथा ताँबे के सुंदर आभूषणों का निर्माण भी सफलतापूर्वक होता था। संगीत एवं नृत्यकला से यहाँ के निवासियों को प्रेम था। सूत कातने तथा कपड़ा बुनने की कला में ये लोग निपुण थे। उत्खनन से प्राप्त बहुत-सी तकलियाँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। लकड़ी के उपस्कर बनाने के क्षेत्र में भी यहाँ के कारीगर दक्ष थे।

इस प्रकार, विभिन्न कलाओं के क्षेत्र में उपयोगितावाद तथा यथार्थवाद यहाँ के कलाकारों के मूलमंत्र थे। इसी कारण सौंदर्य-प्रदर्शन से उपयोगिता एवं वास्तविकता पर अधिक जोर दिया गया।

धार्मिक जीवन

लिखित साहित्य के अभाव में सिंधु घाटी के धर्म का ज्ञान उत्खनन से प्राप्त सामग्री से ही उपलब्ध होता है। यहाँ के धार्मिक विश्वासों एवं देवी-देवताओं के विषय में जानकारी हमें मिलती है, उससे भारतीय संस्कृति एवं हिंदू-धर्म की निरंतरता तथा क्रमबद्धता का आश्चर्यजनक प्रमाण प्रस्तुत होता है। सिंधु-घाटी का धर्म भारतीय धर्म के अविच्छिन्न रूप को सिद्ध करता है। सिंधु-घाटी के धार्मिक जीवन के बहुत-से तत्त्व वर्त्तमान हिंदू-धर्म में भी पाये जाते हैं। सैंधव सभ्यता के धर्म के चार पहलू हैं, जो आज भी किसी-न-किसी रूप में वर्त्तमान हिंदू-धर्म में भी पाये जाते हैं। सिंधु-घाटी के धर्म की चार मुख्य विशेषताएँ थीं—(१) मातृशक्ति की उपासना, (२) शिव की उपासना, (३) वृक्ष-पूजा एवं (४) पशु-पूजा। ये चारों विशेषताएँ वर्त्तमान हिंदू-धर्म का भी अंग हैं। पश्चिमी एशिया तथा भूमध्यसागरीय कई प्राचीन सभ्यताओं में मातृशक्ति की पूजा प्रचलित थी। लगभग सभी आदिकालीन सभ्यताओं में ईश्वर को माता के रूप में पूजा जाता था। सिंधु-घाटी की सभ्यता के भग्नावशेषों में प्राप्त अनेक मूर्त्तियाँ मातृशक्ति की प्रतीक हैं। मिट्टी के पात्रों और ताबीजों पर भी मातृदेवी के अनेक चित्र मिले हैं। मातृदेवी की उपासना इस धारणा पर आधारित थी कि सृष्टि का प्रारंभ नारी-शक्ति से हुआ था। अतः यह मातृशक्ति जगज्जननी एवं संसार की पोषिका थी। कुछ मुहरों पर अंकित पशु, पुरुष और हँसिए के साथ मातृदेवी की मूर्ति को देख कर यह अनुमान लगाया जाता है कि इस देवी की पूजा में नरबलि एवं पशुबलि चढ़ायी जाता थी। मातृदेवी की कुछ मूर्तियाँ शिशु को स्तनपान कराती पायी गयी हैं। इन सारी बातों से यह सिद्ध होता है कि सिंधु-घाटी में मातृशक्ति की उपासना हिंदू-धर्म में प्रचलित शक्तिपूजा का प्रारंभिक रूप है। बाद में यही उपासना काली या दुर्गा की उपासना रूप में विकसित हुई, जो आज तक पायी जाती है। हिंदू-धर्म में शक्ति या दुर्गा को जगदंबा तथा संसार की पोषिका के रूप में पूजित किया जाता है।

मातृशक्ति के साथ-साथ हिंदू-धर्म के लोकप्रिय देवता भगवान शिव की पूजा के प्रचलित होने के भी प्रमाण मिलते हैं। शिव को हिंदू-धर्म में भी महायोगी, पशुपति एवं त्रिशूलधारी के रूप में पूजा जाता है। सिंधु-घाटी के धर्म में शिव की उपासना का यही रूप था। एक विशेष मुद्रा पर एक देवता का चित्र प्राप्त हुआ है जो शिव की वर्त्तमान कल्पना को पुष्ट करता है। इस देवता के ऊँचे शिरस्त्राण के दोनों ओर दो सींग हैं। शिरस्त्राण त्रिशूल से मिलता-जुलता है। इस देवता के तीन

मुख हैं तथा यह योगी की मुद्रा में आसीन पशुओं से घिरा हुआ है। इस देवता के दाहिनी ओर हाथी और सिंह हैं, बाईं ओर गैंड़ा और भैंसा हैं तथा सामने एक हिरण है। योगी के ऊपर कुछ शब्द अंकित हैं, जो अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। संभवतः, वर्त्तमान हिंदू-धर्म के विख्यात देवता महादेव अथवा शिव की यह प्राचीनतम कल्पना थी। इसी कारण हिंदू-धर्म में भी शिव को आदिदेव कहा जाता है; क्योंकि उनकी पूजा सभी देवताओं से पहले पुरातन जातियों में भी प्रचलित थी। शिव को तीन मुख वाला, त्रिशुलधारी, पशुपति एवं योगीश्वर भी माना जाता है। सिंधु-घाटी में प्राप्त मुद्राएँ इस कल्पना पर ही आधारित प्रतीत होती हैं। एक मुद्रा में एक योगी को सर्पों से समावृत प्रदर्शित किया गया है। नागों से घिरा यह योगी भी शिव का ही एक रूप प्रतीत होता है।

बहुत बड़ी संख्या में लिंग एवं योनि से मिलती-जुलती मिट्टी एवं सीप की मूर्त्तियों से भी शिव-पूजा के प्रमाण मिलते हैं। संभवतः, सिंधु-घाटी के निवासी ईश्वर की सर्जनात्मक शक्ति की उपासना लिंग एवं योनि के रूप में करते थे। संभवतः, लिंग-पूजा शिव-पूजा का ही एक रूप थी। इन सारे प्रमाणों के आधार पर शिव एवं शक्ति की उपासना भारतवर्ष की प्राचीनतम उपासना-पद्धति मानी जा सकती है।

कुछ मुहरों पर पीपल का वृक्ष, पत्तियों और टहनियों के साथ दिखलाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि सिंधु-घाटी में वृक्ष-पूजा प्रचलित थी तथा पीपल का वृक्ष अत्यंत पवित्र माना जाता था। वर्त्तमान हिंदू-धर्म में भी पीपल-वृक्ष की पूजा की जाती है।

बहुत-सी मुहरों से पशु-पूजा, नाग-पूजा एवं जलपूजा के भी प्रमाण मिलते हैं। बैल और भैंस को शक्ति का प्रतीक समझ कर उनकी पूजा की जाती थी। संभवतः, सिंधु-घाटी के निवासी पशु-पक्षियों में दैवी शक्ति का अंश मानते थे। इसी प्रकार. विशाल स्नान-कुंड एवं उनके पास बने स्नानगृह इस बात का संकेत करते हैं कि सिंधु-घाटी के निवासी शुभ मुहूर्त्तों एवं पर्वों पर सामूहिक स्नान करना एक पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। अतः, पवित्र स्नान और जल-पूजा में उनका विश्वास था। आज भी हिंदू-धर्म में किसी-न-किसी रूप में पशु-पूजा, नाग-पूजा एवं पवित्र-स्नान की परंपरा जीवित है। अतः, सिंधु-घाटी का धर्म भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न धारा को प्रमाणित करता है।

मृतक-संस्कार

सिंधु-घाटी के निवासी संभवतः पुनर्जीवन में विश्वास करते थे। उनकी यह भी धारणा थी कि मृतक-संस्कार के विधिवत् संपन्न होने से मृतक की मरणोत्तर

यात्रा सुखमय होगी। सिंधु-घाटी में शव-संस्कार की तीन प्रणालियाँ प्रचलित थीं—

(१) **पूर्ण समाधिकरण**—शव को पूरी तरह पृथ्वी में गाड़ कर समाधि बना देना। समाधि में मृतक की सुख-सुविधा के सामान भी रख दिये जाते थे।

(२) **आंशिक समाधिकरण**—शव को पशु-पक्षियों द्वारा खाये जाने के लिए खुले स्थान पर छोड़ दिया जाता था। कुछ दिनों के बाद बची-खुची हड्डियों अथवा अस्थि-पंजर को भूमि में दफना दिया जाता था।

(३) **दाह कर्म**—शव को चिता में जलाकर उसकी राख और हड्डियों को मिट्टी के कलशों में रखकर पृथ्वी में गाड़ देते थे। राख, हड्डी तथा कोयलों से भरे मिट्टी के कलश बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं, जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि तीसरी पद्धति अधिक प्रचलित थी। मोहेन्जोदारो के भग्नावशेषों में कब्रिस्तान का अभाव भी इसी अनुमान की पुष्टि करता है।

भारतीय प्राचीन सभ्यता के निर्माता

भारत की इस प्राचीनतम सभ्यता के निर्माता कौन थे? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान आर्यों को, कुछ सुमेरियन लोगों को तथा कुछ द्रविड़ जाति के लोगों को इस महान सभ्यता का जनक मानते हैं। पर, आर्यों की सभ्यता तथा सिंधु-घाटी की सभ्यता में समानता नहीं के बराबर है। इसके अतिरिक्त उत्खनन में जो अस्थि-पंजर तथा खोपड़ियाँ प्राप्त हुई हैं, वे इस बात को सिद्ध करती हैं कि सिंधु-घाटी के निवासियों की शारीरिक बनावट आर्यों से पूर्णतया भिन्न थी। पुनः सिंधु-घाटी का धर्म भी आर्यों के धर्म से पूर्णतः भिन्न था। वास्तव में, ऋग्वैदिक साहित्य में लिंगपूजा की बड़ी भर्त्सना की गई है। ऋग्वेद के अनुसार लिंगपूजा द्राविड़ों के धर्म का अंग थी। इन कारणों से द्रविड़ जाति के लोगों को ही, जिन्हें ऋग्वेद में 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है, इस सभ्यता का निर्माता मानना अधिक समीचीन जान पड़ता है।

इस प्रकार, सुमेरियन सभ्यता की सामग्री से सिंधु-घाटी में प्राप्त कुछ सामग्री मिलती-जुलती है। उदाहरण के लिए—ताँबे और काँसे के बरतन, पकायी हुई ईंटें तथा लिपि। संभव है, सिंधु-घाटी के निवासियों में कुछ सुमेरियन जाति के लोग भी रहे हों, पर इस सभ्यता को पूर्णतया सुमेरियन सभ्यता का प्रसार मानना गलत होगा। नागरिक सभ्यता होने के कारण यहाँ कीजनसंख्या में विभिन्न प्रजातियों का सम्मिश्रण था, पर मुख्य रूप से यह द्रविड़ सभ्यता थी, जिसमें कुछ अन्य सभ्यताओं के तत्त्व भी मिल गये थे।

इस सभ्यता का काल

यह सभ्यता ताम्रयुगीन सभ्यता मानी जाती है। खुदाई में प्राप्त उपकरणों से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इस सभ्यता का प्रारंभ ईसा से लगभग पाँच

हजार वर्ष पूर्व तथा इसके विनाश का काल २७५० ई०-पू० रहा होगा। डॉ० राजबली पांडेय इस सभ्यता का समय कम-से-कम ईसा-पूर्व चार हजार वर्ष मानते हैं। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार इस सभ्यता का काल ३२५० ई०-पू० से २७५० ई०-पू० तक है। इस सभ्यता के अन्य प्रमाण भी मिले हैं। एलम और मेसोपोटामिया में सिंधु-घाटी की सभ्यता की अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिनके आधार पर सिंधु घाटी की सभ्यता को एलम और मेसोपोटामिया की सभ्यताओं के समकालीन माना जा सकता है। अतः इसके आधार पर इस सभ्यता के उत्कर्ष का काल तीन हजार ई०-पू० से भी पहले था।

इस सभ्यता का विनाश

इस सभ्यता के विनाश के विषय में कई अनुमान लगाये जाते हैं। भूकंप या बाढ़-जैसी दैवी विपत्ति के कारण संभवतः इस समृद्ध सभ्यता का विनाश हुआ। यह भी संभव है कि जलवायु के परिवर्तन के कारण सिंधु-घाटी के प्रदेश के अनुर्वर होने से भी ये नगर वीरान हो गये होंगे। विदेशी एवं बर्बर जातियों के लगातार आक्रमण को भी इस सभ्यता के विनाश का कारण मानते हैं। मोहेन्जोदारो के भग्नावशेषों में बहुत बड़ी संख्या में अस्थि-पंजर प्राप्त हुए हैं, जिनमें कुछ स्त्रियों और बालक-बालिकाओं के भी कंकाल हैं। ये कंकाल कुछ बड़े कमरों, सीढ़ियों तथा गलियों में मिले हैं। इनसे बर्बर आक्रमण तथा सामूहिक हत्या का अनुमान भी लगाया जाता है। अंत में, आर्यों-जैसी शूर एवं बलशाली जाति के निरंतर तथा सुनियोजित आक्रमण से भी इस सभ्यता का विनाश संभव होता है।

भारत में आर्यों का आगमन तथा ऋग्वैदिक सभ्यता का उदय

सिंधु-घाटी की सभ्यता के विनाश के बाद भारत-भूमि पर एक नई सभ्यता का उदय हुआ, जिसे इतिहासकारों ने 'ऋग्वदिक सभ्यता' की संज्ञा दी है। यह भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का उषाकाल था, जब भारतीय संस्कृति की कई महत्त्वपूर्ण संस्थाओं का जन्म हुआ। चूँकि इस सभ्यता का सारा ज्ञान 'ऋग्वेद' नामक ग्रंथ पर आधारित है, इसलिए इसे 'ऋग्वैदिक सभ्यता' की संज्ञा दी गई है। जहाँ सैंधव सभ्यता की समस्त सामग्री उत्खनन में प्राप्त हुई, वहीं इस सभ्यता की समस्त सामग्री लिखित है। अतः, सैंधव सभ्यता प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता मानी जाती है तथा ऋग्वैदिक सभ्यता से भारत का इतिहास प्रारंभ होता है। हम देख चुके हैं कि सैंधव सभ्यता के निर्माता द्रविड़ थे, पर इस सभ्यता के निर्माता निर्विवाद रूप से आर्य माने जाते हैं। ये आर्य कौन थे तथा कहाँ से आये थे, इस पर विद्वानों में गहरा मतभेद रहा है। बहुत-से विद्वान भारतवर्ष को ही आर्यों का आदि देश मानते

हैं, पर इस विचार को निर्णायक ढंग से प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है। दूसरे विद्वान आर्यों का आदिदेश क्रमशः मध्य एशिया, पश्चिम जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, वोहेमिया, कृष्णसागर-प्रदेश तथा ध्रुवप्रदेश को भी मानते हैं। कुछ विद्वान पामीर-उपत्यका तथा वैक्ट्रिया को आर्यों का मूल स्थान मानते हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आर्य-जाति तथा यूरोपीय जातियों के पूर्वज एक ही थे; क्योंकि संस्कृत-भाषा के कुछ शब्द जर्मन, लैटिन आदि भाषाओं में मिलते हैं। जैसे—संस्कत-भाषा में माता-पिता को 'मातृ' एवं 'पितृ' कहा जाता है, लैटिन में 'मेटर और 'पेटर' कहा जाता है, ग्रीक में 'पाटेर' और 'मीटेर' कहा जाता है, अंग्रेजी में 'फादर' और 'मदर' कहा जाता है तथा जर्मन में 'फाटेर' औद 'मटर' कहा जाता है। भाषा-विज्ञान के विद्वानों ने संस्कृत, ईरानी तथा यूरोपीय भाषाओं में कई अन्य समानताएँ ढूँढ़ निकाली हैं, जिनसे आर्यो तथा यूरोपीप जातियों के पूर्वजों के एक होने अथवा आसपास रहने का अनुमान लगाया जाता है। पर, केवल भाषागत समानता के आधार पर कुछ भी निर्णयिक ढंग से नहीं कहा जा सकता। मानव-विज्ञान के आधार पर भी यही कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में वसनेवाले आर्यों का शारीरिक आकार-प्रकार यूरोपीय जातियों से मिलता-जुलता था। ऋग्वेद की भाषा का पारसियों के धर्मग्रंथ 'जेंदअवेस्ता' की भाषा से वहुत निकट का संबंध माना जाता है। दोनों भाषाओं के शब्दों में अत्यधिक समानता है। इससे प्राचीन ईरान के निवासी तथा आर्य या तो एक जाति के थे अथवा एक ही स्थान पर रहते थे। पर भाषा-विज्ञान का आधार भ्रममूलक है। इसलिए इस आधार पर हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। इन अन्वेषणों से यह सिद्ध होता है कि सुदूर अतीत में, किसी समय यूरोपवासियों, ईरानियों और भारतीय आर्यों में बहुत निकट का संपर्क था।

आर्यों के आदिदेश के बारे में यद्यपि निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि यूरोपीय जातियों तथा ईरानियों के पूर्वज एवं भारतीय आर्य संभवतः मध्य एशिया में एक साथ रहते थे। यहीं से कई शाखाओं में विभक्त होकर वे भारत, ईरान तथा यूरोपीय देशों में जा बसे। भाषागत समानता एवं शारीरिक बनावट की समानता के आधार पर यह अनुमान अधिक समीचीन मालूम होता है। मध्य एशिया की भौगोलिक विशेषताएँ, पशु-पक्षी एवं वनस्पतियों के अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है कि जेंदअवेस्ता तथा ऋग्वेद में वर्णित अनेक वस्तुएँ मध्य एशिया में उपलब्ध थीं। सन् १८५९ ई० में सुप्रसिद्ध संस्कृत-विद्वान् मैक्समूलर ने इस मत का प्रतिपादन किया था, जिसे अधिक तर्कसंगत अनुमान माना जा सकता है।

आर्यों के आदिदेश के विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, पर अधिकांश विद्वान् इस बात को मानते हैं कि आर्य भारतवर्ष में वाहर से आकर बसे

थे। उन्होंने ही सैंधव सभ्यता का विनाश कर आर्य-संस्कृति की आधारशिला पंजाब में रखी।

संभवत: आर्यों का भारत में प्रवेश २५०० ई०-पू० तथा २००० ई०-पू० के मध्य में हुआ। शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित होने के बाद ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना का प्रारंभ संभवत: १६०० ई०-पू० के आसपास हुआ। ऋग्वैदिक सभ्यता के प्रारंभ के विषय में भी विद्वानों में गहरा मतभेद है। ४००० ई०-पू० से १००० ई०-पू० को विद्वानों ने इस सभ्यता के प्रारंभ का काल माना है। पर, सभी विद्वानों के तर्कों की समीक्षा के बाद १६०० ई०-पू० को ऋग्वैदिक सभ्यता के प्रारंभ का काल मानना उचित जान पड़ता है। ऋग्वेद की अंतिम रचनाओं का काल १२०० ई०-पू० माना जा सकता है।

ऋग्वैदिक सभ्यता

ऋग्वेद

साहित्य

इस सभ्यता के विषय में हमारा सारा ज्ञान ऋग्वेद पर आधारित है। ऋग्वेद देवताओं की स्तुति में बने हुए भावभरे श्लोकों या ऋचाओं का संग्रह है। ऋग्वेद के मंत्रों की रचना किसी एक ऋषि ने एक निश्चित अवधि में नहीं की, वरन् विभिन्न ऋषियों ने विभिन्न काल में इन मंत्रों अथवा ऋचाओं की रचना की। इन रचनाओं को हजारों वर्षों तक कंठस्थ कर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया गया। कालांतर में इन्हें लेखबद्ध कर संकलित किया गया। ऋग्वेद में दस मंडल हैं, जिनमें १०२९ सूक्त हैं और कुल १०५८० ऋचाएँ हैं। ये प्रधानत: स्तुति-मंत्र हैं। दूसरे मंडल से सातवें मंडल तक का अंश ऋग्वेद का हृदय माना जाना है। स्तुति-मंत्रों का संकलन होने से आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टि से यह हिंदू-संस्कृति का अद्वितीय ग्रंथ माना जाता है। यद्यपि इस ग्रंथ में प्रत्यक्ष रूप से ऐतिहासिक घटनाओं अथवा सामाजिक एवं राजनीतिक दशा का वर्णन नहीं है, तथापि इसके अध्ययन से पर्याप्त मात्रा में ऐसी सामग्री हमें उपलब्ध हो जाती है, जिसके आधार पर ऋग्वैदिक सभ्यता का इतिहास लिखा गया है।

प्रत्येक वेद के तीन प्रमुख भाग हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक अथवा उपनिषद्। संहिता का अर्थ है —संग्रह। संहिताओं में विविध देवताओं की स्तुति में गायी जाने वाली ऋचाएँ हैं। ऋग्वेद-संहिता की यह विशिष्टता है कि इसमें केवल पूजा एवं प्रशस्ति के मंत्र ही नहीं, वरन् उच्चकोटि की कविता भी पायी जाती है।

ब्राह्मण ग्रंथों में संहिता की ऋचाओं की व्याख्या शास्त्रोक्त ढंग से की गयी है। ये ग्रंथ गद्य में लिखे गये हैं तथा यज्ञ कराने वालों के निर्देशन के लिये इनमें कर्मकांड एवं अनुष्ठानों का विशद वर्णन है।

ब्राह्मण-ग्रंथों के अंतिम भाग को आरण्यक कहा जाता है। इसमें कर्मकांड, अनुष्ठान एवं दार्शनिक सिद्धांतों के रहस्य की व्याख्या रूपकों के सहारे की गई है। भाषा एवं शैली में ये ब्राह्मण-ग्रंथों से मिलते-जुलते हैं। प्राचीन काल में इन्हें अत्यंत पवित्र माना जाता था। इनका पठन-पाठन अरण्य अथवा वन के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर वर्जित था। उपनिषद् को परम गोपनीय आध्यात्मिक सिद्धांतों का संग्रह माना जाता है। ये या तो आरण्यकों से मिलते हुए हैं अथवा उनके परिशिष्ट हैं।

ऋग्वैदिक काल की सभ्यता का हमारा ज्ञान ऋग्वेद से संबद्ध संहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यक पर आधारित है। इस साहित्य के अध्ययन से आर्यों के अनार्यों के विरुद्ध अनवरत संघर्ष एवं पारस्परिक संघर्ष का भी ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, जिस युग में ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना हुई, उस काल में युद्ध आर्यों का मुख्य पेशा था। भारत में सर्वप्रथम आर्यों ने सप्तसिंधु अथवा सात नदियों के प्रदेश में निवास किया तथा यहीं पर ऋग्वेद की रचना हुई। मोटे तौर पर सप्तसिंधु का प्रदेश अफगानिस्तान से आधुनिक हरियाणाप्रदेश तक फैला हुआ था। ऋग्वेद के अध्ययन से जो भौगोलिक सामग्री प्राप्त होती है, उससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। ऋग्वेद में जिन नदियों के नाम बार-बार आते हैं, वे इसी प्रदेश में प्रवाहित होती हैं। उदाहरण के लिए कुभु (काबुल), सुवास्तु (स्वात), कुमु (कुर्रम) और गोमती (गोमल)—जो अफगानिस्तान में प्रवाहित होती हैं। इसी प्रकार सरस्वती, सिंधुनद और पंजाब की पांचों नदियों का बार-बार उल्लेख ऋग्वेद में होता है। ये नदियाँ हैं—वितस्ता अर्थात् झेलम, असिक्नी अर्थात् चिनाव, परुष्णी अर्थात् रावी, विपाशा अर्थात् व्यास तथा शतुद्रि अर्थात् सतलज। इन्हीं सातों नदियों के कारण इस प्रदेश को सप्तसिंधु की संज्ञा प्राप्त हुई। यह ध्यान देने की बात है कि ऋग्वेद में गंगा का उल्लेख केवल एक बार तथा यमुना का उल्लेख केवल तीन बार हुआ है। पहाड़ों में हिमवंत का उल्लेख है, पर विंध्याचल, सतपुरा, अरावल्ली आदि का उल्लेख नहीं है। इस भौगोलिक सामग्री से यही सिद्ध होता है कि ऋग्वेद के रचनाकाल में आर्यों का निवासस्थान अफगानिस्तान से हरियाणा तक सीमित था।

भारत में आर्यों का प्रसार एक भयानक संघर्ष का इतिहास है। ऋग्वेद में आर्यों के पारस्परिक तथा अनार्यों के साथ निरतर संघर्ष की झाँकी मिलती है। आर्यों को अपने प्रसारकाल में यहाँ के द्रविड़ आदि निवासियों से भयानक संघर्ष करना पड़ा। द्रविड़ लोगों ने आर्यों के प्रसार को रोकने के लिए तथा अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिए आक्रमणकारी आर्यों का डट कर मुकाबला किया। संभवतः, यह सघर्ष कई सौ वर्षों तक चलता रहा। यह संघर्ष केवल दो जातियों के बीच नहीं था, वरन् दो सभ्यताओं एवं दो जीवन-पद्धतियों के बीच था। आर्य अपनी सभ्यता

एवं संस्कृति का प्रसार करने के लिए निरंतर पूर्व एवं दक्षिण की ओर बढ़ते जा रहे थे। अंत में, अपनी कुशल रणनीति, शारीरिक बल एवं उत्साह तथा अश्वारोही सेना की प्रचुरता से आर्यों ने अनार्यों को पराजित किया। पराजित अनार्यों को उन्होंने दास-वर्ण के रूप में अपनी सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया। इन्हीं दासों की संतान को वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत 'शूद्र' की संज्ञा प्राप्त हुई। पर, अनार्यों में बहुत बड़ी संख्या में पराजित होने वाले जंगलों और पहाड़ों में भाग गये, जहाँ वे लुक-छिप कर बहुत दिनों तक आर्यों से संघर्ष करते रहे। अंत में आर्यों की शक्ति से पराभूत होकर ये सदा के लिए वन्य तथा पर्वतीय प्रदेशों में बस गये। इन्हीं की संतान को आजकल 'आदिवासी' अथवा 'अनुसूचित जनजाति' कहा जाता है।

ऋग्वेद के अध्ययन से आर्यों एवं अनार्यों के शारीरिक भेद और सांस्कृतिक विभिन्नता का भी ज्ञान प्राप्त होता है। आर्यों ने ऋग्वेद के श्लोकों में अनार्यों की शारीरिक बनावट, रूप-रंग तथा पूजा-पद्धति की खिल्ली उड़ाई है। आर्यों का रंग गोरा, कद लंबा, नाक ऊँची तथा चेहरा सुंदर होता था। अनार्यों का रंग काला, नाक चिपटी, कद नाटा तथा सिर छोटा होता था। दोनों के धार्मिक विश्वास एवं पूजा-पद्धति में भी गहरा भेद था। आर्य सूर्य, चंद्र, अग्नि, उषा, इंद्र, वरुण आदि देवी-देवताओं की पूजा मंत्र एवं यज्ञ के सहारे करते थे। वे मूर्त्ति-पूजा से दूर रहते थे। अनार्य लिंग, योनि आदि की पूजा करते थे। इसी कारण आर्यों ने उनकी पूजा-पद्धति पर उपहास करते हुए अनार्यों को देवताओं को अपवित्र करने वाला (देवपीयु), देवताविहीन (अदेवयुः), लिंगपूजक (शिश्नेदेवाः), यज्ञ न करने वाला (अयज्वन्) तथा अन्य प्रकार की धार्मिक पद्धति अपनाने वाला (अन्यव्रताः) आदि नामों से संबोधित किया। उनकी चिपटी नाक पर व्यंग्य करते हुए उन्हें नाक-रहित (अनासः) कहा। अनार्यों की भाषा को समझना आर्यों के लिए कठिन था, अतः उनकी बोली का उपहास करते हुए उनको मृध्रावाक् अर्थात् न समझी जाने वाली भाषा को बोलने वाला कहा। सामूहिक रूप से आर्यों ने अनार्यों को 'दस्यु' अथवा 'दास' के नाम से पुकारा।

ऋग्वेद में कुछ अनार्य जातियों के नाम तथा उनके सरदारों के नाम भी उल्लिखित हैं। उदाहरणार्थ, सिम्यु, पिशाच, किकात आदि उनकी जातियाँ थीं तथा पिप्रू, धुनि, चुमरि, शंवर आदि उनके नेता थे। वे लोग नगरों में दुर्ग बना कर रहते थे। संभवतः, वे लोग आर्यों से अधिक शांतिप्रिय थे तथा भारत की जलवायु ने उन्हें विलासी और आलसी बना दिया था। वे सभ्य एवं सुखी थे, पर उनकी सैनिक पद्धति रणनीति एवं अस्त्र-शस्त्र आर्यों की अपेक्षा निम्नकोटि के थे। अतः, यद्यपि अनार्यों ने तीर-धनुष के द्वारा जी-जान लगाकर आर्यों का मुकाबला किया, पर वे आर्यों की अश्वारोही सेना से पराजित होते गये तथा एक-एक करके उसके दुर्ग एवं पुर ध्वस्त

होते गये। संभवतः यही कारण है कि ऋग्वेद के विख्यात देवता इंद्र को 'पुरंदर', अर्थात् नगरों का दलन करने वाला कहा गया। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में इंद्र आदि देवताओं से शत्रुओं के साथ संघर्ष में सहायता माँगी गई है। निस्संदेह, भारत-भूमि के विशाल भू-भाग पर अनार्यों का विनाश कर आर्य अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की ध्वजा फहराने में सफल रहे। साथ ही, हम देख चुके हैं कि जिन अनार्यों ने उनके आगे आत्म-समर्पण किया, उन्हें इन लोगों ने दास-वर्ण अथवा शूद्र-वर्ण के रूप में अपनी सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया।

ऋग्वेद में आर्यों के आपसी संघर्ष की झाँकी भी मिलती है। आर्यों में अनेक जन अथवा कबीले थे, जो कृषि-योग्य भूमि अथवा शक्ति-विस्तार के लिए आपस में भी युद्ध करते रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों के सभी कबीलों ने एक साथ भारत में प्रवेश नहीं किया। कुछ कबीले सैकड़ों वर्ष बाद तक आते रहे। अतः, यहाँ आने पर बसने योग्य एवं कृषि-योग्य भूमि के लिए संघर्ष होता था। ऋग्वेद में आर्यों की प्रमुख जातियों का उल्लेख 'पंचजनाः' के रूप में किया गया है। आर्यों के ये प्रमुख जन या कबीले थे अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वसु और पुरु। किंतु इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, शृंजय तथा क्रिवि आदि गौण जन भी थे। इन जातियों के एक प्रसिद्ध युद्ध का वर्णन ऋग्वेद में है, जिसे 'दस राजाओं का युद्ध' कहा जाता है। इस युद्ध में भरतवंश अथवा भरत जन के राजा सुदास ने परुष्णी अथवा रावी नदी के तट पर दस राजाओं के संघ को पराजित किया था। इस संघ का नेतृत्व सुदास का पदच्युत पुरोहित विश्वामित्र कर रहा था। इस विजय के पश्चात् आर्य जनों पर सुदास का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस विजय का अभिनंदन सुदास के पुरोहित वसिष्ठ ने ऋग्वेद में एक ऋचा के द्वारा किया है। इस युद्ध के शीघ्र पश्चात् भरतवंशी सुदास ने यमुना के तट पर अनार्य नरेशों के एक संघ को भी पराजित किया था। इस प्रकार के युद्ध आर्य जनों में भी शक्ति-विस्तार की दृष्टि से होते रहते थे। संभवतः, साम्राज्यवाद की भावना भी उन्मुख होने लगी थी। सुदास को साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का राजा माना जाता है।

राजनीतिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल में राजनीतिक व्यवस्था की आधारशिला पितृ-सत्तात्मक परिवार था, जिसे 'गृह' या 'कुल' कहा जाता था। इससे बड़ी इकाई कई कुलों से बना गोत्र था। समान गोत्रों का समूह, जो एक जगह बस गया था, 'ग्राम' कहा जाता था। ग्रामों के समुदाय को 'विश्' कहते थे तथा विशों के समूह को 'जन' कहते थे। जन का प्रधान 'राजा' या 'गोप' कहा जाता था। देश के लिए राष्ट्र का प्रयोग किया गया है। ग्राम की शासन-व्यवस्था के अध्यक्ष को 'ग्रामणी' तथा 'विश्' के अध्यक्ष को

'विशपति' कहा जाता था। संभवतः, एक विश एक थाने या तहसील के बराबर होता था तथा एक जन एक जिले के बराबर।

ऋग्वैदिक काल के अधिकांश राज्य छोटे-छोटे थे, पर छोटे राज्यों के बड़े राज्यों में विलीन होने की प्रवृत्ति का प्रारंभ हो गया था। साम्राज्य की स्थापना एवं उसके विस्तार की भावनाएँ भी इस युग में क्रियाशील हो गई थीं। कुछ राजाओं को 'सम्राट्' एवं 'संपूर्ण भुवन का राजा' (विश्वस्य भुवनस्य राजा) की उपाधियाँ दी गई है। इन उपाधियों से साम्राज्यवाद की भावना के प्रादुर्भाव का प्रमाण मिलता है।

शासन-प्रणाली का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। ऋग्वेद में 'राजन्' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। साधारणतया राजा का पद वंशानुगत था, पर राजाओं का जनता द्वारा निर्वाचन भी होता था। राजा का स्थान सम्मानित एवं श्रेष्ठ था। राजा प्रजारंजन एवं लोकहित के आदर्श से अनुप्राणित था। अपने राज्याभिषेक के समय राजा प्रजा की रक्षा तथा भलाई करने की शपथ लेता था। चूँकि राजा प्रजा की रक्षा बाह्य एवं आभ्यंतर शत्रुओं से करता था, इसीलिए प्रजा उसे कर देती थी। यदि राजा राज्याभिषेक के समय की गई प्रतिज्ञाओं का पालन नहीं करे, तो प्रजा को यह अधिकार था कि वह राजा को कर देना बंद कर दे। तात्पर्य यह कि राजा की शक्ति प्रजा के समर्थन पर आधारित थी, किसी दैवी अधिकार पर नहीं। राजा के कर्त्तव्य तीन प्रकार के थे--सैनिक, शासन-संबंधी तथा न्याय-संबंधी। युद्ध के समय राजा सेना का नेतृत्व करता था तथा शांति के समय सेना के संगठन में अभिरुचि लेता था। शासन-सत्ता उसी के हाथों में केंद्रीभूत थी। सभा में बैठ कर वह न्यायाधीश का भी काम करता था।

शासन-कार्य में राजा की सहायता के लिए तथा राजा की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाने के लिए आर्य जाति ने 'सभा' एवं 'समिति' नामक संस्थाएँ बनायी थीं। सभा के सदस्य जनता के प्रतिनिधि तथा समाज के गण्यमान्य तथा अनुभवी व्यक्ति हुआ करते थे। समिति पूरे विश या प्रजा की संस्था थी, जहाँ सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक तथा सामाजिक प्रश्नों पर विचार होता था। सभा समिति से छोटी संस्था थी, जिसमें राजा के विशों में से चुने हुए परामर्शदाता होते थे। समिति में राजा का चुनाव होता था। राजा भी इसके अधिवेशनों में जाता था। समिति के सभापति को 'ईशान' कहा जाता था। समिति की कार्यवाही को सुचारु रूप से चलाने के लिए विनय एवं अनुशासन के नियम बने हुए थे। सभा के अध्यक्ष को 'सभापति' कहते थे। इन दोनों संस्थाओं का प्रारंभ में राजा के ऊपर बड़ा नियंत्रण था, पर ज्यों-ज्यों राजा के हाथ में शक्ति केंद्रीभूत होने लगी, त्यों-त्यों इनका महत्त्व घटता गया। महाभारतकाल में समिति राजा की परामर्शदातृ संस्था के रूप में रह गई थी।

राज्य-कर्मचारी

ऋग्वेद से राजा की सहायता करने वाले पदाधिकारियों का ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे पदाधिकारियों में सबसे पहले पुरोहित का नाम आता है। वह सबसे प्रमुख तथा प्रभावशाली पदाधिकारी था, जो युद्ध एवं शांति दोनों अवस्थाओं में राजा का परामर्शदाता एवं हितैषी था। वह सदैव राजा के मित्र एवं पथ-प्रदर्शक की भाँति राजा के साथ रहता था। राज्य एवं राजा की समृद्धि और कल्याण के लिए यज्ञ करता था तथा राजा के धार्मिक कृत्यों को संपन्न करता था। युद्ध के समय वह मंत्रों एवं ऋचाओं द्वारा देवताओं से राजा की विजय की प्रार्थना करता तथा सैनिकों का उत्साहवर्द्धन भी करता था। विजय के बाद भी ऋचाओं तथा मंत्रों द्वारा दैवी शक्तियों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना पुरोहित का ही काम था। आवश्यकता पड़ने पर वह स्वयं भी युद्ध में भाग लेता था। इस प्रकार, पुरोहित का पद राजनीति एवं धर्म दोनों में ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा उत्तरदायित्व से भरा था। दूसरा प्रमुख पदाधिकारी सेनानी था, जिसे हम 'सेनापति' कह सकते हैं। तीसरा पदाधिकारी ग्रामणी था, जो गाँव का मुखिया होने के कारण महत्त्वपूर्ण अधिकारी था। ग्राम-शासन का संपूर्ण भार उसी पर था। वह सैनिक, आर्थिक एवं सामाजिक मामलों में गाँव का नेता था। वह गाँव में शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित रखता था तथा ग्रामवासियों की आवश्यकताओं के विषय में राजदरबार में बात करके गाँव की समस्याओं का हल ढूँढ़ निकालता था। अतः, वह पूरे अर्थ में गाँव की जनता का प्रतिनिधि एवं प्रशासकीय अधिकारी था। इन मुख्य पदाधिकारियों के अतिरिक्त ऋग्वेद में 'स्पश' अर्थात् गुप्तचर और 'दूत' नामक कर्मचारियों का भी उल्लेख मिलता है। गुप्तचर प्रजा की गतिविधि देख कर राजा को प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना से अवगत कराते थे। ये व्यवहारकुशल और राजभक्त होते थे। इनके अतिरिक्त 'पुरुष' नामक कर्मचारी भी होते थे, जो मुख्यतः दुर्गपति एवं सैनिक पदाधिकारी थे। इन सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति राजा स्वयं करता था तथा इन्हें पद से अलग भी कर सकता था।

सामाजिक दशा

आर्यों का सामाजिक जीवन स्वस्थ एवं विकसित था। सामाजिक जीवन की आधारशिला परिवार था। संयुक्त परिवार की प्रथा लोकप्रिय थी। परिवार में पति और पत्नी के अतिरिक्त माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री सभी एक साथ रहते थे। नव-विवाहिता वधू ससुराल में आने पर अपने देवर, ननद तथा पति के माता-पिता के प्रति प्रेम एवं आदर का भाव रखते हुए गृह की स्वामिनी बन कर आती थी। एक परिवार के लोग एक ही घर में रहते थे। परिवार का मुखिया अक्सर पिता होता था, जिसके पुत्र-पौत्रों से घर भरा रहता था। परिवार के मुखिया

के नेतृत्व एवं आदेश से पारिवारिक कार्यों का संपादन होता था। उसके आदेशों का उल्लंघन साधारणतया परिवार का कोई सदस्य नहीं करता था। आदेशों का उल्लंघन करने पर वह दंडित भी कर सकता था। परिवार का अध्यक्ष परिवार के सभी सदस्यों की आवश्यकताओं का ध्यान रखता तथा सबके प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार करता था। अपनी पत्नी के साथ वह परिवार के सभी धार्मिक कृत्यों का संपादन करता था।

पत्नियों का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। उन्हें गृहिणी, गृहस्वामिनी एवं सहधर्मिणी की संज्ञा दी गई थी। वास्तव में पत्नी पति के साथ गृह की शासिका होती थी। वैदिक काल में संतानोत्पत्ति को आध्यात्मिक, धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टि से आवश्यक माना जाता था। पुत्रोत्पति पर परिवार में खुशी मनायी जाती थी, पर पुत्री के जन्म के अवसर पर उतना हर्ष नहीं व्यक्त किया जाता था। लेकिन पुत्र-पुत्री दोनों ही संतानें समान रूप से देखी जाती थीं तथा उनके पालन-पोषण एवं शिक्षा का समान प्रबंध किया जाता था। पुत्र की भाँति पुत्री का भी उपनयन-संस्कार होता था और अध्ययन-काल में उन्हें ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था। लड़कियों को विवाह के समय पिता की संपत्ति का कुछ भाग मिलता था। आजीवन कुमारी लड़कियाँ पिता के घर रहती थीं, जहाँ उनका भरण- पोषण होता था।

ऋग्वेद से स्त्रियों की ऊँची शिक्षा के प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद के मंत्रों की रचना करने वाली कई विदुषी नारियाँ थीं, जिनके नाम हैं – विश्ववारा, घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, सिकता, निवावरी आदि। ये विदुषी नारियाँ ऋषियों की भाँति सम्मानित थीं। कुछ योद्धा स्त्रियों के भी उदाहरण मिलते हैं। इस युग में स्त्रियों के विकास के लिए उपयुक्त एवं उन्मुक्त वातावरण था। सती-प्रथा और पर्दा-प्रथा जैसी कुरीतियों के नहीं होने से स्त्री-जाति का विकास कुंठित नहीं होता था तथा उनको स्वाभाविक विकास के लिए पूर्ण अवसर प्राप्त होता था। समारोहों एवं धार्मिक उत्सवों के समय स्त्रियाँ वस्त्र, आभूषण एवं श्रृंगार से सुसज्जित होकर पुरुषों के साथ भाग लेतीं तथा खुल कर मिलती थीं। उनके नैतिक जीवन का स्तर काफी ऊँचा था।

वर-कन्या दोनों के विवाह वयस्कावस्था में संपन्न होते थे। बाल-विवाह की कुप्रथा नहीं थी। कन्याओं का विवाह पूर्ण यौवन की प्राप्ति के बाद ही होता था। वर और कन्या यज्ञों, मेलों तथा उत्सवों के अवसर पर एक दूसरे को देखकर पसंदकर लेते थे। वर-कन्या के परस्पर चुनाव के बाद अभिभावकों की स्वीकृति ले ली जाती थी। विवाह-संस्कार कन्या के माता-पिता के घर संपन्न होता था। संस्कार की समाप्ति के बाद काफी धूम-धाम से प्रीतिभोज एवं उत्सव होता था। दहेज की प्रथा नहीं थी; परंतु कन्या की विदाई के अवसर पर उपहार और द्रव्य दिये जाते थे।

साधारणतया समाज में एक स्त्री से विवाह करने की प्रथा प्रचलित थी, पर संपन्न व्यक्तियों एवं राजाओं में बहुत-सी पत्नियाँ रखने की प्रथा भी प्रचलित थी। बहुत-सी स्त्रियों से विवाह करने वाले व्यक्ति का जीवन दुःख एवं अशांति से भरा माना जाता था। विधवा-विवाह, नियोग एवं अंतरजातीय विवाह प्रचलित थे। आर्य एवं दास-वर्ण में विवाह वर्जित थे, पर संभव थे। निकट-संबंधियों, जैसे भाई-बहन के विवाह नहीं होते थे। अनियंत्रित यौन-संबंध के उदाहरण भी नहीं मिलते हैं।

मनोविनोद

आर्यों का जीवन शुष्क तथा नीरस नहीं, वरन् विनोदप्रिय एवं सरस था। वे जीवन को भार नहीं मानते थे, बल्कि उसमें पूरा रस लेकर उसे सुखी एवं आनंदमय बनाना चाहते थे। इस उद्देश्य से वे विभिन्न प्रकार के मनोरंजन, जैसे घुड़दौड़, जुआ, संगीत एवं नृत्य में अभिरुचि लेते थे। वे घोड़े पालते थे तथा घुड़-दौड़ और रथ-दौड़ के द्वारा मनबहलाव करते थे। वेदों में जुआ खेलने का वर्णन है तथा इसकी निंदा भी की गई है। ऐसा मालूम होता है कि जुआ खेलना इस युग में एक लोकप्रिय मनोविनोद था। कभी-कभी जुआड़ी लोग जुए में पत्नी को भी दाँव पर लगा देते थे। आखेट, मल्लयुद्ध तथा मुष्टियुद्ध भी उनके मुख्य मनोरंजन थे। संगीत एवं नृत्य से उन्हें विशेष प्रेम था। उनकी स्त्रियाँ वीणा, करताल और झाँझ की लय पर गाने एवं नृत्य करने में निपुण थीं। स्त्री और पुरुष दोनों ही नृत्य में भाग लेते थे। नृत्य, गान एवं वाद्ययंत्रों से वे अपना मनोरंजन करते थे। उनके वाद्ययंत्रों में वीणा, बाँसुरी, दुंदुभी, शंख झाँझ, मृदंग ,नाडि आदि मुख्य थे। मेलों और त्योहारों में युवक-युवतियाँ खुल कर भाग लेती थीं।

वस्त्र, आभूषण एवं शृंगार

आर्यों की वेश-भूषा सीधी-सादी थी। वे अपने शरीर को दो-तीन प्रकार के वस्त्रों से ढकते थे। इनमें पहला नीवी अथवा अधोवस्त्र था, जो धोती या साड़ी की तरह धारण किया जाता था। दूसरा उत्तरीय अथवा अधिवास था, जो चादर या ओढ़नी से मिलता-जुलता था। तीसरा पेशस् या वास, जो काम किया हुआ अँगरखा होता था तथा स्त्रियों के लिए चोली होती थी। यह पोशाक का मुख्य वस्त्र था। आर्य लोग वस्त्र काटने और सीने की कला से परिचित थे। वस्त्रों पर सोने के तारों से सुंदर कशीदे भी काढ़े जाते थे। सूती, ऊनी और रेशमी तीनों प्रकार के कपड़े धारण किये जाते थे। कपड़े रँगे भी जाते थे। मृगचर्म का भी व्यवहार वस्त्र के रूप में किया जाता था। आभूषणों का शौक स्त्री और पुरुष दोनों को ही था।

उत्सवों के अवसर पर आभूषणों एवं फूलमालाओं को पहनने की प्रथा थी। कर्णफूल, कंठहार, कंगन, कड़े, गजरे, नूपुर, मुद्रिका, भुजबंध आदि आभूषण लोकप्रिय थे। स्त्री-पुरुष, दोनों ही लंबे बाल रखते थे तथा तेल डाल कर कंघी से केश-विन्यास करते थे। स्त्रियाँ केश-विन्यास, शृंगार तथा अलंकरण में निपुण होती थीं और अपने लंबे बालों को गूँथ कर चौड़ी वेणियाँ बनाती थीं। पुरुष प्रायः दाढ़ी-मूँछ भी रखते थे।

खान-पान

पशु-पालन एवं कृषि आर्यों की जीविका के मुख्य साधन थे। अतः, आर्यों का भोजन सामिष था। भोजन में अनाज, साग-सब्जी, दूध-दही, घी-मांस एवं फल शामिल थे। बछड़ा, बछिया, भेड़, बकरी आदि जानवरों का मांस खाया जाता था। गाय को वेदों में 'अघ्न्या' अर्थात् न मारने योग्य कहा गया है, पर विशेष अवसरों पर अतिथि-सत्कार के उद्देश्य से मांस के लिए उसका भी वध किया जाता था। धीरे-धीरे गाय की हत्या बंद होती गई तथा उसका दान किया जाने लगा। संभवतः आर्थिक दृष्टि से गाय की उपयोगिता के कारण ऐसा परिवर्त्तन हो गया।

जल और दूध के साथ-साथ सोमरस तथा सुरापान का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में मिलता है। यज्ञ और धार्मिक अवसरों पर सोमरस का पान किया जाता था। ऋग्वेद की कई ऋचाओं में सोमरस की प्रशंसा की गई है। सोमरस को प्रेरणादायक एवं स्फूर्त्तिदायक पेय माना जाता था जो इंद्र-जैसे देवता को अपने शत्रुओं पर विजय पाने के लिए स्फूर्त्ति प्रदान करता था। सोमरस सोमलता को पीस कर बनाया जाता था। आजकल सोमलता को पहचानना असंभव है। कुछ लोग इसे भाँग कहते हैं, पर इस पर निर्णायक ढंग से मत व्यक्त करना संभव नहीं है। साधारण अवसरों पर विलासी व्यक्ति सुरापान करते थे। सुरा अथवा आसवपान की मादकता के कारण ऋग्वेद में निंदा की गई है।

नैतिकता

ऋग्वेद में नैतिकता पर बहुत जोर दिया गया है। साधारणतया आर्यों का जीवन पवित्र एवं सदाचारपूर्ण था। चोरी, डकैती तथा यौन-अपराधों की संख्या नगण्य थी। समाज में अधिकांश लोग सुखी एवं संतोषपूर्ण जीवन बिताते थे। क्रोध, जुआ तथा सुरापान को पाप में प्रवृत्त करने वाला कर्म माना जाता था। सत्य-भाषण एवं अतिथि-सत्कार को पवित्र कर्म माना जाता था।

आर्थिक-जीवन

कृषि एवं पशुपालन आर्थिक जीवन के दो मुख्य पहलू थे। आर्यों ने कृषि-कर्म में पर्याप्त प्रगति कर ली थी। खेती की सभी प्रक्रियाओं, जैसे जुताई, बुआई,

सिंचाई, कटाई, दँवाई से वे लोग भलीभाँति परिचित थे। दो बैलों से खींचे जाने वाले हल से खेत जोते जाते थे। हल में धातु का फल होता था। कृषि-योग्य भूमि को 'उर्वरा' या 'क्षेत्र' कहा जाता था। उपज बढ़ाने के लिए खाद का प्रयोग होता था। हल जोतने पर भूमि में जो लकीरें पड़ती थीं, उन्हें 'सीता' कहते थे। खेतों की सिंचाई कुएँ, झील, नदी, नहर आदि से भी होती थी। ऋग्वेद की ऋचाओं में प्रचुर अग्नि, वर्षा तथा पशुहित के लिए देवताओं से प्रार्थना की गई है। कृषक वर्षा के जल पर भी निर्भर रहते थे। अनाजों में जौ, गेहूँ, मसूर, उड़द, तिल और धान आदि की खेती की जाती थी।

कृषि के साथ-साथ पशुपालन उनका मुख्य धंधा था। पशु आर्यों की संपत्ति थे तथा उनकी वृद्धि के लिए वे देवताओं से प्रार्थना करते थे। पशु-संपत्ति अथवा गोधन उनके आर्थिक जीवन का केंद्र था। किसी परिवार की संपन्नता का मानदंड उसका गोधन था। लोगों के पास हजारों तथा लाखों गाय, बैल और अन्य पशु रहते थे। गायों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। गायों का महत्त्व केवल धार्मिक जीवन में ही नहीं, वरन् आर्थिक क्रिया-कलाप में भी था। गायें क्रय-विक्रय तथा आर्थिक विनिमय का माध्यम थीं। गाय का प्रयोग मुद्रा की भाँति होता था। गाय के बाद बैल एवं घोड़े भी अत्यंत उपयोगी और आवश्यक पशु माने जाते थे। पशुओं पर अपना स्वामित्व जताने के लिए उनके कान रंग दिये जाते थे। आर्य गधे, खच्चर, कुत्ते, बकरी और भेड़ें भी पालते थे। गांधार देश की भेड़ें प्रसिद्ध थीं। पशुधन को भूमि से अधिक मूल्यवान माना जाता था। इस युग में आखेट जीविका का साधन नहीं था, पर मांस, चमड़े तथा मनोविनोद के हेतु आर्य लोग शिकार करते थे।

आर्थिक जीवन के विकास के साथ-साथ अन्य उद्योग-धंधों का भी विकास हुआ। ऋग्वेद में बढ़ई, सोनार, चमार, लोहार, जुलाहा, वैद्य और पत्थर काटने वालों का उल्लेख मिलता है। बढ़ई का पेशा समाज में अत्यंत प्रतिष्ठित था। रथों के निर्माण में बढ़ई की कार्य-कुशलता की तुलना मंत्रद्रष्टा ऋषियों की मंत्र-रचना की दक्षता से की गई है।

व्यापार, अधिकतर विनिमय से होता था। सिक्के का प्रचार कम था। अतः गाय विनिमय का माध्यम थी। व्यापार की मुख्य वस्तुएँ कपड़ा, चादरें तथा खाल थीं। व्यापार स्थल एवं जल दोनों मार्गों से होता था। ऋग्वेद में 'समुद्र' शब्द का उल्लेख कई बार हुआ है। संभवतः आर्य समुद्र-मार्ग से भी कुछ देशों से व्यापार करते थे। ऋग्वेद में समुद्र की लहरों पर नौका-वाहन का वर्णन है। मोल-भाव, सिक्के, ब्याज आदि की चर्चा वैदिक साहित्य में है। स्थल-मार्ग से बैलगाड़ी तथा घोड़ों से खींचे जाने वाले रथों में माल एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाया जाता था।

'निष्क' नामक सोने का सिक्का आभूषण के रूप में धारण किया जाता था। उसका विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग नहीं होता था। ऋण चुकाना धार्मिक दृष्टि से आवश्यक माना जाता था।

धार्मिक जीवन

ऋग्वेद आर्य-धर्म एवं दर्शन की सबसे बहुमूल्य एवं अक्षय निधि है। इसके धार्मिक सिद्धांतों एवं आदर्शों को समझे विना भारतीय धर्म के विकास की प्रक्रिया को समझना कठिन है। वस्तुतः ऋग्वैदिक धर्म भारतीय धर्म की आधारशिला है। भारतीय वातावरण में ऋग्वैदिक काल आर्य-जाति की शैशवावस्था थी, जब उन लोगों ने प्रकृति की विभिन्न शक्तियों एवं विभूतियों में देवत्व का दर्शन किया तथा उनकी प्रार्थना में सुंदर मंत्रों की रचना की। क्रमशः इन प्राकृतिक विभूतियों की पूजा एवं प्रार्थना के माध्यम से आर्यों ने उस परम शक्ति का भी ज्ञान प्राप्त किया, जिसके कारण इस विश्व का सृजन, पोषण एवं विनाश होता है तथा जो इस ब्रह्मांड का एकमात्र सत्य है। उस जगन्नियंता की विभूति का दर्शन आर्य ऋषियों ने विभिन्न रूपों में किया। यह मानना नितांत भ्रामक है कि ऋग्वेद का धर्म केवल प्राकृतिक शक्तियों की आराधना-मात्र है, वास्तव में ऋग्वेद में गंभीर तत्त्वज्ञान तथा आध्यात्मिक चिंतन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है।

आर्यों का धर्म सरल, पर सुसंस्कृत एवं परिष्कृत था। उनका धर्म एक विकसित मस्तिष्क की उपज था, अतः वह मनुष्य की आदिम अवस्था से काफी आगे बढ़ चुका था। वह अंधविश्वासों, भय, जादू-टोना, भूत-प्रेतों की उपासना तथा पत्थर और लकड़ी के कुंदों की पूजा से पूर्णरूपेण मुक्त धर्म था। उन लोगों ने असभ्य अंधविश्वासों से ऊपर उठ कर प्राकृतिक दृश्यों को अनुराग एवं श्रद्धा से देखा तथा उनमें उन्हें दिव्य सत्ता का आभास हुआ। विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देवता के रूप में देख कर उन लोगों ने उनकी प्रार्थना की।

उनके देवताओं को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम—पृथ्वी के देवता, दूसरे—आकाश के देवता तथा तीसरे—अंतरिक्ष के देवता। पार्थिव देवता थे—पृथ्वी, सोम, अग्नि, सरस्वती आदि। आकाश के देवता थे—द्यौस, वरुण, अश्विन, सूर्य, सावित्री, मित्र, पूषन, विष्णु, अदिति, उषा आदि। अंतरिक्ष के देवता थे—इंद्र, वायु, मरुत, पर्जन्य आदि। इन देवताओं के वास्तविक रूप, महत्त्व एवं शक्तियों का विवेचन ऋग्वेद में मिलता है। वरुण सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वशक्तिमान देवता था। वह संसार के नैतिक जीवन का नियामक एवं रक्षक था। इस ब्रह्मांड को नियमित करने वाली नैतिक कल्पना, जिसे वैदिक भाषा में 'ऋत' कहते थे, वरुण द्वारा नियंत्रित थी। ऋत के द्वारा सृष्टि का संचालन होता है, ऐसा माना जाता

देवता का महत्व था। यह वर्षा का अधिपति था तथा आर्यों की राजसत्ता और सैनिक शक्ति का प्रतीक था। सूर्य के विभिन्न रूपों की पूजा आदित्य के रूप में की जाती थी। वह प्रकाशक, पोषक, उत्तेजक एवं विस्तृत मार्ग पर चलने वाला देवता माना जाता था। रुद्र झंझावात और विद्युत् का देवता तथा प्रकृति के संहार एवं सौम्य रूपों का प्रतीक था। उषादेवी अरुणोदय के पहले के प्रकाश की अधिष्ठात्री देवी थी। अग्नि को आहुतियों का स्वामी तथा धर्म का अध्यक्ष माना जाता था। उषा देवी की मनोरम आभा एवं अरुणिमा की सुंदरता से आर्य अभिभूत थे तथा इस देवी की स्तुति में उन्होंने कई ऋचाओं की रचना की। श्रद्धा, मन्यु (क्रोध), वाक् आदि उनके कई भावात्मक देवी-देवता भी थे।

धार्मिक क्रिया-कलाप

देवी-देवताओं की स्तुति एवं प्रार्थना के द्वारा आर्य उनकी आराधना करते थे। प्रत्येक देवी-देवता के लिए भिन्न-भिन्न प्रार्थनाएँ थीं, जिनको गाकर उनकी स्तुति की जाती थी। प्रार्थना के पश्चात् आराधना-विधि में यज्ञों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यज्ञ में मंत्र एवं स्तुति के साथ-साथ भोज्य पदार्थ अग्नि को वृक्षों के नीचे अथवा खुले स्थान पर अर्पित किये जाते थे। आर्यों का विश्वास था कि यज्ञों की प्रज्वलित अग्निशिखा और धूम्रराशि के माध्यम से अर्पित वस्तुएँ देवताओं तक पहुँच जाती हैं। यज्ञ की विधि प्रारंभ में सरल, पर धीरे-धीरे जटिल और दुरूह होने लगी। मूर्तिपूजा एवं मंदिरों का इस युग के धर्म में कोई स्थान नहीं था। अनार्यों में प्रचलित लिंगपूजा को आर्य हेय दृष्टि से देखते थे। पितरों की पूजा में भी आर्यों का विश्वास था। पितरों को भोज्य सामग्री श्रद्धापूर्वक अर्पित की जाती थी। देवताओं की भाँति पितरों की भी स्तुति की जाती थी और उनसे धन एवं शक्ति की प्रार्थना की जाती थी। मृतकों की अन्त्येष्टि क्रिया विधिवत की जाती थी। संभवतः पुनर्जन्म की कल्पना ने स्पष्ट रूप नहीं धारण किया था, पर लोग ऐसा मानते थे कि मरने के बाद भी जीवन का अंत नहीं होता, वरन् मनुष्य में एक ऐसा तत्त्व है, जो अमर है। स्वर्ग और नरक का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में मिलता है।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से उस चिंतन-प्रणाली का प्रमाण मिलता है, जिसकी चरम परिणति एकेश्वरवाद की आध्यात्मिक कल्पना में होती है। एक सार्वभौम दैवी सत्ता, एक परम तत्त्व तथा एकेश्वरवाद की भावना की स्पष्ट झाँकी ऋग्वेद के दसवें मंडल की ऋचाओं में मिलती है। आर्य ऋषियों ने इस 'परम सत्ता' को 'सत्य' कहा। ऋग्वेद की एक ऋचा में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सत्य एक है, विप्र अथवा बुद्धिमान पुरुष उनका वर्णन भिन्न-भिन्न रूपों में करते हैं: "एकं सत् विप्राः बहुधावदन्ति।"

वस्तुतः ऋग्वेद में आर्यों के धार्मिक चिंतन के क्रमिक विकास के सभी चरणों की झाँकी मिलती है। इन लोगों ने प्राकृतिक शक्तियों में दिव्य सत्ता का स्पर्श अनुभव कर क्रमशः दिव्य सत्ता एवं परम शक्ति को परख लिया, जो इस ब्रह्मांड का सृजन, संचालन एवं नियंत्रण करती है। अतः, ऋग्वैदिक धर्म एक सतत प्रगतिशील धर्म है, जिसमें प्राकृतिक शक्तियों की आराधना के माध्यम से सूक्ष्म धार्मिक एवं आध्यात्मिक चिंतन का विकास हुआ।

ऋग्वेद का धर्म केवल आराधना एवं आध्यात्मिक चिंतन पर ही आधारित नहीं था, वरन् पूर्णरूपेण सामाजिक न्याय एवं नैतिक आदर्शों से अनुप्राणित था। ऋग्वेद में सामाजिक न्याय, कर्त्तव्य एवं नैतिकता पर पूरा जोर दिया गया है। ऋग्वेद के नैतिक आदर्श व्यापक एवं महान हैं। ऐसे लोगों की कठोर भर्त्सना की गई है, जो अपने घरों में अनाज का भंडार रख कर भूखे और गरीब लोगों को नहीं देते। इसी प्रकार गरीबों, भूखों तथा दुर्वल लोगों की सहायता करने वालों की प्रशंसा की गई है। अतिथि-सत्कार पर बार-बार जोर दिया गया है। जादू-टोना एवं व्यभिचार की घोर निंदा की गई है। देवताओं से असत्यभाषी, चोर और डाकुओं को विनष्ट करने की प्रार्थना की गई है। ऋग्वेद के ऋषियों ने अग्नि देवता से मन को पवित्र विचारों से भरने की प्रार्थना की है तथा वरुण से पापों से मुक्ति पाने की स्तुति की गई है। अतः, हमें ऋग्वैदिक धर्म में आध्यात्मिक चिंतन एवं नैतिक आदर्शों का मणि-कांचन-संयोग दृष्टिगोचर होता है।

उत्तर-वैदिक काल में भारतीय सभ्यता

ऋग्वैदिक काल के अस्त से बौद्ध धर्म के उदय तक के काल को 'उत्तरवैदिक काल' की संज्ञा दी गई है। मोटे तौर पर इस काल को १२०० ई०-पू० से ६०० ई०-पू० तक माना गया है। भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के इतिहास में उत्तर-वैदिक काल अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस युग में भारतीय धर्म एवं दर्शन ने वह रूप धारण कर लिया, जो लगभग आज तक जीवित है। इसी युग में भारतीय समाज, साहित्य एवं सभ्यता ने अपनी वर्त्तमान रूपरेखा धारण की तथा भारतीय संस्कृति के सभी बहुमूल्य तत्त्वों का जन्म एवं विकास हुआ।

भारत में आर्यों का प्रसार

सप्तसिंधु से आगे वढ़ कर आर्यों ने भारतवर्ष के पूरबी एवं दक्षिणी भागों पर विजय प्राप्त की तथा अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार किया। गंगा और यमुना नदियों का प्रदेश इस काल में आर्यों के प्रसार का प्रमुख केंद्र वन गया। गंगा, यमुना तथा सरस्वती नदियों के वीच का भू-भाग 'मध्यदेश' कहा जाने लगा, जो इस था। वरुण व्यापक आकाश एवं जल का भी अधिपति था। वरुण देवता के वाद इंद्र

युग में आर्य सभ्यता एवं संस्कृति का केंद्रबिंदु था। मध्यदेश की तुलना में पंजाब आर्य-संस्कृति के लिए अब गौण प्रदेश हो चला था और वहाँ के निवासियों के रीति-रिवाज अब आर्य-सभ्यता की दृष्टि से हीन माने जाते थे। आर्य-संस्कृति अब गंगा की धारा के साथ पूरब की ओर बढ़ रही थी तथा दक्षिण में भी विंध्य-शृंखला का अतिक्रमण कर अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाती जा रही थी। पूर्व में काशी, कोशल (अवध) तथा विदेह (मिथिला) आर्य-संस्कृति के केंद्र बन गये। विहार के अंग (भागलपुर) तथा मगध का भी उल्लेख इस युग के साहित्य में मिलता है, पर इन प्रदेशों को आर्य-संस्कृति के प्रभाव-क्षेत्र के बाहर माना जाता था। इसी युग में विंध्य पर्वत के दक्षिण तथा गोदावरी नदी के उत्तर में आर्यों ने शक्तिशाली राज्यों की नींव डाली। उत्तर-वैदिक काल के साहित्य में प्रथम बार आंध्रों, बंगाल के पुण्ड्रों, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के शबरों तथा दक्षिण के पुलिंदों का उल्लेख मिलता है। विदर्भ एवं दक्षिणापथ का उल्लेख भी इस युग के साहित्य में आता है। इससे यह स्पष्ट है कि आर्यों को भारत के विभिन्न प्रदेशों तथा विभिन्न जातियों का ज्ञान हो रहा था और ज्ञान, अनुभव एवं शक्ति के आधार पर वे आर्य-संस्कृति के प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करते जा रहे थे।

नवीन राज्यों का प्रादुर्भाव

ऋग्वैदिक काल के छोटे-छोटे राज्यों का विनाश हो चुका था तथा नये और बड़े राज्यों का प्रादुर्भाव हो चुका था। इस युग के प्रमुख राज्य निम्नलिखित थे—

(१) गांधार : यह राज्य पाकिस्तान में सिंधु नदी के दोनों ओर रावलपिंडी और पेशावर तक फैला था।

(२) केकय : यह राज्य गांधार की सीमा से पंजाब में व्यास नदी तक फैला हुआ था।

(३) मद्र : यह राज्य पाकिस्तान में सियालकोट नगर से रावी नदी तक फैला हुआ था।

(४) उशीनगर : यह राज्य हरिद्वार के आसपास के प्रदेश में फैला हुआ था।

(५) मत्स्य : यह राजस्थान के अलवर, भरतपुर और जयपुर जिलों में फैला हुआ था।

(६) कुरु : यह राज्य आधुनिक दिल्ली तथा पार्श्ववर्त्ती हरियाणा प्रदेश में विस्तृत था।

(७) पांचाल : यह राज्य उत्तर प्रदेश के गंगा-यमुना-दोआब में स्थित था। यहाँ के निवासी अपनी शिष्टता, सुंदर संस्कृत भाषा तथा शुद्ध उच्चारण के लिए प्रसिद्ध थे।

(८) कोशल : वर्त्तमान अवध प्रदेश ही 'कोशल' कहा जाता था।

(९) काशी : यह वर्त्तमान वाराणसी के पार्श्ववर्त्ती प्रदेश में स्थित था।

(१०) विदेह : बिहार का मिथिला प्रदेश ही 'विदेह' था। यहाँ के प्रसिद्ध राजा जनक अपने तत्त्वज्ञान तथा दार्शनिकता के लिए विख्यात थे।

काशी, कोशल एवं विदेह आर्य-संस्कृति के नवीन एवं प्रसिद्ध केंद्र बनते जा रहे थे। इन दसों प्रमुख राज्यों के अतिरिक्त कलिंग अर्थात् उड़ीसा, अवन्ति अर्थात् मालवा, अश्मक तथा मूलक राष्ट्रों का उल्लेख भी उत्तर-वैदिक साहित्य में मिलता है। अश्मक राष्ट्र गोदावरी नदी की घाटी में स्थित था तथा इसकी राजधानी पौदन्य थी। मूलक राष्ट्र भी गोदावरी प्रदेश में ही था और उनकी राजधानी प्रतिष्ठान था। विदर्भ अर्थात् बरार का भी उल्लेख मिलता है।

इस युग की राजनीतिक संस्थाएँ

इस युग के राजनीतिक जीवन की जो पहली विशेषता हमें दीख पड़ती है, वह है राजतंत्र की लोकप्रियता तथा राजा की शक्ति का विस्तार। उत्तर-वैदिक काल के साहित्य में बार-बार राजा और राजतंत्र के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि राजतंत्र सर्वमान्य एवं लोकप्रिय हो चला था। राजा का पद वंशानुगत हो गया था। पर, भारत के कुछ भागों में गणराज्य भी विद्यमान थे, जिन्हें 'वैराज्य' कहा जाता था। ऐसे राज्यों में राजा नहीं होता था। इस काल के साहित्य में कहीं-कहीं राजा के निर्वाचन का भी उल्लेख है। लोकहित का ध्यान रख कर सबसे योग्य एवं शक्तिशाली व्यक्ति को राजा के पद पर निर्वाचित किया जाता था। राज्यों के निरंतर विस्तार एवं युद्धों में राजाओं के सफल नेतृत्व से राजा की शक्ति बढ़ती जा रही थी। प्रजा की रक्षा के लिए राजा का अस्तित्व अनिवार्य मान लिया गया था। राजा लोग वाजपेय अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों के माध्यम से अपनी शक्ति का परिचय देते थे। राजसत्ता में वृद्धि के बावजूद यह मानना गलत होगा कि राजा निरंकुश था। उसकी शक्ति पर कई प्रतिबंध लगे हुए थे। विधि-विधान के अनुसार राजा को सदा धर्मानुकूल व्यवहार करना पड़ता था। उसके उत्तराधिकार के ऊपर राष्ट्र के प्रमुख व्यक्तियों का प्रभाव था। अपने राज्याभिषेक के समय उसे धर्माचरण तथा ब्राह्मणों और राज्य के कानूनों के संरक्षण की शपथ लेनी पड़ती थी। राजा को अपने मंत्रियों अथवा पत्नियों से परामर्श कर उनके अनुमोदन एवं सहयोग से शासन करना पड़ता था। इन मंत्रियों की संख्या ग्यारह थी तथा ये राजा की शक्ति का नियंत्रण करते थे। सभा एवं समिति इस युग की भी प्रमुख राजनीतिक संस्थाएँ थीं, जो राजा की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रखती थीं।

राज्य के पदाधिकारी

राज्यों के विस्तार तथा राजा की शक्ति में वृद्धि का यह स्वाभाविक परिणाम

था कि राज्य के पदाधिकारियों की संख्या में भी वृद्धि हो। इस युग के साहित्य में निम्नलिखित पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है—

(१) पुरोहित।

(२) राजन्य : यह राजवंश और शासक वर्ग का प्रतिनिधि था।

(३) महिषी : पटरानी।

(४) वावाता : प्रियरानी।

(५) सूत : वंदी, चारण अथवा राज्य का वृत्तांत रखने वाला भाट।

(६) सेनानी : सेना का प्रधान अधिकारी।

(७) ग्रामणी : गाँवों का सैनिक नेता तथा राजस्व संग्रह करने वाला अधिकारी।

(८) क्षत्रि : राजप्रासादों का निरीक्षक।

(९) संग्रहित्री : कोषाध्यक्ष।

(१०) भागदुघु : राजकर वसूल करने वाला प्रमुख अधिकारी।

(११) अक्षावाप : जुआ-विभाग का अध्यक्ष।

(१२) गो-निकर्त्तन : आखेट-प्रबंधक अथवा वन-निरीक्षक।

(१२) पालागल : दूत या संदेशवाहक।

(१३) रथकार : रथ-निर्माण-विभाग का प्रधान।

(१५) तक्ष : राजबढ़ई।

राज्य-संचालन में ये सभी पदाधिकारी राजा की सहायता करते थे। सीमांत के शासक को 'स्थपति' कहा जाता था। अभी न्यायाधीश के किसी पद का विकास नहीं हुआ था। राजा स्वयं ही न्यायाधीश का कार्य संपन्न करता था। भूमि पर भी राजा का पूर्ण अधिकार था। वह भूमि का कोई भी भाग, जिसे चाहे, दे सकता था। आय का सोलहवाँ भाग राजा को कर के रूप में मिलता था। राजकर अन्न एवं पशुओं के रूप में मिलता था। प्रशासन में ब्राह्मणों को विशेष अधिकार थे। ब्राह्मण राज-पुरोहित तथा धर्माधिष्ठाता होता था। ब्राह्मणों की रक्षा राजा का कर्त्तव्य माना जाता था। इस युग में कई राज्यों की शासन-व्यवस्था बहुत अच्छी थी और उनमें अपराध बहुत कम होते थे। उदाहरण के लिए केकय देश के राजा अश्वपति ने छान्दोग्य उपनिषद् में गर्व के साथ अपने शासन की प्रशंसा की है।

सामाजिक अवस्था

वर्ण-व्यवस्था

ऋग्वैदिक काल में ही वर्ण-व्यवस्था का बीजारोपण हो गया था। आरंभ में 'आर्य-वर्ण' और 'दास-वर्ण' दो ही वर्ण थे। पर, क्रमशः गुण-कर्म पर आधारित चार

वर्ण बन गये, जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा गया। ऋग्वैदिक काल के ये चारों वर्ण जन्म पर आधारित नहीं थे। पठन-पाठन तथा धार्मिक कृत्यों का संपादन करने वाले 'ब्राह्मण' कहे जाते थे। युद्ध एवं रण-कौशल से देश की रक्षा करने वाले 'क्षत्रिय' कहे जाते थे। कृषि-कार्य में रत रहने वाले 'वैश्य' कहे जाते थे तथा पराजित अनार्यों के एक वर्ग को सेवक के रूप में स्वीकार कर 'शूद्र' की संज्ञा दी गई थी। इस प्रकार आर्य-वर्ण एवं अनार्य-वर्ण इन चार वर्णों में ऋग्वैदिक काल में ही विभक्त हो चुके थे। पर, इस व्यवस्था का आधार कर्म था, जन्म नहीं। परंतु उत्तर-वैदिक काल में यह व्यवस्था अधिक स्पष्ट और रूढ़िवादी हो गई तथा वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था का रूप धारण करने लगी। विभिन्न वर्णों के बीच पृथकता की रेखा अधिक गहरी और स्पष्ट होने लगी। शास्त्रकारों ने प्रत्येक वर्ग के कार्यों और कर्त्तव्यों का स्पष्ट रुप से वर्णन किया। समाज में ब्राह्मणों का महत्त्व उनके धार्मिक कृत्यों, उनकी विद्वता तथा यज्ञ-संपादन की कुशलता के कारण बढ़ा। ब्राह्मणों में भी इस युग में कई वर्ग दृष्टिगोचर होते हैं—जैसे साधारण पुरोहित, राज-पुरोहित, राजमंत्री शिक्षक, उपदेशक, आचार्य और ऋषि। इसी प्रकार राजपुरुष, शासक, सैनिक एवं शुद्ध राजवंश आदि क्षत्रियों के भी कई उप-विभाग बन गये। कई प्रकार के उद्योगों के विस्तार से वैश्यों में भी कई वर्ग बन गये, जो कृषि, गोपालन तथा व्यापार आदि भिन्न-भिन्न धंधों से अपना भरण-पोषण करते थे। शूद्रों में भी पारिवारिक दास, नौकर, मजदूर तथा हीन व्यवसाय वाले कई वर्गों का जन्म हो गया। धीरे-धीरे ये उप-विभाग कई जातियों में परिणत हो गये, जो आज भी भारतीय समाज में पायी जाती हैं। जाति-व्यवस्था की इस जटिलता तथा कठोरता के उदय के कई कारण थे। नये-नये व्यवसायों के उदय ने विशेषज्ञता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। इसलिए, एक धंधे से जीविका अर्जित करने वाले अपने को एक वर्ग के रूप में अनुभव करने लगे। आर्थिक जीवन की जटिलता, समाज में आर्येतर तत्त्वों की वृद्धि तथा वर्गगत ममता एवं स्वार्थ की भावना ने भी वर्ण-व्यवस्था को इस युग में जटिल एवं दुरूह बना दिया। पर, उत्तर वैदिक काल में इस जटिलता की प्रवृत्ति का केवल प्रारंभ हुआ था, वर्ण-व्यवस्था जाति-पाँति की संकीर्णता में अभी पूरी तरह नहीं बँधी थी। इस काल में अंतर-वर्ण अथवा अंतरजातीय विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। व्यवसायों में परिवर्त्तन के भी उदाहरण मिलते हैं। विदेह के राजा जनक, काशी के राजा अजातशत्रु एवं पांचाल के शासक प्रवाहण जैवालि क्षत्रिय होते हुए भी अपने ब्रह्मज्ञान के कारण ऋषियों की तरह पूज्य थे।

आश्रम-व्यवस्था

इस युग के विचारकों ने जीवन को सफल एवं सुखी बनाने के उद्देश्य से

उसे चार भागों में विभक्त किया, जिसे 'आश्रम' कहते हैं। इन चारों आश्रमों के नाम थे—

(१) ब्रह्मचर्य, (२) गार्हस्थ्य, (३) वानप्रस्थ और (४) संन्यास।

प्रथम आश्रम में मनुष्य अविवाहित रह कर ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करता हुआ पच्चीस वर्ष की उम्र तक विद्याध्ययन एवं ज्ञानार्जन में संलग्न रहता था। दूसरे शब्दों में यह आश्रम जीवन-यापन की योग्यता प्राप्त करने के लिए शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से योग्य एवं वलिष्ठ होने का अवसर प्रदान करता था। प्रथम आश्रम की समाप्ति के वाद मनुष्य गार्हस्थ्य-आश्रम में प्रवेश करता था। यह आश्रम सांसारिक सुखों के उपभोग, संतानोत्पत्ति तथा विविध कर्त्तव्यों के पालन हेतु था। इस अवस्था में मनुष्य विवाह कर संतानों की देखभाल, भरण-पोषण तथा अर्थोपार्जन में मन लगाता था। परिवार एवं समाज के प्रति विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन भी इस आश्रम की विशेषता थी। गार्हस्थ्य-आश्रम में पच्चीस वर्ष विता कर वह वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में मनुष्य गृहस्थी का भार अपने पुत्रों पर सौंप कर सांसारिक जीवन से विरक्त हो जाता था और वनों में जाकर अपना समय एकांत में त्याग, तपस्या एवं साधना में व्यतीत करता था। वानप्रस्थ-आश्रम में भी पच्चीस वर्ष विता कर मनुष्य जीवन की अंतिम अवस्था में प्रवेश करता था, जिसे 'संन्यास-आश्रम' की संज्ञा दी गई थी। संन्यास-आश्रम में मनुष्य अपनी कुटी छोड़ कर परिव्राजक वन जाता था। इस काल में वह संसार के सभी बंधनों से मुक्त हो जाता था और अपना पूरा समय आध्यात्मिक चिंतन एवं लोक-कल्याण में लगाता था। वानप्रस्थियों एवं संन्यासियों द्वारा समाज का कल्याण निश्चित रूप से होता था। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चारों महान उद्देश्यों की सिद्धि के लिए इन चारों आश्रमों की सृष्टि की गई थी। ब्रह्मचर्य का संवंध धर्म से, गार्हस्थ्य का अर्थ और काम से तथा वानप्रस्थ एवं संन्यास का संवंध मोक्ष-प्राप्ति से था। विश्व की किसी अन्य सभ्यता में इतने वैज्ञानिक ढंग से जीवन का विभाजन नहीं किया गया था। आश्रम-व्यवस्था आर्यों के समाज-गठन की सफलता एवं बुद्धिमत्ता का प्रमाण है।

संस्कार

इसी प्रकार गृहस्थ-जीवन को वैज्ञानिक ढंग से परिष्कृत एवं सफल बनाने के लिए सोलह संस्कारों का विधान था। कुछ प्रमुख संस्कारों के नाम निम्न-लिखित हैं—

(१) **गर्भाधान** : गर्भ-धारण का संस्कार।

(२) पुंसवन : वैदिक मंत्रों के साथ सोमरस को गर्भवती पत्नी की नाक में छिड़कना। इसका उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति था।

(३) सीमंतोनयन : गर्भवती पत्नी की रक्षा के लिए भगवान विष्णु से प्रार्थना तथा पत्नी की बालों को कंघी से सजाना।

(४) जातकर्मन् : नवजात शिशु के जन्म का संस्कार।

(५) नामकरण : नवजात शिशु का नामकरण।

(६) अन्नप्राशन : छठे महीने में नवजात शिशु को अनाज से बना भोजन खिलाने का संस्कार।

(७) चूड़ाकर्मन् : शिशु के सिर के बालों का प्रथम बार अस्तूरे से मूँड़ना।

(८) उपनयन : यज्ञोपवीत-संस्कार, जो नौ वर्ष की अवस्था में संपन्न होता था। इसके पश्चात् बालक विद्याध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य-आश्रम में प्रविष्ट होता था। यह संस्कार ज्ञानार्जन की प्रक्रिया का श्रीगणेश करता था।

(९) समावर्त्तन : यह संस्कार विद्यार्थी-जीवन एवं ज्ञानार्जन की समाप्ति पर संपन्न होता था।

(१०) विवाह : यह संस्कार सांसारिक सुखों की प्राप्ति तथा संतानोत्पत्ति के लिए ब्रह्मचर्य-आश्रम की समाप्ति पर संपन्न किया जाता था।

इन विभिन्न संस्कारों का उद्देश्य वैज्ञानिक ढंग से जीवन का परिष्कार करना था।

स्त्रियों की अवस्था

ऋग्वैदिक काल की तुलना में इस युग में स्पष्ट रूप से स्त्रियों की दशा बिगड़ गई थी। कन्या का जन्म दुःख का विषय माना जाता था तथा पुत्र मनोकामना का लक्ष्य माना जाता था। स्त्री एवं पुरुष की समानता की भावना क्रमशः समाप्त हो रही थी। ज्ञानार्जन के क्षेत्र में भी वे अब पुरुषों के पीछे छूट चुकी थीं। वे परिषदों एवं सभाओं में प्रवेश नहीं कर सकती थीं। धार्मिक कार्यों में उनकी उपस्थिति अनिवार्य थी, पर उनसे वैदिक मंत्रों का उच्चारण नहीं कराया जाता था। गार्गी, मैत्रेयी आदि स्त्रियों के उदाहरण इस युग में भी मिलते हैं, पर स्त्रियों की सामान्य दशा पहले से गिर चुकी थी। बहु-पत्नीवाद की प्रथा से भी अनेक स्त्रियों का जीवन कष्टमय हो जाता था। संभवतः आर्थिक क्षेत्र में उनके कानूनी अधिकार भी सीमित थे। वे चल अथवा अचल संपत्ति की स्वामिनी नहीं हो सकती थीं।

आहार एवं वेशभूषा

इस काल में वेश-भूषा प्रायः वही थी, जो ऋग्वैदिक काल में थी। पर,

अब मांस-भक्षण तथा सुरापान को अनुचित समझा जाने लगा था। संभवतः अहिंसा का सिद्धांत भारत-भूमि में अंकुरित हो चला था। मनोरंजन एवं मनोविनोद के साधनों में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ। इस युग में नाटक मनोरंजन का साधन बन चुका था। उत्सवों में वीणा बजाने वाले गाथा एवं गीतिकाव्य को संगीत के माध्यम से प्रस्तुत करते थे। ये वीर-गाथाएँ ही कालांतर में महाकाव्यों में परिणत हो गईं।

लेखन-कला

इस काल में लेखन-कला का विकास हो चुका था। ब्राह्मणों एवं उपनिषदों के अनेक वक्तव्यों से इस युग में लेखन-कला के ज्ञान का प्रमाण मिलता है।

आर्थिक जीवन

कृषि एवं पशुपालन इस काल के भी महत्त्वपूर्ण व्यवसाय थे। इस युग में इन दोनों व्यवसायों का विकास हुआ तथा इनके महत्त्व में भी वृद्धि हुई। खेती के तरीकों, फसलों, बीज तथा खाद आदि के संबंध में नये प्रयोग किये जाने लगे। कई प्रकार के हल बनाये जाने लगे। गंगा और यमुना की उर्वर घाटी ने कृषि-कार्य में आर्यों की अभिरुचि को बढ़ाने में योगदान किया। कृषि-कार्य से उनकी संपन्नता एवं खुशहाली बढ़ती गई। इसी प्रकार हरे-भरे मैदानों के कारण पशुपालन में भी आर्यों का उत्साहवर्द्धन हुआ। बहुत बड़ी संख्या में गायों का रखना वैभव एवं ऐश्वर्य का चिह्न था। राजा लोग विद्वानों का सम्मान बड़ी संख्या में गायों का दान करके करते थे। आर्थिक जीवन के विकास के साथ-साथ नये-नये उद्योग-धंधों तथा व्यवसायों का भी विकास हो चुका था। सूत, व्याध, जलोपजीवी, गोप, कर्षक, रथकार, सुवर्णकार, रज्जुकार, रजक, रंगसाज, रसोइया, कुम्हार, लोहार, नर्त्तक, कलाबाज, महावत आदि विभिन्न व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। ज्योतिषी, वैद्य और नाई का व्यवसाय भी इसी युग में विकसित हुआ, पर इन लोगों को समाज में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था।

इस युग में आर्यों का अनेक धातुओं से परिचय हुआ। उदाहरण के लिए सुवर्ण और लोहे के अतिरिक्त वे टिन, ताँबे, चाँदी, सीसे आदि का भी प्रयोग करते थे। इन धातुओं से विभिन्न प्रकार के औजार, हथियार, सिक्के तथा आभूषण आदि बनाए जाते थे। इस युग में विनिमय के माध्यम के रूप में 'शतमान' नामक सिक्कों का प्रचलन था। तौल में यह सिक्का सौ गुँजा के दाने के बराबर था। गायों के साथ दान में भी यह सिक्का दिया जाता था। अतः इस युग का आर्थिक जीवन ऋग्वैदिक काल की तुलना में विकसित था।

धर्म एवं दर्शन

उत्तर-वैदिक काल में सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में हुआ। इस युग के क्रांतिकारी परिवर्त्तनों से ऋग्वैदिक काल के धर्म का रूप ही बदल गया। ऋग्वैदिक काल का सरल धर्म जटिल कर्मकांड एवं यज्ञों की प्रधानता से बोझिल हो गया, पर साथ ही तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्म के क्षेत्र में हमारा दार्शनिक चिंतन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इसी युग में उस सूक्ष्म आध्यात्मिक चिंतन का विकास हुआ, जिसे 'वेदांत' की संज्ञा दी गई है तथा जो भारतीय दर्शन का चूडांत निदर्शन है। इसी प्रकार देवी-देवताओं के स्वरूप एवं महत्त्व में भी परिवर्त्तन हुए। उच्च नैतिक आदर्शों एवं सिद्धांतों का भी विकास हुआ। वस्तुतः इन परिवर्त्तनों के कारण ऋग्वैदिक काल के सरल धर्म ने बहुत कुछ वर्त्तमान हिंदूधर्म का स्वरूप धारण कर लिया। इस युग की धार्मिक मान्यताएँ, दार्शनिक सिद्धांत तथा देवी-देवता आज भी हिंदू धर्म में लगभग उसी रूप में वर्त्तमान हैं।

इस युग में ऋग्वैदिक काल के देवी-देवताओं के महत्त्व एवं स्वरूप में परिवर्त्तन हो गया। देव-मंडल में रहते हुए भी इंद्र एवं वरुण की प्रधानता समाप्त हो गई तथा उसका स्थान विष्णु एवं रुद्र ने ले लिया। ऋग्वैदिक काल में विष्णु मात्र सूर्य का एक स्वरूप माने जाते थे, पर इस युग में विष्णु सर्वश्रेष्ठ एवं प्रधान देवता के रूप में पूजित होने लगे। ऋग्वैदिक काल में जो वरुण का स्थान था, वही स्थान अब विष्णु का हो गया। ऋग्वेद के रुद्र अब शिव-रूप में मंगलकारी देवता बन गये तथा विष्णु के साथ-साथ अत्यंत लोकप्रिय देवता माने जाने लगे। रुद्र एवं विष्णु के साथ-साथ प्रजापति यज्ञों के स्वामी के रूप में पूजे जाने लगे। प्रजापति की कल्पना से ही पौराणिक ब्रह्मा की कल्पना विकसित हुई। देव-मंडल के साथ-साथ गंधर्व, नाग, अप्सरा आदि अर्द्धदेव-योनियों की कल्पना का भी जन्म हुआ।

देव-मंडल एवं कर्मकांड के विकास के साथ-साथ उस ब्रह्म-जिज्ञासा एवं तत्त्वज्ञान की परपरा का भी जन्म इसी युग में हुआ, जिसकी परिणति भारतीय दर्शन एवं वेदांत में हुई। आत्मा एवं परमात्मा का स्वरूप जानने के लिए विशद गवेषणा की परिपाटी का प्रारंभ इसी युग में हुआ। इस गवेषणा के फलस्वरूप यह माना गया कि इस सृष्टि एवं विश्व का एकमात्र सत्य ब्रह्म है। ब्रह्म विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश का कारण है। ब्रह्म वह अद्वितीय सत्ता है, जो अपरिवर्त्तनशील, अमर, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, निर्गुण एवं निर्विकल्प है। वही विश्व का मूल तत्त्व है। समस्त भौतिक जगत उसी की अभिव्यक्ति है। वह अनादि, अनंत एवं अकारण है। प्रत्येक जीव की आत्मा उस विश्वात्मा अथवा ब्रह्म की ही ज्योति है तथा उससे भिन्न नहीं है। व्यक्ति केवल अज्ञानवश अपने को ब्रह्म से भिन्न मानता है। वास्तव में

आत्मा एवं परमात्मा एक ही हैं। सत्यज्ञान के द्वारा मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मोक्ष का अर्थ है, आत्मा का परमात्मा में विलीन हो जाना। जब तक मनुष्य सत्यज्ञान के द्वारा मोक्ष नहीं प्राप्त कर लेता हैं, तब तक उसकी आत्मा आवागमन-रूपी अनंत जन्म एवं मृत्यु के चक्कर में पड़ी रहती है। आवागमन के पाश से मुक्ति पाना ही मोक्ष का लक्ष्य है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को प्रयत्नशील रहना चाहिए। अतः, पुनर्जन्म के सिद्धांत का विकास इसी युग में हुआ। पुनर्जन्म के साथ कर्मवाद का सिद्धांत भी जुड़ा हुआ है। कर्मवाद के सिद्धांत के अनुसार कोई कर्म उचित अथवा अनुचित, कभी नष्ट नहीं होता तथा उसका शुभ अथवा अशुभ परिणाम आत्मा को भोगना पड़ता है। आत्मा को शुभ अथवा अशुभ कर्मों के अनुसार मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म धारण कर कर्म का फल भोगना पड़ता है। अतः, ज्ञान और नैतिक आचरण के द्वारा आत्मा जन्म एवं मृत्यु के बंधन से विमुक्त होकर उस अमरत्व की दशा को प्राप्त कर सकती है, जिसे 'मोक्ष' की संज्ञा दी गई है। इस अवस्था में आत्मा ब्रह्म में विलीन हो जाती है। उपनिषदों में प्रतिपादित इस सिद्धांत को वेदांत भी कहा गया है। ये सिद्धांत भारतीय दार्शनिक चिंतन की उच्चतम अभिव्यक्ति माने जाते हैं। शापेनहावर तथा मैक्समूलर जैसे यूरोपीय दार्शनिकों एवं विद्वानों ने उपनिषदों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। शापेनहावर को तो उपनिषदों के अध्ययन से परम शांति प्राप्त हुई थी।

वास्तव में इन उपनिषदों का जन्म कर्मकांड की निष्प्राण जटिलता एवं यज्ञों की प्रधानता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। यज्ञों के संपादन की प्रक्रिया अत्यंत दुरूह हो गई तथा उनको रहस्यमय भी माना जाने लगा। इन प्रक्रियाओं में दक्ष होने के कारण ब्राह्मणों की प्रधानता बढ़ गई तथा उन्हें 'पृथ्वी का देवता' अथवा 'भूदेव' कहा जाने लगा। ये लोग अश्वमेघ, राजसूय, बाजपेय आदि लंबे, खर्चीले और पेचीदे यज्ञों का संपादन करते थे। कोई-कोई यज्ञ महीनों तक चलता रहता था। कर्मकांड की इस जटिलता, प्रधानता तथा निष्प्राण आडंबर के वातावरण के विरुद्ध ही उपनिषदों के चिंतन का प्रारंभ हो चुका था। इसमें संदेह नहीं कि उपनिषदों के चिंतन ने भारतीय चिंतनधारा को परिष्कृत एवं समृद्ध किया, जिसके परिणामस्वरूप हिंदू-धर्म के षड्दर्शनों (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व एवं उत्तर-मीमांसा) की रचना हुई। इन दर्शनों को विश्व-सभ्यता को भारतीय चिंतनधारा की देन माना जाता है।

बौद्धिक प्रगति

बौद्धिक चिंतन एवं ज्ञान के क्षेत्र में भी उत्तर-वैदिक काल अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी युग में ब्राह्मण-ग्रंथ, आरण्यक और उपनिषदें लिखी गई।

वेदांगों का विकास भी इसी समय हुआ। वेदांग छह हैं—

(१) शिक्षा : अर्थात् शुद्ध उच्चारण का शास्त्र।

(२) निरुक्त : शब्दों की उत्पत्ति का शास्त्र।

(३) व्याकरण : शुद्ध बोलने और लिखने का शास्त्र।

(४) छंद : पद्य रचना का शास्त्र।

(५) कल्प : कर्मकांड का शास्त्र।

(६) ज्योतिष : नक्षत्रों और ग्रहों की गति के अध्ययन का शास्त्र।

इनमें विशिष्ट ग्रंथ वे हैं, जो व्याकरण, निरुक्त आदि पर लिखे गये हैं। महर्षि यास्क द्वारा लिखित निरुक्त अत्यंत प्रसिद्ध है। निरुक्त ग्रंथों को विशुद्ध संस्कृत गद्य का पहला उदाहरण माना जा सकता है। व्याकरण-ग्रंथों की रचना के द्वारा संस्कृत-भाषा को अत्यंत परिष्कृत, सम्मानित एवं प्रतिनिधि भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। संस्कृत-भाषा के परिष्कार में पाणिनि-जैसे वैयाकरणों का बहुत बड़ा हाथ था। समाज के नियमन के लिए व्यवहारशास्त्र अथवा कानून का भी जन्म इसी युग में हुआ। कम शब्दों में सूक्ष्म विचारों को व्यक्त करने की पद्धति, जिसे सूत्र-शैली कहते हैं, इसी युग में विकसित हुई। इसी शैली में अनेक ग्रंथों की रचना हुई। इस प्रकार भाषा, धर्म, दर्शन एवं सामाजिक संगठन के क्षेत्र में इस काल में जो परिवर्त्तन हुए, उनके द्वारा भारतीय संस्कृति की रूपरेखा स्थिर हो गई, जो थोड़े-बहुत परिवर्त्तनों के साथ आज भी विद्यमान है। अतः, इन उपलब्धियों के कारण उत्तर-वैदिक काल को भारतीय संस्कृति का विकास काल माना जा सकता है।

छठी शताब्दी ई०-पू० के धार्मिक आंदोलन्

हम देख चुके हैं कि उत्तर-वैदिक काल में ही यज्ञों की दुरूहता निष्प्राण धर्माडंबर, बलि-प्रथा की कठोरता एवं शुष्क कर्मकांड के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई थी। धीरे-धीरे यह प्रतिक्रिया सबल, संगठित एवं मुखर होने लगी, जिसकी परिणति छठी शताब्दी ई०-पू० के सुधारवादी धार्मिक आंदोलनों में हुई। इन्हें हम छठी शताब्दी ई०-पू० की धार्मिक क्रांति की संज्ञा भी दे सकते हैं। इन सुधार-आंदोलनों के कारण केवल धार्मिक ही नहीं वरन् सामाजिक, आर्थिक एवं बौद्धिक भी थे। इन आंदोलनों के मूल में उस तार्किक एवं बौद्धिक दृष्टिकोण का उदय था; जो प्रत्येक धार्मिक विश्वास एवं सामाजिक प्रथा को तर्क की तुला पर तौलता था तथा प्रत्येक अंध-विश्वास को चुनौती देता था। उपनिषदों में इस प्रवृत्ति का प्रथम दर्शन होता है। यज्ञों की निस्सारता एवं निरर्थकता पर व्यंग्य करते हुए उपनिषदों ने घोषणा की थी

कि यज्ञ फूटी नाव की तरह है। अतः, इस युग में यज्ञ, कर्मकांड, तंत्र-मंत्र, वहुदेववाद एवं वेदवाद के विरुद्ध आवाज उठायी गयी। इसी प्रकार, सामाजिक जीवन की विषमता एवं आडंबर ने इस धार्मिक क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार की। उत्तर-वैदिक काल से ही ब्राह्मणों का महत्त्व समाज में बढ़ गया था। शूद्रों की दशा अत्यंत दयनीय होती जा रही थी। समाज में ऊँच-नीच तथा छुआछूत की भावना बढ़ रही थी। जाति-प्रथा जटिल, दुरूह एवं सामाजिक विषमता तथा असंतोष का कारण वनती जा रही थी। बौद्धिक एवं अध्यात्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में प्रतिस्पर्द्धा की भावना का जन्म भी उत्तर-वैदिक काल में हो गया था। अतः, क्षत्रियों द्वारा इन धार्मिक क्रांतियों का नेतृत्व किया गया। समाज में ब्राह्मणों की प्रधानता को नष्ट करना भी इन धार्मिक आंदोलनों का लक्ष्य था। समाज में व्यापार-वाणिज्य की उन्नति के कारण सेठों तथा व्यापारियों के एक प्रभावशाली वर्ग का उदय हो गया था। फलतः, यह वर्ग भी ब्राह्मणों की प्रधानता को समाप्त कर समाज में अपना उचित स्थान ग्रहण करना चाहता था। इन सभी कारणों से ऐसा वातावरण तैयार हो गया था, जिससे वर्ण-व्यवस्था, कर्मकांड, यज्ञ, तंत्र-मंत्र एवं ब्राह्मणों की प्रधानता को नष्ट कर एक लोकतांत्रिक तथा सरल सामाजिक व्यवस्था, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता से अनुप्राणित धर्म की स्थापना हो। अतः, इस युग के अनेक विचारकों, मनीषियों, चिंतकों एवं दार्शनिकों ने बौद्धिकता और तर्क के आधार पर सामाजिक तथा धार्मिक विश्वासों की आलोचना आरंभ की। परंपरागत धर्म का संगठित विरोध होने लगा तथा नवीन धर्मों की स्थापना हुई। इस युग में अनेक धार्मिक संप्रदाय उठ खड़े हुए, जिनकी संख्या तीन सौ से ऊपर मानी जाती है। पर, कालांतर में इनका लोप हो गया। इस युग के धार्मिक संप्रदायों में सबसे समर्थ, प्रभावशाली एवं संगठित दो ही संप्रदाय थे, जिन्हें जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के नाम से पुकारा जाता है।

जैनधर्म एवं महावीर

जैन आचार्यों के अनुसार उनका धर्म अत्यंत पुरातन है तथा महावीर उनके अंतिम एवं चौबीसवें तीर्थंकर हैं। महावीर एवं तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का इतिहास सुस्पष्ट है, अन्य तीर्थंकर अनैतिहासिक प्रतीत होते हैं। पार्श्वनाथ संभवतः ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी में जीवित थे। ये काशी के क्षत्रिय राजा अश्वसेन के पुत्र थे। तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने गृहस्थ-जीवन का त्याग कर संन्यासी का वेष धारण कर लिया और घूम घूम कर ज्ञान का उपदेश देते रहे। इनका निर्वाण हजारीबाग जिले में स्थित पारसनाथ की पहाड़ी पर हुआ। इनके मुख्य उपदेश थे—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, अर्थात् चोरी नहीं करना और (४) अपरिग्रह, अर्थात् संग्रह

का त्याग। इनके निर्वाण के लगभग ढाई सौ वर्ष बाद महावीर ने जैन धर्म को सबल एवं सशक्त बनाया।

महावीर और उनके सिद्धांत

महावीर का जन्म ईसा से लगभग ६०० वर्ष पहले बिहारांतर्गत मुजफ्फरपुर जिले में स्थित वैशाली के पास कुंडग्राम में हुआ था। कुंडग्राम में ज्ञातृक-वंश के क्षत्रियों के गणराज्य के नेता सिद्धार्थ महावीर के पिता थे। उनकी माता का नाम त्रिशला था, जो वैशाली गणराज्य के नेता चेटक की बहन थी। अतः, महावीर एक अभिजात-वर्ग में उत्पन्न हुए थे। उनका लड़कपन का नाम वर्द्धमान था। उनका विवाह राजकुमारी यशोदा से हुआ था, जिससे उन्हें एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी। तीस वर्ष की अवस्था तक एक सुखी गृहस्थ-जीवन बिताने के बाद वे तपस्वी हो गये। तेरह वर्ष की कठोर तपस्या के बाद उनको ज्ञान प्राप्त हुआ, जिसे 'कैवल्य' की संज्ञा दी गई है। कैवल्य-प्राप्ति के बाद वे निर्ग्रंथ (बंधन-विमुक्त), जिन (विजयी) एवं अर्हत् (योग्य) कहलाये। ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् तीस वर्षों तक महावीर ने अपने सिद्धांतों का प्रचार मिथिला, अंग, मगध, कोशल, काशी, मल्ल एवं बंगाल में घूम-घूम कर किया। पार्श्वनाथ के चारों सिद्धांतों के साथ उन्होंने पाँचवें सिद्धांत 'पवित्रता' का भी प्रचार किया। वे सदैव वस्त्रविहीन रह कर दिगंबर अवस्था में धर्म प्रचार करते थे। ५२७ ई०-पू० में बहत्तर वर्ष की अवस्था में उनका निर्वाण पटना जिले में स्थित पावापुरी नामक स्थान पर हुआ।

महावीर के सिद्धांत

महावीर ने वेदों की प्रधानता को अस्वीकार किया एवं ज्ञान-प्राप्ति में वेदों की प्रामाणिकता का खंडन किया। इनके अनुसार सत्य के कई पहलू हैं। अतः, किसी एक विचार को पूर्ण सत्य मानना बौद्धिक हठधर्मी है। मनुष्य को सत्य का ज्ञान आंशिक रूप से होता है, अतः दूसरों के विचार को असत्य करार देना गलत है। जैनदर्शन में यह सिद्धांत 'स्यादवाद' के नाम से प्रसिद्ध है तथा यह महावीर की धार्मिक उदारता का द्योतक है। महावीर अनात्मवादी नहीं थे, वे आत्मा की अमरता में विश्वास करते थे। उनके अनुसार जड़ पदार्थों में भी जीव का अस्तित्व है। जीव केवल मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों में ही नहीं, वरन् पेड़-पौधों, पाषाण एवं जल में भी है। इस कारण छोटे-से-छोटे जीव की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। इस विश्व की सृष्टि पोषण अथवा नियंत्रण के लिए महावीर ने ईश्वर-जैसी किसी सत्ता को नहीं माना। समस्त मानव-जीवन विविध तृष्णाओं एवं वासनाओं के कारण आत्मा को मलिन कर देता है। इसलिए, इन वासनाओं का विनाश कर, संसार का त्याग कर तपस्या द्वारा इंद्रिय-निग्रह कर कैवल्य अथवा ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए। इस प्रकार के ज्ञान

से युक्त आत्मा ईश्वर के पन से युक्त समझी जाती है। सांसारिक बंधनों से मुक्ति प्राप्त करना ही महावीर के उपदेशों का लक्ष्य है। आत्मा का बंधन कर्मों के फल-स्वरूप है। कैवल्य-प्राप्ति अथवा कर्म के बंधनों के विनाश के लिए महावीर ने तीन साधनों का अनुकरण करने का आदेश दिया, जिन्हें जैनदर्शन में 'त्रिरत्न' की संज्ञा दी गई है। ये हैं—(१) सम्यक् ज्ञान (२) सम्यक् दर्शन और (३) सम्यक् चरित्र।

सम्यक् ज्ञान तीर्थंकरों के उपदेशों के गंभीर अनुशीलन से प्राप्त होता है तथा इससे सत्य एवं असत्य का अंतर स्पष्ट हो जाता है। जैन तीर्थंकरों में विश्वास एवं सत्य के प्रति श्रद्धा के भाव को 'सम्यक् दर्शन' कहा गया। इंद्रियों एवं कर्मों पर पूर्ण नियंत्रण, विषय-वासना से अनासक्ति तथा जीवन के सुख-दुःख के प्रति पूर्ण विरक्ति की भावना ही सम्यक् चरित्र है। नैतिक एवं सदाचारी जीवन ही सम्यक् चरित्र का प्रमाण है। पाँच महाव्रतों द्वारा गृहस्थों को नैतिक जीवन विताने में सहायता मिलती है। अतः, जैनधर्म में निम्नलिखित पाँच महाव्रतों पर बहुत जोर दिया गया है। ये हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय (४) अपरिग्रह एवं (५) ब्रह्मचर्य। पर, जैनधर्म में सबसे महत्त्वपूर्ण व्रत अहिंसा ही माना गया है। प्राणिमात्र के प्रति मन, वचन एवं कर्म से हिंसा न करना ही सबसे बड़ा धर्म है। इसी प्रकार, जैन धर्म में व्रत, उपवास और तप पर भी अधिक बल दिया गया है। इनके द्वारा आत्मा सबल होती है तथा मन की निम्न प्रवृत्तियों का दमन होता है।

जैनधर्म का प्रचार

महावीर ने अपने जीवन-काल में अपने धर्म को सभी वर्गों में लोकप्रिय बनाने की कोशिश की। मगध, अंग, मिथिला, काशी, कोशल एवं मल्ल आदि जनपदों में यह धर्म काफी लोकप्रिय हो गया। पर, बौद्धधर्म का प्रचार भी इसी समय हो रहा था। बौद्धधर्म अपने मध्यम मार्ग एवं सरल तथा आकर्षक सिद्धांतों के कारण अधिक लोकप्रिय बन गया। जैनधर्म वास्तव में एक अतिवादी धर्म था, जिसमें शरीर को घोर कष्ट देने पर अधिक बल दिया गया। इससे यह धर्म गृहस्थों में उतना लोकप्रिय नहीं हो सका। यद्यपि इसकी कठोर आचार-संहिता इसके प्रचार में बाधक सिद्ध हुई, तथापि यह धर्म भारतीय संस्कृति एवं चिंतनधारा में अपना विशिष्ट स्थान बनाये रहा। परोक्ष एवं प्रत्यक्ष दोनों ही ढंग से इस धर्म ने भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा को प्रभावित और समृद्ध किया। पाली, प्राकृत एवं संस्कृत भाषाएँ जैन साहित्य तथा दर्शन से समृद्ध हुईं। दर्शन के क्षेत्र में जैनधर्म की देन महत्त्वपूर्ण है। स्याद्वाद एवं अनेकांतवाद जैनदर्शन के विशिष्ट सिद्धांत हैं, जिनसे भारतीय दर्शन समृद्ध हुआ है। इसी प्रकार विभिन्न ललित कलाओं के क्षेत्र में भी जैनधर्म की देन उल्लेखनीय है। जैनों ने अनेक सुंदर मंदिरों, मूर्त्तियों एवं चित्रों का निर्माण प्राचीन तथा मध्यकालीन

युग में किया। अंत में अहिंसा को भारतीय संस्कृति का एक अंग बनाने में भी जैनधर्म का वहुत वड़ा हाथ है। इस प्रकार, इस धर्म ने भारतीय सभ्यता के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

बुद्ध और बौद्धधर्म

बुद्ध के पिता शुद्धोदन कपिलवस्तु के शाक्य-गणराज्य के प्रधान थे। कपिलवस्तु उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के उत्तर में नेपाल की तराई में स्थित था। शाक्य लोग सूर्यवंशीय क्षत्रिय थे। बुद्ध का जन्म लुंविनी वन (वर्त्तमान रुम्मिनदेई) नामक स्थान पर ५६३ ई० पू० में हुआ था, जब उनकी माता (माया) अपने मायके जा रही थीं। शिशु के जन्म के वाद माया कपिलवस्तु लौट आईं। नवजात शिशु का नाम 'सिद्धार्थ' रखा गया।

अपने पुत्र के चिंतनशील स्वभाव को देखकर शुद्धोदन ने सोलह वर्ष की अवस्था में ही उनका विवाह यशोधरा नामक एक अत्यंत सुंदरी राजकुमारी से कर दिया। पर, संसार को दुःखों से भरा देख कर गौतम का मन भोग-विलास में नहीं रमा। यद्यपि उन्हें बारह वर्ष तक गृहस्थ-जीवन विताना पड़ा तथा उन्हें यशोधरा से 'राहुल' नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, तथापि उनका चित्त सदा अशांत रहता था। अतः, एक दिन रातोंरात अपनी पत्नी और पुत्र को सोते हुए छोड़ कर, वे शांति की खोज में निकल पड़े। गृहत्याग की इस महान घटना को बौद्ध साहित्य में 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं। ज्ञान एवं शांति की खोज में वे विद्वानों, पंडितों, दार्शनिकों एवं संन्यासियों के पास गये, पर उन्हें शांति नहीं मिली। कुछ दिनों तक उन्होंने राजगृह में आलारकालाम तथा उद्दकरामपुत्त नामक दो प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वानों से शिक्षा ग्रहण की, पर उनकी ज्ञान-पिपासा शांत नहीं हुई। अंत में, उन्होंने बोधगया में निरंजना नदी के तट पर उरुवेला की सुंदर वनस्थली में कठोर तपस्या प्रारंभ की। इस तपस्या में काया-क्लेश से उनका शरीर सूख कर अस्थिपंजर-मात्र रह गया; पर उन्हें शांति नहीं प्राप्त हुई। उन्होंने शरीर एवं बुद्धि को दुर्वल बना देनेवाले काया-क्लेश के मार्ग को व्यर्थ समझ कर छोड़ दिया तथा उरुवेला में ही एक पीपल के पेड़ के नीचे समाधि लगाने लगे। एक दिन जब वे समाधिस्थ थे, तभी उन्हें अचानक ज्ञान का प्रकाश मिला तथा उन्हें ऐसा लगा कि वे मोह-निद्रा से जाग गये हैं। इस घटना को वौद्ध साहित्य में 'संवोधि' अथवा ज्ञान-प्राप्ति कहते हैं। संबोधि के पश्चात् सिद्धार्थ 'बुद्ध' कहलाये।

ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने संसार के दुःखी जीवों को अपने ज्ञान के उपदेश से निर्वाण एवं मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित करने का संकल्प किया। वे काशी के पास ऋषिपत्तन (सारनाथ) गये तथा वहाँ अपने पाँच साथियों को पहला धर्मोपदेश दिया

और ये पाँचों साथी उनके शिष्य हो गये। सारनाथ के धर्मोपदेश को बौद्ध साहित्य में 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन', अर्थात् धर्म के पहिये को चलाना कहते हैं। सारनाथ के पश्चात् उन्होंने काशी के एक सेठ-परिवार को अपना शिष्य बनाया। कुछ ही दिनों में उनके शिष्यों की संख्या साठ हो गई। उन्होंने अपने शिष्यों का संघ बनाया तथा भिक्षुओं को लोक-कल्याण के लिए प्रेरित करते हुए अपनी अमर वाणी में कहा—"भिक्षुओ ! तुम बहुजनहित के लिए, बहुजन-सुख तथा लोगों के कल्याण के लिए विचरण करो। घूम-घूम कर देवों और मानवों का कल्याण करो। एक साथ दो मत जाओ। तुम लोग उस धर्म का प्रचार करो, जो आदि-मंगल, मध्य-मंगल और अंत-मंगल है।" यह संसार का पहला धर्म-संघ था। वास्तव में, इस धर्म के भिक्षुओं ने इसके प्रचार में अपूर्व योगदान किया।

अपने जीवन के शेष पैंतालीस वर्षों में बुद्ध ने घूम-घूम कर अपने धर्म का संदेश जनता को दिया। वे सदैव मगध, अंग, वैशाली, कोशल, मल्ल, काशी, वत्स, अवंति, शूरसेन आदि राज्यों का भ्रमण करते रहे तथा उनके जीवन-काल में ही बौद्धधर्म इन प्रदेशों में अत्यंत लोकप्रिय हो गया। उन्होंने अनेक राज-परिवारों एवं प्रभावशाली नागरिकों को अपना शिष्य बनाया। उनके अपने परिवार के सभी सदस्य भी उनके शिष्य हो गये थे। अपने धर्मोपदेशों में वे जनसाधारण की भाषा पालि का प्रयोग करते थे। उनका मोहक और तेजपुंज व्यक्तित्व उनके संपर्क में आने वालों को मंत्र-मुग्ध कर देता था। उनके उपदेशों की सरलता, व्यावहारिकता, करुणा एवं गहरी संवेदना लोगों को अभिभूत कर देती थी। इस कारण बौद्धधर्म के लोकप्रिय होने में कोई देर नहीं लगी। उनके जीवन-काल में ही यह धर्म उस युग का सर्वाधिक लोकप्रिय धर्म बन चुका था। पैंतालीस वर्षों तक निरंतर धर्मोपदेश करने के बाद ४८७ ई०-पू० में मल्ल-गणराज्य की राजधानी कुशीनगर (वर्त्तमान कसिया, जिला देवरिया, उत्तर प्रदेश) में उनका देहावसान हो गया। इस घटना को बौद्ध साहित्य में 'महापरिनिर्वाण' कहते हैं।

बुद्ध के उपदेश

बुद्ध के सिद्धांत एवं उपदेश सरल तथा व्यावहारिक थे। उन्होंने नैतिक जीवन तथा सदाचार पर बल दिया और यह बतलाया कि आत्मा-परमात्मा-संबंधी वाद-विवाद मनुष्य की नैतिक प्रगति में कदापि सहायक नहीं हैं। उन्होंने इस संसार को नश्वर, नित्य एवं दुःखमय घोषित किया तथा मानव-जाति को इस सर्वव्यापी दु.ख से मुक्ति पाने का उपाय बतलाया। उनके उपदेशों में चार आर्य-सत्य प्रसिद्ध हैं। ये हैं—

(१) **दुख :** संसार में सर्वत्र दुःख-ही-दुःख है। जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग

दुःख हैं। प्रिय-वियोग, अप्रिय-संयोग एवं इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होना भी दुःख है। संसार के सभी प्राणी इन दुःखों से पीड़ित हैं।

(२) **दुःख-समुदाय (दुःख का कारण)** : इस संसारव्यापी दुःख का कारण तृष्णा अथवा 'तन्हा' है। सांसारिक भोगों की न बुझनेवाली तृष्णा के कारण मनुष्य दुःखों के बंधन में फँसता है। इसी तृष्णा के कारण अहंकार, ममता, राग-द्वेष आदि दुःख उत्पन्न होते हैं।

(३) **दुःख-निरोध** : तृष्णा या वासना के विनाश से ही दुःख का निरोध अथवा निवारण संभव है। संपूर्ण तृष्णाओं के अंत के वाद ही आवागमन एवं अन्य दुःखों का नाश हो सकता है। पुनर्जन्म एवं अन्य दुःखों से मुक्ति की अवस्था का नाम **'निर्वाण'** है।

(४) **दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा** : इस दुःख का निरोध आष्टांगिक मार्ग पर चलने से ही हो सकता है। प्रार्थना, यज्ञ, वेद-मंत्रों का उच्चारण तथा तपस्या सभी इसके लिए निरर्थक हैं। आष्टांगिक मार्ग में निम्नलिखित आठ बातें हैं—

१. सम्यक् दृष्टि : सत्य विश्वास एवं सत्य दृष्टिकोण प्राप्त कर लेना ही सम्यक् दृष्टि है, जिससे भले-बुरे कर्मों की पहचान हो जाती है।

२. सम्यक् संकल्प : दृढ़-विचार ही सम्यक् संकल्प है।

३. सम्यक् वाक् : सत्य एवं प्रिय वचन ही सम्यक् वाक् है।

४. सम्यक् कर्मांत : सत्कर्म ही सम्यक् कर्मांत है।

५. सम्यक् आजीव : जीविका के साधनों का पवित्र होना ही सम्यक् आजीव है।

६. सम्यक् व्यायाम : विशुद्ध एवं विवेकपूर्ण प्रयत्नों का नाम ही सम्यक् व्यायाम है। इसमें इंद्रिय-संयम एवं उच्च विचार सम्मिलित हैं।

७. सम्यक् स्मृति : मनुष्य शरीर के प्रत्येक संस्कार एवं चेष्टा के प्रति जागरूक रहे, दुःख-सुख की अनुभूतियों के प्रति सजग रहे, चित्त के राग-द्वेष को पहचानते हुए सभी कार्य विवेक एवं सावधानी से करें, यही सम्यक् स्मृति है।

८. सम्यक् समाधि : चित्त की एकाग्रता एवं ध्यानस्थ अवस्था को ही सम्यक् समाधि कहते हैं। इससे आंतरिक शांति और आनंद उपलब्ध होता है।

यह आष्टांगिक मार्ग ही बुद्ध का प्रसिद्ध मध्यम मार्ग है, तथागत की देखी हुई **'मज्झिमा पटिपदा'** है। यह शारीरिक भोग-विलास एवं तपस्याजनित काया-क्लेश के बीच का मार्ग है, जिसका प्रव्रज्या नहीं लेने वाले गृहस्थ भी अनुसरण कर सकते

थे। इसमें अति का विरोध किया गया है। मनुष्य को नैतिक जीवन द्वारा सुख-शांति प्रदान कर सकता है।

बुद्ध ने अपने उपदेशों में नैतिक जीवन पर बहुत बल दिया। सदाचार, प्रेम, सत्य, उदारता, माता-पिता की आज्ञा का पालन, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, मद्यपान-निषेध, करुणा एवं दान उनके नैतिक उपदेशों में विशिष्ट स्थान रखते थे। बौद्धसंघ के भिक्षुओं को निर्वाण-प्राप्ति के लिए मनसा-वाचा-कर्मणा शुचिता का पालन करना आवश्यक था। उन्होंने भिक्षुओं के दस शील का उपदेश दिया, जिनमें पहले पाँच गृहस्थों अथवा साधारण उपासकों के लिए अनिवार्य थे। ये हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय (चोरी नहीं करना), (४) अपरिग्रह (संग्रह का त्याग), (५) ब्रह्मचर्य, (६) नृत्य-गान का त्याग, (७) सुगंधित द्रव्य, माल्यादि का त्याग, (८) अकाल भोजन का त्याग, (९) कोमल शय्या का त्याग, (१०) कामिनी-कांचन का त्याग।

बुद्ध ने अपने दर्शन में पुनर्जन्म को स्वीकार किया। उन्होंने यह घोषित किया कि मनुष्य अपने कर्मों के फल से ही अच्छा-बुरा जन्म पाता है। ईश्वर और आत्मा को न मानने हुए भी बुद्ध पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। उनके अनुसार पुनर्जन्म आत्मा का नहीं, वरन् अनित्य अहंकार का होता है। जब मनुष्य की वासना, जो अहंकार और ममता की जननी है, नष्ट हो जाती है, तब वह पुनर्जन्म के बंधन से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार तेल और बत्ती के जल जाने से दीपक अपने-आप बुझ कर शांत हो जाता है, वैसे ही वासना एवं अहंकार के क्षय होने से मनुष्य कर्म-बंधन से विमुक्त हो कर परम शांति प्राप्त करता है, जिसे 'निर्वाण' कहते हैं। निर्वाण ही बौद्धधर्म का परम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति से समस्त कष्टों का निवारण, जीवन के मोह का अंत तथा पुनर्जन्म के बंधन से मुक्ति मिल जाती है। यह परमशांति की अवस्था है। बुद्ध के उपदेशों में अहिंसा एवं करुणा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर जैनधर्म में अहिंसा की भावना को जो तूल दिया गया, वह बुद्ध के उपदेशों में नहीं है। समस्त प्राणियों के प्रति दया एवं प्रेम उनकी दृष्टि में आवश्यक थी, पर साथ ही मांस-भक्षण की अनुमति भी उन्होंने दी थी। उन्होंने वेदों की प्रामाणिकता एवं अपौरुषेयता के सिद्धांत को अस्वीकार किया। वैदिक कर्मकांड, जटिल यज्ञ-प्रथा, एवं कठोर बलिप्रथा के वे घोर विरोध थे। उन्होंने तंत्र-मंत्र एवं अंधविश्वासों की भर्त्सना की और जाति-प्रथा के कारण समाज में व्याप्त विषमता का विरोध किया। ब्राह्मणों की प्रधानता को मानने से इनकार कर दिया। उन्होंने अपने धर्म में पुरोहितवाद, तपस्या, यज्ञ एवं जाति-प्रथा को कोई स्थान नहीं दिया। उनके धर्म का द्वार सभी जातियों एवं वर्गों के लिए खुला हुआ था। इस प्रकार उनके उपदेश न केवल धार्मिक क्रांति, वरन् सामाजिक क्रांति लाने में भी सहायक सिद्ध हुए।

बौद्धधर्म का प्रचार

महात्मा बुद्ध के जीवनकाल में ही बौद्धधर्म का प्रचार उत्तर भारत में हो चुका था। इस धर्म को प्रारंभ से ही प्रभावशाली राजाओं एवं वर्गों का आश्रय प्राप्त हुआ, जिससे इसका प्रचार अत्यंत तीव्र गति से हुआ। मगध के राजा बिंबिसार एवं अजातशत्रु, कोशल के राजा प्रसेनजित एवं अवंती के राजा उदयन बुद्ध के प्रति अत्यंत आदर का भाव रखते थे। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् अशोक जैसे महान एवं प्रतापी राजा का आश्रय बौद्धधर्म को प्राप्त हुआ। अशोक के शासन काल (२७२ ई०-पू० से २३३ ई०-पू०) तक बौद्धधर्म भारत की सीमाओं को लाँघकर एशिया के विभिन्न देशों में फैलने लगा। अशोक ने इस धर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र महेंद्र एवं अपनी पुत्री संघमित्रा को लंका भेजा। उसने धर्म-प्रचार के लिए अन्य भिक्षुओं को पड़ोसी देशों में भेजा। अशोक के पश्चात् कुषाण-सम्राट कनिष्क ने भी ई०-सन् की पहली शताब्दी में इस धर्म का प्रचार मध्य एशिया के देशों में कराया। मिनैण्डर जैसे यूनानी जाति के भारतीय शासकों ने इस धर्म के प्रसार में तत्परता दिखाई। छठी शताब्दी में सम्राट हर्षवर्द्धन के युग से आठवीं शताब्दी के पाल-वंश के शासकों के समय तक बौद्धधर्म चीन, जापान, थाईलैण्ड, बर्मा, तिब्बत, लंका, अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया तक फैल चुका था और एक विश्व-धर्म बन चुका था।

विदेशों में प्रचार के बावजूद भारतवर्ष में बौद्धधर्म क्रमशः दुर्बल होता गया तथा अंत में ई०-सन् की दसवीं शताब्दी के बाद उसका लोप हो गया। भारत में बौद्धधर्म की अवनति के कई कारण थे। प्रारंभ से ही यह धर्म अनीश्वरवादी एवं अनात्मवादी था, जिसके कारण साधारण जनता में इसका लोकप्रिय होना कठिन था। इसके प्रतिद्वंद्वी ब्राह्मण-धर्म में ईश्वर तथा आत्मा को प्रधानता दी गई; जिससे उनकी लोकप्रियता बढ़ती गई। कालांतर में बौद्धधर्म में अनेक प्रशाखाएँ हो गईं, जिनमें गहरा आंतरिक मतभेद था। इस मतभेद से बौद्धधर्म के मानने वालों के बीच पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष बढ़ता गया। इससे जनता में बौद्धधर्म में कुछ ऐसे नये संप्रदायों का उदय हुआ, जिनसे बौद्धधर्म का मौलिक रूप ही बदल गया। मूर्तिपूजा एवं जटिल उपासना-पद्धति के साथ-साथ कई संप्रदायों में तंत्र-मंत्र, सुरा-सुंदरी एवं भोग-विलास का प्रवेश हो गया। बौद्ध-विहार तंत्र-मंत्र के साथ-साथ अनैतिक कृत्यों के अखाड़े बन गये। इससे बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा।

धीरे-धीरे ब्राह्मण-धर्म को भी सबल एवं सशक्त राजाओं का समर्थन प्राप्त होने लगा। उदाहरण के लिए, गुप्त-सम्राटों के शासन-काल में ब्राह्मणधर्म का अद्भुत पुनरुत्थान हुआ। ब्राह्मण-धर्म के विचारकों ने अपने सिद्धांतों के प्रचार से ब्राह्मण-धर्म को लोकप्रिय बना दिया। वैष्णव और शैव संप्रदायों की भक्तिधारा ने जनता

के हृदय को जीत लिया। साथ ही, ब्राह्मण-धर्म ने बौद्धधर्म के अनेक सिद्धांतों को आत्मसात् कर लिया तथा बुद्ध को विष्णु के दस अवतारों में एक मान लिया। ब्राह्मण धर्म की इस समन्वय-शक्ति से भी बौद्धधर्म को गहरा धक्का लगा। धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म में मौलिक विचारकों, प्रभावशाली दार्शनिकों तथा संगठनकर्त्ताओं का अभाव-सा हो गया।

इधर ब्राह्मण-धर्म में शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट और रामानुजाचार्य जैसे विचारकों तथा नेताओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिन लोगों ने घूम-घूम कर ब्राह्मण धर्म के सिद्धांतों को लोकप्रिय बनाया और बौद्धधर्म की रीढ़ तोड़ दी। अंत में विदेशी आक्रमणकारियों, हूणों तथा तुर्कों के आक्रमण से भी बौद्धधर्म को गहरा धक्का लगा। इन बर्बर आक्रमणकारियों ने बौद्धधर्म के विहारों, मंदिरों एवं विश्वविद्यालयों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इनके द्वारा संहार के पश्चात् अनेक बौद्ध भिक्षुओं ने तिब्बत एवं नेपाल में शरण ली तथा बहुत बड़ी संख्या में उनके अनुयायियों ने ब्राह्मण-धर्म अथवा इस्लाम को अपना लिया। अतः, तेरहवीं सदी तक बौद्धधर्म अपनी जन्म-भूमि भारत से समाप्त हो गया।

भारत-भूमि से लुप्त होने के बावजूद बौद्धधर्म ने भारतीय संस्कृति पर अपनी अमिट एवं गहरी छाप छोड़ी है। भारतीय जन-जीवन के विभिन्न अंगों को ढालने में बौद्धधर्म का बहुत बड़ा हाथ रहा है। वस्तुतः, भारतीय संस्कृति बौद्धधर्म के योगदान से संपन्न एवं समृद्ध हुई है। जातिवाद, कर्मकांड एवं अंधविश्वासों के विरुद्ध आवाज उठा कर बौद्धधर्म ने एक सरल, सुबोध तथा लोकप्रिय धर्म के पक्ष में जनमत तैयार किया। पूजा-पाठ एवं कर्मकांड की तुलना में नैतिकता पर अधिक जोर दिया जाने लगा। दया, करुणा, अहिंसा तथा गुरुजनों के सम्मान के सिद्धांतों को बौद्धधर्म ने अधिक व्यापक और लोकप्रिय बना दिया। सामाजिक विषमता तथा धार्मिक असहिष्णुता पर बौद्धधर्म ने आघात किया और सामाजिक न्याय, बौद्धिक स्वतंत्रता एवं धार्मिक उदारता की प्रवृत्ति को सबल बनाया। दर्शन के क्षेत्र में शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि के सिद्धांतों से बौद्धधर्म ने भारतीय दर्शन को समृद्ध किया। पालि एवं संस्कृत-भाषा में लिखे हुए बौद्ध-साहित्य, इतिहास, दर्शन एवं साहित्य के ग्रंथों से तत्कालीन साहित्य समृद्ध हुआ। नागार्जुन, अश्वघोष, वसुमित्र, धर्मकीर्त्ति, दिङ्नाग आदि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक एवं लेखक थे। बौद्धसंघ धार्मिक संगठन एवं अनुशासन का सुंदर नमूना था। जाति-पाँति तथा ऊँच-नीच की भावना पर आघात पहुँचा कर बौद्ध-धर्म ने सामाजिक एकता को दृढ़ किया। अंत में बौद्धधर्म के कई सिद्धांत, जैसे अहिंसा और दया, ब्राह्मण-धर्म के अंग बन गये तथा भागवत अथवा वैष्णव धर्म में अहिंसा को परम धर्म मान लिया गया।

कला के क्षेत्र में बौद्धधर्म की देन अद्वितीय है। बौद्धधर्म के प्रभाव से वास्तुकला, मूर्त्तिकला तथा चित्रकला का अभूतपूर्व विकास हुआ, जिसके अनेक उत्कृष्ट उदाहरण आज भी विद्यमान हैं। साँची, भरहुत और नागार्जुन कोंडा के स्तूप; कार्ले, अजंता तथा एलोरा के भित्ति-चित्र और गुफाओं में बने मंदिर एवं अशोक के स्तंभ आज भी भारतीय कला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। गया का बौद्ध मंदिर तथा साँची स्तूप का घेरा और प्रवेश-द्वार हमारे गर्व के विषय हैं। बौद्ध विहारों, मंदिरों, स्तूपों तथा मूर्त्तियों के निर्माण से वास्तुकला एवं मूर्तिकला के क्षेत्र में नई शैलियों का विकास हुआ। मथुरा-कलाशैली तथा गांधार-कलाशैली इसके उदाहरण हैं।

भारत के बाहर बहुत दूर तक भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार का श्रेय बौद्धधर्म को ही है। बौद्ध भिक्षुओं ने इस धर्म का प्रचार एशिया के अनेक देशों में किया, जिससे एशिया के विभिन्न देशों के साथ भारत का घनिष्ठ व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध स्थापित हुआ। विदेशों से अनेक बौद्ध भिक्षु भारतीय विश्वविद्यालयों में बौद्धधर्म एवं दर्शन के अध्ययन के लिए आने लगे। इससे भारत ने वास्तव में जगद्गुरु का स्थान ग्रहण कर लिया। मध्य एशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों के जन-जीवन पर भारतीय धर्म एवं संस्कृति की अमिट छाप पड़ गई, जो आज भी विद्यमान हैं। थाईलैंड, कंबोडिया, जावा-सुमात्रा, बर्मा, लंका, तिब्बत एवं नेपाल की संस्कृति इस बात का प्रमाण है। अतः, इसमें संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति के विकास में बौद्धधर्म की देन महत्त्वपूर्ण है। बौद्धधर्म ने भारतीय संस्कृति के ऐसे तत्त्वों को पुष्ट किया, जिनसे भारतीय संस्कृति की गरिमा में वृद्धि हुई।

बुद्धकालीन सभ्यता एवं संस्कृति

प्रारंभिक पालि-साहित्य, जैसे जातक एवं पिटक-ग्रंथ बौद्ध धर्म के उदय के समय की भारतीय स्थिति पर बड़ा प्रकाश डालते हैं। इन ग्रंथों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि उत्तर-पूर्वी भारत राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का केंद्र बनता जा रहा था। विशेषतः बौद्धधर्म के प्रचार का केंद्र उत्तर-पूर्वी भारत ही था। इस युग में चार प्रसिद्ध राज्य एवं दस गणराज्य थे। चार शक्तिशाली राज्यों के नाम हैं—(१) मगध, (२) कोशल, (३) वत्स और (४) अवंति। इन चारों राज्यों में शक्ति-विस्तार के लिए युद्ध हुआ करते थे। अभी किसी सार्वभौम राज्य का उदय नहीं हुआ था। आपसी संघर्ष के अतिरिक्त ये राज्य गणराज्यों को हड़पने के लिए भी संघर्ष करते थे। बौद्ध-साहित्य से इस युग में दस गण-राज्यों के अस्तित्व का पता चलता है। ये थे—

(१) कपिलवस्तु का शाक्य-गणराज्य।
(२) रामग्राम का कोलिय-गणराज्य।

(३) पिप्पलिवन का मोरिय-गणराज्य ।
(४) कुशीनगर का मल्ल-गणराज्य ।
(५) पावा का मल्ल-गणराज्य ।
(६) अल्लकप्प का बुलि-गणराज्य ।
(७) वैशाली का लिच्छवि-गणराज्य ।
(८) मिथिला का विदेह-गणराज्य ।
(९) सुंसुमगिरि का भर्ग-गणराज्य ।
(१०) केसपुत्त का कालाम-गणराज्य ।

ये सभी गणराज्य पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा उत्तर-पश्चिमी बिहार में स्थित थे। कुछ नेपाल की तलहटी में भी फैले हुए थे। बुद्ध का इन गणराज्यों से घनिष्ठ संपर्क था। उनका जन्म कपिलवस्तु के शाक्य-गणराज्य में हुआ था तथा उनका विवाह कोलिय-गणराज्य में हुआ था। वैशाली के लिच्छवि-गणराज्य में वे अक्सर जाया करते थे। उनका परिनिर्वाण कुशीनगर के मल्ल-गणराज्य में हुआ। इन गणराज्यों की शासन-प्रणाली बहुत अर्थों में लोकतांत्रिक कही जा सकती है। यहाँ कोई राजा नहीं होता था, पर 'गण के अध्यक्ष' को 'राजा' कहा जाता था। बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्य-गण के राजा थे। गणराज्यों में सभाभवनों में नियमित रूप से बैठकें होती थीं। सभाभवनों को 'संथागार' कहा जाता था। दुरूह प्रश्नों पर निर्णय मतदान द्वारा होता था, जिसे 'छंद' कहते थे। मत प्रकट करने के लिए सदस्यों को शलाका (लकड़ी की छोटी तख्ती) दी जाती थी। ये शलाकाएँ विविध मतों को प्रकट करने के लिए कई रंगों में रँगी होती थीं। सर्वसम्मति नहीं होने पर निश्चय बहुमत से होता था। गण-परिषद् की कार्यवाही प्रारंभ करने के लिए सदस्यों की कम-से-कम संख्या निश्चित थी, जिसे 'गणपूर्त्ति' कहते थे। संथागार के भीतर विनय का पालन करना पड़ता था। अनावश्यक बातचीत करना मना था। किसी प्रस्ताव के नियमतः पास होने पर उस पर विचार नहीं होता था। परिषद् की कार्यवाही का लिखित विवरण रखा जाता था। वैशाली गणराज्य की न्यायपालिका अत्यंत सुव्यवस्थित थी। यहाँ ७७०० (सात हजार सात सौ) राजा थे। संभवतः लिच्छवि कुल के सभी प्रभावशाली व्यक्ति सामूहिक रूप से शासक माने जाते थे। अतः, इन गणराज्यों में एक व्यक्ति अथवा राजा का शासन नहीं था, वरन् लोकतांत्रिक संस्थाओं का शासन था।

तत्कालीन चारों राज्यों में महात्मा बुद्ध ने अक्सर यात्राएँ कीं तथा अपने धर्म का प्रचार किया। कोशल के राजा प्रसेनजित तथा मगध के राजा बिंबिसार एवं अजातशत्रु से भी उनका घनिष्ठ संबंध था।

सामाजिक अवस्था

महावीर एवं बुद्ध के क्रांतिकारी उपदेशों से सामाजिक विषमता एवं जाति-पाँति की कटुता और कठोरता में थोड़ी कमी हुई, पर इन बुराइयों का सर्वथा लोप नहीं हुआ। वर्ण-व्यवस्था इस युग में भी जीवित रही। निश्चित रूप से ब्राह्मणों के प्रभाव एवं महत्त्व में कमी हो गई। अब ब्राह्मणों का स्थान श्रमणों, मुनियों एवं भिक्षुओं ने ले लिया। इन श्रमणों में सभी वर्ण के लोग सम्मिलित थे तथा इन लोगों ने गृहस्थी का त्याग कर लोकसेवा का व्रत लिया था। इन श्रमणों के प्रभाव से धीरे-धीरे पशु-बलि तथा यज्ञों का जोर कम हो गया और नैतिकता एवं सादगी पर बल दिया जाने लगा। क्षत्रिय अपने-आप को ब्राह्मणों के समकक्ष ही नहीं, वरन् उनसे उच्चतर मानते थे। प्रारंभिक बौद्ध साहित्य में वर्णों की गणना क्षत्रियों से प्रारंभ होती है, न कि ब्राह्मणों से। शासक-वर्ग खत्तिय अथवा क्षत्रिय कहलाता था तथा यह वर्ग बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं भौतिक—तीनों ही क्षेत्रों में अपने-आप को नेता मानता था। संभवतः ब्राह्मण-धर्म में ब्राह्मणों की प्रधानता के विरुद्ध क्षत्रियों की प्रतिक्रिया इस युग में मुखरित हुई। अनेक क्षत्रिय ब्राह्मणों को हीन समझ कर उनका उपहास भी करते थे। महात्मा बुद्ध के शिष्यों में अनेक ब्राह्मण भी थे, पर बौद्धधर्म एवं जैनधर्म मुख्यतः क्षत्रिय एवं वैश्य-वर्ग में अधिक लोकप्रिय हुए। वैश्य-वर्ग के संपन्न प्रतिनिधि 'सेट्ठी' कहे जाते थे। वैश्य-वर्ग को पालि-साहित्य में 'गहपति' अथवा 'गृहपति' कहा गया है। प्रारंभिक बौद्ध-साहित्य से इस बात का प्रमाण मिलता है कि जातिगत अहंकार की भावना इस युग में जीवित थी। खत्तिय तथा सेट्ठी-वर्ग अपने कुल पर बड़ा गर्व करते थे और शादी-विवाह अपने ही वर्ग में सीमित रखते थे। बौद्ध-साहित्य के अनुसार बुद्ध का जन्म केवल क्षत्रिय एवं ब्राह्मण-वर्ग में ही हो सकता था। चार वर्णों के साथ-साथ इस युग में अनेक पेशेवर जातियों का प्रादुर्भाव हो गया था। कुछ हीन शिल्पों तथा हीन जातियों का उल्लेख भी बौद्ध-साहित्य में मिलता है। हीन जातियों में चांडाल, पुक्कस, निषाद आदि थे, जो हीन व्यवसायों के द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे। इससे स्पष्ट है कि समाज में कुछ अस्पृश्य समझी जानेवाली जातियाँ भी थीं। छुआछूत की प्रथा का भी उल्लेख है। चांडालों के संपर्क से छूत लगने की भावना विद्यमान थी।

सामान्यतया विवाह समान वर्ण एवं जाति में होते थे, पर अंतरजातीय विवाह भी होते थे। जाति-प्रथा की कठोरता में कमी आई थी। प्रीतिभोजों में राजकुमार, पुरोहित एवं व्यापारी एक साथ बैठ कर भोजन करते थे। उच्च जाति के लोग निम्न जाति की लड़कियों से विवाह करते थे। ऊँचे वर्ण के लोग भी खेती, पशुपालन व्यापार तथा नौकरी आदि व्यवसाय करने लगे थे। स्त्रियों की दशा पहले से गिर चुकी थी। स्वयं भगवान् बुद्ध ने बौद्धसंघ में नारियों के प्रवेश का प्रारंभ में विरोध किया था, फर बाद में उन्होंने अनुमति दे दी थी। बौद्धसंघ में प्रवेश के पश्चात् बुद्ध ने

भिक्षुणियों पर आठ कठोर प्रतिबंध लगा दिये थे। इससे प्रमाणित होता है कि समाज में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार नहीं थे, उनकी स्वतंत्रता सीमित थी। पर, समाज में उनके साथ आदर का व्यवहार किया जाता था, उनकी शिक्षा का प्रबंध किया जाता था। उन्हें गृह-कार्य एवं नृत्य-संगीत की शिक्षा दी जाती थी। इस काल की कुछ नारियाँ एवं भिक्षुणियाँ अपने ज्ञान एवं अपनी तर्क-विद्या के लिए प्रसिद्ध थीं। समाज में पर्दा-प्रथा प्रचलित नहीं थी, केवल राजकुल की स्त्रियाँ वाहर निकलने पर सवारियों में पर्दा करती थीं। स्त्रियों को अपने शील एवं लज्जा का ध्यान रखना पड़ता था। समाज में गणिकाएँ या वेश्याएँ भी होती थीं।

सामान्यतया लड़कियों का विवाह सोलह वर्ष की आयु में किया जाता था। बाल-विवाह की प्रथा उस समय प्रचलित नहीं थी। लड़के-लड़कियों की शादी माता-पिता ही तय करते थे, पर राजकुलों में स्वयंवर की प्रथा भी प्रचलित थी। कभी-कभी गांधर्व एवं सगोत्र विवाह भी होते थे। पर, इनको निंदनीय माना जाता था। विवाह में दहेज की प्रथा भी प्रचलित थी। धनी सेठ अपनी लड़कियों की शादी के बाद वैलगाड़ियों में लाद कर सामान भेजा करते थे। साधारणतया एक पत्नी से ही विवाह की प्रथा थी पर कुछ संपन्न लोग एक से अधिक विवाह भी करते थे। बौद्धधर्म के प्रभाव से वहुत-सी स्त्रियाँ भिक्षुणी भी हो जाया करती थीं।

आर्थिक दशा

जनसंख्या का अधिकांश गाँवों में रहता था, जहाँ घर प्रायः पास-पास सटे हुए होते थे। गाँवों के चारों ओर खेत होते थे, जिन्हें, 'ग्राम-क्षेत्र' कहा जाता था। खेतों के बीच सिंचाई के लिए नालियाँ वनी होती थीं। खेत एक दूसरे से मेड़ों या झाड़ियों से अलग किए जाते थे। खेतों के वाद वन होते थे, जिन पर गाँव वालों का सामूहिक अधिकार होता था। इन वनों में मवेशी चरा करते थे।

खेतों पर किसानों का अधिकार था। राज्य को उपज का छठा हिस्सा कर के रूप में मिलता था। किसान ग्राम-परिषद् अथवा पंचायत की अनुमति के विना अपना खेत विक्रय या रेहन नहीं कर सकता था। जमींदारी की प्रथा नहीं थी, इसलिए छोटे किसानों की संख्या अधिक थी। गाँव का प्रवंध ग्राम-सभा करती थी, जिसका प्रमुख ग्राम-भोजक होता था। ग्राम-परिषद् सार्वजनिक हित के अनेक काम करती थी। सिंचाई की नालियों, सभा-भवन तथा अतिथिशालाओं का निर्माण ग्राम-पंचायत ही करती थी। इस प्रकार, गाँव की स्थिति प्रायः सुखी और खुशहाल थी और सामूहिक सहयोग की भावना से ग्रामीण जनता सुसंगठित जीवन व्यतीत करती थी।

वाणिज्य, व्यवसाय तथा नगर

बौद्ध-साहित्य में कुछ प्रमुख नगरों का उल्लेख मिलता है। ये हैं—वाराणसी, राजगृह, कौशांबी, श्रावस्ती, वैशाली, चंपा (भागलपुर), तक्षशिला, अयोध्या, उज्जयिनी

मथुरा, साकल तथा प्रतिष्ठान। इनमें से अधिकांश नगर तत्कालीन राज्यों अथवा गणराज्यों की राजधानी थे। ये नगर विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योग-धंधों के केंद्र थे। नगरों का निर्माण प्राचीन दुर्ग के रूप में होता था। नगरों के चारों ओर चहार-दीवारी बनायी जाती थी। दुर्ग के अंतर्गत राजप्रासाद, शासन के कार्यालय तथा मुख्य कर्मचारियों के निवासस्थान होते थे। साधारण जनता दुर्ग के बाहर उपनगरों में निवास करती थी। नगरों के मकान लकड़ी, ईंट और पत्थर के बने होते थे। धनिकों के मकान विशाल और आकर्षक होते थे तथा गरीबों के मकान छोटे और सादे होते थे।

कृषि इस युग में भी जनता का मुख्य व्यवसाय था, पर अन्य उद्योग-धंधों का विकास भी इस युग में हो चुका था। इस काल में मुख्य अट्ठारह शिल्पों की गणना मिलती है, जिनमें बढ़ई, कुम्हार, लुहार, सुनार, रथकार, चमार, माली, चित्रकार, तेली, जुलाहा, रँगरेज, जौहरी, हाथी-दाँत-शिल्पी, हलवाई, रसोइयाँ आदि के व्यवसाय शामिल थे। चमड़े का काम, मछली मारना, सँपेरे का काम, नाचना, अभिनय करना आदि को बौद्ध साहित्य में हीन-शिल्प माना गया है। एक ही पेशा मानने वाले 'श्रेणी' नामक संगठन से नियंत्रित होते थे। श्रेणी का प्रमुख 'जेट्ठक' कहा जाता था। श्रेणियों के अपने नियम बने होते थे, जिनसे उनका संचालन होता था। श्रेणी के संचालन का उत्तरदायित्व 'जेट्ठक' अथवा 'ज्येष्ठ' पर होता था। श्रेणी में 'जेट्ठक' का पद अत्यंत सम्मानित एवं गौरवपूर्ण था।

इस युग में व्यापार-वाणिज्य का समुचित विकास हो गया था तथा जल एवं स्थल दोनों ही मार्ग से विदेशों से व्यापार के प्रमाण मिलते हैं। सिंहल (लंका), सुवर्णभूमि (बर्मा), जावा, सुमात्रा बावेरु (बैबिलोन) आदि देशों से समुद्रमार्ग से व्यापार होता था। पूर्वी समुद्रतट पर ताम्रलिप्ति (तामलुक) तथा पश्चिमी समुद्रतट पर भरुकच्छ (भड़ौंच) प्रसिद्ध बंदरगाह थे, जहाँ समुद्र में जानेवाली नौकाएँ आती-जाती थीं। देश के बाहर जाने वाली वस्तुओं में मलमल, रेशम, किमखाब, कढ़े हुए वस्त्र, कंबल, कवच, सुगंधित द्रव्य, हाथी-दाँत के सामान, रत्न आभूषण आदि शामिल थे। अंतर्देशीय व्यापार भी बहुत बड़े पैमाने पर होता था। देश के भीतर बड़े-बड़े नगरों को मिलाने वाली सड़कें और नदियाँ थीं। स्थल-मार्ग से बहुत बड़ी संख्या में व्यापारी गाड़ियों और जानवरों पर माल लाद कर चलते थे। इन बड़े-बड़े झुंडों को 'सार्थवाह' कहा जाता था। नदियों में नावों के बेड़े चला करते थे। कभी-कभी सार्थवाह लूट भी लिए जाते थे। उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ को वाराणसी, श्रावस्ती एवं राजगृह को मिलाने वाले कई वणिक्-पथ थे, जिन पर सार्थवाह चला करते थे।

इस युग में सिक्के विनिमय के माध्यम बन चुके थे। पाली-साहित्य में निष्क तथा सुवर्ण नामक सिक्कों का उल्लेख मिलता है। ये दोनों ही सिक्के सोने के बने

होते थे। इस काल का सबसे प्रचलित सिक्का कार्षापण था, जो ताँबे का बनता था तथा तौल में १४६ ग्रेन के बराबर होता था। ताँबे के छोटे सिक्के 'माषक' तथा 'काकणिका' कहे जाते थे। इस प्रकार, इस युग में आर्थिक जीवन भी सुव्यवस्थित हो चला था। वस्तुतः, इस काल में प्राचीन भारतीय सभ्यता का रूप स्थिर हो चला था। थोड़े बहुत हेरफेर के साथ भारतीय सभ्यता का यह स्वरूप मध्ययुग के प्रारंभ तक बना रहा।

प्राचीन भारत का सांस्कृतिक तथा औपनिवेशिक प्रसार

अत्यंत प्राचीन काल से भारत का संसार के दूसरे देशों से घनिष्ठ संबंध और संपर्क रहा है। बहुत-से लेखकों की ऐसी धारणा रही कि भारत सदैव संसार के दूसरे देशों से अलग रहा। इस प्रकार की धारणा का कारण है—मध्यकालीन तथा आधुनिक भारत की रूढ़िवादिता। समुद्र-यात्रा बहुत हाल तक हिंदुओं के लिए वर्जित एवं निषिद्ध मानी जाती थी। पर, आधुनिक ऐतिहासिक खोजों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि यह रूढ़िवादिता तथा कूपमंडूकता प्राचीन भारत में नहीं थी। प्राचीन भारत के निवासी एक जीवंत संस्कृति के प्रतिनिधि थे तथा वे इस देश की भौगोलिक सीमा के भीतर बंद नहीं थे। प्राचीन भारत के निवासियों की साहसी प्रतिभा की पूर्ण अभिव्यक्ति उपनिवेशों की स्थापना तथा सांस्कृतिक प्रसार में हुई। प्राचीन भारतीय संस्कृति महासागरों को पार कर तथा दुर्लंघ्य पर्वतों का अतिक्रमण कर, मध्य एशिया, चीन, जापान तथा सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में मुखरित एवं प्रसारित हुई। इस सांस्कृतिक प्रसार तथा औपनिवेशिक विस्तार का इतिहास विश्व-इतिहास का एक विशिष्ट अध्याय है।

प्रारंभिक संपर्क

अत्यंत प्राचीन काल, प्रागैतिहासिक युग में भी भारत का संपर्क विदेशों से था। उत्तर-पाषाणकाल के जो अवशेष मिले हैं, उनसे सिद्ध होता है कि उस युग में भी भारतीयों ने पूर्व एशिया, दक्षिण पूर्व एशिया तथा मध्य एशिया से संपर्क स्थापित किया था। इसके पश्चात् सिंधु-घाटी की सभ्यता के युग में भी पश्चिम तथा मध्य एशिया से घनिष्ठ संपर्क स्थापित था। सिंधु-घाटी में, हरप्पा तथा मोहेन्जोदारो में जो खोपड़ियाँ मिली हैं, वे इस बात का प्रमाण हैं कि इन नगरों में कई देशों तथा जातियों के निवासी रहते थे। वैदिक सभ्यता के निर्माता आर्य लोग भारतवर्ष में बाहर से ही आए थे। संभवतः, द्रविड़ लोग भी बाहर से ही आकर बसे थे। ये लोग जिन देशों से आकर यहाँ बसे थे, उन देशों से इन लोगों ने कुछ दिनों तक संपर्क बनाए रखा।

पश्चिमी जगत से संपर्क

व्यापारिक संबंध

ऐतिहासिक युग में भी यह संपर्क आसपास के देशों से कायम रहा। पश्चिम में नीरिया, मिस्र तथा बैबिलोनिया से व्यापारिक संपर्क स्थापित था। व्यापारिक संवंध सें न केवल वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था, वरन् संस्कृति और विचारों का भी। मौर्य युग से इस सांस्कृतिक तथा व्यापारिक संवंध के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। पहली शताब्दी ईस्वी में इस व्यापारिक संवंध का विशद् वर्णन मिलता है। पहली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक यूनानी नाविक ने, जो मिस्र में रहता था, समुद्र से भारत की यात्रा की। यह लाल सागर और अरव सागर होता हुआ यहाँ आया था। 'दि पेरिप्लस ऑफ दि एरिथ्रयन सी' नामक पुस्तक में उसने अनुभवों का वर्णन किया। इस पुस्तक से यह पता चलता है कि भारत के भड़ौंच आदि वंदरगाहों से बहुत-सा हिंदुस्तानी माल लाद कर यूनान, रोम और मिस्र आदि देशों में भेजा जाता था। भारत में वने श्रृंगार के प्रसाधन इन देशों में वहुत लोकप्रिय थे। इसके अतिरिक्त भारतीय मोती, वहुमूल्य पत्थर, मसाले तथा वारीक सूती कपड़ों की माँग रोम, मिस्र आदि देशों में वहुत थी। बहुत-से भारतीय अरव सागर के कई टापुओं में व्यापार की सुविधा के लिए वस भी गए थे। सोकोट्रा नामक टापू में भारतीय व्यापारियों के नगर वसे हुए थे। इस व्यापारिक संवंध का हवाला रोम-लेखक प्लिनी की पुस्तक में भी मिलता है। प्लिनी दुःखपूर्वक अपनी पुस्तक में लिखता है कि हिंदुस्तान से विलास की सामग्री खरीदने में लाखों सोने के सिक्के प्रतिवर्ष भारत जाते हैं। उसके इस कथन की पुष्टि भारत में पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजों से हुई। बहुत-से रोमन सिक्के भारत के दक्षिणी तथा पश्चिमी भागों में मिले हैं। इस व्यापारिक संबंध के अतिरिक्त, रोम के साथ प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक संबंध भी स्थापित था। २६ ई०-पू० में दक्षिण भारत के पांड्य देश के राजा ने रोम के सम्राट आगस्टस के पास अपना प्रतिनिधि-मंडल भेजा था।

पश्चिमी जगत से व्यापारिक संवंध का केंद्र, मिस्र का अलेक्जैंड्रिया नामक वंदरगाह था। यहाँ तक समुद्र के रास्ते माल लदकर आता था तथा यहाँ से जलस्थल के विभिन्न मार्गों से अन्य देशों तक पहुँचाया जाता था। सिकंदर के आक्रमण ने यूरोप से भारत आने के कई मार्ग खोल दिए थे। एक स्थल-मार्ग फारस, सीरिया तथा एशिया माइनर होते हुए भूमध्य सागर तक पहुँचता था। इस मार्ग से भी व्यापार रोम तथा यूनान आदि देशों से होता था। पश्चिमी जगत के साथ यह व्यापारिक संबंध सातवीं सदी तक कायम रहा। सातवीं सदी ईस्वी में अरबों की शक्ति का उदय हुआ। इन लोगों ने जल-स्थल के व्यापारिक मार्गों पर एकाधिपत्य स्थापित

किया। इसके बाद, अरब लोग भारत तथा पश्चिमी जगत के बीच व्यापारिक संबंध के माध्यम बन गए। अरब सागर तथा स्थल-मार्ग से भारतीय सामान ले जाकर पश्चिमी देशों तक पहुँचाते थे। अरब लोगों का भारतवर्ष पर पहला आक्रमण भी इस व्यापारिक संबंध के सिलसिले में ही हुआ। सिंध के देवल नामक स्थान के कुछ समुद्री लुटेरों ने अरबों के आठ जहाजों को लूट लिया था। ये जहाज बहुमूल्य उपहारों से लदे हुए थे। सीलोन (लंका) के राजा ने अरब खलीफा को ये उपहार भेजे थे। इन लुटेरों को दंड देने के लिए सिंध पर अरबों का पहला आक्रमण हुआ। पहला आक्रमण असफल रहा। तब दूसरा आक्रमण मुहम्मद बिन कासिम की अध्यक्षता में हुआ। इस तरह सातवीं शताब्दी ईस्वी से, भारत का पश्चिमी जगत से सीधा व्यापारिक संबंध टूट गया।

सांस्कृतिक संबंध

अशोक के युग में पश्चिमी देशों से सांस्कृतिक संबंध स्थापित था, इसका प्रमाण अशोक के शिलालेखों से मिलता है। अशोक ने, बौद्ध भिक्षुओं को धर्मप्रचारार्थ पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका तथा दक्षिण-पूर्व यूरोप में भेजा। अशोक के लेखों के अनुसार, इन प्रदेशों में बौद्धधर्म का स्वागत हुआ। इसकी पुष्टि के लिए दूसरे प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। पर, इतना अवश्य ज्ञात है कि अशोक के बाद भी अलेक्जैंड्रिया के लोग बौद्धधर्म में अभिरुचि रखते थे तथा पश्चिमी एशिया के कई देशों में बौद्ध एवं ब्राह्मण-धर्म इस्लाम के उदय के पहले प्रचलित थे। पश्चिमी जगत भारतीय दर्शन से निस्संदेह परिचित था। पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव भी भारतीय संस्कृति पर पड़ा। गार्गी संहिता के युगपुराण खंड में स्पष्ट रूप से भारतीय ज्योतिष पर यूनानी प्रभाव स्वीकार किया गया है। यूनानी प्रभाव भारतीय कला तथा सिक्कों पर भी पड़ा। अरब लोग भारत तथा पश्चिमी जगत के बीच व्यापार के ही माध्यम नहीं बने, वरन् वे सांस्कृतिक आदान-प्रदान के भी माध्यम बन गए। भारतीय विद्याओं तथा विचारों को भी सीख कर उन लोगों ने पश्चिमी जगत को सिखलाया। अरब लोगों ने भारतीय चिकित्साशास्त्र तथा दशमलव-प्रणाली को सीखा तथा पश्चिमी जगत को भी सिखलाया। अंकगणित को भारतवर्ष से सीखने के कारण, अरब लोगों ने अंकगणित का नाम ही 'इल्म-हिन्दसा' रख दिया।

मध्य एशिया से संपर्क

मध्य एशिया में बौद्धधर्म का प्रचार अशोक के समय में हुआ। तिब्बती ग्रंथों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि अशोक के पुत्र राजकुमार बुस्तन ने मध्य एशिया में बौद्धधर्म का प्रचार किया। तत्पश्चात् कुशान-सम्राट कनिष्क के राज्यकाल में

कास्पियन समुद्र से चीन की सीमा तक रहने वाली खानाबदोश जातियों ने बौद्धधर्म को स्वीकार कर लिया। कुशान-सम्राट कनिष्क का साम्राज्य मध्य एशिया के बहुत बड़े भाग पर विस्तृत था। मध्य एशिया पर भारत का धार्मिक तथा सांस्कृतिक साम्राज्य हजारों वर्षों से भी अधिक समय तक कायम रहा। सातवीं सदी ईस्वी में चीनी यात्री हुएन्-सांग ने चीन से भारत आते-जाते कई देशों में बौद्ध स्तूप, बौद्ध-विहार, भारतीय पुस्तकें तथा भारतीय लिपि को देखा। आधुनिक खुदाइयों से भी मध्य एशिया में भारत के सांस्कृतिक प्रसार की पूर्णरूपेण पुष्टि हुई है। खुदाई में बौद्ध स्तूप तथा विहारों के भग्नावशेष, बौद्ध तथा हिंदू-देवताओं की प्रतिमाएँ और भारतीय ग्रंथों की हस्तलिपियाँ पायी गयी हैं। भारत का यह सांस्कृतिक साम्राज्य मध्य एशिया में लगभग तेरहवीं सदी तक कायम रहा। कहा जाता है कि चंगेज खाँ भी बौद्धधर्म के किसी रूप को मानता था। इस्लाम की विजयिनी सेनाओं ने इस सांस्कृतिक प्रभाव को समाप्त कर दिया।

चीन से संपर्क

चीन के साथ भारत का घनिष्ठ सांस्कृतिक संबंध निर्विवाद सिद्ध है। बौद्ध-धर्म के प्रचार के बाद दोनों देशों में हजारों वर्षों तक अत्यंत घनिष्ठ संबंध कायम रहा। आज चीन के करोड़ों निवासी बौद्ध धर्म को मानते हैं। पर, प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति का अत्यंत गहरा रंग चीनी जाति पर चढ़ा। बौद्धधर्म के मूल स्रोतों से परिचित होने के लिए अनेक चीनी यात्री अदम्य उत्साह के साथ मार्ग की कठिनाइयों को सहते हुए यहाँ आए। चीन से भारत-भूमि आकर बौद्धधर्म का गंभीर ज्ञान प्राप्त करने के इस आंदोलन के तीन प्रमुख प्रतिनिधि हमारे सामने आते हैं, जो इतिहास में अमर हो गए हैं। ये हैं—फाहियान, हुएन्-सांग तथा इत्सिग। इनके अतिरिक्त और भी सैकड़ों आए होंगे, जो प्रसिद्ध नहीं हो सके। इन लोगों ने अध्ययन के साथ बौद्धधर्म की पुस्तकों तथा मूर्त्तियों का संग्रह किया। बौद्ध-पुस्तकों के अनुवाद के लिए चीनी यात्रियों ने पाली एवं संस्कृत का तो अध्ययन किया ही, साथ-ही-साथ उन लोगों ने बहुत से भारतीय विद्वानों को बुला कर चीन में बसाया। सैकड़ों भारतीय विद्वानों ने चीन में रह कर भारतीय ग्रंथों के अनुवाद में चीनियों की सहायता की। इनमें बोधिधर्म और परमार्थ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। बहुत-से मूल ग्रंथ, जो भारत में लुप्त हो गए हैं, वे चीन में अनुवाद-रूप में पाए जाते हैं। इस सांस्कृतिक संबंध के साथ ही चीन के साथ व्यापारिक संबंध भी सदैव रहा। कई भारतीय राजाओं ने दूत-मंडल भी चीनी राजाओं के पास भेजे।

जापान तथा कोरिया

चौथी शताब्दी में बौद्धधर्म चीन से कोरिया पहुँचा तथा वहाँ से जापान में फैला। इन दोनों देशों में आज भी बौद्धधर्म माना जाता है। इन देशों की संस्कृति बौद्धधर्म से बहुत प्रभावित हुई है।

लंका

लंका की दो पुस्तकें—'दीपवंश' तथा 'महावंश'—इस बात को प्रमाणित करती हैं कि अशोक ने बौद्धधर्म का प्रचार लंका में किया। बौद्धधर्म तथा पालि-भाषा के प्रचार के लिए अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा को भेजा था।

तिब्बत

यह देश भारत का पड़ोसी है। अतः, इसके साथ प्राचीन काल में, भारत का अत्यंत घनिष्ठ संबंध हजारों वर्षों तक कायम था। उस युग में तिब्बत के निवासी बाहरी दुनिया से संपर्क रखते थे। नेपाल से तिब्बत होकर चीन जाने का मार्ग था, जिससे बराबर व्यापार होता था तथा यात्री आते-जाते थे। तिब्बत सातवीं शताब्दी में, प्रसिद्ध राजा स्रांग-सैन-गैम्पो (Srong-San-Gampo) के नेतृत्व में एक शक्तिशाली राज्य बन गया था। इसी के समय में बौद्धधर्म तिब्बत पहुँचा। इसकी दो रानियाँ, चीन तथा नेपाल की राजकुमारियाँ थीं। संभवतः इन्हीं रानियों के प्रभाव से इसने बौद्धधर्म ग्रहण किया तथा इस देश में बौद्धधर्म का प्रचार किया। उस समय खोतान में भारतीय वर्णमाला तथा लिपि प्रचलित थी। उसने वहाँ से, तिब्बत में भारतीय लिपि को प्रचलित किया। इस प्रकार, भारतीय प्रभाव से तिब्बत में एक नई संस्कृति का उन्मेष हुआ। चीन की तरह तिब्बत से भी बहुत बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षु ज्ञानार्जन के लिए नालंदा तथा विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों में आते थे। पाल-राजाओं के शासनकाल में तिब्बत के साथ सांस्कृतिक संबंध और घनिष्ठ हो गया। अनेक भारतीय बौद्ध भिक्षुओं ने तिब्बत जाकर बौद्धधर्म तथा साहित्य का प्रचार किया। आज भी बंगाल के भिक्षु अतिस दीपंकर का नाम तिब्बत में बड़े सम्मान से लिया जाता है। सैकड़ों बौद्धग्रंथों का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया गया। ऐसे दो प्रसिद्ध संग्रह 'तंजूर' और 'कंजूर' आज भी पाए जाते हैं।

फारस तथा अफगानिस्तान पर भारतीय धर्म एवं संस्कृति का प्रभाव

राजनैतिक दृष्टि से अफगानिस्तान का बहुत बड़ा भाग बहुत दिनों तक भारतीय राज्य में सम्मिलित था। मौर्य चंद्रगुप्त तथा कुशान-राजा कनिष्क का राज्य तो निस्संदेह अफगानिस्तान तक विस्तृत था। इस राजनैतिक संबंध के अलावा

भौगोलिक दृष्टि से भी अफगानिस्तान का कुछ भाग भारत का अंग माना जाता था। इस कारण से अफगानिस्तान में भारतीय धर्मों का प्रचार हुआ। फारस में भी भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ। फाहियान तथा हुएन्-सांग के वर्णनों से पता चलता है कि उनके समय में अफगानिस्तान बौद्धधर्म का एक प्रधान केंद्र था। खुदाई में मिले बौद्ध-विहारों तथा स्तूपों के भग्नावशेषों से उनके वर्णन की पुष्टि होती है। अलबेरुनी के अनुसार, इस्लाम के प्रचार के पहले फारस, खुरासान, इराक तथा सीरिया के कई भागों में बौद्धधर्म का प्रचार था।

हिंद चीन तथा पूर्वी द्वीपसमूह

भारत के सांस्कृतिक तथा औपनिवेशिक विस्तार के लिए सबसे उर्वर क्षेत्र एशिया का दक्षिणी-पूर्वी भाग सिद्ध हुआ। बंगाल की खाड़ी को पार करने के बाद इन देशों में आसानी से भारतीय पहुँचते थे। हिंद-चीन तथा मलय-द्वीपसमूह जाने के लिए एक स्थल-मार्ग भी था। इन देशों में पिछड़ी जातियाँ रहती थीं। पर, यहाँ मसाले तथा बहुमूल्य खनिज पदार्थ पाए जाते थे। इस कारण भारतीयों ने इन देशों पर आसानी से सिक्का जमाया तथा पूरा व्यापार अपने हाथों में ले लिया। द्वितीय शताब्दी ईस्वी तक भारतीयों ने इन देशों से घनिष्ठ व्यापारिक संबंध स्थापित कर लिया था। इन देशों के साथ घनिष्ठ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक संबंध की पुष्टि कई साधनों से होती है। 'दि पेरिप्लस ऑफ दि एरिथ्रियन सी' नामक पुस्तक में इन देशों के साथ आवागमन तथा व्यापार का संकेत मिलता है। टालेमी (Ptoleme) ने दूसरी शताब्दी ईस्वी में जावा, सुमात्रा तथा मलय-प्रायद्वीप के प्रधान व्यापारिक केंद्रों का हवाला दिया है। बौद्धग्रंथों में भी इन केंद्रों के नाम मिलते हैं। टालेमी यह भी लिखता है कि भारत के पूर्वी तट से मलय-प्रायद्वीप जाने का सीधा सामुद्रिक मार्ग था। जातक-कथाएँ तथा 'कथासरित्सागर' में ऐसे संदर्भ मिलते हैं, जिनमें व्यापारियों के सुवर्णभूमि जाने के क्रम में समुद्र-यात्रा का वर्णन मिलता है। सुवर्णभूमि इन्हीं कई देशों को कहा जाता था; क्योंकि व्यापारी वहाँ से काफी संपत्ति अर्जित कर लौटते थे। कुछ कहानियों में समुद्र-यात्रा की भयानक विपत्तियों का भी वर्णन है। बहुत-सी कहानियों में ऐसे राजकुमारों का वर्णन है, जो यहाँ पैतृक संपत्ति से वंचित होने पर किसी देश या द्वीप में चले गए तथा वहाँ उन्होंने राज्य स्थापित किए।

संभवतः, ऐसे ही साहसी भारतीय राजकुमारों ने जाकर इन द्वीप-समूहों तथा देशों में राज्य स्थापित किए। दूसरी शताब्दी ईस्वी के बाद, इन देशों के शासकों के भारतीय नाम ही मिलते हैं। इनका धर्म, इनकी सामाजिक व्यवस्था, भाषा तथा लिपि सभी भारतीय थे। अतः, हम इन देशों को भारत के उपनिवेश कह सकते हैं। दूसरी

शताब्दी ईस्वी तथा पांचवीं शताब्दी ईस्वी के बीच ऐसे भारतीय उपनिवेशों की स्थापना मलय-प्रायद्वीप, कंबोडिया, अन्नाम, जावा, सुमात्रा, वाली तथा बोर्नियो के द्वीपों में हुई। इन देशों में संस्कृत-शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो वहाँ के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं तथा चीनी साहित्य से भी वहाँ के इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है। इन देशों में ब्राह्मण-धर्म, विशेषतः शैवधर्म का प्रचार हुआ। बौद्धधर्म भी थोड़ा-बहुत प्रचलित था। वहाँ के निवासियों ने भी शासकों के धर्म और संस्कृति को अपनाया तथा क्रमशः दोनों जातियों में शादी-विवाह भी हुआ। दोनों जातियों के सम्मेलन से हिंदू-संस्कृति में भी परिवर्त्तन हुए, फिर भी एक हजार वर्षों तक यहाँ के समाज में भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व पाए जाते थे।

भारतीयों ने इन देशों में बड़े-बड़े राज्य स्थापित किए। इनमें से कुछ राज्य हजार वर्षों से भी अधिक कायम रहे। भारतवर्ष में हिंदू-शासन की समाप्ति के बाद भी इनमें से कुछ राज्य कायम रहे। हिंद चीन में, भारतीयों ने दो शक्तिशाली राज्य स्थापित किए—चंपा तथा कंबुज। चंपा का राज्य पूरे आधुनिक अन्नाम पर फैला हुआ था। यह भारतीय राज्य ईसा की प्रथम शताब्दी से १६ वीं सदी तक बना रहा। इस उपनिवेश में कई समृद्ध नगर थे। पूरा देश, सुंदर बौद्ध और हिंदू-मंदिरों से अलंकृत था। अमरावती नगरी यहाँ की राजधानी थी। यहाँ के कुछ हिंदू-राजा अत्यंत वीर और साहसी थे। इनके नाम हैं—जय परमेश्वर वर्मदेव ईश्वरमूर्त्ति (सन् १०५०-१०६० ई०), हरिवर्मन् (सन् १०७०-१०८१ ई०), महाराजाधिराज श्रीजयइंद्रवर्मन् (सन् ११६३-११८० ई०), जयसिंहवर्मन् (सन् १२५७-१२८७ ई०)। ये राजा अत्यंत प्रसिद्ध हुए। इन लोगों ने बाहरी आक्रमणकारियों से देश की रक्षा की। पश्चिम में रहनेवाले कंबुजनिवासियों तथा मंगोल-सरदार कुबलाई खाँ के हमलों का इन लोगों ने वीरता से सामना किया। अंत में अन्नामियों के अनवरत आक्रमण तथा १६वीं सदी में मंगोलों के आक्रमण से चंपा के हिंदू-राज्य का पतन हो गया।

कंबोज

इस राज्य की उत्पत्ति के विषय में कुछ विशेष नहीं ज्ञात है। संभवतः, प्रथम या द्वितीय शताब्दी ईस्वी में इस राज्य की स्थापना हो गई थी। यह राज्य कंबोडिया के दक्षिणी भाग में स्थित था तथा चीनी लोग इसे 'फु-नान' कहते थे। यह एक अत्यंत शक्तिशाली राज्य था तथा इसका आधिपत्य आसपास के कई राज्यों पर स्थापित था।

इस राज्य की उत्पत्ति के विषय में कई अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। एक अनुश्रुति के अनुसार, कौंडिन्य ने सोमा नाम की एक नागकन्या से विवाह किया तथा यही कंबुज के राजवंश का संस्थापक हुआ। दूसरी अनुश्रुति के अनुसार कौंडिन्य, इंद्रप्रस्थ (दिल्ली)

के राजा आदित्यवंश का पुत्र था। दोनों अनुश्रुतियों से यह आभास मिलता है कि कौंडिन्य एक वीर भारतीय राजकुमार था, जिसने अपने साहस एवं संगठन के बल पर कंबुज-राज्य को स्थापित किया। इस राज्य के विषय में एक चीनी लेखक ने लिखा है—"भारतवर्ष से आकर एक हजार से अधिक ब्राह्मण यहाँ बसे हैं। यहाँ के निवासी उनके धर्म को मानते हैं तथा उनके साथ अपनी लड़कियों का विवाह करते हैं। ब्राह्मण दिन-रात अपनी धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करते हैं।"

कंबुज-राज्य प्रारंभ में फु-नान नामक एक अन्य भारतीय राज्य के अधीन था। पर छठीं शताब्दी ईस्वी से, कंबुज राज्य अधिक प्रबल हो गया तथा इसका आधिपत्य उन सभी प्रदेशों पर स्थापित हो गया, जो पहले फु-नान के अधीन थे। पूरे देश का नाम कंबुज पड़ गया तथा यहाँ के भारतीय राजाओं ने नौ सौ वर्षों तक बहुत शान के साथ राज्य किया। कंबुज के राजाओं में जयवर्मन् प्रथम, द्वितीय तथा सप्तम, यशोवर्मन् तथा सूर्यवर्मन् द्वितीय अत्यंत प्रसिद्ध हुए। पंद्रहवीं सदी में, पूर्व से अन्नामवासियों तथा पश्चिम से स्याम के थाई लोगों ने आक्रमण कर कंबुज को विनष्ट कर दिया। कंबुज-राज्य की सारी शक्ति नष्ट हो गई तथा यह एक छोटा-सा राज्य हो गया।

अपने उत्कर्ष के समय कंबुज का राज्य एक बहुत शक्तिशाली तथा विस्तृत राज्य था। चंपा के भारतीय राज्य से इसकी शक्ति कहीं अधिक थी। इस साम्राज्य के अंतर्गत आधुनिक कंबोडिया के अतिरिक्त, कोचीन-चीन, लाओस, स्याम, बर्मा के कुछ भाग तथा मलय-प्रायद्वीप सम्मिलित थे। यह विस्तृत साम्राज्य हिंदू-संस्कृति का एक प्रधान केंद्र था। अनेक संस्कृत-शिलालेख, यहाँ के राजाओं के विस्तृत इतिहास से हमें परिचित कराते हैं तथा सैकड़ों मंदिर यहाँ के हिंदू-राजाओं के वैभव एवं ऐश्वर्य की कहानी कहते हैं।

कंबुज के मध्य मंदिर

अंकोरवाट

अंकोरवाट का मंदिर दुनिया के आश्चर्यों में एक है। यह मंदिर, विष्णु का मंदिर है और कई मंजिलों में बना हुआ है। इसमें कई गुंबद हैं। एक मंजिल से दूसरी मंजिल पर जाने को जीने बने हुए हैं। केंद्रीय मंदिर का गुंबद २१३ फुट ऊँचा है। पूरा मंदिर करीब १ मील के क्षेत्रफल में बना हुआ है। इसके चारों ओर पत्थर की चहारदीवारी है तथा चहारदीवारी के बाहर गहरी खाई है। खाई ७०० फुट चौड़ी है। खाई के ऊपर से मंदिर तक पहुँचने के लिए ३६ फुट चौड़ा पत्थर का रास्ता बना हुआ है। पूरा मंदिर सुंदर मूर्त्तियों से सुसज्जित है।

अंकोरथाम

जयवर्मन् सप्तम ने जिस नगर में अपनी राजधानी बनायी, उसे आजकल 'अंकोरथाम' कहते हैं। यह नगर आयताकार बसाया गया था और सब ओर से दो मील लंबा था। यह चारों ओर से ६३० फुट चौड़ी खाई से घिरा था तथा खाई के बाद ऊँची पत्थर की दीवार थी। नगर के बीच में एक मध्य मंदिर था, जिसमें ४० गुंबद थे। बीच का गुंबद १५१ फुट ऊँचा था। इन सभी गुंबदों में शिव की मूर्त्ति खचित थी। इस मंदिर के अलावा कुछ सुंदर मंदिर बने हुए थे। नगर में प्रवेश के लिए सुंदर फाटक बने हुए थे। फाटकों से नगर के बीच तक जाने के लिए सौ फुट चौड़ी पाँच सड़कें बनी हुई थीं। नगर में बहुत-से सुंदर जलाशय बनाए गए थे। राजमहल भी बहुत भव्य बना हुआ था। इस प्रकार, अंकोरथाम का नगर तत्कालीन विश्व के सबसे सुंदर शहरों में एक था।

मलय-प्रायद्वीप

मलय-प्रायद्वीप तथा भारतीय द्वीपसमूह में दो हिन्दू साम्राज्यों का उत्थान-पतन हुआ। आठवीं सदी में पहला साम्राज्य शैलेंद्र-वंश के राजाओं ने स्थापित किया। इस साम्राज्य में मलय, लंका, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, बाली आदि सम्मिलित थे। अरब सौदागरों ने शैलेंद्र-साम्राज्य के शक्ति, वैभव तथा प्रताप का वर्णन प्रशंसापूर्ण शब्दों में किया है। यहाँ के राजा अपने को महाराज कहते थे। शैलेंद्र-सम्राटों के पास एक शक्तिशाली जहाजी बेड़ा था। इस बेड़े के सहारे इन लोगों ने चंपा तथा कंबुज पर सफलतापूर्वक आक्रमण किया। अरब लेखकों के अनुसार शैलेंद्र का महाराजा चीन तथा भारत के राजाओं द्वारा सम्मानित किया जाता है। इब्न रोस्तेह नामक सौदागर ने सन् ९०३ ई० में लिखा—"शैलेंद्र शासक महाराजा कहलाता है। चूँकि वह टापुओं में रहता है, इसलिए भारतीय राजाओं में सबसे बड़ा नहीं माना जाता है। कोई राजा उतना धनी नहीं है जितना वह; क्योंकि उसके पास बहुत अधिक राजस्व आता है।" इब्न खरदाज बेह नामक अरब लेखक ने नवीं शताब्दी में लिखा है कि "शैलेंद्र-सम्राटों की आमदनी दो सौ मन सोना थी।"

शैलेंद्र-सम्राट महायान बौद्धधर्म के मानने वाले थे। चीन तथा भारत के शासकों के साथ इनका दौत्य-संबंध था। शैलेंद्र-शासकों ने ग्यारहवीं शताब्दी तक पराक्रम तथा ऐश्वर्य के साथ शासन किया। ग्यारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के चोल राजाओं ने शैलेंद्र-साम्राज्य पर आक्रमण किया। राजेन्द्र चोल के पास एक शक्तिशाली जहाजी बेड़ा था। इसी के सहारे शैलेंद्र-साम्राज्य पर आक्रमण हुआ। यह अभियान सफल रहा तथा शैलेंद्र-साम्राज्य के बहुत बड़े भाग पर चोलों का अधिकार

हो गया। पर, इतने दूर के प्रदेश पर अधिकार कायम रखना कठिन था। अतः एक शताब्दी के बाद शैलेंद्रों ने खोए भाग पर पुनः अधिकार स्थापित कर लिया। मगर तेरहवीं शताब्दी में शैलेंद्रों ने सीलोन (लंका) पर आक्रमण किया। यह आक्रमण पूर्ण रूप से विफल रहा तथा यही अभियान शैलेंद्र-साम्राज्य के विनाश का कारण सिद्ध हुआ।

सांस्कृतिक देन

शैलेंद्र-सम्राटों ने धर्म तथा कला के क्षेत्र में भी बहुत-से अद्वितीय कार्य किए। ये महायान बौद्धधर्म के मानने वाले थे। धार्मिक क्षेत्र में, ये बंगाल से अधिक प्रभावित थे। एक बंगाली बौद्ध भिक्षु कुमारघोष उन लोगों का गुरु था। उसकी आज्ञा से शैलेंद्र-सम्राटों ने नालंदा में तारा देवी का सुंदर मंदिर बनवाया। बालपुत्रदेव नामक शैलेंद्र-सम्राट ने नालंदा में एक बौद्ध-विहार बनवाया तथा बंगाल के पाल-राजा देवपाल के पास पाँच गाँवों का दान उस विहार के खर्च के लिए माँगा, जिसे देवपाल ने प्रसन्नतापूर्वक दिया।

बोरोबुदूर का स्तूप

जावा में बोरोबुदूर का प्रसिद्ध स्तूप शैलेंद्र-सम्राटों की अमर कृति है। इस स्तूप की विशालता शैलेंद्र-सम्राटों की भव्य कल्पना तथा ऐश्वर्य का प्रतीक है। यह भव्य स्तूप एक पहाड़ की चोटी पर स्थित है। यह स्तूप सात मंजिलों में बना हुआ है। केंद्र में गोलाकार स्तूप है, जो सबसे भव्य दीख पड़ता है। ऊपर की तीन मंजिलों में कई स्तूप हैं, जिसमें बुद्ध की मूर्त्ति है। दीवारों में बौद्ध-धर्मग्रंथों की कथाओं के चित्र खचित हैं। इस स्तूप में जो मूर्त्तियाँ पाई गई हैं, वे भारत-प्रभावित जावा की कला के अत्यंत उत्कृष्ट नमूने हैं। यह पूरा स्तूप ४०० वर्गफीट में फैला हुआ है। इसकी सारी मंजिलें बुद्ध की अनेक मूर्त्तियों से सुसज्जित हैं। इसकी विशालता, भव्यता तथा सफल कारीगरी के कारण ही यह विश्व का आठवाँ आश्चर्य माना जाता है। यद्यपि जावा तथा कंबुज की कला का मूल स्रोत भारतीय कला थी तथा भारतीय राजाओं के आश्रय से ही इस कला का विकास हुआ, तथापि भारतीय कला में कल्पना की वह भव्यता तथा कारीगरी एवं निर्माण की वह कुशलता नहीं दीख पड़ती, जो बोरोबुदूर तथा अंकोरवाट की कला में पायी जाती है। अतः, इन उपनिवेशों में भारतीय कला के प्रसार के साथ-साथ उसका विकास भी एक नूतन दिशा में हुआ।

जावा

शैलेंद्र-साम्राज्य के पतन ने जावाद्वीप के एक हिंदू-राज्य को बढ़ाने का अवसर दिया। जावा में हिंदू-राज्य की स्थापना तो चौथी शताब्दी ईस्वी में ही हो

चुकी थी, पर शैलेंद्र द्वारा पराजित होने से इसकी प्रगति रुकी रही। नवीं शताब्दी ईस्वी तक जावा शैलेंद्र-साम्राज्य का अंग बना रहा। नवीं शताब्दी ईस्वी में जावा शैलेंद्र-साम्राज्य के पंजे से मुक्त हुआ। अब जावा की राजधानी इस द्वीप के मध्य भाग से पूर्वी भाग में हटानी पड़ी। पूर्वी भाग में 'केदिरी' तथा 'सिंहासरी' नामक दो राजधानियाँ रहीं। तेरहवीं सदी ईस्वी में विजय नामक राजा ने एक नए राजवंश की स्थापना की। इस राजवंश की राजधानी तिक्तबिल्व (तीता बेल) नामक स्थान पर बनी। जावा की भाषा में इस स्थान को 'मजापहित' कहते थे। क्रमशः इस साम्राज्य का विस्तार पूरे मलय-प्रायद्वीप तथा मलयद्वीप समूह पर हो गया। जावा के ही एक भगोड़े हिंदू-सरदार ने पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में मलक्का का राज्य स्थापित किया।

मलक्का के दूसरे राजा ने इस्लाम को मान लिया। तत्पश्चात् इस्लाम धीरे-धीरे जावा में भी फैलने लगा। पहले व्यापारियों के द्वारा यह धर्म जावा में पहुँचा, बाद में जावा के राजवंश के भी कुछ सदस्यों ने इस्लाम को मान लिया। इस्लाम के अनुयायियों ने मजापहित के हिंदू-राजा को खदेड़ दिया तथा जावा का संपूर्ण द्वीप नए धर्म को मानने लगा। जावा का हिंदू-राजवंश तथा हिंदू-जनता ने बाली द्वीप में शरण ली। इस बाली द्वीप को छोड़कर, समस्त मलय-द्वीपसमूह में इस्लाम का प्रचार हो गया।

जावा की कला तथा संस्कृति

भारतीय साहित्य तथा कला का विकास जावा में सभी उपनिवेशों से अधिक हुआ। अब भी सैकड़ों हिन्दू-मंदिरों के भग्नावशेष वहाँ पाए जाते हैं तथा संस्कृत-भाषा के साहित्य पर आधारित बहुत-सी हस्तलिपियाँ पायी जाती हैं। जावा के जनजीवन में रामायण तथा महाभारत अत्यंत लोकप्रिय हो गए थे। आज भी वहाँ रामायण तथा महाभारत की कहानियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। जावा का अत्यंत लोकप्रिय छायाचित्र वाजंग, रामायण तथा महाभारत की कहानियों पर आधारित है। मजापहित के राज्य के पतन के साथ-साथ भारतीय कला का विकास रुक गया।

बर्मा, स्याम तथा बाली

स्याम तथा बर्मा में बौद्धधर्म का अब भी प्रचार है। इन देशों की लिपि तथा संस्कृति पर भारतीयता की छाप है। बाली में आज भी हिन्दू-धर्म किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है। यहाँ मंदिरों में देवमूर्त्तियों की पूजा होती है। यहाँ की स्थापत्य तथा मूर्त्तिकला भी भारतीय कला के आधार पर विकसित हुई। अतः, प्राचीन काल में जो भारतीय संस्कृति यहाँ तक पहुँची, वह किसी-न-किसी रूप में आज भी विद्यमान है।

उपसंहार

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्राचीन भारत की प्राणवंत संस्कृति समुद्रों को लाँघ कर तथा दुर्लंघ्य पर्वतों का अतिक्रमण कर इन विभिन्न देशों एवं द्वीपों में प्रसरित तथा मुखरित हुई। वह समय भारतीयों की साहसिकता, सृजनात्मक शक्ति तथा सजीवता का युग था। भारतीय जाति उस समय संकीर्ण दायरों में बंद नहीं थी। व्यापार तथा विजय के सहारे भारतीय विभिन्न देशों में पहुँचे। जहाँ-जहाँ ये लोग गए, वहाँ-वहाँ इन लोगों ने अपनी जीवंत संस्कृति तथा धर्म के झंडे गाड़े। इन लोगों ने विशाल साम्राज्यों का संगठन किया तथा भारतीय कला का नूतन दिशा में विकास किया। इन विभिन्न देशों की सभ्य तथा अर्द्ध-सभ्य जातियों को इन लोगों ने सभ्यता का उज्ज्वल प्रकाश दिया। भारतीय साहित्य, कला तथा अध्यात्मवाद के सहारे इन जातियों को एक नवजीवन प्राप्त हुआ। भारतीयों के साहचर्य से इन जातियों में नवीन बौद्धिक अभिरुचि तथा नैतिकता का जन्म हुआ। इस प्रकार, भारतीयों ने अपूर्व सृजनात्मक शक्ति तथा कर्मठता का परिचय दिया। इसी कारण यह कहना कि भारतीय धर्म तथा संस्कृति भारत के बाहर कहीं नहीं पहुँची, बिल्कुल गलत है।

इन विभिन्न देशों में भारतीय धर्म तथा संस्कृति के चिह्न तो आज भी पाए जाते हैं, पर इन देशों में, विशेषत: पूर्वी भारतीय द्वीपसमूह में, करीब पंद्रह सौ वर्षों तक, हिंदू राजे राज्य करते रहे। ये हिंदू-राज्य, भारत में हिंदू-शक्ति के विनाश के बाद तक कायम रहे। जब तक हिंदू-धर्म, संस्कृति तथा समाज में साहसिकता तथा सजीवता रही, तब तक इन उपनिवेशों में भी हिंदू-राज्य और हिंदू-संस्कृति का पोषण होता रहा। भारत में जब इस्लाम के आक्रमण के कारण हिंदू-राज्यों का पतन हुआ, तब इन उपनिवेशों में हिंदू-शक्ति तथा संस्कृति का पतन प्रारंभ हो गया। मूल स्रोत के सूखने के बाद, ये धाराएँ भी सूखने लगीं। बारहवीं सदी से, इन उपनिवेशों में, हिंदू-संस्कृति की सजीवता नष्ट हो गई। उन देशों की संस्कृतियाँ ऊपर उठने लगीं तथा अंत में इस्लाम का पैर पूरी तरह पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग इन देशों में जम गया।

अरबों के उदय ने समुद्रों द्वारा होने वाला सारा व्यापार भारतीयों के हाथ से छीन लिया। भारत में इस्लामी सत्ता की स्थापना ने भारतीयों को अत्यंत दुर्बल बना दिया तथा उन्हें बाहरी उपनिवेशों की रक्षा की न तो शक्ति रही और न इच्छा। इसी कारण इन उपनिवेशों का विनाश हुआ। फिर भी, इन उपनिवेशों का इतिहास भारतीय इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय है, जिससे भारतीय

संस्कृति की सजीवता तथा साहसिकता का प्रमाण मिलता है। यह अध्याय इस धारणा को निर्मूल एवं निराधार सिद्ध करता है कि भारतीय धर्म तथा संस्कृति भारत की सीमाओं में बंद रहने योग्य है तथा किसी बाहरी देश अथवा जाति के माने जाने योग्य नहीं है। इन उपनिवेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार भारत की वास्तविक महानता का परिचायक है।

विश्व-सभ्यता को भारतीय संस्कृति की देन

विश्व की अन्यतम संस्कृतियों की भाँति भारतीय प्रतिभा की अभिव्यक्ति भी धर्म, दर्शन, साहित्य, कला एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में हुई। इन विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति की देन उल्लेखनीय एवं स्तुत्य है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत की प्राचीन संस्कृति की उपलब्धियों से मानव-सभ्यता समृद्ध एवं गौरवान्वित हुई है तथा हम बिना हिचक के प्राचीन भारतीय सभ्यता को विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में विशिष्ट स्थान दे सकते हैं। हर प्राचीन सभ्यता की अपनी विशेषता रही है। अन्य संस्कृतियों की तुलना में भारतीय संस्कृति प्रधानतः धर्मप्रधान एवं अध्यात्ममूलक रही है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र, धर्म एवं अध्यात्म की भावना से ओत-प्रोत रहा है। भारतीय संस्कृति में धर्म एवं आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति अत्यंत व्यापक रूप में हुई।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस भावना की अमिट छाप दिखाई देती है। इस भावना से साहित्य, दर्शन, कला, संगीत एवं ज्ञान-विज्ञान पूर्णतया अनुप्राणित प्रतीत होते हैं। जीवन का लक्ष्य ही मोक्ष प्राप्ति माना जाता था। अतः, इसमें आश्चर्य नहीं कि जीवन के समस्त क्रिया-कलाप उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही किए जाएँ भारतीय संस्कृति में ऐहलौकिक उन्नति की उपेक्षा नहीं की गई, पर साथ ही सांसारिक सफलता एवं सुखों को ही मानव-जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं माना गया, वरन् ऐहलौकिक उन्नति को पारलौकिक सुखों की तुलना में निम्न माना गया। फलतः, भौतिकवाद अध्यात्मवाद की तुलना में हेय माना गया। इस अध्यात्म-भावना ने भारत की संस्कृति को एक अनुपम सौंदर्य एवं गरिमा प्रदान की। भारत के अनेक प्राचीन कलाविद्, संगीत एवं नृत्य की साधना में भी परम तत्त्व की प्राप्ति के उद्देश्य से तल्लीन हुए। चिकित्सा, ज्योतिष एवं गणित आदि भौतिक विद्याओं के अन्वेषक भी यह मानते रहे कि उनके ज्ञान का चरम उद्देश्य परमार्थ-तत्त्व की प्राप्ति है। अर्थ एवं काम के साथ धर्म एवं मोक्ष को मानव-जीवन का अंतिम उद्देश्य माना गया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धनी और गरीब, राजा और रंक सभी प्रयत्नशील रहते थे। भक्ति, ज्ञान एवं तप के द्वारा इस लक्ष्य

की प्राप्ति के प्रयत्न किए जाते थे। वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रम विशेष रूप से इस प्रयत्न के हेतु रखे गए थे। धर्म एवं अध्यात्म-भावना को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विशिष्ट स्थान देना भारतीय संस्कृति की विश्व-सभ्यता को अनुपम देन है।

प्राचीन भारत का दर्शन इसी आध्यात्मिक प्रवृत्ति का परिणाम है। प्राचीन भारतीय ऋषियों की ब्रह्म-जिज्ञासा एवं तत्त्व-चिंतन की परंपरा ही भारतीय दर्शन के रूप में प्रतिफलित हुई। उपनिषद् एवं वेदांत इस दार्शनिक चिंतन के चूड़ांत निदर्शन हैं। इस दृश्य जगत की असारता एवं नश्वरता के पीछे एक ब्रह्म की सत्यता एवं स्थिति की घोषणा भारतीय दर्शन की विशिष्ट देन है। इस विश्व के रहस्यों के उद्घाटन एवं आत्मा तथा परमात्मा के संबंधों के विश्लेषण में भारतीय दर्शन अद्वितीय है। पुनर्जन्म एवं कर्मवाद के सिद्धांत भी भारतीय चिंतनधारा की उपज हैं, जिनको जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के माध्यम से बहुत बड़े भाग में मान्यता प्राप्त है।

महात्मा बुद्ध एवं उनके सिद्धांत आज मानव-जाति की धरोहर हैं। बौद्धधर्म एवं दर्शन, जिनसे मानव-जाति का बहुत बड़ा भाग प्रभावित एवं अनुप्राणित है, पूर्णतया भारतीय मस्तिष्क की उपज है। बौद्धधर्म एवं दर्शन को भारतीय चिंतन-धारा की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति माना जा सकता है। विश्व-सभ्यता निस्संदेह बौद्धधर्म, साहित्य, दर्शन एवं कला से समृद्ध हुई है। चीन, जापान, थाईलैंड, लंका, तिब्बत आदि की संस्कृति निश्चित रूप से बौद्धधर्म के प्रभाव से समृद्ध हुई है।

प्राचीन भारत का साहित्य विश्व-साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है। ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है। रामायण एवं महाभारत महाकाव्यों की श्रेणी में उच्चतम माने जाते हैं। विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में यूनान और भारत को ही सर्वोत्कृष्ट महाकाव्यों की रचना का गौरव प्राप्त है। कथावस्तु की रोचकता अथवा वर्णन-कोमलता एवं शब्द-सौष्ठव की दृष्टि से रामायण एवं महाभारत होमर-लिखित 'इलियड' तथा 'ओडिसी' से किसी दृष्टि में पीछे नहीं हैं। कथा-साहित्य के क्षेत्र में पंचतंत्र विश्व-साहित्य को प्राचीन भारत की महान देन है। यह अनेक कथाओं एवं कहानियों का स्रोत है, जो कालांतर में मुसलमानों के माध्यम से यूरोप पहुँची तथा वहाँ आज भी प्रचलित हैं।

गुप्तकाल में लिखित संस्कृत-साहित्य अपनी कोमलता एवं सौंदर्य की दृष्टि से विश्व-साहित्य में बेजोड़ माना जाता है। महाकवि कालिदास-रचित 'अभिज्ञान-शाकुंतलम्' नाटक विश्व-साहित्य का अनुपम अलंकार है। कालिदास-लिखित 'मेघदूतम्' भारतीय गीतिकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार, कालिदास

द्वारा प्रणीत 'रघुवंशम्' उच्चकोटि का काव्यग्रंथ है। राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में कौटिल्य का अर्थशास्त्र भारतीय संस्कृति की महान देन है।

ज्योतिष, गणित एवं आयुर्वेद के क्षेत्र में भारतीय प्रतिभा की अभिव्यक्ति हुई, जिससे मानव-सभ्यता समृद्ध हुई। दशमलव तथा शून्य की कल्पना सबसे पहले भारतीयों ने की। आज जिन्हें हम अन्तरराष्ट्रीय संख्यांक कहते हैं, वे मानव-जाति को भारतीयों की ही देन हैं। वस्तुतः, अरबों ने इनका ज्ञान भारत से प्राप्त किया तथा अरबों के माध्यम से दशमलव, शून्य तथा अंतरराष्ट्रीय संख्यांक यूरोप तक पहुँचे। अरबों को बीजगणित का ज्ञान प्रदान करने वाले भारतीय ही थे। यज्ञों की वेदियों के निर्माण में रेखागणित का प्रयोग भी होता था। भारतीयों को चन्द्रमा की अट्ठाईस कलाओं, पृथ्वी की गति एवं ग्रहणों के कारण का ज्ञान था। आयुर्वेद के क्षेत्र में 'सुश्रुत' एवं 'चरक' नामक दो महान् विद्वानों की देन उल्लेखनीय है। सुश्रुत ने अपने महान ग्रंथ में कई शल्य-चिकित्साओं का वर्णन किया। चरक ने आयुर्वेद के एक विश्वकोश की रचना की तथा वैद्यों के व्यवसाय के लिए नैतिक मानदंड स्थापित किए। इनकी रचनाएँ भारतीय चिकित्साशास्त्र की प्रसिद्ध उपलब्धियाँ हैं।

साहित्य, दर्शन एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों की ये उपलब्धियाँ सिद्ध करती हैं कि भारतीय सभ्यता प्राचीन यूनान की सभ्यता की भाँति ही बौद्धिकता तथा ज्ञानान्वेषण की भावना से ओतप्रोत थीं। बौद्धिकता एवं ज्ञानान्वेषण की इस प्रवृत्ति से ही आयुर्वेद-जैसी विद्याएँ समृद्ध हुईं। वास्तव में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन भारत की उपलब्धियाँ प्राचीन यूनान तथा रोम से अधिक प्रभावशाली हैं। नालंदा एवं विक्रमशिला-जैसे विश्वविद्यालयों में विदेशी छात्रों की उपस्थिति बौद्धिक क्षेत्र में भारत की महानता एवं प्रतिष्ठा का प्रमाण है।

प्राचीन भारत की कला विश्व-सभ्यता के इतिहास में प्रतिष्ठा एवं गौरव के पद पर प्रतिष्ठित है। भारतीय संस्कृति की धर्मपरायणता तथा अध्यात्म-भावना से भारतीय कला भी अनुप्राणित है। भारतीय कलाकृतियाँ प्रधानतः धार्मिक हैं। मंदिर, चैत्य, विहार, स्तूप, धर्मस्तंभ एवं मूर्त्तियाँ भारतीय कला के नमूने हैं। देश के हर कोने में बिखरी हुई ये कलाकृतियाँ प्राचीन भारतीय कलाकारों की सफलता एवं दक्षता की कहानी कहती हैं। वास्तुकला, मूर्त्तिकला एवं चित्रकला तीनों ही अपनी सुंदरता, कोमलता एवं यथार्थता के लिए प्रसिद्ध हैं। खजुराहो, कोणार्क एवं दक्षिण भारत के अनेक मंदिर अपनी सुंदरता एवं भव्यता के लिए विश्वविख्यात हैं। एलीफैंटा, अजंता एवं एलोरा की गुफाओं की मूर्त्तियाँ अपनी सुंदरताओं के लिए प्रसिद्ध हैं। अजंता की गुफा के भित्तिचित्र संसार में अद्वितीय माने जाते हैं।

अशोक के स्तंभ तथा साँची के स्तूप का घेरा एवं द्वार अपनी कलात्मकता के लिए संसार में प्रसिद्ध हैं। गुप्तकालीन मूर्त्तियाँ सौंदर्य की दृष्टि से यूनानी मूर्त्तियों से किसी प्रकार भी कम नहीं हैं। वस्तुतः गुप्तकाल में भारत की ललित कलाएँ सुंदरता तथा भावों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँच गईं। गुप्तकाल के शिल्पियों की सुविकसित सौंदर्य-भावना, परिमार्जित एवं प्रौढ़ कल्पना तथा कार्यक्षमता ने ऐसी कृतियों का निर्माण किया, जो भारतीय कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं तथा जिनसे भारत के पड़ोसी देश भी प्रभावित हुए। इस युग में बनी हुई बुद्ध-प्रतिमाएँ अपनी कुंचित केशराशि, अलंकृत प्रभामंडल, विमल पारदर्शक परिधान एवं लावण्य के कारण दिव्य मानी जाती हैं। भारतीय कला के सर्वाधिक सुंदर नमूने, जिनमें अजंता के गुहा-चित्र भी हैं, विश्व-सभ्यता को भारत की सर्वोत्कृष्ट सांस्कृतिक देन हैं।

सहिष्णुता, उदारता एवं समन्वय की प्रवृत्ति भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। यहाँ अनेक जातियाँ आईं तथा अनेक धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ, पर इन विभिन्न संप्रदायों में कटुता तथा विद्वेष की भावना नहीं रही। बाहर से आने वाली अनेक बर्बर जातियाँ जैसे हूण, शक, पह्लव, कुशान आदि भारतीय संस्कृति के अंतराल में विलीन हो गईं। अशोक जैसे महान राजाओं ने धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय की प्रवृत्ति को अपनी नीतियों से सबल बनाया। धार्मिक विश्वासों एवं विचारों की स्वतंत्रता को सदैव प्रोत्साहित किया गया। इसी के फलस्वरूप अनेक दार्शनिक विचारधाराओं का विकास हुआ। राजाओं द्वारा धार्मिक अत्याचार तथा सांप्रदायिक युद्धों के उदाहरण कम मिलते हैं। उदारता एवं समन्वय की यह प्रवृत्ति न केवल प्राचीन भारत, वरन् मध्ययुगीन एवं आधुनिक भारत में भी दृष्टिगोचर होती है। सहिष्णुता, समन्वय एवं उदारता की प्रवृत्ति के कारण ही भारतीय संस्कृति में विविध सांस्कृतिक धाराओं का अलौकिक समागम हुआ है। अतः, धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता की भावना भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण देन है।

भारतीय सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में गिनी जाती है। पर इस पुरातन सभ्यता की यह विशिष्टता है कि हजारों साल बीत जाने के बाद भी अपने मौलिक रूप में अब तक कायम है। प्राचीन विश्व की लगभग सभी सभ्यताएँ विनष्ट हो गईं। मिस्र, बैबिलोनिया, असीरिया आदि के तो अब नाम ही बचे हैं। आज उन सभ्यताओं के अवशेष-मात्र मिलते हैं। आज प्राचीन मिस्र, बैबिलोनिया, असीरिया, रोम और यूनान के धर्मों का कोई अनुयायी नहीं है, पर भारतीय

संस्कृति की यह विशेषता है कि आज भी भारतीय धर्म एवं दर्शन का रूप लगभग वही है, जो आज से हजारों साल पहले था। रामायण और महाभारत ग्रंथ आज भी लाखों लोगों को अनुप्राणित करते हैं, जैसे प्राचीन काल में किया करते थे। अनेक विदेशी आक्रमणों एवं विदेशी शासन के बावजूद भारतीय संस्कृति नष्ट नहीं हो सकी। यह इस संस्कृति के अद्‌भुत लचीलापन एवं समुत्थान-शक्ति का परिचायक है। भारतीय संस्कृति की विलक्षण उदारता, लचीलापन तथा जीवन शक्ति से मानव-सभ्यता निस्संदेह समृद्ध हुई है।

●

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

ब्यूरी, जे० बी० तथा अन्य (संपादक) **कैंब्रिज ऐंश्येंट हिस्ट्री**, १२ जिल्द, (कैंब्रिज, १९२३—१९३९)।

ब्रेस्टेड, जे० एच०, **ऐंश्येंट टाइम्स**, २ जिल्द (१९१६)

काल्डवेल, डब्ल्यू० ई०, **दि ऐंश्येंट वर्ल्ड** (१९३७)

ग्लोवर, टी० आर०, **दि ऐंश्येंट वर्ल्ड**, २ जिल्द (१९३५)

रोस्टोजेफ, एम०, **ए हिस्ट्री ऑफ दि ऐंश्येंट वर्ल्ड**, (१९२७)

टर्नर, राल्फ, **दि ग्रेट कल्चरल ट्रेडिशंस**, २ जिल्द (१९४१)

सहायक ग्रंथों की सूची

प्रथम अध्याय : विषय-प्रवेश

वार्न्स, एच० ई०, **हिस्ट्री ऑफ सोशल इंटेलिजेंस** (न्यूयार्क, १९२६)

वर्डायेफ, एन०, **दि मीनिंग ऑफ हिस्ट्री** (न्यूयार्क, १९३६)

ब्रेस्टेड, जे० एच०, **दि ऑरिजिन ऑफ सिविलिजेशन** (१९१९)

रॉबिंसन, जे० एच०, **दि न्यू हिस्ट्री** (लंदन, (१९२६)

शेविल, एफ०, **हिस्ट्री ऑफ यूरोप** (न्यूयार्क, १९४५)

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में इतिहास के स्वरूप की अच्छी व्याख्या है।

द्वितीय अध्याय : आदि मानव का इतिहास

ब्रेडवूड, आर० जे०, **प्रिहिस्टोरिक मैन** (शिकागो, १९४८)

हूटन, इ० ए०, **अप फ्रॉम दि एप** (१९३१)

हावेल्स, डब्ल्यू एम०, **मैनकाइंड सो फार** (१९४४)

मैककर्डी, जी० सी० **अर्ली मैन** (१९३७)

थौर्नडाइक, एल०, **हिस्ट्री ऑफ सिविलिजेशन** (१९२६)

तृतीय अध्याय : प्राचीन मिस्र की सभ्यता

ब्रेस्टेड, जे० एच०, **ऐंश्येंट रेकार्ड्स ऑफ ईजिप्ट : हिस्टोरिकल डोक्यूमेंट्स फ्रौम दि अर्लीएस्ट टाइम्स टु दि पर्सियन कांक्वेस्ट**, ५ जिल्द (शिकागो, १९०६-०७)

ब्रेस्टेड, जे० एच०, **ए हिस्ट्री ऑफ ईजिप्ट** (न्यूयार्क, १९५०)

,, ,, ,, **ए हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येंट इजिप्शियन्स** (१९०८)

,, ,, ,, **डेवलपमेंट ऑफ रेलीजन ऐंड थाट इन ऐंश्येंट ईजिप्ट** (न्यूयार्क १९१२)

एन्वर्ग, आर० एम०, हिक्ससरिकंसीडर्ड (१९३९)

हाल, एच० आर०, एंश्येंट हिस्ट्री ऑफ दि नियर ईस्ट (१९३२)

पेट्री, डब्ल्यू० एम० एफ०, हिस्ट्री ऑफ इजिप्ट, ६ जिल्द (१८९४—१९०५)

स्मिथ, डब्ल्यू० एस०, दि आर्ट ऑफ एंश्येंट ईजिप्ट (१९३६)

विनलाक, एच० आर०, दि राइज एंड फॉल ऑफ दि मिड्ल किंगडम इन थीब्स (न्यूयार्क, १९४७)

चतुर्थ अध्याय : प्राचीन बैबिलोनिया की सभ्यता

डेलापोर्ट, एल० जे०, मेसोपोटामिया : दि बैबिलोनियन एंड असीरियन सिविलिजेशन, बी० जी० चाइल्ड द्वारा अनूदित (न्यूयार्क, १९२५)

जेस्टो, एम०, दि सिविलिजेशन ऑफ बैबिलोनिया एंड असीरिया (फिलाडेल्फिया, १९१५)

किंग, एल० डब्ल्यू०, ए हिस्ट्री ऑफ सुमेर एंड अक्कड़ (१९१०)

" " " ए हिस्ट्री ऑफ बैबिलोन (१९१५)

रोजर्स, आर०, डब्ल्यू०, ए हिस्ट्री ऑफ बैबिलोनिया एंड असीरिया, २ जिल्द, (न्यूयार्क, १९१५)

पाँचवाँ अध्याय : प्राचीन असीरिया की सभ्यता

ओम्सटेड, ए० टी०, हिस्ट्री ऑफ असीरिया (न्यूयार्क, १९२३)

स्मिथ, एस०, अर्ली, हिस्ट्री ऑफ असीरिया, (लंदन, १९२८)

छठा अध्याय : प्राचीन यूनान की सभ्यता

बाट्सफोर्ड, जी० डब्ल्यू० तथा सिहलर, ई० जी०, हेलेनिक सिविलिजेशन (१९१५)

ब्यूरी, जे० बी०, हिस्ट्री ऑफ ग्रीस टु दि डेथ ऑफ अलेक्जेण्डर(१९२०)

" " दि हेलेनिस्टिक एज (१९२५)

ग्रोट, जार्ज, हिस्ट्री ऑफ ग्रीस, १२ जिल्द (१८४५--१८५६)

ग्लोवर, टी० आर०, डेमोक्रेसी इन दि एंश्येंट वर्ल्ड (१९२७)

ग्लोज सी०, दि ग्रीक सिटी एंड इट्स इंस्टीट्यूशन्स (अँगरेजी-अनुवाद, १९३०)

ग्रीनिज, ए० एच० जे०, ए हैंडबुक ऑफ ग्रीक कंस्टिट्यूशनल हिस्ट्री (१९०२)

लिविंग्सटन, आर० डब्ल्यू०, दि लिगेसी ऑफ ग्रीस (ऑक्सफोर्ड, १९२२)

मेकैंजी, सी०, पेरिक्लीज (लंदन, १९३७)

रॉबिन्सन, सी० ए० जूनियर. अलेक्जैण्डर दि ग्रेट (न्यूयार्क, १९४९)

टार्न, डब्ल्यू० डब्ल्यू०, अलेक्जैण्डर दि ग्रेट, दो जिल्द (१९४८)

" " " हेलेनिस्टिक सिविलिजेशन (लंदन, १९३०)

” ” हेलेनिस्टिक मिलिटरी ऐंड नेवल डेवलपमेण्ट्स (कैंब्रिज, १९३०)

” ” दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐंड इंडिया (कैंब्रिज, १८३८)

सातवाँ अध्याय : प्राचीन रोम की सभ्यता

एब्बट, एफ० एफ०, सोसाइटी ऐंड पॉलिटिक्स इन ऐंश्येंट रोम (न्यूयार्क. १९०९)

बेली सी० तथा अन्य, दि लिगेसी ऑफ रोम (ऑक्सफोर्ड, १९२३)

बोक, ए० आर० ई०, ए हिस्ट्री ऑफ रोम टु ५६५ ए० डी० (न्यूयार्क, १९४३)

गिब्बन, ई०, (ब्यूरी द्वारा संपादित), डिक्लाइन ऐंड फॉल ऑफ दि रोमन इंपायर, (मैकमिलन, १९००-०२), ७ जिल्द ।

माम्सन टी०, हिस्ट्री ऑफ रोम (डब्ल्यू० पी० डिक्सन द्वारा अनुदित) (१९२९-१९३१)

रोस्टोजेम, ए०, सोशल ऐंड इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ दि रोमन इंपायर (ऑक्सफोर्ड, १९२६)

वेल्स जे० तथा आर० एच० बैरो, ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ दि रोमन इम्पायर (लंदन, १९३५)

वार्मिगटन, ई० एच०, दि कॉमर्स बिटवीन दि रोमन इंपायर ऐंड इंडिया (कैंब्रिज, १९३८)

आठवाँ अध्याय : ईसाई धर्म का उदय एवं प्रसार

बेकर, जी० पी०, कांस्टेंटाइन दि ग्रेट ऐंड दि क्रिश्चियन रेलिजन (न्यूयार्क १९३१)

बटरफील्ड, एच०, क्रिश्चियनिटी ऐंड हिस्ट्री (न्यूयार्क, १९५०)

काक्रेन, सी० एच०, क्रिश्चियनिटी ऐंड क्लासिकल कल्चर (ऑक्सफोर्ड, १९४४)

क्युमोण्ट, एफ०, दि ओरिएंटल रेलीजन्स इन रोमन पेगनिज्म (शिकागो, १९११)

ड्यूशेन, एल०, अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि क्रिश्चियन चर्च, ३ जिल्द (लंदन, १९०९—२४)

ग्लोवर, टी० आर०, दि कन्फिलक्ट ऑफ रेलीजंस इन दि अर्ली रोमन इंपायर (लंदन, १९३०)

आल्मस्टेड, ए० टी०, जीसस इन दि लाइट ऑफ हिस्ट्री (न्यूयार्क, १९४१)

रेनान, अर्नेस्ट, वाई० डी० जीसस (अँगरेजी-अनुवाद) (न्यूयार्क, १९६३)

स्काट, इ० एफ०, लिटरेचर ऑफ दि न्यू टेस्टामेंट (न्यूयार्क, १९४३)

नवाँ अध्याय : प्राचीन चीन की सभ्यता

बक्स्टन, एल० एच० डी०, चाइना, दि लैंड ऐंड दि पीपुल (ऑक्सफोर्ड, १९१९)

बिशप, सी० डब्ल्यू०, ऑरिजिन ऑफ दि फार ईस्टर्न सिविलिजेशन (वाशिंगटन, डी० सी०, १९४२)

फिट्जेराल्ड, सी० पी०, चाइना, ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री (न्यूयार्क, १९४५)

क्रील, एच० जी०, दि वर्थ ऑफ चाइना ए सर्वे ऑफ फार्मेटिक पीरियड ऑफ चाइनीज सिविलिजेशन (लंदन, जोनाथन केप, १९३६)

,, ,, ,, चाइनीज थॉट फ्रॉम कन्फ्यूसियस टु माओ-जे-तुंग (न्यूयार्क, १९६०)

गाइल्स, एच० ए०, दि सिविलिजेशन ऑफ चाइना (न्यूयार्क, १९११)

गडरिच, एल० सी०, ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ दि चाइनीज पीपुल (न्यूयार्क, १९६३)

रौस, जे०, दि ऑरिजिन ऑफ दि चाइनीज पीपुल (लंदन, १९१६)

लैटुरैट, के० एस०, दि चाइनीज देयर हिस्ट्री ऐंड कल्चर (न्यूयार्क, १९४२)

लिन यूटांग, माइ कंट्री, माइ पीपुल (न्यूयार्क, १९३७)

,, ,, दि विजडम ऑफ चाइना ऐंड इंडिया (न्यूयार्क, १९४२)

,, ,, दि विजडम ऑफ कन्फ्युशियस (न्यूयार्क, १९३८)

लेग, जेम्स (अनुवादक) दि चाइनीज क्लासिक्स (लंदन, १८९३—१८९५)

हर्थ, एफ०, दि ऐंश्येंट हिस्ट्री ऑफ चाइना टु दि ऐंड ऑफ दि चाऊ डाइनेस्टी (न्यूयार्क, १९०८)

फेयर बैंक, जौन के०, चाइनीज थॉट्स ऐंड इंस्टीट्यूशन्स (शिकागो, १९५७)

दसवाँ अध्याय : प्राचीन भारत की सभ्यता के कुछ पहलू

कुमारस्वामी, ए० के०, हिस्ट्री ऑफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट (लंदन, १९२७)

काने, पी० बी०, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्राज (पूना, १९३०—१९४६)

कौशाम्बी, डी०, डी०, दि कल्चर ऐंड सिविलिजेशन ऑफ ऐंश्येंट इंडिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन (लंदन, १९६५)

गरैट, जी० टी०, दि लिगेसी ऑफ इंडिया (आक्सफोर्ड, १९३७)

चट्टोपाध्याय, सुधाकर, अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया (कलकत्ता, १९५८)

चाइल्ड, गार्डन, दि आर्याज (लंदन, १९२६)

" " न्यू लाइट आन दि मोस्ट ऐंश्येंट ईस्ट (लंदन, १९५२)

चटर्जी, वी० आर०, इंडियन कल्चर इन्फ्लुऐंसेज इन कंबोडिया

टेलर आई०, दि ऑरिजिन आफ दि आर्याज (लंदन, १८८९)

दत्त, आर० सी०, हिस्ट्री ऑफ सिविलिजेशन इन ऐंश्येंट इंडिया (१८९३)

दत्त, एन० के०, ऑर्गनाइजेशन ऑफ इंडिया (कलकत्ता, १९२५)

नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म और दर्शन (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५६)

पार्जिटर, एफ० ई०, ऐंश्येंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन (लंदन, १९२२)

फिक, आर०, दि सोशल ऑर्गनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम, अनुवादक : शिशिरकुमार मैत्र (कलकत्ता, १९२०)
बार्नेट, एल० डी०, ऐंटिक्विटीज ऑफ इंडिया (लंदन, १९१३)
बैशम, ए० एल०, दि वाण्डर दैट वाज इंडिया (लंदन, १९५४)
बोस, ए० एन०, सोशल ऐंड रूरल एकोनॉमी ऑफ नार्दर्न इंडिया (कलकत्ता, १९६१)
बसु, पी०, इंडो आर्यन पालिटी (लंदन, १९२५)
बार्थ, ए०, दि रेलीजंस ऑफ इंडिया (लंदन, १८८७)
ब्लूमफील्ड, एम०, दि रेलीजन ऑफ दि वेद (न्यूयार्क, १९०८)
बागची, पी० सी०, इंडिया ऐंड सेंट्रल एशिया (कलकत्ता, १९५५)
" " " इंडिया ऐंड चाइना
मजूमदार, आर० सी० (संपादक) दि हिस्ट्री ऐंड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपुल।
" " " दि वेदिक एज।
" " " दि एज ऑफ इंपीरियल युनिटी (भारतीय इतिहास समिति, १९५१)
" " " ऐंश्यंट इंडिया (बनारस, १९५२)

मैके, ई० जे० एच०, दि इंडस सिविलिजेशन (लंदन, १९३५)
मार्शल, सर जॉन, मोहेंजोदारो ऐंड दि इंडस सिविलिजेशन, ३ जिल्द (लंदन, १९३१)
मोनियर विलियम्स, एम०, रेलीजस थॉट ऐंड लाइफ इन इंडिया (लंदन, १८९१)
मुकर्जी, राधाकुमुद, हिंदू सिविलिजेशन (लंदन, १९३६)
मेहता, रतिलाल, प्री-बुद्धिस्ट इंडिया।

मजूमदार, आर० सी०, कंबुज देश (१९५४)
" " " ऐंश्येंट इंडियन कॉलानीज इन दि फार ईस्ट दो जिल्द, (१९२७, १९३८)
" " " ऐंश्येंट इंडियन कॉलानीज इन साउथ ईस्ट एशिया (बड़ौदा, १९५५)
" " " हिंदू कॉलानीज इन दि फार ईस्ट, २ जिल्द (१९२७-४४)
रैप्सन, ई० जे०, (संपादक), कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया (कैंब्रिज, १९२२)
राय चौधरी, एच० सी०, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येंट इंडिया (१९५०)
रंगाचार्य बी०, प्री-मुसलमान इंडिया, दो जिल्द (मद्रास, १९३७)
राइज डेविड्स टी० डब्ल्यू०, बुद्धिस्ट इंडिया (लंदन, १९०३)
राधाकृष्णन्, हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, २ जिल्द (लंदन, १९२३, १९२७)
रालिंसन, जी०, इंटरकोर्स बिटविन इंडिया ऐंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड (कैंब्रिज, १९१६)
स्मिथ, वी० ए०, आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया (ऑक्सफोर्ड, १९५८)

सांकलिया, एच० डी०, दि प्री-हिस्ट्री ऐंड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐंड पाकिस्तान, (बंबई, १९६३)
स्टिवेंसन, एस० (मिसेज), दि हार्ट ऑफ जैनिज्म (१९५५)
शाह, सी० जे०, जैनिज्म इन नॉर्थ इंडिया (१९३२)
हापकिंस, ई० डब्ल्यू०, दि रेलीजंस ऑफ इंडिया (वोस्टन, १८९५)
ह्वीलर, सर मार्टिमर, दि इंडस सिविलिजेशन (कैंब्रिज, १९५३)
हटन, जे० एच०, कास्ट इन इंडिया (कैंब्रिज, १९४६)
इलियट, सी० (सर), हिंदुइज्म ऐंड बुद्धिज्म, ३ जिल्द (लंदन, १९२२)

परिशिष्ट

प्राचीन मिस्र के राजवंशों का तिथिक्रम

मेना का राजगद्दी पर बैठना तथा राजवंशों का प्रारंभ, लगभग ३४०० ई० पू०
प्रथम तथा द्वितीय राजवंश ३४०० ई० पू०—२९८० ई० पू०
तृतीय राजवंश २९८० ई० पू०—२९०० ई० पू०
चतुर्थ राजवंश २९०० ई० पू०—२७५० ई० पू०
पंचम राजवंश २७५० ई० पू०—२६२५ ई० पू०
षष्ठ राजवंश २६२५ ई० पू०—२४७५ ई० पू०
सप्तम एवं अष्टम राजवंश २४७५ ई० पू०—२४४५ ई० पू०
नवम एवं दशम राजवंश २४४५ ई० पू०—२१६० ई० पू०
ग्यारहवाँ राजवंश २१६० ई० पू०—२००० ई० पू०
बारहवाँ राजवंश २००० ई० पू०—१७८८ ई० पू०
तेरहवाँ से सत्रहवाँ राजवंश (हिक्सस शासन-सहित) १७८८ ई० पू०—१५८० ई० पू०
अट्ठारहवाँ राजवंश १५८० ई० पू०—१३५० ई० पू०
उन्नीसवाँ राजवंश १३५० ई० पू०—१२०५ ई० पू०
बीसवाँ राजवंश १२०० ई० पू०—१०९० ई० पू०
इक्कीसवाँ राजवंश १०९० ई० पू०—९४५ ई० पू०
बाइसवाँ राजवंश ९४५ ई० पू०—७४५ ई० पू०
तेईसवाँ राजवंश ७४५ ई० पू०—७१८ ई० पू०
चौबीसवाँ राजवंश ७१८ ई० पू०—७१२ ई० पू०
पच्चीसवाँ राजवंश ७१२ ई० पू०—६३३ ई० पू०
छब्बीसवाँ राजवंश ६३३ ई० पू०—५२५ ई० पू०
फारसी शासन या सत्ताइसवाँ राजवंश ५२५ ई० पू०—३३२ ई० पू०
सिकन्दर द्वारा मिस्र पर विजय ३३२ ई० पू०
मिस्र यूनानी शासन के अंतर्गत ३३२ ई० पू०—३० ई० पू०
मिस्र पर रोम की विजय ३० ई० पू०

सुमेर के प्रमुख राजवंशों एवं राजाओं का तिथिक्रम

ऊर का प्रथम राजवंश, लगभग २५०० ई० पू०
अक्कड के सारगन प्रथम द्वारा राज्यारोहण, लगभग २३०० ई० पू०

लूगल जगीसी द्वारा राज्यारोहण, लगभग २२८६ ई० पू०
नरम-सीन द्वारा राज्यारोहण, लगभग २१६७ ई० पू०
सुमेर पर गुटियन-विजय, लगभग २१०० ई० पू०
ऊर का पुनरुत्थान २१०० ई० पू०
सुमेर पर अमोराइट आक्रमण २२२५ ई० पू०

बैबिलोनिया के राजवंश

बैबिलोन का प्रथम राजवंश २२२५ ई० पू०—१९२६ ई० पू०
द्वितीय राजवंश १९२६ ई० पू०—१७६१ ई० पू०
तृतीय राजवंश १७६० ई० पू०—११८५ ई० पू०
चतुर्थ राजवंश ११८५ ई० पू०—१०५३ ई० पू०
पंचम राजवंश १०५२ ई० पू०—१०३२ ई० पू०
षष्ठ राजवंश १०३१ ई० पू०—१०१२ ई० पू०
सप्तम राजवंश १०११ ई० पू०—१००६ ई० पू०
अष्टम राजवंश १००५ ई० पू०—८१५ ई० पू०
नवम राजवंश ७६१ ई० पू०—७३२ ई० पू०
बैबिलोन पर असीरियन प्रभुत्व का काल ७३२ ई० पू०—६१६ ई० पू०
बैबिलोनिया का नया राजवंश ६२५ ई० पू०—५३९ ई० पू०
बैबिलोनिया पर फारसी शासन ५३९ ई० पू०—३३१ ई० पू०
बैबिलोन पर सिकन्दर का आधिपत्य ३३१ ई० पू०

असीरिया के प्रमुख राजाओं का तिथिक्रम

तिगलथ पिलेसर प्रथम ११०५ ई० पू०—१०६० ई० पू०
अशुरनसीर पाल प्रथम १०३८ ई० पू०—१०२० ई० पू०
शल्मानेसर द्वितीय १०१९ ई० पू०—१००८ ई० पू०
अशुर निरारी चतुर्थ १००७ ई० पू०—१००२ ई० पू०
तिगलथ पिलेसर द्वितीय ९५६ ई० पू०—९३४ ई० पू०
अशुरदान द्वितीय ९३३ ई० पू०—९१२ ई० पू०
टुकुल्टी निनुटी ८८९ ई० पू०—८८४ ई० पू०
अशुरनसीरपाल द्वितीय ८८४ ई० पू०—८५९ ई० पू०
शल्मानेसर तृतीय ८५९ ई० पू०—८२४ ई० पू०
शम्सी-अदाद पंचम ८२४ ई० पू०—८११ ई० पू०
अदाद-निरारी ८११ ई० पू०—७८२ ई० पू०

शल्मानेसर चतुर्थ ७८२ ई० पू०—७७२ ई० पू०
अशुरदान तृतीय ७७२ ई० पू०—७५४ ई० पू०
अशुर-निरारी पंचम ७५४ ई० पू०—७४६ ई० पू०
तिगलथ पिलेसर तृतीय ७४५ ई० पू०—७२७ ई० पू०
सारगन द्वितीय, ७२२ ई० पू०—७०५ ई० पू०
सेनचरीब ७०५ ई० पू०—६८१ ई० पू०
एसरहाद्दन ६८१ ई० पू०—६६९ ई० पू०
अशुरबनिपाल ६६९ ई० पू०—६२६ ई० पू०
असीरिया का पतन तथा निनेवे नगर का ध्वंस ६१२ ई० पू०

फारस के कुछ प्रमुख राजाओं एवं घटनाओं का तिथिक्रम

साइरस महान ५५० ई० पू०—५२९ ई० पू०
डेरियस प्रथम ५२२ ई० पू०—४८६ ई० पू०
जरेक्सेज ४८६ ई० पू०—४६४ ई० पू०
आर्टाजिरेक्सेज ४६४ ई० पू० —४२४ ई० पू०
डेरियस द्वितीय ४२३ ई० पू०—४०४ ई० पू०
आर्टाजिरेक्सेज द्वितीय ४०४ ई० पू०—३५९ ई० पू०
आर्टाजिरेक्सेज आकस ३५९ ई० पू०—३३८ ई० पू०
डेरियस तृतीय ३३६ ई० पू०—३३० ई० पू०
गागामेला का युद्ध ३३१ ई० पू०
पर्सीपोलिस पर सिकन्दर की विजय ३३० ई० पू०

प्राचीन यूनानी इतिहास की कुछ प्रमुख तिथियाँ

क्रीट में नव पाषाण-युग की समाप्ति, लगभग ३००० ई० पू०
क्रीट में मिनोअन-सभ्यता का उत्कर्ष, लगभग २००० ई० पू०
नौसस एवं फीस्टस नगरों का आंशिक विनाश, लगभग १७०० ई० पू०
नौसस में नए राजवंश का शासन, लगभग १६०० ई० पू०
क्रीट में मिनोअन-सभ्यता का चरमोत्कर्ष, लगभग १६०० ई० पू०
क्रीट में मिनोअन-सभ्यता का अपकर्ष, लगभग १४०० ई० पू०
यूनान में माइसीनियन सभ्यता, लगभग १६०० ई० पू०—१२०० ई० पू०
वीरों का युग, लगभग १२०० ई० पू०—११८० ई० पू०
ट्राय का युद्ध, लगभग १२०० ई० पू० —८०० ई० पू०
होमर द्वारा इलियड एवं ओडिसी की रचना, लगभग ९०० ई० पू०

यूनान पर डोरियन-विजय, लगभग ११०० ई० पू०—१००० ई० पू०
लाइकर्गस लगभग ९०० ई० पू०
यूनानी उपनिवेशन की प्रक्रिया, लगभग ८०० ई० पू०—६०० ई० पू०
एथेंस में उच्चकुलतंत्र की स्थापना, ८०० ई० पू०
ड्रेकान के कानून ६२१ ई० पू०
सोलन के सुधार ५९४ ई० पू०—५९३ ई० पू०
पिसिस्टेटस का स्वेच्छाचारी शासन, लगभग ५४६ ई० पू०—५२७ ई० पू०
क्लैस्थिनीज के सुधार ५०८ ई० पू०
आयोनिया का विद्रोह ४९९ ई० पू०—४९३ ई० पू०
थेमिस्टोक्लीज आर्कन के पद पर ४९३ ई० पू०
माराथन का युद्ध ४९० ई० पू०
अखिल यूनानी सम्मेलन ४८१ ई० पू०
थर्मोपाइले का युद्ध, अगस्त ४८० ई० पू०
सैलामिस का युद्ध, सितम्बर ४८० ई० पू०
प्लेटी का युद्ध, अगस्त ४७९ ई० पू०
माइकेल का युद्ध ४७९ ई० पू०
डेलौस के संघ का गठन, ४७८ ई० पू०
डेलौस के संघ के कोष का एथेंस लाया जाना ४५३ ई० पू०
पेरिक्लीज का युग ४४३ ई० पू०—४२९ ई० पू०
मैसिडोनिया के फिलिप का शासनकाल ३५९ ई० पू०—३३६ ई० पू०
सिकन्दर महान का शासनकाल ३३६ ई० पू०—३२३ ई० पू०

रोमन इतिहास की प्रमुख तिथियाँ

रोम नगर की स्थापना, लगभग ७५३ ई० पू०
एट्रस्कन शासन ९०० ई० पू०—४९६ ई० पू०
रोम में राजतंत्र का विनाश ५०९ ई० पू०
सेप्नाइट युद्ध ३४३ ई० पू०—२९० ई० पू०
प्यूनिक युद्ध २६४ ई० पू०—१४६ ई० पू०
टाइबेरियस ग्रेकस का शासन १३३ ई० पू०
गायस ग्रेकस का शासन १२३ ई० पू०
प्रथम शासकत्रयी की स्थापना ६० ई० पू०

जूलियस सीजर द्वारा गाल की विजय ५८ ई० पू०
जूलियस सीजर द्वारा ब्रिटेन की विजय ५२ ई० पू०
जूलियस सीजर की हत्या, ४४ ई० पू०
द्वितीय शासकत्रयी की स्थापना ४४ ई० पू०
आगस्टस सीजर का काल ३१ ई० पू०—१४ ई० पू०
नीरो का शासनकाल ५४ ई०—६८ ई०
हाड्रियन ११७ ई०—१३८ ई०
मार्कस आरेलियस १६१ ई०—१८० ई०
डायोक्लेशियन २८४ ई०—३०५ ई०
कांस्टैंटाइन ३२३ ई०—३३७ ई०
थियोडोसियन कोड ४३८ ई०
रोमन-साम्राज्य का पूर्वी एवं पश्चिमी भागों में बँटना ३९५ ई०
जस्टीनियन ५२७ ई०—५६५ ई०
ईसामसीह का जन्म, लगभग ४ ई० पू०
ईसामसीह की हत्या २९ ई०
रोम में संतपाल की शहादत ६२ ई०
संत पाल द्वारा इसाई-धर्म का प्रचार ४२ ई०—६२ ई०

प्राचीन चीनी सभ्यता की कुछ प्रमुख तिथियाँ

चीनी सभ्यता का प्रारंभिक काल, लगभग ३००० ई० पू०—२२०५ ई० पू०
सिया-राजवंश का काल २२०५ ई० पू०—१७६६ ई० पू०
शांगवंश का शासनकाल १७६६ ई० पू०—११२२ ई० पू०
चाऊ-राजवंश का शासनकाल ११२२ ई० पू०—२२५ ई० पू०
चाऊ-साम्राज्य का पूर्वी एवं पश्चिमी भागों में बँटना ७७१ ई० पू०
चाऊ-वंश का पतन २२५ ई० पू०
कनफ्यूशियस ५५१ ई० पू०—४७९ ई० पू०
मेंशियस ३७२ ई० पू०—२८८ ई० पू०
लाओज, जन्म ६०४ ई० पू०
शी हुआंग हो द्वारा चीन का एकीकरण २२१ ई० पू०—२०६ ई० पू०

प्राचीन भारतीय सभ्यता की कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

सिंधु-घाटी की सभ्यता के उत्कर्ष का काल, लगभग ३२५० ई० पू०—२७५० ई० पू०

भारत में आर्यों का आगमन, २५०० ई० पू०—२००० ई० पू०

ऋग्वैदिक सभ्यता का काल १६०० ई० पू०—१२०० ई० पू०

उत्तरवैदिक सभ्यता का काल १२०० ई० पू०—६०० ई० पू०

महावीर, लगभग ५९९ ई० पू०—५२७ ई० पू०

बुद्ध, लगभग ५६३ ई० पू०—४८७ ई० पू०

अनुक्रमणिका

अ

अंकोरथाम, ५३३

अंकोरवाट, ५३२, ५३४

अंतु, ८८

अकीतू, १६८

अखिल यूनानी सम्मेलन, २४६

अगुम, १०९-११०

अजुमकाकरीम, ११०

अजातशत्रु, ५०४, ५२१

अजंता, ५२०, ५३९

अत्तिल, ३५५

अतिस दीपंकर, ५२९

अदाद, १४४

अनाम, ९४

अपोलो, २००, २७२

अपोलोडोरस, ३२६

अफ्रोडाइट, १५५

अब्राहम, ८१

अबितरताश, ११०

अमनेमहैट प्रथम, १९-२०, २४, ३१

अमनेमहैट द्वितीय, २५

अमनेमहैट तृतीय, २२-२७

अमनेमहैट चतुर्थ, २७

अमनहोटेप प्रथम, ३६-३७

अमनहोटेप द्वितीय, ४३-४४

अमनहोटेप तृतीय, ४४-४६, ५६, ५७, ६९, ११०

अमनहोटेप चतुर्थ, या अंखनाटन ४६-४७, ६५

अमनहोटेप कलाकार, ४६

अम्मी दिताना, १०८
अमेल मारडुक, १२५
अरस्तू, २७७-२७८, ३१२-१३, ३२१, ३२६,
अलबेरूनी, ५३०,
अल्सी विआडीज, ३०२-३५, ३०७-०८, ३११
अशोक, ५४०, ५१८, ५२०, ५२७-२९,
अशुर, १००, १६६, १६७-६८, १६९-७१, १७९, १८०
अशुरबनिपाल, ११७-२१, १५३, १६२-६३, १६५, १६८, १८०, १८२,
अशुरनसीरपाल, ११९-२२, १५३
अशुरनसीरपाल द्वितीय ११५, १५८
अशुरनादिन शुम, ११८
अश्वघोष, ५१९
अहमोज प्रथम, ३०-३२,३६
अहाज, १५९
अहुरमज्दा, १६९

आ

आई, ५४
आई-चिंग, ४३२, ४३८
आई-ली ४३३-४३८
आगस्टस सीजर } ३४३-३५३, ३५४
या आक्टेवियस
आदिमानव, ४
आन्यांग ३८४-३८७, ३७९, ३८६-३८७, ३९३, ४००, ४०२
आमेलू, १०२, १२९
आमेलू शाक्नू, १७०
आयोनियन लीग, २३५, २३७
आयोनिया का विद्रोह, २३४, २३५, २३७
आर्कन, २२२, २२४, २२७, २३०, २६७-६८, २८३
आर्किमिडिज, ३२७
आर्कीडैमस, २९५, २९८-२९९
आर्टाबैजस, २५१
आर्टाफर्नीज, २३५, २४०

आर्यसत्य, ५१५
आश्रम-व्यवस्था, ५०४-०५
आष्टांगिक मार्ग, ५१६
आस्ट्रेसिज्म, २८३-८४

इ

इक्टिनस, २७१
इत्सिंग, ५२८
इंद्र, ४९०-९१, ४९६, ४९८, ५०८
इनूर्टा, १६७
इनेनी, ३७
इन्नेनी, ८७
इया, १४१
इया-गामिल, १०५
इमहोटेप, १७
इम्परेटर, ३४३
इरेक्थियम, ३२५
इल्कु, १४६
इलुमा-इलुम, ९२-९३, १०५-१०६,
इश्तर, ८७-८८, १२५, १५५, १६६-१६७
इसिस, ४८, ६४,८८, ३६७
इनोफाइटा, २८९-९०
इशेलस, २७२,३२४

ई

ईसामसीह या जीसस, ३६९

उ

उत्तर वैदिक सभ्यता, ५००-१२
उदयन, ५१८
उन्माने, १७३
उरासू, १७०
उरुकागीना, ९८,१३७
उलामबरियाश, १०९
ऊषा, ४९८

ए

एक्सलेशिया, २२२, २२६-२७, २७८
एकाल्लेट, १७०
एकिलीज, १९४,
एखटाटन, ४८, ५२-५३
एखनाटन, ४६, ४८, ५०-५३, ५५, ६५, ७०, ११०-११
एगमेन्नन, १९४
एगोरा, १९५
एगीड्यू, ९१
एजिदा, १२५
एटन, ४६-५२, ६५
एंटीफोन, ३०७
एण्टोनी, ३४२
एट्रस्कन जाति, ३३१-३२, ३३५-३६
एडोनिस, ८८, १५५
एथेना, २००, २७१, ३२५
एथेंस, २२०, २२२, २३५-३७, २३९-४०, २४१, २४९-५१ २५२-५३, २५४-६३, २६५-८१ २८६, २८७-२९१,२९३-३०६, ३३९, ३४६, ३५०, ३७४
एनकी, ८७
एनलिल, ८२, ८७, १४१,१४४
एनेक्सागोरस, २६४, २७४
एनैक्सीमैण्डर, ३२८
एन्टोनियस, ३५३
एपीक्युरस, २७४
एपीक्युरियन मत, ३२२,
एपेला, २०८
एपोफिस, २९
एप्रिस, १२३,
एफियाल्टीज, २६४, २८८
एफोरेट, २०८, २०९
एफ्रेनियस, ३६२
एबिडोस, ४४

एमन, ३५-३७, ४७-५५, ५७, ६०, ६२, ६५
एम्पिडोक्लीज, २७४, ३२८
एरिस्टागोरस, २१५, २३५-२३६
एरिस्टाइड्स, २३९, २४७, २५०, २५१, २८४
एरिस्टार्कस, ३२७
एरिस्टिपस, ३२२
एरिस्टोफेनीज, २७३, ३२४
एरियोपैगस, २२२, २२७, २६७-६८
एलिजाबेथ रानी, २७७, ३६०
एलोरा, ५२०, ५३९
एसरहाद्दन, ११९, १६१
एसागिला, १२५

ओ

ओकिस्ट, २१२
ओडिसीयस, १९३
ओविड, ३६१
ओसिरिस, ४८, ६४, ८८

क

कंबाइसेज द्वितीय, २३२
कदशमान एनलिल, ११०
कन्फ्युशियस, ३८२, ४०८, ४१५, ४३०, ४३३, ४३६-५४, ४५५-५९, ४६१-६४, ४६६, ४६८, ४७२-७४
कनिष्क, ५१७-५२७, ५२८, ५२९
कमीशिया ट्रिब्यूटा, ३३४
कमीशिया सेंचुरिएटा, ३३५
कंबोज या फुनान का भारतीय उपनिवेश, ५३१-३३
करनाक, ६०, ६२, ७२
कश्तीलियाश, १०९
कस्साइट जाति, ८४, ९१, ११४, ११६-१९, १२१-२३, १२५-१२६, १४७, १५३-१५४, १८०
कालिदास, ५३८
काली या दुर्गा, ४८३-८४

कालू, १४३
कार्थेज, ३३७-३८
कांस्टेंटाइन, ३५३-५४
कायसग्रेकस, ३४०
क्लिओन, २९९, ३०१
क्लियोफोन, ३०९-१०
क्लियोपैट्रा, ६७
क्लेरुच, २६३
क्लैस्थिनीज, २२८-२९, २६५-६६, २६९, २७७, २७९, २८३
क्वेस्टर, ३३३
की, ३८३
क्रेसस, ३४१
कैटो, ३३७, ३६३
कैटुलस, ३६१
कैलोमैकस, २४१
कैलीक्रेटिडस, ३०९
कैवल्य, ५१२
क्विंटिलियन, ३६६
क्रोयसस, २३१
कोनन, ३०९-१०
कौंडिन्य, ५३२
कौंसल, ३३३, ३३६, ३४३
कौटिल्य, ५३९
कुबलाई खाँ, ५३१
कुमारघोष, ५३४
कुमारिल भट्ट, ५१९

खजानू, १७०
खत्तिय, ५२२
खफ्रे, ७३
खिर्याँ, २९-३०
खुफू, १७,७२
खुब्शी, १७५

ग

गंदाश, १०९
गणराज्य बुद्धकालीन, ५२१-२२, ५२३
गागामेला या आरबेला का युद्ध, ३१६
गार्गी संहिता, ५२७
गिर्जे, १७, ७३
गिलगमेश, ९१, १७९
गैलेन; ३६५
गुटियन, ८३
गुबारु, १२७
गुलकिशर, ९४

च

चंगेज खाँ, ५२८
चंद्रगुप्त मौर्य, ५२६
चंपा का भारतीय उपनिवेश, ५३१, ५३३
चरक, ५३९
चाऊ कुंग या ड्यूक ऑफ चाऊ, ४१५-१६,४२६
चाऊ-युग, ३८६, ३८९, ४०८, ४१२-१३, ४१६-१८, ४२१, ४२४-२५, ४२६-४७४
चाऊ-राजवंश, ४०८-४७४
चाऊ-ली, ४१०, ४१५, ४३४
चाऊ-सिन, ४१४-१५
चार्ल्स डारविन, ४
चियांग, ४०७
ची, ३९२,४१९
चेंगवांग, ४१५
चू-आंगजू, ४४६
चू-युआन, ४३४

ज

जरेक्सेज, १२८, २४४, २४७-४८, २५५
जस्टीनियन, ३५३, ३५५

जस्टीनियन कोड, ३५८

जान, ईसा का शिक्षक, ३६९

जावा का हिन्दू-राज्य, ५३४-३५

जियुज, २००

जेनो, ३२२

जेंद अवेस्ता, ४८७

जेरूसिया, २०७

जेहोवा, ३६८-६९, ३७४

जैंथिप्पस, २४७, २५१, २५२,

जैनधर्म, ४३४, ५११-१४, ५२२, ५३८

जोसर, १७

जोसेफस, २७-२९

जौर्जियस, २७६

जुडास, ३७०

जुपिटर, ३६७

जुवेनाल, ३६२

जुसजेंशियम, ३५८

जूलियम सीजर, ३३८, ३४१-४३, ३४५, ३४९, ३६२, ३६४, ३६५

ट

टमकारु, १७३

टाइबेरियम ग्रेकस, ३४०

टाइटस लिवी, ३४८,

टाई, ४४

टांग, ३८४

टार्क्विन,, ३३२

टालेमी लेखक, ५३०

टाहटाटेप, ७०

टिएन, ३८३,

टिएनमिंग, ४२३

टिरेन्स, ३६२

टिरेनी, तथा टाइरेण्ट, २२१-२२

टी, ५४, ३८२, ४०३-०४

ट्रिब्यून, ३३४
टे, ४२३
टैंसिटस, ३६२
टुटेनखामन, २४, ६९
टुटेनखाटन, ५४
टुर्टानू, १७०, १७१

ड

डायोक्लेशियन, ३५३-५४
डायोजिनीज दार्शनिक, ३२२
डायोजिनीज चिकित्साशास्त्री, ३२८
डायोस्कोराइडीज, ३२६
डीम, १९६, २८१
डेमन, २६६
डेमोक्रिटस, २७४, ३२८
डेरियस, १२८, २३२-२३३, २३७, २३९, २४४, ३१५
डेरियस द्वितीय, ३०८
डेलौस का संघ, २५३, २५५-५६, २५७-६२, २६३-६४, २८७
ड्रेकान, २२५, २३१
डोरियन जाति, २०१-०४, २११-१२, २२०-२१, २८७,
डुमाकी, १७७

त

तम्मुज, ८८, १५५
तश्शीगुरुमाश, ११०
ताओ, ४४२, ४४७
ताओवाद, ४४७
ताओ-टे-चिंग, ४४७
तालमुड, ३६८
तिगलथ पिलेसर प्रथम, ११४, १५७-५८
तिगलथ पिलेसर तृतीय, ११६, ११८, १७१
तिगलथ पिलेसर चतुर्थ, ११६
तिमाइयोस, २८
तिस्साफर्नीज, ३०६, ३०८

तुंग-चाऊ-चुन, ४२०, ४२१
तुपशारू, १७३
तोरा, ३६८

थ

थर्मोपाइले का युद्ध, २४७-४९,
थियोफ्रेस्टर, ३२६
थियोडिसियन कोड, ३५८
थीट्स, १९७,
थीब्ज, १९, २६, ६०, २४६, २८९, ३१४, ३१५-१६
थेमिस्टोक्लीज, २३९, २४७, २४९, २५६, २८४
थेरामिनीज, ३०७-०८, ३१०
थेलिस, ३२७
थुटमोज, प्रथम, ३७-३८
थुटमोज द्वितीय, ३८
थुटमोज तृतीय, ३९-४३, ४४, ४७, ५६-५८, ६१
थुटमोज चतुर्थ, ४३-४४
थुरी, २९०
थ्युसिडाइडीज, २७२, २७४, २८४-८५, २८७, २८९, २९२, ३०१ ३०४, ३२४

द

दर-एल-बहरी, ३९
दस राजाओं का युद्ध, ४९१
दस सेनापति, २७९, २८१-८२
दांते, ३२३
दिङ्नाग, ५१९
देवपाल, ५३४

ध

धर्मकीर्त्ति, ५१९

न

नग्गारू, १७३
नबोनिडास, १२६-२७

नबोपोलासर, १२१-१२३
नर्गल, १६७
नरमसीन, ८३, १२९
नव-पाषाण-युग, ६, ३८५, ३८७-८८, ३९३-३९५, ४११
नागार्जुन, ५१९
नाजरेथ, ३६९
नाबू, १६७
नानवांग, ४२१
निआरकस, ३१७
निर्वाण, ५१५-१७
निशियस, ३०२-३०४, ३०५-०६
निशियस की संधि, ३०२-३०४
निसान-पर्व, १६९
निसी-अमी-जादुमा, ९३
नीरो, ३५३
नेको, १२३, १६१
नेको द्वितीय, १६७
नेबुचडरेज्जर, ११३-१४, १२३-१२४
नेबुचडरेज्जर द्वितीय, १२२-२७, १६४
नेविल, ३९,
नेपोलियन, ४२, १७०, २३१, ३१८
नेरिगलिस्सर, १२५-१२६
नुस्कू, १६७
न्यूटन, ३६०
न्यू टेस्टामेण्ट, ३५२, ३७५
नोम, १३

प

पखटी, १७०
पखारू, १७३
पंचजनाः, ४९१
पटेसी, ७९, ८०, १०२
परमेनिडीज, ३२८
प्रसेनजित्, ५१८, ५२५

पाइथागोरस, २७५, ३२७
पाओजू, ४१८
पाँच सौ की समिति या बौल, २७९-८०, २८२-८३
पाँच हजार नागरिकों का शासन, ३०७
पानकेंग, ३८४
पान-कू, ३८०
पाम्पी, ३४१,
पार्थेनन, २७१-७२, ३२५
पार्श्वनाथ, ५११-५१२
पिंगवाँग, ४१८
पिण्डार, २७२, ३२४
पिसिस्ट्रेटस, २२८-२९
प्लिनी, ३६४,
प्रिटैनी, २८०
प्रिंसेप, ३४३-४४
प्रीफेक्ट, ३४४
पेकिंग मैंग, ३८१
पेडागौग, ३३९
पेरिक्लीज, २६६-६७, २६८-२७०, २७१, २७६-७७, २८१-८२, २८८-८९, २९१-९२, २९६, २९९-३०२, ३१०, ३४६, ३५०
पेलाएगी, १९२
पेलोपोनेसस प्रदेश का संघ, २९५-९६, २९८, ३०३-३०४
पेलोपोनेशियन युद्ध २५६, २८४-३१६, ३२४
प्रेटर, ३५७
प्लेबियन, ३३४-३६
प्लेटी का युद्ध, २५०-५१, २५६, २८६
प्लेटो, २४०, २७६, ३२०
पैंथियन, ३५१
पैट्रीशियन, ३३४-३६
पोलमार्क, २२२,
पोलिक्लिटस, ३२५
पोलीबियस, ३६२
प्रोटेगोरस, २७५

प्रोड्किस, २७५,
प्रार्पर्टियस, ३४७, ३४८, ३६१
प्लौटस, ३६२
पौसेनियस, २५०-५१, २५८, २६३-६४
पुरु या पोरस, ३१६, ३१८
प्यूनिक युद्ध, ३२७-२८, ३६२

फ

फाइले, १९६
फाचिया, ४४७
फाहियान, ५२८
फार्नाबैजस, ३०८
फिलिप, मैसीड़ान का, ३११, ३१४
फीडिशिया, २०४
फीडियस, २७१, ३२५
फ्रीनिशस, २३८
फ्रैंट्रा, १९६
फ्रौंटियस, ३६६

ब

बरनाबरियाश, १०९-११०, १११
बाइबिल, ८१-८२, १९९, ३६९-७०
ब्राह्मण-धर्म, ५१८-१९, ५२७, ५३२
बिम्बिसार, ५२१, ५१८
बेकन, ३६०
बेल-इब्नी, ११७-१८
बेल-पखटी, १७०
बेल-मारडुक, १६७
बेल सज्जार, १२७
बेलित, १६६
ब्रेसीडस, २९८, ३०२
बोरोबुदूर, ५३४
बौद्धधर्म, ५१४, ५१८-२०, ५२२, ५२३, ५२७, ५२८-२९

बुद्ध भगवान, ५१४-१७, ५२२
ब्युल या बोल, १९५, २२२, २२७

म

मंचू-राजवंश, ३७७,
मश्कीनू, १०२, १२९
महावीर, ५११-५१२, ५२२
महेन्द्र, ५१८,
माइकेल का युद्ध, २५१-५२, २५६
माइनोस, १८
माइसीनियन सभ्यता, १९२, १९९
मातृशक्ति ४८३-८४
मानिथो, १७, १९, २९-२८, ५५, ५८
मायावाद, ४४७-४८
मार्कस आरेलियस, ३५३, ३६४
मारडुक, ८७, ११८-१९; १३१; १४२, १४३, १६६,
मारडोनियस, २३७, २३९, २४४, २४५-५०, २५३
मारबनूती, १७३
मार्स, १७३, ३५०, ३६७
माराथन का युद्ध, २४०-४४, २४,
मालव, ३१७
माश-माश, १४३
मिनोअन-सभ्यता, ४२, १८८, १९९
मिट्टानी, ४४, ११०, ११३, १५६
मिश्र, ३६७
मियाओ, ३७७
मिल्टिएडस, २३९, २४१, २४४,
मेंगजूशू, ४४४
मेगाक्लीज, २४२
मेटला, ५६
मेटिक्स, २७८
मेना या मिनिस, १०, ११

मेंशियस, ४०८, ४४४
मेरियस, ३४०
मेरोडाक-बालादान, ११७-१९
मेस-अन्ने-पद, ८१
मोजू या मोटी, ४०८, ४४४
मोहेन्जोदारो, ४७५-७७, ४७८, ५२५,
मुहम्मद बिन कासिम, ५२७
मू-वाग, ४१६
मूसा, ३६८-६९

य

याओ, ३८२
यांग, ३८०
यिन. ३८०
युरीपाइडीज, २७३, २७५; ३२४
यू, ३८२
यूक्लिड, ३२७
यूग्जीन, २१७
यूरीबिआडस, २४७
यूवांग, ४१८-१९

र

राजेन्द्र चोल, ५३३
रावी, ३६८
रामानुजाचार्य, ५१८
रिमसिन, ९२
रिनेसाँ, ३३०
रिसरेक्शन, ३७१
री, १९०
रेखमीर, ४१
रैमसेस प्रथम, ५५
रैमसेस द्वितीय, ५५-६०
रैमसेस तृतीय, ५८-६३
रैमसेस चतुर्थ, ५८

रैमसेस बारहवाँ, ६२
रुखसाना, ३१४, ३१७
रोमन कानून, ३५६-३६०
रोम-गणतंत्र, ३३५-३३९, ३४१-३४६
रोमा देवी, ३४९
रोमन सीनेट, ३३३, ३४०-४४, ३४५-४६,३५२

ल

लाइकर्गस, २०५, २०६
लाइसैण्डर, ३०८, ३०९-१०,
लाओ-जू, ४०८,
लामैकस, ३०५
लार्ड शांग, ४४८
लिंगपूजा, ४८४, ४९०, ४९९
लिम्मू, १६९
लियोनिडास, २४७-४८
ली, ४०९
ली ची, ४०९
ली जू, ३८२
ली-वांग, ४१७-१८
ली-स्सू, ४४८
लेबाशी-मारडुक, १२६
लोयांग, ४१६
लौट की प्रथा,२२७, २८१-८३
लूगल जगीसी, ८१-८२
ल्यूक्रेशियस, ३६१, ३६४
ल्यूसिलियस, ३६२

व

वर्जिल, ३२२, ३४७-४८, ३६०
वरुण, ७५, ८७, ४९८, ५०८, ५१०, ५१९
वर्ण-व्यवस्था, ५०३-०४, ५११
वसुमित्र, ५१९

विष्णु, ८७, ४९८, ५०८, ५१९
वीनस, ८८
वेदांत, ५०८
वेन-वांग, ४१४-४१५
वू-वांग, ४१५

श

शंकराचार्य, ४४७, ५१९
शम्सी-अदाद चतुर्थ, ११५
शम्सु इलूंना, ९१-९४, १०५, १०८
शमाश, ८९, ९७, १६७
शल्मानेसर तृतीय, ११५, १५८
शल्मानेसर पंचम, ११६, ११८
शाक्नू, ९३, १७०
शांगटी, ३८३, ४०३, ४२७, ४४५, ४५५-५६
शांग राजवंश, ३८४-८७, ४२६, ४३२, ४६८-६९
शांग शू या शू-चिंग, ३७८, ४३२, ४३८
शापेनहावर, ५०९
शासकत्रयी, रोमन गणतंत्र, ३४१-४२
शिव या रुद्र, ४९९, ५०८, ५३३
शी-चिंग, ३७८, ४१६, ४३०, ४३२
शी-ची, ४५३-५४
शी-हुआंग-टी, ४२१, ४४८
शुन, ३८२-३८३
शेन-नुंग, ३८१
शैलेन्द्र-साम्राज्य, ५३३-३५
शैव धर्म, ५३१

स

संघमित्रा, ५१८, ५२९
संत पाल या साल, ३७४-७५
संथागार, ५२१
सभा, ४९२, ५०२

समिति, ४९२, ५०२
समुद्रगुप्त, ३९८
सम्सुदिताना, ९३,
सर्वियस टुलियस, ३३२
स्केप्टिक-मत, ३२३
स्टोइक मत, ३२२
स्पार्टा, २०२-२०४, २०५-०९, २१२, २३५, २४०-४१, २४४-४५, २४६-४८, २५०-५२, २५३-५४, २५६-५९, २६३, २६५-६७, २८४-९४, २९६-३०६, ३०८-११
सलातीस, २८-२९
स्याद्वाद, ५१२
स्नेफू, १७
साइमन, २५८-६१, २६३-६६, २८१
साइरस महान्, १२७-३०, २३१-३२, २३४, २४४
साइरस द्वितीय, ३०९-१०
सात्रे, ५३
सामेटिकस, १६३
सायाजरेस, १६४
सारगन प्रथम, ८२, ८३, ९६, ३९८
सारगन द्वितीय, ११७-१८, १४४, १५९-६०, १७९, १८१, ३६७
सांग-सैन-गैम्पो, ५२९
सिकन्दर महान, ४२, ७६, ३११-२०, ३२३, ३४९
स्फिक्स, ७३
सिब्टू, १५०
सिनु, ८९, १६७
सिनगामिल, ९४
सिनगाशिद, ९४
सिनमुबालित, ९७,
सिनागाज, ३६८
सिंधुघाटी की सभ्यता, ४७५-४८८
सिनिक मत, ३२२
सिया-राजवंश ३८३
सियाव, ४१०

सिसरो, ३६३
सिसली का अभियान, ३०४, ३०६, ३११
सीपियो, ३३७
सेट्ठी, ५२२
सेन्नाचरीब, ११७-१९, १२२-२३, १६०, १८२
सेनेका, ३६३
सेफो, ३२४
सेसोट्रीज प्रथम, २४-२५
सेसोट्रीज द्वितीय, २५
सेसोट्रीज तृतीय, २५
सैलस्ट, ३६२
सैलामिस का युद्ध, २४९-५०
सुआन-वांग, ४१७
सुकरात, २७६-७७, ३२१
सुखारु, १७४
सुटेख, २८
सुल्ला, ३४१
सुश्रुत, ५३९
सूर्यांश, १०८
सोफिस्ट, २७५
सोफोक्लीज, २७३, ३२४
सोलन, २२९-३५, २३७, २२४-२७, २२८, २६६, २७७, २७९, २८३,
सोलह संस्कार, ५०५-०६
सो-शुआन, ४२९, ४३३, ४६१

ह

हम्मूराबी, ८४, ८९, ९३-१०२, १०३-०५ १०७, ११२, १२८-३१, १३३-३४,
        १३६-३७ १३९-४०, १४२, १४८-५५, १७५-७६, १८३, ३६७
हरप्पा, ५२५, ४७५-७६, ४८०,
हरमहाब, ५२, ५४-५५
हर्षवर्द्धन, ५१८

हाइपरबोलस, ३०३
हाऊ-टू, ४५५
हाड्रियन, ३५३
हानिबाल, ३३७
हापुसेनेब, ३८
हाशेपसुट, २७, ३७-४०, ६७, ७४,
हार्वे, ३६०
हिक्सस, २७-३३, ३७, ५४, ६७,
हिट्टाइट जाति, ८, ५१, ५६, ९३, ८४, १०५, १११, ११३,१५६, १५७, १५८
हिट्टाइट धर्म, १६६
हिन्दू-धर्म ८८, ४८३, ४८९-९०, ५०८, ५१०, ५३७-३८
हिप्पियस, २४०-४३
हिप्पोक्रेटीज, ३२८, ३६५
हिब्रू, ५८, ७५, १५४, ३१९
हिस्टियस, २३४
हिसियड, ३२३, ३३९

हीलिया, २८१,
हेक्टर, ११४
हेडोनिस्ट मत, ३२२
हेराक्लिटस, ३२८
हेरोड, ३६८
हेरोडोटस, १८, १२२, २३३-३४, २३७, २४४-४५, २४५-४६, २४८,
२५२, २५५, २७३, २८४-८५, ३२४,
हेरोफिलस, ३२९
हेलाट, २०५-०७ २६३, २६४ ,
हेलियोपोलिस, ३३,
हेलेनाटमिया, २५७
हेलेनिस्टिक, २५७
हेलेनिस्टक युग, ३१२, ३१९-२०
हेलेनिस्टिक संस्कृति, ३२०
होमर, ११३-११६, १९४-९६, १९८, १९९, ३१२, ३२३, ३३९
होरस, ४८, ६४, ७३
होरेस, ३४७, ३४८, ३६१

होशिया, १५९
हुआंग-टी ३८२
हुएन-सांग, ५२८, ५३०
हूहर, ६२

क्ष

क्षुद्रक, ३१७

ऋ

ऋग्वेद, ४८६-४९२, ४९४-९६, ४९९-५००
ऋग्वैदिक सभ्यता, ४८६-५००
ऋत, ७५, ४९८.

पारिभाषिक शब्द-संग्रह

अकीतू	Akitu, a temple of ancient Assyria.
अखिल-यूनानी-सम्मेलन	Pan-Hallenic Congress.
अटन	Aton, an important god of ancient Egypt.
अदाद	Adad, an atmospheric god of ancient Babylonia.
अदेवयु	Those who had no faith in Aryan gods,
अधिवातायन	Clerestory.
अन्नप्राशन-संस्कार	The ceremony relating to the first feeding of the child with solid food in the sixth month.
अनु	Anu, a god of ancient Sumer.
अंतरिक्ष के देवता	Atmospheric gods.
अंतु	Antu, a goddess of ancient Babylonia.
अन्यव्रता	Following strange laws.
अपरिग्रह	Non-possession.
अभिलेखागार	Archives.
अयज्वान	Having no faith in Yajnas.
अर्हत्	Worthy.
अरामियन	Aramean, a tribe of ancient Assyria.
अशुर	Ashur, the most prominent god of ancient Assyria.
असामी	Tenant.
अस्तेय	Non-stealing.
अहिंसा	Non-violence.
अहुरमज्दा	Supreme God of ancient Persia.
अक्षवाप	Superintendent of dicing.
आइली	Ili, the Book of ceremonial customs of the Chou period.

आईंचिग	Iching, the book of changes.
आकाशस्थ देवता	Heavenly gods.
आमेलू	Amelu, the aristocracy of ancient Babylonia.
आमेलू-शाक्नू	Amelu-Shaknu, the officer below the Governor in ancient Assyria.
आप्त पुरुष	An oracle.
आय-व्यय-पत्र	Budget.
आरेक्ल बोन	Oracle bones—bones containing ancient Chinese inscriptions.
आर्कन	Archon, a magistrate of ancient Athens.
आश्रम-व्यवस्था	The four stages in life.
आस्ट्रेसिज्म	Ostracism, the punishment banishing dangerously powerful or unpopular citizens from Athens for five or ten years by a peculiar voting system —the name of the person to be Ostracized to be written on potsherd.
आष्टांगिक मार्ग	Eightfold path.
इकरारनामा	Contract.
इन्नेनी	Inneni, an important goddess of ancient Babylonia.
इनुर्टा	Inurta, a god of ancient Assyria.
इंस्टीच्युट्स	Institutes, a text-book of Roman law prepared during the regime of Emperor Justinian.
इया	Ea, an important god of ancient Babylonia.
इल्कु	Ilku, property in ancient Babylonia.
इश्तर	Ishtar, an important goddess of ancient Babylonia and Assyria.
इशाक्कु	Ishakku, the king of ancient Babylonia.

इसिस	Isis, an important goddess of ancient Egypt.
एक्लेसिया	Ecclesia, the assembly of the poeple in ancient Athens.
एकेश्वरवाद	Monotheism.
एगोरा	Agora, the assembly of the people during the Homeric age in Greece.
एथेना	Athena, the goddess of ancient Athens.
एनकी	Enki, a god of ancient Babylonia.
एनलिल	Enlil, an important god of Sumer.
एपिक्युरियन मत	Epicureanism, a school of Greek philosophy founded by Epicurus of Athens who taught that highest good was pleasure.
एपेला	Appella, the assembly of the people in ancient Sparta.
एफोरेट	Ephorate, the executive body consisting of five ephors in ancient Sparta.
एमन	Amon, an important god of ancient Egypt.
एरियोपैगस	Areopagus, the council consisting of the retired archons of ancient Athens.
ओकिस्ट	Occist, a leader of colonists in ancient Greece.
ओल्ड टेस्टामेंट	Old Testament.
ओसिरिस	Osiris, a god of ancient Egypt.
उन्माने	Unmane, the working class of ancient Assyria.
उपनयन संस्कार	The Initiation ceremony.
उपस्कर	Furniture.
कमीशिया ट्रिब्यूटा	Comitia Tributa, the assembly of patricians in ancient Rome.

कमीशिया सेंचुरियेटा	Comitia centuriata, a political body which judged offences against the state in ancient Rome.
कल्प	Ritual.
क्वेस्टर	Quester, an elected officer of ancient Rome who acted as treasurer and keeper of records.
कालू	Kalu, a magician priest of ancient Babylonia.
कार्षापण	A copper coin of ancient India.
कीलाकार लिपि	Cuneiform writing.
कैवल्य	Omniscience.
कोड	Code, the first part of Roman law containing decrees and royal orders prepared during the regime of Emperor Justinian.
कौंसल	Consul, the two highest elected Executive officers exercising supreme authority in Roman Republic.
कुल	Tribe
खजानू	Khazanu, the ruler of a city in ancient Assyria.
गर्भाधान-संस्कार	The ceremony to cause conception.
गॉल	Gaul, the ancient name of France.
ग्रामणी	Village headman.
गीतिकाव्य	Lyric.
चन्द्र-पंचांग	Lunar Calendar.
चार आर्य सत्य	The four Noble truths.
चार सौ की समिति	The council of four hundred in ancient Athens.
चाऊ-ली	Chou-li, the book of Chou rituals.
ची	Chieh, a concubine in ancient China. Also a female slave.

चेम्बरलेन	Chamberlain, an officer managing the household of sovereign or great nobles.
चूड़ाकर्म संस्कार	The ceremony concerning the tonsure of the child's head.
छंद	Metrics.
जस्टीनियन कोड	A code of laws prepared during the regime of emperor Justinian of Rome.
जातकर्म-संस्कार	Ceremony for the new-born child.
जिन	The conqueror.
जियुस	Zeus, the most important god of ancient Greece.
जीव	Soul.
जेरुसिया	Gerusia, the council of aristocrats in Sparta.
ज्योतिष	Astronomy.
जुसजेंशियम	Jusgentium, Roman law for aliens.
टमकारु	Tamkaru, the merchant class of ancient Assyria.
टाइरेण्ट	Tyrant, an unconstitutional ruler of ancient Greece.
टिएन	Tien, god of Heaven.
टिएन-मिंग	Tien-ming, Mandate of Heaven.
ट्रिब्यून	Tribune, Officers chosen by the people in ancient Rome to protect their liberties against Senate and Consuls.
टी	Ti, Earth.
टे	Te, virtue.
टुर्टानू	Turtanu, Commander-in-Chief of ancient Assyria.
तम्मुज	Tammuz, a god of ancient Babylonia,
तन्हा	Desire.
तक्षन्	Royal carpenter.

ताओ	Tao, duty inspired by a sense of propriety and justice of the realization of the Absolute.
ताओवाद	Taoism, a school of Chinese philohophy which idealized Nature and sought man to merge in it.
ताल्मुड	Talmud, Body of Jewish law and legend.
तोरा	Torah, the law for the Jews prepared by prophet Moses.
तुपशारू	Tupsharru, a scribe in ancient Assyria.
त्रिरत्न	Three jewels of the Jainas.
थियोडोसियन कोड	A code of laws prepared during the regime of Emperor Theodosius of Rome.
थीट्स	Thetes, free landless labourers of ancient Greece.
दस सेनापति	Ten Generals, Ten highest executive officer of ancient Athens.
द्यूत	Gambling.
दीवानी कानून	Civil Law.
देवपीयु	Those who reviled Aryan gods.
देवमंडल	Pantheon.
दुःख	Sorrow.
दुःख-समुदय	Cause of sorrow.
दुःख-निरोध	Cessation of sorrow.
दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा	The path leading to the cessation of sorrow.
दुखांत नाटक	Tragedy.
धर्मचक्र-प्रवर्त्तन	Setting in motion the wheel of law by the Buddha by delivering the first sermon at Sarnath.
नक्काशी	Bas-relief.
नग्गारू	Naggaru, a carpenter in ancient Assyria.

नर्गल	Nergal, a god of ancient Assyria.
नव-पाषाण-युग	Neolithic age.
नागरिक सेना	National militia.
नाबू	Nabu, a god of ancient Assyria.
नामकरण संस्कार	Ceremony of naming the child.
नावेल्स	Navels, the book containing modifications and additions in Roman Law prepared during the regime of Justinian.
निबंधन	Registration.
निरुक्त	Etymology.
निर्ग्रंथ	Free of fetters.
निर्वाण	Deliverance or extinction of personality.
निसान-पर्व	Nisan festival, a festival of ancient Assyria
निष्क	A gold coin of ancient India.
नोम	Nome, a district of ancient Egypt.
नुस्कू	Nusku, a god of ancient Assyria.
पखटी	Pakhati, a small district of ancient Assyria.
पखारू	Pakharu, a potter of ancient Assyria.
पंचांग	Calendar.
पर-पुरुष-गमन	Adultery.
परदारचक्र	Winged disc.
परदार सर्पिणी	Dragon woman.
पाँच सौ व्यक्तियों की समिति	The council of five hundred of ancient Athens.
पार्थिव देवता	Terrestrial gods.
पालागल	Messenger.
पितृ-पूजा	Ancestor worship.
पितृ-मंदिर	Ancestral temple.
पितृ-सत्तात्मक	Patriarchal.
पिरामिड	Pyramid.
प्रतिष्ठित प्रलेख	The Document classic of the Chou period.
प्रोफेक्ट	Prefect, title of various civil and military officers of ancient Rome.

पेलोपोनेसस प्रदेश का संघ	Peloponnesian Confederacy.
प्लेबियन	Plebians, the common people of ancient Rome.
पैट्रीशियन	Patrician, an aristocrat of ancient Rome.
पोलमार्क	Polemarch, the Commander-in-chief of ancient Athens.
पुरोहित	Priest.
पुंसवन-संस्कार	Ceremony to cause birth of a male child.
पूर्व-पाषाण-युग	Palaeolithic age.
फराओ	Pharaoh, the king of ancient Egypt.
फाइले	Phyle, a group of villages in ancient Greece.
फ्रैट्रा	Phratra, a group of families in ancient Greece.
फाचिया	Fachia, the Legalist School of ancient Chinese Philosophy.
फीडिशिया	Phiditia, public mess of ancient Sparta.
बंधक	Hostage.
बहुदेववाद	Polytheism.
बारह शिष्य	Twelve Apostles of Jesus Christ.
वेल पखटी	Bel Pakhati, a ruler of a small district in ancient Assyria.
वेलित	Belit, another name of goddess Isthar.
वेल मार्डुक	Bel-Marduk, a god of ancient Assyria.
बैबिलोनिया का नया राजवंश	Neo-Babylonian dynasty.
बुद्ध	The Englightened one.
ब्युल	Bule, the council of aristocrats during the Homeric age in Greece.
भागघुक्	Collector of taxes.
भासाचूर्ण	Alalaster.
भूतवाद	Animism.
मस्तबा	Mastaba.

मश्कीनू	Mushkinu, the middle class of ancient Babylonia.
महाकाव्य	Epic.
महापरिनिर्वाण	Final blowing out or passing away of the Buddha.
महाभिनिष्क्रमण	The Great Going forth by the Buddha,
महाभियोग	Impeachment.
मातृदेवी	Mother goddess.
मातृसत्तात्मक	Matriarchal.
मारवनूती	Marbanuti, the nobility of ancient Assyria.
मार्डुक	Marduk, the most important god of ancient Babylonia.
माश-माश	Mash-mash. magician priests of ancient Babylonia.
मेटिक्स	Metics, Aliens living in ancient Athens.
यूग्जीन	Euxine, the Greek name of Black sea.
यूनानी संघ	Hellenic League.
यूनान-प्रभावितयुग	Hellenistic Age.
रा	Ra, the Sun-god of ancient Egypt.
राजन्य	King.
रिसरेक्शन	Resurrection, Reappearence of Jesus Christ after death.
री	Rea, a goddess of ancient Crete.
लॉट	Lot, the system of election by lot prevalent in ancient Greece.
लिंगपूजा	Phallus worship.
लिम्मू	Limmu, an officer of ancient Egypt.
ली	Li, ethics and morality prescribed for the king and nobility during the Chou period.
ली-ची	Li-chi, the record of rites.
लूगल	Lugal, a petty kind of ancient Babylonia.

वर्गाकार भवन-समूह	Square block masonry.
वर्ण-व्यवस्था	Caste-system.
वर्ण	Colour.
वजीर	Vizier, Prime Minister.
वांग	Wang, king of ancient China.
विद्या का पुनर्जागरण	Renaissance.
विधि-संहिता	Code of laws.
विवाह-संस्कार	Marriage ceremony.
वेदांग	Limbs of the Vedas.
व्याकरण	Grammar.
शमाश	Shamash, The Sun-god of ancient Babylonia.
शाक्नू	Shaknu, a governor of the provinces of ancient Assyrian empire.
शांग-टी	Shang-Ti, Supreme Lord or Lord on High or the Heavenly ruler of natural forces. The highest god of the Shang period in China.
शांग राजाओं के प्रशंसा-गीत	Praise-odes of the Shang.
शांग राजाओं का महानगर	The great city of the Shang.
शासकत्रयी	The Triumvirate.
शिक्षा	Phonetics.
शिश्नेदेवा:	Worshippers of the phallic symbol.
शी	Shih, a minister or a scribe in ancient China.
शीचिंग	Shiching, The Book of poetry.
शी-ची	Shi-chi, the goddess of agriculture in the Chou period.
श्रेणी	Guild.
शुचिंग	Shuching, the book of historical stories.
संग्रहित्री	Head of the treasury.
संथागार	Motehall.

संस्कार	Sacrament.
समावर्त्तन संस्कार	The ceremony on the completion of studentship.
सत्रप	Satrap, a governor of the provinces of the Persian empire.
सम्यक् आजीव	Right means of livelihood.
सम्यक् कर्मान्त	Right action.
सम्यक् चरित्र	Right conduct.
सम्यक् दर्शन	Right faith.
सम्यक् दृष्टि	Right belief.
सम्यक् वाक्	Right speech.
सम्यक् व्यायाम	Right endeavour.
सम्यक् संकल्प	Right thought.
सम्यक् स्मृति	Right recollection.
सम्यक् समाधि	Right meditation.
सम्यक् ज्ञान	Right knowledge.
साइनॉड	Synod, the executive organ of the Delian Confederacy.
सामंत-प्रथा	Feudalism.
सिब्टू	Sibtu, interest, usury.
सिनिक मत	Cynicism, A school of Greek philosophy showing ostenatious contempt for pleasure.
सिन	Sin, The Moon-god of ancient Babylonia.
सिनागॉज	Synagogue, a Jewish temple.
सीमंतोन्नयन-संस्कार	The parting of the pregnant wife's hairs by the husband with a porcupine's quill after due oblations and sacrifices, and offering prayers to Vishnu to take care of the womb.
सीनेट	Senate, the State council of ancient Roman Republic.

सेमाइट	Semite, a member of the races supposed to be descended from Shem, especially the Hebrews, Arameneans, Phoenicians, Arabs and Assyrians.
सेनानी	Commander-in-chief.
सुखारू	Sukharu, mobile merchants of ancient Assyria.
सुखान्त नाटक	Comedy.
सूच्याकार स्तम्भ	Obelisk.
सूत	Charioteer.
स्फिंक्स	Sphinx, figure with a lion's body and man's head.
स्टोइक मत	Stoicism, a school of Greek philosophy founded by Zeno making virtue the highest good and inculcating control of the passions and indifference to pleasure and pain.
हाऊ-टू	Hou-Tu, the god of Earth in Chou Period.
हीलिया	Heliaea, Popular courts of ancient Athens.
हेडोनिस्ट मत	Hedonism, a school of Greek philosophy believing that pleasure is the chief good
हेलाट	Helot, the oppressed original inhabitants of Sparta.
हेलेनाटमिया	Hallnotamiae, the officer who collected the annual subscriptions to the common fund of the Delian Confederacy.
होरस	Horus, a god of ancient Egypt.
हुर्रियन	Hurrian, a tribe of ancient Assyria.
ऋतु	Ritu, Cosmic and moral order.

●

107/59